ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास

ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास

[ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, भाग २]

प्रभुदयाल मीतल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास' वस्तुतः मेरे पूर्व प्रकाशित विशद ग्रंथ 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' के श्रृंखलाबद्ध आयोजन का दूसरा भाग है; तथापि इसकी रचना इस प्रकार हुई है कि यह एक स्वतंत्र ग्रंथ बन गया है। इसलिए पाठकों को इसका प्रथम भाग देखना आवश्यक नही है। वैसे अध्ययनशील महानुभाव ब्रज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुसंधान अथवा संदर्भ के लिए उसे भी देखना चाहे, तो दूसरी बात है। यह सर्व विदित तथ्य है कि अत्यंत पुरातन काल से ही ब्रजमंडल का महत्त्व एक धार्मिक क्षेत्र के रूप में रहा है; और यहाँ की संस्कृति सदैव धर्मप्रधान रही है। ऐसी दशा मे ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास से संबंधित यह भाग निश्चय ही महत्वपूर्ण है। भौगोलिक दृष्टि से ब्रजमंडल की स्थिति उत्तरी भारत के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र मध्यदेश के प्रमुख भाग में है; और उत्तरापथ में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम दिशाओ को जाने वाले राजमार्गो का यह सदा से मिलन-स्थल रहा है। इसके कारण यहाँ सभी क्षेत्रों में समन्वय की भावना रही है; जिससे यहाँ के धर्म-संप्रदाय भी सहिष्णुता पूर्वक साथ-साथ विकसित होकर उन्नति करते रहे है।

इस ग्रंथ में उन सभी प्रमुख धर्म-संप्रदायों का ऐतिहासिक वर्णन है, जो कृष्ण-काल से लेकर अब तक की कई सहस्राब्दियों में समय-समय पर ब्रजमंडल में प्रचलित रह कर परिस्थिति वश या तो लुप्त हो गये; या अन्य नाम-रूपों में परिवर्तित होकर उन्नति, अवनति एवं पुनरुन्नति की विविध भूमिकाओं में फूलते-फलते रहे हैं। ऐसे धर्म-संप्रदायों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है,— वैदिक, नारायणीय, सात्वत, पांचरात्र, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, भागवतादि धर्म; सर्वश्री रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य देव, हित हरिवंश, स्वामी हरिदासादि के वैष्णव संप्रदाय तथा तुलसी साहब, राधास्वामी और स्वामी दयानंद के निर्गुण मत। ब्रज के इन सभी धर्म-सप्रदायों और मत-मतांतरों का यथा संभव प्रामाणिक और विशद वृत्तांत इम ग्रंथ में प्रथम बार लिखने की चेष्टा की गई है।

यह ग्रंथ काल-क्रमानुसार ७ अध्यायों में पूर्ण हुआ है। इसके प्रथम अध्याय का नाम 'आदि काल' है, जिसकी कालावधि प्रागैतिहासिक काल से लेकर विक्रमपूर्व सं. ५६६ तक, अर्थात् वैदिक धर्म के अज्ञात युग से लेकर भगवान् बुद्ध के जन्म-कालीन ऐतिहासिक युग तक की मानी गई है। यह काल जितना लंबा है, उसके संबंध मे हमारा ज्ञान उतना ही कम है! इस काल में प्रचलित वैदिक विशेप कर उसके आरंभिक रूप के विकास में प्राचीन ब्रजमंडल अर्थात् शूरसेन जनपद ने योग दिया था या नहीं, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। किंतु अनुमान है कि यहाँ के तपोनिष्ठ ऋषियों ने कतिपय उपनिषदों की रचना कर वैदिक धर्म के उत्तर-कालीन रूप के विकास में संभवतः कुछ योग दिया था। वैदिक धर्म में मान्य याज्ञिक विधि की प्रतिक्रिया मे जिस नारायणीय धर्म का उदय हुआ, वह कृष्ण-काल से पहिले ही लुप्त हो गया था। श्रीकृष्ण ने युग की आवश्यकतानुसार उसे पुनः प्रतिष्ठित किया, जो उनके सजातीय सात्वत क्षत्रियों मे प्रचलित होने के कारण 'सात्वत धर्म' कहलाया। उसी का एक प्रसिद्ध नाम पांचरात्र धर्म भी था। सात्वत किंवा पांचरात्र धर्म का उदय शूरसेन प्रदेश हुआ था; और उसके प्रवर्त्तक भगवान् श्रीकृष्ण थे। जब जरासंध के आक्रमणों के कारण श्रीकृष्ण के साथ यादव क्षत्रियों के बहुसंख्यक परिवार ब्रज से

निष्क्रमण कर विविध स्थानों में बस गये, तब उनके साथ इस धर्म का भी देशव्यापी विस्तार हुआ था। व्रज के प्राचीनतम लोक देवों में यक्षों और नागों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने व्रज की लोकोपासना के साथ ही साथ यहाँ के विविध धर्मों को भी बड़ा प्रभावित किया था।

द्वितीय अध्याय का नाम 'प्राचीन काल' रखा गया है, जिसकी कालावधि विक्रमपूर्व सं. ५६६ से विक्रमपूर्व सं. ४३ तक की मानी गई है। इस अध्याय से व्रज के सांस्कृतिक इतिहास का ऐतिहासिक युग आरंभ होता है। इस युग के आरंभ में यादवों द्वारा प्रचारित सात्वत धर्म भारत के पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भागों में प्रचुरता से प्रचलित था; किंतु उनका व्रजमंडल से संबंध विच्छेद हो जाने से यहाँ उसका प्रचार बहुत कम हो गया था। उस समय यहाँ वैदिक धर्म का ज़ोर बढ़ गया था, जिससे यज्ञों के व्ययसाध्य विधान और उनमें की जाने वाली हिंसा में वृद्धि हो गई थी। उसकी प्रतिक्रिया में जैन और बौद्ध धर्मों का उदय हुआ था। ये दोनों धर्म वेद विरोधी और श्रमण-संस्कृति मूलक थे। उनका उदय और आरंभिक विकास भारत के पूर्वी भाग में हुआ था, किंतु कालांतर में वे देश के अन्य भागों में भी प्रचलित हो गये थे। व्रजमंडल में भी कुछ काल तक उनका अच्छा प्रचार रहा था। बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है, भगवान् बुद्ध अपने धर्म के प्रचारार्थ 'चारिका' (विचरण) करते हुए दो बार मथुरा भी आये थे। प्रथम यात्रा में उन्होंने मथुरा निवासियों को यक्षों के आतंक से मुक्त किया था, और दूसरी यात्रा में उन्होंने उपगुप्त के संबंध में भविष्य वाणी की थी। उनकी यात्राओं से यहाँ पर बौद्ध धर्म का बीजारोपण मात्र हुआ था। बाद में उनके योग्य शिष्य उज्जैन निवासी काच्चान (कात्यायन) द्वारा उस धर्म के अंकुर जमे और उपगुप्त द्वारा वह पल्लवित हुआ था। उपगुप्त का जन्म-स्थान मथुरा था, और वह अपने समय का सुप्रसिद्ध बौद्ध धर्माचार्य तथा मगध के महान् सम्राट अशोक का गुरु था। उसने अपने संयम द्वारा मथुरा की संभ्रांत नगरवधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था, और अपने अपूर्व धर्म-ज्ञान द्वारा अशोक को बौद्ध धर्म के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया था। उसके कारण शूरसेन प्रदेश उस धर्म के स्थविरवादी संप्रदाय 'सर्वास्तिवाद' का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ सहित कई तीर्थंकरों का शूरसेन प्रदेश से घनिष्ठ संबंध रहा है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का यहाँ जन्म हुआ था, और जैन मान्यता के अनुसार वे भगवान् कृष्ण के भाई थे। अंतिम केवली श्री जंबूस्वामी ने मथुरा के 'चौरासी' क्षेत्र में तपस्या कर सिद्ध पद प्राप्त किया था, और यहीं पर उनका निर्वाण हुआ था। मथुरा के कंकाली टीला पर जैन धर्म का सुविख्यात 'देवनिर्मित स्तूप' था; जो सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल में कुवेरा देवी द्वारा निर्मित हुआ था। वह इस धर्म का सर्व प्राचीन स्तूप था, और उसकी ख्याति कई शताब्दियों तक समस्त भारत के जैनियों में रही थी। इन सबके कारण मथुरामंडल प्राचीन काल में ही जैन धर्म का प्रसिद्ध तीर्थस्थल हो गया था। यद्यपि उस काल में बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक धर्मों का प्राबल्य था; तथापि सात्वत-पांचरात्र, शैव और शाक्त जैसे वेदानुकूल धर्म भी प्रचलित थे। जब शूरसेन प्रदेश पर शुंग सम्राटों का शासन था, तब सात्वत-पांचरात्र धर्म ने भागवत धर्म के नाम से बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शुंग सम्राटों के प्रोत्साहन से भागवत धर्म का व्यापक प्रचार हुआ था, और विदेशी यूनानियों तक ने उसे अंगीकार किया था। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने 'भागवत' उपाधि धारण कर इस धर्म के परमोपास्य भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा में गरुड़ध्वज स्तंभ का निर्माण कराया था। इस प्रकार इस अध्याय में प्राचीन व्रज के धार्मिक महत्व का उल्लेख हुआ है।

तृतीय अध्याय का नाम 'पूर्व मध्य काल' है, और इसकी कालावधि विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम-पश्चात् सं. ६०० तक की मानी गई है। यह काल कई दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें प्राचीन ब्रजमंडल को पहिले शक, कुषाण जैसी विदेशी जातियों के आक्रमण तथा उनके राज्य काल के दुःख–सुख का अनुभव करना पड़ा; और फिर इसे नाग एवं गुप्त जैसे भारतीय राजाओं के गौरवपूर्ण शासन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। शकों और कुषाणों ने पहिले ब्रज संस्कृति को आघात पहुँचाया था; किंतु बाद में जब उन्होंने यहाँ के विविध धर्मो को अंगीकार कर लिया, तब वे प्राचीन ब्रज की उन्नति में बड़े सहायक हुए थे। उस काल में यह प्रदेश 'शूरसेन' की अपेक्षा 'मथुरा राज्य' कहा जाने लगा था। उस समय मथुरा नगर की गणना भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध नगरों में होती थी। धर्मोपासना के साथ ही साथ कला-कौशल में भी इस नगर ने बड़ा नाम कमाया था। मूर्ति-निर्माण के लिए तो मथुरामंडल उस काल में समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध था। यहाँ पर भागवत, जैन और बौद्ध धर्मो के उपास्य देवों की जो मूर्तियाँ बनाई जाती थी, उन्हें श्रद्धालु जन देश के विविध स्थानों में ले जाकर प्रतिष्ठित करते थे। उस काल में बौद्ध, जैन, भागवत और शैव सभी धर्मो ने यहाँ पर बड़ी उन्नति की थी। मथुरा राज्य उन सब की धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रधान केन्द्र हो गया था। बौद्ध–जैनों के स्तूपों, चैत्यों, विहारों एवं संघारामों में बोधिसत्वों एवं तीर्थंकरों की मूर्तियाँ तथा आयाग पट्टों की प्रतिष्ठा की गई थी; और भागवतों एवं शैवों के मंदिर-देवालयों में भागवत मूर्तियों तथा शिवलिंगों की स्थापना हुई थी। उस काल में वे चारों प्रसिद्ध धर्म मानों ब्रज के धार्मिक स्वस्तिक की चारों भुजाओं का रूप धारण कर समस्त भारत के श्रद्धालु जनों का आह्वान करते थे। उनके सहिष्णुतापूर्ण सह अस्तित्व से यहाँ की समन्वय - प्रधान धार्मिक संस्कृति को बड़ा महत्व प्राप्त हुआ था। इस काल में बौद्ध धर्म के मूल स्वरूप 'स्थविरवाद' को सरल और सर्व सुलभ बनाने के उद्देश्य से उसके अंतर्गत 'महायान' का उदय हुआ था। उस पर भागवत धर्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा था, जिससे बौद्ध धर्म में भी मूर्ति–पूजा प्रचलित हो गई थी। जैन धर्मावलंबी पहिले 'जिन वाणी' को लेखबद्ध नहीं करते थे; किंतु इस काल में मथुरामंडल के जैनियों ने 'सरस्वती आंदोलन' चला कर उसे लिखित रूप प्रदान करने का नेतृत्व किया और यहाँ के मूर्ति–कलाकारों ने ही सर्व प्रथम पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी की प्रतिमा निर्मित की थी। सं. ३७० वि० में मथुरा में श्वेतांबर जैनियों ने एक सम्मेलन का आयोजन कर जैनागमों का जो पाठ निश्चित किया था, वह 'माथुरी वाचना' कहलाता है। इस काल में भागवत धर्म के सर्व प्राचीन मंदिर-देवालय बनाये गये थे। उनमें से एक मथुरा जिला के मोरा गाँव स्थित पंच वृष्णि वीरों का 'देवगृह' था, और दूसरा मथुरा नगर की कृष्ण-जन्मभूमि का वासुदेव 'महास्थान'। उन दोनों देव स्थानों का निर्माण मथुरामंडल में अब से प्रायः दो हजार पूर्व हुआ था। उनमें कृष्ण-जन्मभूमि वाला देवालय विशेष महत्वपूर्ण था। उसी स्थान पर 'परम भागवत' चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने ५वी शती में एक विशाल मंदिर बनवाया था, जो कई शताब्दियों तक मथुरा-मंडल में भागवत धर्म का प्रधान केन्द्र था। इस काल में शैव धर्म की भी बड़ी उन्नति हुई थी। मथुरा के नाग राजाओं ने उसकी प्रगति में विशेष योग दिया था। गुप्त काल में मथुरा नगर शैव धर्म के लकुलीश-माहेश्वर संप्रदाय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। उस काल में शाक्त धर्म में मान्य देवियों की उपासना-पूजा का भी अच्छा प्रचार था। अंबिका, महाविद्या, चामुंडा, कंकाली आदि देवियों के साथ 'एकानंशा' की भी उपासना होती थी। नंदपत्नी यशोदा के गर्भ से उत्पन्न भगवती

योगमाया ही उस काल में एकानंशा देवी के नाम से पूजी जाती थी। भगवान् श्री कृष्ण की भगिनी होने के कारण मथुरामंडल में उसकी उपासना-पूजा होना स्वाभाविक था। उस काल की सर्वाधिक धार्मिक उपलब्धि विविध पुराणों का संकलन, संपादन और वर्गीकरण किया जाना है; जिसमें मथुरामंडल ने भी महत्वपूर्ण योग दिया था। यह काल धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सभी प्रकार से प्राचीन व्रज का 'स्वर्ण काल' था। उसका श्रेय शक-कुषाण जैसे विदेशी और नाग-गुप्त जैसे भारतीय नरेशों के गौरवपूर्ण शासन को है। उस काल के अंत होने तक यहाँ का वह महत्व कम होने लगा था। उसका एक बड़ा कारण मथुरामंडल पर विदेशी बर्बर हूणों का आक्रमण था। उससे यहाँ के सभी धर्म-संप्रदायों को बड़ी क्षति हुई थी, और उनकी उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। हूणों का आक्रमण इस अध्याय के अंत की एक बड़ी दुर्घटना है।

चतुर्थ अध्याय का नाम 'मध्य काल' है, और इसकी कालावधि विक्रम सं. ६०० से सं. १२६३ तक की मानी गई है। उस काल में बड़े युगांतरकारी परिवर्तन हुए थे, जिन्होंने यहाँ के धर्म-संप्रदायों को बड़ा प्रभावित किया था। पुराणों के समन्वयात्मक लोक धर्म का प्रचार और तंत्रों की आकर्षक साधना का उदय इस काल की विशेषताएँ हैं। इसी काल में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे मनीषियों ने श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित 'हिंदू धर्म' की नींव डाली थी। उससे अवैदिक धर्मों की अवनति और वेदानुकूल धर्म-संप्रदायों की उन्नति हुई थी। अवैदिक धर्मों में बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गई, और जैन धर्म का प्रभाव कम हो गया था। वेदानुकूल धर्मों में भागवत धर्म ने वैष्णव धर्म के नाम से नया कलेवर प्राप्त किया था। उस काल की सर्वमान्य धार्मिक प्रवृत्ति तांत्रिक साधना थी, जिसने अपने व्यापक प्रभाव से यहाँ के सभी धर्म-संप्रदायों को अभिभूत किया था। तांत्रिक साधना का मूल सिद्धांत है,—प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को प्राप्त करना, और वह भी कामोपभोग द्वारा ! यह एक ऐसा आकर्षण था, जिसकी ओर उस काल के सभी धर्म-संप्रदाय बड़ी ललक के साथ दौड़ पड़े थे ! उसका भला-बुरा परिणाम भी सबको भोगना पड़ा था। तांत्रिक साधना में आचार की दृष्टि से दो भेद माने गये हैं, जिन्हें दक्षिणाचार और वामाचार कहते हैं। इस साधना की भली बात यह थी कि इसने परस्पर विरोधी सिद्धांतों के धर्म-संप्रदायों को भी तंत्राचार के सामान्य मंच पर एक साथ खड़ा कर दिया था। उसकी बुरी बात यह थी कि उसने सभी धर्मों के साधकों में वह भोग-प्रवृत्ति जागृत कर दी थी, जो प्राय: सभी धर्म-संप्रदायों में कल्याण एवं निर्वाण के मार्ग में बाधक मानी गई है। इसके दक्षिणाचार की सौम्य साधना ने तो अधिक अहित नहीं किया; किंतु इसके वामाचार की तामसी एवं उग्र साधना ने बड़ा अनिष्ट किया था। उसके कारण धर्मोपासना के क्षेत्र में मद्य-मांस सेवन और पर स्त्री-संभोग जैसे अनाचारों का स्वच्छंदतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा था, जिसने उस काल के सभी धर्म-संप्रदायों के स्वरूप को विकृत कर दिया था। उस काल की दो अन्य घटनाओं ने भी मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति को बड़ा प्रभावित किया था। उनमें से पहिली घटना राजपूत राजाओं का उदय और उनकी शक्ति का विस्तार होना है। दूसरी घटना इस्लाम धर्म के अनुयायी विदेशियों का यहाँ पर आक्रमण करना है। राजपूत राजागण पौराणिक हिंदू धर्म के अनुयायी थे। उन्हें मथुरामंडल की धार्मिक महत्ता मान्य थी। वे यद्यपि आपस में लड़ते हुए एक-दूसरे को हानि पहुँचाया करते थे, तथापि उन सब ने यहाँ के देव-स्थानों की उन्नति में योग दिया था। मुसलमान आक्रमणकारियों को अपने मजहब का ऐसा दुराग्रह था कि उन्होंने बल पूर्वक उसके प्रचार की दुश्चेष्टा की थी। वे मूर्ति-पूजा के बड़े विरोधी थे,

अतः उन्होंने यहाँ के सभी धर्म-संप्रदायों की मूर्तियों को तोड़ा और मंदिर-देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया था ! इस काल के अंत की सबसे दुःखद घटना महमूद गजनवी का मथुरा पर भीषण आक्रमण करना है। यहाँ के एक शूरवीर शासक कूलचंद (कुलचंद्र) ने उसकी शक्तिशाली सेना का प्रबल प्रतिरोध किया था; किंतु दुर्भाग्य से उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके उपरांत महमूद गजनवी ने मथुरा में जैसी भयंकर लूट-मार की थी, वैसी इतिहास में दूसरी नहीं मिलती है। उसने यहाँ के सभी समृद्धिशाली मंदिर-देवालयों को नष्ट कर दिया था। उनमें विविध धर्मों के विख्यात देव-स्थानों के साथ ही साथ चंद्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा श्रीकृष्ण—जन्मस्थान पर बनवाया गया सुप्रसिद्ध वासुदेव-मंदिर भी था। यहाँ की लूट से प्राप्त अपार संपत्ति को महमूद सैकड़ो ऊँटों पर लाद कर अपने राज्य गजनी ले गया था। उस दुर्घटना ने मथुरा नगर को वीरान कर दिया था !

पाँचवे और छठे अध्यायों में 'उत्तर मध्य काल' की धार्मिक प्रवृतियों का वर्णन है। इसकी कालावधि विक्रम सं. १२६३ से सं. १८८३ तक की मानी गई है। उस काल से पहिले तक ब्रज का जो धार्मिक महत्व था, वह चाहें कितना ही गौरवशाली रहा था, फिर भी वह विगत युगों की बात हो गई। उसका स्वरूप इतिहास के पन्नों में ही दिखलाई देता है। किंतु ब्रज का जो धार्मिक महत्त्व इस समय माना जाता है, और जिसका किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष दर्शन भी होता है; वह इसी काल में बना था। इसकी उपलब्धियाँ इतनी अधिक है कि उनका उल्लेख दो अध्यायों मे करना पड़ा है। पाँचवे अध्याय मे विक्रम सं. १२६३ से सं. १५८३ तक की, और छठे अध्याय में विक्रम सं. १५८३ से सं. १८८३ तक की धार्मिक प्रवृत्तियों का विशद वृत्तांत लिखा गया है। पाँचवे अध्याय की कालावधि ब्रज के इतिहास में राजनीति के साथ ही साथ धर्मोपासना की दृष्टि से भी नूतन युग की सूचक है। उसमे दो ऐसी महान् घटनाएँ हुई थीं, जिन्होंने बड़ा युगांतरकारी प्रभाव डाला था। पहिली घटना है,—ब्रजमंडल की राजनैतिक स्वाधीनता का अंत, और मुसलमानी शासन के अंतर्गत उसका एक पराधीन राज्य बन जाना। दूसरी घटना है,—कृष्णोपासना का नवीन रूप में प्रतिष्ठित होना। उस काल का यह बड़ा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ एक ओर विदेशी शासकों ने ब्रज की परंपरागत धार्मिक संस्कृति को समाप्त करने का क्रूरतापूर्ण प्रयास किया था; वहाँ दूसरी ओर उसी के शक्तिशाली नूतन स्वरूप की यहाँ स्थापना हुई थी। मुसलमानी राज्य के सूत्रधार दिल्ली के वे सुलतान थे, जिनका उद्देश्य इस धार्मिक क्षेत्र पर इस्लामी शरीयत के अनुसार शासन करना; और यहाँ के समन्वयशील विविध धर्मावलंवियो को वल पूर्वक मुसलमान वनाना था। यह कार्य उन्होंने जिस अभद्रता, अन्याय और खून-खरावी के साथ किया था, उससे इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं ! उनकी उस मजहवी तानाशाही की चुनौती को वैष्णव धर्माचार्यो और उनके अनुगामी संतों तथा भक्तों ने वडे साहस एव धैर्य के साथ स्वीकार किया था। बड़े आश्चर्य की बात है कि तत्कालीन शासकों के घोर अत्याचारों को सहन करते हुए भी उन धर्माचार्यो अथवा उनके अनुगामियो की किसी रचना मे अत्याचारियो के प्रति कोई आक्रोश या दुर्भाव व्यक्त नही किया गया है ! इसे उन महात्माओ की अलौकिक क्षमा-वृत्ति और मानव मात्र के प्रति उनकी समदृष्टि ही कहा जा सकता है। उससे जहाँ ब्रजवासियो का मनोबल और उनका धार्मिक भाव सुदृढ रहा; वहाँ धीरे-धीरे अनेक मुसलमान भी ब्रज संस्कृति के प्रशंसक बन गये थे। इस काल मे ही यह भू-भाग 'ब्रज' या 'ब्रजमंडल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उस समय वैष्णव धर्म के अंतर्गत कृष्णोपासक संप्रदायो के साथ ही साथ रामोपासक रामानंदी संप्रदाय ने भी यहाँ पर अपने केन्द्र बनाये थे।

वीतरागी तीर्थंकरों के तप–त्याग के कारण उनकी मूर्तियों को वस्त्रादि से विभूषित करना समीचीन नहीं समझा गया, अतः आरंभ में उन मूर्तियों को नग्न ही रखा गया था। उनकी पूजा जैन धर्म के समस्त नर–नारी बिना किसी सांप्रदायिक भेद के करते थे। जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान मुनि जिनविजय जी ने लिखा है,—"मथुरा के कंकाली टीला से जो अत्यंत प्राचीन प्रतिमाएँ मिली हैं, वे नग्न हैं। उन पर जो लेख हैं, वे श्वेतांबर कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार है[1]।" उनसे भी यही सिद्ध होता है कि आरंभ में दोनों संप्रदायों की मूर्ति–पूजा में कोई भेद–भाव नहीं था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता में उत्तरापथ के जैन धर्मावलंबियों का एक बड़ा समुदाय दक्षिण भारत की ओर चला गया था। उसी समय से जैन धर्म 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' नामक दो विचार–धाराओं में विभाजित हो गया, जिसने उक्त संप्रदायिक भेद को और भी स्पष्ट कर दिया था। जब सांप्रदायिक भेद अधिक बढ़ गया, तब मूर्तियों के पूजन-अर्चन पर भी उसका प्रभाव पड़ा था। उस प्रश्न पर दोनों में उतना विरोध हुआ कि उसके कारण दोनों संप्रदायों की पृथक्–पृथक् मूर्तियाँ बन गई, दोनों के पृथक्–पृथक् मंदिर–देवालयों का निर्माण हो गया और दोनों के पृथक्–पृथक् तीर्थ हो गये। दोनों संप्रदायों के मुनि–साधु तो पहिले से ही पृथक्–पृथक् थे; फिर पंडित एवं विद्वान भी पृथक्–पृथक् होने लगे, और धर्म ग्रंथों की भी पृथक्–पृथक् रचनाएँ होने लगीं।

धर्म ग्रंथ—भारतीय धर्म ग्रंथों की रचना में जैन विद्वानों की देन अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। इस धर्म के आरंभिक ग्रंथ प्राकृत भाषा में हैं। बाद में संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में भी उनकी रचना हुई थी। ये ग्रंथ विविध विषयों के हैं; किंतु इनमें आगम, न्याय, पुराण और स्तोत्र संबंधी रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आगम और न्याय के ग्रंथों में जैन धर्म के सिद्धांत और दर्शन का विशद विवेचन है। पुराणों में तीर्थंकरों के चरित्रों का वर्णन हुआ है, और स्तोत्र ग्रंथों में इस धर्म की भक्ति–भावना का कथन किया गया है।

आगम—भगवान् महावीर के उपदेश जैन धर्म के मूल सिद्धांत हैं, जिन्हें 'आगम' कहा जाता है। वे अर्धमागधी प्राकृत भाषा में हैं। उन्हें आचारांगादि बारह 'अंगों' में संकलित किया गया, जो 'द्वादशांग आगम' कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं की भाँति जैन आगम भी पहिले श्रुत रूप में ही थे। महावीर के बाद भी कई शताब्दियों तक उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया गया था। श्वेतांबर और दिगंबर आम्नाओं में जहाँ अनेक बातों में मत–भेद था, वहाँ आगमों को लिपिबद्ध न करने में दोनों एक–मत थे। कालांतर में उन्हें लिपिबद्ध तो किया गया; किंतु लिखित रूप की प्रामाणिकता इस धर्म के दोनों संप्रदायों को समान रूप से स्वीकृत नहीं हुई।

श्वेतांबर संप्रदाय के अनुसार समस्त आगमों के छै विभाग हैं,—जो १. अंग, २. उपांग, ३. प्रकीर्णक, ४. छेदसूत्र, ५. सूत्र और ६. मूलसूत्र कहलाते हैं। इनमें 'एकादश अंग सूत्र' सबसे प्राचीन माने जाते हैं। दिगंबर संप्रदाय उपर्युक्त आगमों को नहीं मानता है। इस संप्रदाय का मत है, अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् आगमों का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था। कालांतर में आचार्य धरसेन ने 'पूर्व' ग्रंथों के अवशिष्ट भागों को एकत्र कर नवीन ग्रंथ प्रचलित किये, जो षट खंडागम और कसाय पाहुड़ के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन पर धवला, महाधवला और जय धवला टीकाएँ हुई हैं।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २४१

पुराण—हिंदू धर्म के १८ पुराण प्रसिद्ध हैं। उन्हीं के अनुकरण पर जैन धर्म में भी पुराणों की रचना की गई थी। जैन धर्म का पौराणिक साहित्य अत्यंत विशाल है। हिंदू पुराणों की भाँति जैन पुराण पंचलक्षणात्मक नहीं होते हैं, वरन् इस धर्म में पुरातन चरित्र ही पुराण कहे जाते हैं,—'पुरातनं पुराणं स्यात्तन् महन्महदाश्रयात्'। दिगंबर संप्रदाय में जहाँ इन्हें 'पुराण' कहा जाता है, वहाँ श्वेतांबर संप्रदायी इन्हें 'चरित्र' कहते हैं।

हिंदू धर्म के २४ अवतारों की भाँति जैन धर्म में ६३ प्राचीन महापुरुषों को 'शलाका पुरुष' कहा गया है। वे हैं,—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। उन्हीं ६३ शलाका पुरुषों के चरित्रों का वर्णन जैन धर्म के पुराणों में किया गया है, और इनकी रचना प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत भाषाओं में हुई है। हिंदू धर्म के अवतारी महापुरुष राम और कृष्ण के चरित्र इन पुराणों में जैन धर्म के दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। जैन धर्म में राम का उल्लेख 'पउम' (पद्म) के नाम से हुआ है, और कृष्ण को तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भाई एवं शिष्य बतलाया गया है। राम और कृष्ण दोनों ही जैन पुराणों के अनुसार जैन धर्म में दीक्षित हुए थे।

प्राचीन ब्रज में जैन धर्म का प्रचार—

तीर्थंकरों का ब्रज से संबंध—जैन मान्यता के अनुसार इस धर्म में जो २४ तीर्थंकर हुए हैं, उनमें से आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ सहित कई तीर्थंकरों का प्राचीन ब्रजमंडल अर्थात् शूरसेन जनपद से घनिष्ट संबंध रहा है। जिनसेन कृत 'महापुराण' में जैन धर्म की एक प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार भगवान् ऋषभनाथ के आदेश से इंद्र ने इस भूतल पर जिन ५२ देशों का निर्माण किया था, उनमें एक शूरसेन देश भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी[1]। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा अंतिम तीर्थंकर एवं जैन धर्म के प्रतिष्ठाता भगवान् महावीर—उन सब का मथुरा में विहार हुआ था[2]। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जैन मान्यता के अनुसार वासुदेव कृष्ण के भाई थे, जो शूरसेन जनपद के प्राचीन शौरिपुर राज्य (वर्तमान बटेश्वर, जिला आगरा) के यादव राजा समुद्रविजय के पुत्र थे[3]। उनके कारण यह प्रदेश सभी जैन धर्मावलंबियों द्वारा सदा से पुण्य स्थल माना जाता रहा है।

तीर्थंकर नेमिनाथ का आरंभिक नाम अरिष्टनेमि था। उनका विवाह गिरिनगर की राजकुमारी राजीमती (राजुल) के साथ होना निश्चित हुआ था। विवाह के अवसर पर बरातियों को मांसाहार की व्यवस्था के लिए अनेक पशु-पक्षियों को इकट्ठा किया गया था। अरिष्टनेमि उन निरीह जीवों की हिंसा की आशंका से इतने द्रवीभूत हुए कि वे उसी समय विरक्त होकर तपस्या करने चले गये थे। उन्होंने अपने घर-बार और राज्याधिकार का परित्याग कर दिया था। बाद में सिद्धि प्राप्त होने पर उन्हें तीर्थंकर माना गया। उनके कारण शूरसेन प्रदेश और कृष्ण का जन्मस्थान मथुरा नगर जैन धर्म के तीर्थस्थान माने जाने लगे।

---

(१) महापुराण, (पर्व १६, श्लोक १५५)

(२) विविध तीर्थंकल्प का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण

(३) अरिष्टनेमि पुराण (जैन हरिवंश) और 'रिट्ठणेमि चरित्र'

अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का मथुरा में विहार हुआ था। जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है, उस समय के मथुरा-नरेश का नाम उदितोदय अथवा भीदाम था, जिसने जैन धर्म की दीक्षा ली थी। उसी समय उक्त राजा के मंत्री, अनेक राज्यकर्मचारी, नगरसेठ तथा अन्य प्रमुख नागरिक भी जैन धर्म के अनुयायी हुए थे। मथुरा और उसके निकटवर्ती स्थानों से जैन धर्म के जो प्राचीन अवशेष मिले हैं, उनमें ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में हैं। उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शूरसेन प्रदेश और मथुरा के निवासियों की उक्त तीर्थंकरों के प्रति बड़ी श्रद्धा रही थी। अंतिम केवली जंबूस्वामी और उनके निर्वाण-स्थल चौरासी क्षेत्र के कारण मथुरामंडल जैन धर्मावलंबियों के लिए और भी महत्वपूर्ण हो गया था।

जंबूस्वामी और मथुरा का चौरासी क्षेत्र—जंबूस्वामी का जन्म चम्पा नामक प्राचीन स्थान में हुआ था। वे वहाँ के धनाढ्य सेठ ऋषभदत्त के पुत्र थे। उन्होंने १६ वर्ष की किशोरावस्था में ही अपने विवाह के तत्काल पश्चात् महावीर जी के पट्टशिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रव्रज्या ली थी, और जीवन पर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था। प्रव्रज्या लेने के अनंतर २० वर्ष तक मुनि वृत्ति धारण करने पर वे केवलज्ञानी हुए थे। बाद में ४४ वर्ष तक केवलज्ञानी रहने के उपरांत ८० वर्ष की आयु में उन्होंने महावीर-निर्वाण के ६२वें वर्ष में मोक्ष लाभ किया था। उनका देहावसान काल वि. पू. सं० ४०८ माना जाता है। उन्होंने मथुरा के 'चौरासी' नामक स्थान में तपस्या कर सिद्ध पद प्राप्त किया था और वहाँ पर ही उनका निर्वाण हुआ था। वे जैन धर्म के अंतिम केवलज्ञानी थे।

जैन धर्म में तीर्थों के दो भेद माने गये हैं, जिन्हें १. सिद्ध क्षेत्र और २. अतिशय क्षेत्र कहा गया है। किसी तीर्थंकर अथवा महात्मा के सिद्ध पद या निर्वाण प्राप्ति के स्थल को 'सिद्ध क्षेत्र' कहते हैं, और किसी देवता की अतिशयता अथवा मंदिरों की बहुलता का स्थान 'अतिशय क्षेत्र' कहलाता है। इस प्रकार के भेद दिगंबर संप्रदाय के तीर्थों में ही माने जाते हैं; श्वेतांबर संप्रदाय में ये भेद नहीं होते हैं। दिगंबर संप्रदाय के उक्त तीर्थ-भेद के अनुसार मथुरा का चौरासी नामक स्थल 'सिद्ध क्षेत्र' कहलाता है; क्यों कि यहाँ पर जंबूस्वामी ने सिद्धपद प्राप्त किया था।

जंबूस्वामी के प्रभाव से सद्गृहस्थों के अतिरिक्त दस्युओं के जीवन में भी धार्मिकता का उदय हुआ था। उस समय के कई भयंकर चोर अपने बहुसंख्यक साथियों के साथ दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ कर तप और ध्यान में लीन हुए थे। मथुरा के तपोवन में उक्त दस्युओं को भी साधु-वृत्ति द्वारा परमगति प्राप्त हुई थी। कालांतर में जब चौरासी में जंबूस्वामी के चरण-चिह्न सहित मंदिर बना, तब उसके समीप उन तपस्वी दस्युओं की स्मृति में भी अनेक स्तूप बनवाये गये थे।

देव निर्मित स्तूप—जैन धर्म की प्राचीन अनुश्रुतियों में मथुरा के एक 'देव निर्मित स्तूप' को बड़ा महत्व दिया गया है। इस धर्म के प्राचीन ग्रंथों में लिखा है कि सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल में कुबेरा देवी ने मथुरा में एक रत्नजटित स्तूप का निर्माण कराया था। 'मथुरापुरी कल्प' से ज्ञात होता है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में वह स्तूप विद्यमान था। उस काल में उसकी सुरक्षा के लिए उसे ईंटों से ढक दिया गया था। वस्तुतः 'रत्नजटित स्तूप' की बात तो काल्पनिक अनुश्रुति मात्र है; किंतु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जैन धर्म का सबसे प्राचीन स्तूप मथुरा में ही बनाया गया था। मथुरा के प्राचीन जैन केन्द्र कंकाली टीला की खुदाई में जो महत्व-पूर्ण सामग्री प्राप्त हुई, उसमें उक्त स्तूप से संबंधित दूसरी शती का एक शिला लेख भी उपलब्ध

हुआ है। उसमें उक्त स्तूप का नाम 'देव निर्मित वोद्ध स्तूप' लिखा मिलता है[1]। इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों का मत है कि उस 'स्तूप का निर्माण ईसापूर्व छठी शती में या उसके भी कुछ पहिले हुआ होगा[2]।' इस धर्म के इतने प्राचीन स्तूप का पुरातात्विक प्रमाण किसी अन्य स्थान से उपलब्ध नहीं हुआ है।

जैन विद्वानों की अनेक धार्मिक रचनाओं में उक्त स्तूप की प्राचीन परंपरा का गुण-गान करते हुए उसकी विद्यमानता के कारण ही मथुरा की प्रशस्ति लिखी गई है। संगम सूरि कृत १२ वीं शती की संस्कृत रचना 'तीर्थमाला' और सिद्धसेन सूरि कृत १३ वी शती की अपभ्रंश कृति 'सकल तीर्थ स्तोत्र' में मथुरा की इसलिए वंदना की गई है कि वहाँ श्रीदेवी विनिर्मित स्तूप के साथ ही साथ नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के रमणीक महा स्तूप भी हैं[3]। वे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्तूप मथुर में ई० पूर्व छठी शती से दशवीं शती तक विद्यमान रहे थे। उस वृहत् काल में उनका कई वा जीर्णोद्धार किया गया था। उन्हें पहिले हूणों ने क्षतिग्रस्त किया, और वाद में महमूद गजनवी ने उन्हें नष्ट करा दिया था।

नंद-मौर्य काल (वि. पू. छठी शती) में जैन धर्म की स्थिति—उस काल में शूरसेन प्रदेश में जैन धर्म की यथार्थ स्थिति कैसी थी, उसे निश्चय पूर्वक वतलाना कठिन है। जिस 'देव निर्मित स्तूप' का पहिले उल्लेख किया है, वह संभवतः विवेच्य काल से पहिले ही मथुरा के उस स्थान में वन गया होगा, जिसे अव 'कंकाली टीला' कहते हैं। मथुरा का वर्तमान 'चौरासी स्थल' भी जंबूस्वामी के कारण सिद्ध क्षेत्र का महत्व प्राप्त कर चुका था। इस प्रकार मथुरा के वे दोनों स्थल उस काल में ही जैन धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र हो गये थे।

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के शासन काल में मगध में जो दुर्भिक्ष पड़ा था और जिसके कारण वहाँ के जैन संघ में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसका प्रभाव मथुरा के जैन संघ पर भी हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता है। उस काल में मगध का जैन संघ उत्तरी और दक्षिणी शाखाओं में विभाजित हो गया, जिसके कारण कालांतर में दिगंवर और श्वेतांवर नामक संप्रदाय-भेद हुआ था; किंतु उसका प्रभाव भी मथुरा के संघ पर नहीं पड़ा था। सम्राट अशोक की वौद्ध धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी। उसने उक्त धर्म को राज्याश्रय देकर उसके व्यापक प्रचार में इतना प्रयत्न किया कि उस काल में अन्य धर्मों की प्रगति कुछ मंद पड़ गई थी। उसका प्रभाव शूरसेन जनपद के धर्मों पर भी पड़ा था। फलतः वहाँ का जैन धर्म उस काल में कुछ गौण स्थिति में हो गया था।

---

(१) व्रज भारती (वर्ष ११, अंक २)

(२) व्रज का इतिहास (दूसरा भाग), पृष्ठ १५

(३) व्रज भारती (वर्ष ११, अंक २) में प्रकाशित श्री अगरचंद नाहटा के लेख से उद्धृत—

मथुरापुरि प्रतिष्ठितः सुपार्श्व जिन काल संभवो जयति।
अद्यापि सुराभ्यर्च्य श्रीदेवी विनिर्मित स्तूपः ॥ ८ ॥
—संगम सूरि कृत 'तीर्थमाला'

सिरि पासनाह सहिअं रम्मं, सिरि निम्मिअं महाथूनं।
फलिकाल विसुतित्थं महुरा नयरीय (ए) वंदामि ॥ २० ॥
—सिद्धिसेन सूरि कृत 'सकल तीर्थ स्तोत्र'

जैन–बौद्ध विवाद—जैन धर्म की प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि मथुरा के जैनियों और बौद्धों में दो–एक बार धार्मिक विवाद भी हुआ था। इस प्रकार का एक बड़ा विवाद मथुरा के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' के अधिकार के संबंध में था। बौद्धों ने उसे अपना स्तूप सिद्ध करने की चेष्टा की थी; किंतु उसकी पताका का श्वेत रंग होने से उक्त स्तूप पर जैनियों का अधिकार ही न्याय–संगत माना गया था। दूसरा विवाद जैनियों की रथ–यात्रा में बौद्धों द्वारा बाधा उपस्थित किये जाने से उत्पन्न हुआ था। हरिषेण कृत 'बृहत्कथा कोष' (सं० ९९०) में मथुरा के एक प्राचीन राजा पूतिमुख की कथा का उल्लेख है। उस राजा की पटरानी जैन धर्म में आस्था रखती थी। वह प्रति वर्ष फाल्गुन शु० ८ को बड़ी धूम–धाम से रथ–यात्रा का उत्सव किया करती थी। कुछ समय पश्चात् उस राजा ने एक बौद्ध कन्या से विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। उस नई रानी के बहकाने से राजा ने परंपरागत जैन रथ–यात्रा को रुकवा कर उससे पहिले बौद्ध रथ–यात्रा निकालने की अनुमति प्रदान कर दी थी। उससे जैनियों को बड़ा असंतोष हुआ, जिसके फल-स्वरूप वहाँ धार्मिक विवाद खड़ा हो गया। अंत में राजा को अपनी आज्ञा वापिस लेनी पड़ी और जैन रथ–यात्रा का उत्सव सदा की भाँति मनाया गया।

इस प्रकार के उदाहरण दो–एक ही मिलते हैं, अन्यथा शूरसेन प्रदेश और मथुरा नगर में सभी धर्मावलंबी गण सदैव सद्भाव पूर्वक रहे थे। धार्मिक विवाद की उक्त घटनाएँ संभवतः अशोक के शासन काल मे हुई होंगी, जब कि बौद्ध धर्म के अधिक प्रचार के कारण प्राचीन ब्रज में जैन धर्म की स्थिति कुछ कमजोर पड़ गई थी।

शुंग काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. सं० ४३) में जैन धर्म की स्थिति—मौर्य सम्राटों के पश्चात् जब शुंगों शासन आरंभ हुआ, तब इस प्रदेश की धार्मिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ था। शुंग सम्राटों ने अशोक की तरह बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान न कर सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार किया था। उनके शासन काल में भागवत धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी; किंतु अन्य धर्म भी प्रगति के पथ पर थे। फलतः जैन धर्म भी अपनी शिथिलता को छोड़ कर उन्नति करने लगा था। उस काल में इस धर्म की दृष्टि से जिन नगरों का अधिक महत्व था, उनमें मथुरा की भी गणना होती थी। यहाँ के जैन संघ ने अपना स्वतंत्र संगठन बना कर उसे उत्तरी और दक्षिणी शाखाओं के भेद से तटस्थ रखा था। मथुरा के देव–स्थान दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदाय वालों के समान रूप से आदरणीय बने रहे। यहाँ का प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' और जंबूस्वामी का निर्वाण-स्थल जैन मात्र के लिए पूज्य थे ही।

जैन धर्म और मूर्ति–पूजा—तीर्थंकरों की मानव–मूर्तियाँ प्रचलित होने से पहिले उनका पूजन-अर्चन उन आयागपट्टों द्वारा होता था, जिन पर स्वास्तिक, चरण–चिह्न और स्तूपादि की आकृतियाँ अंकित की गई थीं। शुंग काल में जब प्राचीन ब्रज में भागवत धर्म की मूर्तियों का प्रचलन हो गया, तब उनके अनुकरण पर वहाँ जैन तीर्थंकरों की भी मूर्तियाँ बनाई जाने लगी थीं। कुछ विद्वानों के मत से जैन मूर्तियों के निर्माण का आरंभ मगध राज्य में हुआ था। उसके प्रमाण के लिए आदि तीर्थंकर की उस प्रतिमा की ओर संकेत किया जाता है, जिसे कलिंगराज खारवेल वहाँ से उठा कर अपनी राजधानी में ले गया था। संभव है, वह अनुश्रुति प्रामाणित हो; किंतु प्राचीन ब्रज में जैन मूर्तियों का प्रचलन शुंग काल से पहिले नहीं हुआ था।

३. वैदिक धर्म

बुद्ध काल से शुंग काल (वि. पू. सं० ५६६ से वि. पू. सं० ४३) तक की स्थिति— इस काल से बहुत पहिले ही प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचार, अन्य धर्म-संप्रदायों के प्रचलन के कारण, कम हो गया था। उस युग में जो कई अवैदिक धर्म प्रचलित हुए थे, उनमें बौद्ध और जैन प्रमुख थे। उन धर्मों के कारण वैदिक धर्म के प्रचार और प्रभाव में पर्याप्त न्यूनता आ गई थी। फिर भी उसका प्रचलन समाज के सीमित क्षेत्र में बराबर बना रहा और वह परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर घटता—बढ़ता रहा था। असल में उस धर्म के अनुयायी समाज के कुछ अभिजात वर्ग के सवर्ण विद्वान थे, जिनके घरानों में परंपरा से इस धर्म के प्रति आस्था रही थी। वे लोग वैदिक विधि—विधान का पालन करते थे, और तदनुसार अपना आचरण करते थे।

शुंग सम्राटों का शासन काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. सं० ४३) वैदिक धर्म के साथ ही साथ वेदानुकूल धर्मों के लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ था। उस समय कई शताब्दियों के पश्चात् उनकी उन्नति का युग आया था। शुंग सम्राट अभिजात ब्राह्मण वर्ण के थे, और उनकी वेदानुकूल धर्मों के प्रति बड़ी आस्था थी। उनके प्रोत्साहन से प्राचीन वैदिक धर्म अपनी सुषुप्तावस्था से पुनः जागृत हुआ और वेदानुकूल धर्म प्रगति के पथ पर आरूढ़ हो गये। उस काल में जो लोग वैदिक धर्म में आस्था रखते थे, वे सात्वत—पंचरात्रादि धर्मों को भी मान्यता देते थे। शुंग काल में सात्वत-पंचरात्र धर्म भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। शुंग सम्राट पुष्यमित्र ने भागवत धर्म को प्रोत्साहन देने के साथ ही साथ अश्वमेधादि वैदिक यज्ञ भी किये थे। अयोध्या के शिला—लेख में पुष्यमित्र द्वारा किये गये दो अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख मिलता है[1]।

पुष्यमित्र के प्राय: समकालीन मेवाड़ी राजा सर्वतात ने चित्तौड़ के निकटवर्ती प्राचीन मध्यमिका नामक स्थान पर 'नारायण वाटक' का निर्माण कराया था, जिसमें भागवत धर्म के उपास्य भगवान् संकर्षण—वासुदेव के पूजन के लिए 'पूजा—शिला' की प्रतिष्ठा की गई थी। वह राजा वासुदेवोपासक होने के कारण जहाँ 'भागवत' कहलाता था, वहाँ उसे 'अश्वमेध—याजी' भी लिखा गया है[2]। उससे स्पष्ट होता है कि वह वैदिक धर्म के विधि—विधान को मानता था और उसने अश्वमेधादि वैदिक यज्ञ किये थे। जब चित्तौड़ से अयोध्या तक प्राय: समस्त उत्तर भारत में अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है, तब पुष्यमित्र शुंग के शासन काल को वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का युग कहना सर्वथा उचित है।

पुष्यमित्र के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने भी वैदिक धर्म को प्रोत्साहन प्रदान किया था। दुर्भाग्य से शुंग सम्राटों का शासन काल एक शताब्दी से भी कम समय तक रहा; फलतः वैदिक धर्म की वह स्थिति भी अधिक काल तक नहीं रह सकी थी। फिर भी वह आगामी कई शताब्दियों तक किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा था।

---

(१) एपिग्राफिया इंडिका, (भाग २०) पृष्ठ ५४—५८

(२) १. वही ,, (भाग १५) पृष्ठ २७, और (भाग २२) पृष्ठ १९८
 २. शोधपत्रिका (भाग ४, अंक ३) पृष्ठ ३६
 ३. ना० प्र० पत्रिका (भाग ६२, अंक २—३) पृष्ठ ११६

४. भागवत धर्म

पूर्व स्थिति और नामांतर—बुद्ध के जन्म से पहिले तक वासुदेवोपासक सात्वत–पंचरात्र धर्म ने शूरसेन प्रदेश के अतिरिक्त इस देश के अन्य भागों में भी अपना विस्तार कर लिया था। बुद्ध काल में उसका प्रचार पूर्वी भारत के साथ ही साथ शूरसेन प्रदेश में भी कुछ कम होने लगा था; किंतु पश्चिमी और दक्षिणी भारत के अनेक भागों में उसकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। उस काल में सात्वत–पंचरात्र धर्म कई नाम–रूपों से प्रचलित था। उसका एक नाम 'एकान्तिक' भी प्रसिद्ध हुआ था। 'ईश्वर संहिता' (१–१८) का वचन है, पंचरात्र धर्म ही मोक्ष का एक मात्र साधन है; इसलिए इसे 'एकायन' कहते हैं, जो 'एकान्तिक' का समानार्थक है। इस धर्म का अन्यतम और सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'भागवत धर्म' था। षड्गुणों से युक्त होने के कारण वासुदेव की संज्ञा 'भगवत्' अथवा 'भगवान्' हुई, और जिस धर्म में उनकी उपासना होती थी, उसे 'भागवत' कहा जाने लगा।

'पाद्मतंत्र' (४–२–८८) में 'पंचरात्र' के कई समानार्थक नामों का उल्लेख हुआ है[१]। उनसे भी यही ज्ञात होता है कि सात्वत, पंचरात्र, एकान्तिक, भागवत आदि नाम एक ही धर्म से संबंधित थे और वे सब भगवान् वासुदेव की उपासना के विविध रूपों को लेकर प्रचलित हुए थे। उनमें सात्वत, पंचरात्र और भागवत धर्मों की अधिक प्रसिद्धि हुई थी। अंत में उन सब का परिहार 'भागवत धर्म' में हो गया, और वही वासुदेवोपासना का एक मात्र प्रतिनिधि धर्म माना जाने लगा। फिर भी उसके सात्वत–पंचरात्रादि नाम भी कहीं–कहीं पर चलते रहे थे।

मौर्य काल (वि. पू. सं० २६८ से वि. पू. सं० १२८) में भागवत धर्म की स्थिति—उस काल के आरंभ में शूरसेन प्रदेश में वासुदेवोपासना की स्थिति किस प्रकार की थी, उसका कुछ थोड़ा सा परिचय मगध सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य (शासन काल वि. पू. सं० २६८ से वि. पू. सं० २३१) के दरबार में आये हुए यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ के लिखे हुए विवरण से मिलता है। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है,—'शूरसेन के निवासी 'हेराक्लीज' (हरि–कृष्ण) के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं।' उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध–जैनादि धर्मो का प्रचुर प्रचार होते हुए भी शूरसेन जनपद के अनेक घरानों में वासुदेव कृष्ण के प्रति जो परंपरागत श्रद्धा–भावना थी, वह अविचल बनी हुई थी। फलतः वहाँ पर भागवत धर्म भी अच्छी स्थिति में था।

मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. सं० ४३) में बौद्ध धर्म का देशव्यापी प्रचार हुआ था। मथुरा के सुप्रसिद्ध धर्माचार्य उपगुप्त ने उस धर्म की प्रगति में पर्याप्त योग दिया था। उस समय शूरसेन में बौद्ध धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी, किंतु भागवत धर्म की स्थिति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा था। ऐसा ज्ञात होता है, यह धर्म उस युग में अपनी यथावत् स्थिति में रहा था। अशोक का वंशज वृहद्रथ अंतिम मौर्य सम्राट था। उसके काल में मौर्य शासन का अंत हो गया। उसके उपरांत शुंग सम्राटों का शासन आरंभ हुआ था। उस समय भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई थी।

---

(१) **सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पंचकालवित्।**
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि॥ (पाद्मतंत्र, ४–२–८८)

देव-स्थान और देव-मूर्तियों का प्रचलन—वैदिक काल में आर्यगण इंद्र, अग्नि, वरुण, सूर्य, सविता, उषा आदि प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे, और उनकी प्रसन्नता के निमित्त वे यज्ञ किया करते थे। उन यज्ञों के लिए वे यज्ञ-शालाएँ और अस्थायी यज्ञ-मंडप तो बनवाते थे; किंतु उन्होंने अपनी उपासना के लिए देव-स्थान अथवा देव-मूर्तियों का निर्माण किया हो, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। उपनिषद् काल की आध्यात्मिक साधना के लिए तो उनकी अधिक आवश्यकता भी नहीं थी; अतः उस काल में भी उनकी विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

तत्त्व-दर्शकों और मनीषियों ने परब्रह्म परमात्मा को निराकार, अमूर्त और अव्यक्त माना है। परम ज्ञानी और महा योगी तो ध्यान, धारणा और समाधि द्वारा उसकी साधना अथवा उपासना कर सकते हैं, किंतु सामान्य साधकों और उपासकों के लिए उसमें कठिनाई का अनुभव होता है। इसीलिए गीता में कहा गया है,—'क्लेशोऽधिकतर स्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।'—अव्यक्त की उपासना करना अत्यंत कठिन है। साधकों की इस कठिनाई को दूर करने के लिए उनके हितार्थ ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई—'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणे रूप कल्पना', और उस रूप की अभिव्यक्ति के लिए मूर्तियों का प्रचलन आरंभ हुआ। इस प्रकार परमात्मा की मूर्ति मानव-समाज की अपनी कल्पना है। जो व्यक्ति जिस रूप में भगवान् की उपासना करना चाहता है, वह उसी रूप की मूर्ति बना लेता है।

मुहनजोदड़ो की एक मुद्रा में अंकित पशुपति की मूर्ति उपलब्ध हुई है। इससे सिंधु घाटी के अनार्य निवासियों मे देव-मूर्तियाँ होने का अनुमान किया गया है। विद्वानों का कथन है, अनार्य संस्कृति का आर्य संस्कृति से मेल होने पर ही आर्यों में देव-मूर्तियों का प्रचलन हुआ था। कारण कुछ भी रहा हो, उत्तर वैदिक काल के अनंतर भारत में देव-स्थानों और देव-मूर्तियों का पर्याप्त रूप में प्रचलन हो गया था। उस समय विविध धर्मों के उपास्य देव विष्णु, वासुदेव, जैन तीर्थंकर और बोधिसत्व आदि के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने के लिए पहिले देव-स्थानों का निर्माण किया गया और फिर देव-मूर्तियाँ बनाई गई थीं।

आरंभिक देव-स्थान—प्रारंभ में जो देव-स्थान बनाये गये, वे चारदीवारी से घिरे हुए बिना छत के खुले स्थान होते थे। इसीलिए उन्हें 'स्थान' कहा जाता था। कालांतर में उन्हें 'प्रासाद' कहा जाने लगा। वासुदेव कृष्ण के अतीव महत्त्व के कारण उनके उपासना स्थल 'महास्थान' अथवा 'प्रासादोत्तम' कहलाते थे। मथुरा के एक शक कालीन लेख में भगवान् वासुदेव के तोरण-वेदिका युक्त चतुःशाला देवालय को 'महास्थान' कहा गया है, और विदिशा के उसी काल के लेख में एक अठपहलू गरुड़ध्वज के साथ वाले देव-स्थान को 'प्रासादोत्तम' लिखा गया है। वे बिना छत वाले खुले स्थान, महास्थान, प्रासाद और प्रासादोत्तम ही मंदिर, देवालय और देव-स्थानों के आरंभिक रूप थे।

आरंभिक देव-मूर्तियाँ—प्रारंभ में जो देव-मूर्तियाँ बनाई गई, वे ऐसे शिलापट्ट थे, जिन पर उपास्य के प्रतीक रूप में धार्मिक चिह्नों का अंकन किया जाता था। जैसे जैन धर्म में तीर्थंकरों के चरण-चिह्न अथवा स्तूप-चैत्य की आकृति वाले 'आयाग पट्ट', और बौद्ध तथा भागवत धर्म में मान्य विविध चिह्नों के शिलापट्ट देव-मूर्तियों के रूप में पर्याप्त समय तक पूजनीय रहे थे। कालांतर में विभिन्न आकृतियों की और अंत में मानव आकृति की देव-मूर्तियाँ बनने लगी थी। शूरसेन जनपद के शिल्पियों ने देव-मूर्तियों के निर्माण मे बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। मानव आकृति की देव-मूर्तियों के निर्माण का आरंभ संभवतः शूरसेन में ही हुआ था।

प्राचीन व्रज के मंदिर और मूर्तियाँ—शूरसेन जनपद अर्थात् प्राचीन व्रज में मंदिर-मूर्तियों का प्रचलन कब से हुआ, इसे ठीक-ठीक बतलाना संभव नहीं है। इतिहास और पुरातत्त्व के प्रमाण से शुंग काल में मंदिर-मूर्तियों का व्यापक प्रचार सिद्ध होता है; किंतु उनकी परंपरा और भी पहिले की जान पड़ती है। जब यूनानी विजेता सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया, तब उसका सामना करने के लिए भारतीय वीर पोरस ने अपनी सेना सज्जित की थी। यूनानी लेखकों के अनुसार उस समय योद्धाओं में वीरत्व का संचार करने के हेतु भारतीय सेना में 'हेराक्लीज' की मूर्ति घुमाई गई थी। उस मूर्ति के संबंध में विविध विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट करते हुए उसे वासुदेव या शिव की मूर्ति होने की संभावना व्यक्त की है। मेगस्थनीज के जिस लेख में शूरसेन निवासियों द्वारा हेराक्लीज़ की उपासना किये जाने का उल्लेख हुआ है, उसे उद्धृत करते हुए हमने 'हेराक्लीज' का अभिप्राय 'हरि–कृष्ण' समझा है; क्यों कि वासुदेव कृष्ण ही शूरसेन निवासियों के सदा से पूजनीय रहे हैं। ऐसी दशा में पोरस की सेना में जो मूर्ति थी, उसे भी वासुदेव कृष्ण की ही समझा जा सकता है; चाहें उसकी आकृति कैसी भी रही हो। इस प्रकार सिकंदर के आक्रमण काल (वि. पू. चौथी शती) में वासुदेव कृष्ण की किसी तरह की मूर्तियों की विद्यमानता ज्ञात होती है। यद्यपि शूरसेन जनपद से उस काल की कोई वासुदेव-मूर्ति उपलब्ध नहीं हुई है; तथापि उसी काल में निर्मित मातृदेवियों और यक्षों की मूर्तियाँ प्राप्त होने से वासुदेव-मूर्ति के निर्माण की भी संभावना समझी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि वह मूर्ति किसी भी रूपाकृति की रही हो।

शुंग काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. सं० ४३) में भागवत धर्म की स्थिति—शुंग सम्राट वैदिक विधि–विधान के समर्थक और वेदानुकूल धर्मों के प्रति आस्थावान थे। उनके शासन में भागवत धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी। उस काल में श्रीकृष्ण को भगवान् वासुदेव से अभिन्न मान कर उनकी उपासना की प्राचीन मान्यता को पुनः समर्थन प्राप्त हुआ था। शुंग सम्राट पुष्यमित्र के समकालीन सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि ने अपने महाभाष्य में जहाँ 'संज्ञैषा तत्र भगवतः' लिख कर वासुदेव को भगवान् माना है, वहाँ 'जघान कंसं किल वासुदेवः' सूत्र से वासुदेव और कृष्ण की अभिन्नता बतलाई है। 'इस संबंध में कैयट, काशिका और तत्वबोधिनीकार भी यही बात कहते हैं[1]।' बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रंथ 'दीघ निकाय' में वासुदेव को कृष्ण का ही नाम बतलाया गया है और 'निद्देस' में वासुदेव के साथ संकर्षण का नामोल्लेख कर उनके उपासकों की विद्यमानता के संबंध में लिखा गया है।

शुंग काल में भागवत धर्म शूरसेन जनपद, राजस्थान और विदिशा राज्य में विशेष रूप से प्रचलित था। भारत के उत्तर–पश्चिमी सीमांत के यूनानियों द्वारा अधिकृत प्रदेश में भी उसका कुछ प्रभाव हो गया था। वहाँ के कतिपय विदेशी यूनानी भागवत धर्म के प्रति श्रद्धा रखने लगे थे। उस काल में भागवत धर्म के तीन बड़े केन्द्र थे,—मध्यदेश में शूरसेन की राजधानी मथुरा, राजस्थान में चित्तौड़ के निकट मध्यमिका और मध्यभारत में विदिशा। उनमें मथुरा नगर शुंग सम्राटों के प्रभाव क्षेत्र में था, किन्तु मध्यमिका पर संभवतः उनका प्रभाव नहीं था। विदिशा नगर शुंग साम्राज्य का प्रमुख केन्द्र था और वहाँ उनकी दूसरी राजधानी भी थी। उन तीनों केन्द्रों में भागवत धर्म की उन्नत अवस्था के विश्वसनीय प्रमाण मिले हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ६७

मथुरामंडल के भागवत मंदिर और मूर्तियाँ—शुंग काल में मथुरामंडल भागवत धर्म और उससे संबंधित मंदिर–मूर्तियों का सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। मथुरा से उस काल के कुछ ऐसे स्तंभ, वेदिका, तोरण आदि के ध्वंसावशेष मिले हैं, जो वहाँ के शासक वाधपाल और धनभूति द्वारा निर्मित देव–स्थानों के जान पड़ते हैं। वे वाधपाल–धनभूति मथुरा के कोई स्वतंत्र शासक थे, अथवा शुंग सम्राटों के सामंत, यह ज्ञात नहीं हुआ है। वैसे शुंग काल में मथुरामंडल पर उनका प्रभाव था, इसमें संदेह नहीं है[1]। उस काल में वासुदेव–संकर्षण को 'केशव' और 'राम' तथा उनके देवालयों को 'प्रासाद' कहा जाता था। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतंजलि के 'महाभाष्य' में उक्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें भागवत धर्म के उपास्य संकर्पण–वासुदेव (राम–केशव) के अतिरिक्त कुबेर (धनपति) के प्रासादों का भी उल्लेख किया गया है,—'प्रासादे धनपतिरामकेशवानाम् (२-२-३४)।

उस काल में उपास्य देवों के धार्मिक उत्सव मनाने की भी प्रथा थी। महाभाष्य में उन उत्सवों को 'मह' अथवा 'कृत्य' कहा गया है और उनके निमित्त एकत्र समाज को 'संसद'। धनपति, राम और केशव के प्रासाद की संसद में मृदंग, शंख और पणव नामक वाद्यों के बजाये जाने का उल्लेख मिलता है,—'मृदङ्गशंखपणवाः पृथङ् नदंति संसदि, प्रासादे धनपतिरामकेशवनाम्।' (२-२-३४)। महाभाष्य में इंद्र और गंगा के निमित्त किये जाने वाले 'मह' का भी उल्लेख किया गया है[2]।

शुंग काल में शूरसेन जनपद में राम (संकर्पण अथवा बलराम) की उपासना–पूजा का अधिक प्रचार हुआ जान पड़ता है। उस युग में निर्मित बलराम की एक मूर्ति मथुरा जिला के जुनसुठी गाँव से प्राप्त हुई है, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय (जी. २३५) में है। वह बलराम ही नहीं, वरन् भागवत धर्म की उपलब्ध समस्त देव मूर्तियों में सबसे प्राचीन मानी जाती है। वह मूर्ति मथुरा के उक्त स्थान में किसी भागवत देवालय में प्रतिष्ठित होगी।

मध्यमिका का 'नारायण वाटक'—शुंग काल में भागवत धर्म का दूसरा बड़ा केन्द्र राजस्थान में चित्तौड़ के निकटवर्ती प्राचीन मध्यमिका नामक स्थान में था। चित्तौड़ से ८ मील उत्तर दिशा में स्थित वर्तमान 'नगरी' नामक ग्राम उस काल में मध्यमिका कहलाता था। नगरी तथा उसके निकटवर्ती घोसुंडी ग्रामों से उपलब्ध अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाले भागवत राजा सर्वतात गाजायन ने वहाँ 'नारायण वाटक' (नारायण वाड़ा) का निर्माण कराया, और भगवान् संकर्पण एवं वासुदेव के पूजन–अर्चन के लिए उसमें एक 'पूजा-शिला' की प्रतिष्ठा की थी। उसे 'प्राकार' अर्थात् ऊँची चारदीवारी से घेर दिया गया था।

इस संबंध का जो शिला–लेख प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है,—"(कारितोऽयं राज्ञा भागव)तेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगव(द्)भ्यां संकर्पण-वासुदेवाभ्यां अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला–प्राकारो नारायण–वाटका।" अर्थात्–यह पूजा-शिला, प्राकार और नारायण वाटक सबके स्वामी अपराजित भगवान् संकर्पण और वासुदेव के लिए अश्वमेधयाजी भागवत राजा सर्वतात ने, जो पाराशरी के पुत्र और गाजायन गोत्र के हैं, बनवाया[3]।

(१) पतंजलि कालीन भारत, पृष्ठ १२०
(२) वही " " पृष्ठ ५५५
(३) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ६०१; ना. प्र. पत्रिका (भाग ६२ अंक २–३) पृष्ठ ११७

इस काल की सब से महान् उपलब्धि श्री राधा जी के धार्मिक महत्त्व की स्थापना और उसका क्रमिक विकास है; जिसने कृष्णोपासना को माधुर्यमंडित कर उसे सरस और अधिक आकर्षक बना दिया था। उसके कारण समस्त भारत के श्रद्धालु भक्तों का आकर्षण ब्रज के उन स्थलों के प्रति बढ़ गया था, जहाँ श्री राधा-कृष्ण की विविध लीलाएँ हुई थीं। फलतः विभिन्न स्थानों के भक्तगण मार्ग की कठिनाइयों को सहन करते हुए यहाँ की यात्रा करने लगे, और सुलतानों के दमनकारी कानूनों के रहते हुए भी यहाँ निवास करने लगे। उस काल के आगत महानुभावों में सर्वश्री निंबार्काचार्य, विल्वमंगल, जयदेव, गांगल भट्ट, केशव काश्मीरी भट्ट, माधवेन्द्र पुरी, ईश्वर पुरी एवं वल्लभाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कतिपय धर्माचार्यों ने सुलतानों के अमानवीय आदेशों की सविनय अवज्ञा करते हुए उनके विरुद्ध अहिंसात्मक संघर्ष किया था, और उसमें सफलता प्राप्त की थी। ऐसा एक संघर्ष मथुरा के विश्रामघाट पर हुआ था; जिसकी सफलता का श्रेय श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी को दिया जाता है। वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में उक्त घटना श्री वल्लभाचार्य जी से संबंधित मानी गई है। संभवतः वह अभूतपूर्व सफलता दोनों आचार्यों के सम्मिलित प्रयत्न से प्राप्त हुई थी। वार्ता से ज्ञात होता है, जिस समय वल्लभाचार्य जी ब्रज में आये थे, उस समय दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी की मज़हबी तानाशाही का दमन चक्र यहाँ पूरे वेग से चल रहा था। उस धर्मान्ध सुलतान ने ऐसे कठोर आदेश जारी किये थे, जिनके कारण ब्रजवासियों को अपने धार्मिक कृत्य, यहाँ तक कि यमुना-स्नान करना तक कठिन हो गया था! मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण पर उसने कड़ी पाबंदी लगा दी थी। श्री वल्लभाचार्य ने उन अमानवीय आदेशों के विरुद्ध अहिंसात्मक संघर्ष किया था। उन्होंने ब्रजवासियों में आत्म बल का संचार कर उन्हें राजकीय आदेशों की सविनय अवज्ञा द्वारा यमुना-स्नानादि धार्मिक कृत्य और श्रीनाथ जी की सेवा के रूप में मूर्ति-पूजा करने के लिए प्रेरित किया था। मंदिर-निर्माण पर कठोर पाबंदी होते हुए भी उन्होंने निर्भय होकर पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्धन में श्रीनाथ जी का मंदिर बनवाया था। सुलतानी काल की विषम धार्मिक परिस्थिति में मानवाधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले उन महानुभावों के साहस और धैर्य की जितनी प्रशंसा की जावे, वह कम है। वस्तुतः उस भीषण काल में कृष्णोपासना की पताका फहराने वाले वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्त जनों के कारण ही ब्रज को वह गौरव प्राप्त हुआ है, जो कई शताब्दियों के परिवर्तनों के पश्चात् किसी न किसी रूप में अब भी क़ायम है।

छठे अध्याय में 'उत्तर मध्य काल' के उन महान् धार्मिक आयोजनों का विशद वर्णन किया गया है; जो विक्रम सं. १५८३ से सं. १८८३ तक ब्रजमंडल में हुए थे। इस काल में ब्रज के वर्तमान धार्मिक रूप का निर्माण हुआ; और यहाँ के सभी धर्म-संप्रदाय, विशेषतया कृष्णोपासक संप्रदाय परमोत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गये। उसका श्रेय उस काल के महान् धर्माचार्यों और उनके अनुगामी विद्वान भक्तों के साथ ही साथ मुगल सम्राट अकबर को है। सम्राट अकबर ने अपनी उदार धार्मिक नीति की घोषणा करते हुए सुलतानी काल के सभी दमनकारी कानूनों को रद्द कर दिया था। उसके कारण यहाँ के सभी धर्म-संप्रदायों की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। किंतु दुर्भाग्य से वह स्थिति एक शताब्दी तक भी क़ायम नहीं रही थी। जैसे ही औरंगजेब ने मुगल साम्राज्य का शासन-सूत्र सँभाला, वैसे ही उसने सुलतानी काल के अमानवीय आदेश पुनः ब्रज में जारी कर दिये थे। उसके राज्य कर्मचारियों ने जनता का बलात् धर्म-परिवर्तन करने और मंदिर-मूर्तियों को

पूर्वोक्त शिला-लेख ब्राह्मी लिपि में है और वह खंडित अवस्था में प्राप्त हुआ है। उसे डा० भांडारकर ने पढ़ा था। उक्त लेख में संकर्षण-वासुदेव का विशेषण 'सर्वेश्वर' और राजा सर्वतात् का विशेषण 'भागवत' विशेष महत्वपूर्ण हैं। उसके साथ ही साथ संकर्षण-वासुदेव के लिए निर्मित देव-स्थान को 'नारायण वाटक' कहा जाना भी अपना विशिष्ट धार्मिक महत्व रखता है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि तब तक भागवत धर्म के उपास्य देवता वासुदेव को भगवान् नारायण से अभिन्न समझ कर उन्हें समस्त देवमंडल का अधिपति मान लिया गया था और वासुदेव के साथ नारायण की उपासना भी भागवत धर्म में मान्य थी। उस धर्म में श्रद्धा रखने वाला अश्वमेध-याजी तथा गाजायन गोत्रीय एक प्रतापी राजा सर्वतात अपने को 'भागवत' कहलाने में गौरव का अनुभव करता था। "गाजायन गोत्र 'मत्स्य पुराण' की गोत्र सूची में आंगिरस गोत्रगण के अंतर्गत कण्व शाखा में मिलता है[1]।" कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर ऋषि भी आंगिरस थे, जिन्हें हमने नारायणीय धर्म की परंपरा में बतलाया है[2]। इस प्रकार भागवत धर्म की प्राचीन परंपरा का इस ऐतिहासिक प्रमाण से अनुमोदन और समर्थन होता है।

विदिशा का 'गरुड़ध्वज'—वर्तमान मध्य प्रदेश राज्य का विदिशा नामक स्थान शुंग काल में भागवत धर्म का तीसरा बड़ा केन्द्र था। शुंग सम्राटों की दूसरी राजधानी होने के कारण उसका महत्व भागवत धर्म के अन्य केन्द्र मथुरा और मध्यमिका से भी उस काल में अधिक हो गया था। उसकी धार्मिक महत्ता का प्रमाण वह 'गरुड़ध्वज' स्तंभ है, जिसे शुंग सम्राट कौत्सीपुत्र भागभद्र के दरबार में आये हुए यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने प्रतिष्ठित किया था। शुंग सम्राटों के शासन-काल में गंधार से लेकर पंचनद तक के प्रदेश पर यूनानियों का अधिकार था, और तक्षशिला उनकी राजधानी थी। पुष्यमित्र आदि शुंग सम्राटों ने यूनानियों को दबा कर उन्हें भारतीय नरेशों से मैत्री संबंध स्थापित करने को बाध्य किया था। फलतः यूनानी अधिपति अंतलिकितस (एन्टिअल काइड्स) ने मैत्री-भाव की पुष्टि के लिए अपना दूत हेलियोदोर (हेलियोडोरस) शुंग सम्राट भागभद्र के दरबार में विदिशा भेजा था।

तक्षशिला निवासी यूनानी राजदूत हेलियोदोर भागवत धर्म का अनुयायी और भगवान् वासुदेव का उपासक था। उसने अपने उपास्य देव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा में एक 'गरुड़ध्वज' की प्रतिष्ठा की थी। उक्त स्तंभ पर ब्राह्मी लिपि में एक लेख भी उत्कीर्ण किया गया, जो इस समय कुछ खंडित हो गया है। वह लेख इस प्रकार है,—

"(दे)व देवस वा(सुदे)वस गरुड़ध्वजे अयं कारिते इ(अ) हेलियोदोरेण भागवतेन दियस पुत्रेण तख्खसिलाकेन योनदुतेन (आ)गतेन महाराजस अंतलिकितस उप(न्)ता संकासं रजो को(सी) पु(त्त)स (भ)ागभदस जातारस वसेन च(तु)दसेन राजेन वधमानस। ...त्रीनि अमुत पदानी (इ अ) (सु) अनुठितानि नेयंति स्वगं दम-चाग अप्रमाद।"

अर्थात्—देवाधिदेव वासुदेव का (अर्चा चिह्न) यह गरुड़ध्वज है। इसे स्थापित किया है दियस के पुत्र तक्षशिला वासी भागवत हेलियोदोर ने, जो महाराज अंतलिकितस के यहाँ से यवन दूत

---

(१) शोध पत्रिका (वर्ष १७, अंक १–२), पृष्ठ ४२

(२) इस ग्रंथ के 'नारायणीय धर्म' का पृष्ठ ११ देखिये।

होकर कौत्सीपुत्र त्राता महाराज भागभद्र के दरबार में आया है। उनके राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष मे।...अमोघ फल के तीन साधन, जिन पर आचरण करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, दम (इंद्रिय-दमन), त्याग और अप्रमाद (विवेक) है[1]।"

हेलियोदोर ने जिन अमोघ साधनों का उल्लेख अपने लेख के अंत में किया है, उनका आधार महाभारत है। भारतीय संस्कृति के उस महान् ग्रंथ में अनेक स्थलों पर दम, त्याग और अप्रमाद को अमृतत्व का साधन स्वीकार किया गया है[2]। "महाभारत में कहा है—इंद्रिय-दमन, त्याग तथा विवेक ये ब्रह्म के तीन घोड़े हैं। जो मनुष्य इन तीनों अश्वों से युक्त मानस-रथ पर शीलरूपी बागडोर को थाम कर जीवन-यात्रा करता है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। जो अहिंसा-वृत्ति द्वारा सब प्राणियों को अभय दान देता है, वह आनंद के धाम विष्णु-पद को पहुँचता है[3]। गीता में भी दम और त्याग (कर्म-फल त्याग) की महिमा का अनेक स्थलों पर कथन किया गया है[4]। इस प्रकार भगवत गीता सहित महाभारत ग्रंथ की शिक्षा के आधार पर अनेक विदेशी भी उस काल में भागवत धर्म को स्वीकार कर अपने जीवन को सफल कर सके थे[5]।

हेलियोदोर ने गरुड़ध्वज स्तंभ के साथ भगवान् वासुदेव का कोई पूजा-प्रासाद (देवालय) भी बनवाया था या नहीं, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। प्रायः इस प्रकार के स्तंभ देवालयों के साथ ही बनाये जाते थे। विदिशा में ही उस काल का एक दूसरा अठपहलू गरुड़ध्वज मिला है, जो भगवान् वासुदेव के 'प्रासादोत्तम' में लगाया गया था। उस पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है, शुंगवंशीय महाराज भागवत के शासन काल के १२वे वर्ष में उसे भागवत गोतमीपुत्र ने बनवाया था[6]। इससे अनुमानित होता है, कदाचित हेलियोदोर के गरुड़ध्वज के साथ भी पूजा-प्रासाद रहा होगा, जो कालांतर में नष्ट हो गया था।

इस प्रकार मथुरा, मध्यमिका और विदिशा के त्रिकोणात्मक विशाल भू-भाग में प्रचलित होने के कारण शुंग काल में भागवत धर्म के व्यापक प्रभाव का परिचय मिलता है।

---

(१) मानव धर्म (वर्ष ५, संख्या १) का 'श्रीकृष्णांक', पृष्ठ १२६

(२) दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्। (महाभारत, १२-५-४३)

(३) दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्राह्मणो हयाः।
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे॥
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति।
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते॥
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम्॥ (महाभारत, ५-४३-२२-४५-७)

(४) भगवत गीता, (१६-१,२ तथा १८-२, ५१)

(५) मानव धर्म (वर्ष ५, संख्या १) का 'श्रीकृष्णांक', पृष्ठ १२६

(६) "गोतमीपुत्तेन भागवतेन भगवतो प्रासादोत्तमस गरुडध्वज-कारितो द्वादस वसभिषिते भागवते..." (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ६००)

५. शैव धर्म

संक्षिप्त परिचय—

शिव के नाम-रूप का विकास—शैव धर्म के उपास्य देव भगवान् शिव का वैदिक नाम 'रुद्र' है और वेदों में उनका रूप अधिकतर भयावह एवं उग्र दिखलाई देता है। वैदिक देवताओं की कल्पना विविध प्राकृतिक तत्वों के मानवीकरण के रूप में की गई है। तदनुसार ऋग्वेद में रुद्र को 'विनाशकारी झंझावत अथवा घने बादलों में चमकती हुई विध्वंसक बिजली का प्रतीक' माना गया है। इस प्रकार उन्हें एक भयावह और उग्र देवता के रूप में कल्पित किया गया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में रुद्र का विनाशकारी भयावह रूप और भी उग्र हो जाता है। उनके बाण पशुओं और मनुष्यों का विनाश कर सकते हैं, अतः रुद्र के कोप से बचने के लिए वेदों में प्रार्थना के अनेक मंत्र मिलते हैं। अथर्ववेद के कई मंत्र (११-२-१०; १०-२-२४) में रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वे पशुओं को अपना संरक्षण प्रदान करें। "इसी प्रसंग (२-३४-१; ५-२४-१२; ११-२-१) में रुद्र को पहिली बार 'पशुपति' कहा गया है और उनसे पशु-वृद्धि तक के लिए प्रार्थना की गई है[१]।" यजुर्वेद में रुद्र की प्रशंसा करते हुए उन्हें 'शिव' भी कहा गया है। इस प्रकार संहिता काल में ही रुद्र को उग्र देवता के साथ ही साथ सौम्य देवता माने जाने का आरंभ दिखलाई देता है।

वैदिक संहिताओं में रुद्र को उच्च कोटि के उपास्य देव की अपेक्षा मध्यम श्रेणी का एक लोक देवता माना गया है; किंतु ब्राह्मण ग्रंथों में उसे उच्च वर्ग द्वारा भी अपनाये जाने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण काल के पश्चात् उत्तर वैदिक काल अर्थात् आरण्यक और उपनिषदों के युग में रुद्र का उत्कर्ष और भी बढ़ता हुआ दिखलाई देता है। यहाँ तक कि श्वेतांबर उपनिषद् में उनके पूर्ण उत्कर्ष का उल्लेख मिलता है। "उस काल में रुद्र जन साधारण के साथ ही साथ आर्यों में सबसे प्रगतिशील वर्ग के आराध्य देव बन गये थे और उन्हें रुद्र के साथ ही साथ ईश, महेश्वर, शिव और ईशान भी कहा जाने लगा था[२]।" उपनिषदों के पश्चात् रामायण और महाभारत में रुद्र के रूप और नाम में महत्व का परिवर्तन दिखलाई देता है। उस काल में रुद्र के सौम्य रूप का अधिक प्रचार होने से उन्हें भय और आतंक की अपेक्षा कल्याण तथा मंगल का देवता मान लिया गया था। तब उनके 'शिव' नाम की अधिक प्रसिद्धि हुई थी। उस काल में उक्त प्रचलित नाम के साथ ही साथ उन्हें महादेव, महेश्वर, शंकर और त्रयम्बक भी कहा जाने लगा था।

इस प्रकार पशुपति-रुद्र शिव-शंकर-महादेव का नाम धारण कर एक ऐसे उपास्य देव का रूप ग्रहण करते हैं, जो महा शक्तिशाली और सर्व संहारकारी होने के साथ ही साथ परम मंगलकारी, महा कल्याणप्रद, अमोघ फलदाता और अवढरदानी भी हैं। वे कुपित होने पर अपने नेत्र की ज्वाला से पल भर में सृष्टि का संहार करने की शक्ति रखते हैं, तो कृपालु होने पर क्षण भर में ही सृष्टि के समस्त दुर्लभ पदार्थों के प्रदान करने की उनमें क्षमता भी है। भयावह होने के कारण वही रुद्र हैं, तो कल्याणकारी होने से वही शिव—शंभु हैं। जीव मात्र के स्वामी होने से वही पशुपति हैं, तो

(१) शैव मत, पृष्ठ ६

(२) शैव मत, पृष्ठ ३६

समस्त देवताओं में महान् होने से वही महादेव हैं। 'शतरुद्रीय सूक्त' में रुद्र के सौ नाम-रूपों का उल्लेख है और वे सब शिव के नाम–रूपों से मिलते हैं। इस प्रकार रुद्र ही शिव हैं; वही पशुपति, गिरीश, नीलग्रीव, शंभु, महादेव आदि अनेक नामों से अभिव्यंजित होते हुए 'शैव धर्म' के परमोपास्य देवता मान लिये जाते हैं।

शिव का परिकर—अपर वैदिक काल, विशेषतया पौराणिक युग, में शिव के परिकर की भी कल्पना की गई थी। उनकी पत्नी को पहिले अम्बिका; फिर शक्ति, सती, उमा, पार्वती, आर्या, भगवती के साथ ही साथ दुर्गा, महाकाली और महायोगिनी भी कहा जाता था। उसका रूप भी शिव की ही भाँति मंगलकारी और संहारकारी द्विधा कल्पित किया गया था। शिव के एक पुत्र का सबसे पुराना नाम विनायक मिलता है, जिसे बाद में सिद्धिदाता गणेश कहा जाने लगा था। उनका दूसरा पुत्र स्कंद है, जिसे कार्तिकेय, षड्मुख, जयंत, विशाख, सुब्रह्मण्य और महासेन भी कहा गया है। शिव के सेवक 'गण' कहलाते हैं, जो अत्यंत शक्ति सम्पन्न और विविध नाम–रूपों के हैं। शिव का वाहन बैल है, और उनका शस्त्र त्रिशूल है। उनके प्रमुख निवास–स्थान हिमालय और कैलाश हैं, जहाँ वे अपने परिकर के साथ रहते हैं। वे परम योगी तथा महा तपस्वी हैं, और प्रायः समाधि में लीन रहा करते हैं।

शिव की उपासना-भक्ति और सेवा-पूजा—उपनिषद् काल में भारतीय धर्म ने एक नवीन धार्मिक मान्यता को जन्म दिया था। उसके प्रमुख तत्व 'ध्यान' और 'भक्ति' थे, जिनका पूर्ण विकास पुराणों में दिखलाई देता है। पौराणिक काल के प्रमुख देवता विष्णु और शिव हैं। उस काल में जो व्यक्ति उनमें से जिनकी उपासना–भक्ति करता था, वह उन्हीं को श्रेष्ठ मानता था और दूसरे को या तो उनसे अभिन्न समझता था, या कुछ कम महत्व का। विष्णु की उपासना तो देवता और मानव ही करते हैं, किंतु शिव की भक्ति उन दोनों के अतिरिक्त उनके सामान्य शत्रु दैत्य-दानव द्वारा भी की जाती है। शिव दैत्य-दानवों को वरदान देते हैं, किंतु विष्णु उनका संहार करते हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों के प्रायः सभी प्रमुख दैत्य-दानव शिव से वरदान प्राप्त कर अपने शत्रु देवता और मानवों को कष्ट देते हुए दिखलाई देते हैं; किंतु अंत में वे या तो स्वयं विष्णु से अथवा उनके अवतारों से मारे जाते हैं। इससे उन दोनों प्रमुख देवताओं के आदिम रूप का भी बोध होता है। विष्णु आरंभ से ही आर्यों के उच्च वर्ग के देवता रहे हैं, किंतु शिव पहिले निम्न वर्ग के अथवा अनार्यों के देवता जान पड़ते हैं। बाद में आर्यों के उच्च वर्ग ने भी उन्हें अपना लिया था। उच्चवर्गीय आर्यों ने पहिले शिव को महत्व नहीं दिया था। इसका प्रमाण महाभारत में उपलब्ध 'दक्षयज्ञ' का उपाख्यान है। उससे ज्ञात होता है कि कर्मकांडी आर्यों ने पहिले शिव का बड़ा विरोध किया था। फिर पर्याप्त संघर्ष के उपरांत ही उन्होंने शिव की महत्ता को स्वीकार किया।

उपनिषद् काल के पश्चात् जब भक्तिवाद का उदय हुआ, तब कर्मकांड का स्थान उपासना–भक्ति ने ले लिया था। उस समय विष्णु की उपासना के साथ ही साथ शिव की भक्ति का भी व्यापक प्रचार हो गया था। जब प्राचीन ब्रज में उपास्य देवों की मूर्तियों का प्रचलन हुआ, तब विष्णु, वासुदेव, बलराम आदि के साथ ही साथ शिव की मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगी थीं। अन्य देवताओं की मूर्तियाँ प्रायः मानवाकृति की बनाई गई थीं, किंतु शिव की मूर्तियों को मानवाकार के अतिरिक्त लिंगाकार की भी बनाया गया था।

लिंगोपासना की मूल परंपरा—पश्चिमी विद्वानों का मत है कि शिव मूल रूप में अनार्यो के देवता हैं, और वे ऋग्वेद के रुद्र से सर्वथा भिन्न हैं। उनका यह भी मत है कि शिव की लिंगोपासना भी मूलतः अनार्यो की देन है, जिसका वैदिक रुद्र के साथ कोई संबंध नहीं मिलता है। इसके समर्थन में सिंधु घाटी की तथाकथित अनार्य सभ्यता के वे प्राचीन अवशेष प्रस्तुत किये जाते हैं, जो मुहनजोदड़ो और हड़प्पा आदि स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। उनसे ज्ञात होता है कि वहाँ के प्राचीन निवासियों में एक विशिष्ट पुरुष–देवता एवं एक मातृ–देवी की उपासना प्रचलित थी, और उनमें लिंगोपासना का भी प्रचार था। पुरुष–देवता की जो आकृति वहाँ से उपलब्ध एक मुद्रा पर अंकित मिली है, उसके कई मुख हैं और उसे पशुओं से घिरा हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार उसके 'पशुपति' रूप का अनुमान किया गया है। वहाँ के प्राचीन अवशेषों में पत्थर के बने हुए लिंग-प्रतीक भी हैं, जिनसे वहाँ के निवासियों में लिंगोपासना के प्रचलन की संभावना ज्ञात होती है।

जब वैदिक संस्कृति के साथ सिंधु घाटी की सभ्यता का सम्मिश्रण हुआ, तब उसके फलस्वरूप दोनों के देवताओं और उनकी उपासना की विधियों में भी ताल–मेल हो गया था। पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार तभी आर्यो में पशुपति देवता और मातृ देवी की उपासना के साथ ही साथ लिंगोपासना भी प्रचलित हुई थी।

सिंधु घाटी की सभ्यता के संबंध में पाश्चात्य विद्वानों ने जो मत पहिले निश्चित किया था, वह उसके बाद की उपलब्धियों और तत्संबंधी विविध अनुसंधानों से अब विवादास्पद हो गया है। ऐसी स्थिति में सिंधु घाटी की सभ्यता को वैदिक संस्कृति और आर्य सभ्यता से सर्वथा भिन्न मान कर उसे अनार्य सभ्यता समझना भी सर्वथा विवादरहित नहीं है। जैसा पहिले लिखा गया है, अथर्ववेद में रुद्र का एक नाम पशुपति भी है, और उसे पशुओं का संरक्षक बतलाया गया है। सिंधु घाटी की पशुपति–आकृति के तीन मुख हैं, और उसे पद्मासन में बैठा हुआ दिखलाया गया है। ये लक्षण आर्यो के उपास्य देव के भी हैं, अतः शिव को मूल रूप में अनार्य देवता समझना भी संदेह-रहित नहीं है। फिर भी लिंगोपासना को अनार्य सभ्यता की देन मानना असंदिग्ध और प्रामाणिक जान पड़ता है। उसका प्रचार अनार्यो के संसर्ग से आर्यो में भी अपर वैदिक काल में हो गया था।

विविध संप्रदाय—शैव धर्म के अंतर्गत समय-समय पर कई संप्रदाय और मत प्रचलित हुए थे। उनमें पाशुपत, माहेश्वर और शिव भागवत मत अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। कालांतर में कापालिक, वीरशैव या लिंगायत, कालमुख या कारुणिक, जंगम, भारशिव, रसेश्वर और शिवाद्वैत आदि कई संप्रदायों का भी उदय और प्रचार हुआ था।

पाशुपत और माहेश्वर मत—जैसा पहिले कहा गया है, शिव का वैदिक नाम पशुपति भी है, अतः पशुपति शिव द्वारा दिये हुए धर्मोपदेश को पहिले 'पाशुपत' कहा जाता था। महाभारत काल में जो पाँच धार्मिक मत प्रचलित थे, उनमें से एक 'पाशुपत' भी था[1]। 'पद्मतंत्र' (१-१-५०) में शिव द्वारा प्रवर्तित तीन संप्रदायों का नामोल्लेख हुआ है। उनमें से पहिला पाशुपत, दूसरा शुद्ध शैव, और तीसरा कापालिक था[2]।

---

(१) सांख्यम् योगः पांचरात्रम् वेदाः पाशुपतम् तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत, शांति पर्व)

(२) ग्रेडर, पृष्ठ ११२

महाभारत (शांति पर्व) में 'पाशुपत' मत की विद्यमानता 'पंचरात्र' के साथ बतलाई गई है। उससे ज्ञात होता है कि वे दोनों संप्रदाय महाभारत काल में साथ-साथ प्रचलित थे। महाभारत में पाशुपत मत के संस्थापक और उसके धार्मिक सिद्धांत के विषय में कुछ नहीं लिखा गया है। वायु और लिंगादि पुराणों में इस मत के संस्थापक का नाम 'लकुलिन्' अथवा 'नकुलिन्' मिलता है। इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम 'लकुलीश' अथवा 'लकुटीश' माना जाता है, जो संभवतः 'लकुलिन्' का ही नामांतर है। इस संप्रदाय के ग्रंथों से ज्ञात होता है कि इसमें शिव के निर्गुण और सगुण दोनों रूप मान्य थे। यद्यपि इसके अनुयायी सभी वर्णों के नर-नारी थे, तथापि निम्न वर्णों में इसके मानने वालों की संख्या अधिक थी। इस मत में त्याग, तपस्या और योग को विशेष महत्व दिया गया है। उस काल के ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, जिनमें इस मत के मानने वालों द्वारा कठिन तपस्या किये जाने का कथन है। इस संप्रदाय के साधक अपने शरीर पर भस्म लगाये रखते थे और अपने अंगों पर शिवलिंग के चिह्न अंकित करते थे।

महाभारत काल के पश्चात् पाशुपत मत को 'माहेश्वर' कहा जाने लगा था। वैशेषिक सूत्रकार कणाद माहेश्वर थे। न्याय भाष्यकार उद्योतकर को पाशुपताचार्य कहा गया है। कुषाण सम्राट विमकैड फाइसिस भी 'माहेश्वर' कहलाता था। सातवीं शती के चीनी यात्री हुएनसांग ने भी इस मत का नामोल्लेख किया है। यद्यपि पाशुपति मत का माहेश्वर नाम कालांतर में अधिक प्रचलित हो गया था, तथापि ११वीं शती तक शैव धर्म के प्रमुख संप्रदाय के रूप में पाशुपत नाम की भी ख्याति रही थी।

शिव भागवत—शुंग कालीन वैयाकरण पतंजलि ने अपने समय के शिवोपासकों को 'शिव भागवत' कहा है। ऐसा ज्ञात होता है, उस काल के वासुदेवोपासक भागवतों से पृथक् करने के लिए ही शिवोपासकों को उस नाम से संबोधित किया गया था। उस काल में शिव, स्कंद और विशाख के पूजन-अर्चन के लिए उनकी मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं, जो प्रायः क़ीमती धातुओं की होती थीं। उनका प्रयोग शिव भागवतों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी करते थे[1]। शैव धर्म का वह प्राचीन मत बाद में लुप्त हुआ जान पड़ता है; क्यों कि फिर उसका उल्लेख नहीं मिलता है।

शैव सिद्धांत—शिवोपासना ने जब धर्म का रूप धारण कर लिया, तब उसका स्वतंत्र 'दर्शन' भी बन गया था, जिसे 'शैव सिद्धांत' कहते हैं। उसकी जानकारी के लिए शैव धर्म के सबसे प्राचीन रूप पाशुपत मत के सिद्धांतों का परिचय प्राप्त होना आवश्यक है। 'सर्व दर्शन संग्रह' ग्रंथ में पाशुपत दर्शन का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार जीवमात्र की संज्ञा 'पशु' है, और भगवान् शिव 'पशुपति' हैं। "भगवान पशुपति ने बिना किसी कारण, साधन या सहायता के इस संसार का निर्माण किया है, अतः वे स्वतंत्र कर्ता हैं। हमारे कर्मों के भी मूल कर्ता परमेश्वर ही हैं, अतः पशुपति सब कार्यों के कारण हैं। मुक्ति द्विधा है—१. सब दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति और २. पारमैश्वर्य प्राप्ति। भगवन् दासत्व मुक्ति नहीं, बंधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं[2]।"

---

(१) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजिस सिस्टम्स, पृष्ठ १६४

(२) हिंदुत्व, पृष्ठ ६६६

डा० धर्मवीर भारती ने इसके संबंध में प्रकाश डालते हुए लिखा है,—"पाशुपत तीन के स्थान पर पाँच पदार्थ मानते हैं—१. कारण, २. कार्य, ३. योग, ४. विधि तथा ५. दुःखांत। 'कारण' साक्षात् शिव है। कारण द्वारा निर्मित पदार्थ 'कार्य' कहलाता है; जो परतंत्र है और तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला, पशु। विद्या पशु का धर्म है, जो दो प्रकार की होती है—बोधात्मिका तथा अबोधात्मिका। अबोध अधर्म की जननी है। कला में चेतन के भी वश में होने वाले द्रव्यों की गणना है और पशु स्वयं जीव है। पशु दो प्रकार का बतलाया गया है,—शरीरेन्द्रिय धारी पशु 'सांजन' और उससे मुक्त पशु 'निरंजन'। तीसरा पदार्थ है 'योग', जो चित्त की क्रिया है; उसी से आत्मा व ईश्वर का संयोग होता है। चतुर्थ पदार्थ 'विधि' है, जो वाह्याचार का द्योतक है। इस पर तंत्रों का स्पष्ट प्रभाव है। विधि के दो भेद होते हैं—व्रत तथा द्वार। व्रत पाँच प्रकार के होते हैं—भस्म-स्नान, भस्म-शयन, उपहार, जप तथा प्रदक्षिणा। 'दुःखान्त' मोक्ष को कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है,—'अनात्मक' अर्थात् जिसमें केवल त्रिविध दुःखों की निवृत्ति होती है, और 'सात्मक' जिसमें सिद्धियाँ भी मिलती हैं[1]।"

प्राचीन ब्रज में शैव धर्म का प्रचार—

प्राचीनतम अनुश्रुति—भारतवर्ष के आदि काव्य वाल्मीकि रामायण में मधु नामक एक दैत्य का उल्लेख हुआ है। वह ब्रजमंडल का प्राचीनतम शासक था और अयोध्या के राजा रामचंद्र से कुछ पहिले हुआ था। रामायण से ज्ञात होता है, वह मधु दैत्य भगवान् शिव का परम भक्त था। उसने अपनी उपासना से शिव को प्रसन्न कर ऐसा अमोघ शूल प्राप्त किया था, जो उस काल के सभी अस्त्र-शस्त्रों से बढ़ कर था। इस अनुश्रुति द्वारा प्राचीन ब्रज में शिवोपासना का आभास मिलता है।

ऐतिहासिक युग में शुंग सम्राटों के शासन काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. ४३) से ही यहाँ पर शिवोपासना के प्रमाण मिलते हैं। तभी से यहाँ शिव की उपासना मानव-मूर्ति और लिंग-प्रतीक दोनों रूपों में दिखलाई देती है। शुंग कालीन वैयाकरण पतंजलि ने उस काल में निर्मित शिव की मूर्तियों का उल्लेख किया है। उसके आधार पर डा० भंडारकर ने लिखा है,—"लिंग-पूजा पतंजलि के काल (शुंग काल) में प्रचलित हुई नहीं जान पड़ती है, क्यों कि उसने पूजा के लिए शिव की प्रतिकृति (मूर्ति) का उल्लेख किया है, उसके किसी प्रतीक का नहीं। यहाँ तक कि वह विमकैड फाइसिस के समय (कुषाण काल) में भी प्रचलित नहीं जान पड़ती है, क्यों कि उसके सिक्कों की पुश्त पर शिव की मानव-मूर्ति है[2]।"

डा० भंडारकर का उक्त मत ब्रजमंडल में उपलब्ध पुरातत्व के प्रमाणों से भ्रमात्मक सिद्ध होता है, क्यों कि शुंगकालीन लिंग मूर्तियों के दो नमूने यहाँ से प्राप्त हो चुके हैं। उनमें से एक लिंग-पूजा के दृश्य का शिलापट्ट (५२-३६२५) है, जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरा एकमुखी लिंग है, जो भरतपुर संग्रहालय में है। इनसे सिद्ध होता है कि शुंग काल में शैव धर्म की लिंग-पूजा प्रचलित थी। उसके बाद कुषाण काल में शैव धर्म और शिवोपासना का यहाँ विशेष रूप से प्रचार हुआ था।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२२-१२३

(२) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स्, पृष्ठ १६४

६. शाक्त धर्म

संक्षिप्त परिचय—

मातृ-पूजा और शक्तिवाद की परंपरा—भारत के धार्मिक क्षेत्र में मातृ-पूजा और शक्तिवाद की प्राचीन परंपरा रही है। शाक्त संप्रदाय के अनुयायी इन्हें वैदिक काल में भी प्रचलित बतलाते हैं और इनको वेदानुकूल सिद्ध करते हैं। उनके मतानुसार वैदिक वाङ्मय के 'श्री सूक्त' और 'देवी सूक्त' वैदिक मातृ-पूजा और शक्तिवाद के मूल स्रोत हैं। आजकल के अधिकांश विद्वान उक्त मत का खंडन करते हैं और मातृ-पूजा एवं शक्तिवाद को अनार्य संस्कृति की देन बतलाते हैं। उनका कथन है, वैदिक आर्यों की संस्कृति और उनकी कुटुंब संस्था पितृप्रधान थी, अतः उनके द्वारा मातृ-पूजा की मान्यता संभव नहीं मालूम होती है। भारत के आदिवासी अनार्यगण आरंभ से ही मातृपूजक थे और उनकी संस्कृति एवं कुटुंब संस्था भी मातृप्रधान थी, अतः उन्हीं के द्वारा मातृ-पूजा और शक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे बाद में आर्यों ने भी अपना लिया था।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'यजुर्वेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के प्रमाणों से बतलाया है कि मातृदेवी के रूप में पृथ्वी की मान्यता आर्य धर्म में भी स्वीकृत थी। पशु, पक्षी, नाग, मनुष्य, देवता सबकी जनित्री आदि-माताओं का समावेश पृथ्वी की पूजा में हो गया और पृथ्वी जगदंबिका या विश्वरूपा माता मानी जाने लगी। अतएव न केवल भूमि-पूजा का सब जातियों में समान प्रचार हुआ, बल्कि जितनी भी मातृदेवियाँ थीं, वे सब एक मूलभूत महीमाता का रूप समझी जाने लगीं। देवमाता अदिति और पृथ्वी को वैदिक साहित्य में महीमाता कहा गया है[1]। फिर भी वैदिक वाङ्मय में कोई ऐसी स्त्री देवता का नामोल्लेख नहीं मिलता, जिसे शाक्त संप्रदाय की आराध्या देवी के समकक्ष कहा जा सके। यजुर्वेद में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अंबिका' का उल्लेख हुआ है, जिसे रुद्र की भगिनी कहा गया है[2]; अतः उसे शाक्त संप्रदाय की आराध्या देवी नहीं माना जा सकता।

सिंधु घाटी के प्राचीन निवासियों में पशुपति रूप पुरुष देवता के साथ ही साथ एक मातृ-देवी की भी मान्यता थी। जब उन लोगों की धर्मोपासना का आर्यों के धर्म के साथ संमिश्रण हुआ, तब सिंधुघाटी की वह मातृदेवी और यजुर्वेद की अंबिका, जिसका अर्थ भी 'माता' होता है, दोनों एकाकार होकर आर्य धर्म की मातृदेवी बन गई। उस समय उसे रुद्र की भगिनी की बजाय उसकी पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार आर्यों में भी मातृ-पूजा और शक्तिवाद के प्रचलन का आरंभ हुआ, जो अपर वैदिक काल से ही बढ़ने लगा था। इस प्रकार मातृ-पूजा और शक्तिवाद चाहें अनार्यों की देन है; किंतु आर्यों में भी उनकी प्राचीन परंपरा रही है।

---

(१) १. महीं मातरं सुव्रतानामदितम् (यजुर्वेद, २१-५)

२. पृथिवीं मातां महीम् (तैत्तिरीय ब्राह्मण, २-४-६८६)

३. हिंदी साहित्य (प्रथम भाग) पृष्ठ १९

(२) शैव मत, पृष्ठ २२

शाक्त धर्म का उदय और विकास—आर्य धर्म में शक्तिवाद की स्वीकृति से अपर वैदिक काल की धार्मिक प्रवृत्ति में मौलिक परिवर्तन हो गया था। उसका आरंभिक रूप उपनिषद् काल में प्रकट हुआ, जब आर्यो के चिंतन-मनन में परमपुरुष के साथ उसकी प्रकृति को भी मान्यता दी गई थी। उसके बाद शक्तिमान् के साथ शक्ति का होना एक अनिवार्य तत्व माना जाने लगा, और उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा। सांख्य में पुरुष के साथ प्रकृति, वेदांत में ब्रह्म के साथ माया, तांत्रिक मत में शिव के साथ शक्ति तथा पुराणों में विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ सरस्वती, शंकर के साथ पार्वती, राम के साथ सीता और कृष्ण के साथ राधा की विद्यमानता शक्तिवाद के व्यापक प्रभाव का सूचक है। वास्तव में शक्तिमान् और शक्ति की अभिन्नता एक ऐसा तत्व है, जिसकी किसी प्रकार अवहेलना नहीं का जा सकती थी। कालांतर में शक्तिवाद का इतना महत्व बढ़ गया कि शक्तिमान् से शक्ति का पृथक् व्यक्तित्व भी माना जाने लगा। उसके फलस्वरूप शाक्त धर्म का उदय हुआ था।

जब शक्तिवाद ने धर्म का रूप धारण किया, तब उसका स्वतंत्र दर्शन भी बन गया था। उसके अनुसार शक्ति का महत्व शक्तिमान् से भी अधिक समझा गया। शाक्त दर्शन में मोक्षादि अमोघ फलों का प्रदाता शिव शुद्ध रूप में निष्क्रिय माना गया है। शिव के समस्त कार्य 'शक्ति' द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार शाक्त धर्म और दर्शन में शक्ति का महत्व शिव से भी अधिक होने की मान्यता है। यहाँ तक कि शक्ति से रहित शिव को 'शव' के समान निष्प्राण तक कहा गया है। शाक्त धर्म का उदय उपनिषत् काल में हुआ, किंतु उसका वास्तविक रूप पौराणिक युग में बना था। उसके पश्चात् उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा था।

प्राचीन ब्रज में शाक्त धर्म का प्रचार—

प्रागैतिहासिक काल की अनुश्रुतियाँ—परम पुरुष की प्रकृति अथवा भगवान् की आद्या शक्ति आर्य नारियों और आर्य कन्याओं की सदा से उपास्या एवं आराध्या रही है। राम को वर के रूप में प्राप्त करने के लिए सीता द्वारा पार्वती-पूजन किया जाना प्रसिद्ध है। शूरसेन जनपद अर्थात् प्राचीन ब्रज की गोप-कुमारियों ने भी श्रीकृष्ण को वर के रूप में प्राप्त करने की कामना से कात्यायिनी देवी की उपासना की थी और रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के साथ विवाह करने की लालसा से पार्वती का पूजन किया था। इस प्रकार शाक्त धर्म में मान्य मातृ-पूजा के जो सूत्र इन अनुश्रुतियों में मिलते हैं, उनमें से कुछ का संबंध प्राचीन ब्रज से भी रहा है। उनसे ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल में ही प्राचीन ब्रज में शाक्त धर्म के मूल तत्त्व मातृ-पूजा का प्रचलन हो गया था।

मौर्य-शुंग कालीन स्थिति—ब्रजमंडल में उपलब्ध प्राचीन प्रतिमाओं में मातृदेवियों की मृण्मूर्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनमें मौर्यकालीन मृण्मूर्तियाँ ब्रज की मूर्तियों में सबसे प्राचीन मानी जाती हैं। उनके पश्चात् शुंग काल की मृण्मूर्तियाँ हैं। ये सब मूर्तियाँ सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी, वसुधारा, लक्ष्मी आदि देवियों की हैं, जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनसे ऐतिहासिक युग के आरंभिक काल में ही ब्रज में शाक्त धर्म में मान्य देवी-पूजा के प्रचार का अच्छा आभास मिलता है।

७. लोक देवोपासना

यक्षों की उपासना-पूजा—मौर्य-शुंग काल में प्राचीन ब्रज में जिन लोक देवताओं की उपासना-पूजा होती थी, उनमें यक्षों का प्रमुख स्थान था। जब उपास्य देवों की मूर्तियों के निर्माण का प्रचलन हुआ, तब संभवतः सबसे पहिले यक्षों की मूर्तियाँ बनाई गई थीं। ब्रज में उपलब्ध प्राचीन प्रतिमाओं में मातृदेवियों की मृण्मूर्तियों के साथ ही साथ यक्षों की पाषाण मूर्तियाँ ही सबसे पुरानी मानी जाती हैं। यक्षों की मूर्तियाँ उनके विशाल रूप के अनुसार बहुत बड़े आकार और पुष्ट डील-डौल की बनाई जाती थीं और यक्षिणियों की मूर्तियाँ उनके सौंदर्य के अनुसार सुंदर आकृति की होती थीं। ब्रजमंडल के विविध स्थानों से अनेक यक्ष-मूर्तियाँ मौर्य काल से शुंग काल तक की प्राप्त हुई हैं; जिनसे उस युग में यक्षो की उपासना-पूजा के प्रचलन का समर्थन होता है।

ब्रज की पाषाण मूर्तियों में सबसे प्राचीन मणिभद्र यक्ष की विशालकाय मूर्ति है, जो विक्रम-पूर्व चौथी शताब्दी की मानी जाती है। यह मूर्ति मथुरा जिले के परखम गाँव से प्राप्त हुई है और इस समय मथुरा संग्रहालय (सी. १) में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त कुबेर, हारीति और वैश्रमण यक्ष-यक्षिणियों के साथ ही साथ और भी कई यक्ष-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, जो मथुरा संग्रहालय मे है। ग्वालियर से मणिभद्र यक्ष की और भरतपुर के निकटवर्ती नोह नामक गाँव से एक दूसरे यक्ष की महत्वपूर्ण प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

कालांतर में यक्षों को 'वीर' कहा जाने लगा था। उस समय प्रमुख यक्षों की संख्या ५२ निश्चित हुई थी। सिद्ध साहित्य और उसी काल की लोक कथाओं में ५२ वीरों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। शौरसेनी अपभ्रंश और उससे विकसित ब्रजभाषा के लोक साहित्य में यक्ष को 'जाख' और 'जखैया' तथा यक्ष के प्राचीन नाम ब्रह्म को 'बरम' और 'बरमदेव' कहा गया है। इस प्रकार ब्रज की लोक संस्कृति में यक्षों को देवता मान कर यक्ष, ब्रह्म, वीर, बरम, बरमदेव, जाख और जखैया के नामों से उनकी उपासना-पूजा की अविच्छिन्न परंपरा रही है। वैदिक, जैन, बौद्ध और पौराणिक सभी धर्मों के साहित्य मे यक्ष-यक्षिणियों के नामों के साथ ही साथ उनकी उपासना-पूजा का भी विभिन्न दृष्टिकोणों से उल्लेख मिलता है।

नागों की उपासना-पूजा—ब्रज के प्राचीन लोक देवताओं में यक्षों के पश्चात् नागों का स्थान रहा है। ब्रज में उपलब्ध मूर्तियों में नाग देवताओं की भी हैं, जिनमें सबसे प्राचीन शुंग काल की है। उनसे सिद्ध होता है कि उस काल में यहाँ पर नाग देवताओं की भी उपासना-पूजा प्रचलित थी।

तोड़ने का कठोर अभियान चलाया था। उस भीषण परिस्थिति में ब्रज के धर्माचार्यो और उनके अनुगामी भक्तजनों को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार यहाँ सन्मान पूर्वक रहना असंभव सा हो गया था। उस संकट काल में अनेक धर्माचार्य अपने सेव्य स्वरूप, धार्मिक ग्रंथ एवं शिष्य-सेवकों के विशाल परिकर के साथ ब्रजमंडल से निष्क्रमण करने को बाध्य हुए थे! उससे ब्रज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व की अपार क्षति हुई थी। गोवर्धन, गोकुल और वृंदावन के सुप्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र उजड़ गये और वहाँ के विख्यात मंदिर-देवालय सूने हो गये थे। औरंगजेब के क्रूर सैनिकों ने उन सब को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। एक राज्याध्यक्ष की मजहबी तानाशाही से ब्रज की समुन्नत धार्मिक संस्कृति का ऐसा व्यापक सर्वनाश इस इतिहास का अत्यंत दु:खद प्रसंग है; किंतु औरंगजेब की तानाशाही ने मुगल साम्राज्य का भी विघटन कर दिया था। अंतिम मुगल सम्राट अत्यंत शक्तिहीन शासक हुए थे। उनमें से एक मुहम्मदशाह को अपना राज्य प्रबंध ठीक करने के लिए आमेर के सवाई राजा जयसिंह से सहायता लेनी पड़ी थी! जयसिंह एक धर्मप्राण राजा था। उसने अपने ढंग से ब्रज के धर्म-संप्रदायों की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया था; किंतु उससे कुछ भक्ति संप्रदायों को बड़ी असुविधा हुई थी। उसके बाद अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण ने ब्रज के धर्म-संप्रदायों का रहा-सहा महत्व भी समाप्त प्राय कर दिया था। इस प्रकार इस अध्याय में सभी धर्म-संप्रदायों के चरमोत्कर्ष के विशद वर्णन के साथ उनके अपकर्ष की करुण कथा भी लिखी गई है।

सातवाँ अध्याय 'आधुनिक काल' से संबंधित है, जिसकी कालावधि विक्रम सं. १८८३ से अब तक की है। इस काल से पहले ही मुगल शासन का अंत होने से मुसलमानी प्रभाव समाप्त हो गया था। उसके स्थान पर पहले जाट राजाओं तथा मरहठा सरदारों का प्रभुत्व हुआ, और फिर अंगरेज़ों का राज्य क़ायम हो गया था। जाट और मरहठा ब्रज की धार्मिक भावना के प्रति आस्थावान थे; किंतु अंगरेज़ों का उससे कोई लगाव नहीं था। धार्मिक दृष्टि से वे मसीही मज़हब के अनुयायी थे। उन्होंने ब्रज के किसी धर्म-संप्रदाय को न तो प्रोत्साहन दिया, और न यहाँ के किसी धर्माचार्य का सन्मान ही किया था। विगत काल के तास्सुबी शासकों की भाँति उन्होंने किसी का बलात् धर्म-परिवर्तन तो नहीं किया; किंतु उनकी उपेक्षा एवं असहानुभूति से तथा इस काल के धर्माचार्यो की अकर्मण्यता एवं कमियों के कारण प्राय: सभी धर्म-संप्रदायों की स्थिति और भी ख़राब हो गई। अंगरेज़ी शासन काल में ब्रज की उस धार्मिक दुर्दशा को सुधारने का प्रयत्न कतिपय धार्मिक रुचि सम्पन्न धनाढ्य व्यक्तियों ने किया था। ऐसे सज्जनों में मथुरा के सेठ, वृंदावन के लाला बाबू, नंदकुमार बसु, बनमाली बाबू और कुंदनलाल शाह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अनेक देव-स्थानों का निर्माण कराया, और धर्मोपासना की विविध प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। उनके कारण यहाँ कुछ धार्मिक वातावरण बना हुआ है; किंतु उसमें सुधार करने की दिशा में यहाँ के वर्तमान धर्माचार्यो का समुचित प्रयत्न दिखलाई नहीं देता है। इतिहास ग्रंथों में प्राय: जीवित व्यक्तियों के संबंध में नहीं लिखा जाता है; इसलिए वर्तमान धर्माचार्यो और धार्मिक महानुभावों में से कुछ का ही थोड़ा सा प्रासंगिक उल्लेख कर इस अध्याय की समाप्ति की गई है। इसके साथ यह ग्रंथ भी पूर्ण हो गया। ब्रज के धर्म-संप्रदायों की दीर्घकालीन परंपरा के विशद वर्णन से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहिला निष्कर्ष यह है कि वही धर्म चिरस्थायी होता है; जो सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा और सहिष्णुता पर आधारित हो और जिसमें मानव मात्र के कल्याण की भावना निहित हो। भगवान् श्री कृष्ण का धर्म इसी प्रकार का है। यह कई सहस्राब्दियों के

तृतीय अध्याय

पूर्व मध्य काल

[विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम-पश्चात् सं० ६०० तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—व्रज के सांस्कृतिक इतिहास का यह काल अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें प्राचीन व्रज को सर्वप्रथम शक, कुषाण और हूण जैसी विदेशी जातियों के आक्रमण और उनके राज्य काल के दुःख-सुख का अनुभव करना पड़ा था। इसी काल में इसे नाग और गुप्त जैसे भारतीय राजाओं के गौरवपूर्ण शासन के सुखोपभोग का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस काल के आरंभ में शकों और कुषाणों के, तथा अंत में हूणों के प्रबल आक्रमण हुए थे। उनके कारण व्रज की प्राचीन संस्कृति को पहिले तो आघात पहुँचा; किंतु बाद में वह उनसे बड़ी लाभान्वित हुई थी। शक और कुषाण जातियों के शासक गण विदेशी होते हुए भी भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति आस्था रखते थे। उन्होंने यहाँ के धर्म-संप्रदायों को स्वीकार कर उनकी प्रगति में बड़ा योग दिया था।

स्वर्ण काल—नाग और गुप्त जैसे भारतीय नरेशों ने जहाँ प्राचीन व्रज को विदेशी राज्यों की पराधीनता से मुक्त कर उसे स्वाधीन और समृद्ध बनाया था, वहाँ इसके धर्म-संप्रदायों की उन्नति में भी अपूर्व सहायता प्रदान की थी। धार्मिक दृष्टि से नाग राजा शैव थे और गुप्त सम्राट वैष्णव; किंतु उनके द्वारा सभी धर्म-संप्रदायों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। नागों का शासन काल व्रज के इतिहास में विशेष महत्व रखता है, क्यों कि वे यहाँ के अंतिम स्वाधीन शासक थे। गुप्तों का शासन काल अपनी महान् उपलब्धियों के कारण भारतीय इतिहास में ही अभूतपूर्व स्थान रखता है। उन सब देशी-विदेशी राजाओं द्वारा इस काल में व्रज की सभी दृष्टियों से इतनी उन्नति हुई थी कि इसे व्रज के सांस्कृतिक इतिहास का 'स्वर्ण काल' कहा जा सकता है।

धार्मिक समन्वय और 'पुराण'—भारतीय धर्मोपासना के इतिहास में इस काल का इसलिए बड़ा महत्व है कि वह अभूतपूर्व धार्मिक समन्वय का युग था। वैदिक, भागवत, शैव, शाक्त धर्मों के साथ बौद्ध, जैन धर्मों और लोकोपासना के मत-मतांतरों का अद्भुत समन्वय होने से उस समय अपूर्व धार्मिक वातावरण का निर्माण हुआ था। उसका श्रेय जिस महत्वपूर्ण वाङ्मय को है, उसे 'पुराण' कहा जाता है।

पुराण-परंपरा और 'इतिहास'—'वायु पुराण' का वचन है, ब्रह्मा ने पहिले 'पुराण' को प्रकट किया, और उसके अनंतर 'वेद' को[1]। इसे अतिशयोक्ति कहा जा सकता है; किंतु इसमें संदेह नहीं कि पुराणों का मूल भाग उतना ही पुराना है, जितना कि वेद। उसका 'पुराण' नाम इसी तथ्य का द्योतक है। 'इतिहास' शब्द का अर्थ भी भूतकालीन घटना-क्रम है। इस प्रकार दोनो के अर्थ

---

(१) प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणां स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥ (वायु पुराण, १-५४)

की संगति और रूप की समता ज्ञात होती है। उपनिषद् में 'इतिहास' और 'पुराण' शब्दों का साथ साथ प्रयोग हुआ है, और उन्हें 'पंचम वेद' बतलाया गया है[1]। महाभारत में इतिहास–पुराण को वेद का उपबृंहण अर्थात् पूरक कहा है,—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। रामायण, महाभारत और भागवतादि ग्रंथ भारत की इस इतिहास–पुराण परंपरा के ऐसे उज्ज्वल रत्न हैं, जिनकी धार्मिक महत्ता सर्वमान्य है।

ऐसी अनुश्रुति है, आरंभ में केवल एक ही पुराण संहिता थी, जिसे महामुनि द्वैपायन व्यास ने वेद का विभाग करने के अनंतर संकलित किया था। उसे 'आदि पुराण' कहा गया है। 'हरिवंश' का वचन है, व्यास जी ने महाभारत में वर्णित कौरवों और पांडवों की कथा के बाहर के आख्यानों और उपाख्यानों को 'आदि पुराण' में संगृहीत किया था[2]। इस समय वह आदि पुराण संहिता उपलब्ध नहीं है, किंतु उसके आधार पर व्यास जी और उनकी शिष्य-परंपरा द्वारा रचे हुए विविध पुराण प्राप्त हैं।

महामुनि व्यास जी और उनका ब्रज से संबंध—वेद का विभाग, महाभारत की रचना और पुराणों का प्राकट्य करने वाले महामुनि व्यास जी की तुलना का कोई दूसरा महान् साहित्यकार भारत ही नहीं, वरन् किसी अन्य देश में भी नहीं हुआ है। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही अनुपम और अपूर्व हैं। वे पराशर ऋषि और सत्यवती के पुत्र थे। उनका जन्म यमुना के किनारे रहने वाले एक केवट की कुमारी पुत्री सत्यवती के गर्भ से यमुना द्वीप की रेती में हुआ था[3]। श्याम वर्ण के होने से वे कृष्ण, द्वीप में जन्म लेने से द्वैपायन और वेद का विभाग करने से वे व्यास कहलाते थे। इस प्रकार उनका पूरा नाम 'कृष्ण द्वैपायन व्यास' था। कुमारी सत्यवती का विवाह बाद में राजा शांतनु के साथ हुआ था। शांतनु की प्रथम पत्नी गंगा के गर्भ से भीष्म की उत्पत्ति हुई थी और व्यास जी द्वारा धृतराष्ट्र, पांडु तथा विदुर का जन्म हुआ था। इस तरह महामुनि व्यास जी भीष्म पितामह के ज्येष्ठ भ्राता और कौरव–पांडवों के पूर्वज थे।

'वराह पुराण' में लिखा है, मथुरा में सोम और वैकुंठ तीर्थों के मध्य में कृष्णगंगा तीर्थ है, जहाँ व्यास जी तप करते थे[4]। वर्तमान मथुरा नगर में यमुना तट पर सोम, वैकुंठ और उनके बीच में कृष्णगंगा नामक तीनों घाट अब भी विद्यमान हैं। उनके निकट का एक और घाट सरस्वती संगम कहलाता है। प्राचीन मथुरा में कालिंदीगंगा और सरस्वती नामक दो बरसाती नदियाँ थीं, जो इन्हीं घाटों के निकट यमुना में मिलती थीं। उनके संगम पर महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास का तपस्थल था। व्यास जी के नाम पर ही उक्त कालिंदीगंगा को 'कृष्णगंगा' कहा जाने लगा था। वर्तमान मथुरा नगर से प्रायः २ मील पश्चिम में गोवर्धन सड़क के किनारे शांतनु कुंड और सतोहा गाँव हैं, जिन्हें महाराज शांतनु और उनकी रानी सत्यवती से संबंधित माना जाता है। कुछ विद्वान गोवर्धन

---

(१) इतिहास–पुराणं पंचमं वेदानां वेदम्। (छान्दोग्य उपनिषद्, ७–१–१)

(२) हरिवंश, भविष्य पर्व, अध्याय १

(३) महाभारत (गीता प्रेस) आदि पर्व, पृष्ठ ६९

(४) सोमवैकुंठयोर्मध्ये कृष्णगंगेति कथ्यते।
तत्र तप्यत्तपो मथुरायां स्थितोऽमलः॥ (वराह पुराण, अध्याय १७५–३)

क्षेत्र के परासोली गाँव का संबंध पराशर जी से मानते हैं। इस प्रकार व्यास जी के जन्म और तप की पुण्य भूमि तथा महर्षि पराशर और राज-दंपति शांतनु-सत्यवती के पुनीत स्थल होने से प्राचीन ब्रज उनसे घनिष्ट रूप से संबंधित रहा है।

पुराण विद्या का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, आरंभ में केवल एक ही पुराण संहिता थी। व्यास जी ने उसे अपने शिष्य लोमहर्षण सूत को सिखाया था। लोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा पुराण विद्या में अत्यंत निष्णात थे। उन्होंने इस विद्या के विस्तार में बड़ा योग दिया था। इस प्रकार द्वैपायन व्यास और उनकी शिष्य-मंडली द्वारा विविध पुराणों की रचना हुई थी। प्रमुख पुराणों की संख्या १८ मानी जाती है, यद्यपि इनके नाम और क्रम के संबंध में मतैक्य नहीं है। कतिपय पुराणों का अस्तित्व जैन और बौद्ध धर्मों के विकास काल से भी पहिले विद्यमान था; किंतु अधिकांश पुराण जैन और बौद्ध काल में ही बने थे। इसीलिए उनमें उक्त धर्मों के अनेक तत्व मिलते हैं। गुप्त काल में प्रमुख पुराणों का संपादन होकर उनका स्वरूप निश्चित हो गया था। तत्पश्चात् हर्षवर्धन काल (७वीं शती) तक प्रायः सभी पुराण अपने वर्तमान रूप में प्रस्तुत हो गये थे।

पुराणों का महत्व—धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और कलात्मक सभी दृष्टियों से पुराणों का असाधारण महत्व सिद्ध होता है। धार्मिक दृष्टि से पुराण इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि इनके द्वारा वेद-विहित धर्म को सरल-सुबोध और रोचक भाषा में जनता के लिए सुलभ किया गया है। पंचरात्र-भागवत धर्म के व्यूहवाद ने विकसिक होकर इस काल में अवतारवाद का रूप धारण कर लिया था; जिससे बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी धर्म प्रभावित हुए थे। बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय का उदय उसी प्रभाव का परिणाम था। पुराणों ने अवतारवाद के प्रचार के साथ ही साथ विविध धर्मों की मान्यताओं को आत्मसात कर उन्हें संतुलित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया था। प्राचीन भारतीय समाज के समग्र स्वरूप का बोध हमें पुराणों के माध्यम से ही होता है। उनमें भारत के प्राचीनतम ऋषि-मुनियों और राजाओं की वंश-परंपरा के उल्लेख सहित ऐतिहासिक महत्व की विपुल सामग्री भरी पड़ी है। जैसे विष्णु पुराण में मौर्य राजाओं का, मत्स्य पुराण में दक्षिण के आंध्र राजाओं का और वायु पुराण में आरंभिक गुप्त राजाओं का वर्णन उपलब्ध है। पुराणों में भारत की कलात्मक समृद्धि का उल्लेख भी बड़े विस्तार से किया गया है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्यादि सभी कलाओं का मंजुल सन्निवेश हमें पुराणों में ही मिलता है। सारांश यह है कि भारत के धार्मिक ज्ञान एवं विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं, और भारत के सामाजिक एवं ऐतिहासिक जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जिसका उद्घाटन पुराणों में न किया गया हो। इसीलिए पुराणों को भारतीय धर्म, विद्या और कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है, जो इसी काल की देन है।

शूरसेन का नामांतर—इस काल से पहिले तक प्राचीन ब्रज की संज्ञा 'शूरसेन जनपद' थी, और मथुरा नगर उसकी राजधानी था। इस काल में मथुरा नगर की सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई थी, जिससे उसका देशव्यापी महत्व हो गया था। फलतः प्राचीन ब्रज को तब शूरसेन जनपद के स्थान पर '**मथुरा राज्य**' कहा जाने लगा था। उसका यह नाम १२वीं शती के कुछ बाद तक चलता रहा था। उसके अनंतर इसे '**ब्रज**' या '**ब्रजमंडल**' कहा जाने लगा था। विवेच्य काल में मथुरा राज्य में सभी धर्मों की बड़ी उन्नति हुई थी। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. बौद्ध धर्म

शक काल (वि. पू. सं० ४३ से विक्रम-पश्चात् सं० ६७ तक) की स्थिति—इस काल के आरंभ में शूरसेन अर्थात् मथुरा राज्य पर शक क्षत्रपों का आधिपत्य हो गया था। शक विदेशी शासक थे; किंतु उन्होंने भारतीय धर्मों को अंगीकार किया था। उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के प्रति अपनी अधिक रुचि दिखलाई थी। शक क्षत्रप राजुवुल की रानी कुमुइअ (कंबोजिका) ने बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मथुरा के वर्तमान सप्तर्षि टीला पर एक स्तूप और 'गुहा विहार' नामक संघाराम बनवाया था। राजुवुल के पुत्र शोडास ने उक्त संघाराम के लिए कुछ भूमि का दान किया था।

उस काल में सर्वास्तिवाद के कई प्रसिद्ध विद्वान हुए थे। उनमें से एक बुद्धिल था, जिसने महासांघिकों को शास्त्रार्थ में पराजित कर बड़ी कीर्ति अर्जित की थी। इसका उल्लेख मथुरा के सप्तर्षि टीला से मिले हुए सिंह-शीर्ष लेख में हुआ है। बुद्धदेव भी सर्वास्तिवाद का एक प्रसिद्ध आचार्य था। यशोमित्र ने अपनी रचना 'कोश-व्याख्या' में स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धांतों के लिए प्रमाण माना है[1]। बुद्धदेव का निवास स्थान संभवतः मथुरा था, जहाँ के एक शिलालेख में उनका नामोल्लेख हुआ है[2]।

कुषाण काल (विक्रम सं० ६७ से सं० २१३ तक) की स्थिति—कुषाण सम्राट कनिष्क (सं. १३५–सं. १५८) के काल तक मूल बौद्ध धर्म प्रगति के पथ पर था। कनिष्क ने स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और उसने साम्राज्य के अनेक स्थानों में बौद्ध स्तूपों एवं संघारामों का निर्माण कराया था। उसने कश्मीर में एक बौद्ध धर्म परिषद् का भी आयोजन किया था, जिसके सभापति और उपसभापति क्रमशः विख्यात विद्वान वसुमित्र और अश्वघोष थे। अश्वघोष 'बुद्ध चरित्र' और 'सौन्दरानंद' जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों का रचयिता था। वह धर्म परिषद् सं० १४० के लगभग हुई थी, और उसमें ५०० प्रसिद्ध भिक्षुओं ने योग दिया था।

कुछ लोगों ने उस परिषद् को बौद्ध धर्म की 'चतुर्थ संगीति' कहा है; किंतु अनेक बौद्ध विद्वानों ने उसे वह महत्व प्रदान नहीं किया। उस परिषद् में बौद्ध ग्रंथों के पाठ की प्रामाणिकता पर पुनः विचार-विमर्श हुआ था। अंत में प्रमुख ग्रंथों के प्रामाणिक पाठ निश्चित कर उन्हें ताम्रपत्रों पर खुदवाया गया और फिर उन्हें एक स्तूप में सुरक्षित रूप में रख दिया गया था। ऐसा कहा जाता है, वे ताम्रपत्र कश्मीर के किसी भग्न स्तूप में अभी तक दबे पड़े हैं, जो खुदाई में किसी भी समय प्राप्त हो सकते हैं। उनके उपलब्ध होने पर अनेक बौद्ध ग्रंथ प्राचीन रूप में सुलभ हो सकेंगे।

कनिष्क का पौत्र हुविष्क (सं.१६३–सं.१९५) भी बौद्ध धर्म का प्रेमी था। उसने मथुरा में अपने नाम से एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया था और कनिष्क के समय के बने हुए देवकुल का जीर्णोद्धार कराया था। कुषाण काल में त्रिपिटकाचार्य बल मथुरामंडल में बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध आचार्य हुआ था। उसकी दो भिक्षुणी शिष्याओं ने मथुरा में बोधिसत्व की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी।

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ २०५

(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ २१२

महायान का उदय और विकास—बौद्ध धर्म के परिवर्तनवादी संप्रदाय 'महासांघिक' का जब अधिक विस्तार हुआ, तब नयी मान्यताओं के साथ संयुक्त होने पर उसे 'महायान' कहा जाने लगा था। उस संप्रदाय की मुख्य भावना और साधन-पद्धति कठिन नियमों से जकड़े हुए मूल बौद्ध धर्म को सरल और लोकपरक बनाने की थी। 'महायान' नाम किस काल में प्रचलित हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्णय विद्वानों द्वारा नहीं किया जा सका है। "ऐसा अनुमान होता है, प्रथम शताब्दी के लगभग इस नाम का व्यवहार होने लगा होगा। कुषाण सम्राट कनिष्क के काल में जो धर्म परिषद् हुई थी, उसमें बहुत से ऐसे भिक्षु सम्मिलित हुए थे, जो अपने को महायान धर्मी कहते थे[1]।" कुछ लोगों का अनुमान है, कनिष्क के दरबारी विद्वान महाकवि अश्वघोष ने ही बौद्ध धर्म के परिवर्तित रूप का वह नामकरण किया था।

महायान बौद्ध धर्म के मूल रूप 'स्थविरवाद'—तथाकथित हीनयान—से जिन बातों के कारण अलग हुआ था, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं,—

१. हीनयान की कठिन और दुःसाध्य साधना को महायान में सरल और सुसाध्य बनाने का प्रयास किया गया, ताकि उसके द्वारा सम्बुद्ध ही नहीं, वरन् साधारण जन का भी कल्याण हो सके।

२, हीनयान में बुद्ध को सम्यक् बोध प्राप्त महापुरुष माना गया था, और वह पूर्णतया निरीश्वरवादी था। महायान बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता में विश्वास करता था, जिसके कारण उसमें प्रच्छन्न रूप से ईश्वर की भावना का समावेश हो गया था।

३. हीनयान ज्ञानप्रधान और निवृत्तिमार्गीय था, जब कि महायान का झुकाव भक्ति और प्रवृत्ति मार्ग की ओर था।

४. हीनयान में प्रतिमा-पूजन का विधान नहीं था, जब कि महायान में बोधिसत्व एवं बुद्ध की मानव-मूर्ति का पूजन और उसके लिए पूजा-विधियों तथा अनुष्ठानों की व्यवस्था की गई थी।

५. हीनयानी वाङ्मय की भाषा 'पालि' थी, जब कि महायानी ग्रंथ हिंदू ग्रंथों की भाँति प्रायः संस्कृत भाषा में रचे गये थे।

महायान की उपर्युक्त विशेषताओं से ज्ञात होता है कि वह उस पंचरात्र-भागवत धर्म से बड़ा प्रभावित था, जो शुंग नरेशों तथा गुप्त सम्राटों के प्रोत्साहन से उत्तर भारत का अत्यंत लोकप्रिय धर्म बन गया था और जिसने पौराणिक हिंदू धर्म के रूप में आत्म प्रकाश कर कालांतर में इस देश के अधिकांश भाग को आलोकित किया था। डा० रामधारीसिंह ने लिखा है,—"महायान बौद्ध धर्म के हिंदूकरण का परिणाम था। असल में महायान के भीतर से हिंदू धर्म ही अपनी बाहें खोल कर बौद्ध धर्म को अपने भीतर समेट रहा था[2]।"

सर्वास्तिवाद पर महायान की प्रतिक्रिया—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मौर्य सम्राट अशोक के काल से मथुरामंडल में बौद्ध धर्म की थेरवादी (हीनयानी) शाखा 'सर्वास्तिवाद' का व्यापक प्रभाव था। जब वहाँ भागवत धर्म से प्रभावित महायान शाखा का अधिक प्रचार हो गया, तब सर्वास्तिवाद की शक्ति क्षीण होने लगी थी। इस संबंध में मथुरा से उपलब्ध बौद्ध अवशेषों में से

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १०५

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १५५

एक परगहा (स्तंभ शीर्ष) के उल्लेख महत्वपूर्ण हैं, जो शक क्षत्रप राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के काल के हैं। इस समय वह मूल परगहा लंदन के ब्रिटिश संग्रहालय में है, किंतु उसकी एक प्रतिकृति मथुरा संग्रहालय में रखी हुई है। इस पर खरोष्ठी लिपि में अंकित लेखों में मथुरा के सर्वास्तिवादी बौद्धों का उनके विरोधी महायानी महासांघिकों से शास्त्रार्थ होने का उल्लेख है[1]। उक्त शास्त्रार्थ के लिए सर्वास्तिवादियों ने अपनी सहायतार्थ वर्तमान अफगानिस्तान के निकटवर्ती 'नगर' नामक स्थान से एक बौद्ध विद्वान को बुलावाया था। उस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उस काल में मथुरा में सर्वास्तिवादी संप्रदाय शक्तिहीन हो गया था।

मूर्ति-पूजा और मूर्ति-निर्माण—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, शुंग काल में भागवत और जैन धर्मो में मूर्ति-पूजा एवं मूर्ति-निर्माण का प्रचलन हो जाने पर भी थेरवादी सर्वास्तिवादियों के विरोध के कारण बौद्ध धर्म उससे अछूता रहा था। इस काल में पंचरात्र–भागवत धर्म के प्रभाव से भक्तिवाद की ऐसी लहर उठी कि जिसके कारण सर्वास्तिवादियों सहित सभी थेरवादी (हीनयानी) संप्रदायों का मूर्ति–पूजा विषयक विरोध विफल हो गया था। फलतः कुषाण काल में बौद्ध धर्म के नवीन महायान संप्रदाय में बुद्ध की मूर्ति-पूजा आरंभ हो गई और उसके लिए मानव-मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा। मथुरा के मूर्ति-निर्माता भागवत और जैन धर्मों की देव-मूर्तियों का निर्माण कर देशव्यापी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, अतः उन्होंने बौद्ध मूर्तियों के निर्माण में भी पहल की थी। वे भगवान् विष्णु और जैन तीर्थंकरों के अनुकरण पर बोधि-सत्वों की भी सुंदर मूर्तियाँ बनाने लगे, जिनके लिए कुषाण सम्राट कनिष्क ने उन्हें बड़ा प्रोत्साहित किया था। मूर्ति-पूजा का प्रचलन होने से महायानियों को अपने मत को जन साधारण का लोक धर्म बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी।

बौद्ध मूर्तियों का आरंभ ध्यानी बुद्ध की मूर्तियों द्वारा हुआ था। 'बोधिचित्त' की ५ अवस्थाओं की कल्पना ५ ध्यानी बुद्धों द्वारा की गई है, जिनके नाम वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघशक्ति और अक्षोभ्य हैं। उन पाँचों की ध्यानमग्न, तापसी वेश युक्त और पद्मासीन मूर्तियाँ हैं, जिनके स्वरूप का स्पष्टीकरण उनके हाथों की मुद्राओं से किया गया है। ध्यानी बुद्धों से दिव्य बोधि-सत्वों की और अनेक देवी-देवताओं की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार पहिले ध्यानी बुद्ध, बोधिसत्व और उनकी शक्तियों की मूर्तियाँ बनाईं गई, और फिर भगवान् बुद्ध की मानुषी मूर्ति का निर्माण किया गया था।

मथुरा में निर्मित कुषाण कालीन बौद्ध मूर्तियों की प्रसिद्धि समस्त भारत में हुई थी। बौद्ध धर्म के सभी संप्रदायों के अनुयायी गण अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार मथुरा में मूर्तियों का निर्माण कराते थे और उन्हें विविध स्थानों में ले जाकर प्रतिष्ठित करते थे। इस प्रकार की मूर्तियाँ कौशांबी, श्रावस्ती, अहिछत्रा, सारनाथ, सांची आदि सभी बौद्ध केन्द्रों में मिली हैं। गुप्त कालीन बौद्ध मूर्तियाँ संख्या और सौंदर्य दोनों दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। उनमें बुद्ध की एक खड़ी आकृति की मूर्ति भारत की सुंदरतम कला–कृतियों में मानी जाती है। यह मूर्ति (ए ५) मथुरा संग्रहालय की अनुपम निधि है।

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ २७७

नाग-गुप्त काल (सं० २३३–सं० ६०० तक) की स्थिति—मथुरा राज्य के नागवंशीय नरेश शैव धर्म के और मगध के गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी थे; किंतु उनके शासन काल में सभी धर्मों की उन्नति हुई थी। फलतः बौद्ध धर्म भी उस काल में उन्नत अवस्था में था। सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अन्य धर्मों के साथ ही साथ बौद्ध धर्म को भी प्रोत्साहन प्रदान किया था। उस समय मथुरा राज्य में बौद्ध धर्म की कैसी स्थिति थी, उसका कुछ परिचय फाह्यान के यात्रा-विवरण से मिलता है।

फाह्यान का विवरण—चीनी यात्री फाह्यान भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा करता हुआ सं० ४५० के लगभग मथुरा आया था और यहाँ पर प्रायः एक मास तक ठहरा था। उसने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य कालीन मथुरा राज्य के बौद्ध धर्म की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है,—"यहाँ के छोटे-बड़े सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। शाक्य मुनि के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। मथुरा नगर, उसके आस-पास तथा यमुना नदी के दोनों ओर २० संघाराम हैं, जिनमें ३००० भिक्षु निवास करते हैं। ६ बौद्ध स्तूप भी हैं। सारिपुत्र के सन्मान में बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनंद की तथा तीसरा मुद्गल-पुत्र की याद में बनाया गया है। शेष तीनों क्रमशः अभिधर्म, सूत्र और विनय के लिए निर्मित किये गये हैं, जो बौद्ध धर्म के तीन अंग (त्रिपिटक) हैं[1]।"

फाह्यान ने मथुरा राज्य के सभी धर्मों की स्थिति का यथार्थ वर्णन न करते हुए केवल बौद्ध धर्म की स्थिति पर ही प्रकाश डाला है, और वह भी वास्तविक रूप में नहीं। उसके ये दोनों कथन सर्वांश में ठीक नहीं हैं कि मथुरा के सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं और वे भगवान् बुद्ध के बाद से ही उस धर्म का पालन करते आ रहे हैं। जैसा हम पहले लिख चुके हैं, भगवान् बुद्ध के काल में बौद्ध धर्म को यहाँ पर उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली थी। उस काल में मथुरा में अन्य धर्मों के प्रति ही लोगों की आस्था थी। फाह्यान के समय में भी मथुरा के सभी लोग बौद्ध धर्म को नहीं मानते थे। वहाँ पर उस काल में भागवत धर्म और जैन धर्म के मानने वाले भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। फाह्यान के वर्णन से केवल इतना ही समझा जा सकता है कि उस काल में मथुरा में बौद्ध धर्म की स्थिति अच्छी थी।

हूणों के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अंतिम काल में विदेशी हूणों का भारत पर आक्रमण हुआ था। उनके क्रूर कृत्यों का दुष्परिणाम मथुरा राज्य को भी सहन करना पड़ा था। हूणों में धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना नहीं थी। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं का संहार कर बौद्ध इमारतों को नष्ट-भ्रष्ट किया था। उस समय मथुरा की भारी लूट हुई थी, किंतु यहाँ की इमारतों को अधिक क्षति नहीं पहुँची थी। हूणों ने बौद्ध संघाराम जैसी बड़ी इमारतों का स्पर्श न कर कदाचित छोटे स्तूपादि ही नष्ट किये थे; क्यों कि उनके आक्रमण के बाद जब हुएनसांग मथुरा में आया था, तब भी उसने यहाँ पर २० संघाराम देखे थे, जो फाह्यान के समय में भी थे।

हूणों के आक्रमण के पश्चात् मथुरा राज्य में बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी थी। उस समय सर्वास्तिवाद सहित सभी थेरवादी संप्रदाय प्रभाव शून्य हो गये थे। वह युग महायानी संप्रदायों की उन्नति का था; किंतु मथुरा राज्य में वे भी अपना अधिक प्रभाव स्थापित नहीं कर सके थे।

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ८२६

२. जैन धर्म

शक-कुषाण काल (वि. पू. सं० ४३ से विक्रम सं० २३३ तक) की स्थिति—उस समय मथुरा में जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई थी। यहाँ के कंकाली टीला की खुदाई से प्राप्त बहुसंख्यक पुरातात्विक अवशेषों से सिद्ध होता है कि कुषाण काल से कई शताब्दी बाद तक मथुरा राज्य जैन धर्म का बड़ा प्रसिद्ध केन्द्र रहा था[1]। उस काल में यहाँ के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' के अतिरिक्त अन्य स्तूप, चैत्य, मंदिर, देवालय भी बनाये गये थे, और उनमें आयागपट्टों के अतिरिक्त तीर्थंकरों एवं देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया गया था। कंकाली टीला के साथ ही साथ चौरासी, माता का मठ, जमालपुर टीला, शीतला घाटी, बलभद्र कुंड, अर्जुनपुरा आदि मथुरामंडल के विविध स्थानों से जो जैन धर्म के प्राचीन कलावशेष मिले हैं, वे उसी काल के हैं। उनसे ज्ञात होता है कि उस समय उन सभी स्थानों में जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था। 'बृहत्कल्प सूत्र भाष्य' (१-१७७४) से ज्ञात होता है कि उस काल में मथुरा नगर अथवा उसके निकटवर्ती स्थानों में जो जैन अथवा अजैन इमारतें बनाई जाती थीं, उनके स्थायित्व के लिए उनके आलों में अथवा समीप के चौराहों पर 'मंगल चैत्य' बना कर अर्हत् प्रतिमाओं की स्थापना की जाती थी। उस समय के लोगों का विश्वास था कि ऐसा न करने से वे इमारतें क्षति-ग्रस्त हो सकती हैं। उक्त उल्लेख से भी जैन धर्म के तत्कालीन प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है।

उस काल की जैन प्रतिमाएँ अधिकतर अभिलिखित मिली हैं। उन पर जो लेख अंकित हैं, वे प्राकृत मिश्रित संस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में हैं। उनमें यहाँ के जैन संघ से संबंधित विभिन्न गणों, गच्छों, कुलों और शाखाओं के नामों का उल्लेख हुआ है। उनसे मुनियों, आर्याओं, श्रावक-श्राविकाओं के साथ ही साथ विविध पदों, व्यवसायों और धंधों से संबंधित उन बहुसंख्यक नर-नारियों के नामों का पता चलता है, जिन्होंने यहाँ पर मंदिर-मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी। उक्त लेखों से एक विशेष बात यह ज्ञात होती है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं ने उस काल में जैन धर्म के प्रति अधिक श्रद्धा दिखलाई थी, और धर्मार्थ दान देने में वे पुरुषों से भी आगे रही थीं। ऐसी महिलाओं में कुलीन श्राविकाओं के साथ ही साथ छोटे धंधों की स्त्रियाँ भी थीं। 'उदाहरणार्थ, माथुरक लवदास की भार्या तथा फल्गुयश नर्तक की स्त्री शिवयशा ने एक-एक सुंदर आयागपट्ट बनवाए, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय में हैं। इसी प्रकार का एक अत्यंत मनोहर आयागपट्ट (क्यू २) मथुरा संग्रहालय में भी है, जिसे वसु नाम की वेश्या ने, जो लवणशोभिका की लड़की थी, दान में दिया था। वेणी नामक एक श्रेष्ठी की धर्मपत्नी कुमारमित्रा ने एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना करवाई और मुचिल की स्त्री ने शांतिनाथ भगवान् की प्रतिमा दान में दी थी। मणिकार जयभट्टि की दुहिता तथा लोहवणिज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा ने वाचक आर्यसिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन-प्रतिमा का दान किया था। आचार्य बलदत्त की शिष्या तपस्विनी कुमारमित्रा ने एक तीर्थंकर-मूर्ति की स्थापना करवाई थी। ग्रामिका जयनाग की कुटुम्बिनी तथा ग्रामिक जयदेव की पुत्रवधू ने शकाब्द ४० (वि. सं. १७५) में एक शिलास्तंभ का दान किया था। गुहदत्त की पुत्री तथा धनहस्त की पत्नी ने धर्मार्य नामक एक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट का दान किया,

---

(१) सन् १८८९-९१ की 'आरक्योलोजीकल सर्वे रिपोर्ट' देखिये।

जिस पर स्तूप-पूजा का दृश्य अंकित है। श्राविका दत्ता ने शकाब्द २० (वि. सं. १५५) में वर्धमान प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया था। राज्यवसु की स्त्री तथा देविल की माता विजयश्री ने एक मास का उपवास करने के बाद शकाब्द ५० (वि. सं. १८५) में भगवान् वर्धमान की प्रतिमा की स्थापना कराई थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि प्राचीन मथुरा में जैन धर्म की उन्नति में महिलाओं का बहुत बड़ा भाग था[1]।'

मथुरा के प्राचीन 'देवनिर्मित स्तूप' में इस काल में तीर्थंकर सुव्रतनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। उसे कट्टिय गण की वईर शाखा के आचार्य वृद्धिहस्ति ने श्राविका दिना के दान से निर्मित करा कर प्रतिष्ठापित किया था। इसका उल्लेख कंकाली टीला की खुदाई में प्राप्त एक शिला-लेख में हुआ है, जो अब लखनऊ संग्रहालय (जे. २०) में सुरक्षित है। उस अभिलिखित शिलापट्ट पर मूर्ति-प्रतिष्ठा का काल शकाब्द ७६ (वि. सं. २१४) और उसका नाम 'वोद्ध स्तूप' अंकित है[2]। यदि उक्त शिलालेख के शकाब्द को ठीक समझा जाय, तो उस स्तूप में मूर्ति की प्रतिष्ठा अंतिम कुषाण सम्राट वासुदेव के शासन काल में हुई होगी। किंतु डा० ज्योतिप्रसाद जैन के मतानुसार शकाब्द के यथार्थ पाठ से उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा कुषाण काल से पहिले शक काल में ही हो गई थी[3]।

धार्मिक सिद्धांतों का लेखन—मथुरामंडल के धार्मिक विद्वानों की ज्ञान-गरिमा के साथ ही साथ उनकी भाषा विषयक विशिष्टता की भी दीर्घकालीन ख्याति रही है। मथुरा के बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त द्वारा अशोक को धार्मिक उपदेश दिये जाने का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। अशोक का परवर्ती जैन धर्मानुयायी कलिंगराज खारवेल भी मथुरा के जैन विद्वानों की भाषा विषयक विशिष्टता से प्रभावित हुआ था। डा० शिवप्रसाद सिंह ने उक्त प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"हाथीगुंफा वाले लेखों की भाषा में मध्यदेशीय प्रभाव देख कर लोगों ने निष्कर्ष निकाला था कि ये लेख खारवेल के उन जैन गुरुओं की शौरसेनी भाषा में थे, जो मथुरा से आये थे[4]।"

जैन धर्म के मूल सिद्धांत भगवान् महावीर द्वारा कथित अर्धमागधी प्राकृत भाषा में हैं, जिन्हें 'जिन वाणी' अथवा 'आगम' कहा जाता है। वैदिक संहिताओं की भाँति जैन आगम भी पहिले श्रुत रूप में थे। उपगुप्त की प्रेरणा से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अपने साम्राज्य के विविध स्थानों में जो धर्म-लेख लिखवाये थे, उनसे जैन धर्म के विद्वानों को भी आगमों को लिखित रूप में सुरक्षित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। किंतु जैनाचार्यों के प्रबल विरोध के कारण उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया जा सका था। जब कई शताब्दियों तक अन्य स्थानों के जैनाचार्य आगमों को लिपिबद्ध नहीं कर सके, तब मथुरामंडल के जैन विद्वानों ने उक्त प्रश्न को उठाया; और 'सरस्वती आंदोलन' द्वारा इस विषय का नेतृत्व किया था।

---

(१) ब्रज का इतिहास (दूसरा भाग), पृष्ठ १७–१८

(२) देवनिर्मित वोद्ध स्तूप (ब्रज भारती, वर्ष ११ संख्या २), पृष्ठ ६

(३) मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास (ब्रज भारती, वर्ष १५ संख्या २), पृष्ठ १२

(४) सूरपूर्व ब्रजभाषा, पृष्ठ ४८

सरस्वती आंदोलन—विद्या–बुद्धि और ज्ञान–विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी का नाम सरस्वती है। इसे ब्राह्मी, भारती, भाषा और गीर्वाग्वाणी भी कहते हैं,–"ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती'। इसके भव्य स्वरूप की कल्पना इसके महत्व के अनुरूप ही की गई है। इस वागीश्वरी-वाग्देवी की कांति कुंद, इंदु, तुषार, चंपक, कुमुद, कर्पूर, दुग्ध तथा श्वेत कमल के समान उज्ज्वल और धवल है। इसका भव्य वदन श्वेत चंदन से चर्चित है। इसके वस्त्र शुभ्र हैं, गले में मुक्ता और स्फटिक के हार हैं। यह श्वेत पद्म पर अथवा श्वेत हंस पर विराजमान है। इसके एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में वीणा है, जो साहित्य-संगीत और ज्ञान-विज्ञान के प्रतीक हैं। यह शुद्ध सत्वमयी, तपोमयी, प्रज्ञारूपिणी, शक्तिस्वरूपा, शारदा है। इसके स्मरण मात्र से अज्ञानाधंकार का लोप और विद्या-बुद्धि के प्रकाश का उदय होता है। इसे वेदों में जगदम्बा कहा गया है। इसके अवतरण की तिथि माघ शुक्ला ५ मानी जाती है, जिसे 'श्री पंचमी' अथवा 'वसंत पंचमी' कहते हैं।

यद्यपि सरस्वती की मूल कल्पना प्राचीन है, तथापि इसके स्वरूप का विकास और पूजन का प्रचार जैन धर्म की देन है। मथुरा के जैन विद्वानों को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने परंपरागत श्रुत रूपा 'जिन वाणी' को लिखित रूप प्रदान करने के लिए 'सरस्वती आंदोलन' चलाया था, और मथुरा के मूर्ति-कलाकारों ने सर्वप्रथम पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी की प्रतिमाएँ निर्मित कर उस आंदोलन को मूर्त्त रूप प्रदान किया था। 'नागहस्ति आचार्य द्वारा प्रस्थापित सरस्वती की जो लेखांकित खंडित मूति कंकाली टीले से प्राप्त हुई है, वह न केवल जैन सरस्वती की ही, सर्व प्राचीन उपलब्ध मूर्ति है, वरन् अन्य धर्मों द्वारा निर्मित उक्त देवी की ज्ञात प्रतिमाओं में भी सर्वप्राचीन मानी जाती है[1]।'

'मथुरा से प्रचारित उस सरस्वती आंदोलन का यह परिणाम हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारत के कुंदकुंद, कुमारनंदि, शिवार्य, विमल सूरि, उमा स्वामी आदि अनेक जैनाचार्य विक्रम की प्रथम शताब्दी में ही ग्रंथ रचना में संलग्न हो गये और आगमों के संकलन की आवाज़ बुलंद करने लगे। अतः प्रथम शताब्दी में ही दक्षिणापथ के जैन साधुओं ने अपने अवशिष्ट आगम ज्ञान को संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाला तथा आगमिक ज्ञान के आधार से द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं प्रथमानुयोग के भी प्रमुख ग्रंथ रचने आरंभ कर दिये[2]।' इस प्रकार जैन आगमों को संकलित और लिपिबद्ध करने तथा ग्रथ–निर्माण कराने का कार्य पहिले दिगंवर विद्वानों ने किया था।

नाग-गुप्त काल (सं० २३३ से सं० ६०० तक) की स्थिति—कुषाणों के पश्चात् मथुरा राज्य पर पहिले नाग राजाओं का और फिर गुप्त सम्राटों का शासन हुआ था। उस काल में उत्तरी–दक्षिणी विचार–भेद ने पुष्ट होकर दिगंवर-श्वेतावर संप्रदाय-भेद को और भी स्पष्ट कर दिया था। मथुरा के जैन साधु और श्रावक वर्ग अपने को तटस्थ रखते हुए उस भेद-भाव को कम करने की चेष्टा करते रहे। उस काल में 'मथुरा के अनेक तत्कालीन जैन गुरु दिगंवर आम्नाय में मान्य हुए, तो कितने ही श्वेतांवर आम्नाय में; और कई एक यथा आर्यमंखु, नागहस्ति आदि दोनों ही संप्रदायों में सम्मान्य हुए थे। मथुरा में ही उसी काल में संभवतया कन्हं श्रमण के नेतृत्व में उस

(१) मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास (ब्रज भारती, वर्ष १२ अंक २) पृष्ठ ११

(२) वही ,, ,, (,, ,,) पृष्ठ ११

युगांतरकारी परिवर्तनों के पश्चात् किसी न किसी रूप में अब भी विद्यमान है, जब कि इसी काल में अनेक धर्म-संप्रदायों का या तो अंत हो गया या वे प्रभावहीन हो गये। दूसरा निष्कर्ष यह है कि धर्मोपासना की प्रगति उस राष्ट्र अथवा राज्य में होती है, जो शस्त्रों से रक्षित होता है,—'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते।' जिस काल में ब्रज शस्त्रों से रक्षित रहा, उस काल में यहाँ के सभी धर्म-संप्रदाय खूब फूले-फले। जब शस्त्र-बल की कमी हुई, तभी आक्रमणकारियों ने यहाँ की धार्मिक प्रगति को नष्ट कर दिया। ये निष्कर्ष ब्रज के साथ ही साथ समस्त देश की धार्मिक उन्नति के भी मूल मंत्र हैं।

इस ग्रंथ के अंत में 'सहायक साहित्य' के रूप में ७५० प्रकाशित एवं अप्रकाशित पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के नामों की सूची है; जिनमें से अनेक का उपयोग लेखक ने किया है। उसके अनंतर ३१ पृष्ठों की वृहत् 'अनुक्रमणिका' है। यह सूची और अनुक्रमणिका संदर्भ की सुविधा के लिए बड़े परिश्रम से प्रस्तुत की गई हैं। इस ग्रंथ में जो अनेक चित्र दिये गये हैं, उनसे इसकी उपयोगिता में वृद्धि हुई है।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना के संबंध में भी मुझे कुछ कहना है। बड़े आश्चर्य की बात है कि ब्रज के धर्म-संप्रदायों की इतनी समृद्ध परंपरा होते हुए भी उनमें से किसी एक का भी व्यवस्थित रूप में इतिहास नहीं मिलता है! ऐसी स्थिति में किसी एक धर्म-संप्रदाय का समुचित इतिहास लिखना भी सरल नहीं है। फिर इस ग्रंथ में तो उन सब का एक साथ क्रमबद्ध ऐतिहासिक वृत्तांत लिखने की चेष्टा की गई है। यह कितना बड़ा कार्य है, और इसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में मुझे कितना कठिन परिश्रम करना पड़ा है; इसे शोधक विद्वान अथवा भुक्तभोगी लेखक ही समझ सकते हैं, साधारण पाठक तो उसका अनुमान भी नहीं लगा सकते। इस प्रकार के बड़े और साथ ही प्रथम प्रयास में त्रुटियों एवं भ्रांतियों का रह जाना सर्वथा संभव है। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ मैंने जान बूझ कर कोई भ्रांत कथन करने की चेष्टा नहीं की है। ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों के प्रति मेरी श्रद्धा है, और मैंने इसी भावना से तटस्थता पूर्वक यथा संभव उनका प्रामाणिक वृत्तांत लिखने का प्रयत्न किया है। फिर भी इस ग्रंथ की किसी त्रुटि की ओर मेरा ध्यान दिलाने और उसका सप्रमाण समाधान किये जाने पर मैं उसे आगामी संस्करण में सुधार दूँगा। मैं जानता हूँ, यहाँ के कतिपय संप्रदायों में एक दूसरे के विरुद्ध कुछ बातें प्रचलित हैं; जिन्हें मनवाने के लिए उनके अनुयायियों का बड़ा आग्रह रहता है। ऐसे सज्जनों से मेरा निवेदन है कि वे किसी दूसरे संप्रदाय के विरुद्ध प्रचार करने की अपेक्षा अपने संप्रदाय का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करें। ऐसा होने पर वे अपने संप्रदाय की सेवा करने के साथ ही साथ ब्रज के धार्मिक इतिहास के संशोधन और संवर्धन का भी महत्वपूर्ण कार्य कर सकेंगे। अंत में मैं उन सभी विद्वानों का अत्यंत अनुगृहीत हूँ, जिनके ग्रंथों से मैंने सहायता ली है, अथवा जिनसे कोई सामग्री या सूचना प्राप्त की है। इस ग्रंथ में मुद्रित चित्रों के कुछ ब्लाक मुझे श्रीनिकुंज वृंदावन के अधिकारी ब्रजवल्लभशरण जी, मथुरा के गो० ब्रजरमणलाल जी, गो० माधवराय जी और पुरातत्त्व संग्रहालय के अध्यक्ष श्री वी. एन. श्रीवास्तव से प्राप्त हुए हैं। इन सज्जनों के इस सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

साहित्य संस्थान, मथुरा।
आश्विन शु. १० (विजया दशमी), सं. २०२५

—प्रभुदयाल मीतल

अर्ध-फलिक संप्रदाय का अस्थायी उदय हुआ, जो एक छोटा सा वस्त्रखंड ग्रहण करने का विधान करके दोनों दलों के बीच समन्वय करना चाहता था[1]। उस काल में भारतीय नर-नारियों के अतिरिक्त अनेक विदेशियों ने भी जैन धर्म अंगीकार किया था।

गुप्त काल में धार्मिक उन्नति के साथ ही साथ विविध विद्याओं और कलाओं की भी बड़ी प्रगति हुई थी। उस काल के लेखों और लेखांकित मूर्तियों से जैन धर्म की अच्छी स्थिति का बोध होता है। इस धर्म में मान्य यक्ष-यक्षिणियों और शासन-देवियों के साथ जैन तीर्थंकरों की कुछ अत्यंत कलापूर्ण मूर्तियाँ उसी काल में निर्मित हुई थीं। मथुरा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमार गुप्त के शासन काल में विद्याधरी शाखा के जैनाचार्य दंतिल की आज्ञा से श्यामाढ्य नामक श्रावक ने गुप्त सं० ११३ (वि. सं. ४८३) में यहाँ पर जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी।

'माथुरी वाचना'—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मथुरा के 'सरस्वती आंदोलन' के कारण दिगंबर संप्रदाय के अनेक आचार्य बहुत पहिले ही जैन आगमों को संकलित कर उन्हें लिपिबद्ध करने में लग गये थे। श्वेतांबर संप्रदाय वाले प्रचुर काल तक उसका विरोध करते रहे, किंतु बाद में उनके कतिपय विद्वान भी उसकी आवश्यकता समझने लगे थे। सं. ३७० वि. के लगभग मथुरा में श्वेतांबर यतियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता आर्य स्कंदिल ने की थी। उक्त सम्मेलन में आगमों का पाठ निश्चित कर उनकी व्याख्या की गई थी, जिसे 'माथुरी वाचना' कहा जाता है। उसी समय आगमों को लिपिबद्ध करने पर भी विचार किया गया; किंतु भारी मतभेद होने के कारण तत्संबंधी निर्णय स्थगित करना पड़ा। बाद में विक्रम की छठी शताब्दी के आरंभ में सुराष्ट्र के वल्लभी नगर में देवर्धिगणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में श्वेतांबर आगमों को सर्वप्रथम संकलित एवं लिपिबद्ध किया गया था। गुजरात के श्वेतांबर साधु जिनप्रभ सूरि कृत 'मथुरापुरी कल्प' में लिखा है, जब शूरसेन प्रदेश में द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था, तब आर्य स्कंदिल ने संघ को एकत्र कर आगमों का अनुयोग किया था। मथुरा के प्राचीन देवनिर्मित स्तूप में एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना कर जिनप्रभ श्रमण ने दीमकों से खाये हुए त्रुटित 'महानिशीथ सूत्र' की पूर्ति की थी[2]।

धार्मिक साहित्य—जैन धर्म का प्राचीन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में है, जिसे 'जैन प्राकृत' कहा जाता है। बाद का साहित्य संस्कृत, अपभ्रंश और प्रांतीय भाषाओं में रचा हुआ उपलब्ध है। प्राचीन साहित्य में प्रमुख स्थान आगमों का है। उनके पश्चात् पुराणों का महत्व माना जाता है। पुराणों में जैन तीर्थंकरों की महिमा का वर्णन किया गया है, किंतु उनके साथ राम और कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है। जैन धर्म में राम को 'पद्म' (पउम) कहा गया है, और कृष्ण को वासुदेव के नाम से तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का भाई बतलाया गया है। राम-चरित्र से संबंधित सबसे प्राचीन रचना 'पउम चरित्र' है, और कृष्ण चरित्र की 'वसुदेव हिंडि'। दोनों प्राकृत भाषा में हैं, जिनमें से प्रथम पौराणिक रचना है, और द्वितीय एक चम्पू काव्य है। दोनों ग्रंथों में राम और कृष्ण के चरित्र वैष्णव दृष्टिकोण से कुछ भिन्न जैन दृष्टिकोण के अनुसार लिखे गये हैं। 'वसुदेव

---

(१) **मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास** (ब्रज भारती, वर्ष १५ अंक २), पृष्ठ १०
(२) वही ,, ,, (,, ,,), पृष्ठ १८

हिंडि' की रचना गणिवाचक संघदास ने ५वीं शती के लगभग की थी। इसमें प्रधानतया वसुदेव का चरित्र वर्णित है, किंतु प्रसंगानुसार उनके पुत्र वासुदेव कृष्ण का भी इसमें उल्लेख किया गया है। इसकी प्रस्तावना में मथुरा में तपस्या कर निर्वाण प्राप्त करने वाले अंतिम कैवल्यज्ञानी जम्बूस्वामी का चरित्र भी है। इसके प्रासंगिक उपाख्यान में कुबेरसेना नामक मथुरा की एक गणिका का विचित्र वर्णन है, जिसमें सांसारिक संबंधों पर तीव्र व्यंग करते हुए वैराग्य का उपदेश दिया गया है[1]।

हूणों के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अंतिम काल में जब मथुरा राज्य पर असभ्य हूणों का आक्रमण हुआ था, तब उससे जैन धर्म को बड़ी क्षति हुई थी। उस काल में मथुरा स्थित कंकाली टीला के प्रसिद्ध जैन केन्द्र में इस धर्म के अनेक स्तूप और मंदिर-देवालय थे, जिनमें तीर्थंकरों एवं देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। हूणों के आक्रमण से उन सबको बड़ी क्षति पहुँची थी। वहाँ का सुप्रसिद्ध 'देवनिर्मित स्तूप' भी उस काल में नष्टप्राय: हो गया था। उस बर्बर आक्रमण के फलस्वरूप उस प्राचीन जैन केन्द्र का महत्व एक बार समाप्त सा हो गया था। पुरातत्व विभाग ने जब उस स्थान की खुदाई कराई, तब वहाँ से मौर्यकाल से लेकर गुप्त काल के बाद तक की १५०० जैन मूर्तियाँ, १०० शिलालेख और बहुसंख्यक मंदिर-देवालयों के कलावशेष प्राप्त हुए थे। भारत में किसी अन्य स्थान से जैन धर्म की इतनी अधिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है।

३. वैदिक धर्म

शक काल से गुप्त काल (वि. पू. सं० ४३ से विक्रम सं० ६००) तक की स्थिति— इस काल में प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचलन काफी कम हो गया था; फिर भी प्राचीन धार्मिक विचारों के रूढ़िवादी घरानों में उसके प्रति आस्था बनी रही थी। उनमें वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय, वैदिक धर्म का परिपालन और वैदिक विधि-विधान के अनुसार आचरण बराबर होता रहा था। वैदिक यज्ञों का प्रचलन उस काल में जारी था, किंतु उन्हें कतिपय राजा-महाराजा और धनाढ्य व्यक्ति ही कर पाते थे। यज्ञ के अनंतर प्रभूत दान-दक्षिणा देने और यज्ञ-स्थान पर यूप (बलि-स्तंभ) की स्थापना करने का नियम था। यज्ञों में जिन पशुओं की बलि दी जाती थी, वे उन यूपों से बाँधे जाते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार यूप इंद्र के वज्र का प्रतीक है, जिसे यज्ञ के अंत में प्रतिष्ठित करना आवश्यक बतलाया गया है[2]। आरंभ में वे यूप काष्ठ-स्तंभ होते थे, जिन्हें ऋग्वेद (१, १३, २४–५) के अनुसार बिल्व, खदिर, पलाश, उदंबर, देवदारु आदि वृक्षों की लकड़ी से बनाया जाता था[3]। बाद में उन्हें पाषाण का भी बनाया जाने लगा था। उन पर यज्ञकर्त्ता के नाम और यज्ञ किये जाने की तिथि का उल्लेख किया जाता था। उस काल के काष्ठनिर्मित यूप नष्ट हो जाने के कारण दो-एक ही मिले हैं[4]; किंतु पाषाण निर्मित यूप पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुए है। उन पर उत्कीर्ण लेखों से जो सूचनाएँ मिलती हैं, वे तत्कालीन वैदिक धर्म और उसकी यज्ञ–विधि पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती हैं।

---

(१) मथुरा का एक विचित्र प्रसंग (ब्रज भारती, वर्ष १६ अंक ४), पृष्ठ २१-२५
(२) एपिग्राफिया इंडिका, २३, पृष्ठ ४२
(३) संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम), पृष्ठ ८५६
(४) ऐसा एक अभिलिखित यूप नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित है, जो प्रथम शताब्दी का है।

मथुरा नगर के सन्मुख यमुना पार के वर्तमान ईसापुर गाँव से कुषाण काल के दो पाषाण-निर्मित यूप-स्तंभ प्राप्त हुए हैं, जो मथुरा संग्रहालय में रखे हुए हैं। इनमें से एक अभिलिखित यूप कुषाण शासक वासिष्क के राज्य काल (विक्रम सं० १५६—सं० १६३) का है। उसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि वासिष्क के शासन-काल के २४ वें वर्ष सं० १८३ में मथुरा के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण रुद्रल के पुत्र द्रोणल ने वहाँ पर 'द्वादशरात्रीय यज्ञ' किया था[1]।

भरतपुर राज्यांतर्गत बयाना के निकटवर्ती विजयगढ़ नामक स्थान से गुप्त काल का एक यूप-स्तंभ प्राप्त हुआ है। उसके लेख से ज्ञात होता है कि उसे यशोवर्धन के सुपुत्र विष्णुवर्धन द्वारा पुंडरीक यज्ञ किये जाने के अनंतर 'कृत' (विक्रम) सं० ४२८ में प्रतिष्ठित किया गया था। श्री रत्नचंद्र अग्रवाल ने उक्त यूप—स्तंभ के साथ ही साथ और भी कई यूपों का विवरण प्रकाशित किया है[2]। वे सभी यूप नाग—गुप्त काल के हैं और पूर्वी राजस्थान के विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुए हैं। उनके लेखों से ज्ञात होता है कि वे 'षष्ठिरात्र', 'त्रिरात्र' आदि यज्ञों के उपलक्ष में प्रतिष्ठित किये गये थे। पूर्वी राजस्थान के उक्त स्थानों में उस काल में वैदिक धर्म प्रचलित था, जिस पर निकटस्थ मथुरा राज्य के धार्मिक वातावरण का प्रभाव रहा होगा।

४. भागवत धर्म

शक काल (वि. पू. सं० ४३ से वि. सं० ६७ तक) की स्थिति—इस काल में मथुरा राज्य पर जिन शक क्षत्रपों का राज्याधिकार रहा था, उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। फलतः उनके द्वारा शुंगों के समान भागवत धर्म को राज्याश्रय प्रदान नहीं किया गया, फिर भी उनके शासन में इस धर्म की प्रगति में अंतर नहीं आया था। इसका प्रमाण इस धर्म के वे देवस्थान हैं, जो इसी काल में मथुरा राज्य में निर्मित किये गये थे। उनमें से अभी तक केवल दो के पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं, किंतु उनका भी बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इसका कारण यह है कि वे भागवत धर्म के ज्ञात मंदिर-देवालयों में सबसे प्राचीन थे। उनमें से एक मोरा गाँव स्थित पंच वृष्णि वीरों का 'देवगृह' था, और दूसरा कृष्ण-जन्मभूमि का वासुदेव 'महास्थान'। यहाँ पर उन दोनों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पंच वृष्णि वीरों का 'देवगृह'—मथुरा नगर से ७ मील पश्चिम की ओर मोरा नामक एक छोटा सा गाँव है। वहाँ से बड़े आकार की एक अभिलिखित शिला और कई खंडित मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। शिला के अभिलेख से ज्ञात होता है कि शक महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र शोडास के शासन काल (वि. पू. सं० २३ से वि. पू. सं० १) में तोषा नामक महिला ने उक्त स्थल पर एक अनुपम दर्शनीय शैल देवगृह (पाषाणनिर्मित देवालय) बनवाया था, और उसमें भागवत पंच वृष्णि वीरों की मूर्तियाँ (अर्चाएँ) प्रतिष्ठित की थीं। उपलब्ध शिला-खंड एवं खंडित मूर्तियाँ उसी देवालय के और उसमें प्रतिष्ठित मूर्तियों के अवशेष हैं; जो मथुरा संग्रहालय (ई. २२) में सुरक्षित हैं।

---

(१) **मथुरा संग्रहालय के अभिलेख** (उ. प्र. हि. सो. जरनल, जिल्द २४—२५), पृष्ठ १३६

(२) **राजस्थान के यूप-स्तंभ तथा वैदिक यज्ञ** (ना. प्र. पत्रिका, वर्ष ५९ अंक २), पृष्ठ ११६

उक्त मूर्तियों की पहिचान के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। डा० लूडर्स और डा० अल्सडोर्फ का मत था कि वे मूर्तियाँ जैन धर्म में मान्य वृष्णिवंशीय पंच महावीर बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारण और विदूरथ की हैं[1]। किंतु डा० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'वायु पुराण' के प्रमाण से बतलाया है कि वे मूर्तियाँ संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध की हैं[2]। जब अभिलेख में स्पष्ट रूप से उन मूर्तियों को भागवत वृष्णि वीरों की बतलाया गया है,—'भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमाः'—तब उन्हें जैन धर्म से संबंधित मानने की कोई तुक नहीं है। वे मूर्तियाँ पंचरात्र–भागवत धर्म के व्यूहवाद से संबंधित संकर्षण–वासुदेवादि की ही हैं।

भगवान् वासुदेव का 'महास्थान'—महाक्षत्रप शोडास के शासन काल (वि. पू. सं० २३ से वि. पू. सं० १) में कौनिकीपुत्र वसु ने भगवान् वासुदेव के 'महास्थान' (महामंदिर) के लिए 'चतुः शाल' (चार दीवारी), 'तोरण' (मुख्य द्वार) और 'वेदिका' (रेलिंग) का निर्माण कराया था। उसके तोरण का अभिलिखित पाषाण-खंड मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। उसका लेख आरंभिक ब्राह्मी लिपि एवं संस्कृत भाषा में है, और वह कुछ खंडित हो गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उसे इस प्रकार पढ़ा है,—"वसुना भगव(तो वासुदे)वस्य महास्थान (चतुःशा)लं तोरणं वे(दिकाः प्रति)ष्ठापितो प्रीतो भ(वतु वासु)देवः स्वामिस्य (महाक्षत्र)पस्य शोडास (स्य···) संवर्तयतां।" । अर्थात्—भगवान् वासुदेव के महास्थान में चतुःशाल, तोरण और वेदिका वसु के द्वारा स्थापित की गई। वासुदेव प्रसन्न हों। स्वामी महाक्षत्रप शोडास का राज्य स्थायी हो।" उसके महत्व के संबंध में वासुदेवशरण जी का कहना है,—"भारतवर्ष में अब तक मिले हुए संस्कृत लेखों में भगवान् वासुदेव के महास्थान से संबंध रखने वाला यह लेख सबसे पुराना है[3]।"

उक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि अब से दो हजार वर्ष से भी पहिले मथुरा में भगवान् वासुदेव कृष्ण का मंदिर विद्यमान था, जिसके लिए वसु ने तोरणादि का निर्माण कराया था। वह मंदिर किस काल में बना था, किसने बनवाया था और उसकी वासुदेव मूर्ति का क्या हुआ? इन प्रश्नों के उत्तर देने वाले कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। उस महास्थान का यह अभिलिखित तोरण-खंड मथुरा में किस स्थान से प्राप्त हुआ, इसका भी कोई उल्लेख मथुरा संग्रहालय में नहीं है। इसके कारण विद्वानों को यह निश्चय करने में कठिनाई हुई है कि वह महास्थान मथुरा में किस स्थल पर बना था। डा० वासुदेवशरण जी का अनुमान है, यह तोरण–खंड मथुरा के वर्तमान कटरा केशवदेव से मिला होगा और वासुदेव का महास्थान भी उसी स्थल पर बनाया गया होगा; क्यों कि 'कटरा ही अत्यंत प्राचीन काल से कृष्ण–जन्मभूमि की तरह प्रसिद्ध रहा है। कृष्ण-मंदिर का भी यही पुरातन स्थान होना चाहिए[4]।'

---

(१) मथुरा संग्रहालय के अभिलेख (उ. प्र. हि. सो. जनरल, जिल्द २४-२५), पृष्ठ १३०–१३२

(२) संकर्पणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एवच।
अनिरुद्धश्च पं[illegible] वंशवीराः प्रकितित्ताः ।। (वायु० ९७, १–२)

(३) श्रीकृष्ण-जन्म[illegible] कटरा केशवदेव (पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ), पृष्ठ ७५२

(४) पोद्दार अभिन[illegible] पृ. ७५२

मथुरामंडल से बाहर विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी का एक शिलालेख नानाघाट (महाराष्ट्र) का है, जिसे शातवाहन वंशीय रानी नागनिका ने उत्कीर्ण कराया था। इसमें धर्म, इंद्र, सूर्य, यम, वरुण, कुवेर आदि देवताओं के साथ संकर्षण और वासुदेव के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की गई है। उस लेख से ज्ञात होता है कि उस काल में भागवत धर्म का विस्तार दक्षिण की ओर हो गया था।

कुषाण काल (सं० ६७ – सं० २३३) की स्थिति—शक क्षत्रपों के पश्चात् मथुरा राज्य पर विदेशी कुषाण सम्राटों का आधिपत्य हुआ था। उन्होंने भी शकों की भाँति ही भारतीय संस्कृति और धर्मों को अंगीकार किया था। उनके शासन-काल में निर्मित किसी वासुदेव मंदिर का उल्लेख नहीं मिलता है। इसका कारण बतलाते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जायसवाल ने लिखा है कि कुषाण सम्राट बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होंने "बौद्ध धर्म के प्रति अपने कट्टर उत्साह के कारण अन्य धर्मों के देवस्थानों को नष्ट कर दिया था[1]।" जायसवाल जी ने अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिखा है। उनका कथन है—"पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे, वे सब एक आरंभिक कुषाण शासक ने नष्ट कर डाले थे[2]।"

आरंभिक कुषाण शासकों में विम तक्षम शैव था और कनिष्क बौद्ध। जायसवाल जी के मतानुसार भागवत धर्म के देवस्थानों को नष्ट करने वाला बौद्ध धर्मानुयायी शासक शायद कनिष्क ही था। महाभारत में मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कलियुग के लक्षण बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे भी बौद्ध धर्म द्वारा भागवत धर्म को क्षति पहुँचाने का संकेत मिलता है[3]। वैसे कनिष्क सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न एक महान् सम्राट था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के साथ ही साथ विद्या और कलाओं का भी बड़ा प्रोत्साहनकर्ता था। उसके शासन काल में मथुरा राज्य की सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई थी।

वासुदेव कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति—अब तक उपलब्ध श्रीकृष्ण की मूर्तियों में सबसे प्राचीन एक शिलापट्ट है, जो मथुरा के गायत्री टीला से प्राप्त हुआ है और इस समय मथुरा संग्रहालय (सं० १७–१३४४) में सुरक्षित है। यह शिलापट्ट कुषाण काल का है, और इस पर श्रीकृष्ण के जन्म-काल का दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें वसुदेव द्वारा शिशु कृष्ण को सिर पर रख कर यमुना पार करते हुए दिखलाया गया है। यह किसी भग्न 'प्रासाद' (देवस्थान) के तोरण या सिरदल का कोई खंडित भाग मालूम होता है। संपूर्ण शिलापट्ट किसी भागवत मंदिर में लगा होगा, और उस पर कृष्ण–लीला के विविध दृश्य उत्कीर्ण होंगे। बहुत संभव है, यह शिलापट्ट वसु द्वारा निर्मित उसी मंदिर का अवशेष हो, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, और जो बाद में कुषाणों की भागवत धर्म के प्रति असहिष्णुता के कारण नष्ट कर दिया गया हो।

आरंभिक कुषाण सम्राट चाहें भागवत धर्म के विरोधी रहे हों, किंतु अंतिम सम्राटों का वैसा दृष्टिकोण नहीं जान पड़ता। सम्राट कनिष्क तो बौद्ध धर्म का अनुयायी और संभवतः भागवत धर्म का विरोधी था; किंतु उसके उत्तराधिकारी हुविष्क और वासुदेव भागवत धर्म के प्रति सहिष्णु

---

(१) भारतीय मूर्ति कला, पृष्ठ ८६

(२) अंधकार युगीन भारत, पृष्ठ ६६–१०१

(३) महाभारत–वनपर्व, अध्याय १८८–१६०

ज्ञात होते हैं। "हुविष्क की कतिपय ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जिन पर चार भुजाओं से युक्त विष्णु का आकार उत्तीर्ण है। हुविष्क का उत्तराधिकारी वासुदेव भी, जिसके नाम से ही सुव्यक्त है, वैष्णव (भागवत) धर्म का ही अनुयायी रहा होगा। इतना होते हुए भी कुषाण काल में वैष्णव (भागवत) धर्म का अपेक्षित विकास न हो सका था। उस काल के जितने अभिलेख प्राप्त हुए हैं, वे अधिकांशतः बोधिसत्वों की प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं[1]।"

श्रीकृष्ण के जन्मकालीन दृश्य से संबंधित जिस शिलापट्ट का पहिले उल्लेख किया गया है, उसके अतिरिक्त कुषाण काल की कतिपय भागवत मूर्तियाँ और भी उपलब्ध हुई हैं। मथुरा जिला के बलदेव ग्राम में दाऊजी का प्रसिद्ध मंदिर है। उसमें जो बलराम की सुंदर मूर्ति है, उसे कुषाण काल की ही माना जाता है। यह ब्रजमंडल की वर्तमान उपास्य मूर्तियों में सबसे प्राचीन कही जा सकती है। कुषाणकालीन एक शिलाखंड में उछलता हुआ घोड़ा और उसकी गर्दन पर किसी पुरुष द्वारा पदाघात किये जाने का दृश्य उत्कीर्ण है। ऐसा जान पड़ता है, वह केशीमर्दन श्रीकृष्ण की मूर्ति है। हिंदू धर्म के अन्य उपास्य देव जैसे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, स्वामिकार्तिक, कामदेव, इंद्र, अग्नि, सूर्य, नाग आदि की बहुसंख्यक मूर्तियाँ भी कुषाण काल में निर्मित हुई थीं। उनमें शिव और कामदेव की मूर्तियाँ तो शुंग काल में ही बन गई थीं।

मथुरा राज्य की कलात्मक समृद्धि—कुषाणों के शासन काल में मथुरा नगर मूर्ति कला का भारत प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। उस समय भागवत धर्म के साथ ही साथ अन्य धर्मों की देव-मूर्तियाँ भी यहाँ प्रचुर संख्या में बनने लगी थीं। मथुरा के कलाकारों द्वारा बनाई हुई वे देव-मूर्तियाँ देश के अनेक स्थानों में प्रतिष्ठित की गई थीं। मूर्ति कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं का भी यहाँ पर उस काल में यथेष्ट विकास हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि कुषाणों का शासन काल मथुरा राज्य की सांस्कृतिक समृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ था।

गुप्त काल (सं० ४०० – सं० ६००) की स्थिति—कुषाणों के पश्चात् मथुरा राज्य पर पहिले नाग राजाओं ने और फिर गुप्त सम्राटों ने शासन किया था। नाग नरेश शैव धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनके काल में भागवत धर्म भी प्रगति के पथ पर था। गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी थे। वे 'परम भागवत' का विरुद धारण करने में अत्यंत गौरव का अनुभव करते थे। गढ़वा और बिलसाड़ के शिला-लेखों में गुप्त वंश के प्रतापी सम्राट चंद्रगुप्त और कुमारगुप्त को 'परम भागवत' लिखा गया है[2]। इस वंश का आरंभिक सम्राट 'चंद्र' था, जिसने कुषाणों के भागवत धर्म विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही कदाचित उनसे संघर्ष किया था, जिसमें विजय प्राप्त होने के उपलक्ष में विष्णु ध्वज की स्थापना की गई थी। उसका उल्लेख दिल्ली स्थित महरौली के लेख में हुआ है[3]। गुप्तों के शासन काल में मथुरा राज्य उनके मगध साम्राज्य का एक भाग बन गया था।

---

(१) हिंदी साहित्य (भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग) प्रथम खंड, पृष्ठ ७२

(२) कोर्पस इंस्क्रिप्सनेरम, इंडीकेरम, जिल्द ३, पृष्ठ ३६, सं० ४

(३) तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णोः मतिं।
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः॥ (महरौली लौह-स्तंभ का लेख)

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य गुप्त राजवंश का ही, बल्कि भारत के महान् सम्राटों में से एक था। उसके शासन काल (सं० ४३३–सं० ४७०) के तीन अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुए है। उनमें से वह अभिलेख अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो कनिंघम को सन् १८५२ में कटरा केशवदेव से प्राप्त हुआ था। उसमें गुप्तवंशीय सम्राटों की पूरी नामावली अंकित कर उसे 'परम भागवत' चंद्रगुप्त पर समाप्त करते हुए उसके द्वारा मथुरा में कोई महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाने का उल्लेख किया गया है[1]।

कृष्ण–जन्मस्थान का मंदिर—कनिंघम द्वारा उपलब्ध अभिलेख का अंतिम अंश खंडित हो जाने से यह नही ज्ञात होता है कि उसमें वर्णित कौन सा महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य चंद्रगुप्त ने किया था। उसके संबंध में डा० वासुदेवशरण जी का निष्कर्ष है,—"हिंदू धर्म और संस्कृति का अभ्युत्थान करने वाले परम भागवत महाराज चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी उपाधि को अन्वर्थ करने के लिए श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर अवश्य ही एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया था। वह देवस्थान अत्यंत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण रहा होगा[2]।" उसी स्थान से प्राप्त गुप्तकालीन वैष्णव कला-कृतियों से भी उक्त मंदिर के अस्तित्व की पुष्टि होती है। बौद्ध ग्रंथ 'मंजुश्री मूलकल्प' में चंद्रगुप्त का मथुरा मे उत्पन्न होना लिखा गया है[3]; अतः अपने जन्म-स्थान में उसका वह मंदिर बनवाना सर्वथा संगत मालूम होता है। वह मंदिर अत्यंत विशाल, कलापूर्ण और मथुरामंडल का विख्यात देवस्थान था, जो पाँच शताब्दी तक इस क्षेत्र में कृष्णोपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था। उस देवालय को ११ वी शती में मुसलिम आक्रमणकारी महमूद गजनवी ने नष्ट कर दिया था।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल मे चीनी यात्री फाह्यान भारत में बौद्ध स्थानों की यात्रा करने आया था। वह सं० ४५० के लगभग मथुरा भी गया था। उसने अपने यात्रा–संस्मरणो में मथुरा के बौद्ध धर्म की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश तो डाला है, किंतु उसने वहाँ के कृष्ण मंदिर और भागवत धर्म की स्थिति पर कुछ नही लिखा। उसे शायद उनके संबंध में कोई रुचि भी नही थी। किंतु यह निश्चित है, उस काल में भागवत धर्म अत्यंत उन्नत अवस्था में था। उक्त धर्म के यहाँ पर अनेक मंदिर-देवालय थे तथा मूर्तियाँ थी, जिनकी व्यापक रूप में पूजा-अर्चना की जाती थी।

मथुरामंडल से बाहर भागवत धर्म की स्थिति—गुप्त काल में भागवत धर्म का व्यापक प्रचार हुआ था; फलतः मथुरामंडल से बाहर के अनेक स्थानों में भी उसकी अच्छी स्थिति थी। वहाँ पर भी भागवत धर्म के अनेक मंदिर–देवालय निर्मित हुए थे। उक्त स्थानों से उनके पुरातात्विक प्रमाणों और अनेक कलात्मक मूर्तियों की उपलब्धि हुई है। उनमें से मंडोर जि० जोधपुर और गंगा-नगर के निकटस्थ रंगमहल (राजस्थान), देवगढ़ जिला झांसी (उत्तर प्रदेश) और बादामी जिला बीजापुर (महाराष्ट्र) की भागवत मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

जोधपुर के निकट मंडोर में चौथी शताब्दी के जिन मंदिरों के अवशेष मिले है, उनमे दो के तोरण–स्तंभों पर श्रीकृष्ण की गोवर्धन–धारण, शकट–भंजन, कालिय-मर्दन और केशी–धेनुक वध आदि लीलाओं की मूर्तियाँ हैं। ये तोरण–स्तंभ जोधपुर के राजकीय संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। रंगमहल (गंगानगर) से उपलब्ध दो मृण्मूर्तियाँ गोवर्धन-धारण और दानलीला की है, जो बीकानेर

(१) गुप्त इंस्क्रिप्सन्स, पृष्ठ २६, सं० ४
(२) श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ ६; पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ७४७
(३) अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ २२३

संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उनके अतिरिक्त यशोदा, गरुड़ और चक्रपुरुष की मृण्मूर्तियाँ भी वहाँ से उपलब्ध हुई हैं। ये सब मूर्तियाँ वहाँ के गुप्तकालीन किसी भागवत मंदिर में प्रतिष्ठित होंगी। देवगढ़ जि० झांसी की मूर्तियाँ उत्तर गुप्त काल की हैं। बीजापुर जिला में बादामी नामक स्थान के निकटवर्ती मंदिर और गुफाओं में जो छटी शताब्दी के शिलापट्ट हैं, उन पर भी कृष्ण-लीलाओं के विविध दृश्य उत्कीर्ण मिलते हैं। उदयगिरि पहाड़ी के गुफा मंदिरों में विष्णु के वराहादि अवतारों की तथा गंगा-यमुना की सुंदर मूर्तियाँ मिली हैं, जो ५वीं शताब्दी की मानी जाती हैं। इसी पहाड़ी के निकटवर्ती पथारी नामक स्थान के मंदिर में कृष्ण के बाल्य जीवन के दृश्य उत्कीर्ण मिले हैं। बालक कृष्ण अपनी माता यशोदा के बगल में लेटे हुए हैं, और उनकी सेवा के लिए परिचारिकाएँ उपस्थित हैं। बेगलर ने इन्हें भारतीय मूर्ति कला के श्रेष्ठ और सबसे विशद कलावशेष बतलाया है। बंबई के निकटवर्ती एलीफेंटा गुफा में भी एक प्राचीन मूर्ति है। उसमें कंस को नंगी तलवार लिये हुए और उसके द्वारा मारे गये बच्चों को दिखलाया गया है। इस प्रकार गुप्त काल और उसके तत्काल पश्चात् की कृष्ण-लीला संबंधी मूर्तियाँ मथुरामंडल से बाहर के अनेक स्थानों में बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं। इनसे तत्कालीन भागवत धर्म की अच्छी स्थिति का बोध होता है।

धार्मिक देन—गुप्त सम्राटों की अनेक सांस्कृतिक उपलब्धियों में उनकी धार्मिक देन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने भागवत धर्म के प्रचार में प्रायः वैसा ही योग दिया था, जैसा मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार में दिया था। उनके प्रोत्साहन से यह धर्म उस काल में भारतवर्ष के अधिकांश भाग में प्रचलित हो गया था, यद्यपि अन्य धर्म-संप्रदायों का भी पर्याप्त प्रचलन था। गुप्त सम्राटों का विरुद 'परम भागवत' था। उनके अनुकरण पर अन्य प्रतापी नरेशों ने भी वह विरुद धारण किया था। परवर्ती गुप्त सम्राटों का समकालीन चालुक्य नरेश मंगलेश 'परम भागवत' कहलाता था। बरबंगा शिलालेख से ज्ञात होता है कि कामरूप नरेश भूतिवर्मा की उपाधि भी 'परम भागवत' थी। इन सब उल्लेखों से सिद्ध होता है कि उस काल में भागवत धर्म और कृष्णोपासना का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ था।

गुप्त काल में प्राचीन व्यूहवाद के स्थान पर अवतारवाद प्रचलित हो गया था। उस समय प्रमुख अवतारों में सम्मिलित किये जाने के कारण कृष्ण-बलराम की उपासना-पूजा तो चलती रही; किंतु प्रद्युम्न-अनिरुद्ध की बंद हो गई थी। कालांतर में कृष्ण की महत्ता ने बलराम की मान्यता को भी दबा दिया था। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य व्यूहों की स्वतंत्र पूजा-उपासना का अभाव अवतारवाद का प्रथम परिणाम था और वह भागवत धर्म के वैष्णव धर्म में परिवर्तित हो जाने की पृष्ठभूमि का भी सूचक था।

उस काल में श्रीकृष्ण को निर्विरोध 'भगवान्' माना जाता था और उन्हें विष्णु, नारायण, माधव आदि का समानार्थक समझा जाता था। संस्कृत के सुप्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक थे। वे बौद्ध धर्मावलंबी थे, अतः उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'अमरकोश' में बुद्ध के नामों को प्रधानता दी है। राम का नाम तो उन्होंने गिनाया ही नहीं, किंतु कृष्ण के नाम उन्होंने अन्य देववाचक नामों के साथ लिखे हैं। अमरकोश में विष्णु के नाम कृष्ण के नाम माने गये हैं,—'विष्णुर्नारायणः कृष्णः' और कृष्ण के नाम विष्णु के नाम लिखे गये हैं,—'माधव देवकीनंदन वसुदेवसूनु'। गुप्त काल में ही पुराणों को अंतिम रूप दिया गया था, जो उस काल की महान् धार्मिक उपलब्धि मानी जाती है।
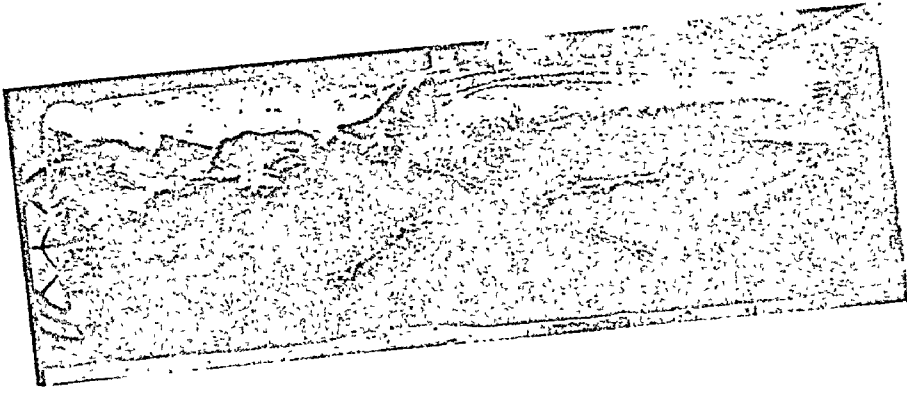
भगवान् विष्णु

संकर्षण बलराम
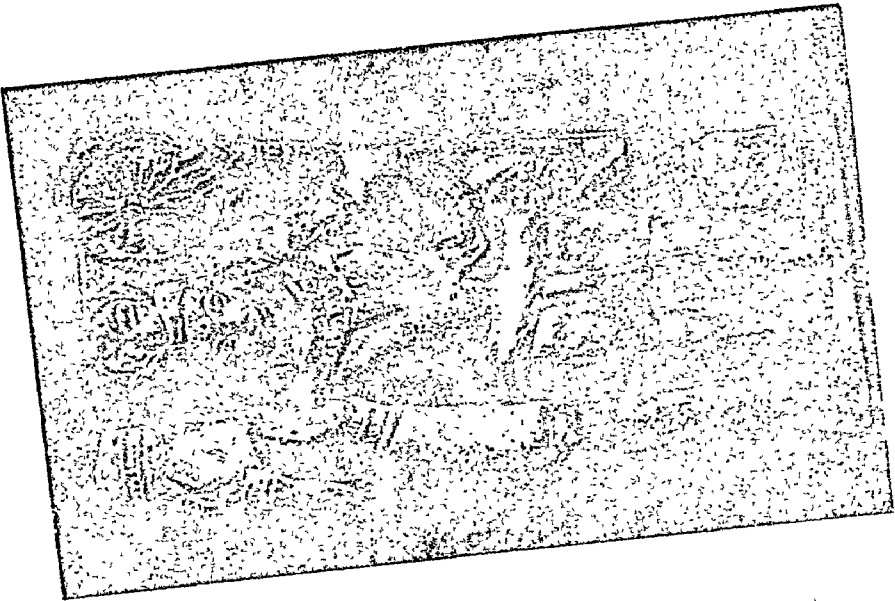
विषय-सूची

प्रथम अध्याय

आदि काल

[प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व सं. ५६६ तक]

हूणों के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अंतिम काल में जब वर्वर हूणों ने मथुरा राज्य पर आक्रमण किया था, तब अन्य धर्मों के साथ ही साथ भागवत धर्म के देवस्थानों को भी बड़ी क्षति पहुँची थी। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का अनुमान है कि उस भीषण काल में श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर बने हुए भागवत मंदिर को भी हूणों ने नष्ट किया होगा[1]। किंतु इसके विरुद्ध डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि मथुरा के अधिकांश देवस्थानों के नष्ट होने पर भी जन्मस्थान वाला मंदिर किसी प्रकार सुरक्षित रह गया था[2]।

हमारे मतानुसार डा० वासुदेवशरण जी का कथन ठीक है। इसका कारण यह है कि हूणों के आक्रमण के वाद महाराज हर्षवर्धन के शासन-काल में जब चीनी यात्री हुएनसांग सं० ६९२ के लगभग मथुरा आया था, तब उसने यहाँ पर हिंदू धर्म के ५ बड़े देवालय देखे थे, जिनमें जन्मस्थान वाले उक्त मंदिर का होना भी संभव है। हूणों के बाद सं० १०७४ में महमूद गजनवी ने जन्मस्थान के उस प्राचीन मंदिर को तोड़ा था। यदि वह वासुदेव मंदिर अंतिम गुप्त काल में हूणों द्वारा नष्ट कर दिया गया था, तब महमूद गजनवी के काल तक वैसे विशाल और वैभवशाली मंदिर के फिर से बनवाये जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यही समझा जा सकता है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का बनवाया हुआ श्रीकृष्ण-जन्मस्थान का मंदिर हूणों के आक्रमण के समय नष्ट नहीं हुआ था।

हूणों के आक्रमण का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि उसके बाद उत्तर भारत में भागवत धर्म का प्रभाव कम होने लगा किंतु दक्षिण भारत में वह पूर्ववत् प्रचलित रहा था। वहाँ पर पहिले आलवारों ने और फिर वैष्णव धर्माचार्यों ने उसकी उन्नति में योग दिया था। आरंभ में भागवत और पंचरात्र धर्मों में कुछ भेद माना जाता था,—'हर्ष चरित' में उन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है; किंतु बाद में उनका एकीकरण हो गया था। दक्षिण के आलवार भक्तगण और वैष्णव धर्माचार्यगण भागवत और पंचरात्र धर्मों में कोई भेद नहीं मानते थे।

५. शैव धर्म

शक-कुषाण काल (वि. पू. सं. ४३ से वि. सं. २३३ तक) की स्थिति—शक क्षत्रप और कुषाण नरेश अधिकतर बौद्ध धर्म के अनुयायी थे; अतः उनके शासन-काल में उस धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था। फिर भी शक क्षत्रप भागवत धर्म के और कुषाण नरेश शैव धर्म के भी प्रेमी थे। फलतः उनके काल में उक्त धर्मों की भी प्रगति हुई थी। आरंभिक कुषाण शासक विमतक्षम (विम कैडफाइसिस) शिव-भक्त था, जैसा कि उसके सिक्कों से ज्ञात होता है[3]। उन सिक्कों पर एक ओर कुषाण राजा की मूर्ति और खरोष्टी लिपि में उसकी उपाधि 'सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस' (सर्वलोकेश्वर माहेश्वर) दी हुई है, तथा दूसरी ओर नंदी सहित त्रिशूलधारी शिव की खड़ी मूर्ति है[4]। उसके एक सिक्के पर पंचमुखी शिव की मूर्ति भी मिली

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ ११४

(२) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ७४६

(३) लाहौर म्यूजियम कैटेलॉग ग्राफ कौइंस (व्हाइटहैड), प्लेट १७, सं० ३१—३३

(४) कलकत्ता म्यूजियम कैटेलॉग ग्राफ कौइंस (स्मिथ), प्लेट ६८, सं० १—१२

है। कनिष्क द्वितीय (सं० १७६ के लगभग), हुविष्क (सं० १६३–सं० १९५) तथा वासुदेव (सं० १९५–सं० २३३) के सिक्कों पर भी नंदी सहित शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें शिव के द्विभुजी तथा चतुर्भुजी दोनों रूप हैं[1]। मथुरा से कुषाण काल का एक शिलापट्ट भी मिला है, जिस पर कुषाणों द्वारा शिव-लिंग की पूजा का दृश्य उत्कीर्ण है। मथुरा से इसी तरह का दूसरा शिलापट्ट भी उपलब्ध हुआ है, जिसमें एक यक्ष द्वारा शिव-लिंग की पूजा दिखलाई गई है। पहिला शिलापट्ट (सं० २६६१) मथुरा संग्रहालय में है और दूसरा लखनऊ संग्रहालय में।

शैव धर्म का उदय और उसके प्रचार–प्रसार का आरंभ उत्तर भारत में हुआ था; किंतु विक्रम पूर्व दूसरी शती तक उसका प्रचार दक्षिण भारत में भी हो गया था। उस काल में निर्मित गुड्डीमल्लम नामक स्थान की वह प्रसिद्ध लिंगमूर्ति उपलब्ध है, जिस पर शिव का मानवाकार भी उत्कीर्ण हुआ है। इस प्रकार की लिंगमूर्तियों को 'मुखलिंग' कहा जाता है। गुड्डीमल्लम् का मुखलिंग अब तक उपलब्ध इस प्रकार मूर्तियों में सबसे प्राचीन है। मथुरा में कुषाण काल की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें मुखलिंग भी है। इन मूर्तियों में शिव के एक, चार और पाँच मुख दिखलाये गये हैं। मथुरा में एक मुखलिंग गुड्डीमल्लम की प्रसिद्ध मूर्ति के सदृश भी मिला था, जिसमें लिंग के सहारे शिव की खड़ी हुई चतुर्भुजी मानवाकृति थी। खेद है, वह ऐतिहासिक महत्व की मूर्ति मथुरा से विदेश में किसी ऐसे स्थान को भेज दी गई, जिसका कोई पता–ठिकाना भी नहीं मिल रहा है। उस मूर्ति का चित्र उपलब्ध है। अभी हाल में कुषाणकालीन शिव-लिंग की मृण्मूर्ति भी मिली है, जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।

प्रायः सभी कुषाण शासकों के सिक्कों पर शिव की मूर्तियाँ मिलने से यह समझा जा सकता है कि वे शैव धर्म के बड़े प्रेमी थे; चाहें उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके प्रोत्साहन में मथुरा राज्य में शैव धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था। उस काल की उपलब्ध विभिन्न शिव–मूर्तियों से ज्ञात होता है कि तब यहाँ पर शिव की उपासना–पूजा मानव-मूर्ति और लिंग-प्रतीक दोनों रूपों में प्रचुरता से प्रचलित थी।

नाग काल (सं० २३३ से सं० ४०० तक) की स्थिति—नाग राजा अधिकतर शैव धर्म के ही अनुयायी थे; अतः उनके शासन काल में यहाँ पर इस धर्म की और भी अधिक प्रगति हुई थी। उस काल में मथुरा का भूतेश्वर क्षेत्र और गोकर्णेश्वर टीला प्रसिद्ध शैव केन्द्र हो गये थे। गोकर्णेश्वर टीला को उस काल में शिव का कैलास कहा जाता था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मथुरा के रक्षक चार क्षेत्रपाल शिव हैं, जिनके चार प्राचीन पूजा-स्थल इस नगर की चारों दिशाओं में स्थित हैं,—उत्तर में गोकर्णेश्वर, पूर्व में पिप्पलेश्वर, दक्षिण में रंगेश्वर, और पश्चिम में भूतेश्वर। उक्त शैव स्थल संभवतः नाग काल में ही निश्चित हुए थे। लोगों का मत है, सुप्रसिद्ध नाग राजा वीरसेन की स्मृति में वर्तमान भूतेश्वर क्षेत्र उस काल में 'वीर स्थल' कहलाता था और मथुरा के वीर भद्रेश्वर नामक शैव स्थल का संबंध भी कदाचित वीरसेन से था। इस संबंध में निश्चय पूर्वक कहना कठिन है, क्यों कि यक्षों का नाम 'वीर' होने से वे स्थल यक्षों के पूजा-स्थान भी हो सकते हैं।

---

(१) लाहौर म्यूजियम कैटेलॉग आफ कौइंस (व्हाइटहैड), प्लेट १६, सं० १५०, १५२, १५३, १५६, २०६, २२६

गुप्त काल (सं० ४०० से सं० ६०० तक) की स्थिति—गुप्त सम्राटों के शासन काल में मथुरा राज्य भागवत धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था; किंतु शैव धर्म की भी उस काल में पर्याप्त प्रगति हुई थी। इसका प्रमाण उस काल की वे कलात्मक शैव मूर्तियाँ और तत्संबंधी अभिलेख हैं, जो यहाँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुए हैं। शैव मूर्तियों में शिव के विविध प्रकार के लिंग-प्रतीक उल्लेखनीय हैं। उनमें से कई एकमुखी, द्विमुखी, पंचमुखी लिंग-मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उनके अतिरिक्त शिव-पार्वती की दम्पति भाव की मूर्तियाँ, अर्धनारीश्वर मूर्तियाँ तथा हरीहर मूर्तियाँ भी यहाँ से पलब्ध हुई हैं। उत्तर गुप्त काल की एक मूर्ति (सं० २०८४) नंदी के सहारे खड़े हुए शिव-पार्वती की आलिंगन मुद्रा की है। मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति में शिव-पार्वती कैलास पर्वत पर बैठे हैं और रावण उस पर्वत को उठा रहा है। शिव की विभिन्न प्रकार की मूर्तियों के अतिरिक्त शिव-परिवार के देवता गणेश, कार्तिकेय आदि की गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं। उसी काल की अनेक सुंदर मूर्तियाँ कामबन से भी उपलब्ध हुई हैं। इन सब शैव मूर्तियों और अभिलेखादि से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में मथुरा राज्य में शैव धर्म का अच्छा प्रचार था।

लकुलीश-माहेश्वर संप्रदाय—गुप्त काल में मथुरा नगर शैव धर्म के लकुलीश-माहेश्वर संप्रदाय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। रंगेश्वर महादेव के निकटवर्ती चांड्डल-मांड्डल की बगीची के आस-पास उस संप्रदाय के मठ-मंदिर थे। इसका उल्लेख वहाँ से प्राप्त एक स्तंभ-लेख में हुआ है, जो मथुरा संग्रहालय (सं० १९३१) में प्रदर्शित है। वह लेख गुप्त सं० ६१ अर्थात् विक्रम सं० ४३७ का है। उसमें लकुलीश-माहेश्वर संप्रदाय की गुरु-परंपरा लिखी है और नीचे लकुलीश की मूर्ति उत्कीर्ण है। लेख से ज्ञात होता है, उस काल में उस संप्रदाय का मठाधीश उदिताचार्य था। उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्य कपिल-विमल, उपमित-विमल और पराशर का नामोल्लेख करते हुए उनकी कीर्ति-रक्षा के निमित्त उनके नाम पर मथुरा में कपिलेश्वर एवं उपमितेश्वर नामक दो शिव-लिंगों की प्रतिष्ठा की थी। मथुरा से लकुटधारी लकुलीश की गुप्तकालीन एक अन्य सुंदर मूर्ति भी मिली है।

जैसा पहिले लिखा गया है, महाभारत काल में शैव धर्म के प्राचीन रूप 'पाशुपत' मत का प्रचलन था, जो बाद में 'माहेश्वर' कहा जाने लगा था। वायु-लिंगादि पुराणों में उस मत के प्रथम उपदेष्टा के रूप में लकुलिन् अथवा नकुलिन का नामोल्लेख हुआ है, जो बाद में लकुलीश के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। 'सर्व दर्शन संग्रह' में उसे पाशुपत मत का संस्थापक माना गया है। "सन् ९७१ ई० के नागराज मंदिर के शिलालेख से तथा अन्य कई अभिलेखों से भी इसकी पुष्टि होती है[१]।" इस प्रकार इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलिन्, नकुलिन् अथवा लकुलीश ज्ञात होता है। उसकी मूर्तियाँ गुर्जर, राजस्थान, मालव तथा गौड़ प्रदेशों में मिली हैं, जिनमें उसे लकुट लिए हुए दिखलाया गया है। लकुटधारी होने से इसे 'लकुटीश' भी कहा जाता है। "मथुरा शैव स्तंभ के शिलालेख के आधार पर डा० भंडारकर ने लकुटीश का समय द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। कुषाणवंशीय हुविष्क की मुद्राओं पर लकुटीधारी शिव की मूर्तियाँ उसी समय की मिलती हैं[२]।"

---

(१) शैव मत, पृष्ठ १५३

(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२२

शिव और शैव धर्म का महत्त्व—शैव धर्म के उपास्य देव भगवान् शिव के विविध नाम-रूपों के विकास की परंपरा का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है[१]। इस काल में पुराणों ने उनके नाम-रूपों का और भी अधिक विस्तार कर दिया था। स्कंद पुराण के शिवरहस्य खंडातंर्गत संभव कांड के अनुसार १८ पुराणों मे से शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन और ब्रह्मांड नामक १० पुराण शिव की महत्ता के ही सूचक हैं।

पुराणों के अनुसार भगवान् शिव निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प और अगम होने के साथ ही साथ सगुण, साकार, सविकल्प और बुद्धिगम्य भी हैं। वे स्वयं दिगंवर और श्मशानवासी है, किंतु अपने भक्तों को समस्त ऐश्वर्य एवं त्रैलोक्य का अधिकार प्रदान करते है। वे अर्धनारीश्वर होते हुए भी योगिराज और कामजयी है, तथा तीनों कालों के ज्ञाता-सर्वज्ञ होने से 'त्रिनेत्र' हैं। वे विष-पान कर जगत् को उसकी ज्वाला से बचाते हैं। संसार के त्रैतापों से भक्तों की रक्षा करने हेतु वे त्रिशूल धारण करते है तथा जीवन की क्षण-भंगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता का बोध कराने के लिए वे मुंड-माल पहिनते हैं। उनके कल्याणकारी रूप की संगति उनके वाहन बैल से होती है। बैल एक ऐसा पशु है, जो मानवों को सुख-सुविधा और समृद्धि के साधन जुटा कर उनका अनेक प्रकार से हित करता है। भगवान् शिव-शंकर को विविध धर्मो और आगमादि तंत्रों के प्रवर्त्तक एवं आदि उपदेष्टा माना गया है। उन्हें समस्त विद्याओं और कलाओं के प्राकट्यकर्त्ता एवं आद्याचार्य भी कहा गया है। उनके डमरू-नाद से संगीत की तथा तांडव-लास्य से नृत्य की उत्पत्ति मानी गई है, जिसके लिए उनके 'नटराज' नाम-रूप की प्रसिद्धि है। उनके द्वारा प्रवर्तित माहेश्वर सूत्र व्याकरण विद्या के मूल तत्व माने जाते हैं। इस प्रकार पुराणों ने शिव को सर्वाधिक समर्थ, परम कल्याणकारी और देवाधिपति महादेव का रूप प्रदान किया था, जिससे इस काल में शैव धर्म का महत्व भी बहुत बढ़ गया था।

शैव धर्म का वास्तविक रूप पुराणों की देन है, यह मानने में कोई अयुक्ति नहीं है। पुराणों में ही इस धर्म के प्रमुख सिद्धांत, इसके विधि-विधान, इसकी उपासना, व्रतचर्या और सेवा-पूजा आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। पुराणों द्वारा प्रचारित शैव धर्म ने इस देश की उपासना, कला और संस्कृति को तथा यहाँ के साहित्य और जन-जीवन को अत्यंत प्रभावित किया है। इसीलिए भारतीयों के अतिरिक्त अनेक विदेशी जातियाँ भी शैव धर्म के प्रति आकृष्ट हुई थीं। ऐसी जातियों में शक, कुषाण और हूणों की शैव भक्ति के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं।

शैवागम—शैव धर्म के सिद्धांत ग्रंथ 'आगम' कहलाते है। आरंभिक शैवागमों की रचना पौराणिक काल में उत्तर भारत मे हुई थी, जिसकी भाषा संस्कृत थी। बाद में उनका दक्षिण भारत मे विशेष रूप से प्रचार हुआ था; जहाँ वे संस्कृत के साथ ही साथ तमिल भाषा में भी रचे गये थे। तत्कालीन दाक्षिणात्य शैव संत 'तिरुमूलर' कृत शैवागम अत्यंत प्रामाणिक माने जाते हे।

शिव के साथ विष्णु की एकता—पुराणों ने जहाँ शिव के महत्त्व को बढ़ाया था, वहाँ विष्णु की महत्ता का भी व्यापक प्रचार किया था। पौराणिक काल के देवताओं में धार्मिक गौरव की दृष्टि से शिव की तुलना केवल विष्णु से की जा सकती है। सभी बड़े पुराण या तो शिवपरक है, या

---

(१) इस खंड के पृष्ठ ६५-६६ देखिये।

विष्णुपरक । उनके द्वारा एक बड़े महत्व का कार्य यह भी किया गया कि उन्होंने उन दोनों प्रमुख देवताओं की गौरव–वृद्धि के साथ ही साथ उनकी एकता और अभिन्नता का भी प्रतिपादन किया था । वायु पुराण जैसे शैव पुराण में विष्णु को शिव से, तथा विष्णु पुराण जैसे वैष्णव पुराण में शिव को विष्णु से अभिन्न वतलाया गया है । उसी प्रकार मत्स्य, ब्रह्म, बराह आदि पुराणों में दोनों को एक–दूसरे का अंगीभूत माना गया है । शिव और विष्णु के उस ऐक्य और तादात्म्य के कारण कालांतर में 'पौराणिक धर्म' के रूप में भारतीय धर्म–साधना का एक अत्यंत शक्तिशाली स्वरूप प्रकाश में आया था, जिसके 'शैव धर्म' और 'वैष्णव धर्म' दो प्रधान अंग हो गये थे । वस्तुतः ये दोनों स्वतंत्र 'धर्म' न रह कर एक ही महान् धर्म के दो 'संप्रदाय' बन गये थे ।

हूणों के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अंतिम काल में जब सं० ५८० के लगभग मिहिरकुल के नेतृत्व में विदेशी हूणों ने मथुरा राज्य पर आक्रमण किया था, तब अन्य धर्म–संप्रदायों के मंदिर–देवालयों की भाँति शैव धर्मस्थानों के क्षतिग्रस्त होने का उल्लेख नहीं मिलता है । ऐसा ज्ञात होता है, कुषाणों की भाँति हूणों का भी शैव धर्म के प्रति विरोधी दृष्टिकोण नहीं था । लूट–मार करने के पश्चात् जब विदेशी हूण यहाँ पर स्थायी रूप से बस गये, तब उनमें से अधिकांश ने शैव धर्म स्वीकार कर लिया था । हूण सरदार मिहिरकुल को पराजित करने वाला मंडसर (मालवा) का शासक वीरवर यशोधर्मन भी शैव धर्म का अनुयायी ज्ञात होता है । सं० ५८७ के जिस मंडसर–शिलालेख में यशोधर्मन की उक्त विजय का उल्लेख हुआ है, उसमें भगवान् शिव के उग्र और सौम्य रूपों की स्तुति की गई है । उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि उस काल में शैव धर्म अत्यंत लोकप्रिय हो गया था ।

६. शाक्त धर्म

शक काल से गुप्त काल (वि.पू.सं० ४३ से विक्रमपश्चात् सं० ६००) तक की स्थिति—भारत के धार्मिक क्षेत्र में 'शक्तिमान' के साथ 'शक्ति' का महत्व प्राचीन काल में ही मान लिया गया था; किंतु शक्ति के स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास पौराणिक युग में हुआ । तभी शाक्त धर्म स्पष्ट और व्यवस्थित रूप से प्रकाश में आया था । 'मार्कंडेय पुराण' और 'देवी भागवत' शाक्त धर्म से संबंधित महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं । मार्कंडेय पुराण के 'चंडी चरित्' में आद्याशक्ति भगवती महामाया को सभी देवताओं का ऐसा सम्मिलित 'तेज' वतलाया है, जो महाशक्ति सम्पन्न दिव्य नारी का रूप धारण कर देवताओ का कार्य सिद्ध करता है । 'देवी भागवत' में आद्याशक्ति के विराट स्वरूप का वर्णन है । इन ग्रंथों से शाक्त धर्म के तत्व दर्शन का भी वोध होता है ।

कुषाण काल से गुप्त काल (सं० ६७–सं० ६००) तक के प्रायः पाँच सौ वर्ष के काल में मथुरा राज्य में बनी हुई देवियों की वहुसंख्यक पाषाण मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं । इनसे ज्ञात होता है कि उस काल में यहाँ पर शक्तिवाद का कुछ अधिक प्रचार हो गया था । उस समय सरस्वती, अंबिका, महाविद्या, चामुंडा, कंकाली, महिषमर्दिनी, दुर्गा आदि देवियों की उपासना-पूजा यहाँ पर होती थी । उसी काल में निर्मित एकानंशा की कुछ खंडित प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं; जिनसे ज्ञात होता है कि तब उस देवी की उपासना भी यहाँ पर प्रचलित थी । एकानंशा नंदपत्नी यशोदा के गर्भ से उत्पन्न

भगवती योगमाया का नाम था, जो कृष्ण–वलराम की भगिनी थी। उसका उपाख्यान महाभारत, हरिवंश और गुप्तकालीन रचना वृहत्संहिता आदि ग्रंथों में मिलता है[1]।

मथुरा संग्रहालयाध्यक्ष डा० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ने एकानंशा के स्वरूप और उसकी उपलब्ध प्रतिमाओं पर प्रकाश डाला है[2]। उनका कथन है, उक्त देवी की उपासना सौम्य और उग्र दोनों रूपों में होती थी, जिनके कारण उसके अनेक नाम, जैसे आर्या, ब्रह्मचारिणी, विन्ध्यवासिनी, भद्रकाली, सुरा, सहस्रनयना, किराती आदि मिलते हैं। उसकी उपलब्ध मूर्तियों में उसका सौम्य रूप दिखलाई देता है। इनमें देवी की आकृति अभय मुद्रा की है, जिसके एक ओर वासुदेव और दूसरी ओर वलराम हैं। मथुरा संग्रहालय की तीन मूर्तियों में दो (यू. ४५ और १५–६१२) कुषाण काल की तथा एक (यू. ६८) मध्य काल की हैं, जो सभी खंडित हैं। एक अन्य मूर्ति मथुरा निवासी पं० गोविंदचरण के संग्रह में है, जो अपेक्षाकृत ठीक स्थिति में है। उसका निम्न भाग जीर्ण हो गया है, किंतु ऊपरी भाग में एकानंशा और वासुदेव–वलराम की आकृतियाँ स्पष्टतया दिखलाई देती हैं।

कृष्ण–वलराम की भगिनी होने के कारण एकानंशा की उपासना–पूजा का प्रचार मथुरा-मंडल में होना स्वाभाविक था। किंतु कुषाण काल से गुप्त काल तक उसकी उपासना–पूजा दिखलाई देती है; तदुपरांत वह धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। वर्तमान काल में तो उसका नाम तक अज्ञात हो गया है, जब कि अन्य देवियों के नाम और उनकी उपासना–पूजा का यहाँ पर बराबर प्रचलन रहा है। उसके उग्र रूप की मूर्तियों का मथुरामंडल से अभी तक न मिलना भी विचारणीय विषय है।

शैव धर्म के साथ संबंध—शाक्त धर्म का शैव धर्म के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। शाक्तों की आराध्या 'देवी' शैव धर्म के उपास्य भगवान् शिव की पत्नी ही नहीं, उनकी 'शक्ति' भी है। शिव की शक्ति और सहचरी होने के कारण देवी की उपासना शैव धर्म में भी प्रचलित रही है, किंतु उसका विशेष महत्व शाक्त धर्म में ही मान्य है। शैव धर्म में शिव और शक्ति के सम्मिलित रूप की भी कल्पना की गई है, जिसके फलस्वरूप शिव के 'अर्धनारीश्वर' रूप को मान्यता प्राप्त हुई। पुराणों में शिव और शक्ति के तादाम्य जनित इस रूप का उल्लेख मिलता है। भारतीय कला में शिव के अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियाँ अपना विशिष्ट महत्व रखती हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ व्रज के विभिन्न स्थानों से भी उपलब्ध हुई है, जो मथुरा के संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

७. नाग देवता की लोकोपासना

मथुरामंडल के प्राचीनतम लोक देवताओं में नागों की उपासना–पूजा की परंपरा का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। वह परंपरा इस काल में भी बनी रही; किंतु कुषाण काल से नाग काल (सं० ९७–सं० ४००) तक उसका विशेष रूप से प्रचलन रहा था। कुषाण सम्राट हुविष्क

---

(१) १. महाभारत (गीता प्रेस) सभा पर्व, अध्याय ३८
२. हरिवंश (गीता प्रेस), ४–४६, ४७
३. वृहत्संहिता, ५७–३७

(२) मथुराकलायां एकानंशा प्रतिमा (विश्व-संस्कृतम्, ४–२), पृष्ठ १३१–१३४

भगवान् शिव

महिषमर्दिनी दुर्गा
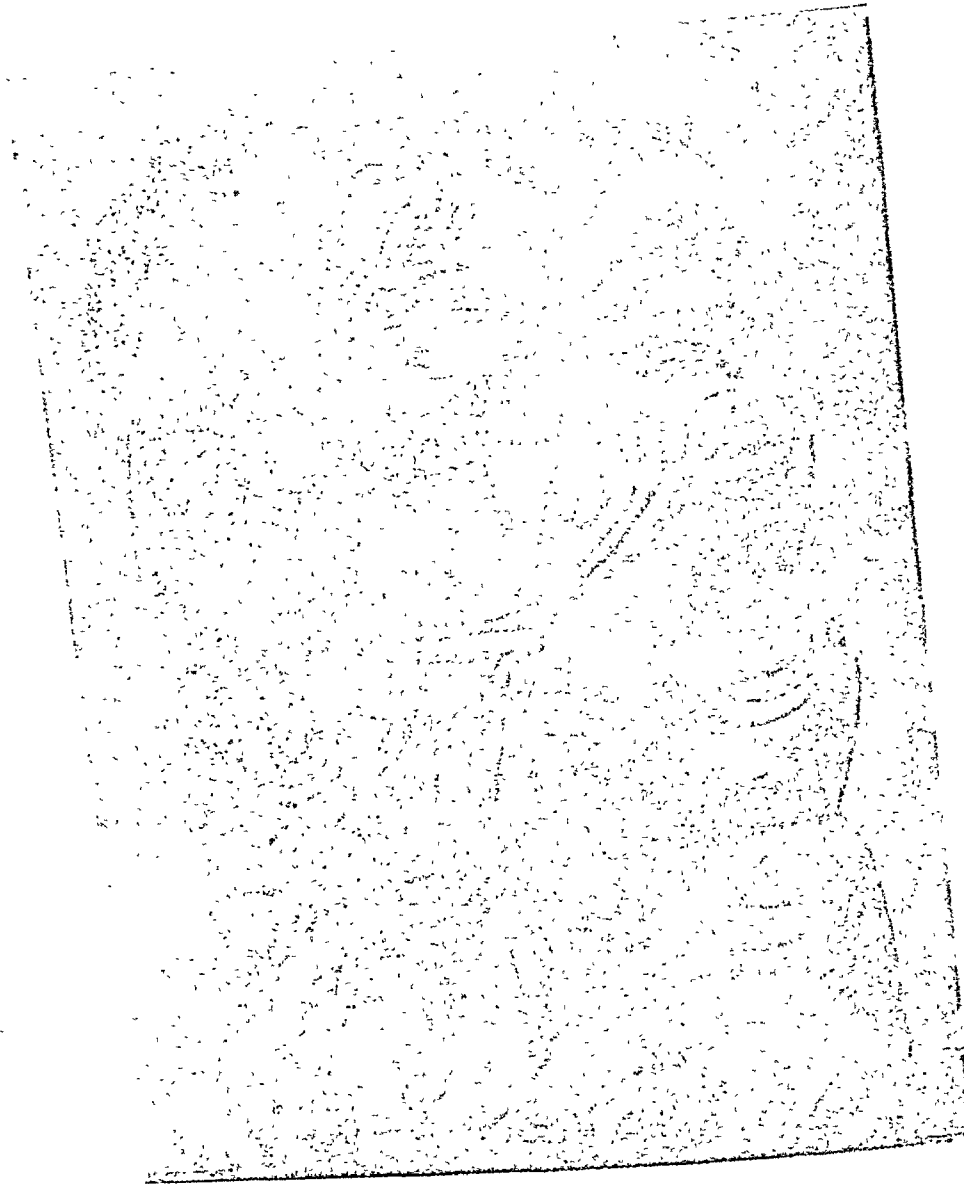
दधिकर्ण नाग

के शासन काल (सं० १६३–सं० १६५) में मथुरा में एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया गया था, जो उसके नाम पर 'हुविष्क विहार' कहा जाता था। वह विहार मथुरा की वर्तमान कलक्ट्री कचहरी के निकट बनाया गया था। जब कचहरी की नीव खोदी गई और उसके साथ ही वहाँ के जमालपुर टीला की खुदाई हुई, तब पुरातात्विक महत्त्व की प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई थी। उस सामग्री से ज्ञात हुआ कि हुविष्क विहार से पहिले वहाँ पर 'दधिकर्ण नाग' का एक मंदिर था। कुछ विद्वानों का मत है, उस प्राचीन नाग–मंदिर के स्थान पर ही कालांतर में 'हुविष्क विहार' बनवाया गया था। अन्य विद्वानों का कथन है, हुविष्क विहार के साथ ही साथ वहाँ पर दधिकर्ण नाग का मंदिर भी रहा होगा। उस काल की धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्ध और नागोपासक दोनों के देवालयों तथा उपासना–गृहों का साथ-साथ होना सर्वथा संभव है। इससे सिद्ध होता है कि वह नाग-मंदिर हुविष्क के शासन काल से कुछ पहिले ही बनाया गया था।

मथुरा जिला के छड़गाँव नामक स्थान से नाग देवता की एक महत्वपूर्ण मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसकी प्रतिष्ठा हुविष्क के राज्यारोहण काल से ४० वर्ष पश्चात् अर्थात् सं० २०३ में हुई थी। उस मूर्ति पर अंकित अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसे हस्तिन और मोणक नामक दो नागपूजक मित्रों ने नाग देवता की प्रसन्नता के लिए वहाँ के नाग ताल पर प्रतिष्ठित किया था[1]। वह महत्वपूर्ण नाग मूर्ति (सी १३) और पूर्वोक्त दधिकर्ण नाग की मूर्ति (सं० १६१०) मथुरा संग्रहालय में हैं। उनके अतिरिक्त वहाँ कुषाण काल से गुप्त काल तक की अनेक नाग मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें भूमिनाग की मूर्ति (सं० २११) उल्लेखनीय है। मथुरा जिला के परखम गाँव में नागिनि की एक प्राचीन मूर्ति नाग–देवी मनसा के नाम से पूजी जाती है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार मनसा नागराज वासुकि की बहिन थी। ब्रज के लोक जीवन में उसकी पूजा का बड़ा प्रचार रहा है।

कुषाण सम्राटों के पश्चात् मथुरामंडल में नाग जाति के राजाओं का शासन (सं० २३३ से सं० ४०० तक) रहा था। वे राजा शैव धर्मवलंबी थे और उनकी नाग-पूजा के प्रति भी आस्था थी। उस काल में मथुरामंडल में नाग-पूजा का और भी अधिक प्रचार हुआ था। उस समय नाग देवी–देवताओं की अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ और उनके पूजन के लिए नाग–मंदिर बनवाये गये थे। नाग राजाओं के पश्चात् गुप्त सम्राटों के शासन काल में भी नागोपासना प्रचुरता से प्रचलित थी।

वर्तमान काल में नाग-पूजा का उतना महत्व नहीं रहा, जितना कि प्राचीन काल में था; किंतु फिर भी वह यक्ष-पूजा की भाँति समाप्त भी नहीं हुई है। इस समय वह ब्रज की लोक-पूजा का एक अंग बनी हुई है। श्रावण शु० ५ को ब्रज की नारियाँ 'नागपंचमी' का त्यौहार मनाती हैं। उस दिन घरों की भीत पर कोयले के घोल से सर्पो के चिन्ह बनाये जाते हे। स्त्रियाँ उनकी पूजा करती हैं और नाग देवता की कहानियाँ कहती हैं; जिनमें नागों की अलौकिक शक्ति का बखान किया जाता है। उस दिन मथुरा के सप्तसमुद्री कूप और नाग टीला पर भी स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करने जाती हैं। वे सर्पो को दूध रखती हैं और उनकी बाँबियों की पूजा करती हैं। उस अवसर पर वे सामूहिक रूप से नाग देवता के लोक गीतों का गायन भी करती हैं।

(१) मथुरा इंस्क्रिप्संस, सं० १३७, पृष्ठ १७३–१७४

८. धार्मिक उपलब्धि

इस काल की सबसे बड़ी धार्मिक उपलब्धि पुराणों का संकलन, संपादन और वर्गीकरण किया जाना है। ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों पर पुराणों का बड़ा प्रभाव पड़ा है; अतः यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पुराण-परिचय—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, पुराणों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है; किंतु उन्हें अंतिम रूप उत्तर गुप्त काल अर्थात् ७ वीं शताब्दी तक प्राप्त हुआ था। तभी उनकी १८ संख्या निश्चित हुई थी। उसके बाद उनमें बराबर प्रक्षेप होता रहा था। इस समय जो १८ पुराण उपलब्ध हैं, उनमें प्रक्षिप्त अंश पर्याप्त रूप में मिलता है; किंतु उसे छाँट कर निकालना संभव नहीं है। 'विष्णु पुराण' में लिखा गया है, महामुनि द्वैपायन व्यास ने जो मूल 'पुराण संहिता' प्रस्तुत की थी, और जिसकी शिक्षा उन्होंने अपने शिष्य लोमहर्षण सूत[1] को दी थी, उसमें चार विषय थे,—१. आख्यान, २. उपाख्यान, ३. गाथा और ४. कल्पशुद्धि[2]। उन चारों विषयों का अभिप्राय इस प्रकार समझा जा सकता है,—१. आख्यान—स्वयं देखी हुई घटना; २. उपाख्यान—सुनी हुई घटना; ३. गाथा—पूर्व पुरुषों की कीर्ति के परंपरागत गान और ४. कल्पशुद्धि—श्राद्ध कर्म।

व्यास जी और उनकी शिष्य-परंपरा द्वारा मूल पुराण संहिता के आधार पर अनेक पुराणों की रचना की गई थी। विष्णु, ब्रह्मांड और मत्स्यादि पुराणों में 'पुराण' के पाँच लक्षण बतलाये हैं, जिनके नाम १. सर्ग, २, प्रतिसर्ग, ३. वंश, ४. मन्वन्तर और ५. वंशानुचरित लिखे गये हैं[3]। इन लक्षणों का अभिप्राय इस प्रकार समझा जाता है,—१. सर्ग—सृष्टि का विज्ञान; २. प्रतिसर्ग—सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि; ३. वंश—सृष्टि की आदिम वंशावली; ४. मन्वन्तर—सृष्टि के नियामक मनुओं का अधिकार-काल और उनके कालों की महत्वपूर्ण घटनाएँ तथा ५. वंशानुचरित—सूर्य-चंद्र वंशीय राजाओं के कुलों का वर्णन। श्रीमद् भागवत और ब्रह्मवैवर्त के अनुसार पूर्वोक्त पाँच लक्षण वाले पुराण 'अल्प पुराण' कहलाते हैं; जब कि श्रीमद् भागवत जैसे 'महापुराण' के दस लक्षण बतलाये गये होते हैं,—१. सर्ग, २. विसर्ग, ३. स्थान, ४. पोषण, ५. ऊति, ६. मन्वन्तर, ७. ईशानुकथा, ८. निरोध, ९. मुक्ति और १०. आश्रय।

पुराण १८ हैं, किंतु उनके नाम और क्रम के संबंध में मतभेद है। सबसे पुराना ब्रह्म पुराण कहा जाता है। अंतिम पुराण कौन सा है, इसके विषय में मतैक्य नहीं है। अंतःसाक्ष्य के अनुसार भागवत अथवा नारद पुराण अंतिम पुराण हैं, किंतु भविष्य और ब्रह्मवैवर्त में इतना अधिक प्रक्षेप हुआ है कि उन्हें ही अंतिम पुराण मानना उचित होगा। आकार की दृष्टि से स्कंद पुराण और पद्मपुराण सबसे बड़े हैं और मार्कंडेय पुराण सबसे छोटा है।

भागवत, विष्णु, नारद आदि कई पुराणों में १८ पुराणों के नाम और क्रम, तथा उनकी श्लोक-संख्या और विषय-सूची का उल्लेख किया गया है, जिनमें एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता है। साधारणतया समस्त पुराणों की श्लोक-संख्या ४ लाख मानी गई है। आगामी पृष्ठ में १८ पुराणों के क्रमानुसार नाम और उनकी श्लोक-संख्या का उल्लेख विष्णु पुराण के अनुसार किया गया है।

(१) प्राचीन भारत में जो व्यक्ति इतिहास-पुराणों की कथा कहने और राजाओं के रथों को हांकने का कार्य करते थे, उन्हें 'सूत' कहा जाता था।

(२) विष्णु पुराण (भाग ३), अध्याय ६, श्लोक १६
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

द्वितीय अध्याय

प्राचीन काल

[विक्रमपूर्व सं. ५६६ से विक्रमपूर्व सं. ४३ तक]

सं०	नाम	श्लोक संख्या	सं०	नाम	श्लोक संख्या
१.	ब्रह्म पुराण	१०,०००	१०.	ब्रह्मवैवर्त पुराण	१८,०००
२.	पद्म पुराण	५५,०००	११.	लिंग पुराण	११,०००
३.	विष्णु पुराण	२३,०००	१२.	वराह पुराण	२४,०००
४.	शिव पुराण	२४,०००	१३.	स्कंद पुराण	८१,०००
५.	भागवत पुराण	१८,०००	१४.	वामन पुराण	१०,०००
६.	नारद पुराण	२५,०००	१५.	कूर्म पुराण	१७.०००
७.	मार्कंडेय पुराण	६,५००	१६.	मत्स्य पुराण	१४,०००
८.	अग्नि पुराण	१०,५००	१७.	गरुड़ पुराण	१६,०००
६.	भविष्य पुराण	१४,५००	१८.	ब्रह्मांड पुराण	१२,०००

उपर्युक्त १८ पुराणों के विषयों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है,—

१. ब्रह्म पुराण—यह सबसे प्राचीन पुराण माना जाता है। इसमें २४५ अध्याय हैं और इसकी श्लोक संख्या १० हजार है। कुछ पुराणों के मतानुसार इसमें १३ हजार श्लोक हैं। साधारणतया इसे ब्रह्मा की महत्ता सूचक पुराण माना जाता है, किंतु अंतिम अध्याय के २० वें श्लोक में इसे वैष्णव पुराण कहा गया है। वैसे भी इसमें विष्णु के अवतारों की कथाएँ ही अधिकता से वर्णित हैं। इसमें जगन्नाथ जी का माहात्म्य है तथा वासुदेव-महिमा का भी कथन किया गया है। इसके १८० वें अध्याय से २१२ वें अध्याय तक अर्थात् ३४ अध्यायों में कृष्ण—चरित्र का विस्तार पूर्वक वर्णन है; अतः इसे ब्राह्म पुराण की अपेक्षा वैष्णव पुराण ही कहना सर्वथा उचित है। सूर्य की महिमा और सांख्य योग की विस्तृत समीक्षा इस पुराण की विशेषता है।

२. पद्म पुराण—यह बहुत बड़ा अर्थात् ५५ हजार श्लोकों का विशालकाय महापुराण है। इसमें सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल और उत्तर नामक पाँच बड़े—बड़े खंड हैं। इसे भी ब्रह्मा की महिमा का पुराण बतलाया गया है; किंतु वास्तव में इसे वैष्णव पुराण कहना उचित होगा। इसमें विष्णु के विविध अवतारों की कथाओं के अतिरिक्त पाताल खंड के ६८ अध्यायों में रामावतार की कथा का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय में ६९ से लेकर ८३ तक के अध्यायों में कृष्ण—चरित्र भी लिखा गया है, जिसमें मथुरा—वृंदावन का भी विस्तृत वर्णन है। फिर अंतिम उत्तर खंड के २७२ वें अध्याय से २७९ वें अध्यायों में भी कृष्ण—चरित का उल्लेख है। २८० वें अध्याय में वैष्णवाचार का, २८१ वें अध्याय में पार्वती कृत विष्णु की पूजा का तथा अंतिम २८२वें अध्याय में विष्णु का सर्वाधिक कथन करते हुए विष्णु पूजा का माहात्म्य बतलाया है। इसकी अंतर कथाओं में विविध तीर्थों, मासों और तिथियों के माहात्म्यों के अतिरिक्त बहुसंख्यक उपाख्यानादि हैं, जिनमें भागवत माहात्म्य, यमुना माहात्म्य, विष्णु सहस्रनाम और वृंदावन माहात्म्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

३. विष्णु पुराण—उसमें ६ अंश और २३ हजार श्लोक हैं। यह कृष्ण—चरित का सबसे प्राचीन पुराण है, जिसके ५ वें अंश के ३८ अध्यायों में इसका कथन किया गया है। चौथे अंश के कतिपय अध्यायों में यादवों के विविध वंशों के साथ भी कृष्ण—चरित्र के दो—एक प्रसंगों का संक्षिप्त उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कृष्ण—तत्व और वैष्णव दर्शन के साथ ही साथ साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्व श्रीमद् भागवत के पश्चात् अन्य पुराणों से अधिक है।

४. **शिव पुराण अथवा वायु पुराण**—विष्णु पुराणोक्त १८ पुराणों की सूची में चौथा नाम शिवपुराण का है। नारदादि पुराणों में इसके स्थान पर वायु पुराण का नामोल्लेख हुआ है और शिव पुराण को माहेश्वर पुराण के नाम से उपपुराणों में गिना गया है। प्रायः ऐसी भी मान्यता है कि शिव पुराण और वायु पुराण दोनों नाम एक ही पुराण के हैं। बंगला विश्वकोश-कार का यही मत है। इसके विरुद्ध आनंदाश्रम से जो वायु पुराण प्रकाशित हुआ है, वह शिव पुराण से सर्वथा भिन्न है। इससे स्पष्ट होता है कि वायु पुराण और शिव पुराण अलग-अलग पुराण हैं। अन्य पुराणों में शिव पुराण की श्लोक संख्या २४ हजार दी हुई है और यही संख्या वायु पुराण की भी है, परंतु आनंदाश्रम के वायु पुराण की श्लोक संख्या १०९९१ है। भगवान् शंकर के चरित, उन्हीं के संबंध के उपाख्यान और कथानक शिवपुराण की विशेषताएँ हैं, परंतु इस वायु पुराण की नहीं[1]। फिर भी यह शैव पुराण है। इसमें चार खंड अर्थात् 'पाद' हैं, जिनके नाम १. प्रक्रिया, २. अनुषंग, ३. उपोद्घात और ४. उपसंहार हैं। भूगोल, खगोल और पशुपति की पूजा से संबंधित 'पाशुपत योग' का विस्तृत वर्णन इस पुराण की अन्य विशेषताएँ हैं।

५. **भागवत पुराण**—इस नाम के दो पुराण हैं,—१. विष्णु भागवत अर्थात् श्रीमद् भागवत और देवी भागवत। दोनों में १२-१२ स्कंध और १८-१८ हजार श्लोक हैं। श्रीमद् भागवत वैष्णव पुराण है और देवी भागवत शाक्त पुराण। विष्णु पुराणादि में जहाँ १८ पुराणों की नामावली है, वहाँ केवल 'भागवत' नाम लिखा गया है। उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह श्रीमद् भागवत है अथवा देवी भागवत। नारद, पद्म और मत्स्य पुराणों में भागवत पुराण के जितने लक्षण लिखे गये हैं, वे सब श्रीमद् भागवत में मिलते हैं, अतः वही महापुराण है; जब कि देवी भागवत पृथक् पौराणिक रचना है। केवल शिवपुराण में ही देवी भागवत को महापुराण बतलाया गया है, जो सांप्रदायिक आग्रह वश लिखा हुआ जान पड़ता है।

श्रीमद् भागवत सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त महापुराण है। वैष्णव संप्रदायों के प्रसार में इसका अनुपम योग रहा है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र की प्रस्थानत्रयी का महत्व वैष्णव धर्म में सर्वमान्य है; किंतु भागवत के बिना उनकी सफलता अधूरी मानी गई है। उन तीनों के साथ श्रीमद् भागवत को सम्मिलित कर 'प्रस्थान चतुष्टय' के रूप में ये चारों ही वैष्णव धर्म के प्रधान आधार-स्तंभ माने गये हैं। श्रीमद् भागवत की महिमा सूचक इसके माहात्म्य की वह अनुश्रुति प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि वेदों का विभाग, महाभारत तथा गीता, ब्रह्मसूत्र और कई पुराणों की रचना करने पर भी जब व्यास जी के हृदय को शांति प्राप्त नहीं हुई, तब नारद जी के परामर्श से उन्होंने श्रीमद् भागवत को रच कर पूर्ण शांति का अनुभव किया था।

इस महापुराण की भाषा ललित और भाव गूढ़ हैं। इसके यथार्थ मर्म को समझना हरेक के वश की बात नहीं है; इसीलिए इस पर अनेक भाष्यों एवं टीका-टिप्पणियों की रचना हुई है। श्रीमद् वल्लभाचार्य ने इसके गूढ़ार्थ की व्यंजक भाषा को 'समाधि भाषा' कहा है। उन्होंने इसके कतिपय स्कंधों के अर्थ-बोध के लिए 'सुबोधिनी' नामक विख्यात टीका भी की थी।

विविध धर्माचार्यों ने अपने-अपने संप्रदायों के भक्ति-सिद्धांतों के समर्थन में श्रीमद् भागवत पर अनेक टीकाएँ की हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं,—

---

(१) हिंदुत्व, पृष्ठ २४१

१—श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ दीपिका'—श्री शंकराचार्य के 'अद्वैत' मतानुसार।
२—सुदर्शन सूरि कृत 'शुकपक्षीया'—श्री रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' मतानुसार।
३—वीर राघवाचार्य कृत 'वीर राघवी'—'भागवत चंद्रिका'—
श्री रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' मतानुसार।
४—विजयध्वज कृत 'पद रत्नावली'—श्री मध्वाचार्य के 'द्वैत' मतानुसार।
५—शुकदेवाचार्य कृत 'सिद्धांत-प्रदीप'—श्री निंबार्काचार्य के 'द्वैताद्वैत' मतानुसार।
६—वल्लभाचार्य कृत 'सुबोधिनी'—श्री विष्णुस्वामी के 'शुद्धाद्वैत' मतानुसार।
७—जीव गोस्वामी कृत 'क्रम संदर्भ'—श्री चैतन्य देव के 'माधवगौड़ेश्वर'—
'अचिन्त्य-भेदाभेद' मतानुसार।
८—विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'सारार्थदर्शिनी'—'अचिन्त्य भेदाभेद' मतानुसार।

उपर्युक्त आठों टीकाओं का एकत्र प्रकाशन श्री नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा वृन्दावन से सं० १९५८ में किया गया था। भागवत का वह सुंदर संस्करण अब दुर्लभ हो गया है[1]। इनमें श्रीधर स्वामी की टीका सर्वोत्तम और प्राचीनतम मानी जाती है, जो ११वीं शती में निर्मित हुई थी। श्री चैतन्यदेव की उसके प्रति अनन्य निष्ठा थी, और वे उसे अपने मत के लिए भी प्रामाण्य मानते थे। यह टीका सबसे अधिक लोकप्रिय है।

श्रीकृष्ण-लीलाओं के कथन के लिए तो श्रीमद् भागवत का दशम स्कंध अनुपम और अपरिहार्य है। उससे प्रेरणा प्राप्त कर सैकड़ों कवियों ने श्रीकृष्ण संबंधी अपनी सहस्रों रचनाएँ की हैं। इस पुराण की महत्ता का एक बड़ा कारण श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान ही है, जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है,—"पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद् भागवतं परम्। यत्र प्रतिपदं कृष्णो, गीयते बहुदर्शिभिः॥"

स्वामी दयानंद जी जैसे विख्यात विद्वान ने श्रीमद् भागवत की प्राचीनता स्वीकार न कर इसे वोपदेव की रचना बतलाया है! वोपदेव १४वीं शताब्दी के एक वैष्णव भक्त-कवि थे। उन्होंने अपने दो ग्रंथ 'हरिलीला' और 'मुक्ताफल' श्रीमद् भागवत के आधार पर रचे थे; किंतु स्वयं भागवत उनसे कई सौ वर्ष पहिले ही निर्मित हो चुकी थी। अधिकांश विद्वानों के मतानुसार श्रीमद् भागवत की रचना छठी शताब्दी के लगभग हुई थी।

६. नारद पुराण—इसमें पूर्व और उत्तर नामक दो खंड हैं, जिनके अध्यायों की संख्या क्रमशः १२५ और ८२ है। इसकी श्लोक संख्या २५ हजार है, अतः यह भी बहुत बड़ा पुराण है। इसमें विविध महीनों एवं तिथियों के व्रतों तथा तीर्थों के माहात्म्यों की भरमार है। वैष्णव पुराण होते हुए भी इसमें कृष्ण-चरित्र का अत्यंत संक्षिप्त कथन किया गया है। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समस्त पुराणों की संक्षिप्त सूचियाँ दी गई है, जो पूर्वार्ध खंड के ९२ वें अध्याय से १०९ वें अध्याय तक है। इन सूचियों के कारण समस्त पुराणों के प्राचीन स्वरूप का बोध होता है, और यह भी पता लग जाता है कि इनमें कितना अंश बाद का बढ़ाया हुआ है। समस्त पुराणों की सूचियों से यह सरलता पूर्वक समझा जा सकता है कि नारद पुराण अंतिम पुराण है, अथवा यह सूचियों वाला अंश इसमें बहुत बाद में बढ़ाया गया है।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ १६१

७. मार्कंडेय पुराण—यह साढ़े ६ हजार श्लोकों का सबसे छोटा पुराण है, किंतु इसकी उपलब्ध प्रति में उतने श्लोक भी नहीं हैं। इसे शैव पुराण कहा जाता है, किंतु इसमें किसी संप्रदाय विशेष का प्रभाव लक्षित नहीं होता है। इसके उपाख्यानों में प्राचीन काल की ब्रह्मवादिनी विदुषी मदालसा का चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका एक अंश 'दुर्गा सप्तशती' कहलाता है, जिसका उल्लेख इसके ७८ वें अध्याय से ९० वें अध्याय तक हुआ है। इसके उपलब्ध संस्करणों में कृष्ण-चरित्र नहीं है, किंतु इसके छूटे हुए अंश में उसके होने का उल्लेख मिलता है। इस पुराण का प्रचलित संस्करण अपूर्ण है।

८. अग्नि पुराण—इसमें ३८३ अध्याय हैं और इसकी श्लोक संख्या साढ़े १० हजार है। इस में रामायण, महाभारत और हरिवंश का सार तथा विविध अवतारों का वर्णन है। देवालयों और देव-प्रतिमों की प्रतिष्ठा, देवपूजन विधि, तीर्थों के माहात्म्य और तिथियों के व्रतादि का उल्लेख करने के अनंतर इसमें विविध शास्त्रों, अनेक विद्याओं और कलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। धर्म शास्त्र, मंत्र शास्त्र, राजधर्म, राजनीति, रत्न परीक्षा, वास्तु विद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, पशु चिकित्सा, ज्योतिष, छंद शास्त्र, काव्य, नाटक, अलंकार, व्याकरण, योग शास्त्र, ब्रह्मज्ञान आदि अनेक विषयों का इसमें समावेश है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के अनेक अंगों का वर्णन होने के कारण इसे विश्वकोश भी कहा जा सकता है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण पुराण है।

९. भविष्य पुराण—प्राचीन मान्यता के अनुसार इसे प्रायः साढ़े १४ हजार श्लोकों का माना जाता है; किंतु इस समय इसके जो संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें किसी में भी इतने श्लोक नहीं हैं। इनसे समझा जा सकता है कि मूल भविष्य पुराण किसी कारण से अप्राप्य हो गया है और उसके स्थान पर कई प्रक्षिप्त संस्करण चल पड़े हैं। नारद पुराण में इसकी जो सूची दी गई है, उसका मेल किसी भी वर्तमान संस्करण से नहीं होता है। इसके पूर्वार्ध में कृष्ण-पुत्र साम्ब द्वारा शाकद्वीपी मग ब्राह्मणों के भारतवर्ष में लाये जाने का वर्णन है। इससे पारसियों के भारत में आने का संकेत मिलता है। इसे शैव पुराण माना जाता है, किंतु इसमें सूर्य की महिमा विशेष रूप से वर्णित है। इसके उत्तरार्ध में अनेक पुण्य तिथियों के माहात्म्यों और व्रतों का कथन हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी ने इसी भाग से 'श्री महालक्ष्मी व्रत कथा' को संकलित किया था, जिसके आधार पर उन्होंने अग्रवाल वैश्यों की उत्पत्ति लिखी थी। इस समय जो मुद्रित संस्करण मिलता है, उसमें वह प्रसंग नहीं दिया गया है।

१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण—इसके पूर्वार्ध में ब्रह्म, प्रकृति और गणपति नामक तीन खंड हैं, तथा इसके उत्तरार्ध के दो खंडों में श्रीकृष्ण चरित्र है। इसकी श्लोक संख्या १८ हजार है। स्कंद पुराण के अनुसार यह सूर्य की महिमा का तथा मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मा की प्रधानता का पुराण है; किंतु इसमें वर्णित विषयों को देखते हुए यह वैष्णव पुराण कहा जाना चाहिए। धर्मोपासना में राधा की महत्ता का उल्लेख सबसे पहिले इसी पुराण में हुआ है। इसी के द्वारा राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की उपासना का प्रचार हुआ जान पड़ता है। इसके पूर्वार्ध के तीनों खंडों में क्रमशः गोलोकस्थित भगवान् श्री कृष्ण और भगवती राधा जी तथा गणेश की कथाओं का वर्णन है। इसके उत्तरार्ध में श्री राधा-कृष्ण की लीलाओं का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। इस पुराण के दाक्षिणात्य और गौड़ीय नामक दो पाठ और कई संस्करण मिलते हैं। इस प्रकार इसमें प्रक्षिप्त अंश प्रचुर परिमाण में बढ़ाया हुआ जान पड़ता है।

११. लिंग पुराण—यह ११ हजार श्लोकों का शैव पुराण है। इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध नामक दो खंड हैं, जिनमें क्रमशः १०८ और ५५ अध्याय हैं। इसमें शिव के २८ अवतारों, शैव व्रतों और शैव तीर्थों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार शिव-तत्व का विस्तृत वर्णन होने से यह पुराण अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इसके पूर्वार्ध के अध्याय ६८, ६९ तथा १०८ में यादव वंश और कृष्णावतार का भी संक्षिप्त कथन है।

१२. वराह पुराण—प्राचीन मान्यता के अनुसार इसे २४ हजार श्लोकों का बड़ा पुराण कहा जाता है; किंतु इसके उपलब्ध संस्करण में १० हजार से कुछ अधिक श्लोक और २१८ अध्याय ही मिलते हैं। इस प्रकार इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त नहीं है। यह शैव पुराण है। इसमें कृष्ण-चरित्र का कथन तो नहीं है, किंतु इसके 'मथुरा माहात्म्य' में मथुरामंडल के समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह मथुरा से संबंधित एक मात्र पुराण है।

१३. स्कंद पुराण—यह ८१ हजार श्लोकों का सबसे बड़ा पुराण है, जिसमें शिव-तत्व का कथन विशेष रूप में हुआ है। इसके अंतर्गत अनेक संहिता, खंड और माहात्म्य हैं। इसमें समस्त भारतवर्ष के सैकड़ों तीर्थों का वर्णन हुआ है, जिनके कारण यह प्राचीन भारत के भूगोल का परिचायक है। इसके तीर्थों में मथुरा का भी उल्लेख है, किंतु कृष्ण-चरित्र इसमें नहीं लिखा गया है। 'सत्यनारायण व्रत-कथा माहात्म्य' इसी के रेवा खंड का एक अंश है।

१४. वामन पुराण—इसमें १० हजार श्लोक और ९५ अध्याय हैं, जिनमें विष्णु और शिव की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। विष्णु के विविध अवतारों में वामनावतार का उल्लेख इसमें विशेष रूप से हुआ है।

१५. कूर्म पुराण—इसे १७ हजार श्लोकों का माना जाता है, किंतु इसके मुद्रित संस्करण में केवल ६ हजार श्लोक हैं। इस प्रकार यह अपूर्ण संस्करण है। प्रस्तुत संस्करण के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध नामक दो खंडों में क्रमशः ५३ और ४६ अध्याय मिलते हैं। यह शैव पुराण है। ऐसा जान पड़ता है, इसके कुछ अंश तंत्र ग्रंथों में मिला दिये गये हैं, क्यों कि नारदपुराणोक्त सूची के छूटे हुए विषय डामर, यामल आदि तंत्र ग्रंथों में ही पाये जाते हैं[1]।

१६. मत्स्य पुराण—इसमें १४ हजार श्लोक और २९० अध्याय हैं। इसे शिव की महिमा सूचक पुराण कहा जाता है। यह जिस रूप में उपलब्ध है, वह प्रायः मौलिक और प्राचीन है। अतः इसमें बहुत कम प्रक्षेप होने की संभावना है। इसके ५३ वें अध्याय में नारद पुराण की तरह समस्त पुराणों की विषयानुक्रमणी है, जिससे पुराणों के विकास-क्रम का बोध होता है।

१७. गरुड़ पुराण—यह १९ हजार श्लोकों का वैष्णव पुराण है, किंतु यह पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। इसके प्राप्त संस्करण में ११ हजार श्लोक हैं तथा इसके पूर्व और उत्तर नामक दो खंडो में क्रमशः २४३ और ४५ अध्याय हैं। इसके पूर्व खंड में रत्न परीक्षा, राजनीति, आयुर्वेद, पशु चिकित्सा, छंद शास्त्र, सांख्य-योग आदि अनेक विद्याओं का कथन अग्नि पुराण के सदृश हुआ है। इसके उत्तर खंड में मानव की मरणोपरांत अवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसके कारण हिंदुओं में श्राद्ध कर्म अथवा किसी की मृत्यु के अवसर पर इसकी कथा कराई जाती है।

---

(१) हिंदुत्व, पृष्ठ ३६२

१८. **ब्रह्मांड पुराण**—यह १२ हजार श्लोकों का शैव पुराण है। इसमें समस्त विश्व का वर्णन होने से ही इसका 'ब्रह्मांड' पुराण नाम पड़ा है। जम्बू द्वीप के साथ ही साथ अनेक 'द्वीपों' और 'वर्षों' का भौगोलिक वर्णन इसकी विशेषता है। "इसके तृतीय पाद में भारत के क्षत्रिय वंशों का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसकी उल्लेखनीय बात यह है कि ५ वीं शती में भारत के कुछ विद्वान इसकी प्रति को जावा द्वीप में ले गये थे, जहाँ की भाषा में उसका अनुवाद हुआ था, जो अब भी उपलब्ध है। इस प्रकार यह अत्यंत प्राचीन पुराण सिद्ध होता है[1]।" इसकी रामायणी कथा को 'अध्यात्म रामायण' कहा जाता है, जो प्रथक् रूप में भी मिलती है।

उप पुराण—पूर्वोक्त पुराणों के अतिरिक्त अनेक 'उप पुराण' भी है, जिनके नाम, क्रम और श्लोक-संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। 'सूत संहिता' (अध्याय १, १३-१८) के अनुसार उनकी संख्या २० है और उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार है,—१. सनत्कुमार, २. नरसिंह, ३. नान्दी, ४. शिवधर्म, ५. दुर्वासा, ६. नारदीय, ७, कपिल, ८. मानव, ९. उपनस, १०. ब्रह्मांड, ११. वरुण, १२. कालिका, १३. वसिष्ठ, १४. लिंग, १५. महेश्वर, १६. साम्ब, १७ सौर, १८. पराशर, १९. मारीच, २०. भार्गव[2]। उपर्युक्त सूची के नारद, ब्रह्मांड और लिंग उपपुराणों का उल्लेख पहिले पुराणों में भी किया जा चुका है। 'महेश्वर' उप पुराण को कुछ लोग शिव पुराण से अभिन्न मानते हैं।

पुराणों का वर्गीकरण—पुराणों ने अवतारवाद और बहुदेवोपासना का अत्यंत पुष्ट धरातल पर प्रचार किया था। उनमें अनेक देवताओं के धार्मिक महत्त्व का कथन होते हुए भी विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य को प्रमुखता दी गई है। प्रत्येक पुराण में उनमें से किसी एक देवता की प्रधानता की पुष्टि की गई है, किंतु अन्य देवताओं को भी उसके अंगीभूत मान कर स्वीकार कर लिया गया है। पूर्वोक्त पाँच प्रमुख देवताओं के अनुसार १८ पुराण भी ५ वर्गों में विभाजित किये गये है। स्कंद पुराण के शिव रहस्य खंडार्गत संभव कांड में भी पुराणों का एक वर्गीकरण दिया गया है। उसके अनुसार १० पुराणों में शिव की, ४ में विष्णु की, २ में ब्रह्मा की, १ में अग्नि की और १ में सूर्य की प्रधानता है, तथा अन्य देवों की गौणता है[3]। वह वर्गीकरण इस प्रकार है,—

१. शिव की प्रधानता के पुराण—१. शिव, २. भविष्य, ३. मार्कंडेय, ४. लिंग, ५. वराह, ६. स्कंद, ७. मत्स्य, ८. कूर्म, ९. वामन और १०. ब्रह्मांड पुराण।
२. विष्णु की प्रधानता के पुराण—१. विष्णु, २. भागवत, ३. नारद, और ४. गरुड़ पुराण।
३. ब्रह्मा की प्रधानता के पुराण—१. ब्रह्म और २. पद्म पुराण।
४. अग्नि की प्रधानता का पुराण—१. अग्नि पुराण।
५. सूर्य की प्रधानता का पुराण—१. ब्रह्मवैवर्त पुराण।

उपर्युक्त वर्गों में शिव की प्रधानता वाले पुराणों की संख्या सबसे अधिक है। उनकी श्लोक संख्या प्रायः ३ लाख कही जाती है। यह वर्गीकरण उस स्कंद पुराण के अनुसार है, जो शिव की महिमा को प्रधानता देता है। इस प्रकार इसे सांप्रदायिक आग्रह पर आधारित भी कहा जा सकता है। अन्य पुराणों के अनुसार उक्त वर्गीकरण के क्रम और नामों में अंतर है।

---

(१) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ २१३
(२) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ १७३
(३) स्कंद पुराण, संभवकांड, २–३०–३९

चतुर्थ अध्याय

मध्य काल

[विक्रम सं० ६०० से विक्रम सं० १२६३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—व्रज के सांस्कृतिक इतिहास का यह काल महान् क्रांतिकारी परिवर्तनों एवं आश्चर्यजनक उलट-फेरों का है। प्रायः सात शताब्दियों के इस छोटे से काल में मथुरामंडल की राजनैतिक और सांस्कृतिक गति-विधियों के साथ ही साथ इसकी धार्मिक परिस्थिति में जितने युगांतरकारी परिवर्तन हुए, उतने किसी भी दूसरे काल में नहीं हुए थे। इस काल के आरंभ में महान् गुप्त सम्राटों के साम्राज्य का अंत होने से प्राचीन मगध साम्राज्य और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का महत्व समाप्त हो गया था। उसका स्थान हर्षवर्धन के साम्राज्य को प्राप्त हुआ, जिससे उसकी राजधानी कन्नौज की महत्ता बढ़ गई थी। उसका मथुरामंडल की राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थिति पर भी बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा था।

इस काल में पुराणों के समन्वयात्यक लोकधर्म का प्रचार और तंत्रों की आकर्षक साधना का उदय हुआ था, जिससे सभी धर्म-संप्रदायों में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे। इसी काल में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे महान् प्रतिभाशाली विद्वानों ने प्राचीन वैदिक धर्म के ध्वंसावशेषों पर उस सुदृढ़ 'हिंदू धर्म' की नींव डाली थी, जिसके अंगीभूत वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्मों ने मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति को बड़ा प्रभावित किया था। फलतः इस काल के अवैदिक धर्मों में बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गई, जैन धर्म का प्रभाव कम हो गया, और वेदानुकूल भागवत धर्म ने वैष्णव धर्म के रूप में नया कलेवर प्राप्त किया था। इस काल के अंत की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना विदेशी मुसलमानों द्वारा भीषण आक्रमण करना था, जिसका मथुरामंडल के राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन पर बड़ा दूरगामी प्रभाव पड़ा था। यहाँ पर उक्त घटनाओं का संक्षिप्त रूप से सिंहावलोकन किया जाता है, जिससे इस काल के धर्म-संप्रदायों की गति-विधियों को समझने में सुविधा होगी।

कन्नौज के महत्व से मथुरा की गौरव-वृद्धि—सम्राट हर्षवर्धन का पैतृक राज्य थानेश्वर था, किंतु परिस्थितियों ने उसे थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज जैसे बड़े राज्य का भी स्वामी बना दिया था। थानेश्वर राज्य वैदिक धर्म के प्राचीन केन्द्र कुरु जनपद के अंतर्गत था। वहाँ सदा से ही वैदिक धर्म और उससे प्रभावित भागवत, शैव, शाक्त आदि धर्म-संप्रदायों का प्रचलन रहा था। जब देश के अन्य भागों में बौद्ध और जैन धर्मों का व्यापक प्रचार हो गया, तब भी थानेश्वर और उसके निकटवर्ती भाग में वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हुए थे। कन्नौज की स्थिति भारतवर्ष के हृदयस्थल और उसके परंपरागत सांस्कृतिक रंगमंच 'मध्यदेश' के प्रायः केन्द्र में थी। जब कन्नौज नगर हर्ष के साम्राज्य की राजधानी हुआ, तब वह समस्त देश की गति-विधियों का भी प्रेरणा-स्रोत बन गया था।

मथुरामंडल थानेश्वर और कन्नौज जैसे नवोत्पन्न शक्तिशाली राज्यों के बीच में था, और साथ ही उन दोनों के स्वामी हर्षवर्धन के सामाज्य के अंतर्गत भी था; इसलिए उसकी धार्मिक नीति का मथुरामंडल पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। हर्ष का पूर्वज पुष्यभूति शिवोपासक था और उसका पिता प्रभाकरवर्धन सूर्य का आराधक। हर्ष भी अपनी कुल-परंपरा के अनुसार आरंभ में शिव

और सूर्य का उपासक रहा था; किंतु बाद में उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक हो गया था। वस्तुतः हर्ष की धार्मिक नीति सहिष्णुतापूर्ण थी और वह सभी धर्मों का सन्मान करता हुआ उन्हें राज्याश्रय प्रदान करता था। उसके काल में मथुरामंडल में भी सभी धर्म-संप्रदाय बिना किसी रुकावट के अपने-अपने ढंग से फूलते-फलते रहे थे। हर्ष के शासन काल में चीनी यात्री हुएनसांग भारत के बौद्ध धर्मस्थानों की यात्रा करने को आया था। वह मथुरा भी गया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में यहाँ की धार्मिक स्थिति के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

पुराणों का प्रभाव—जैसा पहिले लिखा गया है, गुप्त काल अर्थात् ७वीं शती तक पुराणों का संकलन, संपादन और वर्गीकरण किया जा चुका था; अतः ७वी से १३वीं शती तक के इस काल को 'पुराणोत्तर युग' कहा जाता है। इस काल के प्रायः सभी धर्म-संप्रदायों पर पुराणों का प्रचुर प्रभाव पड़ा था। पुराणों में अवतारवाद और बहुदेवोपासना का समर्थन किये जाने से इस काल में एक ऐसे समन्वित और व्यापक लोकधर्म का उदय हुआ था, जिसकी नींव धार्मिक सहिष्णुता पर रखी गई थी। उक्त धर्म को पौराणिक अथवा हिंदू धर्म कहा जाता है। इसमें विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, शक्ति एवं गणेश आदि सभी प्रमुख देवताओं को मान्यता दी गई है; जिससे उन सब के उपासकों को एक ही धार्मिक मंच पर सहिष्णुता पूर्वक एकत्र होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रत्येक पुराण में किसी एक देवता की प्रधानता बतलाते हुए भी अन्य देवताओं को उसके अंगीभूत मान कर स्वीकार किया गया है। इससे धार्मिक भेद-भाव को कम करने में पुराणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पौराणिक हिंदू धर्म में पहिले विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य की उपासना पर अधिक बल देते हुए अन्य देवताओं को भी उपास्य माना गया। बाद में ब्रह्मा और अग्नि की उपासना क्रमशः गणेश और शक्ति में लीन हो गई थी। इस प्रकार पौराणिक-हिंदू धर्म का अंतिम रूप विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश की उपासना को प्रधानता देते हुए चला था। इन्हीं पंच देवों की उपासना-भक्ति को कालांतर में 'स्मार्त धर्म' का नाम भी प्राप्त हुआ था।

इस काल में पौराणिक धर्म का अधिक प्रचार होने से लोगों की श्रद्धा अवतारवाद और बहुदेवोपासना के प्रति अधिक हो गई थी। भागवत धर्म में अवतारवाद तो पहिले से ही मान्य था, किंतु बहुदेवापासना के स्थान पर भगवान् वासुदेव तथा उनके व्यूहों की उपासना प्रचलित थी। पौराणिक धर्म के प्रभाव से भागवतों ने पंचदेवोपासना, विशेष कर विष्णु की उपासना को स्वीकार कर लिया; जिसके कारण उनमें और स्मार्तों में उपासना-पूजा के मंच पर बहुत कुछ मेल हो गया था। उससे भागवत धर्म का प्राचीन रूप चाहें कुछ बदल गया; किंतु अपने नये कलेवर में उसे जनता को अधिक आकर्षित करने की क्षमता प्राप्त हो गई थी।

तांत्रिक साधना का उदय और विकास—भारतीय धर्मोपासना के इतिहास में यह काल तांत्रिक साधना के उदय और प्रसार का युग माना जाता है। इस काल में बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पंचरात्र, भागवत आदि सभी धर्म-संप्रदायों ने किसी न किसी रूप में तांत्रिक प्रवृत्तियों को अपना लिया था। इसलिए उस युग का नाम ही 'तांत्रिक काल' पड़ गया है। तांत्रिक साधना जिस 'तंत्र' पर आधारित है, उसका अर्थ है,—'ज्ञान का विस्तार'। 'काशिका' के अनुसार, जिससे ज्ञान का विस्तार हो, वह तंत्र है,—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तंत्रम्'। इस सामान्य अर्थ से ज्ञान के विशदीकरण की उस प्रवृत्ति का बोध होता है, जो साधना और आचार के क्षेत्र में इस काल के प्रायः

सभी धर्म-संप्रदायों ने अपनायी थी। 'तंत्र' के विशिष्ट अर्थ के रूप में वेद से भिन्न उस शास्त्र का नाम है, जिसमें पुरुष-शक्ति और स्त्री-शक्ति की एकता द्वारा विविध साधनाओं, आचारों और पूजा-पद्धतियों से सिद्धि और मुक्ति को सरलतापूर्वक प्राप्त करने का विधान है। पुरुष–शक्ति और स्त्री–शक्ति के संघट्ट के लिए इसमें देवता के स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार विविध मंत्रों, चक्रों और योग-क्रियाओं की उपासना-विधि का वर्णन हुआ है। तंत्र शास्त्र को 'संहिता' अथवा 'आगम' भी कहते हैं। वैसे शाक्त धर्म में इसे 'तंत्र', पंचरात्र-वैष्णव संप्रदायों में 'संहिता' और शैव धर्म में 'आगम' कहा जाता है।

तंत्रों की परंपरा और उनका प्रचलन—साधारणतया तंत्रों का प्रसिद्ध नाम 'आगम' है। इनके आगम (आये हुए) नाम से यह समझा जा सकता है कि वे वेदोक्त ज्ञान की प्राचीन धारा के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से आये हैं। 'कूर्म पुराण' में लिखा है, तंत्र ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे, जिन्होंने द्विज सुलभ वेद-पाठन के अपने अधिकार को खो दिया था और जो रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे[1]।। डा० धर्मवीर भारती का मत है,—"तंत्र वास्तव में उन अगणित लोकाचारों तथा लोक में प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानों का परिणत रूप है, जिसे आदिवासी और समाज के निम्न वर्ग के व्यक्ति सदा से अपनाते रहे हैं। वह लोक धर्म तांत्रिक काल में उभर कर ऊपर आ गया था। उस समय उसे ग्रहण करने के लिए कितने ही संप्रदाय प्रत्येक धर्म में बन गये थे। उन संप्रदायों में साधना प्रधान थी और उस साधना के अनुरूप ही उन्होंने अपने देवी-देवताओं का स्वरूप, उनके पारस्परिक संबंध, उनकी चर्या, क्रिया, अभिचार, मंत्र आदि परिकल्पित कर लिये थे। इसीलिए तंत्रों का 'आगम' नाम सर्वथा उपयुक्त है[2]।

साधना की समानता—बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पंचरात्र, वैष्णव आदि धर्म-संप्रदायों के आधार पर तंत्रों के भी कितने ही भेद हैं; किंतु साधना की दृष्टि से उनकी अनेक बातों में बड़ी समानता है। इसके कारण उनके भेदों में भी अभेदता दिखलाई देती है। उन सभी धर्म-संप्रदायों की सामान्य तांत्रिक साधना का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उन सबमें शक्तिवाद का महत्व और पुरुष-शक्ति एवं स्त्री-शक्ति की एकता मान्य है, चाहें उसके लिए विभिन्न नामों का प्रयोग किया गया है। बौद्ध धर्म के उपाय और प्रज्ञा, शैव-शाक्त धर्मों के शिव और शक्ति, तथा पंचरात्र-वैष्णव संप्रदायों के विष्णु और लक्ष्मी, राम और सीता अथवा कृष्ण और राधा आदि नाम तांत्रिक साधना की दृष्टि से पुरुष-शक्ति और स्त्री-शक्ति के ही द्योतक है।

सभी धर्म-संप्रदायों में चाहें उपास्य देवी-देवताओं के स्वरूप, उनके तत्व-दर्शन और मंत्रों में पृथक्ता थी, किंतु उनकी तांत्रिक साधना की पद्धति प्रायः समान थी और उसकी विशिष्ट विधियों का सब में निस्संकोच आदान-प्रदान होता था। उनमें तत्व-दर्शन को गौणता और साधना, क्रिया एवं चर्या को प्रमुखता दी गई थी। साधना में गुरु को विशेष महत्व प्राप्त था और साधकों में प्रायः वर्ण-जाति का भेद-भाव नहीं किया जाता था। सब में शक्ति सहित देवता के रूप-गुण, वस्त्र-वाहन, अस्त्र-शस्त्र और आकृति-प्रकृति के ध्यान द्वारा आराध्य के साथ तादात्म्य, आराध्य की कृपा की कामना, मंत्र-यंत्र, मुद्रा, कुंडलिनी–योग समान रूप से स्वीकृत थे। सभी में रागात्मक साधना होने से उसकी मिथुनपरक और प्रतीकात्मक व्याख्या की गई थी।

---

(१) **सिद्ध साहित्य**, पृष्ठ ११७

(२) **सिद्ध साहित्य**, पृष्ठ ११९

साधना का स्वरूप—तांत्रिक साधना का मूल सिद्धांत है, प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करना। इसके लिए तांत्रिक साधक भोग से ही काम को वश में करने की चेष्टा करते हैं। साधना की इस विधि में विरोधाभास जान पड़ता है, किंतु तांत्रिक सिद्धांत के अनुसार ऐसा नहीं है। डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है,—"इस साधना द्वारा निरूपित सभी आचारों और क्रियाओं में 'भाव' को मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इस भाव को या तो प्रेरणा देने के लिए है, अथवा इस भाव को उच्चतर मानसिक स्थितियों में रूपान्तरित करने के लिए है। इसी दृष्टि से शव-साधना, कुमारी-पूजा, चक्र-पूजा आदि को देखना चाहिए। भयंकर क्रियाओं को छोड़ कर तांत्रिक साधना का आधारभूत सिद्धांत भाव विशेष का विकास है। शैव, शाक्त, बौद्ध, वैष्णव सभी तंत्रों में यही सिद्धांत दिखाई पड़ता है। देवता का ध्यान तथा उसके साथ भावात्मक एकता इन संप्रदायों की साधना का मर्म है। तंत्रों का कथन है, भोग के समय भावना ही मन को कलुषित करती है। 'मैं कुछ अनुचित कर रहा हूँ'—इस भावना के निकल जाने पर प्रवृत्तियों का भोग ग्लानि उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए कुमारी-पूजा आदि में स्त्री को देवी रूप में स्वीकार कर सम्पूर्ण विलासमय परिस्थिति को एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव में बदलने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार काम-प्रवृत्ति भी दिव्य कर्म समझ कर करने से—काम को संतुष्ट करते समय यह भावना करने से कि यह मिलन ब्रह्मांडव्यापी शक्ति और शिव का मिलन है, साधक के मन में लज्जा और ग्लानि नहीं रहती और अंत में मन शांत हो जाता है। इससे साधक की वासना का दिव्य स्तरों पर प्रक्षेपण हो जाने से वासना दिव्य भाव में बदल जाती है। 'गंधर्वतंत्र' में कहा गया है, उपयोग की विधि तथा भावना से ही वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। वह स्वयं में न पवित्र है, न अपवित्र[१]।"

म. म. डा० गोपीनाथ कविराज ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है,—"अंतर में जो भोगाकांक्षा विद्यमान है, उसे तृप्त न कर यदि उसे अभिभूत करने की चेष्टा की जायगी, तो उसमें कभी सफलता नहीं हो सकती है। विरोधी प्रबल शक्ति के द्वारा कुछ समय के लिए वह अभिभूत भी हो जाय, परंतु अवसर मिलते ही वह दूने वेग से पुनः जागृत हो उठेगी। चित्त में जब तक जिस विषय के संस्कार रहेंगे, तब तक उस विषय का त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायों से यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। चित्त में स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध भोग्य वस्तु के मिलने से तृप्त हो जाती है; और ऐसा होने पर उसके फिर उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती, जिससे वह साम्य भाव धारण कर लेती है। उस अवस्था में निवृत्ति देवी का आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'—ईशोपनिषद् के इस मंत्र में त्याग और भोग का बड़ा सुंदर समन्वय किया गया है। कौशल पूर्वक भोग का नाम ही प्रवृत्ति धर्म है; अर्थात् भोग का एक ऐसा कौशल भी है, जिसका अवलंबन करने से भोग के द्वारा ही भोग का अवसान हो जाता है! तब निवृत्ति अपने आप ही आ उपस्थित होती है; उसके लिए पृथक् रूप से चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इस कौशल का अवलंबन न किये जा सकने पर ही भोग बंधन का कारण हो जाता है, और वह कभी धर्म-पदवाच्य नहीं हो सकता। भगवान् के मंगलमय विधान में अशुभ कुछ भी नहीं है। उचित रीति से भोग करने पर हम जान सकेंगे कि भोग भी मंगलमय है, उसमें किसी अंश में भी अमंगल नहीं है। भोग के मूल में त्याग न रहने से जैसे वह भोग धर्म रूप में परिणत होने के योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्याग के मूल में भोग न रहने से वह त्याग भी धर्म-पदवाच्य नहीं हो सकता[२]।

(१) संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृष्ठ १४३–१४४ का सारांश

(२) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ ९७ से १०८ तक का सारांश।

आकर्षण और प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, तांत्रिक साधना का मूल सिद्धांत है,—प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को प्राप्त करना और वह भी कामोपभोग द्वारा ! यह एक ऐसा आकर्षक सिद्धांत था कि उसकी ओर इस काल के सभी प्रमुख धर्म–संप्रदाय बड़ी ललक के साथ दौड़ पड़े थे। साधारणतया सभी धर्मों में भोग-प्रवृत्ति और काम-चेष्टा को उदात्त कर्म नहीं माना गया है और उन्हें कल्याण एवं निर्वाण के मार्ग में प्रायः बाधक ही समझा गया है। इसीलिए भोग-प्रवृत्ति के शमन के लिए साधकों को कायाकष्टात्मक कठोर आचारों के पालन करने का विधान किया गया हे। किंतु जब तंत्राचार्यों ने कायाकष्ट की अपेक्षा कामोपभोग द्वारा ही कल्याण और निर्वाण के प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की, तब उनकी ओर साधकों का आकर्षण होना स्वाभाविक था। फलतः उस काल के प्रायः सभी धर्म–संप्रदायों में तांत्रिक साधना का व्यापक प्रचार हुआ था।

आचार-भेद और उनका भला-बुरा प्रभाव—तांत्रिक साधना में आचार की दृष्टि से दो प्रमुख भेद माने गये हैं, जिन्हें दक्षिणाचार अथवा दक्षिणमार्ग और वामाचार अथवा वाममार्ग कहा जाता है। दक्षिणमार्ग की तांत्रिक साधना सात्वकी और सौम्य होती है, जब कि वाममार्ग की प्रायः तामसी और उग्र। बौद्ध, शैव और शाक्त धर्मो में दोनों प्रकार की साधनाएँ प्रचलित हुई थीं; किंतु जैन, पंचरात्र और भागवत धर्मो ने प्रायः दक्षिणमार्ग को अपनाया था। इस साधना की एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसने परस्पर विरोधी सिद्धांतों के धर्म–संप्रदायों को भी एक ही धार्मिक मंत्र पर ला खड़ा किया था। उसके द्वारा भारतीय धर्मो के पारस्परिक भेद मिटाने का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हो सकता था; किंतु उसके वाममार्गीय अनाचारों ने ऐसा अनिष्ट किया कि उक्त साधना सभी धर्म-संप्रदायों के लिए अहितकर ही सिद्ध हुई थी। वाममार्ग की गुह्य साधना और उसके वीभत्स आचारों का इस काल में ऐसा अंधड़ उठा कि उसने प्रायः सभी धर्म-संप्रदायों के स्वरूप को धूमिल कर दिया था।

धार्मिक क्रांति—पुराणों के लोक धर्म और तांत्रिक साधना के भले–बुरे प्रभाव ने उस काल के सभी धर्म-संप्रदायों को इतना झकझोर दिया था कि वे सब एक महान् धार्मिक क्रांति के कगार पर आ खड़े हुए थे। जिन धर्म-संप्रदायों के स्वरूप को उनके आचार्यो ने सुधार लिया था, वे उस संकट से बच गये, किंतु जो नहीं सुधार सके, वे प्रभावहीन और महत्त्वशून्य हो गये थे। उसी काल में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य जैसे महामनीषी धार्मिक विद्वानों ने वेदानुकूल धर्मो का पुनरुद्धार कर वेद विरोधी धर्मों पर करारी चोट की थी। उस काल के अवैदिक धर्मो में बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे, जो उन प्रकांड विद्वानों के शास्त्रीय आक्रमण की चपेट में आये थे। बौद्ध धर्म अपनी आंतरिक दुर्बलताओं के कारण उन वेदोद्धारक महानुभावों की शास्त्रीय मार को सहन नहीं कर सका; किंतु जैन धर्म ने तप, त्याग और संयम के सुदृढ़ कवच से अपने अस्तित्व को बचा लिया था।

राजपूतों का उदय और मुसलमानों का आक्रमण—इस काल की दो अन्य घटनाओं ने भी मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति को बड़ा प्रभावित किया था। उनमें से पहली घटना राजपूत शक्ति का उदय और प्रसार था। राजपूत राजागण पौराणिक हिंदू धर्म के अनुयायी थे और उन्हें मथुरा जैसे धार्मिक स्थानों की महत्ता स्वीकृत थी। उस काल के राजपूत राजा आपस में लड़ते हुए भी मथुरा की विशिष्ट धार्मिक स्थिति को मानते थे। उन्होंने यहाँ पर अनेक मंदिर–देवालय बनवा कर उनके व्यय के लिए पर्याप्त सम्पत्ति अर्पित की थी, जिससे वे समृद्धिशाली हो गये थे। दूसरी घटना विदेशी मुसलमानों का आक्रमण था। उससे मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, वह इतिहास में अभूतपूर्व है।

उससे पहिले भी इस देश पर अनेक विदेशियों ने आक्रमण किया था और उन्होंने मुसलमानों की तरह यहाँ लूट–मार भी की थी, किंतु उनके द्वारा यहाँ की धार्मिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा था। इसका कारण यह था, उन विदेशी आक्रमणकारियों की न तो कोई निजी संस्कृति थी और न उन्हें किसी धर्म का विशेष आग्रह ही था। उन्होंने जन–संहार और लूट–मार करने के पश्चात् यहाँ की संस्कृति और यहाँ के धर्मों को स्वीकार कर लिया था। कालांतर में वे जातियाँ यहाँ के जन-जीवन में ऐसी घुल-मिल गईं कि उन्हें भारतीयों से प्रथक् करना भी संभव नहीं था। मुसलमानों की स्थिति पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों से सर्वथा भिन्न थी। वे लोग अपनी संस्कृति और अपने धर्म को अपने साथ लाये थे। उन्हें अपने धर्म का इतना दुराग्रह था कि वे उसे बलपूर्वक यहाँ के लोगों पर लादना चाहते थे। उनके आक्रमण का उद्देश्य ही यहाँ के लोगों को लूटना और उन्हें बलात् मुसलमान बनाना था।

इस काल में यहाँ के प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी मूर्ति–पूजक थे। उनके अपने-अपने मंदिर-देवालय और पूजा–स्थान थे। मुसलमान मूर्ति-पूजा के बड़े विरोधी थे, अतः उन्होंने सभी धर्म–संप्रदायों की देव-मूर्तियों को तोड़ा और उनके मंदिर-देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया था। इस प्रकार उनके द्वारा बौद्ध, जैन, भागवत, शैव, शाक्त सभी धर्मों के पूजा-स्थानों को बड़ी क्षति पहुँची थी और उनके अनुयायियों को धार्मिक उत्पीड़न सहन करना पड़ा था। मुसलमान आक्रमणकारियों में महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने सं० १०७४ में मथुरामंडल पर भीषण आक्रमण किया था। उसकी लूट-मार से यहाँ के प्रायः सभी प्रमुख देव-स्थान नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे और मथुरा नगर वीरान सा हो गया था। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान का सुप्रसिद्ध प्राचीन मंदिर उसी काल में नष्ट हुआ था। इन घटनाओं के प्रकाश में इस काल के सभी प्रमुख धर्मों की स्थिति का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

१. बौद्ध धर्म

हर्ष काल (सं० ६६३–सं० ७०४) की स्थिति—हर्षवर्धन अपनी कुल-परंपरा के अनुसार आरंभ में सूर्य और शिव का उपासक था, किंतु बाद में उसका झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था। हर्ष का बड़ा भाई राज्यवर्धन भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। जब हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री की खोज में विन्ध्य वन में विचरण कर रहा था, तब वहाँ के विख्यात बौद्ध श्रमणाचार्य दिवाकर मित्र से उसकी भेंट हुई थी। उस धर्माचार्य ने पति-वियोगिनी राज्यश्री को धर्मोपदेश देकर उसे सान्त्वना और शांति प्रदान की थी। हर्ष दिवाकर मित्र को कन्नौज ले गया था। उसके उपदेश से राज्यश्री बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गई थी और वह बौद्ध भिक्षुणी की भाँति बड़े संयम-नियम से रहती थी। ऐसा कहा जाता है, राज्यश्री की श्रद्धा बौद्ध धर्म की हीनयानी शाखा सम्मितीय संप्रदाय के प्रति थी। दिवाकर मित्र के प्रभाव और राज्यश्री के संपर्क से हर्ष भी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धालु हो गया था; किंतु उसकी आस्था उक्त धर्म के महायान संप्रदाय के प्रति अधिक थी। यद्यपि उस काल में बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी थी, तथापि हर्ष के प्रोत्साहन से महायान की अच्छी स्थिति हो गई थी।

हुएनसांग का आगमन—सम्राट हर्ष के शासन काल की एक उल्लेखनीय घटना चीनी यात्री हुएनसांग का बौद्ध धर्मस्थानों की यात्रा करने के लिए भारत आना था। हुएनसांग का जन्म सं० ६५३ में चीन देश में हुआ था। उसने २० वर्ष की आयु में प्रव्रज्या ली थी और ३४ वर्ष की आयु में वह

भारतवर्ष की ओर चल पड़ा था। मध्य एशिया के बीहड़ स्थानों की कष्टप्रद यात्रा करता हुआ वह सं० ६८७ में कश्मीर पहुँचा था, जहाँ उसने दो वर्ष तक निवास कर बौद्ध धर्म के ग्रंथों का अनुशीलन किया था। उसके बाद वह पंजाब होता हुआ भारत के अनेक बौद्ध स्थानों में गया और वहाँ की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करता रहा था। वह प्रायः १४ वर्ष तक इस देश में रहा था। उसके पश्चात् सं० ७०२ में वह स्वदेश को वापिस चला गया। वह बौद्ध धर्म के ६५७ दुर्लभ ग्रंथ, भगवान् बुद्ध के वज्रासन के अवशेष और सोने, चाँदी तथा चंदन की बनी हुई कई छोटी-बड़ी बुद्ध मूर्तियाँ अपने साथ ले गया था।

हुएनसांग ने चीन पहुँच कर भारतीय बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। वह लगातार १९ वर्षों तक उस महत्त्वपूर्ण कार्य को करता रहा था। उसने उस काल में ७५ ग्रंथों की चीनी अनुवाद किया था। उनमें ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनकी मूल प्रतियाँ इस समय भारत में उपलब्ध नहीं हैं, किंतु अपने चीनी अनुवाद के कारण ही वे इस समय भी सुलभ हैं। उस बौद्ध विद्वान का देहावसान सं० ७२१ में चीन देश में हुआ था।

हुएनसांग के ग्रंथों में उसकी भारत-यात्रा का विवरण अत्यंत महत्वपूर्ण है। उससे इस देश की तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उससे ज्ञात होता है, उस काल में बौद्ध धर्म की सुप्रसिद्ध हीनयान और महायान शाखाओं के १८ संप्रदाय प्रचलित थे, जिनके अनुयायियों में महायानियों की संख्या अधिक थी। फिर भी उस काल में यह धर्म अवनति के पथ पर अग्रसर होने लगा था। महाराज हर्षवर्धन से हुएनसांग की सर्व प्रथम भेंट सं० ७०० में गौड़ प्रदेश (बंगाल) में हुई थी। उसके बाद वह हर्ष द्वारा आयोजित कन्नौज के धर्म सम्मेलन में और प्रयाग के दानोत्सव में भी सम्मिलित हुआ था।

कन्नौज का धर्म सम्मेलन—बौद्ध धर्म के इतिहास में कन्नौज का धर्म सम्मेलन कदाचित इस धर्म का सबसे बड़ा अंतिम धार्मिक समारोह था। उसमें १८ देशों के राजागण, महायान तथा हीनयान संप्रदायों के ३००० बौद्ध विद्वान, ३००० ब्राह्मण और जैन विद्वान तथा नालंदा मठ के १००० पुरोहित सम्मिलित हुए थे। सम्राट हर्ष अपने सभा-पंडितों, दरबारियों और हुएनसांग के साथ उसमें उपस्थित हुआ था। सम्मेलन का आयोजन एक विशाल सभा-भवन में किया था, जिसमें कई सहस्र व्यक्ति बैठ सकते थे। सभा के मुख्य मंच पर भगवान् बुद्ध की एक विशाल स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। उस सम्मेलन का उद्देश्य बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय की श्रेष्ठता प्रमाणित करना था। उसके लिए जो विचार-परिषद् बनाई गई थी, उसका अध्यक्ष हर्ष ने हुएनसांग को बनाया था। उस सम्मेलन के समाप्त होने के कुछ समय पश्चात् वह चीनी यात्री अपने देश को वापिस चला गया।

मथुरा की धार्मिक स्थिति—हुएनसांग अपनी भारत-यात्रा के अवसर पर मथुरा भी आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में यहाँ के बौद्ध धर्म की तत्कालीन स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। उसने लिखा है,—"मथुरा नगर में प्रायः २० संघाराम हैं, जिनमें लगभग दो हजार भिक्षु निवास करते हैं। वे बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों को मानते हैं। वहाँ पर ५ देव-मंदिर भी हैं, जिनमें सब प्रकार के मतावलंबी उपासना करते है। महाराज अशोक के बनवाये हुए वहाँ ३ स्तूप हैं और विगत चारों बुद्धों के अनेक चिह्न भी वहाँ विद्यमान हैं। शाक्य तथागत के अनुगामियों के पवित्र अवशेषों पर स्मारक स्वरूप कई स्तूप वहाँ बनवाये गये हैं। सारिपुत्र,

मौद्गलपुत्र, मैत्रायणीपुत्र, यणिपुत्र, उपालि, आनंद, राहुल, मंजुश्री तथा अन्य बोधिसत्वों के स्तूप हैं, जिनमें भिक्षुगण व्रत और उपवास के दिनों मे धार्मिक भेंट के रूप में अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ अर्पित किया करते है। वहाँ पर उपस्थित सभी व्यक्ति एक दूसरे के प्रति आदर भाव रखते हैं। अभिधर्म के अध्येता सारिपुत्र के प्रति सन्मान प्रकट करते हैं; तपस्वी मौद्गलपुत्र के प्रति; सूत्रों का पठन-पाठन करने वाले पूर्ण मैत्रायणीपुत्र के प्रति; तथा विनय और शील की दीक्षा लेने वाले उपालि के प्रति आदर भाव रखते हैं। भिक्षुणियाँ आनंद की आराधना करती हैं और श्रामणेर जन राहुल की। महायान के मानने वाले बोधिसत्वों की उपासना करते हैं । सभी भिक्षुगण उपवास के दिनों में अपनी श्रद्धांजलि स्वरूप विभिन्न प्रकार की भेंट अर्पित किया करते हैं। उनकी रत्नजटित पताकाएँ सर्वत्र फहराती है और धार्मिक अनुष्ठानों का सुगंधित धुआँ सब दिशाओं में भर जाता है। महकदार फूलों की सर्वत्र वर्षा होती रहती है। देश का राजा और उसके मंत्रीगण भी उन धार्मिक आयोजनों में बड़े उत्साह पूर्वक भाग लेते है।

नगर के पूर्व की ओर ५-६ ली (१-१। मील) चलने पर एक ऊँचा संघाराम मिलता है। उसके चारों ओर ऊँचाई पर गुफाएँ बनी हुई हैं। यह संघाराम पूज्य उपगुप्त द्वारा निर्मित है। उसके अंदर एक स्तूप है, जिसमें तथागत के नख रखे है। इस संघाराम के उत्तर में एक प्रस्तर भवन है, जो २० फीट ऊँचा और ३० फीट चौड़ा है। यहीं पर पूज्य उपगुप्त अपने उपदेश द्वारा लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया करते थे। उनके उपदेश से जो लोग अर्हत् अवस्था को प्राप्त होते थे, उनकी स्मृति में वे एक-एक काष्टखंड रखा करते थे। ऐसे अनेक लकड़ी के टुकड़े वहाँ पर एकत्र थे, जिनसे ज्ञात होता था कि उतने व्यक्ति अर्हत् अवस्था को प्राप्त हुए हैं। ऐसे व्यक्ति किस परिवार व वर्ग से संबंधित थे, इसका लेखा वहाँ पर नहीं रखा गया था।

उस प्रस्तर भवन के २४-२५ ली (प्रायः ५ मील) दक्षिण-पूर्व में एक सूखा तालाब है, जिसके किनारे पर एक स्तूप है। प्राचीन समय में तथागत उस स्थान पर विचरण किया करते थे। उस समय एक बंदर ने भगवान् बुद्ध को एक मधुपात्र भेंट किया था। उसके निकटवर्ती बड़े वन में एक झील है, जिसके उत्तर मे विगत चारों बुद्धों के चिह्न हैं। उसके समीप वे स्तूप हैं, जो सारिपुत्र, मुद्गलपुत्र आदि १२५० महान् अर्हतों की स्मृति में बनाये गये हैं। उन समस्त अर्हतों की समाधि के चिह्न वहाँ पर विद्यमान हैं। जब तथागत इस संसार में थे, तो वे प्रायः वहाँ पर अपना उपदेश करते हुए विचरण करते थे। जिन स्थानों में उन्होंने विश्राम किया था, वहाँ पर उनके स्मृति-चिह्न स्थापित किये गये हैं[१]।"

हुएनसांग के उपर्युक्त उल्लेख से हर्षकालीन मथुरा में बौद्ध धर्मस्थानों की यथार्थ स्थिति, भिक्षुओं के आचार-विचार और उनकी पूजा-विधि का बोध होता है। हुएनसांग का पूर्ववर्ती चीनी यात्री फाह्यान जब सं० ४५० के लगभग मथुरा आया था, तब यहाँ के २० संघारामों में ३ हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे, किंतु हुएनसांग के समय में उनकी संख्या २ हजार ही रह गई थी। उससे ज्ञात होता है कि उस काल में यहाँ पर बौद्ध धर्म की स्थिति बिगड़ने लगी थी।

---

(१) हुएनसांग्स ट्रेवल्स इन इंडिया (जिल्द १), पृष्ठ ३०१-३११

चीनी यात्री हुएनसांग

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (सं० ७०४–सं० १२६३) तक की स्थिति—अशोक से लेकर
हर्षवर्धन तक के प्रायः एक हजार वर्षों में बौद्ध धर्म की खूब उन्नति हुई थी। उसके अंतर्गत अनेक
संप्रदाय बने और उनकी शाखा-प्रशाखाओं का बड़ा विस्तार हुआ था। वह धर्म भारत में तो एक सिरे
से दूसरे सिरे तक प्रचलित हुआ ही, विदेशों में भी उसकी ध्वजा फहराने लगी थी। हर्षवर्धन के
पश्चात् बौद्ध धर्म की अवनति का युग आरंभ हुआ, और शनैः-शनैः उसका ह्रास होने लगा।

मथुरामंडल में मूल बौद्ध धर्म के जो थेरवादी (हीनयानी) संप्रदाय 'सर्वास्तिवाद' और
'सम्मितीय' प्रचलित थे, उनका अस्तित्व हर्षवर्धन के काल तक रहा था; किंतु बाद में उनका स्थान
महासांघिक–महायानी संप्रदायों ने ले लिया था। महायान की साधना को संक्षिप्त रूप देने के लिए
उसके अंतर्गत 'मंत्रनय' का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके साथ 'ध्यानी बुद्धों' का महत्व भी जुड़ गया था।
उस समय भगवान् बुद्ध के वचनों को सूक्ष्म मंत्र मान कर उनके उच्चारण और जप मात्र को ही
सिद्धिदायक समझा जाने लगा था! षडक्षरी मंत्र 'ॐ मणिपद्मे हुम्' महायानी बौद्धों के लिए गायत्री
से भी अधिक महत्वपूर्ण था, क्यों कि उनके विश्वास के अनुसार उसके जप मात्र से समस्त विघ्न-
बाधाओं का विनाश हो सकता था। कालांतर में मंत्रनय से तांत्रिक साधना का विकास हुआ और
उससे वज्रयानी साधना विकसित हुई। इस प्रकार महायान से मंत्रयान, मंत्र से तंत्रयान और तंत्र से
वज्रयान का उदय हुआ था।

वज्रयान की तांत्रिक साधना—राजपूत काल में भारत के धार्मिक क्षेत्र में जिस तांत्रिक
साधना का उदय हुआ था, उसे बौद्ध धर्म के महायानी संप्रदाय वज्रयान ने संभवतः सबसे पहिले
अपनाया था। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जो वज्र वैदिक देवता इंद्र का आयुध था, उसका समावेश
बौद्ध धर्म में कैसे हो गया? जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उत्तर वैदिक काल में इंद्र का महत्व कम
हो गया था और पौराणिक काल में उसकी इतनी उपेक्षा हुई कि नये अवतारों के आगे उसका महत्व
बिलकुल ही जाता रहा था। "उसके बाद बौद्ध धर्म की महायानी साधना में इंद्र सहसा अपने नये
रूप में दिखलाई देने लगता है। महायानी संगीतियों में इंद्र को भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनते हुए
दिखलाया गया है। ऐसा ज्ञात होता है, ब्राह्मणों द्वारा इंद्र की उपेक्षा देख कर बौद्धों ने उसे अपनी
मंडली में सम्मिलित कर लिया था और कालांतर में सम्भवतः गुरु-दक्षिणा स्वरूप इंद्र ने अपना अस्त्र
भी बोधिसत्वों को सौंप दिया। बौद्धगण उससे इतने अभिभूत हुए कि वज्र को शून्यता का ही
प्रतिरूप मान बैठे [1]।"

कोशकारों ने वज्र का अर्थ इंद्र के आयुध के साथ ही साथ 'मणि' और 'अश्म' भी लिखा
है। "एक वैदिक देवता को शिष्य बनाने की भावना, अपने विरोधियों से रक्षा के लिये अमोघ 'अस्त्र'
की प्राप्ति, 'मणि' रूप में वैभव और सिद्धियों की उपलब्धि, 'अश्म' रूप में अमर काया की प्राप्ति,
इन सब ने वज्र की कल्पना को इतना सर्वाच्छादनकारी बना दिया, कि पाँच ध्यानी बुद्धों के
अधिष्ठाता परम दैवत् के रूप में वज्रयानी सिद्धों और चिंतकों ने 'वज्रसत्व' नामक एक छठे बुद्ध
की कल्पना की, जो 'प्रज्ञापारमिता' रूपी शक्ति के पति है, जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है और जो
युगनद्ध रूप में सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते है [2]।"

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १४२
(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १४३

संसार की व्यापक शक्ति को बौद्धों की भाषा में 'शून्य' कहा गया है। ध्यान की तन्मयता में उस शून्य का ही चिंतन किया जाता था। "माध्यमिकों ने जगत् को शून्यता के स्वभाव का बतलाया था। वज्रयानी आचार्यों ने शून्य को 'वज्र' में बदल दिया। उन्होंने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रखकर उसकी वज्रपरक व्याख्या की; वज्र जो दृढ़ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है। अतः उसकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रहकर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवृत्तियों को संतुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र में बदल कर उन्होंने अपने धर्म को केवल त्याग और संयमपरक न बना कर भोग और सुख से समन्वित कर दिया; निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर वज्रयान में बौद्ध धर्म प्रवृत्तिमूलक बन गया था[1]।"

वज्रयानी सिद्ध—वज्रयान के साधक आचार्यों को 'सिद्ध' कहा गया गया है। वे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त महायोगी थे। उनकी संख्या ८४ मानी गई है। यद्यपि वज्रयानी ग्रंथों से ८४ सिद्धों की पूरी नामावली मिलती है, तथापि उसमें से अनेक नाम कल्पित जान पड़ते हैं। प्रामाणिक सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुईपा, मत्स्येन्द्र, गोरख, जालंधर, कण्हपा, तिलोपा के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका काल ७ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक माना जाता है। वे सभी सिद्धाचार्य प्रायः निम्न जातियों के थे और अपनी उच्च कोटि साधना के कारण ही ख्याति प्राप्त कर सके थे।

ह्रास और पतन—वज्रयान की तांत्रिक साधना ने बौद्ध धर्म के रूप को एक दम बदल दिया था और वही उसके ह्रास एवं पतन का भी मुख्य कारण हुई थी। उस जैसे महान् धर्म की वह शोचनीय स्थिति किस प्रकार हुई, इस पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। भगवान् बुद्ध ने 'गुरु' से बढ़ कर 'संघ' को महत्व दिया था, जिसके कारण आरंभिक बौद्ध धर्म में गुरुवाद को प्रमुख स्थान नहीं मिला था। किंतु तांत्रिक साधना में मान्य मंत्र, यंत्र, तंत्र, गुह्य साधना एवं योग की कठिन क्रियाओं और उनसे संबंधित सांकेतिक शब्दावली के निर्देशन के लिए गुरु का महत्व बढ़ गया था। सिद्ध तिलोपा ने कहा,—'परमतत्व पंडितों के लिए भी अगम-अगोचर है; किंतु गुरु के प्रसन्न होने पर कौन सी ऐसी वस्तु है, जो अगम रह जाय[2]।" इस प्रकार बौद्ध धर्म उस काल में गुरुवाद के कठोर बंधन में जकड़ गया था।

इस धर्म की मूल भावना निवृत्ति और वैराग्य प्रधान थी, किंतु वज्रयानी सिद्धों ने तांत्रिक साधना के लिए उसकी उपेक्षा कर शुद्ध रागात्मक विधियों को ग्रहण किया था। डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है,—"सिद्धों के मार्ग में कहीं भी मन की वृत्तियों को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्ययुक्त निवृत्तिमय साधना का उपदेश नहीं है। वे जीवन को ज्यों का त्यों स्वीकार करना चाहते थे और राग का शुद्ध रूप पहिचानने का आग्रह करते थे। इसीलिए उन्होंने सांसारिक राग का तो परित्याग करने का उपदेश दिया ही है; किंतु निवृत्तिमूलक, निषेधात्मक, निराशावादी विराग को भी बंधन का कारण बता कर उसके परित्याग का भी उपदेश दिया है[3]।" उसके कारण बौद्ध धर्म के उस परवर्ती रूप में वैराग्य वृत्ति का सर्वथा लोप हो गया और शुद्ध राग के साथ ही साथ वासनापूर्ण राग एवं भोग-प्रवृत्ति का प्रचलन बढ़ गया था।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १६४

(२) दोहा कोष, पृष्ठ ४

(३) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १६४

सिद्ध तिलोपा की यह उक्ति वज्रयानी साधना की कुंजी कही जा सकती है,—'जिम विस भक्खइ विसहिं पलुत्ता। तिम भव भुञ्जइ भवहिं ण जुत्ता ॥—जैसे विष का भक्षण करते रहने से मनुष्य उसके प्रभाव से मुक्त हो जाता है, वैसे ही भव का भोग करने से भी वह भव में लिप्त नहीं होता !' जिस साधना में भोग-प्रवृत्ति को इतना महत्त्व दिया गया हो, उसका अंत वासनापूर्ण अनाचार में होना स्वाभाविक था।

वज्रयानियों की तांत्रिक साधना को 'पंच मकार,' विशेष कर मुद्रा-मैथुन की मान्यता ने बड़ा बदनाम किया था। 'मुद्रा' का अर्थ है,—'मोद देने वाली।' उसे नारी के रूप में कल्पित कर उसके डोम्बी, चांडाली, कपाली, योगिनी, शवरी आदि नाम बतलाये गये है। उन मुद्राओं के साथ आलिंगन ही नहीं, वरन् मैथुन करना भी तांत्रिक साधना में आवश्यक माना गया और उसे 'महासुख' का नाम दिया गया था ! "प्रज्ञोपाय–विनिश्चय में बताया गया है कि मुद्रा के आलिंगन से साधक में वज्रावेश जागता है और वह साधना–मार्ग में प्रवृत्त होता है। किंतु यह समस्त आलिंगनादि कर्म क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मन से नहीं करने चाहिये, अन्यथा ये बंधन के कारण बन जाते हैं और इनसे सिद्धि प्राप्त नही होती। मन को इतना अनासक्त रहना चाहिये कि योगी कभी स्खलित ही न हो ! बाद में तो इन पद्धतियों का इतना विकास हुआ कि वज्रोली, सहजोली आदि पद्धतियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें साधक मैथुन के समय मुद्रा योगिनी को स्खलित करा देता है, किंतु स्वतः क्षरित नही होता ! इसके अनंतर वह नारी के रज को भी प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर में खींच लेता है और उसके काय-वाक्-चित्त की वज्रता को उपलब्ध कर लेता है ! महामुद्रा की यह साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना में निष्णात होने के उपरांत ही किसी की गणना सिद्धाचार्यों में होती थी[1]।"

उस काल के कुछ निष्णात सिद्धाचार्यों ने उस कठिन साधना में भले ही दक्षता प्राप्त की हो, किंतु अधिकांश साधकों के लिए तो वह आग से खेलते हुए भी अपने अंगों को न झुलसने देने जैसी अप्राकृतिक विधि थी। वज्रयानी अनुश्रुतियों से ही ज्ञात होता है कि कतिपय निष्णात सिद्धाचार्य भी उस कठिन साधना में विफल हुए थे। इसके लिए मत्स्येन्द्रनाथ का उपाख्यान प्रसिद्ध है। जब वे उस प्रकार की साधना करते हुए अपना स्वरूप भूल कर वासनापूर्ण कामोपभोग के चक्कर में फँस गये थे, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था।

बौद्ध धर्म की समाप्ति—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, बौद्ध धर्म श्रमण–संस्कृतिमूलक और वैराग्यप्रधान था, इसलिए इसमें विरक्त भिक्षुओं और गृहत्यागी साधकों को अधिक महत्त्व दिया गया था। समाज के बहुसंख्यक गृहस्थ वर्ग की इस धर्म में उपेक्षा ही की गई थी। वैसे इस धर्म के अनुयायियों में गृहस्थों की भी बड़ी संख्या रही थी, तथापि बौद्ध धर्म संघ में उन्हें कभी महत्व का स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। समस्त पालि साहित्य में बौद्ध गृहस्थों के लिए विवाहादि आवश्यक संस्कारों से संबंधित एक भी ग्रंथ नहीं था; गृहस्थों के लिए जैसे उसमें कुछ सोचा ही नही गया था। उधर जो बौद्ध विहार पहिले विरक्त भिक्षुओं के संयम, सदाचार, तप और त्याग के केन्द्र थे, वे वज्रयानियों की भोगप्रधान और वासनापूर्ण तांत्रिक साधना के कारण भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार के अड्डे बन गये थे !

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ २२०–२२१

बौद्ध धर्म में उस शोचनीय परिवर्तन के होने से जनता में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण उक्त धर्म के सभी तत्कालीन संप्रदाय शक्तिहीन और प्रभावशून्य दिखाई देने लगे थे। फिर उसी काल में सर्वश्री कुमारिल भट्टाचार्य और शंकराचार्य जैसे वेदोद्धारक मनीषी विद्वानों ने उन पर शास्त्रीयता की ऐसी करारी चोट की, कि उसके प्रहार से उनकी कमर ही टूट गई थी! जब तक बौद्ध धर्माचार्यों, सिद्धों और विरक्त साधकों का आचरण ठीक रहा, तब तक गृहस्थ भी उनके प्रति अनन्य श्रद्धा रखते हुए बौद्धधर्म के विविध संप्रदायों के अनुयायी बने रहे थे; किंतु जब धर्म-गुरु ही दुराचारी हो गये, तब जन साधारण की आस्था उनके धर्म के प्रति कैसे रह सकती थी! फलतः बौद्ध धर्म के अगणित अनुयायी अपने पैतृक धर्म से पल्ला छुड़ा कर अन्य धर्मों, विशेष कर वेदानुकूल पौराणिक एवं स्मार्त धर्मों की शरण में जाने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि वेदानुकूल धर्मों के "समर्थकों ने स्मार्त तथा पौराणिक संस्कारों और धर्म-विधियों की सहायता से जनता के कौटुम्बिक जीवन से एक रूप होकर उसके हृदय में अविचल एवं अटल स्थान बना लिया था[1]।"

फलतः बौद्ध धर्म के सभी संप्रदायों का शनैः शनैः वेदानुकूल धर्मों में विलय होने लगा, जिससे बौद्ध साधना से संबंधित तंत्र–मंत्र, ध्यान–धारणा, पूजा–उपचार और बिंब–प्रतीकादि अनेक बातें वेदानुकूल धर्मों की साधनाओं के साथ घुल-मिल कर चलने लगी थीं। कालांतर में बौद्ध धर्म मथुरा-मंडल से ही नहीं, वरन् भारतवर्ष के अधिकांश भाग से ही लुप्त हो गया था। मथुरामंडल में उसका लोप १० वीं शती के लगभग हुआ था, किंतु इस देश के पूर्वी भाग में उसका थोड़ा–बहुत प्रचार १२ वीं शताब्दी तक रहा था। उससे पहिले ही भगवान् बुद्ध को विष्णु के अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया और पूरी के जगन्नाथ जी को श्रीकृष्ण का बौद्धावतार मान लिया गया था। उसके बाद मुसलमानों के आक्रमण और उनके मज़हबी अत्याचारों से बौद्ध धर्म पूर्वी भारत से भी लुप्त हो गया। इस समय यह धर्म भारत से बाहर कई देशों में प्रचलित है, किंतु वहाँ भी उसके रूप में परिवर्तन हो गया है। भारतवर्ष में चाहें अब स्पष्ट रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं है, किंतु उसकी अनेक बातें जाने–बेजाने रूप में यहाँ के विविध धर्म-संप्रदायों में अब भी मिलती हैं।

२. जैन धर्म

हर्ष काल से राजपूत काल (सं० ६६३–सं० १२६३) तक की स्थिति—सम्राट हर्षवर्धन का झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति अधिक था, किंतु उसके सहिष्णुतापूर्ण शासन काल में जैन धर्म की भी उन्नति हुई थी। चीनी यात्री हुएनसांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, सम्राट हर्ष सभी धर्मों का आदर करता था। उसने बौद्ध भिक्षुओं के साथ ही साथ जैन साधुओं का भी सत्कार किया था। हूणों के आक्रमण से जैन धर्म की जो भीषण क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति का प्रयत्न इस काल में किया गया और उसमें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई थी।

धार्मिक स्थलों का जीर्णोद्धार और नव निर्माण—हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप मथुरामंडल विविध स्थानों में जैन धर्म के अनेक स्तूप, चैत्य, देवस्थान आदि ध्वंस अथवा जीर्ण अवस्था में पड़े थे। उनके पुनरुद्धार का श्रेय जिन श्रद्धालु व्यक्तियों को है, उनमें सौराष्ट्र निवासी बप्पभट्टि सूरि का नाम उल्लेखनीय है। 'विविध तीर्थकल्प' से ज्ञात होता है कि बप्पभट्टि सूरि ने अपने शिष्य

(१) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४३

७. लोक देवोपासना

तृतीय अध्याय
पूर्व मध्य काल
(विक्रमपूर्व सं. ४३ से विक्रम-पश्चात् सं. ६०० तक)

१. बौद्ध धर्म

२. जैन धर्म

३. वैदिक धर्म

४. भागवत धर्म

५. शैव धर्म

ग्वालियर नरेश आमराज से सं० ८२६ वि० में मथुरा-तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था। उसी समय ईंटों से बना प्राचीन 'देवनिर्मित स्तूप', जो उस समय जीर्णावस्था में था, पत्थरों से पुनर्निमित किया गया और उसमें भ. पार्श्वनाथ के जिनालय एवं भ. महावीर के बिम्ब की स्थापना की गई। बप्पिभट्ट सूरि ने मथुरा में एक मंदिर का निर्माण भी कराया था, जो यहाँ पर श्वेतांबर संप्रदाय का सर्वप्रथम देवालय था।

बौद्ध धर्म के प्रभावहीन और फिर समाप्त हो जाने पर मथुरामंडल में जिन धर्मों की स्थिति अच्छी हो गई थी, उनमें जैन धर्म भी था। १० वीं, ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में यहाँ पर जैन धर्म की पर्याप्त उन्नति होने के प्रमाण मिलते हैं। उस काल में मथुरा के कंकाली टीला नामक जैन केन्द्र में अनेक मंदिर-देवालयों का निर्माण हुआ था और उनमें तीर्थकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। उस काल की अनेक लेखांकित जैन मूर्तियाँ कंकाली टीले की खुदाई में प्राप्त हुई हैं। मथुरा के अतिरिक्त प्राचीन शौरिपुर (।बटेश्वर, जिला आगरा) भी उस काल में जैन धर्म का एक अच्छा केन्द्र हो गया था और वहाँ प्रचुर संख्या में जैन मंदिरों का निर्माण हुआ था।

मथुरा का जैन संघ—देश के अन्य भागों में दिगंबर-श्वेतांबर भेद-भाव बड़ी तेजी से बढ़ रहा था, किंतु मथुरा के जैन संघ में कई शताब्दियों तक इस प्रकार का भेद नहीं हुआ था। जब यह भेद वहाँ उत्पन्न हुआ, तब भी वह अधिकतर विद्वानों और साधुओं तक ही सीमित रहा था। साधारण जैन समाज और अजैन जनता उसमें रुचि नहीं लेती थी, उनके लिए दोनों संप्रदाय समान रूप से मान्य थे। ९ वीं शताब्दी में मथुरा में दोनों संप्रदायों के पृथक्-पृथक् मंदिर बनने आरंभ हो गये थे; किंतु वहाँ के प्राचीन स्तूप-चैत्यादि, तीर्थकरों के मंदिर और जम्बू स्वामी सिद्ध क्षेत्र दोनों संप्रदाय वालों को समान रूप से पूज्य थे। सोमदेव के काल (१० वीं शती) तक मथुरा के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' की प्रसिद्धि दोनों संप्रदायों में समान रूप से थी। उस समय तक जैन धर्म दिगंबर और श्वेतांबर नामक दो प्रमुख संप्रदायों के अतिरिक्त अनेक संघ, गरण, गच्छादि में विभाजित हो चुका था। उन संघों, गणों और गच्छों के नाम विभिन्न स्थानों अथवा प्रदेशों के नामों पर रखे गये थे। मथुरा प्रदेश का जैन संघ इसीलिए 'मथुरा संघ' कहलाता था।

सं० ९५३ के लगभग मथुरा निवासी आचार्य रामसेन ने मथुरा संघ को दिगंबर आम्नाय के 'काष्ठा संघ' से संबद्ध कर लिया था। काष्ठा संघ के मूल संस्थापक लोहाचार्य कहे जाते हैं, जो प्रथम शती में हुए थे। दिगंबराचार्य देवसेन सूरि कृत 'दर्शनसार' में काष्ठासंघ की उत्पत्ति नंदीतट निवासी कुमारसेन द्वारा सं० ७५३ वि० में बतलाई गई है।"मथुरा संघ निःपिच्छिक भी कहलाता था, क्यों कि उससे संबंधित जैन मुनि मोरपुच्छ या गोपुच्छ की 'पिच्छि' नहीं रखते थे।'दर्शनसार' में जो ५ जैनाभास बतलाये गये हैं, उनमें मथुरा संघ की भी गणना की गई है[1]। मथुरा संघ को जीव-रक्षा के लिए किसी तरह की पिच्छि न रखने के कारण जैनाभास कहा गया है या किसी और कारण से, यह समझ में नहीं आता। अन्यथा इस संघ के आचार्यों के ग्रंथों से कोई सिद्धांत भेद का पता नहीं चलता है[2]।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १७३

(२) वही, पृष्ठ १७४

जैन धर्म की तांत्रिक साधना—जैन धर्म तप-त्यागपूर्ण और वैराग्यप्रधान है। इसमें साधकों की रागात्मक भोग-प्रवृत्ति को दबाने के लिए कठिन व्रत, उपवास और कृच्छ्र आचारों की व्यवस्था की गई है। इसके कारण इस धर्म में भोग-प्रवृत्ति की तांत्रिक साधना के प्रविष्ट होने की बहुत कम गुंजायश थी; किंतु फिर भी उस काल के व्यापक तांत्रिक वातावरण का प्रभाव इस धर्म पर भी पड़ा था।

जैन धर्म में जो कायाकष्टात्मक कठोर आचारों की व्यवस्था है, वह अधिकतर मुनियों और साधुओं के लिए है। गृहस्थ श्रावकों के लिए जैनाचार अपेक्षाकृत कोमल रखे गये है और उन पर तंत्रों का पर्याप्त प्रभाव भी दिखलाई देता है। "तीर्थंकरों की पूजा जैन गृहस्थ उसी प्रकार करते हैं; जैसे बौद्ध, शाक्त, शैव व वैष्णव करते है। जैनियों के तीर्थंकरों व हिंदुओं के ईश्वर में केवल नाम मात्र का ही अंतर है। ईश्वर की उपासना से जो मिलता है, वह तीर्थंकर-उपासना से भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हिंदुओ को ईश्वर के महात्म्य, उसके रूप, वेष, वाहन, मंत्र आदि में विश्वास है, उसी प्रकार तीर्थंकरों के अलग-अलग मंत्र और यंत्र है। उनकी अनेक महात्म्य कथाएँ हैं, जो जैन पुराणों में मिलती है। भक्ति, देवता में विश्वास, मंत्र-साधना, पूजा, उपासना सब कुछ जैन मत में प्राप्त होता है। इस प्रकार जनप्रिय जैन मत का स्वरूप तांत्रिक मत से भिन्न नहीं दिखाई पड़ता है। यह जनप्रिय रूप आठवी शताब्दी से और भी अधिक महत्व प्राप्त करता है। जिनसेन कृत 'आदिपुराण' का समय भी यही है। तात्पर्य यह है कि तांत्रिक युग में ही जैन धर्म के जनप्रिय रूप पर तांत्रिक प्रभाव देखा जा सकता है[1]।"

"जैन शासन में तीर्थंकरों की ध्यान-धारणा तांत्रिक पद्धति के अनुसार प्रचलित है। ध्यान के चार रूप जैन मत में मिलते है,– १. पिंडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपवर्जित। पिंडस्थ ध्यान में तांत्रिकों का षट्चक्र वेध पूर्णतया स्वीकृत है। शाक्तों की पद्धति पर जैनागम में तीर्थंकर की 'शासन देवता' के रूप में शक्ति-पूजा भी मान्य है। श्वेतांबर मत में २४ देवियों के नाम मिलते हैं, तथा सरस्वती के १६ व्यूह माने गये हैं। मठपति जैन साधक मठों में रह कर तांत्रिक साधना करते थे। वे देवी-अर्चन, वशीकरण, अंगनाकर्षण, गारुड़ी विद्या का अभ्यास करते थे। 'अरिहंताणम्' जैन पंचाक्षरी है। प्रणव (ओ३म्) तथा माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर भी जैन साधना में स्वीकृत हैं। सारांश यह है कि जैनियों की तांत्रिक साधना में पूरा मंत्र शास्त्र स्वीकृत किया गया है। अंतर केवल यह है कि इसमें 'वामाचार' स्वीकृत नहीं है; शेष बातें तांत्रिक हैं[2]।" वामाचार की अस्वीकृति के कारण ही तांत्रिक साधना जैन धर्म को इस काल में बौद्ध, शैव, शाक्तादि धर्म-संप्रदायों की अपेक्षा बहुत कम विकृत कर सकी थी। जो कुछ विकृति आई भी थी, उसे दूर करने का निरंतर प्रयास होता रहा था।

धार्मिक साहित्य—भारतीय धर्मों में जैन धर्म का अत्यंत समृद्ध साहित्य है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस धर्म का प्राचीनतम साहित्य प्राकृत भाषा में रचा गया है। विक्रम की छठी शताब्दी के बाद से जैन विद्वानों ने प्राकृत के अतिरिक्त पहिले संस्कृत में और फिर अपभ्रंश में भी रचनाएँ करना आरंभ किया था। संस्कृत भाषा के ग्रंथों में रविषेन कृत 'पद्मचरित्र (सं० ६३४ वि०) और जिनसेन कृत 'अरिष्टनेमि पुराण' (सं० ८४० वि०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से

---

(१) शक्ति अंक (कल्याण), पृष्ठ ४७७

(२) संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृष्ठ ४७ से ४९ तक का सारांश।

प्रथम ग्रंथ में पद्म अर्थात् राम के चरित्र का कथन जैन दृष्टिकोण से किया गया है। दूसरे में अरिष्टनेमि और उनके भाई कृष्ण का चरित्र जैन दृष्टिकोण से वर्णित है। इस ग्रंथ को जैन 'हरिवंश' भी कहते हैं। हिंदू 'हरिवंश' में जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का कथन है, वहाँ जैन हरिवंश में श्रीकृष्ण के महत्व को कम करके उनके तथाकथित भाई अरिष्टनेमि उपनाम तीर्थंकर नेमिनाथ का उत्कर्ष दिखलाया गया है। यह १२ हजार श्लोक और ६६ सर्ग का विशाल ग्रंथ है। इसमें स्थान-स्थान पर दिगंबर संप्रदाय की मान्यता के अनुसार जैन सिद्धांतों का निरूपण भी किया गया है। इस ग्रंथ की एक विशेषता यह है कि इसमें भ. महावीर से लेकर इसके रचनाकाल सं० ८४० तक की जैन गुरु-परंपरा अविच्छिन्न रूप से दी हुई है, जो किसी अन्य ग्रंथ में नहीं मिलती है। इस ग्रंथ के रचयिता जिनसेन पुन्नाट संघ के आचार्य थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिसेन था। ग्रंथ की रचना वर्द्धमानपुर में हुई थी। वह वर्द्धमानपुर श्री नाथूराम प्रेमी के मतानुसार काठियावाड़ का प्रसिद्ध नगर वड़वाण था[1]। ग्रंथकार का जन्म सं० ८१० में और देहावसान सं० ६०० में हुआ था। उन्होंने केवल ३० वर्ष की आयु में यह विशाल ग्रंथ रचा था। जैन धर्म के ६३ शलाका पुरुषों का विशद वर्णन 'महापुराण' में हुआ है। इसे 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' भी कहते हैं। इसकी रचना जिनसेन और उसके शिष्य गुणभद्र ने १०वीं शती के लगभग की थी। यह जिनसेन हरिवंश के रचयिता पूर्वोक्त जिनसेन से भिन्न थे। इस ग्रंथ के दो भाग हैं, जो 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' कहलाते हैं। आदि पुराण में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ का चरित्र वर्णित है और उत्तर पुराण में शेष ६२ शलाका पुरुषों का चरित्र लिखा गया है। इस ग्रंथ का आरंभ जिनसेन ने किया था, किंतु उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी पूर्ति उसके शिष्य गुणभद्र ने की थी।

अपभ्रंश भाषा की रचनाएं—प्राकृत और संस्कृत के साथ ही साथ अपभ्रंश भाषा में भी जैन धर्म का प्रचुर साहित्य रचा गया था। अपभ्रंश की रचनाओं में तो जैन विद्वानों का प्रायः एकाधिकार ही रहा है। अब तक अपभ्रंश भाषा के जितने ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं, उनमें से अधिकांश जैन विद्वानों के रचे हुए हैं। अपभ्रंश भाषा का शूरसेन अर्थात् प्राचीन मथुरामंडल से विशेष संबंध रहा है। दंडी कृत 'काव्यादर्श' में आभीरादि की बोली और काव्य की भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख किया गया है[2]। ब्रजभाषा के पूर्व रूप शौरसेनी अपभ्रंश ने अपने परंपरागत सहज माधुर्य से उस काल के जैन कवियों को विशेष रूप से आकर्षित किया था।

अपभ्रंश भाषा के जैन कवियों में सर्वप्रथम और सबसे प्रमुख स्थान स्वयंभू का है, जिनका समय सं. ७३४ से ८५० के बीच का माना गया है। वे अपभ्रंश के कवि ही नहीं, उस भाषा के आचार्य भी थे। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध काव्य ग्रंथों के साथ ही साथ अपभ्रंश के व्याकरण और छंदशास्त्र के ग्रंथों की भी रचना की थी। उन्होंने अपने जन्म-स्थान, वंश, गोत्र, गुरु और संप्रदाय के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। ऐसा अनुमान होता है कि वे दाक्षिणात्य थे, और संभवतः कर्णाटक के किसी स्थान के निवासी थे[3]। वे गृहस्थ थे, विरक्त साधु नहीं। पुष्पदंत कृत 'महापुराण' के टिप्पण में उन्हें आपुली संघीय बतलाया गया है, अतः वे यापनीय संप्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं[4]।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ४२४

(२) आभीरादि गिराः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः (काव्यादर्श, १—३६)

(३) राहुलजी ने स्वयंभू को कोसल (मध्यदेश) का निवासी लिखा है। (हिंदी काव्यधारा, पृ० २२)

(४) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३७४

स्वयंभू के दो ग्रंथ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं । वे है,—१. पउम चरिउ (पद्म चरित्र) या राम-कथा २. रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित्र) या हरिवंश पुराण । ये दोनों विशाल ग्रंथ जैनियों के रामायण और महाभारत हैं । काव्य की दृष्टि से भी ये अत्यंत प्रशंसनीय हैं । महाकवि धवल और देवसेन १० वीं शताब्दी में हुए थे । धवल द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचा हुआ 'हरिवंश पुराण' प्रसिद्ध है, जिसमें अरिष्टनेम की कथा लिखी गई है । देवसेन का रचना-काल सं० ९९० है । उनके ग्रंथ 'सावयधम्म दोहा' के साथ ही साथ 'दर्शन सार' और 'तत्व सार' भी हैं ।

महाकवि पुष्पदंत स्वयंभू के पश्चात् अपभ्रंश के सबसे प्रमुख कवि हुए हैं । वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण केशव भट्ट के पुत्र थे और शैव से जैन हुए थे । उनका मूल निवास कहाँ था, इसका उल्लेख उनकी रचनाओं में नहीं मिलता है । श्री नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि वे संभवतः बरार प्रदेश के निवासी थे[1] । राहुल जी ने उनका जन्म ब्रज या यौधेय (दिल्ली) प्रदेश बतलाया है[2] । वे राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के महामात्य भरत के आश्रित कवि थे । उनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम १. तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार), २. णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित्), ३. जसहर चरिउ (यशोधर चरित) हैं । प्रथम ग्रंथ एक विशाल महाकाव्य है, जो 'महापुराण' के नाम से विशेष प्रसिद्ध है । यह 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' नामक दो खंडों में विभाजित है । ये दोनों खंड स्वतंत्र ग्रंथों की तरह पृथक्-पृथक् भी मिलते है । आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित है और उत्तर पुराण में शेष २३ तीर्थंकरों के चरित हैं । उत्तर पुराण में पद्मपुराण (रामायण) तथा हरिवंश पुराण (महाभारत) सम्मिलित हैं, और वे पृथक् ग्रंथों के रूप में भी मिलते हैं । इसी खंड में २३ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के साथ प्रासंगिक रूप में शूरसेन प्रदेश और कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है । इस ग्रंथ के दोनों खंडों का श्लोक-परिमाण २० हजार के लगभग है । इसे कवि ने ६ वर्ष तक लगातार परिश्रम करने के उपरांत सं० १०२२ वि० में पूर्ण किया था । उनके अन्य दोनों ग्रंथ 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) और 'जसहर चरिउ' (यशोधर चरित) खंड काव्य हैं, जिनकी रचना महापुराण के पश्चात् हुई थी ।

मुसलमानों के आक्रमण का प्रभाव—सं १०७४ में जब महमूद गजनवी ने मथुरा पर भीषण आक्रमण किया था, तब यहाँ के धार्मिक स्थानों की बड़ी हानि हुई थी । कंकाली टीला का सुप्रसिद्ध 'देवनिर्मित स्तूप' भी उस काल में आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया था; क्यों कि उसका उल्लेख फिर नहीं मिलता है । ऐसा मालूम होता है, उक्त प्राचीन स्तूप के अतिरिक्त कंकाली टीला के अन्य जैन देवस्थानों की बहुत अधिक क्षति नहीं हुई थी; क्यों कि उससे कुछ समय पूर्व ही वहाँ प्रतिष्ठित की गई जैन प्रतिमाएँ अक्षुण्ण रूप में उपलब्ध हुई है । संभव है, जैन श्रावकों द्वारा उस समय वे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दी गई हों, और बाद में उन्हें प्रतिष्ठित किया गया हो ।

महमूद गजनवी के आक्रमण काल से दिल्ली के सुलतानों का शासन आरंभ होने तक अर्थात् ११ वीं से १३ वीं शतियों तक मथुरामंडल पर राजपूत राजाओं का शासनाधिकार था । उस काल में यहाँ जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव था । उसके पश्चात् वैष्णव संप्रदायों का अधिक प्रचार होने से जैन धर्म शिथिल हो गया था ।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३०५

(२) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ १७६

३. वैदिक धर्म

हर्षोत्तर काल (सं० ७०४ – सं० ८८०) की स्थिति—बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक धर्मों के विविध संप्रदायों का अधिक प्रचार होने से वैदिक धर्म की लोकप्रियता में विगत कई शताब्दियों से जो बराबर कमी होती जा रही थी, वह हर्ष काल (सं० ६६३–सं० ७०४) में और भी बढ़ गई थी। यद्यपि संस्कृतज्ञ विद्वानों में वेदाध्ययन और वैदिक वाङ्मय के पठन-पाठन का पर्याप्त प्रचार था; तथापि वैदिक धर्म के अनुकूल आचार-विचारों के मानने वाले बहुत कम रह गये थे। उसका यह परिणाम हुआ कि वैदिक संस्कृति और वेदानुकूल कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग की प्राचीन परंपराएँ समाप्त-प्राय हो गई थीं। उस शोचनीय स्थिति से वैदिक धर्म का पुनरुद्धार कर उसके नष्टप्राय प्रभाव को पुनः स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न इस काल में किया गया। उस महान् कार्य को सम्पन्न करने में जिन विद्वानों ने सर्वाधिक योग दिया था; उनमें कुमारिल भट्टाचार्य और शंकराचार्य के नाम प्रसिद्ध हैं। कुमारिल भट्ट कुछ पहिले और शंकराचार्य कुछ बाद में हुए थे। कुमारिल भट्ट ने वेदोक्त कर्म-मार्ग और शंकराचार्य ने वेदोक्त ज्ञानमार्ग की पुनर्स्थापना की थी। यद्यपि उन दोनों के सिद्धांतों में भेद था, तथापि दोनों का उद्देश्य समान रूप से वैदिक परंपरा के लुप्तप्राय प्रभाव को पुनः स्थापित करना था।

कुमारिल भट्टाचार्य—उनका यथार्थ काल और प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत अज्ञात है। ऐसा जान पड़ता है, वे ८ वीं शती में हुए थे। कुछ विद्वानों ने उन्हें दाक्षिणात्य तैलंग ब्राह्मण बतलाया है; किंतु श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के मतानुसार वे उत्तर भारतीय थे और आर्यावर्त के किसी स्थान के निवासी थे। उनका देहावसान सं० ७५७ में हुआ था[1]। उन्होंने बौद्ध धर्माचार्य श्रीनिकेत से धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन करने पर वे उसके वैदिक कर्मकांड विरोधी सिद्धांत से सहमत नहीं हुए। फलतः उन्होंने वेदोक्त कर्ममार्ग की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का व्रत ग्रहण किया। उन्होंने बौद्ध धर्म के तर्कों से ही बौद्ध विद्वानों को पराजित कर वैदिक कर्ममार्ग की पुनः प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।

कुमारिल का अग्नि-प्रवेश—कुमारिल भट्ट के देहावसान के संबंध में एक किंवदंती बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं, उन्हें इस बात से अत्यंत क्षोभ था कि उन्होंने बौद्ध गुरु से शिक्षा प्राप्त करने पर भी जीवन पर्यन्त बौद्ध धर्म का खंडन कर गुरु-द्रोह का पातक किया था। उसके प्रायश्चित के लिए उन्होंने वृद्धावस्था में अग्नि-प्रवेश द्वारा अपना शरीरांत करने का निश्चय किया। तदर्थ उन्होंने प्रयाग में त्रिवेणी तट पर चिता बनाई और उसमें जलने की तैयारी करने लगे। जिस समय कुमारिल भट्ट अग्नि में प्रवेश करने को तत्पर हुए, उसी समय युवक शंकराचार्य ज्ञानमार्ग और अद्वैतमत का प्रचार करते हुए वहाँ पहुँच गये थे। उन्होंने कुमारिल भट्ट से कर्ममार्ग की प्रधानता पर उनके साथ शास्त्रार्थ करना चाहा। इस पर कुमारिल भट्ट ने कहा,—'मैं तो अब अग्नि में प्रवेश कर रहा हूँ; अतः वाद-विवाद नहीं कर सकता। आप मेरे शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ कीजिये।' ऐसा कहने के बाद उस वयोवृद्ध विद्वान ने प्रसन्नता पूर्वक अग्नि में प्रवेश कर अपने शरीर का अंत कर दिया था!

---

(१) राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ २८८–२६०

पूर्वोक्त किंवदंती 'शंकर दिग्विजय' ग्रंथ पर आधारित है, जिसके सभी वृत्तांत को पूर्णतया प्रामाणिक नही माना जाता है। श्री चिंतामणि विनायक वैद्य का मत है,—"कुमारिल भट्ट के लगभग १०० वर्ष पश्चात् श्री शंकराचार्य का उदय हुआ था, अतः कुमारिल और शंकराचार्य की भेंट की कथा काल्पनिक है[१]।" कुमारिल ने कपट पूर्वक बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था, जिसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हें अपनी देह अग्नि के अर्पित करनी पड़ी—इस आख्यायिका में भी थोड़ा ही सत्यांश है। उन्होंने बौद्ध धर्म का सांगोपांग अध्ययन अवश्य किया था; किंतु उसे कपट नहीं कहा जा सकता। उस काल के बौद्ध धर्माचार्य विना किसी रुकावट के प्रत्येक व्यक्ति को बौद्ध धर्म की शिक्षा दिया करते थे। कुमारिल ने अपनी देह को जो अग्नि के अर्पित किया था, वह कार्य भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त रूप में नहीं था; वलिक उस काल की प्रथा के अनुसार था। उस काल में कर्म-बंधन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वृद्ध जन स्वतः अपनी जीर्ण देह को अग्नि के अर्पण कर देते थे। वह प्रथा आगे चल कर उठ गई थी[२]।

कुमारिल का सिद्धांत और उसकी सफलता—कुमारिल भट्ट का धार्मिक सिद्धांत मीमांसा दर्शन पर आधारित है, अतः उन्हें 'मीमांसक' कहा जाता है। मीमांसा दर्शन के मूल सूत्र 'पूर्व मीमांसा' की रचना आचार्य जैमिनि ने की थी और शवरस्वामी ने उसका भाष्य किया था। कुमारिल भट्ट ने उस पर 'वार्तिक' की रचना की थी। "मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है। इसमें वेद को प्रमाण माना जाता है और यह वेद या उसके शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मंत्र ही सब कुछ हैं। वे ही देवता हैं, देवताओं की कोई अलग सत्ता नही है। सभी कर्म फल के उद्देश्य से होते हैं, और फल की प्राप्ति कर्म द्वारा होती है[३]।" कुमारिल भट्टाचार्य ने अपने समय के अनेक बौद्धाचार्यों को पराजित कर अपने सिद्धांत की श्रेष्ठता प्रमाणित करने में सफलता प्राप्त की थी। वे मीमांसा मार्ग की प्रतिष्ठा द्वारा वेदोक्त यज्ञादि कर्मकांड को पुनः प्रचलित करने में कृतकार्य हुए थे। उनके शिष्यों में मंडन मिश्र प्रमुख थे, जिनका शंकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था।

शंकराचार्य—उनके यथार्थ काल के संबंध में मत भेद है, किंतु अधिकांश विद्वान उनकी विद्यमानता नवी शती में मानते हैं। ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म सं० ८४६ की वैशाख शु० ५ को हुआ था। वे केरल प्रदेश के नामबुद्री ब्राह्मण थे। अपनी बाल्यावस्था से ही वे अत्यंत तीक्ष्ण-बुद्धि, विलक्षण मेधावी और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। उन्होंने बहुत छोटी आयु में ही समस्त वैदिक वाङ्मय और विविध शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। विद्याध्ययन करने के अनंतर वे संन्यासी हो गये और वेदोक्त ज्ञानमार्ग के प्रचारार्थ देश भर में भ्रमण करने लगे।

शंकर दिग्विजय—शंकराचार्य ने अपने सिद्धांतों के प्रचारार्थ समस्त भारत की यात्रा की थी। उस यात्रा में उन्होंने विभिन्न धर्मावलंबी विद्वानों को शास्त्रार्थ द्वारा पराजित कर उन्हें वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया था। उनकी वह यात्रा धार्मिक विजय के रूप में 'शंकर दिग्विजय' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके समय में बौद्ध-जैनादि अवैदिक धर्म तथा शैव, शाक्त, गाणपत्यादि वेदोक्त धर्म-संप्रदाय अपने विकृत रूप में विद्यमान थे, जो अनेक पंथों में विभाजित होकर जनता में

(१) राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ २६४
(२) वही " , पृष्ठ २६०
(३) हिंदुत्व, पृष्ठ ५४६-५५० का सारांश
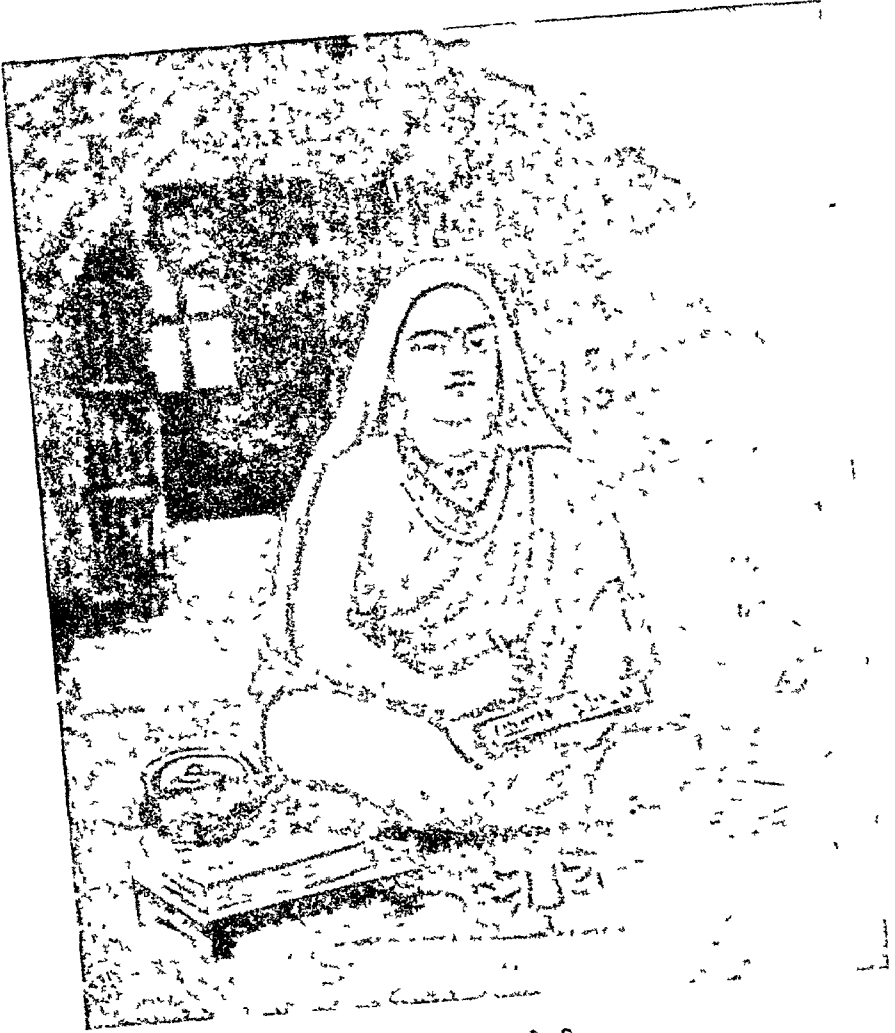
श्री शंकराचार्य जी

अनिष्टकारी विचारों का प्रसार कर रहे थे। शंकराचार्य ने एक ओर अवैदिक धर्मो का खंडन किया, तो दूसरी ओर उन्होंने वेदोक्त मत-मतांतरों के विकृत रूप का भी बड़ा विरोध किया था। वे बौद्ध और जैन धर्मों के विभिन्न संप्रदायाचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन्हें सर्वत्र पराजित करने में सफल हुए थे। उसके साथ ही उन्होंने दक्षिण में शैव, शाक्त, गाणपत्यादि विकृत मतों के प्रभाव को समाप्त किया तथा महाराष्ट्र के कापालिकों के अनाचार दूर किये। उज्जैन में भैरवों की भीषण साधना उन्होंने बंद कराई तथा असम के कामरूप में शाक्त तांत्रिकों के तामसी क्रिया-कलाप का अंत किया। उनके उक्त धार्मिक अभियान के कारण उस काल के विकृत धर्म-संप्रदायों के विरुद्ध ऐसा जन-मत जागृत हुआ कि उनमें से कई प्रभावशून्य हो गये, और कई नाम मात्र को शेष रह गये थे। बौद्ध धर्म उसी के फल स्वरूप कुछ समय पश्चात् ही समाप्त हो गया था। उन्होंने माहिष्मती जा कर कुमारिल भट्ट के विद्वान शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ किया, जिसमें मंडन मिश्र ने कर्ममार्ग और शंकराचार्य ने ज्ञानमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। उस शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मंडन मिश्र की पत्नी भारती ने की थी। उस विदुषी महिला ने निरपेक्ष भाव से अपने पति को पराजित और शंकराचार्य को विजयी घोषित किया था। शास्त्रार्थ के नियमानुसार मंडन मिश्र को शंकराचार्य का शिष्य होना पड़ा। उन्होंने गृहस्थ का त्याग कर संन्यास ग्रहण किया और शंकराचार्य से दीक्षा लेकर वे सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे शंकराचार्य के वरिष्ठ शिष्यों में से थे और उन्होंने शांकर मत के समर्थन में कई ग्रंथों की रचना की थी।

मठ और शिष्य-परंपरा—शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर चार मठ स्थापित किये, जिनके अध्यक्ष उन्होंने अपने प्रधान शिष्यों को नियुक्त किया था। उनके द्वारा स्थापित मठों में उत्तर का ज्योतिर्मठ वदरिकाश्रम में, दक्षिण का प्रधान शृंगेरी मठ कर्णाटक में, पूर्व का गोवर्धन मठ जगन्नाथपुरी में और पश्चिम का शारदा मठ द्वारका धाम में है। इन मठों के द्वारा उन्होंने इस विशाल देश को धार्मिक एकता के सूत्र में बाँधने का अभूतपूर्व कार्य किया था। उनकी शिष्य-परंपरा के संन्यासी १० वर्गों में विभाजित हैं, जिन्हें दशनामी संन्यासी कहा जाता है। उनके नाम १. तीर्थ, २. आश्रम, ३. वन, ४. अरण्य, ५. गिरि, ६. पर्वत, ७. सागर, ८. सरस्वती, ९. भारती और १०. पुरी है। वे पूर्वोक्त चारों मठों में से किसी एक के अंतर्गत होते है।

ग्रंथ-रचना—शंकराचार्य ने काशी और वदरिकाश्रम में निवास कर अनेक ग्रंथों की रचना की थी; जिनमें ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता के भाष्य अधिक प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रों पर आरंभिक भाष्य उन्ही का है, जिससे वेदांत के गूढ़ अभिप्राय को समझने में सुविधा हुई है। उनके पश्चात् अन्य आचार्यो ने भी भाष्य रचे, जिनमें शंकर-मत का खंडन-मंडन किया गया है।

शंकर-सिद्धांत—शंकराचार्य ने वेदोक्त ज्ञानमार्ग की प्रधानता प्रमाणित कर कर्म और उपासना मार्गो को गौण वतलाया है। उन्होंने ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध करते हुए जिस 'अद्वैत' मत की स्थापना की है, वह 'केवलाद्वैत' कहलाता है। उनके मत में जहाँ एक ओर वेद, उपनिषद् और वेदांत दर्शन के सिद्धांतों को स्वीकार किया गया है, वहाँ दूसरी ओर बौद्ध धर्म के कतिपय महायानी सिद्धांतों को भी आत्मसात कर लिया गया है। उसके कारण कतिपय विरोधी आचार्यो ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध वतलाते हुए उनके सिद्धांत को बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद् संस्करण कहा है! वे प्रमुख रूप से ज्ञानमार्ग के समर्थक थे, किंतु उन्होंने कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग को भी ज्ञानमार्ग के अवान्तर साधन माने है। इस प्रकार उन्होंने गौण रूप से कर्म और भक्ति को भी स्वीकार किया है। उन्होने

निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के ब्रह्मज्ञान की स्थिति निश्चित की है। आरंभिक अवस्था में साधक की सुविधा के लिए परमात्मा के साकार स्वरूप की व्यवस्था करते हुए उन्होंने मूर्ति-पूजा को भी अपने मत में ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार शंकराचार्य के धार्मिक मत में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। उनका संप्रदाय 'स्मार्त मत' कहा जाता है, जिसमें पंच देवोपासना की मान्यता है।

वैदिक परंपरा की पुनर्प्रतिष्ठा—श्री शंकराचार्य के महत्व की सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने शताब्दियों से प्रभावहीन वैदिक परंपरा की पुष्टि की थी और वर्तमान हिंदू धर्म की नींव डाली थी। उन्होने भारत के प्राचीन तत्वज्ञान की प्रस्थानत्रयी उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के आधार पर ऐसे अद्वैतवादी मत को प्रचलित किया, जिसके सामने कोई भी अवैदिक धर्म-संप्रदाय नही टिक सका था। उनके प्रयत्न से नष्टप्राय वैदिक मान्यताओं का पुनरुद्धार और वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना हुई थी तथा शास्त्रोक्त विधि-विधानों को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार जिस कार्य को कुमारिल भट्ट ने आरंभ किया था, उसकी बहुत-कुछ पूर्ति शंकराचार्य ने अपने ढंग से की थी। वे केवल ३२ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहे थे; किंतु उस अल्प काल में ही वे जैसा महान् कार्य कर गये, वैसा दूसरे अनेक धर्माचार्य विगत कई शताब्दियों में भी नहीं कर सके थे।

मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति पर प्रभाव—शंकराचार्य के धार्मिक अभियान का मथुरा-मंडल की धार्मिक स्थिति पर बड़ा दूरगामी प्रभाव पड़ा था। उनके कारण यहाँ का बौद्ध धर्म समाप्त-प्राय हो गया और वेदानुकूल धर्मो को बड़ा बल मिला था। बौद्ध काल में यहाँ पर जो वर्ण-व्यवस्था भंग हो गई थी, वह फिर से व्यवस्थित की गई। उसके फलस्वरूप अवैदिक धर्म-संप्रदायों के जिन बहुसंख्यक लोगों ने वैदिक धर्म स्वीकार किया था, उन्हें गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार फिर से द्विजातियों में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार सर्वोच्च माने जाने वाले ब्राह्मण वर्ण की संख्या स्वभावतया ही अन्य वर्णो की संख्या से अधिक हो गई थी।

राजपूत राजाओं का योग—६ वीं से ११वी शतियों तक मथुरामंडल पर कन्नौज के प्रतिहार वंशीय राजपूत राजाओं का अधिकार रहा था। उस काल के प्राय: सभी राजपूत राजा वेदानुकूल धर्म-संप्रदायों के अनुयायी थे; अत: उनके प्रोत्साहन से यहाँ वैदिक परंपराओं के साथ ही साथ भागवत, शैव, शाक्तादि धर्मो की भी बड़ी उन्नति हुई थी। उस काल में यहाँ पौराणिक देव; विशेष कर विष्णु, शिव, शक्ति आदि की उपासना अधिकता से होती थी। उन सभी देवी-देवताओं के अनेक मंदिर-देवालय राजपूत राजाओं द्वारा बनवाये गये थे। ११ वीं शती के आरंभ में जब कन्नौज राज्य पर परवर्ती प्रतिहार राजा विजयपाल का शासन था, तब मथुरा में दिवाकर भट्ट नामक एक संस्कृतज्ञ ब्राह्मण हुआ था। उसने अपने परिचयात्मक उल्लेख में मथुरा राज्य की तत्कालीन स्थिति का भव्य वर्णन किया है। उसने लिखा है, उस काल में यहाँ ३६ हजार वेदपाठी ब्राह्मण थे! वेदपाठियों की उतनी बड़ी संख्या यहाँ के वेदानुकूल धर्मो की तत्कालीन सुदृढ़ स्थिति की सूचक है।

दिवाकर भट्ट का उल्लेख—अपना परिचय देते हुए दिवाकर भट्ट ने लिखा है,—"जहाँ सुंदर कालिंदी (यमुना) प्रवाहित होती है, छत्तीस हजार ब्राह्मणों द्वारा तीनों याम गाये जाने वाले ऋक्, यजु और साम की मंत्रध्वनि से जहाँ की सारी भूमि प्रतिध्वनित होती है, जहाँ कृष्ण ने कालिय नाग का मर्दन किया, दैत्यों को मारा और बचपन में बाल-क्रीड़ा की; उसी मथुरा में मैं दिवाकर भट्ट पैदा हुआ[1]।"

---

(१) ब्रज भारती

चतुर्थ अध्याय

मध्य काल

[विक्रम सं. ६०० से विक्रम सं. १२६३ तक]

महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी ने दिवाकर भट्ट के संबंध में जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि वह विद्वान ब्राह्मण ११ वीं शती के आरंभ में मथुरा में पैदा हुआ था। वह प्रतिहार राजा विजयपाल के समय में मथुरा से कम्बोज (कम्बोडिया) देश को चला गया था। प्राचीन काल से ही भारत के विद्वत् वर्ग धर्म-प्रचारार्थ और वणिक् जन व्यापार-वाणिज्य के लिए विदेशों में जाते रहे हैं। दिवाकर भट्ट भी संभवतः धर्म-प्रचार के लिए ही कम्बोज देश गया था। वहाँ के तत्कालीन राजा राजेन्द्र वर्मा (मृत्यु सं० १०२५ वि०) ने भट्ट का बड़ा सत्कार किया और उसे अपना राज-पुरोहित बनाया; साथ ही अपनी कन्या इंद्रलक्ष्मी का विवाह भी उसके साथ कर दिया। उस काल में ब्राह्मण-क्षत्रियों के वैवाहिक संबंध होते थे। राजा के संबंधी एक वैभवशाली सामंत और राजपुरोहित के रूप में वह कम्बोज देश में ही रहने लगा था। उसकी संतान संभवतः उसी देश में बस गई थी[१]।

गजनवी के आक्रमण का प्रभाव—मथुरा राज्य में वैदिक और वेदानुकूल धर्म-संप्रदायों की सुदृढ़ स्थिति महमूद गजनवी के आक्रमण काल तक रही थी। जब गजनवी के भीषण आक्रमण से मथुरा के धर्मप्राण व्यक्तियों का संहार और बहुसंख्यक मंदिर-देवालयों का ध्वंस हुआ; तब यहाँ की धार्मिक स्थिति भी अत्यंत शोचनीय हो गई थी। उसके कारण वैदिक धर्म पुनः प्रभावहीन हो गया। कालांतर में उसका स्थान पौराणिक धर्म-संप्रदायों ने ग्रहण किया था।

४. शैव धर्म

हर्ष काल (सं० ६६३ – सं० ७०४) की स्थिति—सम्राट हर्षवर्धन जिस राजवंश में उत्पन्न हुआ था, उसका कुल–देवता शिव था और उस वंश के राजागण 'परम माहेश्वर' कहलाते थे। हर्ष का पूर्वज पुष्यभूति शिवोपासक था, किंतु उनका पिता प्रभाकरवर्धन शिव के साथ ही साथ सूर्य का भी भक्त था। हर्ष भी अपनी कुल–परंपरा के अनुसार आरंभ में शिव और सूर्य का उपासक रहा था। वह 'परम माहेश्वर' कहलाता था और उसकी वह उपाधि राज–मुद्राओं पर अंकित होती थी। बाण कृत 'हर्ष चरित्' से ज्ञात होता है, जब सम्राट हर्ष ने शशांक के विरुद्ध अपनी प्रथम रण–यात्रा का आयोजन किया, तब उसने सर्वप्रथम भगवान् 'नील लोहित' का भक्ति भाव से पूजन किया था। उन सब बातों से ज्ञात होता है कि हर्ष शैव था। बाद में उसका झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति अधिक हो गया था; किंतु धार्मिक सहिष्णुता के कारण वह सभी धर्मों का समान रूप से आदर करता था। उस काल में शैव धर्म का पर्याप्त प्रचार था और उसके कई संप्रदाय प्रचलित थे। राजा और प्रजा सभी शिव के भक्त थे और वे शैव धर्माचार्यों एवं साधुओं का बड़ा सन्मान करते थे।

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (सं० ७०४ – सं० १२६३) तक की स्थिति—इस काल के राजपूत राजाओं में से अधिकांश शैव धर्म के अनुयायी थे। उनमें से कई की उपाधि 'परम माहेश्वर' थी। उस समय साधारणतया समस्त भारत में शैव धर्म का प्रचार था; किंतु शैव दर्शन की दृष्टि से इस धर्म के दो बड़े केन्द्र हो गये थे,—उत्तर भारत में कश्मीर और दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश। उस काल में शैव धर्म के जो प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान हुए, वे प्रायः इन्हीं दोनों प्रदेशों के निवासी थे। ८ वीं शती में काश्मीरी विद्वान वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने शैव सूत्रों की रचना कर उनका व्यापक प्रचार किया था। उस समय वहाँ के शैवागमों की भी बड़ी ख्याति हुई थी। ९वीं शती में भारत के महान् धार्मिक नेता श्री शंकराचार्य का उदय दक्षिण के केरल प्रदेश में

(१) अतीत से वर्तमान, पृष्ठ १८-१९

हुआ था। यद्यपि वे शैव कुल में उत्पन्न हुए थे; किंतु उन्होंने उस काल के कई विकृत शैव संप्रदायों का विरोध किया था। उनके द्वारा जिस 'केवलाद्वैत' सिद्धात का प्रचार हुआ, उसने शैव धर्म और शैवागमों के साथ ही साथ सभी धर्म-संप्रदायों में क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया था।

शैव धर्म की तांत्रिक साधना—शंकराचार्य के समय में शैव धर्म पर तांत्रिक साधना और बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप वज्रयान का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उस काल के शैवागम भी वज्रयानी तान्त्रिक साधना से प्रभावित हुए थे। उनके कारण इस धर्म के प्राचीन संप्रदाय पाशुपत-लाकुलीश के आचार्य और वज्रयानी सिद्धाचार्य एक दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ को इसीलिए दोनों संप्रदायों की परंपरा में माना जाता है। इस धर्म में दक्षिणाचार और वामाचार दोनों तान्त्रिक विधियाँ प्रचुरता से प्रचलित हुई थीं।

गोरखनाथ—वे विक्रम की १० वीं शती मे हुए थे। शकराचार्य के पश्चात् उनके जैसा प्रभावशाली धर्माचार्य दूसरा नही हुआ। वे अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के कारण वज्रयान और शैव धर्म दोनों की परंपराओं से संबंधित थे। उन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की वाममार्गीय तांत्रिक साधना को बंद कराने और उस समय के शैव धर्म को सशोधित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके द्वारा प्रचारित 'योगमार्ग' ने वज्रयान और शैव धर्म दोनों की तांत्रिक साधना पर कठोर प्रहार किया था, जिसके फल स्वरूप वज्रयान की तो प्रायः समाप्ति ही हो गई थी और शैव धर्म में वामाचार का प्रचलन बहुत कम हो गया था। दक्षिणाचार की सौम्य तांत्रिक साधना इस धर्म में बाबर चलती रही। उनका योगमार्ग 'नाथ संप्रदाय' के नाम के प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानों का मत है कि नाथ संप्रदाय पहिले से ही प्रचलित था और वह किसी न किसी रूप में प्राचीन पाशुपत-लाकुलीश संप्रदाय से संबंधित रहा था। गोरखनाथ ने योगमार्ग और नाथ संप्रदाय को व्यवस्थित एवं संगठित रूप प्रदान कर उनका व्यापक प्रचार किया था।

"गोरखनाथ का पंथ पट्दर्शनों पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि आत्मा की खोज मे कही बाहर जाने की आवश्यकता नही; वह अपने भीतर—काठ के भीतर अग्नि, बीज के भीतर वृक्ष, एवं पुष्प के भीतर गंध की भाँति—व्याप्त व अंतर्निहित हे। उन्होने कल्पित देवी-देवताओं की आराधना, वर्ण-विभेद व सांप्रदायिक संकीर्णता का विरोध किया और ब्रह्मचर्य, आत्मसंयम व युक्ताहार-विहारादि को स्वीकार किया था[1]।" वे योग और ज्ञान मार्गो के समर्थक तथा भक्तिमार्ग के विरोधी थे। 'गोरख जगायौ जोग, भगति भगायौ लोग'-गो० तुलसीदास की इस उक्ति से गोरखनाथ की धार्मिक मान्यता पर प्रकाश पड़ता है।

शैव दर्शन—जैसा पहिले लिखा गया है, इस काल में शैव दर्शन की दृष्टि से इस धर्म के दो प्रमुख केन्द्र थे,—उत्तर भारत में कश्मीर और दक्षिण भारत में तमिल प्रदेश। काश्मीरी शैव सिद्धांत—'त्रिक् दर्शन' या 'प्रत्याभिज्ञा दर्शन' शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धात से प्रभावित था; किंतु दक्षिण भारत में शैव धर्म के जिस 'लिंगायत' अथवा 'वीर शैव' संप्रदाय का उदय हुआ था, उस पर विशिष्टाद्वैत का प्रभाव था। शैव धर्म के दाक्षिणात्य सत 'नायनार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका उल्लेख 'पेरिय पुराण' मे मिलता है। ११ वी शताब्दी में दक्षिण में एक शैव विद्वान मेयकंडदेवुर हुए थे। उनकी रचना 'शिवज्ञान बोधम्' शैव दर्शन का सार है। उसे शैव धर्म की 'गीता' कहा जाता है।

---

(१) गोरख बानी (प्रकाशक का वक्तव्य), पृष्ठ ६-७

शैव धर्म के विविध संप्रदाय—नवीं शती के सुप्रसिद्ध शैव विद्वान आनंद गिरि ने 'शंकर दिग्विजय' ग्रंथ की रचना की थी। उसमें उस काल के शैव संप्रदायों का नामोल्लेख हुआ है। उसके अनुसार उस समय 'पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट और जंगम' नामक शैव संप्रदाय विद्यमान थे। उनके अनुयायियों ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था, जिसमें उन सबकी पराजय हुई थी। कालांतर में उनमें से कई संप्रदाय गोरखनाथ के 'नाथ संप्रदाय' में अंतर्भुक्त हो गये थे। यहाँ पर इस काल के कुछ प्रमुख शैव संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कापालिक—शैव धर्म का वह संप्रदाय पौराणिक काल में विद्यमान था। उसमें शिव के उग्र रूप की उपासना की जाती थी। उसकी उपासना-विधि बड़ी भयंकर और तामसी थी। इसके साधक जटाएँ रखते थे और सिर पर नव चंद्र की प्रतिमा धारण करते थे। उनके हाथ में नर-कपाल का पात्र रहता था, गले में हड्डियों की माला होती थी, और वे मांस तथा मदिरा का सेवन करते थे। उनका निवास प्रायः श्मशानों में होता था। उनकी भीषण तांत्रिक साधना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी, जिससे जनता में बड़ा आतंक था। भवभूति कृत 'मालती माधव' में कापालिकों के भयानक रूप, उग्र साधन और वीभत्स आचारों का वर्णन मिलता है। डा० भंडारकर ने उनके संबंध में लिखा है,—"वे कपाली शक्ति का आलिंगन करते थे, और श्मशानों में योग-साधना करते थे। वे तांत्रिक अनुष्ठान करते थे और भैरव शक्तियाँ जगाते थे; नर बलि देते थे और शिव के भैरव रूप तथा अघोर मुख के उपासक थे[१]।"

जंगम और भारशिव—शैव धर्म का वह संप्रदाय 'भारशिव' कहलाता था। उसके उक्त नाम का कारण कदाचित यह था कि उसके अनुयायी शिव-लिंग को आदरपूर्वक अपने सिर अथवा कंधों पर धारण करते थे। 'जंगम' भी प्राचीन भारशिव ही थे, क्यों कि उनके द्वारा भी शिव-लिंग को अपने सिर पर धारण करने का उल्लेख मिलता है। भारशिव संप्रदाय के नाग राजाओं ने मथुरामंडल से कुषाण शासन को समाप्त कर दिया था। इस प्रकार इस संप्रदाय की विद्यमानता विक्रम की द्वितीय शताब्दी में सिद्ध होती है। "महाराज प्रवरसेन द्वितीय (७ वीं शती) के दो लेख मिले हैं,—एक छम्मक का ताम्रपत्र और दूसरा सिवानी का शिलालेख। उनमें 'भारशिव' शैव संप्रदाय का उल्लेख किया गया है[२]।" उनसे ज्ञात होता है कि वह संप्रदाय ७ वीं शती तक प्रचलित था।

लिंगायत अथवा वीर शैव—शैव धर्म का वह दाक्षिणात्य संप्रदाय था, जो सुधारवादी प्रवृत्ति को लेकर प्रचलित हुआ था। उस संप्रदाय के अनुयायी तत्कालीन शैवों की कुरीतियों, उनके दुराचारों और व्यर्थ के आडंबरों का विरोध करते थे। वे वर्ण-भेद को नहीं मानते थे और अपने यज्ञोपवीत में एक छोटा सा शिव-लिंग लटकाए रहते थे, जिसके कारण वे 'लिंगायत' कहलाते थे।

रसेश्वर संप्रदाय—शैव धर्म के इस संप्रदाय में शरीर-साधना और इसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है। इस संप्रदाय के मानने वाले पारद और अभ्रक के योग से रस-साधना द्वारा दिव्य शरीर प्राप्त करने में विश्वास करते हैं। उनके द्वारा जो अनेक ग्रंथ रचे गये हैं, वे भारतीय चिकित्सा शास्त्र के अमूल्य रत्न हैं। इस संप्रदाय का हठयोग से घनिष्ठ संबंध रहा है।

---

(१) शैव मत, पृष्ठ १५३
(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२२

५. शाक्त धर्म

हर्ष काल से राजपूत काल (सं० ६६३-सं० १२६३) तक की स्थिति—इस काल में जिस तांत्रिक साधना का उदय एवं विकास हुआ था, और जिससे तत्कालीन सभी धर्म-संप्रदाय अभिभूत हुए थे, उसका सर्वाधिक प्रभाव शाक्त धर्म पर पड़ा था । इस साधना के मूलभूत 'तांत्रिक' नाम और उससे संबंधित विविध 'आचारों' की सार्थकता वस्तुतः शाक्त धर्म में ही हुई है । यहाँ पर इस धर्म के इन आचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है ।

शाक्त धर्म के विविध 'आचार'—शाक्त धर्म में वैदिक, वैष्णव, गाणपत्य, सौर, शैव और शाक्त नामक 'आचार' होते हैं, जिन्हें एक-दूसरे से क्रमशः श्रेष्ठ माना गया है । इस क्रम में वैदिक आचार सबसे निम्न कोटि के माने गये हैं और शाक्त आचार सबसे श्रेष्ठ । इस मान्यता से वैदिक और वेदानुकूल धर्मों प्रति इस धर्म के दृष्टिकोण का आभास मिलता है । शाक्त आचारों को भी इस धर्म में चार वर्गों में विभाजित किया गया है; जिन्हें दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धाचार और कौलाचार कहा जाता है । इनमें अंतिम दोनों आचार सिद्धों और अवधूतों के लिए हैं, जब कि आरंभिक दोनों दक्षिणाचार और वामाचार का विधान शाक्त धर्म के सामान्य साधकों के लिए किया गया है । इन्हीं दोनों आचारों की सर्वाधिक प्रसिद्धि रही है । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है,—

दक्षिणाचार—इस आचार में स्नान, संध्या, जपादि नियमित कर्म तथा क्षीर-शर्करा आदि सात्विक भोजन किया जाता है, और मदिरा-मांसादि तामसी पदार्थों का निषेध होता है । इसमें शक्ति के साथ अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना भी हो सकती है । मर्यादा और विधि-निषेध का इसमें पालन किया जाता है ।

वामाचार—इस आचार में पंच 'मकार' के रूप में मत्स्य, मांस, मदिरा का सेवन और मुद्रा-परस्त्री मैथुन मान्य है । इसकी साधना में प्रायः तामसी वस्तुओं का ही उपयोग किया जाता है । इसमें उपास्य देवता के रूप में एक मात्र शक्ति की मान्यता है और इसमें विधि-निषेध तथा मर्यादा के पालन की कोई खास आवश्यकता नहीं मानी जाती है ।

साधारणतया इस धर्म में सभी 'आचारों' का प्रचलन हुआ था; किंतु शाक्त साधकों की अधिक रुचि 'वामाचार' अर्थात् 'वाममार्ग' के प्रति रही है । इसीलिए दक्षिणमार्गियों को प्रायः 'तांत्रिक' और वाममार्गियों को 'शाक्त' कहा जाता है । जैसा पहिले लिखा गया है, दक्षिणाचार की साधना सात्वकी और सौम्य है, किंतु वामाचार की तामसी और उग्र होती है । इन दोनों आचारों अथवा मार्गों की उपासना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए डा० धर्मवीर भारती ने बतलाया है,—

"दक्षिणाचार में प्रभात में संध्या, मध्यान्ह में जप, आसन पर बैठना, दूध-शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना तथा अपनी पत्नी से संभोग करना यह विहित था । वामाचार इसका प्रतिकूल था । नृदंत की माला, कपाल का पात्र, छोटी कच्ची मछलियों का चर्वण, मांस-भक्षण और सभी जातियों की परस्त्रियों में समान रूप से मैथुन यह वामाचार था । 'वाड़वानलीय' में यह कहा गया है कि दक्षिणमार्ग ब्राह्मण के लिए, तथा वाममार्ग शूद्रों वा अन्य वर्णों के लिए विहित है । वामाचार में पांच 'मकारों' का विधान है,—'मद्यं मांसैस्तथा मत्स्यैं मुद्राभि मैथुनैरपि'—अर्थात् मद्य, मांस, मछली, मुद्रा और मैथुन । इनके आधार पर भैरवी चक्रों की नियोजना होती थी । उन चक्रों

में स्त्री साधिकाएँ तथा पुरुष साधक मिलते थे और मद्यपान के उपरांत 'मनोरथ सुखों की परस्पर पूर्ति' होती थी। इस प्रकार के चक्रों में वर्ण और जाति का कोई भेद नहीं रहता था[1]।"

वामाचार की मूल भावना और उसकी विकृति—वामाचार की साधना और उसमें मान्य पंच 'मकार' के उपर्युक्त उल्लेख से उसके विकृत स्वरूप का बोध होता है; किंतु उसकी मूल भावना वैसी नहीं थी। पंच 'मकार' मूलतः अपने सांकेतिक अर्थ में ही विहित थे; जैसे मद्य का अभिप्राय ब्रह्मरंध्र से निसृत सोमधारा से था, न कि मदिरा से। इसी प्रकार मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन के भी सांकेतिक अर्थ थे, जिनका स्पष्टीकरण शाक्त ग्रंथों में किया गया है[2]।

किसी भी धर्म के अनुसार साधना करने वाले साधक को अपनी कामनाओं को दवा कर मन को वश में करना आवश्यक होता है; क्यों कि कामनाओं के उपभोग की इच्छा से उत्पन्न होने वाला मानसिक क्षोभ साधना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इस बाधा को दूर करने के लिए वाममार्गियों ने बड़े विलक्षण सिद्धांत का प्रचार किया था। उनका मत था,—"कामनाओं को दबाने से वे मरती नहीं हैं, बल्कि अवसर पाते ही वे और भी उग्र रूप धारण कर लेती हैं। इससे उचित यह है कि समस्त कामनाओं का उपभोग किया जाय। उससे चित्त का क्षोभ दूर होगा और सच्ची साधना प्राप्त होगी[3]।" 'गुह्य समाज तंत्र' में लिखा है,—शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने का सरल उपाय कठिन नियमों का पालन करना नहीं है, वरन् समस्त कामनाओं का उपभोग करना है।

पंच 'मकार' की साधना के अनुसार वाममार्गियों की उक्त मान्यता सिद्धांत रूप में चाहें ठीक हो, किंतु व्यावहारिक रूप में वह कभी श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हुई। तंत्राचार्यों ने ही उसके व्यवहार को खड्गधार सा सूक्ष्म पथ बतलाया है। उन्होंने कहा है,—"यदि स्त्री-संभोग से मुक्ति मिलती होती, तो कौन बचता ? वास्तव में यह पथ बाघ के कान पकड़ने या खड्ग की धार पर चलने से भी ज्यादा

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२८

(२) 'आगम-सार' में पंच–'मकारों' के सांकेतिक अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं,—

मद्य–सोमधारा क्षरेद् पातु ब्रह्मन्ध्रात वरासने।
पीत्वानन्दमयीम् तां यः स एव मद्यसाधकः॥

मांस–मा शब्दात् रसनाज्ञे या तदंशान् रसना प्रियेः।
सदा यो भक्ष्येद्देवि स एव मांस-साधकः॥

मत्स्य–गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः॥

मुद्रा–सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिकाचरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलम् पारदोपमम्॥
अतीव कमनीयम् च महाकुण्डलिनी युतम्।
यत्र ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते॥

मैथुन–मैथुनम् परमतत्वं सृष्टि स्थित्यन्त कारणम्।
मैथुनात् जायते सिद्धि ब्रह्मज्ञानम् सुदुर्लभम्॥ (सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२९)

(३) दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमाने न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेव्यंश्चशु सिद्ध्यति॥ (नाथ संप्रदाय, पृष्ठ ६१)

कठिन है[१]।" परशुराम कल्पसूत्र में कहा गया है,—'पंच 'मकार' की साधना स्थिर चित्त वालों के लिए हितकारी और दुर्बल इंद्रिय वालों के लिए विनाशकारी है। जो लोग लंपटता के लिए पंच 'मकार' का सेवन करते हैं; वे घोर अधर्म करते हैं।' इस प्रकार साधना के क्षेत्र में कामोपभोग का प्रवेश हुआ, जिससे अधिकारी व्यक्ति तो बहुत कम लाभान्वित हुए; किंतु अनधिकारी व्यक्ति अधिकता से उसकी आड़ में अपनी लंपटता की पूर्ति करने लगे! उनके कारण शाक्त धर्म के वामाचार की तांत्रिक साधना बुरी तरह विकृत हो गई और वह वज्रयानी बौद्ध संप्रदाय की भाँति ही जनता में अरुचि एवं घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगी थी।

मथुरामंडल में शाक्त धर्म का प्रचार—शाक्त धर्म के वामाचार की कुत्सित साधना बदनाम होने पर भी मथुरामंडल में चलती रही थी, और उसका बौद्ध धर्म की भाँति अंत नहीं हुआ था। इसका कारण दक्षिणाचार की साधना थी, जो अपने सात्विक और सौम्य रूप से इस धर्म को बचाये रही। दूसरी बात यह थी कि बौद्ध धर्म जहाँ अवैदिक और वेद–विरोधी था; वहाँ शाक्त धर्म आरंभ से ही वैदिक परंपरा से संबंधित था और वह सदा ही उसका पल्ला पकड़े रहा था। इसलिए यहाँ के परंपरागत धार्मिक वातावरण में उसकी सदैव स्थिति बनी रही थी। किसी भी युग में अनाचारी और कामुक व्यक्तियों का धार्मिक समाज में कभी सर्वथा अभाव नहीं हुआ; अतः वामाचार की कुत्सित साधना भी बराबर चलती रही थी, किंतु उसका क्षेत्र सीमित था; जब कि दक्षिणाचार की सौम्य साधना अपेक्षाकृत अधिकता से प्रचलित रही थी।

यद्यपि मथुरामंडल में शक्ति की उपासना–पूजा की अत्यंत प्राचीन परंपरा रही है, तथापि शाक्त ग्रंथों में इस प्रदेश को शाक्त धर्म के प्रभाव क्षेत्र से बाहर माना गया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि यहाँ पर कभी शाक्त धर्म का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। 'तंत्रराज' के अनुसार शाक्त धर्म के प्रधान केन्द्र गौड़ (प्राचीन बंगाल), कश्मीर और केरल प्रदेश हैं, जहाँ के निवासियों को विशुद्ध शाक्त बतलाया गया है। इन तीन प्रदेशों में भी गौड़ और उसका निकटवर्ती कामरूप ही शाक्त धर्म के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। मध्य काल के पश्चात् जब गौड़ीय विद्वानों का मथुरामंडल से अधिक संपर्क हुआ, तब यहाँ पर शाक्त धर्म का कुछ अधिक प्रचार होने लगा था। बाद में कृष्ण–भक्ति के व्यापक प्रचलन से अन्य धर्म–संप्रदायों की भाँति शाक्त धर्म भी प्रभाव-शून्य हो गया था।

६. भागवत धर्म

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (सं० ७०४ – सं० १२६३) तक की स्थिति—इस काल में बौद्ध धर्म के प्रभावहीन होने और फिर समाप्त हो जाने से मथुरामंडल में जिन धर्मों की स्थिति अच्छी हो गई थी, उनमें भागवत धर्म अग्रणी था। यह काल राजपूत राजाओं के राज्य विस्तार का था। तत्कालीन गुर्जर–प्रतिहार और राष्ट्रकूट नरेश आपस में राज्याधिकार के लिए निरंतर युद्धरत रहते हुए भी धार्मिक कार्यों में उदारतापूर्वक योग–दान करते थे। वे राजागण भागवत, शैव, शाक्तादि पौराणिक धर्म-संप्रदायों के अनुयायी होने के कारण मथुरा जैसे धार्मिक स्थल के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने यहाँ पर उक्त धर्म–संप्रदायों के मंदिर-देवालय बनवाये थे और उनके लिए प्रभूत संपत्ति अर्पित की थी। उनके कारण यहाँ पर भागवत धर्म की बड़ी समृद्धि हुई

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १३०

थी। दक्षिण के जिन राष्ट्रकूट राजाओं ने कन्नौज के प्रतिहार राज्य को बड़ी हानि पहुँचाई थी, उन्होंने यहाँ के भागवत धर्म से संबंधित देवस्थानों की उन्नति में योग दिया था। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने नवम शताब्दी के एक ऐसे अभिलेख का उल्लेख किया है, जिससे 'राष्ट्रकूटों के उत्तर भारत आने तथा मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर धार्मिक कार्य करने का पता चलता है[1]।'

भागवत धर्म की तांत्रिक साधना—इस काल के अन्य धर्म-संप्रदायों की भाँति भागवत धर्म में भी तांत्रिक साधना का प्रवेश हुआ था। ऐसा ज्ञात होता है, इस धर्म में प्राचीन काल से ही उपासना की दो विधियाँ प्रचलित थीं। उनमें से एक के अनुसार वासुदेव की श्रद्धा-प्रधान उपासना होती थी, जो बाद में वैष्णव संप्रदायों की कृष्ण-भक्ति में परिणत हो गई थी। दूसरी विधि में चतुर्व्यूह की रहस्यात्मक पूजा की जाती थी, जिसने इस काल में तांत्रिक साधना का रूप धारण किया था। उन दोनों विधियों का उद्भव प्राचीन काल में शूरसेन प्रदेश में ही हुआ था; किंतु वे पश्चिम भारत में होती हुई दक्षिण में जाकर विशेष रूप में विकसित हुई थीं। उत्तर भारत में मथुरा-मंडल से लेकर पूर्वी प्रदेशों तक भी उनका प्रचुर प्रभाव रहा था।

मथुरामंडल में जो तांत्रिक विधि अपनाई गई, वह वैष्णव संहिताओं के अनुसार वैष्णवी रूप की थी; किंतु पूर्वी भारत में प्रचलित विधि पर तंत्रों का गहरा रंग चढ़ा हुआ था। पूर्वी प्रदेशों में सिद्ध-शैव-शाक्त पीठों की भाँति जैसे 'वासुदेव पीठ' स्थापित हुए थे; वैसे पीठों के अस्तित्व का उल्लेख मथुरामंडल में नहीं मिलता है। यहाँ तो भगवान् वासुदेव की उपासना के लिए और फिर कृष्ण-भक्ति के लिए 'मंदिर-देवालय' ही बनाये गये थे, जिनका धार्मिक वातावरण पूर्वी भारत के वासुदेव पीठों से सर्वथा भिन्न था।

पूर्वी भारत के वासुदेव पीठ—तांत्रिक उपासना और पूजा की जो विधि पूर्वी भारत के वासुदेव पीठों में प्रचलित थी, उसकी मुख्य बातें 'कालिका पुराण'(१०वीं शती) के अनुसार निम्न लिखित थीं:—

(१) बीजमंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'ॐ नमो नारायणाय'।
(२) वासुदेव की प्रिया 'विमला देवी' की अर्चना।
(३) पंचदेव-पूजा अर्थात् राम, कृष्ण, ब्रह्मा, हर, गौरी की पूजा।
(४) वासुदेव के पार्षद ८ योगियों एवं ८ योगिनियों की पूजा।
(५) वपट्मंत्रों की शैली पर लिखे गये मंत्रों से शंख, चक्र, गदा, पद्म की पूजा।
(६) नैवेद्य में केवल फल, मूल, घृत, दही आदि निरामिप पदार्थों का उपयोग[2]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि पूर्वी भारत के वासुदेव पीठों की पूजा-विधि तांत्रिक साधना से प्रभावित थी। यही कारण है कि उनमें वासुदेव की प्रिया 'श्री' (लक्ष्मी या राधा) न होकर विमला का उल्लेख मिलता है। पुरी के जगन्नाथ मंदिर में जगन्नाथ जी के बायीं ओर विमला का मंदिर है और दायीं ओर लक्ष्मी का। पूर्वी भारत के वासुदेव पीठ अधिकतर उत्कल और असम प्रदेशों में थे, जिनमें पुरी का जगन्नाथ पीठ सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। असम में कामरूप स्थित वासुदेव और हयग्रीव के पीठों की भी अच्छी ख्याति रही थी।

---

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ १२९
(२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ७०, अंक ४), पृष्ठ १०

तांत्रिक साधना की मुख्य बातें—मथुरामंडल में भागवत धर्म के अंतर्गत जो तांत्रिक साधना प्रचलित हुई थी, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं,—

(१) शक्ति सहित उपास्य की भक्ति ।

(२) उपास्य के अनुग्रह की कामना और उनके सान्निध्य एवं सामीप्य में रहने की लालसा ।

(३) उपास्य की रागात्मिका भक्ति तथा उनकी रति-लीलाओं का ध्यान, कीर्तन एवं गायन ।

(४) गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा ।

(५) सहस्रनाम, मुद्राचिह्न, नाम-जप और यंत्र-साधन की मान्यता ।

(६) सिद्धि के लिए वीजमंत्र का जप ।

तांत्रिक साधना में वीजमंत्र को वड़ा महत्व दिया गया है और उसे सिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है । तंत्रों का कथन है, जिस वीज मंत्र का जाप करता हुआ साधक साधना में तत्पर होता है, सर्वप्रथम वह वीज मंत्र ही जाज्वल्यमान होकर प्रकट होने लगता है । उसके उपरांत वह एक अस्पष्ट मानव के रूप में परिवर्तित हो जाता है । साधना उसी प्रकार चालू रखने पर वह अस्पष्ट आकृति इष्ट (देवता) की आकृति में परिवर्तित होने लगती है । उस समय उसकी कल्पना का रूप प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगता है । वह रूप इतना भव्य और सुंदर होता है कि साधक उसका दर्शन पाकर अलौकित आनंद का अनुभव करने लगता है[1] ।

कालांतर में भागवत धर्म की उपासना–भक्ति का सर्वोत्तम रूप 'रास' माना गया; किंतु तांत्रिक साधना में उसकी भी तंत्रानुमोदित व्याख्या की गई है । 'हंस विलास' नामक तांत्रिक ग्रंथ में 'रास' का अर्थ करते हुए कहा गया है,—"आनंद ब्रह्म रूप है और वह इस देह में ही स्थित है । इस आनंद का अभिव्यंजक 'रास' है और इसमें तत्पर व्यक्ति 'रसिक' कहलाता है[2] ।" 'हंस विलास' से ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में 'रास' की मान्यता एक विशिष्ट तांत्रिक मत के रूप होती थी, जिसमें वैदिक मत को निम्नतम और रास मत को उच्चतम स्थान दिया गया था । उसके संबंध में 'हंस विलास' का कथन है,—"वैदिक मत से वैष्णव मत, वैष्णव मत से दक्षिणमार्ग, दक्षिणमार्ग से वाममार्ग, वाममार्ग से सिद्ध मत और सिद्ध मत से रास मत उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है[3] ।" कहने की आवश्यकता नहीं कि वह मान्यता शाक्त धर्म के वाममार्गीय सिद्धांत के सदृश थी ।

डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय का मत है,—'हंस विलास' में जो कुछ कहा गया है, वह "स्पष्ट ही रास की तांत्रिक व्याख्या है, परंतु वह वैष्णव सिद्धांत से दूर नहीं है; क्यों कि रासमंडल का प्रतीकात्मक अर्थ ही वैष्णव परंपराओं में भी स्वीकृत है । 'हंस विलास' स्पष्ट कहता है, तांत्रिक साधक रति–क्रीड़ा करते हैं और वैष्णव उसका गायन करते हैं । गायन भी सुरति ही है,—'गायन-मात्रमेव सुरतम् ।' यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधा–कृष्ण की अश्लील रति-क्रीड़ा को देख कर लज्जित नहीं होते । वे उसे देव–रति मान कर प्रसन्न हो-होकर देखते हैं और जन्म–जन्मांतर देखते रहना चाहते हैं और उसके लिए वे ज्ञानियों की मुक्ति की भी निंदा करते हैं । भक्तों की युगल उपासना तांत्रिकों की यामल उपासना से प्रेरित है[4] ।

---

(१) **कल्याण का 'शक्ति अंक'**

(२) **आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्चदेहे व्यवस्थितम् । तस्याभि व्यंजको रासो, रसिकस्तत्परायणः ॥**

(३) हंस विलास, पृष्ठ १३६

(४) **संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव**, पृष्ठ १४४, १४७, १४६ और भूमिका, पृष्ठ ५

मुसलमानों के आक्रमण का प्रभाव—इस काल के अंत की सबसे उल्लेखनीय घटना विदेशी मुसलमानों का मथुरामंडल पर आक्रमण करना था। उन आक्रमणकारियों में महमूद गज़नवी पहिला व्यक्ति था, जिसने मथुरामंडल के देवस्थानों को भीषण हानि पहुँचाई थी। उस काल में यहाँ पर भागवत धर्म के अनेक समृद्धिशाली मंदिर-देवालय थे, जिनमें श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के वासुदेव मंदिर की बड़ी ख्याति थी। वह मंदिर विगत छह शताब्दियों से मथुरामंडल में भागवत धर्म का प्रधान केन्द्र रहा था। तत्कालीन नरेशों और धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा अर्पित प्रभूत सम्पत्ति उक्त मंदिर में संचित थी, जिसे देख कर विदेशी लुटेरों की आँखें चौंधिया गई थीं। उन्होंने उक्त सम्पत्ति को लूटने के साथ ही साथ उस महत्त्वपूर्ण देवस्थान को भी नष्ट कर दिया था। यहाँ पर उस शोचनीय दुर्घटना का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के भागवत मंदिर का ध्वंस—महमूद गज़नवी ने अपना ९वाँ आक्रमण सं० १०७४ में किया था, जिसमें उसने मथुरा नगर को लूटा था। उस आक्रमण का विवरण महमूद के मीरमुंशी अल-उत्वी ने अपनी पुस्तक 'तारीखे यमीनी' में तथा बाद के मुसलमान लेखक बदायुंनी और फरिश्ता ने अपने-अपने ग्रंथों में विस्तार से किया है। फरिश्ता ने लिखा है, महमूद गजनवी मेरठ से महावन होता हुआ मथुरा पहुँचा था। मथुरा को लूटने से पहिले उसने महावन के दुर्ग पर राजा कूलचंद (कुलचंद्र) से घमासान युद्ध किया था। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरामंडल का राजनैतिक केन्द्र महावन था और कुलचंद्र वहाँ का शासक था। महमूद की विशाल सेना ने कुलचंद्र को पराजित किया और महावन को लूट कर वह मथुरा पर चढ़ दौड़ा। मथुरा उस समय बड़ा समृद्धिशाली नगर था, जो यमुना नदी के किनारे पत्थर के मजबूत परकोटा के अंदर वर्तमान कटरा केशवदेव के आस-पास बसा हुआ था। नगर के दोनों ओर सुंदर मकान और देवालय थे और उनके बीचोंबीच भगवान् वासुदेव का विशाल मंदिर था। महमूद ने २० दिनों तक नगर को लूटा और उसे बर्बाद किया। वासुदेव मंदिर सहित समस्त देवालय एवं भवन तोड़े और जलाये गये, तथा अनेक लोगों को मार डाला गया। मथुरा की लूट में महमूद को अपार संपत्ति प्राप्त हुई थी।

भगवान् वासुदेव के मंदिर के संबंध में अल-उत्वी ने लिखा है,—"शहर के बीच में सभी मंदिरों से ऊँचा एवं सुंदर एक मंदिर था, जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है। सुलतान महमूद ने स्वयं उस मंदिर के बारे में लिखा है,—'यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे, तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण मुद्रा) से कम न खर्च करने पड़ेंगे और उसके निर्माण में २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमें बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरों को ही क्यों न लगाया जावे[1]।"

उस मंदिर की बर्बादी के संबंध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है,—"महमूद का आँखों देखा वर्णन और उसके आधार पर किया हुआ अनुमान दोनों ही सत्य है, क्यों कि गुप्त काल से एक हजार ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि में वह विराट मंदिर सँवारा और सजाया गया था। उस दीर्घ समय में वहाँ जो अतुल धन-संपत्ति और सुवर्ण राशि एकत्र हो चुकी थी, उसका वर्णन भी यथार्थ ही महमूद के मीरमुंशी ने किया है। बीस दिन तक की लूट में ५ सोने की प्रतिमाएँ मिलीं, जिनमें माणिक्य की आँखें जड़ी हुई थीं। उनका मूल्य ५० हज़ार दीनार था। एक और सोने

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ८३२

मूर्ति मिली, जिसका वज़न ९८३०० मिस्कल या लगभग १४ मन था; उसमें करीब डेढ़ सेर का एक नीलम जड़ा हुआ था ! चाँदी की सौ भारी-भारी मूर्तियाँ सौ ऊँटों पर लाद कर ले जाई गई थीं। उस मेरु तुल्य राशि या कुबेर के कोश को देख कर लुटेरों की आँखें फट गई थीं । उन्होंने समझा कि रत्नों की खान हाथ आ गई।······उस आपत्ति काल में लोगों ने मूर्तियों को कुओं में फेंक दिया गया था; मथुरा के कितने ही कुएँ उन मूर्तियों से पटे हुए मिले हैं[1]।"

कृष्ण-जन्मस्थान पर नये मंदिर का निर्माण—महमूद गज़नवी के आक्रमण ने मथुरा के मंदिर-देवालयों का ऐसा सर्वनाश किया कि यहाँ का धार्मिक वैभव एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गया था। बाद में जब शांति स्थापित हुई, तब मथुरा नगर फिर से बसने लगा और यहाँ मंदिर-देवालय भी बनाये जाने लगे। कन्नौज के राजकुमार विजयचंद्र उपनाम विजयपाल ने सं० १२०७ में मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान में गज़नवी द्वारा ध्वंस किये गये मंदिर की पुरानी कुर्सी पर एक नया मंदिर बनवाया था, जिसकी पूर्ति सं० १२१२ में हुई थी । उसके निर्माण में जज्ज (यज्ञ) नामक एक प्रतिष्ठित राजकीय अधिकारी ने विशेष योग दिया था । कटरा की खुदाई में उस काल का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि उस मंदिर के प्रबंध के लिए न्यास (ट्रस्ट) के रूप में एक गोष्ठी बनाई गई थी, जिसके १४ सदस्य थे और 'जज्ज' उसका प्रधान था । मंदिर के व्यय के लिए २ मकान, ६ दूकान और १ बड़ी बाटिका की व्यवस्था की गई थी। उक्त अभिलेख संस्कृत पद्य की २९ पंक्तियों का है और वह लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है।

भागवत धर्म के नाम-रूप का परिवर्तन—इस काल के अंत तक भागवत धर्म पर पुराणों के धार्मिक समन्वय, तांत्रिक साधना की स्वीकृति और मुसलमानों के भीषण आक्रमण तथा उनके मजहबी तास्सुब का यह प्रभाव हुआ कि उसके नाम और रूप में परिवर्तन हो गया था । वह अब 'वैष्णव धर्म' कहा जाने लगा था और उसमें भगवान् वासुदेव के रूप में भगवान् विष्णु के विविध अवतारों की, विशेष कर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचलन हो गया था । उस नये नाम-रूप के कारण भागवत धर्म को मानों नव जीवन प्राप्त हुआ था । उसका प्रभाव मथुरामंडल से भी अधिक अन्य स्थानों में दिखलाई दिया था। उसके प्रधान केन्द्र तब दक्षिण के महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र और तमिलनाड प्रदेश थे। वहीं पर सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंवार्क, मध्व तथा कालांतर में वल्लभ और चैतन्य के गुरु माधवेन्द्रपुरी का प्रादुर्भाव हुआ था। उनके कारण वैष्णव धर्म के विविध संप्रदायों का उदय होने से भगवान् विष्णु और उनके अभिन्न स्वरूप लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति का प्रकाश समस्त भारतवर्ष में फैल गया था।

१) श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ १४

पंचम अध्याय

उत्तर मध्य काल (१)

[विक्रम सं. १२६३ से विक्रम सं. १५८३]

पंचम अध्याय

उत्तर मध्य काल (१)

[विक्रम सं० १२६३ से विक्रम सं० १५८३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्त्व—व्रज के सांस्कृतिक इतिहास का यह काल राजनीति के साथ ही साथ धर्मोपासना की दृष्टि से भी सर्वथा नूतन युग का सूचक है। इस काल में दो ऐसी महान् घटनाएँ हुई थी, जिन्होंने यहाँ की राजनैतिक स्थिति के साथ ही साथ धार्मिक गति–विधियों पर युगांतरकारी प्रभाव डाला था। पहिली घटना उस दुःखद प्रसंग की है, जिससे यहाँ की राजनैतिक स्वाधीनता समाप्त हो गई थी, और यह प्रदेश मुसलमानी शासन के अंतर्गत एक पराधीन राज्य बन गया था। दूसरी घटना यहाँ के प्राचीन धर्मों के स्वरूप–परिवर्तन की थी। इस काल से पहिले मथुरामंडल के धर्म–संप्रदायों में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे, उसके कारण इस काल में बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गई थी और जैन धर्म के प्रभाव में कमी आ गई थी। प्राचीन वैदिक और भागवत धर्मों का स्थान श्रुति–स्मृति–पुराण प्रतिपादित वैष्णव धर्म ने ग्रहण किया था और शैव–शाक्तादि धर्मों के अनुयायियों की संख्या कुछ बढ़ गई थी। वैष्णव धर्म के अंतर्गत यहाँ पर कृष्णोपासक संप्रदायों के प्रचार का सूत्रपात हुआ, जिससे कालांतर में अन्य धर्म–संप्रदायों का महत्त्व बहुत कम हो गया था।

कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि पर आधारित जिस व्रज संस्कृति का ऐतिहासिक विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है, उसके यथार्थ स्वरूप के निर्माण का आरंभ इसी काल में हुआ था। इसका श्रेय उन कृष्णोपासक धर्माचार्यों और कृष्ण–भक्त संत-महात्माओं को है, जिन्होंने तत्कालीन सुलतानों की मजहबी तानाशाही के कष्टों को सहन करते होते हुए भी बड़े साहसपूर्वक अपना धार्मिक अभियान चलाया था। इस काल का यह बड़ा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ एक ओर विदेशी शासकों ने परंपरागत व्रज संस्कृति को समाप्त करने का क्रूरतापूर्ण प्रयास किया था, वहाँ दूसरी ओर उसी के शक्तिशाली नूतन रूप की यहाँ स्थापना की गई थी। व्रज संस्कृति के स्वरूप-निर्माण और उसके प्रचार–प्रसार के सूत्रपात से संबंधित होने के कारण इस काल का निश्चय ही बड़ा महत्त्व है।

मुसलमानी राज्य की स्थापना और सुलतानों का शासन—मथुरामंडल पर विदेशी मुसलमानों का सर्वप्रथम आक्रमण सं० १०७४ में महमूद गज़नवी के नेतृत्व में हुआ था। उसने यहाँ पर लूट-मार तो की थी, किंतु अपना राज्याधिकार क़ायम नहीं किया था। उसके प्रायः एक शताब्दी पश्चात् मुहम्मद गोरी ने आक्रमण किया था। उस काल में मथुरामंडल के निकटवर्ती प्रदेश पर पृथ्वीराज और जयचंद्र जैसे शक्तिशाली राजपूत राजाओं का शासन था। उस समय मथुरामंडल संभवतः कन्नौज नरेश जयचंद्र के प्रभाव-क्षेत्र में था। मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज और जयचंद्र को पराजित कर भारत में मुसलमानी राज्य की नींव डाली थी। जयचंद्र की पराजय फीरोजाबाद के निकटवर्ती जिस चंदवार नामक स्थान पर हुई थी, वह दुर्भाग्य से व्रज प्रदेश का एक ही गाँव था। फलतः इस भू–भाग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था।

मुहम्मद गोरी का देहांत होने पर उसके सेनापति कुतुवुद्दीन ऐवक ने दिल्ली को राजधानी वना कर मुसलमानी राज्य के संचालन का सूत्रपात किया था । कुतुवुद्दीन ऐवक से लेकर इब्राहीम लोदी तक दिल्ली के मुसलमान शासकों को 'सुलतान' कहा जाता है और उनके शासन काल सं० १२६३ से सं० १५८३ तक की अवधि को 'सल्तनत काल' कहते हैं । उस काल के ३२० वर्षो की अवधि में मथुरामंडल का समस्त प्रदेश, जो अब ब्रजमंडल कहा जाने लगा था, दिल्ली के सुलतानों के शासन में रहा था ।

सुलतानी काल का धार्मिक उत्पीडन—दिल्ली के मुसलमान सुलतान कई वंशों और कई जातियों के थे; किंतु उन सबका सामान्य उद्देश्य इस धार्मिक भू-भाग पर इस्लामी शरीयत के अनुसार शासन करना और यहाँ के धर्मप्राण निवासियों को वलपूर्वक मुसलमान वनाना था । डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है,—"भारत में इस्लाम का आरंभिक इतिहास मारकाट, खूंरेजी, धर्म-परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है[1] ।"

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सुलतानी शासन से पहिले ब्रजमंडल विविध धर्म-संप्रदायों का एक वड़ा केन्द्र था । यहाँ पर जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त धर्मों के अनेक देवस्थान थे, जो सुलतानों के मजहवी तास्सुव के कारण नष्ट कर दिये गये थे । उनमें से कुछ स्थानों पर सराय, मस्जिद और मक़तवों का निर्माण किया गया, किंतु अधिकांश ध्वंसावस्था में ही छोड़ दिये गये थे । कामवन की पहाड़ी पर वने हुए विख्यात विष्णु मंदिर को इल्तुमश ने क्षतिग्रस्त किया था और फीरोज़ तुगलक ने उसे पूरी तरह नष्ट कर उसके सामान से वहीं पर एक मसजिद वनवा दी थी । मथुरा के असिकुंडा घाट पर भी एक प्राचीन हिंदू देवालय था । अलाउद्दीन खिलजी ने शासन सँभालते ही उसे सं. १३५४ में नष्ट करा दिया था । वहाँ पर भी एक मसजिद वनाई गई थी, जो कालांतर में यमुना नदी में वह गई थी । मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर कन्नौज के राजकुमार विजयपाल ने सं० १२१२ में जो मंदिर वनवाया था, उसे सुलतान सिकंदर लोदी ने सं० १५७३ में नष्ट करा दिया था । उस काल में ब्रज के धर्मस्थानों का ऐसा सर्वनाश किया गया था कि उस युग के किसी मंदिर-देवालय का समूचा नमूना तो क्या, उसका ध्वंसावशेष तक भी नहीं मिलता है !

सुलतानों के शासन काल में मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलंवी अपने धार्मिक कृत्य स्वतंत्रता पूर्वक नहीं कर पाते थे । उन्हें किसी प्रकार अपने धर्मों में वने रहने के लिए अपमानपूर्ण 'जज़िया' नामक कर देना पड़ता था । सुलतानी आदेश से एक वार मथुरा में हिंदुओं को यमुना में स्नान करने और घाटों पर क्षौर कर्म कराने से भी रोक दिया गया था ! 'भक्तमाल' और वल्लभ संप्रदायी 'वार्ता' में उक्त घटना का चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए उसे 'मंत्र वाधा' का नाम दिया गया है । किंतु उसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि उस काल में जो लोग मथुरा के विश्रामघाट पर स्नान-क्षौरादि धार्मिक कार्यों के लिए जाते थे, उन्हें काजी के आदेशानुसार वलात् मुसलमान वना लिया जाता था । उस संकट के कारण लोगों ने यमुना में स्नान करना और वहाँ के घाटों पर क्षौर कराना ही वंद कर दिया था । 'भक्तमाल' के अनुसार निंवार्क संप्रदाय के आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट जी ने और 'वार्ता' के अनुसार पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी ने मथुरा निवासियों को उस संकट से मुक्त किया था ।

---

(१) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २७४

पूर्वोक्त घटना किस सुलतान के शासन काल में हुई थी, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। निंबार्क संप्रदायी विद्वान उसे अलाउद्दीन खिलजी के काल की घटना बतलाते हैं, जब कि वास्तव में वह सिकंदर लोदी के काल की बात है। दिल्ली के सुलतानों में सिकंदर लोदी का शासन काल (सं० १५४६–सं० १५७४) उसके मजहबी उन्माद के कारण विशेष रूप से बदनाम रहा है। उस काल के मजहबी अत्याचारों के रोमांचकरी विवरणों से स्वयं मुसलमान इतिहासकारों के ग्रंथ ही भरे पड़े हैं। अकबर कालीन इतिहासकार मुहम्मद क़ासिम कृत 'तारीखे फरिश्ता' और जहाँगीर काल के इतिहास लेखक अब्दुल्ला कृत 'तारीखे दाऊदी' के तत्संबंधी उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

सुलतानों के कठोर शासन काल में ब्रजमंडल में मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण पर कड़ी पाबंदी लगा दी गई थी। सिकंदर लोदी ने और भी अधिक कड़ाई से उसका पालन कराया था। श्री वल्लभाचार्य जी ने उसकी उपेक्षा कर ब्रज के गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल की गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी के मंदिर बनवाने का उपक्रम किया था। यह उस काल की स्थिति में बड़ा साहसपूर्ण कार्य था। वल्लभ संप्रदायी वार्ता साहित्य में उक्त महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख मिलता है। उस समय मंदिर के निर्माण कार्य का आरंभ तो हो गया, किंतु उसकी पूर्ति सिकंदर लोदी की मृत्यु के उपरांत हुई थी। ऐसा जान पड़ता है, सुलतानी आदेश से या तो उसके निर्माण कार्य को बीच में ही रोक दिया गया था, या बने हुए मंदिर को खंडित कर दिया गया था। 'वार्ता' में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सं० १५७४ में वह मंदिर पूरा हुआ था। उससे पहिले ही सिकंदर लोदी की मृत्यु हो चुकी थी।

दिल्ली के प्रायः सभी सुलतान इस्लाम मजहब के प्रचारक पहिले थे, और प्रजापालक नरेश बाद में। उनका प्रजा-पालन भी मुसलमानों तक ही सीमित था। अपनी हिंदू प्रजा के प्रति वे अपना कोई कर्तव्य समझते थे, तो केवल यह कि उनके परंपरागत धर्म को छुड़वा कर उन्हें मुसलमान बना दिया जाय ! इसके लिए वे ऐसे कानून बनाते थे, जिनसे हिंदुओं का जीवन इतना संकटपूर्ण हो जाय कि वे स्वतः मुसलमान बनने को बाध्य हो जावें। ऐसी स्थिति में नाना कष्टों को सहन करते हुए भी जो हिंदू अपने धर्म पर क़ायम रहे थे, उन्हें बलात् मुसलमान बनाने अथवा कत्ल करने के अनेक उपाय किये गये थे। जो लोग किसी प्रकार मुसलमान बना लिये जाते थे, उन्हें फिर हिंदू धर्म में वापिस जाने का कोई मार्ग नहीं था। पहिले तो मुसलमान शासक ही उसकी आज्ञा नहीं देते थे। उनके कानून के अनुसार किसी मुसलमान बने हुए व्यक्ति का हिंदू धर्म में वापिस जाना भीषण अपराध था, जिसका दंड केवल मौत थी ! फिर हिंदू धर्मावलंबी भी उन लोगों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते थे। बलात् मुसलमान बने हुए हिंदू भी सोचते थे कि हिंदू बन कर शासन की कोपदृष्टि और समाज की उपेक्षा सहन करने की अपेक्षा तो मुसलमान बने रहना ही अच्छा है। इस लिए वे बेचारे मन मार कर और विवशता पूर्वक मुसलमान बने रहे थे।

सुलतानों ने भारत में इस्लाम के प्रचार के लिए जो भीषण अत्याचार किये थे, उनका दुष्परिणाम ब्रज के हिंदुओं को सबसे अधिक भोगना पड़ा था; किंतु फिर भी उन्होंने साहस और धैर्य को नहीं छोड़ा था। वे मुसलमान शासकों के अत्याचार सहते रहे, लुटते-मरते रहे, आवश्यकता होने पर यहाँ से भागते भी रहे; किंतु उन्होंने स्वेच्छा से कभी इस्लाम स्वीकार नहीं किया। कश्मीर और बंगाल के हिंदू बड़ी संख्या में मुसलमान हुए थे; किंतु ब्रज में, जो सुलतानों की नाक के नीचे था, इस्लाम मजहब अधिक नहीं फैल सका था। उस भीषण परिस्थिति में कई शताब्दियों तक रहने पर भी ब्रज में मुसलमानों का संख्या १० प्रति शत भी नहीं हो सकी थी। इससे ज्ञात होता है, उस काल के ब्रजवासियों में अपने धर्म के प्रति कितनी गहरी आस्था थी।

ब्रज के धार्मिक मनीषियों की देन—सुलतानों की मजहबी तानाशाही की उस चुनौती को साहस और धैर्य के साथ स्वीकार करने की प्रेरणा ब्रजमंडल के साथ ही उत्तर भारत के करोड़ों निवासियों को उन धर्माचार्यों, संतों और भक्तों से प्राप्त हुई थी, जिन्होंने उस काल की भीषण परिस्थिति में भी भारत के विभिन्न स्थानों मे आकर यहाँ पर निर्भीकता पूर्वक अपने भक्ति–संप्रदायों का प्रचार किया था । उन महानुभावों ने अपने तप–त्यागपूर्ण आदर्श जीवन तथा कल्याणकारी धर्मोपदेश मे यहाँ के निवासियों की धार्मिक भावना को सुदृढ करते हुए उनके मनोवल को बनाये रखा था । बडे आश्चर्य की बात है कि इतना अत्याचार सहने पर भी ब्रज के तत्कालीन किसी धर्माचार्य अथवा भक्त–कवि की रचना में मुसलमानों के प्रति कोई आक्रोश या दुर्भाव व्यक्त नहीं किया गया ! इसे उन महात्माओं की अलौकिक क्षमा-वृत्ति और प्राणी मात्र के प्रति समदृष्टि ही कहा जा सकता है । उन धार्मिक मनीषियों की ब्रज के लिए यह निश्चय ही महान् देन थी । उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम है ।

इस काल में धर्माचार्यों और संत–महात्माओं द्वारा जो धार्मिक मत प्रचलित किये गये थे, उनमें वैष्णव धर्म के भक्ति मार्ग पर आधारित विभिन्न संप्रदायों का सर्वाधिक महत्व है । उन भक्ति संप्रदायों का ब्रज में प्रचलन होने से उनकी अतिशय लोकप्रियता के कारण यहाँ के अन्य धर्म-संप्रदाय प्रभावहीन और महत्त्वशून्य हो गये थे । इसलिए इस अध्याय में पहिले वैष्णव धर्मोक्त भक्तिमार्ग के उदय और विकास पर प्रकाश डाल कर, फिर उस पर आधारित भक्ति-संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । तदुपरांत इस काल के धर्म–संप्रदायों की स्थिति और यहाँ आने वाले कतिपय प्रमुख भक्तजनों का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

वैष्णव धर्म

वासुदेवोपासक धर्म का पुनरावर्त्तन—कृष्ण-काल में वासुदेवोपासक धर्म की जो धारा प्राचीन ब्रजमंडल अर्थात् शूरसेन जनपद से निकल कर द्वारका गई थी; उसने वहाँ से चल कर सौराष्ट्र, विदिशा, विदर्भ और कर्नाटक आदि प्रदेशों में शनैः शनैः प्रवाहित होने के उपरांत दक्षिण के तमिल प्रदेश में पहुँच कर विराम लिया था । उस वासुदेवोपासक धर्म ने विभिन्न युगों में और विविध क्षेत्रों में कई नाम–रूप धारण किये; जिनमें सात्वत, पंचरात्र, भागवत धर्मो की दीर्घकालीन परंपरा रही है । दक्षिण में वही धर्म **'वैष्णव धर्म'** के रूप मे विकसित हुआ था । इसके विकास में पहिले वहाँ के आलवार भक्तों ने और फिर वैष्णव धर्माचार्यों ने बड़ा योग दिया था ।

वैष्णव धर्म का मूल तत्व 'भक्ति' है, जिसे विक्रम की ५ वीं शती से लेकर १२ वी शती तक के काल में क्रमशः आलवारों और आचार्यों ने दक्षिणी भारत के विभिन्न भागों में बड़े विशद रूप में प्रचारित किया था । १२ वी शती के पश्चात् वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व की वह निर्मल धारा वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित की गई थी, और जो अपने जन्मस्थान ब्रजमंडल में जा कर, वहाँ परंपरा से प्रचलित भागवत धर्म के परवर्ती रूप के साथ मिलती हुई कई शाखाओं के रूप में फैल गई थी । इस प्रकार अनेक शताब्दियों पश्चात् वासुदेवोपासक धर्म का वैष्णव धर्म के रूप में यहाँ पुनरावर्त्तन हुआ था । उस समय इसका नया नाम और नया रूप–रंग था; किंतु इसकी मूल भावना अपने प्राचीन रूप से भिन्न नहीं थी ।

भक्तिमार्ग का उदय और विकास—भक्तिमार्गीय वैष्णव धर्म का प्रचार उत्तर भारत में दक्षिणी धर्माचार्यों द्वारा किये जाने से यह समझा जाने लगा कि भक्ति तत्व का जन्म ही दक्षिण में हुआ और वह मूल रूप में द्रविड़ों की देन है। प्रायः यह माना जाता है कि आर्यों का आरंभिक धर्म कर्मकांड-प्रधान था, जिसमें यज्ञादि सकाम कर्ममार्ग की प्रमुखता थी। बाद में उसमें उपासना और ज्ञान मार्गों का भी उदय हुआ था। किंतु भक्तिमार्ग आर्यों में तब विकसित हुआ, जब वे द्रविड़ों के संपर्क में आये थे। इस मान्यता को उस अनुश्रुति से अधिक बल मिला है, जो पद्म पुराण के उत्तरखंड और भागवत पुराण के माहात्म्य में कही गई है।

भक्ति के जन्म की अनुश्रुति—पद्म पुराण में उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार भक्ति ने नारद जी को अपने जन्म और विकास की कथा बतलाते हुए कहा है,—"मैं द्रविड़ प्रदेश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बड़ी हुई, महाराष्ट्र में कुछ काल तक स्थित रही, और फिर गुजरात में जाकर वृद्धा हुई हूँ[1]।" इसी प्रकार की एक किंवदंती कबीर पंथी आदि संत संप्रदायों में भी प्रचलित है। उसमें बतलाया गया है कि भक्तिमार्ग का जन्म दक्षिण के द्राविड़ प्रदेश में हुआ था, जहाँ से स्वामी रामानंद उसे उत्तर में लाये थे। फिर उनके कबीरादि शिष्यों ने उसका व्यापक प्रचार किया था[2]।

उपर्युक्त अनुश्रुतियाँ भक्तिमार्गीय विकास क्रम के वस्तुतः द्वितीय चरण से संबंधित हैं और वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नहीं हैं। भक्तिमार्ग का मूल तत्व उत्तर भारत में वैदिक धर्म की पृष्ठभूमि में अंकुरित हुआ, और उसका आरंभिक विकास उत्तर वैदिक काल में नारायण अथवा वासुदेव की उपासना के रूप में हुआ था। फिर उस भक्तिगर्भित वासुदेवोपासक धर्म को शूरसेन प्रदेश के सात्वत क्षत्रियों के वंशज दक्षिण में ले गये थे। यह भक्तिमार्ग के उद्भव और विकास का प्रथम चरण था। उसके द्वितीय चरण का विकास दक्षिण में वहाँ के आलवार भक्तों और उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी सर्वश्री रामानुज, निंबार्क, विष्णुस्वामी, मध्व आदि धर्माचार्यों द्वारा किया गया था। वे सभी भक्तगण दक्षिण के थे। उनकी परंपरा में केवल रामानंद ही उत्तर भारत के थे, जिन्होंने अपने कबीरादि शिष्यों द्वारा उत्तर में भी मार्गमार्ग का प्रचार किया था।

जहाँ तक द्वितीय चरण के विकास-क्रम की सत्यता का संबंध है, उसे भी अल्पांश में ही सत्य कहा जा सकता है। रामानंद ने तो केवल रामानुज के भक्ति संप्रदाय को ही कुछ परिवर्तित रूप में अपने कबीरादि शिष्यों द्वारा प्रचलित किया था; किंतु रामानुज के अतिरिक्त दक्षिण के अन्य धर्माचार्यों ने भी स्वयं और अपने शिष्यों द्वारा उत्तर भारत में अपने भक्ति संप्रदायों का प्रचार किया था। उन धर्माचार्यों में वल्लभाचार्य जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे दाक्षिणात्य परंपरा में होते हुए भी उत्तर भारत के ही थे। फिर रामानंद के संत शिष्यों की अपेक्षा तो निंबार्क, मध्व और वल्लभ के बहुसंख्यक शिष्यों की भक्त-मंडली को ही भक्तिमार्ग का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है; जिनका उल्लेख उक्त अनुश्रुति में नहीं है। इसीलिए उसे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता है।

---

(१) उत्पन्ना द्राविड़ेचाहं, कर्णाटके वृद्धिंगता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतांगता॥

(२) भक्ति द्राविड़े ऊपजी, लाये रामानंद।
परगट करी कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड॥

यहाँ पर हम भक्ति मार्ग के दोनों चरणों पर क्रमशः विचार करते हुए उनके उदय और विकास-क्रम का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं,—

भक्तिमार्ग का प्रथम चरण—वैदिक संहिता और ब्राह्मण भाग में कर्ममार्ग का तथा आरण्यक और उपनिषद् में ज्ञानमार्ग का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है; किंतु उनमें भक्तिमार्ग के तत्व भी बीज रूप में मिलते हैं। संहिताओं में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, सविता आदि की स्तुति के जो मंत्र हैं, उनमें व्यक्त विनय-भावना में उपासना और भक्ति का भी आभास मिलता है। यहाँ कुछ मंत्र दिये जाते हैं—

त्वमस्माकं तवस्मसि (ऋ. ८–८१–३२), अर्थात्—तू हमारा है और हम तेरे हैं।

स न इंद्रः शिवः सखा (ऋ. ८–९३–३), अर्थात्—वह इंद्र हमारा कल्याणकारी सखा है।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।……तत्र माममृतं कृधि॥ (ऋ. ९–११३–११), अर्थात्—हे भगवन्! मुझे सदा आनंद, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मनः स्थिति में रखिए।

ॐ गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्, वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना। पतिरिव जायां अभिनोन्येतु, धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥ (ऋ. १०–१४९–४) अर्थात्—जैसे गायें ग्राम के प्रति शीघ्र ही जाती हैं, जैसे शूरवीर योधा अपने प्रिय अश्व पर बैठने के लिए जाता है, जैसे स्नेह पूरित मन वाली और बहुत दूध देने वाली रँभाती हुई गाय अपने प्रिय बछड़े के प्रति शीघ्रता से जाती है, एवं जैसे पति अपनी प्रियतमा सुंदरी पत्नी से मिलने के लिए शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्व द्वारा वरण करने योग्य निरतिशय–आनंदनिधि सविता हमारे समीप आता है[1]।

उपर्युक्त मंत्रों में उपास्य के प्रति उपासक की आत्मीय भावना और उपास्य की अतिशय दयालुता का उल्लेख हुआ है; जिसे भक्ति तत्त्व के बीजारोपण का व्यंजक कहा जा सकता है। कतिपय विद्वानों ने पूर्वोक्त तथ्य को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया है। म. म. डा० गोपीनाथ कविराज का कथन है,—"यद्यपि कुछ लोग वैदिक उपासना का भक्ति के स्थान में ग्रहण कर लेते हैं, जो किसी अंश में ठीक भी है; तथापि 'भक्ति' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वह वैदिक कर्मकांड अथवा ज्ञानकांड या उपासनाकांड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है। यद्यपि एकायन मार्ग आदि का निदर्शन वैदिक साहित्य में भी है, तथापि इसके बहुल प्रचार का प्रमाण वैदिक ग्रंथों में दिखाई नहीं देता[2]।"

उपनिषद् काल आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही साथ भक्ति तत्व के अंकुरित होने का भी युग था। इसका संकेत 'श्वेताश्वतर' और 'कठ' आदि उपनिषदों में मिलता है। कठोपनिषद के एक श्लोक में कहा गया है,—"यह आत्मा न तो प्रवचन से, न मेधा से और न बहुत अध्ययन से ही उपलब्ध होता है। वह जिसे स्वीकार करता है, उसी को प्राप्त होता है। उसके लिए यह आत्मा अपने स्वरूप को स्वयं प्रकट करता है[3]।" इस श्लोक में बतलाया है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए स्वयं उसकी कृपा के बिना विद्या, बुद्धि और पांडित्य से उसका प्राप्त होना संभव नहीं है। यह भावना निश्चय ही भक्ति तत्व के अंकुरित होने का सूचक है।

---

(१) कल्याण (भक्ति अंक), पृष्ठ ३४–३५

(२) भारतीय संस्कृति और साधना (प्रथम भाग), पृष्ठ १८४

(३) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ (कठोपनिषद्, १–२–२३)

उपनिषदों का मंथन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसमें भक्ति तत्त्व का पादप स्पष्टतया पल्लवित होता हुआ दिखलाई देता है; जो पौराणिक काल में पुष्पित और फलित हुआ था। इस प्रकार श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश भक्तिमार्ग का आदिम रूप और श्रीमद् भगवत् गीता इसका आदि ग्रंथ कहा जा सकता है। वह भक्तिमार्गीय धर्म ही शूरसेन जनपद के यादवों की परंपरा द्वारा दक्षिणी भारत में प्रसारित किया गया था। इसी को दक्षिण के आलवार (वैष्णव) और नायनार (शैव) भक्तों ने ग्रहण कर अपने भावानात्मक काव्य द्वारा विकसित किया था। वह भक्ति मार्ग का प्रथम चरण था।

भक्तिमार्ग का द्वितीय चरण—दक्षिण के आलवार भक्तों की उपासना और उनकी भाव-पूर्ण तमिल रचनाओं के द्वारा भक्तिमार्ग का द्वितीय चरण अग्रसर हुआ था। उसी को बाद में वैष्णव धर्माचार्यों ने अपने भक्ति संप्रदायों और दार्शनिक सिद्धांतों द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रसारित किया था। उस दूसरे चरण से संबंधित प्रधान ग्रंथ श्रीमद् भागवत है, जो भक्तिमार्ग का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत माना जाता है।

दक्षिण भारत में ५वीं शती से ११वीं शती तक का काल भक्तिमार्ग के व्यापक आंदोलन का युग था। उससे पहिले वहाँ ज्ञान-वैराग्यमार्गीय बौद्ध और जैन धर्मों की प्रमुखता थी। जब वहाँ भक्तिमार्ग का प्रचार बढ़ गया, तब बौद्ध-जैन धर्म गौण हो गये और उनके स्थान पर वैष्णव और शैव धर्मों ने प्रधानता प्राप्त की थी। उस समय भक्त कवियों द्वारा विष्णु और शिव की भक्ति से संबंधित गीत गाये जाने लगे थे। उस प्रकार के गीत अत्यधिक संख्या में उस समय तमिल भाषा में रचे गये थे। उस काल के शैव भक्त 'नायनार' और वैष्णव भक्त 'आलवार' कहे गये हैं। यहाँ पर आलवार भक्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

दक्षिण के आलवार भक्त—दक्षिण भारत के आरंभिक वैष्णव भक्तों को 'आलवार' कहा गया है। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का है, जिसका अभिप्राय 'अध्यात्म ज्ञान एवं भगवद् भक्ति में लीन महापुरुष' होता है। विक्रम की प्रायः पाँचवीं शताब्दी से दशवीं शताब्दी तक के काल में दक्षिण में अनेक 'आलवार' भक्त हुए थे, जिनमें से १२ प्रमुख माने जाते हैं। वे भक्तगण ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज तक और राजा से लेकर अकिंचिन तक विविध वर्णों और विभिन्न वर्गों के थे। उनमें एक किशोरी बाला भी हुई थी। वे सब विद्वान तो अधिक नहीं थे, किंतु उच्चकोटि के साधक और आध्यात्मिक रंग में रँगे हुए भक्त महापुरुष थे। उनका रहन-सहन सीधा-सादा और सात्विक था। वे आत्म समर्पण की भावना रखते थे। भगवान् विष्णु और श्रीकृष्ण की भक्ति के भावपूर्ण गीतों का उन्होंने गायन किया था। उन्हें दक्षिण में देवताओं की भाँति पूजा जाता है। उनकी मूर्तियाँ वहाँ के अनेक मंदिरों में ठाकुर जी की प्रतिमाओं के साथ-साथ मिलती हैं।

आलवार भक्तों द्वारा तमिल भाषा में रचे हुए बहुसंख्यक गीत उपलब्ध हैं। उनमें से प्रायः ४ हजार गीतों को बाद में नाथमुनि ने संकलित किया था। वह संकलन 'नालायिर प्रबंधम्' अथवा 'दिव्य प्रबंधम्' कहलाता है। दक्षिण के वैष्णव भक्तों में इसका महत्व वेदों से भी बढ़कर माना जाता है। आलवारों में शठकोप, कुलशेखर, विष्णुचित्त, गोदा और तिरुप्पन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शठकोप आलवारों में सर्वश्रेष्ठ थे। वे शूद्र जाति के होते हुए भी महान् तपस्वी, परम भक्त और विद्वान पुरुष थे। उनका नाम नाम्मालवार भी मिलता है। उन्होंने तमिल भाषा में कई ग्रंथों की

रचना की थी। कुलशेखर केरल प्रदेश के राजा थे, किंतु वे जनक के समान राजकीय वैभव से सर्वथा विरक्त रहे थे। अंत में उन्होंने राज सिंहासन का परित्याग कर भगवान् रंगनाथ की भक्ति में अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनका रचा हुआ एक स्तोत्र ग्रंथ 'मुकुंदमाला' वैष्णवों में अत्यंत लोकप्रिय है। विष्णुचित्त एक विद्वान भक्त थे। उन्हें पोरियालवार भी कहा जाता है। उनके रचे हुए भक्ति-भावपूर्ण गीत दिव्य प्रबंधम् में संकलित मिलते हैं। उनमें से कतिपय गीतों को तमिल मूल और संस्कृत तथा हिंदी अनुवाद सहित श्री बलदेव उपाध्याय ने उद्धृत किया है, जिनमें कृष्ण-भक्ति का मार्मिक कथन हुआ है। दक्षिण के वैष्णव भक्त वहाँ के मंदिरों में देवता को पुष्प-समर्पण करने के समय श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उनका गद्गद कंठ से गायन करते हैं[1]। विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री गोदा अण्डाल थी, जो दक्षिण की सर्वाधिक प्रसिद्ध बाला थी। तिरुप्पन अन्त्यज जाति के एक विख्यात वैष्णव भक्त थे।

गोदा अण्डाल—विष्णुचित्त उपनाम पोरियालवार को एक दिन मंदिर के तुलसी-उद्यान में नवजाता कन्या प्राप्त हुई थी। निस्संतान विष्णुचित्त ने उसे भगवान् की देन समझा और वे अपनी पुत्री के समान उसका पालन-पोषण करने लगे। वह कन्या अपने पालक पिता की भक्ति-भावना के कारण अपनी बाल्यावस्था से ही भगवान् रंगनाथ की अनन्य भक्त हो गई थी। उसका आरंभिक नाम 'कोदइ' था; किंतु बाद में वह गोदा, रंगनायकी अथवा अण्डाल के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। तामिल भाषा में अण्डाल का अर्थ है,—'जिसका उद्धार हो चुका है'।

अण्डाल अत्यंत रूपवती थी, और उसने जीवन पर्यंत अविवाहित रह कर भगवान् रंगनाथ की दाम्पत्य भाव से उपासना की थी। वैष्णव भक्तों की मान्यता है कि अण्डाल ने अपनी अनन्य भक्ति के कारण भगवान् रंगनाथ को पति रूप में प्राप्त किया था। उसे विष्णुप्रिया भूदेवी का अवतार माना जाता है और उसकी मूर्ति की पूजा श्री रंगनाथ जी की मूर्ति के साथ की जाती है। उसका जन्म सं० ७०० के लगभग हुआ था। इस प्रकार वह उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध भक्त कवियत्री मीराबाई से बहुत पहिले हुई थी। अण्डाल और मीरा दोनों की भक्ति में बड़ी समानता है। इसलिए अण्डाल को दक्षिण की मीरा अथवा मीरा को उत्तर की अण्डाल कहा जाता है। मीरा की तरह ही उसके भक्तिपूर्ण विरह के गीत उपलब्ध हैं, जिन्हें तमिल भाषा में 'पासुरम्' कहते है। वह अपने रचे हुए 'पासुरम्' को मीरा की तरह ही मधुर कंठ से भाव-विभोर होकर भगवान् के समक्ष नृत्य करती हुई गाती थी। ऐसा कहा जाता है, अंत में वह भगवान् रंगनाथ में ही समा गई थी! उसके रचे हुए ३० 'पासुरम्' गीतों का संग्रह 'तिरुप्पावै' कहलाता है, जिसका गायन तमिल प्रदेश के घर-घर में होता है।

दक्षिण के वैष्णव धर्माचार्य और भक्त महानुभाव—आलवारों की परंपरा प्राय: दशम् शताब्दी तक चलती रही थी। उसके पश्चात् दक्षिण में वैष्णव आचार्यों का युग आरंभ हुआ था। जहाँ तक भक्तिमार्ग का संबंध है, वे आचार्यगण आलवारों की परंपरा में उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी थे; किंतु उन दोनों की जीवन-धाराएँ कई बातों में पृथक्-पृथक् थीं। उन दोनों की तुलना करते हुए विद्वत्वर श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है,—"आलवार तथा आचार्य दोनों ही विष्णु-भक्ति के जीवंत प्रतिनिधि थे, परंतु दोनों में एक पार्थक्य है। आलवारों की भक्ति उस पावन-सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है, जो स्वयं उद्वेलित होकर प्रखर गति से बहती जाती है और जो कुछ सामने आता है, उसे तुरंत बहा कर अलग फेंक देती है। आचार्यों की भक्ति उस तरंगिणी के

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३३-३७

समान है, जो अपनी सत्ता जमाये रखने के लिए रुकावट डालने वाले विरोधी पदार्थों से लड़ती-झगड़ती आगे बढ़ती है । आलवारों के जीवन का एक मात्र आधार था प्रपत्ति–विशुद्ध भक्ति; परंतु आचार्यों के जीवन का एक मात्र सार था भक्ति तथा कर्म का मंजुल समन्वय । आलवार शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्ति रस से सिक्त थे । आचार्य वेदांत के पारंगत विद्वान ही न थे, प्रत्युत तर्क और युक्ति के सहारे प्रतिपक्षियों के मुखमुद्रण करने वाले पंडित थे । आलवारों में हृदयपक्ष की प्रबलता थी, तो आचार्यों में बुद्धिपक्ष की दृढ़ता थी[1] ।"

विक्रम की दशवीं शताब्दी के पश्चात् तमिल प्रदेशीय आलवारों के भक्तिमार्ग का प्रवाह वैष्णव धर्माचार्यों और वैष्णव भक्तों द्वारा उत्तर की ओर मोड़ दिया गया था । धर्माचार्यों में सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंबार्क और मध्व प्रमुख थे । वैष्णव भक्तों में कर्णाटक के हरिदासों ने और महाराष्ट्र के वारकरी संत ज्ञानेश्वर तथा नामदेव ने १३वीं–१४वीं शताब्दियों में भक्ति आंदोलन को बल प्रदान किया था । उसी काल में श्री रामानुजाचार्य की परंपरा के सर्वश्री राघवानंद और रामानंद ने उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन को गति प्रदान की थी । नामदेव (सं० १३२७–सं० १४०७) ने महाराष्ट्र के साथ पंजाब में भी भक्ति आंदोलन का नेतृत्व किया था और रामानंद(सं.१३५६–सं.१४६७) की प्रेरणा से कबीरादि संतों ने निर्गुण भक्ति का प्रचार किया था ।

उन सब महानुभावों के प्रयत्न से वैष्णव धर्म के भक्ति आंदोलन की ऐसी बाढ़ आई कि उसके प्रबल प्रवाह में शैव, शाक्त, जैन आदि धर्म-संप्रदायों के साथ ही साथ शंकराचार्य का अद्वैत मत भी नहीं टिक सका था । उस आंदोलन के प्रमुख सूत्रधार दक्षिण के विविध धर्माचार्य थे । उन सबका प्रधान उद्देश्य भक्तिमार्ग को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर उसका व्यवस्थित रूप से प्रचार करना था । इस उद्देश्य की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा शंकराचार्य के अद्वैतवाद की थी, जिसमें भक्ति-तत्व को सिद्धांततः कोई स्थान नहीं था । इसीलिए वैष्णव धर्माचार्यों ने समान रूप से शंकर-सिद्धांत का विरोध किया था ।

शंकर-सिद्धांत की पृष्ठभूमि—समस्त वैदिक वाङ्मय सामान्य रूप से दो भागों में विभाजित है, जिन्हें 'कर्मकांड' और 'ज्ञानकांड' कहा जाता है । वैदिक संहिताओं के मंत्र भाग सहित ब्राह्मण ग्रंथों का यज्ञ संबंधी भाग, जिसमें मानव कर्तव्य का निर्देश है और जिसका कर्म से प्रत्यक्ष संबंध है, 'कर्मकांड' कहलाता है । आरण्यक और उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान साधारणतया 'ज्ञानकांड' के अंतर्गत माना जाता है । उपनिषदों का विशाल वाङ्मय उत्तर वैदिक काल की रचना है, इसलिए इसे वेदांत भी कहा जाता है । वेदांत का अर्थ है,—'वेदों का अंतिम भाग' । उपनिषदों में ऐसी अनेक श्रुतियाँ मिलती हैं, जिनका अभिप्राय एक–दूसरे से भिन्न सा जान पड़ता है । ऐसे श्रुति–वाक्यों को समन्वित रूप में संकलित कर श्री बादरायण व्यास ने जो दार्शनिक रचना प्रस्तुत की थी, उसे 'उत्तर मीमांसा' कहा जाता है । चूंकि इसमें ब्रह्म संबंधी ज्ञान की प्रधानता है, अतः इसे 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते हैं और इसी का अपर नाम 'वेदांत सूत्र' भी है । श्रीमद् भगवत गीता में भी उपनिषदों का सार है, इसलिए इसे भी वेदांत कहा जाता है । इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवत गीता—ये तीनों ही वेदांत के आधारभूत ग्रंथ है, और इनमें समस्त वैदिक वाङ्मय के आध्यात्मिक ज्ञान का सार-तत्व दिया गया है । इन तीनों ग्रंथों को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं, जिस पर शंकर–सिद्धांत की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है ।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ १८६

प्रस्थानत्रयी का भाष्य—प्रस्थानत्रयी भारतीय तत्वज्ञान का अक्षय कोश है। इसका महत्व इसी से ज्ञात होता है कि प्रत्येक धर्माचार्य ने अपने सिद्धांत को सत्य सिद्ध करने के लिए उसे प्रस्थानत्रयी से प्रमाणित करना आवश्यक समझा है। शंकराचार्य पहिले धर्माचार्य थे, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी के भाष्य द्वारा अपने अद्वैतावाद के सिद्धांत को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था। उनके पश्चात् जब वैष्णव धर्माचार्यों ने शंकराचार्य के मत के विरुद्ध अपने भक्तिमार्गीय संप्रदायों की स्थापना की, तब उन्हें भी अपने मतों की प्रामाणिकता प्रस्थानत्रयी से पुष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। फलतः सभी प्रमुख संप्रदायों के प्रवर्तक धर्माचार्यों ने प्रस्थानत्रयी का भाष्य किया है। ऐसे भाष्यकर्ताओं में सर्वश्री रामानुज, निंबार्क, मध्व और वल्लभ के नाम अधिक प्रसिद्ध है।

शंकर सिद्धांत और भक्ति संप्रदाय—शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धांत में केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकृत की थी। उनके मतानुसार एक मात्र 'ब्रह्म' ही सत् है; इसके अतिरिक्त सब कुछ असत् अर्थात् 'माया' है। यह दृश्यमान 'जगत्' और इसके सभी पदार्थ भी उनके मतानुसार मिथ्या एवं मायाजन्य है। उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण, किंतु माया के कारण सगुण सा भाषित होने वाला माना है। इस प्रकार आलवारों और वैष्णवचार्यों द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के लिए शंकर सिद्धांत में तत्वतः कोई स्थान नहीं था। इसलिए भक्ति संप्रदायों के सफल अभियान के लिए विभिन्न आचार्यों को शंकर सिद्धांत का खंडन करना आवश्यक हो गया था।

वैसे शंकराचार्य के काल में ही भक्तिमार्ग का महत्व मान लिया था, अतः वे भी उसके प्रभाव से बच नहीं सके थे। उनके मत में ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी व्यावहारिक रूप में पंचदेवों की उपासना स्वीकृत थी। उन्होंने श्रीकृष्ण की स्तुति के जो स्तोत्र रचे थे, वे भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके द्वारा रचे हुए गीता और विष्णु सहस्रनाम के भाष्य तथा प्रबोधसुधाकरादि ग्रंथ भक्तिवाद से सर्वथा रहित नहीं है। यहाँ तक कि उन्होंने श्रीकृष्ण की प्रतिमा का पूजन और श्रीकृष्ण विषयक अनुराग को भी स्वीकार कर लिया है। उन्होंने कहा है,—'यदुनाथ श्रीकृष्ण को साकार मानने पर भी वे एकदेशीय नहीं हैं, बल्कि सर्वान्तिर्यामी साक्षात् सच्चिदानंद स्वरूप परमात्मा हैं'—

'यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः। सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥'

वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य की तरह पारमार्थिक और व्यावहारिक उभय दृष्टिकोणों के औचित्य को स्वीकार नहीं किया था। वे व्यावहारिक ही नहीं, बल्कि पारमार्थिक रूप में भी भक्ति-भावना की आवश्यकता मानते थे। उन्होंने शंकराचार्य के केवलाद्वैत के विरुद्ध अद्वैतवाद के अन्य रूप विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत ही निश्चित नहीं किये, वरन् द्वैत को भी स्वीकार कर लिया था। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का सैद्धांतिक विकास-क्रम वैष्णव धर्म के भक्ति संप्रदायों के बढ़ते हुए प्रभाव का अनिवार्य परिणाम था।

वैष्णव धर्म के भक्ति संप्रदायों में जगत् को सत्य और मानव जीवन को वास्तविक मानते हुए कर्म को महत्व दिया गया है, जब कि शंकराचार्य के मत में समस्त दृश्यमान जगत् को असत्य और भ्रम मानते हुए ज्ञान की महत्ता स्वीकृत हुई है। वैष्णव धर्म मानव जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा देता है, किंतु शांकर मत मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म धारण न करने की चिंता करता है। वैष्णव धर्म में पुनर्जन्म की लालसा इसलिए होती है कि अपने उपास्य की पुनः भक्ति करने का आनंद प्राप्त हो, किंतु शांकर मत में मुक्ति (पुनर्जन्म न होने) को हितकर माना गया है। इन्हीं कारणों से जन समाज शांकर मत की अपेक्षा वैष्णव धर्म के भक्ति संप्रदायों के प्रति अधिक आकर्षित हुआ था।

धार्मिक विभाग—कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य द्वारा अवैदिक और वेद-विरोधी धर्म-संप्रदायों को पदच्युत करने के उपरांत जब वैदिक धर्म के विकसित रूप में पौराणिक हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा की गई, तब धार्मिक ग्रंथों में मत, मार्ग और संप्रदायों का विवेचन आरंभ हुआ था। साधारणतया धर्म, मत, मार्ग, संप्रदाय और पंथ ये सभी शब्द समानार्थक समझे जाते हैं; किंतु वास्तव में ये भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक हैं। इनमें 'धर्म' शब्द सबसे प्राचीन और अत्यंत व्यापक अभिप्राय का बोधक है। मत और मार्ग में कौन सा शब्द पुराना है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है; कदाचित 'मत' शब्द 'मार्ग' की अपेक्षा प्राचीन है। महाभारत में मत शब्द उस काल में प्रचलित पाँच प्रकार की ज्ञान-प्रणालियों के लिए व्यवहृत हुआ है। उस काल के वे पाँच मत सांख्य, योग, पंचरात्र, वेदांत और पाशुपत थे[1]। महाभारत के पश्चात् इन शब्दों के बोधक अभिप्राय में अंतर पड़ गया था। इस समय इनका जो अभिप्राय समझा जाता है, वह प्रायः इस प्रकार है,—

(१) मत—धर्मोपासना का कोई विशिष्ट रूप; जैसे वैष्णव मत, शैव मत और शाक्त मत। इनकी महत्ता सूचित करने के लिए इन्हें 'धर्म' भी कहा जाता है।

(२) मार्ग—धर्मोपासना की कोई विशिष्ट विधि; जैसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग।

(३) संप्रदाय—किसी भी धर्म या मत का कोई विशिष्ट वर्ग अथवा उसके अनुयायियों की कोई परंपरा। एक धर्म या मत के अंतर्गत कई संप्रदाय हो सकते हैं; जैसे वैष्णव मत के अंतर्गत रामानुज संप्रदाय, निंबार्क संप्रदाय, माध्व संप्रदाय आदि।

(४) पंथ—धार्मिक साधना की कोई विशिष्ट प्रणाली, जो उसके प्रचलनकर्ता के नाम के साथ व्यवहृत होती है। यह शब्द अधिकतर निर्गुणिया संतों की साधना पद्धति के लिए ही रूढ़ हो गया है। जैसे कबीर पंथ, नानक पंथ, दादू पंथ आदि।

दार्शनिक विभाग—जगत् में अचेतन और चेतन दो प्रकार के पदार्थ हैं। इनमें अचेतन विषयक विचारशास्त्र को 'विज्ञान' कहते हैं और चेतन संबंधी निर्णयशास्त्र 'दर्शन' कहा जाता है। दर्शन के मुख्यतया वैदिक और अवैदिक नामक दो विभाग किये जाते हैं। फिर इन दोनों दार्शनिक विभागों में से प्रत्येक ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी उपविभाग होते हैं। इस प्रकार दर्शन के चार विभाग हुए,—१. ईश्वरवादी वैदिक दर्शन, २. अनीश्वरवादी वैदिक दर्शन, ३. ईश्वरवादी अवैदिक दर्शन और ४. अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन।

ईश्वरवादी वैदिक दर्शनों में 'उत्तर मीमांसा' अर्थात् वेदांत दर्शन मुख्य है। उसमें दो मार्ग हैं,—१. निर्विशेष ब्रह्मवाद और २. सविशेष ब्रह्मवाद। निर्विशेष ब्रह्मवाद 'अद्वैतवाद' कहलाता है। सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकार का है,—१. विष्णुपरक, २. शिवपरक, ३. शक्तिपरक, ४. सूर्यपरक और ५. गणपतिपरक। विष्णुपरक ब्रह्मवाद के चार दार्शनिक उपविभाग किये जाते हैं,—१. विशिष्टाद्वैत, २. शुद्धाद्वैत, ३. द्वैताद्वैत और ४. द्वैत।

भारतीय दर्शन के विभिन्न वादों का प्रधान उद्देश्य यह निश्चय करना है कि ब्रह्म, जीव और जगत् का स्वरूप तथा उनका प्रकृत संबंध किस प्रकार का है। विविध उपनिषदों और उनके साररूप ब्रह्मसूत्रों में ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, जिनसे ब्रह्म, जीव और जगत् के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंध में अस्पष्टता का आभास होता है। इसी अस्पष्टता के विवेचन, विश्लेषण और स्पष्टीकरण के

(१) सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत, शांति पर्व, अध्याय ३४९)

लिए अनेक महानुभावों ने समय-समय पर अपनी विद्या, बुद्धि और निष्ठा के अनुसार ब्रह्मसूत्रों पर विविध भाष्यों की रचना की है । इन भाष्यों द्वारा भारतीय तत्वज्ञान के पाँच प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत निश्चित किये गये हैं; जिन्हें अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद कहा गया है ।

उक्त वादों में अद्वैतवाद के प्रमुख प्रचारक श्री शंकराचार्य हुए हैं। उनके दार्शनिक सिद्धांत में, जैसा पहिले लिखा जा चुका है, भक्ति के लिए तत्वतः कोई स्थान नहीं है; इसीलिए भक्तिमार्गीय वैष्णव आचार्यों ने अद्वैतवाद का विरोध करते हुए विभिन्न वादों के आधार पर अपने-अपने भक्ति संप्रदायों की स्थापना की थी ।

वैष्णव धर्म के चार संप्रदाय—श्री शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत के विरोध में दक्षिण के चार प्रमुख धर्माचार्यों के चार दार्शनिक सिद्धांत और उनके आधार पर चार धार्मिक संप्रदाय स्थापित हुए थे । उनमें से श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के आधार पर 'श्री संप्रदाय', श्री विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत के आधार पर 'रुद्र संप्रदाय', श्री निंबार्काचार्य ने द्वैताद्वैत के आधार पर 'सनक संप्रदाय' और श्री मध्वाचार्य ने द्वैतवाद के आधार पर 'ब्रह्म संप्रदाय' का प्रचलन एवं प्रचार किया था । उन चारों संप्रदायों में भगवान् विष्णु और उनके अवतारों की उपासना की जाती है, अतः वे 'वैष्णव संप्रदाय' कहे जाते हैं। 'इन चारों संप्रदायों ने एक प्रकार से पांचरात्र सिद्धांत का ही अनुकरण किया है[1]', अतः उन्हें प्राचीन पंचरात्र–भागवत धर्म की परंपरा में माना जाता है ।

चारों संप्रदायों के मूल प्रवर्त्तक के रूप में श्री, रुद्र, सनकादि और ब्रह्म नामक देवताओं को वतलाने का अभिप्राय उन्हें 'सनातन' सिद्ध करने का असंभव प्रयत्न कहा जा सकता है । यह स्वयं-सिद्ध है कि वे चारों वैदिक देवता उक्त संप्रदायों का प्रवर्त्तन करने के लिए इस धरा-धाम पर कभी अवतीर्ण नहीं हुए थे । सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंबार्क और मध्व नामक जिन आचार्यों ने वास्तव में उन संप्रदायों का प्रचलन किया था, उन्हें उक्त देवताओं का अवतार भी नहीं माना गया है। इसलिए भी उन देवताओं के नामों की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। किसी प्रकार संगति मिलाने के लिए हम चाहें तो पूर्वोक्त चारों आचार्यों को उन चारों देवताओं के ऐतिहासिक प्रतिनिधि मान सकते हैं।

ये चारों संप्रदाय किस काल में प्रचलित हुए थे, इसके संबंध में वड़ा मतभेद और विवाद है। चारों ही संप्रदाय एक–दूसरे से प्राचीन होने का दावा करते हैं, इसलिए इनके काल–क्रम को निश्चित करना अत्यंत कठिन हो गया है। विविध धार्मिक ग्रंथों में इन संप्रदायों का नामोल्लेख जिस क्रम से हुआ है, उससे भी उनके काल का बोध नहीं होता है। पद्म पुराण के तथाकथित प्रमाण के अनुसार रामानुज कृत श्री संप्रदाय, मध्वाचार्य कृत ब्रह्म संप्रदाय, विष्णुस्वामी कृत रुद्र संप्रदाय और निंबार्काचार्य कृत सनकादि संप्रदाय का क्रम है[2]।

---

(१) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८२

(२) सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः ।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः ॥
श्री–ब्रह्म–रुद्र–सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ देवि संप्रदाय प्रवर्त्तकाः ॥ (पद्म पुराण ?)

'प्रमेय रत्नावली' के अनुसार रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निंवार्क का क्रम है[1], किंतु अन्यत्र विष्णुस्वामी, निंवार्क, मध्व और रामानुज का क्रम लिखा गया है[2]। इस संबंध के अधिकांश उल्लेख और अनुसंधान श्री रामानुजाचार्य के 'श्री संप्रदाय' को आरंभिक और श्री मध्वाचार्य के 'ब्रह्म संप्रदाय' को अंतिम स्थान प्रदान करते हैं। इनके संबंध में अधिक विवाद भी नहीं है। श्री विष्णुस्वामी के रुद्र संप्रदाय और श्री निंवार्काचार्य के सनकादि संप्रदाय का काल-क्रम ही विवाद और मतभेद का कारण बना हुआ है। ये दोनों संप्रदाय पर्याप्त प्राचीन हैं। इनके अनुयायी इन्हें रामानुज से पूर्व के ही नहीं, बल्कि शंकराचार्य से भी पूर्व के मानते हैं। फिर इन दोनों में कौन सा पूर्ववर्ती और कौन सा परवर्ती है, यह भी विवादग्रस्त प्रश्न है।

जहाँ तक इन संप्रदायों द्वारा वैष्णव धर्म के विकास का संबंध है, वहाँ तक इनका एक क्रम निर्धारित किया जा सकता है। इसे काल–क्रम की दृष्टि से तो सर्वथा प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता; किंतु वैष्णव धर्म के विकास की विवेचना के लिए इसे सुविधाजनक समझा गया है। वह क्रम इस प्रकार है—

नाम	दार्शनिक सिद्धांत	प्रचलनकर्ता
(१) श्री संप्रदाय	विशिष्टाद्वैत	रामानुजाचार्य
(२) रुद्र संप्रदाय	शुद्धाद्वैत	विष्णुस्वामी
(३) सनकादि संप्रदाय	द्वैताद्वैत	निंवार्काचार्य
(४) ब्रह्म संप्रदाय	द्वैत	मध्वाचार्य

इन संप्रदायों की कई बातों में समानता है और कई बातों में भिन्नता। समानता की बातों में सबसे उल्लेखनीय यह है कि उपासना के क्षेत्र में ये सभी संप्रदाय भक्तिमार्ग को सर्वोपरि मानते हैं। शांकर मत में ब्रह्म को निर्गुण और माया के कारण सगुण सा भासित होने वाला माना गया है; किंतु वैष्णव संप्रदायों ने ब्रह्म को माया के कारण नहीं, बल्कि स्वरूप से सगुण माना है। शंकराचार्य ने जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न केवल भ्रांति अथवा माया कहा था, किंतु समस्त वैष्णव संप्रदायों ने शांकर मत के इस सिद्धांत को अस्वीकार कर जगत् को भी ब्रह्म के समान सत् स्वीकार किया है। शांकर मत के अनुसार मुक्त जीव स्वयं ब्रह्म है; किंतु वैष्णव संप्रदायों ने मुक्त जीव को ब्रह्म न मान कर उसे वैकुंठ में निवास करते हुए सच्चिदानंद प्रभु की सेवा करने वाला बतलाया है।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त वैष्णव संप्रदायों की और भी कई बातों में समानता है; किंतु ब्रह्म और जीव अर्थात् परमात्मा और आत्मा की सत्ता के संबंध में इन चारों संप्रदायों में भी सैद्धांतिक मतभेद है। इस मौलिक मतभेद के कारण ही वैष्णव धर्म के ये चार संप्रदाय प्रकाश में आये हैं और वेदांत के चार प्रमुख सिद्धांत स्थिर हुए हैं। उन चारों संप्रदायों को आरंभ में दक्षिण भारत के विविध स्थानों में प्रचारित किया था। कालांतर में वे उत्तर भारत में भी प्रचलित हुए थे। यहाँ पर उन चारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

---

(१) रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥ (प्रमेय रत्नावली)

(२) विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥ (वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५)

(१) श्री संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस संप्रदाय की मान्यता है कि भगवान् विष्णु ने इसका सर्व प्रथम उपदेश श्रीदेवी (लक्ष्मी) को दिया था। उन्हीं के नाम पर इसका 'श्री संप्रदाय' नाम प्रसिद्ध हुआ है। इस संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। विशिष्ट का अभिप्राय 'चेतन–अचेतन विशिष्ट ब्रह्म' से है, और अद्वैत का अभिप्राय 'अभेद अथवा एकत्व' से। इस प्रकार चेतन–अचेतन–विभागविशिष्ट ब्रह्म के अभेद अथवा एकत्व के प्रतिपादन करने वाले दर्शनिक सिद्धांत को 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया है।

प्रेरणा-स्रोत—श्री संप्रदाय और विशिष्टाद्वैत सिद्धात को व्यवस्थित रूप से प्रचलित करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य को है; किंतु इसके लिए उन्हें दो पूर्ववर्ती आचार्य नाथमुनि और यामुनमुनि से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। **नाथमुनि**—दाक्षिणात्य आचार्यों में सर्वप्रथम माने जाते हैं। उनका काल सं० ८८१ सं० ९८१ तक है। वे शठकोप आलवार की शिष्य–परंपरा में थे। उन्होंने तमिल भाषा के भक्तिपूर्ण गीतों का संकलन 'नालायिर प्रबंधम्' के नाम से किया था। **यामुनमुनि**—नाथमुनि के पौत्र थे। उनका जन्म सं० १०१० में मदुरा में हुआ था। वे विवाहित एवं गृहस्थ थे और एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होंने कई विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें विशिष्टाद्वैत सिद्धांत की आरंभिक प्रतिष्ठा की गई थी। उनका 'आगम प्रामाण्य' इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उनकी एक प्रसिद्ध रचना 'आलवंदार स्तोत्र' भी है। उनकी पौत्री के पुत्र श्री रामानुजाचार्य थे, जिन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत और श्री संप्रदाय को व्यवस्थित रूप में प्रचारित किया था।

रामानुजाचार्य—वैष्णव संप्रदायाचार्य श्री रामानुज का जन्म वि. सं. १०७४ में दक्षिणी भारत के श्री पेरेम्बुपुरम् में हुआ था। वे आरंभ से ही बड़े कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने बचपन में यादवप्रकाश नामक एक विद्वान से वेदांत का अध्ययन किया था। कालांतर में यादवप्रकाश स्वयं रामानुज के शिष्य हो गये थे। वे आरंभ में गृहस्थ थे, किंतु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि जो महान् कार्य वे करना चाहते हैं, उसे गृहस्थाश्रम में रह कर करना संभव नहीं है; अतः उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। संन्यासी होने के अनंतर वे आलवार भक्तों के भक्ति-मार्ग का प्रचार करने लगे। इसके लिए उन्होंने भारत के अधिकांश प्रदेशों की यात्रा की थी। उनका प्रमुख उद्देश्य अपने परम गुरु यामुनाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन और प्रचलन करना था। इसके हेतु उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य की रचना की थी, जो 'श्री भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। विशिष्टाद्वैत की पुष्टि के लिए उन्होंने और भी कई ग्रंथों का प्रणयन किया था; जिनमें गीता भाष्य, वेदांत सार और वेदांत दीप नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति, वेदांत संग्रह, गद्यत्रय आदि उल्लेखनीय हैं।

रामानुजाचार्य के ग्रंथों में विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन और अद्वैतवाद का खंडन किया गया है। उसके कारण उनके अनेक विरोधी भी हो गये थे; किंतु वे निर्भीकता पूर्वक अपने सिद्धांत का प्रचार करते रहे थे। उन्होंने दक्षिण के मेलकोट, श्रीरंगम् आदि स्थानों में कई विष्णु मंदिरों की प्रतिष्ठा की थी। उनके प्रयत्न से वहाँ के विष्णु मंदिरों की पूजा–उपासना वैखानस संहिता के स्थान पर पांचरात्र संहिता के अनुसार होने लगी थी। उनसे पहिले यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' में भी पंचरात्र का समर्थन किया गया था। 'श्री संप्रदाय' की दक्षिण में अनेक गद्दियाँ हैं; जिनमें तोताद्रि,

व्यंकटाद्रि, श्रीरंगम् और विष्णुकांची की गद्दियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है, रामानुजाचार्य १२० वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे और उनका देहावसान सं० ११९४ में हुआ था।

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत—रामानुज ने ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए भी उसे चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति इन दो पदार्थों से विशिष्ट बतलाया है। वे शंकराचार्य की भाँति जगत् को मिथ्या एवं मायाजन्य नहीं मानते; बल्कि इसे ब्रह्म में लीन और ईश्वर को विश्व में अंतर्हित बतलाते हैं। उनका मत है, जगत् को मिथ्या बतलाये बिना भी ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है। उनके मतानुसार तीन मूल तत्व हैं—१. प्रकृति, २. आत्मा और ३. ईश्वर। प्रकृति जड़ पदार्थ है, जिसे माया या अविद्या भी कहते हैं। आत्मा चेतन है, किंतु अणु प्रमाण है। ईश्वर सर्वनियंता एवं विभु है; और वह सत्य, ज्ञान एवं आनंद गुणों से विशिष्ट है। इन तीनों मूल तत्वों की समष्टि का नाम ही ब्रह्म का एकत्व है। जड़ प्रकृत्ति और चेतन आत्मा दोनों से विशिष्ट ईश्वर ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म सगुण और सविशेष है। इसके गुणों की संख्या नहीं है और इसकी शक्ति माया है। जीव और जगत् ब्रह्म के अंगीभूत होने से ब्रह्म की ही भाँति सत्य हैं। ब्रह्म विभु है, पूर्ण है, ईश्वर है; किंतु जीव अणु है, खंडित है और दास है। नारायण विष्णु सबके अधीश्वर ब्रह्म हैं। वे सृष्टि, स्थिति और संहार के एकमात्र कर्त्ता हैं। वे चतुर्भुज हैं; और शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी हैं। श्री, भू और लीला उनकी शक्तियाँ हैं। भगवान् के दासत्व की प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है; जिसकी उपलब्धि का साधन भक्ति है, ज्ञान नहीं। ज्ञान भक्ति का सहायक मात्र है। वैकुंठ में श्री, भू और लीला देवियों सहित नारायण-विष्णु की सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान् की भक्ति दास्य भाव से ही करनी चाहिये। इस संप्रदाय के अनुयायी विरक्त और गृहस्थ दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रपत्ति योग—श्री संप्रदाय के भक्ति तत्त्व का सार 'प्रपत्ति' है, जिसका अभिप्राय भगवान् की शरण में जाना है। इस संप्रदाय के अनुसार यही यथार्थ संन्यास है। ज्ञानयुक्त भक्तियोग में न तो सब की सामर्थ्य है और न अधिकार ही है; किंतु प्रपत्ति योग सबके लिए सुगम एवं सुलभ है और यह शीघ्र ही फलप्रद भी है। "अन्य मार्गों में चलने के लिए पुरुषार्थ या आत्मचेष्टा की आवश्यकता होती है, परंतु प्रपत्ति योग में पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए वर्ण-आश्रम आदि का विचार किये बिना सभी लोगों का इसमें अधिकार है। 'प्रभो! मैं अत्यंत दीन-हीन हूँ, अत्यंत दुर्बल हूँ, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है; मैंने आपके चरणों में आत्मसमर्पण किया है। आप मेरा भार ग्रहण कीजिये,' जब जीव सरल हृदय से व्याकुल होकर एक बार भी इस प्रकार भगवच्चरणों में शरणापन्न होता है, तभी भगवान् उस जीव को ग्रहण कर अपना लेते हैं। उसके अनंतर उस जीव का सब प्रकार का भार भगवान् के हाथ में ही रहता है। भगवान् आश्रितवत्सल हैं, शरणागतपालक हैं एवं प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतंत्र रूप से ही मोक्ष साधन है, यह बात रामानुज-संप्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न शास्त्रों के आधार पर सिद्ध की है। ब्रह्मपुराण में कहा है,—'ध्यानयोग से रहित होकर भी केवल प्रपत्ति के प्रभाव से मृत्यु-भय का अतिक्रम कर विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है।' अहिर्बुध्न्यसंहिता में लिखा है,—'सांख्य अथवा योग, यहाँ तक कि भक्ति से भी जिस अनावर्तनीय परम धाम की प्राप्ति नहीं हो सकती, वह एक मात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।' आर्त्त और दृप्त के भेद से प्रपत्ति दो प्रकार की है[१]।"

---

(१) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १९५

ब्रजमंडल में श्री संप्रदाय का प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, वैष्णव धर्म के भक्ति संप्रदाय पहिले दक्षिण के विभिन्न स्थानों में प्रचलित हुए थे; बाद में उनका प्रचार उत्तर भारत में हुआ था। तदनुसार श्री संप्रदाय के आरंभिक प्रचार क्षेत्र दक्षिण में तमिलनाड और आंध्र प्रदेश है। दक्षिण भारत में इस संप्रदाय का जितना अधिक प्रचार है, उत्तर भारत में उतना नहीं है,—ब्रजमंडल में तो और भी कम है । फिर भी पौराणिक उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि 'श्री संप्रदाय' के उपास्य भगवान् नारायण–विष्णु की उपासना मथुरामंडल में प्राचीन काल से ही होती रही है। यहाँ का प्राचीनतम धार्मिक केन्द्र मधुवन विष्णु की उपासना का पुराण–प्रसिद्ध स्थल रहा है। श्री रूपगोस्वामी (१६वीं शती) ने पुराणों के आधार पर जिस 'मथुरा माहात्म्य' ग्रंथ की रचना की, उसमें विष्णु के पर्यायवाची केशव, स्वयंभू, पद्मनाभ, दीर्घविष्णु, गतश्रम, गोविंद, हरि और वराह को मथुरामंडल के देवता बतलाया गया है[1] । 'वाराह पुराण' में भी लिखा है, मथुरा में दीर्घविष्णु, पद्मनाभ और स्वयंभू के दर्शन करने से सकल अभीष्ट की प्राप्ति होती है[2] । इन पौराणिक उल्लेखों से सिद्ध होता है कि मथुरामंडल में विष्णु की उपासना–पूजा की प्राचीन परंपरा रही है।

ऐसा अनुमान होता है, कृष्णोपासक धर्माचार्यों द्वारा कृष्ण–भक्ति का प्रचार किये जाने से पहिले अर्थात् १५वीं शती तक, यहाँ पर विष्णु की उपासना-पूजा और विष्णुपूजक संप्रदाय का अच्छा प्रचलन था । इसका संकेत कबीर के नाम से प्रचलित एक किंवदंती में मिलता है[3]; यद्यपि कबीर वचनावली की कतिपय मुद्रित प्रतियों में इसका भिन्न पाठ भी उपलब्ध है[4] । मथुरामंडल के गोवर्धन नामक स्थान में 'श्री संप्रदाय' की प्राचीन गद्दी रही है । उसकी गुरु–परंपरा के संबंध में कहा जाता है कि श्री रामानुज के पूर्ववर्ती श्री नाथमुनि ने उत्तरी भारत की सहकुटुंब यात्रा की थी । उस समय वे मथुरा भी आये थे और उन्होंने यमुना में स्नान किया था । बाद में उसी की स्मृति में उन्होंने अपने पौत्र का नाम 'यामुन' रखा था । उक्त यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी श्री रामानुजाचार्य हुए थे, जिनकी शिष्य–परंपरा के किसी प्राचीन धर्माचार्य ने गोवर्धन में 'श्री संप्रदाय' की प्रथम उत्तरभारतीय गद्दी स्थापित की थी[5] । उक्त गद्दी के स्थापनकर्त्ता का निश्चित नाम और उसकी स्थापना का यथार्थ काल बतलाना संभव नहीं है ।

श्री संप्रदाय की दूसरी शाखा 'रामानंदी संप्रदाय' का यहाँ पर आरंभ से ही प्रचार रहा था। इस संप्रदाय के वैरागी साधुओं की गद्दी की यहाँ प्राचीन परंपरा का उल्लेख मिलता है । स्वामी रामानंद के प्रधान शिष्यों का मथुरामंडल से संबंध आरंभ से ही रहा था । इसका उल्लेख आगामी पृष्ठों में रामानंदी संप्रदाय के प्रसंग में किया गया है ।

---

(१) श्री मथुरा माहात्म्य, पृष्ठ ६२

(२) वही ,, , पृष्ठ ४६

(३) चारभुजा के भजन में, भूले ब्रज के संत ।
'कबिरा' सुमिरै ताहि कौं, जाकै भुजा अनंत ॥

(४) चारभुजा के भजन में, भूलि परे सब संत ।
'कबिरा' सुमिरै तासु कौं, जाके भुजा अनंत ॥
—कबीर वचनावली (ना. प्र. सभा), पृष्ठ १

(५) श्री ब्रजांक (नाम माहात्म्य, वर्ष ३ संख्या १), पृष्ठ ६६
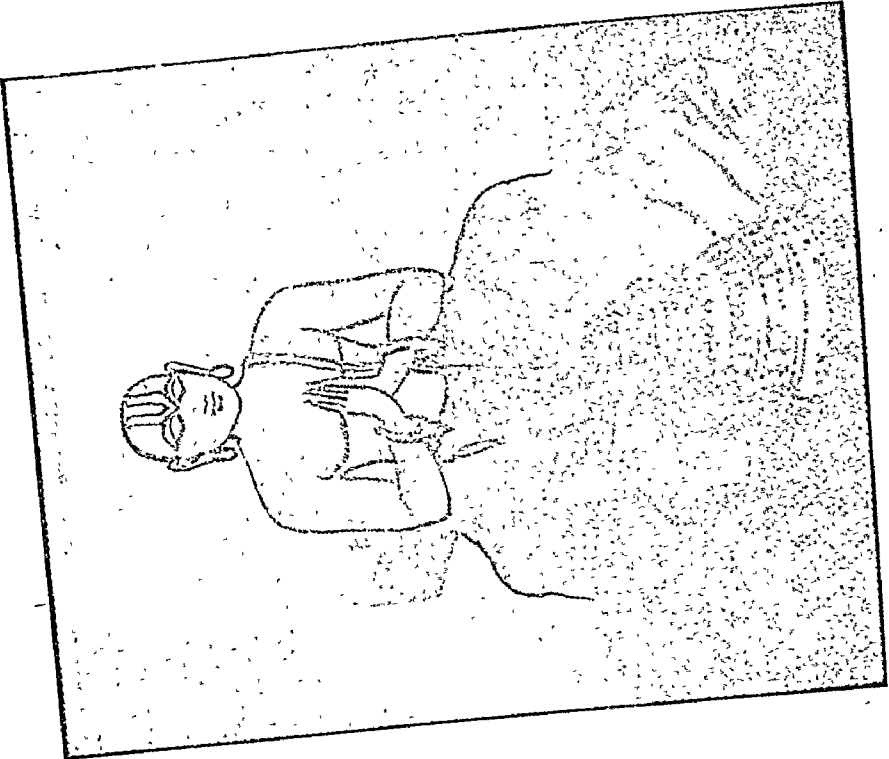
श्री रामानुजाचार्य जी

श्री विष्णुस्वामी जी

(२) रुद्र संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस संप्रदाय के आरंभकर्त्ता भगवान् शंकर माने जाते हैं, इसीलिए इसे 'रुद्र संप्रदाय' कहते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है, रुद्र ने इसका सर्वप्रथम उपदेश बालखिल्य ऋषियों को दिया था। वही ज्ञान कालांतर में विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ था। उन्होंने लोक में इसका प्रचार करने के हेतु पृथक् संप्रदाय की स्थापना की थी, जो उनके नाम पर 'विष्णुस्वामी संप्रदाय' भी कहा जाता है। इसका दार्शनिक सिद्धांत क्या था, इसे निश्चयपूर्वक बतलाना कठिन है; क्यों कि इसके समर्थन में विष्णुस्वामी ने जिन ग्रंथों की रचना की थी, वे आजकल उपलब्ध नहीं हैं। वैष्णव धर्म के संप्रदाय-प्रवर्त्तकों में विष्णुस्वामी का नाम प्रसिद्ध रहा है, और पद्म एवं भविष्यादि पुराणों में उन्हें 'शुद्धाद्वैत' सिद्धांत का प्रसिद्धिकर्त्ता बतलाया गया है[१]। वल्लभ संप्रदाय के ग्रंथों में श्री वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी मतानुवर्ती और उनकी गद्दी का अधिकारी माना गया है[२]। डा० भंडारकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धांत वही था, जो वल्लभाचार्य जी का है[३]। इन सब प्रमाणों से यही निश्चित होता है कि रुद्र संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' था।

विष्णुस्वामी—रुद्र संप्रदाय के ऐतिहासिक प्रवर्त्तक और प्रचलनकर्त्ता श्री विष्णुस्वामी का जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। उनके संबंध में यह किंवदंती प्रचलित है, कि वे दिल्ली के किसी सुलतान के अधीन द्रविड़ प्रदेशीय राजा के एक ब्राह्मण मंत्री के पुत्र थे। वे शास्त्रज्ञ विद्वान, परम तपस्वी और भक्तहृदय महानुभाव थे। कहते हैं, उन्होंने कठिन तपस्या द्वारा भगवान् वासुदेव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। उसके बाद वे उसी रूप की मूर्ति बनवा कर उसके माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति करते रहे थे। वे 'श्रीकृष्ण तवास्मि' मंत्र का अहर्निश जाप किया करते थे। वे दीर्घजीवी हुए थे और वृद्धावस्था में उन्होंने शास्त्रोक्त विधि से संन्यास ग्रहण किया था।

अस्तित्व-काल—विष्णुस्वामी किस काल में हुए थे, इसके संबंध में विविध विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यह निश्चित है कि वे एक प्राचीन आचार्य थे, किंतु उनका यथार्थ समय अनिश्चित है। गदाधरदास कृत 'संप्रदाय प्रदीप' में लिखा है, वल्लभाचार्य जी के काल (१६वीं शती) तक विष्णुस्वामी संप्रदाय के सात सौ आचार्य हो चुके थे! यदि इस मत को स्वीकार किया जाय, तो विष्णुस्वामी को इतना अधिक प्राचीन आचार्य मानना होगा, जितना कि वे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं। ऐसी दशा में 'संप्रदाय प्रदीप' का कथन सर्वथा अप्रामाणिक और निराधार है। १४वीं शती के लगभग श्रीधर स्वामी द्वारा श्रीमद् भागवत ग्रंथ की प्रसिद्ध टीका रची गई थी, जिसमें विष्णुस्वामी के कतिपय उद्धरण दिये गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामी का समय १४वीं शती से पूर्व का अवश्य है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में साधु ज्ञानदेव को विष्णुस्वामी की शिष्य-परंपरा में बतलाया गया है[४]। यदि वे ज्ञानदेव श्रीमद् भगवत गीता के महाराष्ट्री अनुवादकर्त्ता

---

(१) वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५

(२) संप्रदाय प्रदीप

(३) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स्, पृष्ठ १०६

(४) भक्तमाल, छप्पय सं० ४८

ज्ञानदेव से अभिन्न हों, तो विष्णुस्वामी का समय १३वीं शती तक माना जा सकता है[1]। उसी आधार पर सर्वश्री भंडारकर, आर्थर वेलिस, सतीशचंद्र विद्याभूषण आदि विद्वानों ने विष्णुस्वामी का समय १३वीं शती के लगभग माना है[2] । किंतु ये सब मत आनुमानिक हैं, विष्णुस्वामी का यथार्थ काल वस्तुतः अभी तक अनिश्चित ही है ।

दार्शनिक सिद्धांत और उपास्य देव—विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धांत का वास्तविक स्वरूप तो उनके ग्रंथों के मिलने पर ही जाना जा सकता है; किंतु यदि वल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैतवाद ही विष्णुस्वामी का सिद्धांत है, तब उसकी स्पष्ट रूप-रेखा उपलब्ध है । उसे आगामी पृष्ठों में वल्लभाचार्य जी के प्रसंग में लिखा गया है । जहाँ तक उपास्य देव का संबंध है, विष्णुस्वामी के मतानुसार गोपाल कृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, और नृसिंह उनके प्रधान अवतार हैं । अतः इस संप्रदाय के प्रमुख उपास्य देवता भी नृसिंह हैं ।

शिष्य-परंपरा—नाभाजी ने विष्णुस्वामी की शिष्य-परंपरा में ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभाचार्य का नामोल्लेख किया है[3] । इनमें से ज्ञानदेव और नामदेव को नाथ संप्रदाय से संबंधित माना जाता है । ऐसी दशा में नाभाजी के कथन की प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती है। असल में विष्णुस्वामी के जीवन-वृत्तांत की तरह उनकी शिष्य-परंपरा भी अनिश्चित है । श्रीमद् भागवत के टीकाकार और नृसिंह के उपासक श्रीधर स्वामी, जो १४वीं शती में विद्यमान थे, इसी संप्रदाय के थे । ऐसा ज्ञात होता है, विष्णुस्वामी संप्रदाय की परंपरा अविच्छिन्न रूप में प्रचलित नहीं रही थी; इसीलिए उसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता है । यह किंवदंती अत्यंत प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य के अद्वैत मतानुयायी किसी विद्वान ने विष्णुस्वामी की गद्दी पर आसीन तत्कालीन आचार्य को इस संप्रदाय के 'परमात्मा साकार है' वाले सिद्धांत पर शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर दिया था । उसके कारण लोक में विष्णुस्वामी संप्रदाय की प्रतिष्ठा भंग हो गई थी । वल्लभाचार्य जी के समय में यह संप्रदाय नाममात्र के लिए शेष था, और इसकी उच्छिन्न गद्दी पर कोई विल्वमंगल नामक आचार्य आसीन थे । विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में विजयी होने पर वल्लभाचार्य जी को शुद्धाद्वैत सिद्धांत और विष्णुस्वामी संप्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा करने का अधिकार प्राप्त हुआ था[4] । फलतः उन्होंने विष्णुस्वामी के योग्य उत्तराधिकारी के रूप में उनके सिद्धांत और संप्रदाय को विकसित कर उसे नवीन रूप में प्रचलित किया था ।

ब्रजमंडल में रुद्र संप्रदाय का प्रचार—ब्रजमंडल में इस संप्रदाय का प्रचार कब और किस आचार्य द्वारा हुआ, इसका प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है । वैसे इस संप्रदाय के ब्रज में कई देवस्थान हैं, जिनमें वृंदावन का सुप्रसिद्ध श्री बिहारी जी का मंदिर प्रमुख है । इस मंदिर के गोस्वामीगण अपने को विष्णुस्वामी संप्रदाय का अनुयायी मानते हैं; किंतु उनके यहाँ भी इसकी प्राचीन परंपरा का उल्लेख नहीं मिलता है ।

---

(१) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ २३८
(२) वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३९
(३) भक्तमाल, छप्पय सं० ४८
(४) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ५१

षष्ठ अध्याय

उत्तर मध्य काल (२)

[विक्रम सं. १५८३ से विक्रम सं. १८८३]

(३) सनकादि संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस संप्रदाय की मान्यता है कि सनकादि महर्षियों ने भगवान् के हंसावतार से ब्रह्मज्ञान की निगूढ शिक्षा प्राप्त कर उसका सर्व प्रथम उपदेश अपने शिष्य देवर्षि नारद को दिया था। इसीलिए यह संप्रदाय 'सनकादि संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी मूल परंपरा के कारण इसे 'हंस संप्रदाय' अथवा 'देवर्षि संप्रदाय' भी कहते हैं। इसके ऐतिहासिक प्रतिनिधि श्री निंबार्काचार्य हुए हैं, इसलिए इसका लोकप्रसिद्ध नाम 'निंबार्क संप्रदाय' है। इस संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैताद्वैतवाद' कहलाता है। इसी को 'भेदाभेदवाद' भी कहते हैं। 'भेदाभेद' एक प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत है, जिसकी परंपरा श्री निंबार्काचार्य के पहिले से ही विद्यमान थी। 'भेदाभेद सिद्धांत के प्राचीन आचार्यों में औडुलोमि, आश्मरथ्य, भर्तृप्रपंच, भास्कर और यादव के नाम मिलते हैं[1]। उस प्राचीन सिद्धांत की 'द्वैताद्वैतवाद' के नाम से पुनर्स्थापना करने का श्रेय श्री निंबार्काचार्य को है।

निंबार्काचार्य—इस संप्रदाय के लोकप्रसिद्ध संस्थापक श्री निंबार्काचार्य जी का प्रामाणिक वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म आंध्र राज्यांतर्गत गोदावरी तटवर्ती वैदूर्यपत्तन (वर्तमान पैंठण) नामक स्थान में कार्तिक शुक्ला १५ को हुआ था। उनके पिता का नाम अरुण अथवा जगन्नाथ, तथा माता का नाम जयंती अथवा सरस्वती था। उनकी जन्म-तिथि वैशाख शु० ३ भी कही जाती है, किंतु अधिक प्रसिद्धि कार्तिक शु० १५ की है। इस संप्रदाय में उन्हें भगवान् के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है।

नाम की अनुश्रुति—उनका आरंभिक नाम नियमानंद था। एक घटना विशेष के कारण उनका नाम नियमानंद से निंबादित्य अथवा निंबार्क पड़ गया था। वह घटना उनके जीवन–वृत्तांत से संबंधित अनुश्रुतियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। घटना इस प्रकार बतलाई जाती है,—जिस समय नियमानंद मथुरामंडल के गोवर्धन नामक स्थान में निवास करते थे, उस समय एक यति (संन्यासी अथवा जैन मुनि) उनसे धर्म-चर्चा करने के लिए उनके आश्रम में आया था। नियमानंद और यति को धार्मिक वार्तालाप करते हुए संध्या हो गई थी। वार्तालाप के अनंतर नियमानंद ने यति से भोजन करने को कहा, किंतु सूर्यास्त हो जाने के कारण उसने स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार अतिथि–सत्कार में व्यवधान पड़ने से नियमानंद को बड़ा क्षोभ हुआ। उसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि नियमानंद के आश्रम में लगे हुए निंब वृक्ष की ओट में सूर्य का प्रकाश दिखलाई देने लगा। नियमानंद ने यति से कहा,—'अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है, आप भोजन कीजिए।' सूर्य को देख कर यति ने भोजन किया और जैसे ही वह उससे निवृत्त हुआ, वैसे ही सूर्यास्त हो गया! उस घटना को नियमानंद की दिव्य शक्ति अथवा योग–सिद्धि का चमत्कार समझा गया और निंब पर 'आदित्य', 'भास्कर' अथवा 'अर्क' (सूर्य) दिखलाने से वे निंबादित्य, निंबभास्कर अथवा निंबार्क के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनका निवास–स्थान भी निंबग्राम कहा जाने लगा। वह स्थान गोवर्धन के निकट 'नीमगाँव' कहलाता है। इस समय यहाँ निंबार्क संप्रदाय का एक मंदिर बना हुआ है।

श्री निंबार्काचार्य किस काल में विद्यमान थे, इसके संबंध में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। डा० भंडारकर ने उनकी विद्यमानता रामानुज के पश्चात् अनुमानित की है। उन्होंने इस संप्रदाय की गुरु–परंपरा के आधार पर उनका देहावसान–काल मोटे तौर पर सं० १२१९

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३३५–३३८

अर्थात् सन् ११६२ अनुमानित किया है[1]। यह केवल अनुमान मात्र है; वास्तव में श्री निंबार्काचार्य का अस्तित्व काल अभी तक अनिश्चित है।

ग्रंथ-रचना—श्री निंबार्काचार्य जी ने वेदांत पारिजात सौरभ, वेदांत कामधेनु, रहस्य षोड़शी, प्रपन्न कल्पवल्ली और कृष्ण स्तोत्र आदि ग्रंथों की रचना की थी। वेदांत पारिजात सौरभ ब्रह्मसूत्र पर निंबार्काचार्य कृत वृत्ति है, जिसमें वेदांत सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या द्वारा द्वैताद्वैताद का प्रतिपादन किया गया है। इसमें द्वैताद्वैतवाद का मंडन तो है, किंतु किसी अन्य सिद्धांत का खंडन नहीं किया गया है।

द्वैताद्वैत सिद्धांत—इस संप्रदाय का द्वैताद्वैत सिद्धांत ब्रह्म और जीव के स्वाभाविक भेदाभेद संबंध पर आधारित है। इसके अनुसार ब्रह्म जीव से भिन्न भी है और अभिन्न भी। ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु (व्यापक) और अप्रच्युत स्वभाव है तथा जीव अल्पज्ञ और अणु हैं; इस अर्थ में ब्रह्म जीव से भिन्न है। किंतु जिस प्रकार पत्ते, प्रभा और इंद्रियाँ पृथक् स्थिति रखते हुए भी क्रमशः वृक्ष, दीपक और प्राण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। यह ब्रह्म और जीव की भिन्ना-भिन्नता ही द्वैताद्वैत सिद्धांत का मूल तत्व है। जीव ब्रह्म के समान सत् होने पर भी अपने ज्ञान और भोग की प्राप्ति के लिए ईश्वर के आश्रित है। वह बद्ध और मुक्त दोनों दशाओं में ही ईश्वर के अधीन और आश्रित रहता है। जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है, अतः वह भी ब्रह्म और जीव के समान सत् है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी है, और निमित्त कारण भी। जिस प्रकार मकड़ी अपने अंदर की सामग्री से जाला बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपने अंदर से ही जगत् का निर्माण करता है।

इस संप्रदाय के सिद्धांतानुसार ब्रह्म जगत्-कर्तृत्व आदि गुणों का आश्रय होने से सगुण है, और वह सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। "ब्रह्म समस्त कल्याण-गुणों का आकर, सत्य-ज्ञानस्वरूप, अनंत और सच्चिदानंद-विग्रह है। इसकी शक्ति अचिंत्य और अनंत है। यह एक ओर जैसे गोपीकांत है, दूसरी ओर वैसे ही रमानाथ है। गोपी प्रेम की अधिष्ठात्री है, रमा या लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है। इसलिये भगवान् जैसे ऐश्वर्य के आधार हैं, वैसे ही माधुर्य के भी आश्रय हैं। पुराणादि में जिनका सत्यभामा नाम से वर्णन किया गया है, वही रमा भूशक्ति है[1]। राधा और कृष्ण पृथक्-पृथक् न होकर एक ही परमतत्व हैं। वह परमतत्व आनंद और आह्लाद रूप में क्रीड़ा करने को कृष्ण और राधा के स्वरूपों में प्रकट होता है। वैसे जो कृष्ण है, वही राधा है; और जो राधा है, वही कृष्ण है,—

'यः कृष्णः सापि राधा च, या राधा कृष्ण एव सः। एकं ज्योतिः द्विधा भिन्नं, राधा माधव रूपकम्॥'

उपास्य देव—इस संप्रदाय के परमाराध्य और परमोपास्य युगलस्वरूप श्री राधा-कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं, तो राधा सर्वेश्वरी; श्री कृष्ण आनंदस्वरूप है, तो राधा आह्लादस्वरूपिणी। राधा का स्वरूप कृष्ण के सर्वथा अनुरूप (अनुरूप सौभगा) माना गया है। धर्मोपासना में राधा की यह महत्ता सर्व प्रथम निंबार्क संप्रदाय में ही स्वीकृत हुई थी। श्री निंबार्काचार्य कृत 'दशश्लोकी' के सुप्रसिद्ध श्लोक में राधा के इसी महत्तम स्वरूप का स्मरण किया गया है,—

'अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्॥'

इस संप्रदाय में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक सर्वेश्वर शालिग्राम की प्रमुख रूप से सेवा-पूजा होती है।

---

(१) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ८८ की पाद-टिप्पणी।

(२) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ २११
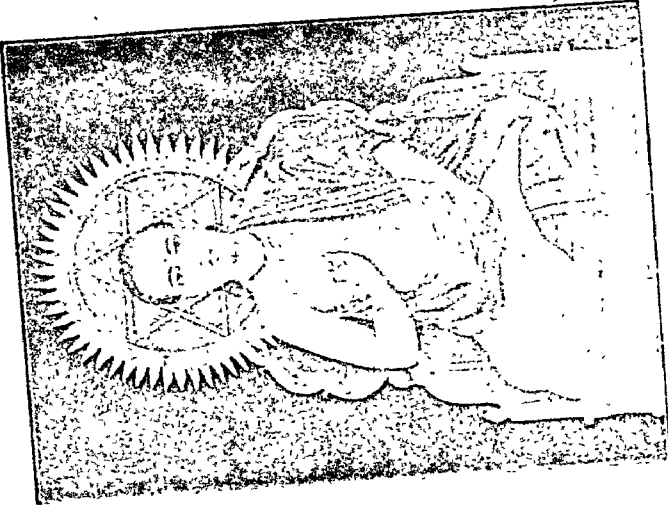
श्री मध्वाचार्य जी
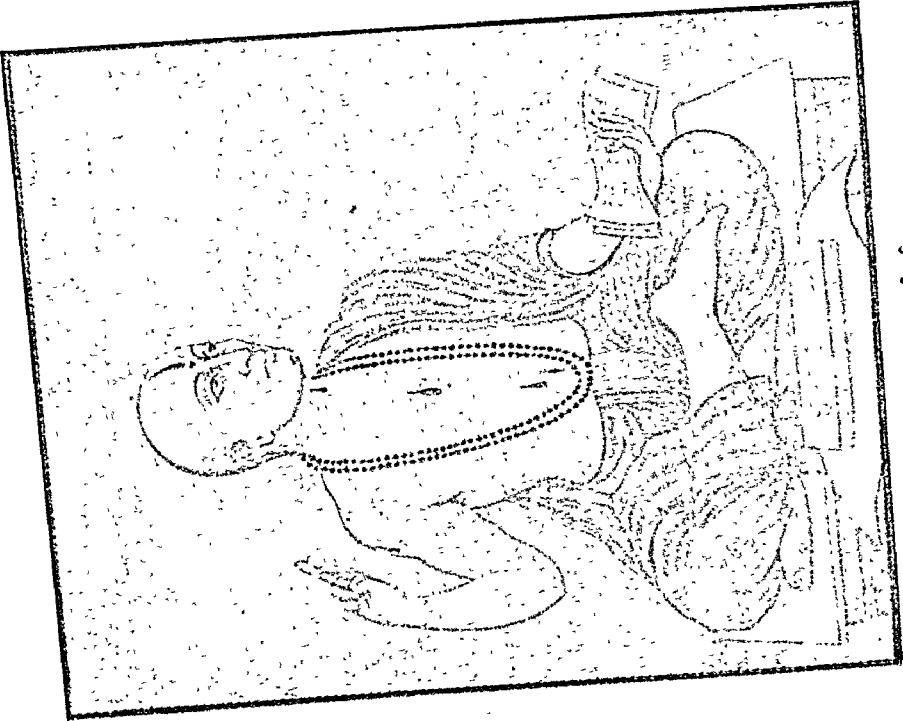
श्री निम्बार्काचार्य जी

शिष्य-परंपरा—श्री निंवार्काचार्य के शिष्यों में श्रीनिवासाचार्य प्रमुख थे, और वही उनके उत्तराधिकारी हुए थे। उनका निवास स्थान व्रज में गोवर्धन के निकटवर्ती राधाकुंड माना जाता है, जहाँ उनके चरण-चिह्न युक्त बैठक बनी हुई है। उनका जन्म-दिवस माघ शु० ५ (बसंत पंचमी) प्रसिद्ध है। उन्होंने निंबार्काचार्य कृत 'वेदांत पारिजात सौरभ' नामक ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर 'वेदांत कौस्तुभ' नामक टीका की रचना की थी। निंवार्काचार्य की शिष्य-परंपरा के १६वें श्री देवाचार्य थे, जो गुजरात नरेश कुमारपाल के राज्याभिषेक के समय विद्यमान बतलाये जाते हैं। उनके एक शिष्य श्री व्रजभूषणजी थे, जिनकी शाखा में वृंदावन के श्री रसिकविहारी जी की गद्दी तथा टट्टी संस्थान हैं। उनका जन्मोत्सव माघ शु० ५ को मनाया जाता है। निंवार्काचार्य की शिष्य-परंपरा के ३३वें आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट थे, जो दिग्विजयी विद्वान थे। उन्होंने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य रचना की है।

व्रजमंडल में सनकादि संप्रदाय का प्रचार—वैष्णव धर्म के चारों संप्रदायों में सनकादि संप्रदाय का व्रजमंडल से सर्वाधिक प्राचीन संबंध सिद्ध होता है। राधा सहित कृष्ण की उपासना-भक्ति को भी सर्व प्रथम इसी संप्रदाय में मान्यता दी गई थी। श्री निंवार्काचार्य के जन्म-स्थान की अनुश्रुति के अनुसार उन्हें आन्ध्र राज्य में उत्पन्न तैलंग ब्राह्मण माना जाता है, किंतु इनके संप्रदाय का आंध्र राज्य से कोई खास संबंध ज्ञात नहीं होता है। इस संप्रदाय का प्रचार क्षेत्र उत्तर भारत रहा है, इसलिए कुछ विद्वान निंबार्काचार्य को उत्तर भारतीय आचार्य ही मानते हैं।

वैसे उनका जन्म चाहे दक्षिण भारत में ही हुआ हो, किंतु उनका कार्यक्षेत्र आरंभ से ही उत्तर भारत, विशेष कर मथुरामंडल रहा है। इस संप्रदाय के आरंभिक केन्द्र गोवर्धन स्थित नीमगाँव और मथुरा स्थित ध्रुवक्षेत्र हैं। मथुरा के ध्रुव टीला और नारद टीला नामक प्राचीन स्थलों पर इस संप्रदाय के मंदिर और आचार्यों की समाधियाँ हैं। १७वीं शताब्दी से इस संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र वृंदावन हो गया है। इसकी प्रधान गद्दी राजस्थान के सलेमाबाद नामक स्थान में है।

(४) ब्रह्म संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार इसके आरंभिक उपदेष्टा ब्रह्मा जी हैं, अतः यह 'ब्रह्म संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैतवाद' कहलाता है, जो शंकराचार्य के अद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध है। इस संप्रदाय में दार्शनिक सिद्धांत की अपेक्षा भक्तितत्व पर अधिक बल दिया गया है; इसीलिए इसमें प्रस्थानत्रयी से भी अधिक श्रीमद् भागवतादि पुराणों को महत्त्व दिया जाता है। वैष्णव धर्म के चारों संप्रदायों में भक्तिमार्ग का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाला यही संप्रदाय है; जब कि अन्य तीनों संप्रदाय भक्तिमार्ग से अधिक अपने दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा जी द्वारा प्रवर्तित माने जाने वाले इस संप्रदाय का लोक में प्रचार श्री मध्वाचार्य जी ने किया था।

मध्वाचार्य—उनका जन्म मैसूर राज्यांतर्गत दक्षिण कनाड़ा क्षेत्रवर्ती उडीपि जिला के वेल्ले ग्राम में सं० १२९५ की माघ शु० सप्तमी को हुआ था। 'कुछ विद्वानों ने आश्विन शु० दशमी (विजया दशमी) को उनका जन्म होना लिखा है; किंतु वह उनके वेदांत साम्राज्य के अभिषेक का दिन है, जन्म का नहीं[१]।' उनके पिता का नाम नारायण भट्ट (मधिजी भट्ट) और माता का नाम वेदवती था।

---

(१) संत अंक (कल्याण, वर्ष १२ संख्या १), पृष्ठ ४३४

वे भार्गव गोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । उनका आरंभिक नाम वासुदेव था । ऐसा कहा जाता है, वे ११ वर्ष की आयु में ही संन्यासी हो गये थे। तब उनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया था। बाद में वे आनंदतीर्थ अथवा मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

मध्वाचार्य ने अपने जन्म ग्राम वेल्ले के निकटवर्ती उड़ीपि नामक स्थान में विद्याध्ययन किया था। बाद में वे वहाँ के श्री अनंतेश्वर मंदिर के मठाधीश हो गये थे। उन्होंने सुब्रह्मण्य, मध्यतल और उड़ीपि नामक स्थानों में तीन शालिग्राम प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं। बाद में उन्होंने उड़ीपि में ही श्री नर्तकगोपाल के नाम से श्री कृष्ण के विग्रह की प्रतिष्ठा की थी। नर्तकगोपाल का उक्त देवस्थान ही उनके संप्रदाय का प्रधान केन्द्र है। उसके ओर पास इस संप्रदाय के और भी अनेक मंदिर हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत का उड़ीपि नामक स्थान माध्व संप्रदाय का प्रमुख तीर्थस्थल है।

उन्होंने आरंभ में एक अद्वैतवादी गुरु से वेदांत की शिक्षा प्राप्त की थी; किंतु उन्हें अद्वैतवाद के सिद्धांत से संतोष नहीं हुआ था। फलतः उन्होंने उसके विरुद्ध द्वैतवाद की स्थापना की और उसके प्रचारार्थ समस्त भारत का भ्रमण किया। अपने सिद्धांत के समर्थन में उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी; जिनमें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के भाष्य, गीता तात्पर्य निर्णय, न्याय विवरण, तंत्र सार संग्रह, विष्णु तत्व निर्णय, श्रीकृष्णामृत महार्णव आदि उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अद्वैत सिद्धांत के खंडन में जो ग्रंथ रचे थे, उनमें मायावाद खंडन और प्रपंचमिथ्यात्ववाद खंडन उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं० १३७४ की माघ शु० नवमी को उड़ीपि में हुआ था।

द्वैतवाद सिद्धांत—श्री मध्वाचार्य का दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैतवाद' कहलाता है, जो शांकर अद्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल और उसका सबसे प्रबल विरोधी है। विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद भी अद्वैतवाद का विरोध करते हैं, अतः उन्हें भी प्रकारांतर से द्वैतवादी कहा जा सकता है। पुरुष और प्रकृति केवल दो तत्वों की सत्ता मानने वाला सांख्य मत भी एक प्रकार से द्वैतवाद ही है; किंतु माध्व संप्रदाय का द्वैतवाद इन सब से निराला है। वास्तविक अर्थ में मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित सिद्धांत ही सच्चा 'द्वैतवाद' है। श्री शंकराचार्य ने कर्मप्रधान जगत् को मिथ्या और भ्रम मात्र बतलाया था, जिससे लोक जीवन में रुचि उत्पन्न होना संभव नहीं था। उसके विरुद्ध श्री मध्वाचार्य ने जीवन की वास्तविकता समझते हुए उसे व्यावहारिक और रुचिपूर्ण बनाने का आधार अपने द्वैतवाद में प्रस्तुत किया है।

इस सिद्धांत के अनुसार दो पदार्थ या तत्व मुख्य हैं, जो स्वतंत्र और अस्वतंत्र हैं। स्वतंत्र तत्व परमात्मा है, जो विष्णु के नाम से प्रसिद्ध है, और जो सगुण तथा सविशेष है। अस्वतंत्र तत्व जीवात्मा है। ये दोनों तत्व नित्य और अनादि हैं, जिनमें स्वाभाविक भेद है। यह भेद पाँच प्रकार का है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'प्रपंच' कहा गया है।"यह अनादि और सत्य है,—भ्रांति-कल्पित नहीं है। ईश्वर जीव और जड़ पदार्थों से भिन्न है, जीव जड़ पदार्थ और अन्य जीवों से भिन्न है एवं एक जड़ पदार्थ अन्य जड़ पदार्थ भिन्न है। जब तक यह तात्त्विक भेदबोध उदित नहीं होता, तब तक मुक्ति की आशा बहुत दूर की बात है। अभेदज्ञान से ही बंधन हुआ है, अतएव इस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति हुए बिना बंधन से छुटकारा पाने की संभावना नहीं है। भगवान् के सभी गुण जैसे सत्य हैं, वैसे ही ईश्वर और जीव आदि का भेद भी सत्य है। जगत् सत्य है एवं पंचविध भेदयुक्त जगत् का प्रभाव भी सत्य है। नित्य वस्तुगत भेद नित्य है और अनित्य वस्तुगत भेद अनित्य है। परमात्मा अनंत

गुणपूर्ण हैं। उनका प्रत्येक गुण असीम और निरतिशय होने से पूर्ण है। वे किस प्रकार की वस्तु हैं, यह नहीं कहा जा सकता, भावना भी नहीं की जा सकती। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न है, और एकमात्र परमात्मा के ही अधीन है। ब्रह्मादि लक्ष्मी के पुत्र हैं, जो उनसे नीचे हैं और प्रलय में उन्हीं में लीन होते हैं। परमात्मा की कृपा के प्रभाव से वलवती होकर लक्ष्मी पलक लेशमात्र में विश्व-सृष्टि आदि आठ कार्यों का संपादन करती रहती है[1]।"

माध्व सिद्धांत में विष्णु ही सर्वोपरि तत्व माने जाते हैं। वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं। जीवों की संख्या अनंत है, और वे अनादि काल से माया-मोहित एवं बद्ध हैं। जीव का एक मात्र कर्त्तव्य विष्णु भगवान् की सेवा करना है। यही उसका परम पुरुषार्थ है। भगवान् की कृपा से ही वह सालोक्य, सामीप्य मुक्ति पा कर वैकुंठ में निवास करता हुआ अक्षय आनंद प्राप्त करता है। वैकुंठ की प्राप्ति ही जीव की मुक्ति है। मुक्तावस्था में जीव की पृथक् स्थिति रहती है। संक्षेप में मध्वाचार्य के सिद्धांत की रूप-रेखा निम्न लिखित दो श्लोकों में व्यक्त की गई है,—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः, सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेनुचरा, नीचोच्चभावं गता ॥१॥
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्य तत्साधने।
ह्यक्षादित्रितचं प्रमाणखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः ॥२॥

उपर्युक्त श्लोकों में माध्व सिद्धांत की प्रमुख ६ बातें गई हैं,—१. हरि अर्थात् विष्णु सर्वोच्च तत्व है। २. जगत् सत्य है। ३. ब्रह्म और जीव का भेद वास्तविक है। ४. जीव ईश्वराधीन है। ५. जीवों में तारतम्य है। ६. आत्मा के आंतरिक सुखों की अनुभूति ही मुक्ति है। ७. शुद्ध और निर्मल भक्ति ही मोक्ष का साधन है। ८. प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण हैं। ६. वेदों द्वारा ही हरि जाने जा सकते हैं।

ब्रजमंडल में ब्रह्म संप्रदाय का प्रचार—इस संप्रदाय का आरंभ से ही प्रमुख प्रचार क्षेत्र दक्षिण भारत रहा है और वहीं के कर्णाटक (मैसूर राज्य) तथा दक्षिणी महाराष्ट्र में इसके प्रधान केन्द्र हैं। उत्तर भारत में इसका प्रचार माधवेन्द्रपुरी द्वारा १६वीं शताब्दी में हुआ था। उसी काल में पुरी महोदय ब्रज में पधारे थे। उनकी शिष्य-परंपरा में श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक नवीन भक्ति संप्रदाय प्रचलित किया था। इस संप्रदाय द्वारा मथुरामंडल के धार्मिक विकास में जो महान् योग दिया गया, उसका उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया गया है।

अन्य धर्म-संप्रदाय

उपक्रम—वैष्णव धर्म और उसके विविध संप्रदायों के प्रचार का आरंभ होने से ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों का महत्व कम होने लगा था। फलतः इस काल में जैन, शैव, शाक्तादि धर्मों के अनेक अनुयायी वैष्णव संप्रदायों में सम्मिलित होने लगे थे, जिससे उनके अनुयायियों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होने लग गई थी। यहाँ पर उक्त धर्म-संप्रदायों की तत्कालीन स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

(१) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ २१६ से २२३ तक का सारांश।

जैन धर्म

जैनियों की मथुरा-यात्रा—वैष्णव संप्रदायों का प्रचार होने से इस काल में जैन धर्म का प्रभाव घट गया था; किंतु मथुरामंडल के जैन देवस्थानों के प्रति श्रद्धा वनी रही थी । वैष्णव संप्रदायों का केन्द्र बनने से पहिले मथुरा नगर जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था । श्वेतांवर और दिगंबर दोनों संप्रदायों के जैन साधु और श्रावकगण मथुरा तीर्थ की यात्रा करने आते थे । ऐसे अनेक तीर्थ-यात्रियों का उल्लेख जैन धर्म के विविध ग्रंथों में हुआ है । सुप्रसिद्ध शोधक विद्वान श्री अगरचंद जी नाहटा ने उक्त उल्लेखों का संकलन कर इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है[1] । उनके लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम शती से सतरहवीं शती तक जैन यात्रियों के आने का क्रम चलता रहा था ।

उस युग में सामूहिक रूप से तीर्थ-यात्रा की जाती थी । जैन धर्म में तीर्थ यात्रियों के उस समूह को 'संघ' कहा गया है । प्रत्येक संघ के मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के क्रम के चार अंग होते थे । कतिपय धनी सेठ उस काल में बड़े-बड़े यात्री संघों का संचालन करते थे और उनकी रक्षा, व्यवस्था आदि का समस्त व्यय-भार स्वयं वहन करते थे । उन्हें 'संघपति' कहा जाता था । वर्तमान काल के संघी, संघवी, सिंघई और सिगई उस काल के 'संघपति' के ही अपभ्रंश हैं[2] । उनके पूर्वजों ने किसी काल में यात्री-संघों का संचालन किया होगा ।

इस काल में मथुरा तीर्थ की यात्रा करने वाले जैन यात्रियों में सर्वप्रथम मणिधारी जिनचंद्र सूरि का नाम उल्लेखनीय है । 'युग प्रधान गुर्वावली' के अनुसार उक्त सूरि जी ने सं० १२१४-१७ के काल में मथुरा तीर्थ की यात्रा की थी । उक्त गुर्वावली में खरतर गच्छ के आचार्य जिनचंद्र सूरि के नेतृत्व में ठाकुर अचल द्वारा संगठित एक बड़े संघ द्वारा भी यात्रा किये जाने का उल्लेख हुआ है । वह यात्री-संघ सं० १३७५ में मथुरा आया था । उसने मथुरा के सुपार्श्व और महावीर तीर्थों की यात्रा की थी । मुहम्मद तुगलक के शासन काल (सं० १३८२-सं० १४०८) में कर्णाटक के एक दिगंबर मुनि की मथुरा-यात्रा का उल्लेख मिलता है । उसी काल में सेठ समराशाह ने शाही फ़रमान प्राप्त कर एक बड़े यात्री-संघ का संचालन किया था । उसी संघ के साथ यात्रा करते हुए गुजरात के श्वेतांवर मुनि जिनप्रभ सूरि सं० १३८५ के लगभग मथुरा पधारे थे । उन्होंने यहाँ के जैन देवालयों के दर्शन और जैन स्थलों की यात्रा करने के साथ ही साथ ब्रज के विविध तीर्थों की भी यात्रा की थी । उक्त यात्रा के अनंतर जिनप्रभ सूरि ने सं० १३८८ में 'विविध तीर्थ कल्प' नामक एक बड़े ग्रंथ की रचना प्राकृत भाषा में की थी । उसमें उन्होंने मथुरा के समस्त जैन तीर्थों का वर्णन लिखा है । इस ग्रंथ का एक भाग 'मथुरापुरी कल्प' है, जिसमें मथुरा तीर्थ से संबंधित जैन धर्म की अनेक अनुश्रुतियों का उल्लेख हुआ है । इसके साथ ही उसमें मथुरामंडल से संबंधित कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें भी लिखी गई हैं । उनसे यहाँ की तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

ऐसा कहा जाता है, उस समय सेठ समराशाह ने मथुरा के कतिपय स्तूपों का जीर्णोद्धार भी कराया था । वे समराशाह गुजरात के निवासी एक धनी ओसवाल सेठ थे[3] । उन्होंने सं० १३७१ में प्रचुर धन व्यय कर शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार कराया था । तीर्थ-यात्रा संघों की व्यवस्था करने के

---

(१) मथुरा के जैन स्तूपादि की यात्रा (ब्रज भारती, वर्ष ११ अंक २)

(२) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५४०

(३) ब्रज भारती, वर्ष १५ अंक २

कारण वे 'संघपति' कहलाते थे। उनकी उदारता और दानवीरता का वर्णन अम्बदेव कृत 'संघपति समराशाह रास' में किया गया है। इस ग्रंथ की रचना सं० १३७१ में हुई थी।

धार्मिक रचनाएँ—इस काल में जैन धर्म की प्रायः समस्त रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में निर्मित हुई थीं और उन्हें अधिकतर गुजरात के जैन साधुओं ने रचा था। १४वीं शती के कवि लक्खण रायभा (आगरा) के निवासी होने के कारण अवश्य ही ब्रज से संबंधित थे। उनकी रचना 'अणुवय रयण पईव' (अनुव्रत रत्न प्रदीप) की एक हस्त लिखित प्रति सं० १५७५ की उपलब्ध है। यह ग्रंथ अप्रकाशित है[1]। इसमें कवि ने आत्म परिचय के अंतर्गत अपने निवास स्थान (रायभा) का भी वर्णन किया है। उसके साथ ही वहाँ के राजा आहवमल्ल, रानी ईसरदे, मंत्री कण्हड़ु की भी प्रशंसा लिखी है[2]। इसी काल में स्वयंभू से ६-७ सौ वर्ष बाद जसकित्ति (यशः कीर्ति) नामक जैन कवि ने स्वयंभू कृत 'हरिवंश पुराण' (रिट्ठणेमि चरिउ) की वृद्धि की थी। प्रेमी जी का मत है कि मुनि जसकित्ति के समय में उस प्राचीन ग्रंथ की पूर्ण प्रति दुर्लभ हो गई थी। मुनि जी को जो प्रति मिली थी, वह जीर्ण तथा अपूर्ण थी, जिसके अंतिम पृष्ठ नष्ट हो गये थे। उन्होंने अपनी रचना द्वारा उसे पूर्ण कर उस अंश पर अपने नाम का उल्लेख भी कर दिया था। उस कवि ने स्वयं भी अपभ्रंश भाषा में हरिवंश पुराण बनाया था; इसलिए उसे स्वयंभू के प्राचीन ग्रंथ को पूरा करना कठिन नहीं था। उक्त मुनि जसकित्ति (यशः कीर्ति) काष्ठासंघ-माथुरान्वय के भट्टारक थे। वे गोपाचल (ग्वालियर) की गद्दी पर आसीन थे। उनके गुरु का नाम गुणकीर्ति था। जसकित्ति के दो अपभ्रंश ग्रंथ मिलते हैं,— १. हरिवंशपुराण, २. चंदप्पह चरिउ। वे ग्वालियर के तोमर वंशीय राजा कीर्तिसिंह के शासन-काल में १६वीं शती के आरंभ में विद्यमान थे[3]।

शैव-शाक्त धर्म

वामाचार की प्रतिक्रिया—इस काल में वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही साथ शैव-शाक्त धर्मों में प्रचलित वामाचार ने भी उन पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव डाला था। उसके कारण शैव धर्म में तो वामाचार की तांत्रिक साधना बहुत कम हो गई थी; किंतु शाक्त धर्म में बराबर चलती रही थी। उसके विरोध में उस काल के निर्गुणिया संतों ने बड़ा प्रबल प्रचार किया था। कबीर साहब (सं० १४२५-सं० १५०५) के कितने ही दोहों में शाक्तों की कटु निंदा और वैष्णव भक्तों की प्रशंसा मिलती है। इस प्रकार के कतिपय दोहे यहाँ दिये जाते हैं,—

> चंदन की कुटकी भली, नाँ बँबूर की अवराँउ।
> बैस्नौ की छपरी भली, नाँ सापत का बड़ गाँउ॥
> 'कबीर' धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैस्नौ पूत।
> राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत[4]॥

---

(१) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ ४३२

(२) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ ४४२-४५०

(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८० की टिप्पणी

(४) कबीर ग्रंथावली (ना. प्र. सभा), पृष्ठ ५२-५३

कबीर शाक्तों के इतने विरुद्ध थे कि उन्होंने उनको कुत्ता और सूअर तक कहने में संकोच नहीं किया है ! उन्होंने कहा है,—'साकत सुनहा दूनों भाई । एक नींदै एक भौंकत जाई[1]।।

साकत ते सूकर भला, सूखा राखे गाँव । बूड़ा साकत वापुड़ा, वैसि समरणी नाँव ।।

रामानंदी संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस संप्रदाय के प्रचारक स्वामी रामानंद थे, और इसमें भगवान् राम की भक्ति को प्रमुखता दी गई है । इसलिए इसे 'रामानंदी' अथवा 'रामावत' संप्रदाय कहा जाता है । रामानंद जी 'श्री संप्रदाय' के प्रमुख प्रचारक श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में हुए थे और यह संप्रदाय भी श्री संप्रदाय की शाखा के रूप में विकसित हुआ है; अतः दोनों के दार्शनिक सिद्धांत में बहुत समानता है । जहाँ तक उपासना-भक्ति का संबंध है, उनकी कुछ बातों में अंतर है ।

स्वामी रामानंद—श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में वे स्वामी राघवानंद के शिष्य थे । इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार उनका जन्म सं० १३५६ की माघ कृ० ७ गुरुवार को प्रयाग में हुआ था और वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे । उनके पिता का नाम पुण्यसदन, माता का नाम सुशीला, और उनका आरंभिक नाम रामदत्त था । वे प्रारंभ से ही बड़े तीव्र बुद्धि और मेधावी थे । उन्होंने काशी में दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया था और वहीं पर श्री राघवानंद जी से वैष्णवी दीक्षा ली थी[2]।

वैष्णव संप्रदायों के प्रवर्त्तकों और प्रमुख प्रचारकों में से प्रायः सभी दाक्षिणात्य थे; किंतु स्वामी रामानंद उत्तर भारतीय धर्माचार्य थे । उनका प्रचार-क्षेत्र आरंभ से ही उत्तरी भारत रहा था । उनके काल में दिल्ली के सुलतानों के मजहबी शासन में हिंदू जनता को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था । सुलतानों की तानाशाही से हिंदू तीर्थस्थानों में बड़े आतंक और भय का वातावरण बना हुआ था । स्वामी रामानंद ने उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थों में अपने संप्रदाय के केन्द्र स्थापित किये और वहाँ के निवासियों में भगवान् राम की भक्ति का प्रचार किया था । उन्होंने जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छूआछूत का भेद-भाव किये बिना सभी वर्णों और जातियों के व्यक्तियों को राम-मंत्र का उपदेश दिया था । उनके सैकड़ों शिष्य थे, जिनमें सवर्णों के साथ शूद्र और अन्त्यज भी थे । उनके सवर्ण शिष्यों में स्वामी अनंतानंद प्रधान थे और निम्नजातीय शिष्यों में कबीर प्रमुख थे; जो मुसलमान जुलाहा थे । उनके निम्नजातीय अन्य शिष्यों में रैदास चमार, सेना नाई और धना जाट के नाम प्रसिद्ध हैं । 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई । हरि कों भजै, सो हरि का होई ।।'—यह उक्ति रामानंद जी द्वारा प्रचलित की हुई ही मानी जाती है ।

स्वामी रामानंद का देहावसान उनके संप्रदाय की मान्यता के अनुसार सं० १४६७ की वैशाख शु० ३ को हुआ था । इस प्रकार वे प्रायः १११ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे[3] । कुछ अन्य विद्वान उनके देहावसान-काल को जन्म-काल मानने के पक्ष में हैं, जिससे उनकी विद्यमानता का समय प्रायः एक शताब्दी आगे तक का हो जाता है । उनके जीवन से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं और उनकी शिष्य-परंपरा से भी इसी काल की संगति बैठती है । श्री बलदेव उपाध्याय के मतानुसार स्वामी रामानंद का समय सं० १४६७ से सं० १५६७ तक है[4] ।

(१) कबीर ग्रंथावली (ना. प्र. सभा), प्रस्तावना, पृष्ठ १७
(२) श्री भक्तमाल (वृंदावन संस्करण), पृष्ठ २५७—२६०
(३) भक्तमाल का 'भक्ति-सुधा-स्वाद' तिलक (तृतीय संस्करण), पृष्ठ २६३
(४) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ २५३

स्वामी रामानंद जी

के पंथों द्वारा हुआ है । जहाँ तक ब्रजमंडल का संबंध है, यहाँ पर राम की सगुण भक्ति का ही अधिक प्रचार हुआ था । फलतः यहाँ पर वैरागी भक्तों की गद्दियाँ स्थापित हुई थीं और उनकी दीर्घकालीन परंपरा चली थी ।

ब्रजमंडल में रामानंदी संप्रदाय का प्रचार—जिस समय स्वामी रामानंद के संप्रदाय का उदय हुआ था, उस समय यहाँ पर दिल्ली के सुलतानों का शासन था । यद्यपि सुलतानी शासन की असहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति ने वैष्णव धर्म के लिए बड़ी कठिन परिस्थिति पैदा कर दी थी; तब भी वैष्णव धर्माचार्यों के अदम्य साहस और अपूर्व उत्साह से इसके विविध संप्रदायों का यहाँ पर प्रचार होने लगा था । रामानंदी आचार्यों का ध्यान आरंभ से ही ब्रज की ओर गया था; फलतः अन्य संप्रदायों की भाँति इस संप्रदाय का केन्द्र भी यहाँ पर स्थापित हो गया था । वैष्णव संप्रदायों द्वारा ब्रज में भगवान् कृष्ण की सगुण भक्ति का प्रचार किया जा चुका था, अतः रामानंदी संप्रदाय के वैरागी समुदाय की सगुण भक्ति यहाँ पर सरलता से प्रचलित हो गई थी; किंतु कबीरादि संतों की निर्गुण भक्ति के लिए यहाँ का वातावरण अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ था ।

स्वामी रामानंद ने स्वयं ब्रज में आ कर अपने संप्रदाय का प्रचार किया या नहीं, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा थी और उन्हें मथुरा-मंडल का महत्व स्वीकृत था । इसे उन्होंने अपने शिष्य श्री सुरसुरानंद के प्रश्नों का उत्तर देते हुए व्यक्त किया था । उसका कुछ अंश इस प्रकार है,—'सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्री बालकृष्ण परम् ।'—अर्थात् जहाँ सत्पुरुषों का निवास है, ऐसे मथुरा नामक श्रेष्ठ आश्रम में श्री बालकृष्ण जी की पूजा करे[१] ! स्वामी रामानंद के प्रधान शिष्य स्वामी अनंतानंद और उनके वैरागी समुदाय का ब्रज से घनिष्ठ संबंध रहा है ।

स्वामी अनंतानंद—वे रामानंद जी के प्रधान शिष्य और रामानंदी संप्रदाय में वैरागी साधुओं की परंपरा के प्रवर्त्तक थे । वे एक विद्वान धर्माचार्य थे, अतः उन्होंने श्री संप्रदाय के समर्थन में कई ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की थी । उन ग्रंथों के अंत में जो श्लोक लिखा मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वे शेषार्य वंश में उत्पन्न हुए और यादवाद्रि नामक स्थान के निवासी थे[२]। नाभा जी ने बतलाया है, वे भगवान् राम के साथ ही साथ भगवान् कृष्ण के भी भक्त थे,—'रघुवर जदुवर गाइ विमल कीरति संच्यौ धन[३] ।' उनकी विद्यमानता का समय १६वीं शताब्दी का आरंभिक काल है ।

स्वामी अनंतानंद के शिष्यों में कृष्णदास पयहारी प्रमुख थे, और पयहारी जी के शिष्यों में कीलदास प्रधान थे । उन सबका ब्रजमंडल से घनिष्ठ संबंध बतलाते हुए मथुरा स्थित गलताकुंज के अध्यक्ष श्री परांकुशाचार्य लिखा है,—"उस काल में मथुरा नगर संस्कृत विद्या का प्रमुख केन्द्र था । यहाँ पर स्वामी अनंतानंद का संस्कृत विद्यालय था, जिसमें बालक कीलदास ने विद्याध्ययन किया था । विद्यालय का स्थान उनके नाम पर 'अनंतवाड़ा' कहलाता था, जो इस समय 'अंतापाड़ा' के नाम से मथुरा का एक मुहल्ला है[४] ।

---

(१) श्री वैष्णवमहाब्ज भास्कर ('नाम माहात्म्य' का 'श्री ब्रजांक', पृष्ठ २५)
(२) श्री भक्तमाल (वृंदावन संस्करण), पृष्ठ २६३
(३) भक्तमाल, छप्पय संख्या ३७
(४) सिद्ध योगी श्री कीलदास जी, पृष्ठ २

श्री परांकुशाचार्य ने अपने मत के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है, अतः स्वामी अनंतानंद और उनके विद्यालय के संबंध में तो कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती; किंतु कीलदास का मथुरा से अवश्य ही घनिष्ठ संबंध रहा था । डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने स्वामी अनंतानंद जी की गादी का स्थान 'अनंतगुफा' मथुरा बतलाया है[1] । मथुरा में इस नाम की कोई गुफा नहीं है। मथुरा नगर के कीलमठ मुहल्ला में जो प्राचीन गुफा है, उसे कीलदास जी की साधना-स्थली कहा जाता है। ऐसा मालूम होता है, आरंभ में वह स्वामी अनंतानंद जी की भजनस्थली थी । बाद में उसका कीलदास जी से अधिक संबंध होने से वह उनके नाम से ही प्रसिद्ध हो गई थी । इस प्रकार मथुरा की इस गुफा का अनुपम ऐतिहासिक महत्व सिद्ध होता है।

कृष्णदास पयहारी—उनके नाम और दुग्धाहार के उनके व्रत से ऐसा अनुमान होता है कि वे गोपालकृष्ण और उनके जन्मस्थान मथुरा के प्रति बड़े श्रद्धालु थे। उनका काल सं० १५५६-१५८४ माना जाता है[2] । उन्होंने जयपुर में 'गलताश्रम' नामक विख्यात श्रीवैष्णव संस्थान की स्थापना की थी । उनकी स्मृति में मथुरा के प्रयागघाट पर 'गलताकुंज' नामक मठ का निर्माण सं० १६४५ में किया गया था। यह श्री संप्रदाय का एक प्रसिद्ध देवस्थान है।

स्वामी कृष्णदास पयहारी के अनेक शिष्य थे, जिनमें २४ का नामोल्लेख नाभा जी ने किया है[3] । उन शिष्यों में स्वामी कीलदास, स्वामी अग्रदास, नारायणदास, सूरजदास, कल्याणदास का मथुरामंडल से घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है।

धार्मिक उपलब्धि

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व इस काल की धार्मिक उपलब्धि का उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है । इस उपलब्धि की दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं,—१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों में राधा का महत्व और २. ब्रज में कृष्ण-भक्तों का आगमन। इन दोनों बातों ने ब्रज के प्रायः सभी धर्म-संप्रदायों को बड़ा प्रभावित किया है।

इतिहासज्ञों का कहना है कि धार्मिक क्षेत्र में राधा का महत्व इतना पुराना नहीं है, जितना कि कृष्ण का है । इधर ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों में राधा-कृष्ण का अन्योन्याश्रित संबंध माना गया है । ऐसी स्थिति में राधा के धार्मिक महत्व की परंपरा का अनुसंधान करना और यहाँ के विविध संप्रदायों में उसकी क्या स्थिति है, इस पर प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया है।

कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों की प्रतिष्ठा होने से श्री कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के पुनीत स्थल ब्रजमंडल का महत्व बहुत बढ़ गया था। उसकी ओर विविध स्थानों के कृष्ण-भक्तों का इतना आकर्षण हुआ कि वे उस काल की यात्रा संबंधी कठिनाइयों को सहन कर यहाँ पर निरंतर आने लगे थे। उनमें से कुछ ने तो यहाँ की धार्मिक स्थिति को भी बड़ा प्रभावित किया था। ऐसे कतिपय कृष्ण-भक्तों का संक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक माना गया है । यहाँ पर इस काल की इन दोनों उपलब्धियों का संक्षिप्त कथन किया जाता है।

---

(१) राम भक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३२६

(२) राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १०६

(३) भक्तमाल, छप्पय सं० ३६

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायों में राधा का महत्व

राधा के धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि—

उपक्रम—ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों में राधा-तत्व को किसी न किसी रूप में अवश्य मान्यता प्राप्त हुई है। जहाँ तक कृष्णोपासक संप्रदायों का संबंध है, कृष्ण के साथ राधा का नाम ऐसी सुदृढ़ आस्था के साथ जुड़ा हुआ है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। फिर भी ऐतिहासिक अनुसंधान से सिद्ध होता है कि धार्मिक क्षेत्र में राधा के महत्व की परंपरा कृष्ण के समान प्राचीन नहीं है। कुछ विद्वान तो राधा के चरित्र को ऐतिहासिक सत्य न मान कर उसे प्रेमदेवी के रूप में कल्पित एक मनोरम उपाख्यान समझते हैं! हमारे मतानुसार राधा के चरित्र की ऐतिहासिकता में संदेह करना हठधर्मी है। राधा का अस्तित्व उतना ही सत्य है, जितना कृष्ण का। कृष्ण के आरंभिक जीवन में उनके साथ बाल-क्रीड़ा करने वाली अनेक ब्रज-बालाओं में एक ऐसी परम सुंदरी गोप-कन्या अवश्य थी, जो कृष्ण से सर्वाधिक स्नेह करती थी और कृष्ण भी उसके प्रति अत्यंत अनुरक्त थे। यह दूसरी बात है कि उसका 'राधा' नाम आरंभ से ही न होकर बाद में प्रसिद्ध हुआ हो।

'राधा' नाम की व्युत्पत्ति—जब धर्मोपासना के क्षेत्र में कृष्ण का महत्व विविध रूपों में स्थापित हो गया, तब उनकी माधुर्य भक्ति के लिए राधा को भी धार्मिक मान्यता प्राप्त हुई थी। उस समय 'राधा' नाम की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया और उसकी कई प्रकार से व्याख्या की गई। उक्त विचार-विमर्श एव व्याख्या के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं,—

१. श्रीमद् भागवत के 'आराधितः' शब्द से राधा नाम का संकेत मानने वालों का मत है कि कृष्ण की विशेष रूप से 'आराधना' करने के कारण ही उसका 'राधा' नाम पड़ा है।

२. ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है, गोलोक धाम में श्री कृष्ण के साथ रमण की इच्छा से 'धावन' करने के कारण ही उसका 'राधा' नाम प्रसिद्ध हुआ है।

३. राधिकोपनिषद् का उल्लेख है कि कृष्ण जिसकी 'आराधना' करते हैं, अथवा जो सदा कृष्ण की आराधना करती है, उसे 'राधिका' कहा गया है।

राधा का उद्भव और विकास—राधा नाम की उपर्युक्त व्याख्या उस काल की है, जब कि धार्मिक क्षेत्र में राधा के महत्व की पूरी तरह स्थापना हो गई थी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त व्याख्या का राधा के उद्भव और विकास से कोई संबंध नही है। अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि धार्मिक क्षेत्र में राधा का प्रवेश होने से पहिले उसे साहित्य और पुराणादि में अपनाया गया था। राधा के साहित्यिक और पुराणोक्त उल्लेख ही उसके उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते है, और वही उसके धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि का भी निर्माण करते हैं। यहाँ पर उन्हीं का कुछ संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

साहित्य में राधा—अब तक के अनुसंधान से ज्ञात होता है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख लोक-साहित्य में हुआ था। इसके प्रमाण के लिए प्राकृत भाषा की 'गाहा सत्तसई' का नाम लिया जाता है। प्रतिष्ठानपुर के राजा हाल सातवाहन ने अपने समय की श्रृंगार रसपूर्ण प्राकृत गाथाओं का संकलन 'गाहा सत्तसई' के नाम से कराया था। उक्त रचना के अंतःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि राजा हाल विक्रम संवत् के आरंभ में विद्यमान था। इस प्रकार राधा के नामोल्लेख की परंपरा कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी अवश्य है।

'गाहा सत्तसई' का उल्लेख—प्राकृत भाषा के इस प्राचीन संकलन में श्री कृष्ण की व्रज-लीलाओं से संबंधित कई गाथाएँ हैं । उनमें से एक गाथा में कह्णु (कृष्ण) का राहिआ (राधिका) के प्रति स्नेह-भावना का उल्लेख एक गोपी द्वारा इस प्रकार किया गया है,—"हे कृष्ण ! तुम (अपने) मुख–मारुत द्वारा (मुंह की फूंक से) राधिका के (मुख पर लगे) गो–रज को हटाकर इन बल्लभियों तथा अन्य महिलाओं के गौरव का हरण कर रहे हो[1] ।" रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' में 'गाहा सत्तसई' की एक और गाथा उद्धृत की गई है । उसमे भी राधा–कृष्ण की प्रेमलीला का कथन किया गया है[2] ।

'पंचतंत्र' का उल्लेख—'गाहा सत्तसई' के उपरात 'पंचतंत्र' (रचना-काल प्राय: ५वीं शती) में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का उल्लेख हुआ है । उक्त ग्रंथ में एक तंतुवाय (बुनकर) के पुत्र की कथा है । उसमें बतलाया गया है कि वह अपने प्रेमावेश में कृष्ण का स्वांग बना कर और लकड़ी के बने हुए गरुड़ पर सवार होकर अपनी प्रेयसी एक राजकन्या के समक्ष उपस्थित हुआ था । उसने अपनी प्रेमिका को राधा की उपमा देते हुए अपनी प्रेमाभिव्यक्ति की थी[3] ।

उपर्युक्त लोक-रचनाएँ इस बात की द्योतक हैं कि राधा–कृष्ण की प्रेमलीला ५वी शती तक व्यापक रूप से जन साधारण में प्रचलित थी । डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है,—'यह निश्चित है कि पंचम शताब्दी तक राधा के स्वरूप की प्रतिष्ठा आर्य जाति में हो चुकी थी, क्यों कि पाँचवी शताब्दी के पश्चात् जो संस्कृति साहित्य निर्मित हुआ, उसमें राधा का उल्लेख कई स्थानों पर है[4] ।' इस प्रकार राधा–कृष्ण की प्राचीन प्रेम–कथा पहिले प्राकृत भाषा के लोक काव्य में, और फिर संस्कृत भाषा के काव्य–नाटकादि में उल्लिखित हुई थी ।

अपभ्रंश की रचनाओं के उल्लेख—प्राकृत भाषा की परंपरा का निर्वाह अपभ्रंश भाषा की रचनाओं में किया गया था । फलतः हेमचंद्र कृत व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के दोहों और 'प्राकृत पैंगलम्' के कतिपय छंदों में राधा का उल्लेख मिलता है[5] । अपभ्रंश भाषा की उपलब्ध कृतियों में जैन धर्मावलंबी कवियों की रचनाएँ अधिक हैं । अपभ्रंश के जैन कवियों में पुष्पदंत (१०वीं शती) का महत्वपूर्ण स्थान है । उसके 'महापुराण' में राधा-कृष्ण की कथा जैन दृष्टिकोण से लिखी गई है । अपभ्रंश की सभी रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आई हैं; किंतु फिर भी ऐसा अनुमान होता हे कि उनमें राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का पर्याप्त उल्लेख हुआ होगा । इसका कारण यह है कि अपभ्रंश के कवियों ने तत्कालीन लोक-रुचि के अनुसार ही अपनी रचनाएँ की थीं ।

---

(१) मुह-मारुण तं कह्णु गोरअं, राहिआएं अवणेन्तो ।
एताणं बल्लवीणं अण्णाणं, खं गोरअं हरसि ।।

(२) लीलाहि तुलिअसेलो रक्खउ, वो राहिआ त्थनपर्फंसे ।
हरिणो पढम समागम सज्झस, वेवल्लिओ हत्थो ।।

(३) सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं, किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथम आसीत् ।
(श्री राधा-माधव चिन्तन, पृष्ठ १६–१७)

(४) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७४

(५) भारतीय वाङ्मय में राधा, पृष्ठ २१६–२२४

संस्कृत के काव्य-नाटकादि के उल्लेख—८वीं शताब्दी के कविवर भट्ट नारायण ने स्वरचित 'वेणी संहार' नाटक के मंगलाचरण में ही केलिकुपिता राधा से अनुनय-विनय करते हुए श्री कृष्ण की वंदना की है। १०वीं शती के काश्मीरी साहित्यशास्त्री आनंदवर्धन द्वारा संपादित 'ध्वन्यालोक' में किसी पूर्ववर्ती कवि के दो पुराने श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उनमें राधा–कृष्ण की प्रेमलीला का सरस कथन हुआ है[1]।

१०वीं शती की कई अन्य रचनाओं में, जैसे नलचम्पू, शिशुपाल वध टीका, यशस्ति तिलक चम्पू, कवीन्द्र वचन समुच्चय में भी राधा-कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख मिलता है[2]। इनके उपरांत धनंजय के दशरूपक, भोज के सरस्वती कंठाभरण, क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित्र, श्रीधर दास द्वारा संकलित सदुक्ति कर्णामृत आदि अनेक रचनाओं में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन हुआ है। १२वी शती के पश्चात् संस्कृत साहित्य में राधा का उल्लेख और भी विस्तार से किया गया था।

'गीतगोविंद' और 'कृष्ण-कर्णामृत' के उल्लेख—१३वीं शती के आरंभिक काल में संस्कृत भाषा के दो भक्त–कवि जयदेव और विल्वमंगल ने अपने सुप्रसिद्ध गीत–काव्य 'गीतगोविंद' और 'कृष्ण-कर्णामृत' में राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का माधुर्य भक्तिपूर्ण गायन किया था। जयदेव गौड़ (बंगाल) के राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे। इस प्रकार वे सं० १२२५ के लगभग विद्यमान थे। प्रायः वही काल विल्वमंगल का भी है। उन दोनों की रचनाओं से सिद्ध होता है कि १३वीं शती तक राधा का महत्व धार्मिक क्षेत्र में स्वीकृत हो चुका था। जयदेव और विल्वमंगल दोनों की रचनाएँ कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों में धर्म-ग्रंथों के रूप में मान्य रही हैं।

जयदेव का इस दृष्टि से बड़ा महत्व है कि उन्होंने साहित्य की राधा को धर्म के साथ जोड़ दिया था। उन्होंने अपने काव्य-प्रेमियों से स्पष्टतया कहा है, यदि विलास कला के साथ हरि-स्मरण करने का मन हो, तभी उनकी कोमल-कांत पदावली का श्रवण करना चाहिए,—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्त पदावलीं, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

इस प्रकार 'गीतगोविंद' काव्य कला को धर्मोपासना के साथ जोड़ने वाली एक सुदृढ़ कड़ी सिद्ध हुआ है।

पुराणादि में राधा—भारतीय वाङ्मय में पुराणों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। महाभारत में इन्हें इतिहास के साथ वेद का उपबृंहण अर्थात् वृद्धि एवं व्याख्या करने वाला कहा गया है,—'इतिहास–पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। जहाँ भारतीय इतिहास–परंपरा के आदिम ग्रंथ के रूप में 'महाभारत' का महत्व है, वहाँ पुराण–परंपरा के रूप में अनेक पुराणोपपुराणों का भी उल्लेखनीय स्थान है। इन पुराणों में से कई ने राधा की महत्ता को धार्मिक क्षेत्र में स्थापित करने की गौरवपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है।

कृष्ण-चरित्र के आरंभिक ग्रंथों में राधा का अभाव—महाभारत, हरिवंश और विष्णु पुराण कृष्ण-चरित्र के आरंभिक ग्रंथ माने जाते हैं। किंतु इन तीनों ग्रंथों में कृष्ण की वाल-संगिनी राधा का उल्लेख नहीं है। महाभारत में राधा का उल्लेख न होने का यह कारण हो सकता है कि इसमें कृष्ण की वे वाल-लीलाएँ नहीं है, जिनसे राधा का संबंध है। उसमें तो कृष्ण के प्रौढ़ काल की उन

---

(१) श्री राधा-माधव चिंतन, पृष्ठ १७–१८
(२) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १२०–१२४

द्वारका-लीलाओं का ही कथन हुआ है, जिनमें राधा के नामोल्लेख की आवश्यकता भी नहीं थी। किंतु हरिवंश और विष्णु पुराण में जहाँ कृष्ण की बाल-लीलाओं का विशद वर्णन किया गया है, वहाँ भी राधा का नामोल्लेख नहीं मिलता है। यह राधा के प्राचीन महत्व की एक बड़ी कमी रही है।

भागवत का अस्पष्ट उल्लेख—पुराणों में श्रीमद् भागवत ही कृष्ण की व्रज-लीलाओं तथा गोप-गोपियों के साथ उनकी बाल-क्रीड़ाओं का सर्व प्रधान आकर ग्रंथ है; किंतु उसमें भी राधा का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है। एक स्थल पर 'आराधितः' शब्द आया है, जिसे विद्वानों ने राधा का द्योतक समझ लिया है[1]। एक अन्य स्थल पर 'राधसा' शब्द भी आया है, जिसका सामान्य अर्थ 'ऐश्वर्य' या 'विभूति' होता है; किंतु राधा की महत्ता के अत्यंत आग्रही विद्वानों ने कष्ट कल्पना द्वारा उसे भी राधा से संबंधित मान लिया है[2]। कल्पना की और भी ऊँची उड़ान करने वालों ने तो ऋग्वेद में भी राधा को ढूंढ़ निकाला है[3]! किंतु इस प्रकार के प्रयत्नों की सार्थकता सदैव संदिग्ध रहेगी।

व्रज के कृष्णोपासक धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों ने, विशेषतया गौड़ीय गोस्वामियों ने, पुराणादि ग्रंथों का मंथन कर उनमें से राधा-तत्व का नवनीत प्राप्त करने में अत्यंत परिश्रम-साध्य सत्प्रयास किया था। उन्हें मत्स्य, पद्म और देवी भागवतादि कई पुराणों में तो राधा संबंधी उल्लेख मिल गये; किंतु श्रीमद् भागवत में राधा का स्पष्ट कथन न मिलने से उन्हें अवश्य ही निराशा हुई होगी। किंतु आत्म संतोष के लिए उन्होंने मान लिया कि भागवतकार ने जान-बूझ कर ही राधा के नाम को गुप्त रखा है,—उसका सांकेतिक रूप में उल्लेख करना ही उन्हें इष्ट था। सर्वश्री सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि सभी गौड़ीय विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों में विविध युक्तियों और तर्कों से इसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत किया है[4]।

---

(१) अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयाननयद्रहः॥ (१०—३०—२८)

(२) नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां, विदूर काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्त साम्यातिशयेन राधसा, स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥ (२-४-१४)

उपर्युक्त श्लोक का साधारण अर्थ है,—'जो अत्यंत भक्तवत्सल हैं, और हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करने वाले लोग जिनकी छाया भी नहीं छू सकते, उन ब्रह्मस्वरूप और अपने धाम में विहार करने वाले ऐश्वर्यशाली भगवान् श्री कृष्ण को मैं वंदना करता हूँ।' किंतु 'कल्याण' (कृष्णांक पृष्ठ २७०) में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है,—'सात्वत भक्तों के पालक कुयोगियों के लिए दुर्जेय प्रभु को हम नमस्कार करते हैं। (वे भगवान्) स्वधाम (वृंदावन) में समानता और आधिक्य को निरस्त करने वाली राधा के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं।'

(३) स्तोत्रं राधानांपते गीर्वाहो वीर यस्यते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ (ऋग्वेद, १—३०—३५)

उपर्युक्त सूक्त का अर्थ है,—'हे राधाओं के वीर पति! आपका स्तोत्र (यश) श्रुतियों—शास्त्रों द्वारा जानने योग्य है। आपकी विभूति सत्यरूपा हो!' यहाँ 'राधा' शब्द बहुवचन में आया है, अतः उसे गोप-कुमारी राधा से संबंधित मानना सर्वथा असंगत है। किंतु मासिक 'मानव धर्म' (कृष्णांक, पृष्ठ १४) में राधा शब्द के बहुवचनात्मक प्रयोग का भी कष्टकल्पना द्वारा ही स्पष्टीकरण किया गया है।

(४) भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ११—१४

उनके अनेक तर्कों में से एक यह है कि जब लोक व्यवहार में भी इष्ट धन को छिपा कर रखा जाता है, तव साधना के क्षेत्र में राधा जैसे परम धन को गुप्त रख कर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ कुम्हार अपने अवाँ में कच्चे बर्तनों को पकाने के लिए उन्हें मिट्टी के घने लेप से छिपा देता है। यदि कहीं से लेप हट जाता है, तो वहाँ के बर्तनों के प्रकट हो जाने से वे पक नहीं पाते हैं[1]। इसी प्रकार माधुर्य भक्ति की परिपक्वता के लिए भागवत में भी भक्तों के परम धन राधा-नाम को छिपा कर रखा गया है ! परम रसिक श्री हरिराम व्यास ने भी इसी प्रकार की उक्ति प्रस्तुत की है[2]।

पूर्वोक्त समाधान से भावुक भक्तों को चाहें संतोष हो जाय, किंतु आजकल के तर्कशील पाठक का संतुष्ट होना कठिन है। वे तो यही कहेंगे कि कृष्ण से अत्यंत प्रेम करने वाली अथवा उनकी विशेष रूप से आराधना करने वाली एक गोप-कन्या से भागवतकार अवश्य परिचित थे; किंतु उसके राधा नाम का उन्हें कदापि परिचय नहीं था। उस कृष्णाराधिका को 'राधिका' अथवा 'राधा' नाम से लिखने की परंपरा भागवत के रचना-काल के पश्चात् ही प्रचलित हुई है।

मत्स्य और पद्म पुराणों के उल्लेख—मत्स्य पुराण शिव की महिमा सूचक एक मध्यम आकार की रचना है; किंतु पद्म पुराण ब्रह्मा और विष्णु की महत्ता का अत्यंत विशालकाय ग्रंथ है। दोनों का रचना-काल सातवीं शती के लगभग माना जाता है। राधा-तत्व के आरंभिक शोधक गौड़ीय गोस्वामियों ने इन दोनों पुराणों में से राधा संबंधी बहुत थोड़े से श्लोकों को ही उद्धृत किया है। उनके काल में उन पुराणों में राधा विषयक उतने ही श्लोक रहे होंगे। इस समय पद्म पुराण का जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें राधा संबंधी पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं; जिन्हें अनेक विद्वानों ने प्रक्षिप्त और बाद में बढ़ाया हुआ माना है[3]। इस पुराण का मूल भाग ७वीं शती के आस-पास का माना जाता है, किंतु फर्कुहर के मतानुसार इसका अधिकांश भाग सोलहवीं शती के बाद का रचा हुआ है[4]।

पद्म पुराण के 'पातालखंड' में वृंदावन का माहात्म्य और राधा-कृष्ण के युगल ध्यान का वर्णन है। इसके 'उत्तरखंड' में राधाष्टमी के व्रत का उल्लेख करते हुए राधा-पूजन के महत्व को विस्तार से बतलाया गया है। इसके इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वे उस काल के हैं, जब राधा की महत्ता पूरी तरह स्थापित हो गई थी।

अन्य पुराणों के उल्लेख—मत्स्य और पद्म के अतिरिक्त जिन अन्य पुराणों में राधा संबंधी उल्लेख मिलते हैं, उनमें वायु, वराह, स्कंद, भविष्य और नारद नामक पुराण उल्लेखनीय हैं। किंतु उक्त उल्लेखों के संबंध में यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे उसी काल के हैं, जब कि

---

(१) गोपनादिष्टसम्पत्तिः सर्वथा परिसिध्यति।
कुलालपुर के पात्रमन्तर्वाप्यतया तथा ॥ (श्री भागवतामृत)

(२) परम धन श्री राधा-नाम आधार।
श्री शुकदेव प्रगट नहिं भाख्यो, जान सार कौ सार ॥ (व्यास वाणी)

(३) १. श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १०६–११३
२. राधावल्लभ संप्रदाय: सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १६१
३. भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ १६

(४) एन आउट लाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृष्ठ २३२

इन पुराणों की रचना हुई थी; अथवा उन्हें बाद में बढ़ाया गया है । स्कंद पुराण में कहा गया है, राधिका जी कृष्ण की आत्मा हैं, जिनके साथ सदैव रमण करने से वे 'आत्माराम' कहलाते हैं,—'आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ । आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढ़ वेदिभिः ।।' इस प्रकार के जो उल्लेख इन पुराणों में मिलते हैं, उन्हें अनेक विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं । जिन पुराणों का ऊपर नामोल्लेख किया गया है, उनमें विष्णु की अपेक्षा शिव की महत्ता के पुराण अधिक हैं । उनके साथ ही उस काल के जैन पुराणों में भी कृष्ण के साथ राधा का उल्लेख हुआ है; किंतु उनका दृष्टिकोण दूसरा है ।

ब्रह्मवैवर्त का उल्लेख—राधा की महत्ता और उसकी लीलाओं का सर्वाधिक वर्णन जिस पुराण में हुआ है, वह ब्रह्मवैवर्त है । वल्कि यह कहना उचित होगा कि इस अकेले पुराण में ही राधा संबंधी जितनी सामग्री है, उतनी संस्कृत के समस्त प्राचीन वाङ्मय में एकत्र रूप में भी नहीं है । इसीलिए इसे 'राधा पुराण' भी कहा जा सकता है, किंतु इसके वर्तमान रूप की प्रामाणिकता संदिग्ध है । मत्स्य और नारद पुराणों में ब्रह्मवैवर्त का जो आकार-प्रकार बतलाया गया है, उससे इसके प्रस्तुत रूप की संगति नहीं मिलती है । इसकी पुष्टि गौड़ीय गोस्वामियों के ग्रंथों से होती है, जिनमें ब्रह्मवैवर्त के राधा संबंधी उद्धरण नहीं लिये गये हैं । यदि गोस्वामियों के काल (१६वी शती) में यह पुराण आजकल के से रूप में ही उपलब्ध होता, तो वे निश्चय ही इसके राधा संबंधी उल्लेखों को अपने ग्रंथों में उद्धृत करते । इससे सिद्ध होता है, ब्रह्मवैवर्त का वर्तमान रूप गौड़ीय गोस्वामियों के बाद का है ।

कुछ विद्वानों का कथन है, ब्रह्मवैवर्त का आरंभिक भाग तो पुराना है; किंतु अंत का समस्त कृष्ण-जन्मखंड प्रक्षिप्त है, जो १६वीं शती के बाद उसमें सम्मिलित किया गया है । श्री ग्राउस का मत है, स्वयं रूप-सनातन गोस्वामी-बंधुओं ने ही इस पुराण की रचना की थी[1]; किंतु यह भ्रमात्मक कथन है । वास्तविक बात यह मालूम होती है कि धार्मिक क्षेत्र में राधा की महत्ता के प्रबल आग्रही किसी दाक्षिणात्य अथवा गौड़ीय विद्वान ने १६वीं शताब्दी के पश्चात् ब्रह्मवैवर्त की प्राचीन प्रति में पर्याप्त प्रक्षेप कर उसे वर्तमान रूप दिया था ।

इस पुराण में समस्त लोको के शिरोमणि गोलोक का, और उसके अंतर्गत दिव्य वृंदावन एवं उसके रासमंडल का बड़ा ही भव्य वर्णन किया गया है । उक्त दिव्य वृंदावन में श्री राधा जी अपनी असंख्य गोपियों सहित निवास करती हैं और श्री कृष्ण के साथ नित्य रास में तल्लीन रहती हैं । इसमें राधा जी की अनेक दिव्य लीलाओं के मनोरम कथन के साथ उनके विविध नामों का भी उल्लेख किया गया है । उनमें से मुख्य सोलह नाम इस प्रकार हैं,—'राधा, रासेश्वरी, रासवासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्ण प्राणाधिका, कृष्णप्रिया, कृष्णस्वरूपिणी, कृष्णवामांशसंभूता, परमानंदरूपिणी, कृष्णा, वृंदावनी, वृंदा, वृंदावनविनोदिनी, चंद्रावली, चंद्रकांता और शतचंद्रनिभानना[2] ।'

ब्रह्मवैवर्त के कई श्लोकों और जयदेव कृत 'गीतगोविंद' के पदों में बड़ा साम्य है । इस पुराण के 'श्रीकृष्ण-जन्म खंड' अध्याय १५ के आरंभिक ७ श्लोकों में राधा-कृष्ण के मिलन की जो अलौकिक कथा है, उसी के जैसा भाव 'गीतगोविंद' के मंगलाचरण वाची पद में भी मिलता है ।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ७५

(२) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १९१

'गीतगोविंद' का वह पद इस प्रकार है,—

मेघैर्मेदुरम्वरं वनभुवः, श्यामास्तमालद्रुमै र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राघे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेश तश्चलितयोः प्रत्यघ्व कुञ्जद्रुमं। राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः[1]॥

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि गीतगोविंद का उक्त कथन ब्रह्मवैवर्त की कथा के आधार पर किया गया है, अथवा गीतगोविंद के आधार पर ही ब्रह्मवैवर्त में वह कथा सम्मिलित की गई है। डा० मुंशीराम शर्मा का मत है कि ब्रह्मवैवर्त के आधार पर जयदेव ने और फिर वंगाल, विहार और ब्रज के भक्त-कवियों ने राधा-केलि का कथन कर उसे धार्मिक मान्यता से समन्वित किया है[2]। यदि इस मत को माना जाता है, तो ब्रह्मवैवर्त के इस अंश की रचना गौड़ीय गोस्वामियों से वहुत पहिले की सिद्ध होती है; जिसे स्वीकार करना संभव नहीं है।

देवी भागवत का उल्लेख—शाक्त धर्मावलंवी इस पुराण को श्रीमद् भागवत के स्थान पर मुख्य १८ पुराणों में मानते हैं, जब कि वैष्णव धर्मावलंवी इसकी गणना उप पुराणों में करते हैं। इसमें राधा का उल्लेख शाक्त धर्मोक्त शक्ति तत्व के रूप में हुआ है। इसके खंड ६, अध्याय ५० में लिखा गया है,—'मूल प्रकृतिरूपिणी चिन्मयी भुवनेश्वरी से प्राण और बुद्धि की अधिष्ठात्री दो देवियाँ प्रकट हुईं। उनमें से प्राण की अधिष्ठात्री देवी का नाम 'राधा' और बुद्धि की देवी का नाम 'दुर्गा' था। राधा की आराधना का षडक्षरी मंत्र 'श्री राधायै स्वाहा' है, जो सर्वप्रथम श्री कृष्ण को रासमंडल में प्राप्त हुआ था। राधा की पूजा किये विना किसी को कृष्ण की पूजा करने का अधिकार नहीं है। कृष्ण क्षण भर को भी राधा के विना नहीं रह सकते[3]।'

पुराणेतर ग्रंथों के उल्लेख—जिन पुराणेतर ग्रंथों में राधा का उल्लेख मिलता है, उनमें ब्रह्मसंहिता, गर्गसंहिता, विविध तांत्रिक ग्रंथ, तथा राधिकोपनिषद्, गोपालोत्तरतापनी उपनिषद् और राधिकातापनी उपनिषद् उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'ब्रह्मसंहिता' १६वीं शती से पहिले की रचना है; किंतु उसका प्रचार दक्षिण भारत में ही था। जब चैतन्यदेव अपनी दक्षिण-यात्रा के लिए गये थे, तब उन्होंने वहाँ पर इसकी प्रतिलिपि कराई थी। उसके वाद ही उत्तर भारत में इस ग्रंथ का प्रचार हुआ था[4]। 'गर्ग संहिता' एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें कृष्ण के साथ राधा का भी विशद वर्णन हुआ है। इस पर ब्रह्मवैवर्त का पर्याप्त प्रभाव है, और यह १६वीं शती के पश्चात् की रचना है। तांत्रिक ग्रंथों में 'राधा तंत्र' प्रमुख है। इसके अतिरिक्त रुद्रयामल तंत्र, गौतमीय तंत्र आदि हैं; जो सभी अर्वाचीन रचनाएँ हैं। इनमें राधा की महिमा तांत्रिक दृष्टिकोण से वर्णित है।

---

(१) इस पद का सरस पद्यानुवाद भक्त-कवि रामराय जी ने इस प्रकार किया है,—
घन घिरि आयौ वन, सघन तिमिर छायौ, रैनि में डरैंगे देखि, लेखि यों दृगन तें।
नंद यों कहत वृषभानु-नंदिनी सों, नंद-नंदनहिं घरै जाहु लैकै वेगि बन तें॥
सखी के वचन पाइ, प्रेम के रचन भरे, चले तरु तीर छाँह जमुना पुलिन तें।
'रामराय' मारग रहसि रस-केलि भरे, ऐसे राधा-माधौ वाधा हरैं मेरे मन तें॥

(२) भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ १७५

(३) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १६१

(४) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ ७

राधा और कृष्ण के नाम से जो अनेक उपनिषद् रचे गये हैं, उनमें से कोई भी १६वीं शती से पहिले का नहीं है; कुछ तो और भी बाद के हैं। इनमें राधा के महत्व की दृष्टि ने 'राधिकोपनिषद्' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका सारांश इस प्रकार है,—

'सनकादि महर्षियों के पूछे जाने पर श्री ब्रह्मा जी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं। ये छैओं ऐश्वर्यो से पूर्ण, गोप-गोपियों से सेव्य, श्री वृंदावन देवी से आराधित और श्री वृंदावन के अधीश्वर हैं। यही एक मात्र सर्वेश्वर हैं। इन्हीं श्री हरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं, जो कि अखिल ब्रह्मांडों के अधीश्वर हैं। ये श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आह्लादिनी, संधिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत सी शक्तियाँ हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान है। यही परम अंतरंगभूता श्री राधा हैं। कृष्ण इनकी आराधना करते हैं, अथवा ये सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं, इसलिए ये राधा कहलाती हैं। इन श्री राधिका के शरीर से ही गोपियाँ उत्पन्न हुई हैं। ये राधा और श्री कृष्ण रस-सागर श्री विष्णु के एक शरीर से ही क्रीड़ा के लिए दो हो गये हैं। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्री कृष्ण की आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है[१]।' डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार यह एक अर्वाचीन उपनिषद् है, जिसकी रचना १७वीं शती से पहिले की नहीं हो सकती[२]। हम भी इससे सहमत हैं।

राधा के धार्मिक महत्व का विकास—

'गीतगोविंद' और 'ब्रह्मवैवर्त' का योग—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जिन साहित्यिक और पौराणिक रचनाओं ने राधा के धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि का निर्माण किया है, उनमें 'गीतगोविंद' और 'ब्रह्मवैवर्त' का सर्वाधिक योग है। इनके राधा संबंधी कथन की समान भावना का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उसके कारण ये विवाद के प्रश्न बन गये हैं कि इन दोनों ग्रंथों में से किसकी रचना पहिले हुई और किसकी बाद में; फिर दोनों में से किसके कथन का किस पर प्रभाव पड़ा है? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देना बड़ा कठिन है। अनेक विद्वानों ने इनके संबंध में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं; किंतु उनमें से किसका मत प्रामाणिक है और किसका अप्रामाणिक, यह निश्चय पूर्वक बतलाना संभव नहीं है।

डा० मुंशीराम शर्मा ने भक्ति संप्रदायों में राधावाद की स्थापना का श्रेय 'ब्रह्मवैवर्त' को दिया है। उनके मतानुसार जयदेव ने इसी के आधार पर अपने 'गीतगोविंद' में राधा के महत्व का कथन किया है। उनका कहना है,—"ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने राधा की स्थापना उसके समग्र रूप में कर दी है। इस पुराण ने भक्ति के स्वरूप को ही बदल दिया। राधा-चरित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय भी इसी पुराण को देना पड़ेगा। वंगीय वैष्णव धर्म को इसने माधुर्य प्रधान बना दिया और समस्त बंगाल कृष्ण की केलि-कल्लोलों में अवगाहन करने लगा। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन करके 'गीतगोविंद' की रचना की[३]।" डा० शर्मा ने 'ब्रह्मवैवर्त' के रचना-कार के संबंध में अनुमान करते हुए कहा है कि यह पुराण 'अपने वर्तमान रूप में किसी बंगाली पंडित का

(१) सूर और उनका साहित्य (संशोधित द्वितीय संस्करण), पृष्ठ १७६-१७७
(२) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १६२
(३) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७५

रचा हुआ जान पड़ता है । इसका प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं है[1] ।' बंगाली पंडितों के शिरोमणि सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामी-बंधु इसके रचयिता नहीं हैं, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं ।

रसिकराज जयदेव ने चाहें ब्रह्मवैवर्त से प्रभावित होकर ही 'गीतगोविंद' की रचना की हो; फिर भी राधा-कृष्ण की सरस वृंदावन-लीलाओं के सर्वप्रथम गायक होने का श्रेय सदा से उन्हीं को दिया जाता रहा है । सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों के समकालीन वृंदावन के अनेक भक्त-कवियों ने उनके इस महत्व को स्वीकार किया है[2] ।

जयदेव के समकालीन भक्त-कवि विल्वमंगल और उनकी सरस रचना 'कृष्ण-कर्णामृत' का उल्लेख पहिले किया जा चुका है । रसिकाचार्य जयदेव का जन्म बंगाल में और लीलाशुक विल्वमंगल का दक्षिण में हुआ था । इससे सिद्ध होता है कि राधा का साहित्य से धर्म में प्रविष्ट होना किसी विशेष प्रदेश अथवा विशिष्ट घटना का प्रभाव नहीं है, वरन् कृष्ण-भक्ति की देशव्यापी धारा के परिवर्तित नवीन रूप में विकसित होने का ही परिणाम है । यद्यपि विल्वमंगल और जयदेव की रचनाएँ प्रायः एक ही काल की हैं; तथापि राधावाद की जो मंदाकिनी साहित्यिक क्षेत्र में प्रवाहित हो रही थी, उसे धार्मिक क्षेत्र में मोड़ देने का श्रेय 'कृष्ण-कर्णामृत' की अपेक्षा 'गीतगोविंद' को अधिक है । 'कृष्ण-कर्णामृत' का प्रचार दक्षिण भारत तक ही सीमित था । जब चैतन्य देव ने अपनी दक्षिण-यात्रा की थी, तब 'ब्रह्म संहिता' की भाँति 'कृष्ण-कर्णामृत' की भी उन्होंने प्रतिलिपि कराई थी । उसके बाद ही उसका उत्तर भारत में अधिक प्रकार हो सका था[3] ।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि धार्मिक क्षेत्र में राधावाद को बलपूर्वक मोड़ देने वाले जयदेव और विल्वमंगल दोनों ही राधा-कृष्णोपासक किसी वैष्णव धर्म-संप्रदाय से संबंधित नहीं थे ! ऐसा अनुमान होता है, जयदेव जी शैव अथवा शाक्त थे; यद्यपि कई वैष्णव संप्रदाय उन्हें अपनी परंपरा

---

(१) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७५

(२) १. 'गीतगोविंद' का सरस पद्यानुवाद करने वाले रामराय जी (सं० १५६०–सं० १६३०) ने जयदेव जी के संबंध में कहा है,—

रसिकवर श्री जयदेव उदार ।
होते जो न मही में, तौ को गातौ कुंज-विहार ।।
महारस-सागर पूरन चंद ।
कोमल ललित पदावलि विलसित, उदयौ 'गीतगोविंद' ।।
जुगल रस कौ यह प्रथम प्रकास ।
ता पाछें सब कोऊ बरन्यौ, लै लघु-गुरु आभास ।।

२. भक्तवर हरिराम व्यास जी (सं० १५६७–सं० १६६६) ने कहा है,—

श्री जयदेव से रसिक न कोऊ, जिन लीला–रस गायौ ।
जाकी जुगति अखंडित मंडित, सब ही के मन भायौ ।।
विविध विलास कला कवि मंडन, जीवन भागनि आयौ ।
वृंदावन कौ रसमय वैभव, पहिलैं सबनि सुनायौ ।
ता पाछे औरनि कछु पायौ, सो रस सबनि चलायौ ।।

(३) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ ७

में मानते हैं[1]। विल्वमंगल जी ने तो स्पष्ट रूप से अपने को पंचाक्षरी का जप करने वाला शैव घोषित किया है; यद्यपि वे गोपी-किशोर कृष्ण का भी स्मरण करते हैं[2]। जयदेव जी से प्रेरणा प्राप्त कर मालाधर वसु, चंडीदास और यशोराज खाँ ने प्राचीन बंगला भाषा में, तथा विद्यापति ने मैथिली-हिंदी में राधा-कृष्ण की सरस लीलाओं का गायन किया है; किंतु वे सभी अवैष्णव थे। चंडीदास शाक्त अथवा सहजिया और विद्यापति शैव कहे जाते हैं; किंतु उनकी रचनाओं ने वैष्णव धर्मावलंबी राधा-कृष्णोपासक भक्तों तथा कवियों को प्रेरणा प्रदान की है। चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं जयदेव, चंडीदास और विद्यापति की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर राधा-कृष्ण की भक्ति का व्यापक प्रचार किया था।

जयदेव कृत 'गीतगोविंद' अपनी सरस रचना-शैली के कारण १३वीं शताब्दी से ही उत्तर भारत के विस्तृत क्षेत्र में और संभवतः दक्षिण में भी बराबर प्रचलित रहा है। उसने विविध क्षेत्रीय भाषाओं में रची हुई राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं को प्रभावित कर उनके द्वारा राधावाद के व्यापक प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया है। उसके साथ ही ब्रह्मवैवर्त की धार्मिक महत्ता के योग ने उसके प्रभाव को और भी बढा दिया था।

निंबार्क संप्रदाय की देन—ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों में कृष्ण के साथ राधा की भी उपासना करने का आरंभिक श्रेय निंबार्क संप्रदाय को दिया जाता है। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक प्रवर्त्तक श्री निंबार्काचार्य जी ने राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की उपासना का प्रचार किया था। उनकी 'दश श्लोकी' रचना के सुप्रसिद्ध स्तोत्र में राधा जी के महत्तम रूप का जिस प्रकार गुण-गान किया गया है, उसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त श्री निंबार्काचार्य जी के एक 'राधाष्टक स्तोत्र' की भी प्रसिद्धि है, जिसकी आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,—

नमस्तै श्रियै राधिकायै परायै। नमस्ते नवस्ते मुकुन्द प्रियायै ॥

धर्म के साथ दर्शन, उपासना और साहित्य के क्षेत्रों में राधावाद के विकास-क्रम की विवेचना करने में डा० शशिभूषण दासगुप्त ने अत्यंत विद्वत्तापूर्ण सत्प्रयास किया है। उनके शोध का निष्कर्ष है कि राधातत्व के मूल मे प्राचीन शक्तितत्व निहित है। 'क्या विचार और क्या भाषा सभी दृष्टियों से शैव-शाक्त तंत्रोक्त शक्तिवाद और वैष्णव शास्त्रोक्त शक्तिवाद में कोई खास पार्थक्य करना संभव नहीं मालूम होता है[3]।' दासगुप्त महाशय का यह कथन बंगाल के विषय में ठीक सकता है, जहाँ के वैष्णव धर्म और राधातत्व पर शाक्त धर्म और शक्तितत्व का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। किंतु बंगाल से अन्यत्र दक्षिण और फिर ब्रजमंडल के संबंध में उनका कथन पूर्णतया ठीक नहीं है।

---

(१) ब्रह्मचारी विहारीशरण ने श्री जयदेव जी को निंबार्क संप्रदाय का अनुयायी बतलाते हुए 'निंबार्क माधुरी' में सर्वप्रथम उन्हीं का नामोल्लेख किया है; किंतु वे जयदेव जी के निंबार्क होने का कोई पक्का प्रमाण नहीं दे सके हैं। वृंदाबन निवासी श्री यमुनावल्लभ जी के पूर्वजों की परंपरा चैतन्य संप्रदाय से संबंधित रही है। वे श्री जयदेव जी को अपना पूर्वज मानते हैं; किंतु उनके धर्म-संप्रदाय के संबंध में उनके पास भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है।

(२) शैवावयं न खलु विचारणीयं, पंचाक्षरीजपपरा नितरां तथापि।
चेतो मदीयमतसी कुसुमावभासं, स्मेराननं स्मरति गोपवधू किशोरम् ॥
—कृष्ण-कर्णामृत, २—२४

(३) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ ८०

वंगाल में राधातत्व के विकसित होने से पहिले ही दक्षिण भारत में लक्ष्मीतत्व से राधातत्व का विकास हो चुका था, जो वहाँ के आलवार भक्तों की रचनाओं में लक्षित होता है। वही राधातत्व पहिले निवार्काचार्य के संप्रदाय में गृहीत हुआ, और फिर कृष्णोपासना के अन्य संप्रदायों में अपनाया गया था। इन संप्रदायों पर शाक्त धर्म का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि उक्त धर्म से प्रभावित बंगाल के राधातत्व पर परकीयावाद की छाप है; जब कि निंवार्काचार्य के संप्रदाय में और उसके साथ ही साथ ब्रजमंडल के अन्य धर्माचार्य सर्वश्री बल्लभ, हरिवंश और हरिदास के संप्रदायों में राधा जी को स्वकीया माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शाक्त धर्म की ऐसी ही मान्यताओं के कारण उसके प्रति इन संप्रदायों की सदैव बड़ी अरुचि रही है।

श्री निंवार्काचार्य के प्रधान शिष्यों में श्रीनिवासाचार्य जी के पश्चात् औदुम्बराचार्य जी का नामोल्लेख मिलता है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'औदुम्बर संहिता' में राधा-कृष्ण के युगल तत्व का भावपूर्ण कथन किया गया है[1]। तदनुसार 'राधा-कृष्ण का यह युग्म सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। यह नित्यवृंदावन में नित्यविहार करता है। यह जोड़ी सच्चिदानंद रूप है और सामान्यता अगम्य होने से विरले ही सुजन इस तत्व को जानते हैं। राधा और मुकुंद दोनों समभावेन अवस्थित रहते हैं। वे सरिता की दो लहरों की भाँति अलग-अलग दीखने पर भी वास्तव में एक हैं[2]।'

निंवार्क संप्रदाय की गुरु-परंपरा के ३४वें आचार्य श्रीभट्ट जी इस संप्रदाय के प्रथम वाणीकार थे[3]। उनकी सरस ब्रजभाषा रचना 'जुगल शतक' में श्री राधा-कृष्ण के नित्यविहार के साथ उनकी समान स्थिति का भी तात्विक विवेचन किया गया है। 'श्रीभट्ट जी का कथन है, जिस प्रकार दर्पण में मुख और नेत्रों में नेत्र प्रतिबिंबित होते हैं, उसी प्रकार प्रिया-प्रिय श्री राधा-कृष्ण भी एक दूसरे से कभी अलग नहीं होते[4]। श्रीभट्ट जी के यशस्वी शिष्य हरिव्यास देव जी कृत 'महावानी' में राधा-कृष्ण के युगल विहार का अत्यंत मनोरम और भव्य वर्णन किया गया है। इसमें निंवार्क संप्रदाय की भावना के अनुसार राधा-कृष्ण की अभिन्नता के द्योतक अनेक सरस पद भी मिलते हैं[5]।

---

(१) जयति सततमाद्यं राधिकाकृष्णयुग्मं। व्रतसुकुलनिदानं यत् सदैलिह्ममूलम् ॥
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं। व्रजवलयविहारं नित्यवृंदावनस्यम् ॥
कल्लोलकौ वस्तुत एकरूपकौ। राधामुकुन्दौ समभावभावितौ ॥

(२) भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ७३

(३) श्री आचार्य-परंपरा परिचय, पृष्ठ १५

(४) दर्पन में प्रतिबिंब ज्यों, नैंन जु नैंननि माँहि।
यों प्यारी-पिय पलक हू, न्यारे नाँहि दरसाँहि ॥

(५) १. कृष्ण रूप श्री राधिका, राधा रूप श्री स्याम।
दरसन कों ए दोय हैं, हैं एकहि सुख-धाम ॥
२. सदा-सर्वदा जुगल-इक, एक-जुगल तन धाम।
आनँद अरु आह्लाद मिलि, विलसत हैं द्वै नाम ॥
एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनँद के आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनँद स्याम ॥
सदा-सर्वदा जुगल-एक तन, एक-जुगल तन विलसत धाम ॥
'श्री हरिप्रिया' निरंतर नितप्रति, कामरूप अद्भुत अभिराम ॥

मध्वाचार्य और चैतन्य जी के संप्रदायों की देन—माध्व संप्रदाय के उपास्य लक्ष्मी-नारायण हैं। इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार 'नारायण' ब्रह्म रूप हैं, और 'लक्ष्मी' उनकी 'अघटित-घटन-पटीयसी' अचिन्त्य शक्ति है। इस प्रकार इस संप्रदाय में 'लक्ष्मी-तत्व' की मान्यता है, और 'राधा-तत्व' को मूलतः इसमें स्थान नहीं मिला है। श्री मध्वाचार्य जी की शिष्य-परंपरा में श्री माधवेन्द्र पुरी नामक प्रकांड विद्वान और परमभक्त संन्यासी हुए हैं। उन्हें माध्व संप्रदाय के अंतर्गत 'राधा-तत्व' के प्रवर्त्तक माना जाता है। उनके पश्चात् ही इस संप्रदाय में 'राधा-भाव' को मान्यता प्राप्त हुई थी।

श्री माधवेन्द्र पुरी के शिष्य श्री ईश्वर पुरी हुए, और उनके शिष्य श्री चैतन्य महाप्रभु थे। जयदेव जी कृत 'गीतगोविंद' के प्रचार से बंगाल–उड़ीसा के शक्तिवाद से प्रभावित प्रदेशों में 'राधा-वाद' का जो अंकुर जमा था, उसे सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी और ईश्वर पुरी ने सींच कर पल्लवित किया। बाद में 'राधावाद' का वही पौधा श्री चैतन्य देव के काल में लहलहाता हुआ वृक्ष बन गया था। श्री चैतन्य जी 'राधावाद' के प्रमुख प्रचारक होने के साथ ही साथ स्वयं भी राधा-भाव के मूर्तिमान स्वरूप थे। चैतन्य संप्रदाय में उन्हें राधा-कृष्ण का सम्मिलित अवतार माना जाता है[1]।

चैतन्य देव के अंतरंग पार्षद स्वरूप दामोदर के 'कड़चा' में चैतन्य जी के अवतार का उद्देश्य बतलाते हुए कहा गया है,—'जिस प्रेम द्वारा मेरी अद्भुत मधुरिमा का राधा आस्वादन करती है, वह प्रणय-महिमा कैसी है, और राधा के प्रणय द्वारा आस्वादित मेरी वह मधुरिमा कैसी है, तथा इसके अनुभव में राधा को जो सुख होता है, वह कैसा है; इसी लोभ से शची माता के गर्भ रूपी सिंधु से चैतन्य रूपी चंद्रमा ने राधा-भाव से जन्म लिया है[2]। कृष्णदास कविराज का कथन है,—'राधा और कृष्ण स्वरूपतः एक आत्मा हैं। वे लीला रस के आस्वादन के लिए दो देह धारण कर एक-दूसरे के साथ विलास करते हैं। वे दोनों सम्मिलित रूप में रस के आस्वादन के लिए ही अब श्री चैतन्य गोस्वामी के रूप में अवतीर्ण हुए हैं[3]।'

श्री चैतन्य देव में राधा-भाव का विशेष रूप से प्रकाश उनकी दक्षिण-यात्रा में राय रामानंद के साथ तत्व-चिंतन करने के उपरांत हुआ था। सं० १५६७ में चैतन्य देव और रामानंद की सर्वप्रथम भेंट गोदावरी नदी के तट पर हुई थी। उस समय दोनों में जो प्रश्नोत्तर हुए, उनमें साध्य-साधन तत्व और राधा-तत्व पर विचार-मंथन किया गया था। चैतन्य संप्रदाय में राधा-तत्व को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा ब्रज में रचे हुए ग्रंथों को है। उक्त गोस्वामियों में अन्यतम जीव गोस्वामी कृत षट् संदर्भों में राधा-तत्व का सर्वाधिक सैद्धांतिक विवेचन हुआ है, किंतु इन ग्रंथों की रचना में दाक्षिणात्य गोपाल भट्ट गोस्वामी का सहयोग प्रसिद्ध है। इस प्रकार चैतन्य संप्रदाय का राधावाद दक्षिण की विचार-धारा से अनुप्राणित कहा जा सकता है; किंतु वह बंगाल–उड़ीसा में व्याप्त शक्तिवाद से भी प्रभावित है[4]।

---

(१) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ १०४

(२) श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वा नयैवास्वाद्यो येनाद्भुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यंचास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शची गर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

(३) राधा-कृष्ण एक आत्मा, दुइ देह धरि। अन्योन्ये विलसे, रस आस्वादन करि।
सेइ दुइ एक एवे चैतन्य गोसाईं। रस आस्वादिते दोहेँ हैला एक ठाईं॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४–४९, ५०

(४) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ ९९

कृष्णदास कविराज ने चैतन्य संप्रदाय में स्वीकृत राधा-तत्व का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। उनका कथन है, सच्चिदानंद परब्रह्म कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति का सार 'प्रेम' है, प्रेम का सार 'भाव' है और भाव की पराकाष्ठा 'महाभाव' है। महाभाव स्वरूपा 'श्रीराधा' ठकुरानी हैं, जो समस्त गुणों की खान और कृष्णकांताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका चित्त, उनकी इंद्रियाँ और काया सभी कृष्ण-प्रेम से भरपूर हैं। वे कृष्ण की निजशक्ति और उनकी क्रीड़ाओं में सहायक हैं। राधा पूर्ण शक्ति हैं और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है, यह शास्त्रों से प्रमाणित है। राधा-कृष्ण सदैव एक स्वरूप हैं। वे लीला रस के आस्वादन के लिए दो रूप धारण किये हुए हैं[1]।

राधा-तत्व और परकीयावाद—चैतन्य संप्रदाय में रागानुगा भक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और इसमें परकीयावाद को भी मान्यता प्राप्त हुई है। चैतन्य देव के आदेशानुसार गौड़ीय गोस्वामी गण वृंदावन में निवास करने के लिए आये थे। उनके आने से पहिले ही ब्रज में निम्बार्क और मध्व के वैष्णव संप्रदायों ने कृष्ण-भक्ति के साथ राधा-तत्व का भी प्रसार कर रखा था। गौड़ीय गोस्वामियों के वृंदावन-निवास के काल में ही ब्रज में सर्वश्री वल्लभाचार्य, हित हरिवंश और हरिदास स्वामी के भक्ति-संप्रदायों का प्रचार हुआ था। इन सभी संप्रदायों में राधा को स्वकीया माना गया है। गौड़ीय गोस्वामीगण यद्यपि बंगाल के परकीयावाद से प्रभावित थे; तथापि ब्रज की स्वकीया भावना के कारण वे अपने ग्रंथों में परकीयावाद का स्पष्ट रूप से समर्थन नहीं कर सके हैं। इस संबंध में दिये हुए उनके तर्कों से ऐसा आभास होता है कि ब्रज की स्वकीयाप्रधान भक्ति के कारण उन्होंने अपना हार्दिक मत प्रकट करने में संकोच किया है। रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' की 'लोचनरोचनी' टीका में जीव गोस्वामी ने अपनी विवशता को व्यक्त करते हुए कहा है कि इसमें जहाँ स्वेच्छा से लिखा गया है, वहाँ कुछ परेच्छा से भी लिखा गया है; अतः पूर्वापर संबंध का विचार रखना चाहिए,—'स्वेच्छया लिखितं किंचित्, किंचिदत्र परेच्छया। यत पूर्वापरसम्बन्धं तत् पूर्वापरं परम[2]॥'

कृष्णदास कविराज इस प्रकार की दुविधा में नहीं पड़े हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से परकीयावाद का समर्थन किया है। उनका कथन है,—'परकीया भाव में रस का अधिक उल्लास होता है और यह ब्रज से अन्यत्र कहीं भी नहीं है। यह भाव ब्रज की गोपांगनाओं में निरंतर विद्यमान है, और उनमें भी श्रीराधा जी में इस भाव की चरम सीमा है[3]। राधा-तत्व में परकीयावाद की स्थापना चैतन्य संप्रदाय की ऐसी विशेषता है, जो ब्रज के अन्य संप्रदायों में नहीं मिलती है।

(१) ह्लादिनीर-सार 'प्रेम', प्रेम-सार 'भाव'। भावेर परमकाष्ठा नाम 'महाभाव'॥
महाभावस्वरूपा 'श्रीराधा' ठाकुराणी। सर्वगुण-खानि कृष्ण-कांता शिरोमणि॥
कृष्ण प्रेम भावित यार चित्तेन्द्रिय काय। कृष्ण—निजशक्ति राधा क्रीड़ार सहाय॥
राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण पूर्ण शक्तिमान। दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र-प्रमाण॥
राधा-कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४—५६, ६०, ६१, ८३, ८५

(२) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ १०१—१०३

(३) परकीया भावे अति रसेर उल्लास। ब्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास॥
ब्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि। तार मध्ये श्रीराधाय भावेर अवधि॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४—४२, ४३

वल्लभ संप्रदाय की देन—डा० शशिभूषण दासगुप्त ने धर्म, दर्शन, उपासना और साहित्य के क्षेत्रों में राधा के क्रमिक विकास का अत्यंत विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है; किंतु वे वंगीय धर्म-संप्रदायों और विशेष कर चैतन्य मत पर ही यथार्थ निष्कर्ष उपस्थित कर सके हैं। सर्वश्री रामानुज, मध्व और निंबार्क के संप्रदायों पर भी उसके निष्कर्ष गंभीर हैं, यद्यपि उन्हें पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। किंतु सर्वश्री वल्लभाचार्य, गो० हित हरिवंश और स्वामी हरिदास के संप्रदायों की राधा संबंधी मान्यताओं पर वे ठीक तरह से प्रकाश नहीं डाल सके हैं। विद्वद्वर पं० बलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय वाङ्मय में श्री राधा' नामक अपने ग्रंथ में भी राधा की महत्ता का विशद विवेचन किया है। उनका कथन डा० दासगुप्त के निष्कर्षों का बहुत-कुछ पूरक कहा जा सकता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति-सिद्धांत में सच्चिदानंद परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमाराध्य एवं परमोपास्य माना है, और एक मात्र उन्हीं को केन्द्र-बिंदु बना कर अपने सांप्रदायिक वृत्त का निर्माण किया है[1]। इसके साथ ही उन्होंने ठाकुर-सेवा में बाल-भाव को प्रधानता दी है। इससे प्रायः ऐसा समझा जाता रहा है कि उन्होंने राधा-तत्व को मान्यता प्रदान नहीं की, और एक मात्र वात्सल्य भक्ति का ही उपदेश दिया था। श्री वल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी के काल में इस संप्रदाय में माधुर्य भक्ति को महत्त्व दिया गया था और तभी राधा-तत्व को भी मान्यता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार की धारणा दूसरे अनेक विद्वानों के साथ ही साथ डा० दासगुप्त की भी रही है। उनका कथन है,—'पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य ने गोपालकृष्ण की उपासना को अपनी धर्म-साधना में ग्रहण किया था। उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल रूप पर ही जोर दिया है; इसलिए उनके विवेचन में राधा के बारे में कोई विचार या उल्लेख नहीं मिलता है। कहा जाता है कि इस संप्रदाय की उपासना के अंदर वल्लभाचार्य के पुत्र आचार्य विट्ठलनाथ ने ही राधावाद का प्रवर्त्तन किया था[2]।'

निस्संदेह श्री वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि संप्रदाय में भगवान् कृष्ण की अतिशय महत्ता स्वीकृत की है; किंतु उनके विवेचन में राधा के विषय में कोई विचार या उल्लेख नहीं मिलता, यह ठीक नहीं है। उन्होंने विविध स्तोत्रों में कृष्ण के साथ राधा का जिस प्रकार स्मरण किया है, उससे स्पष्ट होता कि उनकी राधा संबंधी मान्यता भी प्रायः अन्य संप्रदायाचार्यों के सदृश ही है। उनके 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' में रसरूप कृष्ण का स्मरण माधुर्य-मूर्ति राधा के साथ 'राधा विशेष संभोग प्राप्तदोष निवारकः' के नाम से किया गया है। आचार्य जी के नाम से प्रसिद्ध 'श्रीकृष्ण प्रेमामृत' स्तोत्र के 'राधा वरुन्धनरतः', 'राधासर्वस्वसम्पुटः', 'राधिकारतिलम्पटः' आदि सरस विशेषणों से तथा 'श्रीकृष्णाष्टकम्' के 'श्रीराधिकारमण', 'राधावरप्रियवरेण्यः', 'राधिकावल्लभः' आदि राधासंयुक्त विशेषणों से यही प्रमाणित होता है कि स्वयं वल्लभाचार्य जी ने ही पुष्टि संप्रदाय में राधा को उसके यथार्थ रूप में

---

(१) 'तत्वदीप निबंध' के एक श्लोक में वल्लभ संप्रदाय की रूपरेखा इस प्रकार बतलाई गई है,—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव।
मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

अर्थात्—कृष्ण कृत गीता ही एक मात्र शास्त्र है, कृष्ण ही एक मात्र आराध्य देव हैं, कृष्ण नाम ही एक मात्र मंत्र है और कृष्ण-सेवा ही एक मात्र कर्त्तव्य है।

(२) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ २८४

प्रतिष्ठित किया था। "श्रीमद् भागवत (२।४।१४) के सुविख्यात श्लोक,—'निरस्त साम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः'—की 'सुबोधिनी' में जिस तत्व का प्रतिपादन किया है, वह आचार्य जी की राधा-तत्व से पूर्ण अवगति का विशद परिचायक है। उससे स्पष्ट है कि भगवान् स्वीय 'राधस्' शक्ति से संवेष्टित होकर स्वरूपानंद में स्वयं विहार किया करते हैं। 'राधस्' शब्द 'राधा' का ही प्रतीक है[1]।" श्री वल्लभाचार्य जी ने राधा को कृष्ण से अभिन्न 'उनकी स्वरूपशक्ति' अथवा 'सिद्धिशक्ति' माना है और गोपियों में प्रमुख एवं उनकी स्वामिनी होने से उन्हें प्रायः 'स्वामिनी' नाम से उल्लिखित किया है।

जहाँ तक श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सिद्धांत का संबंध है, उनके द्वारा केवल 'वात्सल्य भक्ति' को मान्यता देने की बात भी सर्वथा अप्रामाणिक है। उन्होंने 'ठाकुर-सेवा' में ही वात्सल्य भक्ति को प्रधानता दी है, किंतु उपासना में भक्ति के सभी रूपों को स्वीकार किया है; जिनमें 'माधुर्य भक्ति' भी सम्मिलित है। उन्होंने 'रसोवैसः', 'सर्वरसः' आदि श्रुति वाक्यों के आधार पर अपने इष्टदेव को रसात्मक बतलाते हुए उनके मधुर रूप का स्पष्टीकरण किया है। उनके रचे हुए 'मधुराष्टक' और 'परिवृढाष्टक' स्तोत्रों में तथा रासपंचाध्यायी की 'सुबोधिनी' में श्रीकृष्ण के माधुर्यमंडित स्वरूप और पुष्टि संप्रदाय की माधुर्य भक्ति का उल्लेख मिलता है।

अष्टछाप के सर्वाधिक वयोवृद्ध कवि कुंभनदास जी श्री वल्लभाचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। उन्होंने सर्वश्री सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास प्रभृति आचार्य जी के अन्य शिष्यों से पहिले ही सं० १५५६ के लगभग दीक्षा ली थी और तभी से वे निकुंज लीला संबंधी माधुर्य भक्ति के पद-गान द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन करने लगे थे[2]। इस प्रकार के पदों को सुन कर आचार्य जी ने प्रसन्नता पूर्वक कहा था,—'कुंभनदास ! निकुंज-लीला संबंधी-रस कौ अनुभव भयौ।...तिहारे बड़े भाग्य हैं, जो प्रथम प्रभु तुमकों प्रमेय बल कौ अनुभव बताये, तासों तुम सदा हरि रस में मगन रहोगे[3]।' कुंभनदास जी माधुर्य भक्ति के प्रति इतने अनुरक्त थे कि उन्होंने अपने समस्त पदों में उसी का समावेश किया है; यहाँ तक कि उन्होंने वात्सल्य भक्ति का कोई भी पद नहीं रचा।

---

(१) भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ८०–८१

(२) उनके पदों के कुछ अंश इस प्रकार हैं,—

१. बनी राधा - गिरिधर की जोरी।
मनहुँ परस्पर कोटि मदन - रति की सुंदरता चोरी॥
नौतन स्याम नंदनंदन, वृषभानुसुता नव गोरी।
मनहुँ परस्पर बदन - चंद्र कौं, पीवत तृषित चकोरी॥

२. रसिकनी रस में रहति गढ़ी।
कनक - बेलि वृषभाननंदिनी, स्याम - तमाल चढ़ी॥
बिहरत लाल संग राधा के, कौनें भाँति गढ़ी।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर संग, रति - रस - केलि पढ़ी॥

—कुंभनदास (कांकरोली) पद सं० १७१–१७२

(३) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस), पृष्ठ ६१

वार्ता में लिखा है,—'सो कुंभनदास सगरे कीर्तन युगल स्वरूप संबंधी कीये। बधाई, पलना, बाललीला गाई नाहीं[१]।' कुंभनदास के अतिरिक्त पद्मनाभदास और श्रीभट्ट[२] आदि वल्लभाचार्य जी के के अन्य सेवकों ने भी पुष्टि संप्रदाय के आरंभिक काल में ही केवल माधुर्य भक्तिपूर्ण निकुंज लीला के पदों का गायन किया था[३]। इससे सिद्ध होता है कि इस संप्रदाय में माधुर्य भक्ति का प्रचलन गो० विट्ठलनाथ जी के काल में नहीं हुआ; वल्कि उसके वहुत पहिले स्वयं वल्लभाचार्य जी द्वारा ही किया गया था। यह वह काल है, जव कि चैतन्य देव जी का भक्ति-प्रचार उनके जन्मस्थान नवद्वीप तक ही सीमित था, और सर्वश्री हित हरिवंश एवं स्वामी हरिदास के भक्ति संप्रदायों का उदय भी नहीं हुआ था। गो० विट्ठलनाथ जी ने आचार्य जी द्वारा प्रवर्तित माधुर्य भक्ति की उस परंपरा को ही विशद रूप में प्रचारित किया था। वे उसके प्रवर्त्तक नहीं थे, प्रचारक थे।

गो० विट्ठलनाथ के काल में राधा जी की मान्यता वहुत वढ़ गई थी। उन्होंने स्वयं राधा-प्रार्थना चतुःश्लोकी, श्री स्वामिन्यष्टक, श्री स्वामिनी स्तोत्र एवं स्वामिनी प्रार्थना नामक भक्ति-भावपूर्ण सरस स्तोत्रों की रचना की थी और राधा-कृष्ण की युगल उपासना पर विशेष बल दिया था। उन्होंने 'स्वामिन्यष्टक' में 'राधा' नाम को समस्त वेद-शास्त्रों का छिपा हुआ धन और गूढ मंत्र-रूप वतलाया है, जिसे सदा जपते रहने की उन्होंने कामना की है[४]। वे राधा जी के प्रति इतने आस्थावान् थे कि उनकी चरण-शरण से क्षण भर के लिए भी अलग होने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझते थे[५]। 'श्री स्वामिनी स्तोत्र' में वे श्री राधा-कृष्ण के निकुंज-गृह में दासी भाव से उपस्थित होकर वहाँ की रज को अपने केश-पुंज से झाड़ने की लालसा करते हैं[६]। 'उनकी दृष्टि में श्री स्वामिनी जी का स्थान इतना उदात्त तथा उन्नत था कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक विविध कार्यों का अवसान श्री राधा जी द्वारा ही सम्पन्न होना वतलाते हैं[७]।'

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिष्ठित और गो० विट्ठलनाथ जी द्वारा प्रचारित पुष्टि संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति तत्व का सरस भाष्य पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियों ने अपने पदों में किया है; जिनमें सूरदास जी अग्रगण्य हैं। उन्होंने राधा जी को परमपुरुष कृष्ण की प्रकृति और लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के साथ उनके नित्यधाम वृंदावन में सतत विहाररत वतलाया है। सूरदास कृत

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस), पृष्ठ ६२

(२) यह निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्रीभट्ट जी से पृथक् भक्त-कवि थे।

(३) सूर-निर्णय, (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २१०

(४) रहस्यं श्री राधेत्यखिल निगमानामिव धनम्।
निगूढं मद् वाणी जपतु सततं जातु न परम्॥

(५) इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदंघ्रि विप्रयोगे तु।
मरणं भवतादेवं भावे शरणं त्वमेव मे भूयाः॥

(६) गेहे निकुंजं निशि संगतायाः, प्रियेण तल्पे विनिवेशितायाः।
स्वकेश वृन्दैस्तव पादपंकजं सम्मार्जयिष्यामि मुदा कदापि॥

(७) भारतीय वाङ्मय में श्री राधा, पृष्ठ ८२ से ८४ तक का सारांश।

रचनाओं मे ऐसे अनेक पद हैं, जिनमें राधा-कृष्ण के नित्य विहार का कथन हुआ है[1]। पुष्टि संप्रदाय में स्वकीया भक्ति की प्रधानता है और स्वामिनी रूप श्री राधा जी को इसमें स्वकीया माना गया है। वैसे इस संप्रदाय में परकीया भक्ति की भी अवमानता नहीं है; किंतु उसका आधार श्रुतिरूपा गोपांगना श्री चंद्रावली को माना गया है। नित्यविहार की भावना में श्री राधा जी को श्रीकृष्ण के बायीं ओर तथा चंद्रावली जी को दाहिनी ओर स्थित माना जाता है। सूरदास के एक सरस पद में उन दोनों की यथावत् स्थिति का भी कथन किया गया है[2]। सूरदास के अतिरिक्त पुष्टि संप्रदाय के अन्य कवियों के भी तत्संबंधी अनेक पद उपलब्ध हैं।

हित हरिवंश और स्वामी हरिदास के संप्रदायों की देन—ब्रज के इन दोनों भक्ति-संप्रदायों में ही श्री राधा जी का वास्तविक और सर्वाधिक महत्व माना गया है। इन संप्रदायों के प्रवर्त्तक सर्वश्री हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी के उत्थान का काल इस अध्याय की कालावधि में नहीं आता है; अतः इनकी राधा संबंधी मान्यता पर भी आगामी आध्याय मे उनके संप्रदायो के विवरण में लिखा जावेगा। यहाँ पर प्रसंग वश इस पर कुछ थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है।

हित हरिवंश जी का भक्ति-मत 'राधावल्लभ संप्रदाय' कहलाता है, और स्वामी हरिदास का 'हरिदासी' अथवा 'सखी संप्रदाय'। इन दोनों में राधा जी की महत्ता का आधार उनकी 'नित्य-विहार' की मान्यता है, जिसका गायन वृंदावन के अनेक रसिक महात्माओं ने बड़ी तल्लीनता से

---

(१) १. ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायौ।
प्रकृति-पुरुष एकहि करि जानहु, बातन भेद करायौ॥
जल-थल जहाँ रहौं तुम बिन नहिं, वेद - उपनिषद गायौ।
द्वै तन, जीव एक, हम दोऊ सुख कारन उपजायौ॥
ब्रह्म रूप, द्वितीया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
'सूर' स्याम मुख देखि, अलप हँसि, आनँद-पुंज बढ़ायौ॥

२. नित्यधाम वृंदाबन स्याम। नित्यरूप राधा ब्रज धाम॥
नित्यरास, जल नित्यविहार। नित्यमान खंडिताऽभिसार॥
ब्रह्म रूप येई करतार। करनहार त्रिभुवन संसार॥
—सूरसागर (ना. प्र. सभा), पद सं० २३०५, ३४६१

३. वृंदावन हरि यह विधि क्रीड़त, सदा राधिका संग।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत, सदा रहत इकरंग॥
—सूर-सारावली (अग्रवाल प्रेस), सं० १०६६

(२) नंदनंदन हँसे नागरी-मुख चितै, हरषि चंद्रावली कंठ लाई।
बाम भुज रमनि, दच्छिन भुजा सखी पर, चले बन-धाम सुख कहि न जाई॥
मनो बिबि दामिनी बीच नव घन सुभग, देखि छबि काम रति सहित लाजै।
किधौं कंचन-लता बीच सु तमाल तरु, भामिनिन बीच गिरिधर बिराजै॥
गये गृहकुंज अलि गुंज सुमननि पुंज, देखि आनंद भरे 'सूर'—स्वामी।
राधिका-रमन, जुवती-रमन, मन-रवन, निरखि छबि होत मन-काम कामी॥
—सूरसागर (ना. प्र. सभा), पद संख्या २७८८

किया है। राधावल्लभ संप्रदाय के विख्यात भक्त-कवि चाचा वृंदावनदास के मतानुसार उक्त रसिकों में व्यासनंद श्री हित हरिवंश जी सर्वोपरि हैं। उनके पश्चात् अन्य तीन महात्मा सुमोखन शुक्ल कुल-दिवाकर श्री हरिराम व्यास जी, श्री आशुधीर–सुत आनंदमूर्ति स्वामी हरिदास जी तथा भक्ति–स्तंभ श्री प्रबोधानंद जी का स्थान है[1]। वृंदावन के रसिक भक्तों में हित हरिवंश जी के सर्वोपरि होने का कारण यह है कि उन्होंने ही उपासना और भक्ति के क्षेत्रों में राधा जी के सर्वाधिक महत्त्व की स्थापना की है, जिसका अनुकरण अन्य रसिक भक्तों ने भी किया है।

राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता—ब्रज के कृष्णोपासक धर्म–संप्रदायों में या तो राधा की अपेक्षा कृष्ण को प्रधानता दी गई है, या दोनों को अभिन्न मानते हुए उनकी समान स्थिति बतलाई गई है; किंतु राधावल्लभ संप्रदाय में कृष्ण की अपेक्षा राधा की प्रधानता स्वीकृत है। कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों में पुराणादि धार्मिक ग्रंथों के आधार पर कृष्ण को 'परतत्व' और उन्हें राधा द्वारा 'आराधित' बतलाया गया है; किंतु इस संप्रदाय में राधा ही 'परात्पर तत्व' हैं और वह स्वयं कृष्ण की भी आराध्या है। प्रत्येक संप्रदाय में परमोपास्य 'इष्ट' तथा मंत्रदाता 'गुरु' पृथक्-पृथक् होते हैं; किंतु राधावल्लभ संप्रदाय में राधा जी परमाराध्या एवं परमोपास्या होने से 'इष्ट' भी हैं, और मंत्र-दात्री होने से 'गुरु' भी। इस संप्रदाय की मान्यता है कि स्वयं श्री राधा जी ने ही हित हरिवंश जी को मंत्र–दीक्षा दी थी। इस प्रकार इस संप्रदाय में श्री राधा जी परात्पर तत्व हैं, कृष्णाराध्या हैं, परम-इष्ट हैं और साथ ही परमगुरु भी हैं। ये ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इस संप्रदाय की राधा संबंधी भावना को अन्य धर्म-संप्रदायों की राधा विषयक मान्यताओं से पृथक् कर देती हैं।

राधावल्लभ संप्रदाय की राधा संबंधी उक्त भावना के कारण ही नाभा जी ने हित हरिवंश जी को 'हृदय में राधा के चरणों की प्रधानता रख कर अत्यंत सुदृढ़ उपासना करने वाला' कहा है, और उनके 'पथ का अनुसरण करना' तथा उनकी 'भजन की रीति को जानना' किसी पुण्यवान् के लिए ही संभव बतलाया है[2]। प्रियादास जी ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है,—'हित जी की रीति को लाखों में कोई एक विरला ही जान सकता है, जिसके अनुसार राधा को प्रधान मान कर ही बाद में कृष्ण का ध्यान किया जाता है[3]।' स्वयं हित हरिवंश जी ने भी राधा जी की प्रधानता विषयक अपनी भावना की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा है,—'कोई चाहें किसी को भी अपना उपास्य और इष्ट मानें, किंतु मैं दृढ़ता के साथ शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मेरे लिए तो 'प्राणनाथ' श्री राधा जी ही

---

(१) सबके जु मुकुटमनि व्यासनंद। पुनि सुकुल सुमोखन कुल–सुचंद।।
सुत आसुधीर मूरति अनंद। धनि भक्ति–थंभ परबोधानंद।।
इन मिलि जु भक्ति कीनों प्रचार। ब्रज-वृंदावन नितप्रति विहार।।
—श्री हित हरिवंश गोस्वामी, पृष्ठ २१८

(२) श्री राधा-चरन प्रधान हृदैं, अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज-केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी।।
व्यास-सुवन पथ अनुसरैं, सोई भले पहिचान है।
हरिवंश गुसाईं भजन की रीति, सकृत कोउ जानि है।। —भक्तमाल, छप्पय सं० ९०

(३) हित जी की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै, राधाई प्रधान मानै, पाछे कृष्ण ध्याइयै।
—भक्तिरस बोधिनी, कवित्त सं० ३६४

सब कुछ हैं[1] ।' हित जी श्री राधा जी के ऐसे अनन्योपासक थे कि उन्होंने वेदों के श्रवण और मोक्ष-प्राप्ति की उपेक्षा तथा शुकादि सेवित परब्रह्म कृष्ण के भजन की भी अनिच्छा करते हुए एक मात्र श्री राधा जी के पदारविंद के रस में ही निमग्न होने की अपनी आकांक्षा व्यक्त की है[2] ।

'शक्तिवाद' का अभाव—राधावल्लभ संप्रदाय के भक्ति–सिद्धांत में राधा जी के अनुपम महत्व और उसकी उपासना-विधि मे 'राधा की प्रधानता' को 'शक्तिवाद' न समझ लिया जावे, इस आशंका का निराकरण करते हुए गो० ललिताचरण जी ने लिखा है,—'युगल उपासना में श्रीराधा की प्रधानता रखने में एक भय रहा हुआ है । इससे एक प्रकार का शक्तिवाद स्थापित होता है, जो वैष्णव धर्म के मूल पर ही कुठाराघात करता है । यह ऐतिहासिक तथ्य है कि वैष्णव धर्म का शाक्त मत के साथ बड़ा लंबा संघर्ष चला था ।...अतः यह निर्विवाद है कि सब वैष्णव संप्रदाय इस बात के लिए सतर्क थीं कि उनके किसी सिद्धांत पर शाक्त मत की छाया न पड़ जाय । हित प्रभु ने अपने प्रेम-सिद्धांत की रचना इस प्रकार की है कि राधा के प्रति उनका सहज पक्षपात शक्तिवाद नहीं बन पाया है । उनके सिद्धांत में श्रीराधा–कृष्ण प्रेम के सहज भोग्य और भोक्ता हैं, और उनमें शक्ति-शक्तिमान् का संबंध नहीं है । प्रेमपात्र की–भोग्य की–सहज प्रधानता होती है । नित्य प्रेम-विहार में श्रीराधा प्रेमपात्र हैं, और उनकी प्रधानता भोग्य की सहज प्रधानता है, शक्ति की प्रधानता नहीं है[3]।

हरिदासी संप्रदाय को मान्यता—स्वामी हरिदास जी गोस्वामी हित हरिवंश जी के समकालीन और वृंदावन में उनके परम सखा एवं नित्य विहार की उपासना में उनके अनन्य सहयोगी थे । हित जी के सदृश उन्हें भी रसोपासना के एक विशिष्ट 'मत' के प्रवर्त्तक माना जाता है । वह मत 'हरिदासी संप्रदाय' अथवा 'सखी संप्रदाय' कहलाता है । इस संप्रदाय में भी श्री राधा जी को 'इष्ट' माना गया है, जैसा कि स्वामी जी की उपासना-पद्धति के व्याख्याता श्री भगवतरसिक का कथन है,—

'जुगल मंत्र कौ जाप, वेद रसिकन की वानी । श्री वृंदावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी ।।'

इस प्रकार हित जी और स्वामी जी के संप्रदायों की उपासना-विधि एवं राधा जी संबंधी उनकी मान्यता में इतनी समानता है कि उनके अंतर को समझना बड़ा कठिन है । परंतु उनमें कुछ अंतर तो है ही, तभी तो इन दोनों संप्रदायों की पृथक्–पृथक् परंपराएँ प्रचलित हुई हैं ।

श्री रूपसखी नामक एक भक्त–कवि ने राधा जी को प्रमुखता देने वाले ब्रज के तीन संप्रदायों की उपासना पर प्रकाश डालते हुए कहा है,—'गो० रूप-सनातन जी द्वारा प्रचारित चैतन्य संप्रदाय में 'ब्रज रस' को महत्व दिया गया है, और हित हरिवंश जी के राधावल्लभ संप्रदाय में 'वृंदावन रस' को मान्यता प्राप्त हुई है; परंतु स्वामी हरिदास जी के सखी संप्रदाय में 'नित्यविहार रस' की उपासना की जाती है[4] । नित्य विहार की मान्यता राधवल्लभ संप्रदाय में भी है, जिसे रूपसखी जी ने वृंदावन रस कहा है । इस प्रकार हित जी के तथाकथित 'वृंदावन रस' और स्वामी जी के 'नित्य विहार रस' के सूक्ष्म अंतर को समझ लेने पर ही हरिदासी संप्रदाय की राधा संबंधी मान्यता को भली भांति समझा जा सकता है ।

---

(१) रहौ कोऊ काहू मर्नाहि दिये ।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौं तृन छिये ।। —श्री स्फुट वाणी, सं० २०

(२) श्री राधा सुधानिधि, श्लोक सं० ८३

(३) श्री हित हरिवंश गोस्वामी, पृष्ठ २१५–२१६

(४) रूप-सनातन ब्रज कह्यौ, वृंदावन हरिवंश । नित्यविहार उपास में, श्री हरिदास प्रशंस ।।

'नित्यविहार रस' की उपासना—पुराणों के अनुसार परब्रह्म कृष्ण ने अपनी प्रकृति राधा के साथ ब्रज में अवतार लेकर विविध लीलाएँ की हैं। उनमें नंद—यशोदा, सखी—सखा आदि प्रियजनों तथा कंसादि दुष्ट जनों के साथ उनकी विविध लीलाओं सहित राधा-कृष्ण की संयोग-वियोगात्मक केलि—क्रीड़ाएँ भी हैं, और मथुरा—द्वारका की चिर वियोगात्मक लीलाएँ भी हैं। स्वामी जी के 'नित्यविहार' की मान्यता में मथुरा—द्वारका की लीलाओं के साथ ही साथ ब्रज की लीलाओं को भी स्थान प्राप्त नहीं है। ब्रज की केलि-क्रीड़ाओं में संयोग के साथ वियोग भी है, चाहें वह क्षणिक ही है। किंतु 'नित्यविहार' की चिरंतन लीलाओं में पल भर के लिए भी प्रिया-प्रियतम की पृथकता अस्वीकृत है। स्वामी जी ब्रज-लीलाओं के प्रति इतने उदासीन थे कि उन्होंने अपनी रचनाओं में राधा जी को 'वृषभानुनंदिनी' तक नहीं कहा; बल्कि सर्वत्र उन्हें श्यामा, प्यारी, लाड़िली आदि नामों से ही संबोधित किया है। उनके एक पद में उल्लिखित 'हमारी दान मार्‌यौ इनि[1]' की भावना में कुछ विद्वानों के मतानुसार ब्रजलीला का समावेश है; किंतु उसमें भी वस्तुतः 'निकुंज लीला' का कथन है।

स्वामी जी के 'नित्यविहार रस' का आधार चिरंतन केलि-क्रीड़ाओं में तल्लीन 'श्यामा-कुंजविहारी' की युगल जोड़ी है। यह घन-दामिनि के समान एक-दूसरे से अभिन्न, सहज, स्वाभाविक, सदा संग रहने वाली और क्षणिक वियोग से भी सर्वथा रहित है। यह जोड़ी चिरस्थायी है, जो पहिले भी थी, अब भी है तथा आगे भी इसी प्रकार अचल और अडिग रहेगी[2]। यह जोड़ी नित्य-विहार रस की तल्लीनता में एक-दूसरे के तन, मन और प्राण में समा जाने के लिए सदैव लालायित रहती है[3]।

श्रीश्यामा-कुंजविहारी का यह 'नित्यविहार' समस्त देवताओं के लिए दुर्लभ है और उसके लिए लक्ष्मीपति विष्णु सदा ललचाते हैं। यहाँ तक कि ब्रज में केलि-क्रीड़ा करते हुए राधा-कृष्ण भी उसके बिना व्याकुल रहते हैं[4]। नित्यविहार के लिए देवताओं की दुर्लभता और विष्णु भगवान् का ललचाना तो समझ में आता है, किंतु राधा-कृष्ण का भी उसके लिए व्याकुल होना बड़ी विलक्षण बात है! यही विलक्षणता स्वामी हरिदास के नित्यविहार रस की उपासना है। इसमें 'श्रीश्यामा-कुंजविहारी' के रूप में श्री राधा जी के अलौकिक महत्व की जो मान्यता है, वह ब्रज के किसी भी धर्म-संप्रदाय में नहीं मिलती है।

---

(१) यह पद 'केलिमाल', सं० ६२ का है।

(२) १. जोरी विचित्र बनाई री माई, काहू मन के हरन कों।
ज्यों घन-दामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाँहिन और बरन कों।।

२. (माई री) सहज जोरी प्रगट भई जु, रंग की गौर-स्याम घन-दामिनि जैसें।
प्रथम हुती, अब हूँ, आगें हूँ रहि है, न टरि हैं तैसें।।
—केलिमाल, पद सं. ४ और ५

(३) ऐसी जिय होत, जो जीय सों जिय मिलै,
तन सों तन समाइ ल्यों, तौ देखों कहा हो प्यारी।। —केलिमाल, पद सं. ३५

(४) याहीं तें दुर्लभता सबकों, लछिमीपति ललचात।
जद्यपि राधा-कृष्ण बसत ब्रज, बिनु विहार बिललात।। —श्री विहारिनदास की वाणी

२. ब्रज में कृष्ण-भक्तों का आगमन

ब्रज की गौरव-वृद्धि—वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक संप्रदायों का उदय और प्रसार होने से ब्रज की गौरव-वृद्धि—वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक संप्रदायों का उदय और प्रसार होने से ब्रज के पुनीत स्थलों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था । वे श्री कृष्ण के जन्म और उनकी विविध लीलाओं के पुनीत स्थलों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था । वे समस्त स्थल ब्रजमंडल में स्थित थे, अतः उनके कारण इस काल में ब्रज की अभूतपूर्व गौरव-वृद्धि हुई थी । पुराणों में जहाँ श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का कथन हुआ है, वहाँ ब्रजमंडल और इसके लीला-स्थलों का भी गुण-गान किया गया है । पुराणों में कहा गया है कि मथुरामंडल अर्थात् ब्रजमंडल साधारण भू-भाग नहीं है, वरन् यह महत्तम गोलोक धाम से अवतरित पावन दिव्य प्रदेश है । इसके प्रत्येक स्थल की अलौकिक महिमा है । इस प्रकार ब्रज की गौरव-वृद्धि करने में पुराणों का अनुपम योग रहा है ।

ब्रज के अवतरण की अनुश्रुति—पुराणादि धार्मिक ग्रंथों में ऐसी कई अनुश्रुतियाँ मिलती हैं, जिनमें दिव्य गोलोक धाम से ब्रज के अवतरण की बात कही गई है । 'गर्ग संहिता' का उल्लेख है, जब देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् श्रीकृष्ण भू-भार हटाने के लिए गोलोक से पृथ्वी पर अवतार लेने को प्रस्तुत हुए, तब राधा जी उनके वियोग में व्यथित होने लगीं । इस पर श्रीकृष्ण ने उनसे भी अवतार लेने को कहा । राधा जी ने कहा कि पृथ्वी पर न तो वृंदावन है, न यमुना है, न गोवर्धन है; फिर वहाँ मेरे मन को किस प्रकार सुख मिलेगा[1]? तब श्रीकृष्ण ने राधा जी के सुख के लिए निज गोलोक धाम से वृंदावन, गोवर्धन और यमुना सहित ८४ कोस की ब्रजभूमि पृथ्वी पर प्रेषित की थी[2]। यही बात फिर वृंदावन खंड में भी कही गई है[3] । इस प्रकार ब्रज की समस्त भूमि गोलोक से अवतरित दिव्य भूमि मानी जाती है । इसके साथ ही सुरम्य वृंदावन, गिरिराज गोवर्धन तथा पुण्यसलिला यमुना का भी अलौकिक महत्व माना गया है ।

वृंदावन का महत्त्व और उसका प्राचीन रूप—ब्रज के समस्त लीला-स्थलों में वृंदावन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है । इसे श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी केलि-क्रीड़ा (रासलीला) का प्रधान केन्द्र और रासेश्वरी राधा जी का पुनीत क्रीड़ा-स्थल माना जाता है । 'पद्मपुराण' (११-१७) के अनुसार यह ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह बनों में सातवाँ वन है । प्राचीन काल में यह एक विशाल सघन वन था, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक वन-वैभव के लिए विख्यात था । स्कंद पुराण (मथुरा खंड) के अनुसार इसमें तपस्वी मुनियों के अनेक आश्रम थे, और इसमें बहुसंख्यक जंगली पशु विचरण किया करते थे[4] । श्रीमद् भागवत (दशम स्कंध) से ज्ञात होता है कि वृंदावन में ही गिरि गोवर्धन है, और उसके निकट यमुना प्रवाहित होती है ।

---

(१) यत्र वृंदावनं नास्ति यत्र नो यमुना नदी ।
यत्र गोवर्धनो नास्ति तत्र मे न मनः सुखम् ।। (गर्ग संहिता, गोलोक खंड, ३—३२)

(२) वेद नाग क्रोश भूमि स्वधाम्नः श्रीहरिः स्वम् ।
गोवर्धनं च यमुना प्रेषयामास भू परि ।। (गर्ग संहिता, गोलोक खंड, ३—३३)

(३) गर्ग संहिता, वृंदावन खंड, अध्याय २, श्लोक ७

(४) मथुरा माहात्म्य (रूप गोस्वामी कृत), पृष्ठ ७४

भागवत का उल्लेख है, जब कंस के अत्याचारों के कारण नंदादि गोपों को गोकुल में रहना असंभव हो गया, तब वे अपनी गायों के साथ वृंदावन के सघन और सुरक्षित वन में जा कर रहे थे। कंस का विशेष दूत अक्रूर जब कृष्ण-बलराम को मथुरा ले जाने के लिए वृंदावन गया था, तब उसका रथ मथुरा से प्रातःकाल चला था और वह वृंदावन की गोप-बस्ती में सायंकाल पहुँचा था[१]। इससे ज्ञात होता है कि कृष्णकालीन वृंदावन अत्यंत विस्तीर्ण था और वह मथुरा नगर से काफ़ी दूर था। इसका समर्थन 'गर्गसंहिता' से होता है, जिसमें लिखा गया है कि उस काल का वृंदावन २४ कोस तक विस्तृत था। उसमें गिरिराज गोवर्धन के साथ ही साथ वृहत्सानु (बरसाना) और नंदीश्वर (नंदगाँव) की पहाड़ियाँ भी थीं[२]। इस प्रकार प्राचीन वृंदावन के सुविशाल और महत्वपूर्ण स्वरूप का बोध होता है। वर्तमान वृंदावन उसी वृहत् वृंदावन का एक सीमित भाग और लघु रूप है।

ब्रज के लीला-स्थलों की दुर्दशा—जब मथुरामंडल में जैन और बौद्ध धर्मों का बोलबाला था, तब कृष्णोपासकों की संख्या कम होने के कारण श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन स्थलों की खोज-खबर लेने वाले लोग नाम मात्र को ही रह गये थे। उस काल में वे पुनीत स्थल प्रायः अरक्षित और उपेक्षित पड़े रहे थे। जब हूणों के और फिर मुसलमानों के आक्रमण हुए, तब तो वे लीला-स्थल नष्टप्राय ही हो गये थे। मथुरा नगर अपना परंपरागत धार्मिक महत्व खो बैठा था और ब्रज का सुविशाल रमणीक वृंदावन बीहड़ जंगल बन गया था। उस जंगल में कुछ एकांतवासी तपस्वियों के आश्रम थे, और कहीं-कहीं पर कतिपय ग्वालाओं की छोटी बस्तियाँ थीं; किंतु उसका अधिकांश भाग निर्जन और अज्ञात था।

ब्रज का आकर्षण और कठिनाई—जिस काल में दिल्ली के सुलतानों की मजहबी तानाशाही से ब्रजमंडल पर संकट के बादल छाये हुए थे, उसी काल में भारत का दक्षिणी भाग वैष्णव धर्माचार्यों के धार्मिक आंदोलन के आलोक से जगमगा रहा था। उसके दिव्य प्रकाश में वैष्णव धर्म के अंतर्गत जो भक्ति संप्रदाय स्थापित हुए थे, उनका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। वे धार्मिक संप्रदाय वेदानुकूल होते हुए भी अपनी भक्ति-साधना के लिए अधिकतर पुराणों पर आश्रित थे। उनके अनुयायियों में वैष्णव पुराणों का, विशेषतया श्रीमद् भागवत का प्रवचन-पारायण होता था, और पौराणिक कथाओं का रसास्वादन किया जाता था। कृष्णोपासक संप्रदायों के अनुयायी गण श्रीमद् भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों की चर्चा में विशेष रुचि लेते थे। उनका ब्रज-वृंदावन की ओर इतना आकर्षण रहता था कि उनमें से जिन महानुभावों को जब सुयोग मिलता, तब ही वे वहाँ की यात्रा करते; और यदि संभव होता, तो वहाँ निवास करने के लिए तैयार हो जाते थे।

पुराणों में श्रीकृष्ण के जिन लीला-स्थलों का उल्लेख हुआ है, वे उस काल के निर्जन और बीहड़ वृंदावन में कहाँ स्थित थे, इसका ठीक-ठीक परिचय कुछ वनवासी तपस्वियों के अतिरिक्त थोड़े लोगों को ही था। उस समय वे प्राचीन स्थल अरक्षित अवस्था में पड़े हुए थे। उनमें जंगली लता-गुल्म और झाड़-झंकाड़ उग आये थे। वहाँ पहुँचने के मार्ग गोखरू, थूहड़ एवं नागफनी के काँटों से आच्छादित थे और उनमें हिंसक पशुओं तथा चोर-डाकुओं का भी भय था। जो कृष्णोपासक भक्त

---

(१) श्रीमद् भागवत, दशम स्कंध

(२) गर्ग संहिता, वृंदावन खंड, अध्याय १, श्लोक १५, १६, १७

जन मार्ग की कठिनाइयों को सहन कर श्रीकृष्ण के लीला-स्थलों के दर्शन और उनकी यात्रा करने के लिए ब्रज में आते थे, वे प्राय: मथुरा से गोवर्धन जा कर वहाँ गिरिराज की परिक्रमा करके ही वापिस चले जाते थे। ब्रज के अन्य लीला-स्थलों के दर्शन करने का सौभाग्य विरलों को ही प्राप्त होता था।

ऐसा ज्ञात होता है, वर्तमान वृंदावन के बसने से पूर्व वर्तमान गोवर्धन को ही प्राचीन वृंदावन का महत्व प्राप्त था। श्रीकृष्ण-काल के स्मृति-चिह्नों में यमुना नदी और गिरिराज ही शेष रह गये थे; अतः कृष्णोपासक भक्तों के लिए मथुरा में यमुना का स्नान और गोवर्धन में गिरिराज की परिक्रमा करना आवश्यक माना जाता था। ब्रज में आने वाले भक्त जन उस काल के मुसलमान हाकिमों की मजहवी तानाशाही के कारण मथुरा में नहीं ठहरते थे, और उनकी नजर बचा कर गोवर्धन चले जाते थे। वहाँ पर दर्शन-परिक्रमा करने के उपरांत या तो वे कुछ समय तक निवास करते थे, अथवा अपने स्थानों को वापिस लौट जाते थे। ब्रज के बीहड़ वनों में कंटकाकीर्ण मार्ग-स्थित अन्य लीला-स्थलों तक पहुँचना सब के लिए संभव नहीं था।

कतिपय आगत महानुभाव—कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों का प्रचलन होने से वैष्णव धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों का श्रीकृष्ण के लीला-धाम ब्रज के प्रति अतीव आकर्षण हो गया था। वे लोग ब्रज की यात्रा करने और वहाँ के लीला-स्थलों के दर्शन से लाभान्वित होने के लिए स्वभावतः ही उत्सुक होने लगे; किंतु उस काल में उनकी मनोभिलाषा की पूर्ति होना बड़ा कठिन था। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करना आज-कल की तरह सरल और सुगम नहीं था। फिर उस काल में समस्त ब्रज प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मजहवी तानाशाही से आतंकित था; अतः धार्मिक कार्य के लिए यहाँ आना तो और भी संकटपूर्ण था। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी उस काल में जिन भक्तजनों ने ब्रज में आकर निवास किया था; उनके साहस और उत्साह की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम ही होगी। यहाँ पर उस काल में आने वाले कतिपय प्रमुख महानुभावों का उल्लेख किया जाता है।

श्री निंबार्काचार्य—कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों में श्री निंबार्काचार्य पहिले महानुभाव थे, जिन्होंने अपने संप्रदाय में राधा-कृष्ण की उपासना को मान्यता दी थी और उनके लीला-धाम ब्रज में निवास करने का आयोजन किया था। वे अपने सुदूर स्थान से चल कर मार्ग के कष्टों और असुविधाओं को सहन करते हुए मथुरा आये और यहाँ के ध्रुव क्षेत्र में उन्होंने निवास किया। फिर वे यमुना में स्नान कर गोवर्धन चले गये, जहाँ उन्होंने गिरिराज की परिक्रमा की। गोवर्धन की पावन भूमि में उनका मन रम गया था, अतः वे वहाँ पर स्थायी रूप से निवास करने लगे। उसी स्थान पर उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की थी, और अपने संप्रदाय को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। गोवर्धन के जिस स्थल पर उन्होंने निवास किया था, वह उनके कारण निंवग्राम के नाम से प्रसिद्ध हो गया। वर्तमान काल में वह नीमगांव कहलाता है, जो गोवर्धन के निकट एक छोटा सा ग्राम है। वहाँ पर निंवार्क संप्रदाय का एक मंदिर बना हुआ है।

श्री निंबार्काचार्य किस काल में ब्रज में आये थे, इसके संबंध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा जान पड़ता है, वे १३वीं शताब्दी से पहिले आये थे। उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य श्रीनिवासाचार्य भी ब्रज में रहे थे। उनका निवास-स्थान गोवर्धन का निकटवर्ती राधाकुंड कहा जाता है। श्रीनिवासाचार्य जी के पश्चात् निंबार्क संप्रदाय के कौन-कौन से आचार्य ब्रज में रहे थे,

इसका प्रामाणिक वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। कालांतर में सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्रीभट्ट और हरिव्यास देव ने मथुरा के ध्रुव क्षेत्र पर निवास किया था। उन तीनों आचार्यों की समाधियाँ वहाँ के नारद टीला पर वतलाई जाती हैं।

मथुरा में उनके संप्रदाय का केन्द्र आरंभ से ही ध्रुव क्षेत्र रहा, जहाँ पर उनकी शिष्य-परंपरा के कई आचार्यों ने समय-समय पर निवास कर उत्तरी भारत में निंवार्क संप्रदाय का प्रचार किया था। गोवर्धन और मथुरा में इस संप्रदाय के आरंभिक केन्द्र होने से यह सिद्ध होता है कि व्रज में इस संप्रदाय का उस समय प्रचार हुआ, जब वर्तमान वृंदावन की बस्ती नहीं बसी थी। वृंदावन के बस जाने पर वहाँ भी इस संप्रदाय के मंदिर, देवालय और अखाड़े बन गये थे।

श्री निंवार्काचार्य के व्रज में निवास करने से यहाँ पर राधा-कृष्णोपासना का वातावरण बनने लगा। उससे प्रेरणा प्राप्त कर विविध स्थानों से कृष्णोपासक भक्त जन व्रज में आने लगे थे। ऐसे भक्तजनों में लीलाशुक विल्वमंगल, रसिकराज जयदेव, निंवार्क संप्रदाय के आचार्य सर्वश्री गांगल भट्ट, केशव काश्मीरी भट्ट और श्रीभट्ट तथा माध्व संप्रदायी यतिराज माधवेन्द्र पुरी, उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी और पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उन सब का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

लीलाशुक बिल्वमंगल—विल्वमंगल जी का कोई प्रामाणिक वृत्तांत नही मिलता है। उनके संबंध में जो अनुश्रुतियाँ और दंत कथाएँ प्रचलित हे, उनके आधार पर श्री कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-चरितामृत' में और नाभाजी ने 'भक्तमाल' में उनका संक्षिप्त परिचय दिया है। फिर प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में उनके संबंध में विस्तारपूर्वक लिखा है। इन्हीं सूत्रों के आधार पर विल्वमंगल जी का जीवन-वृत्तांत ज्ञात होता हे।

उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और पंढरपुर के निकट कृष्ण-वेष्णा नदी के पश्चिम तटवर्ती किसी ग्राम के निवासी थे। उन्हें काशी अथवा उत्कल प्रवेश का निवासी भी कहा जाता है; किंतु ये कथन ठीक नहीं मालूम होते हैं। अपने आरंभिक जीवन में वे चिंतामणि नामक एक रूपवती देवदासी पर इतने मोहित थे कि जब तक उसे एक वार देख नहीं लेते थे, तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ता था। कहते हैं, अपने पिता के श्राद्ध के कारण एक बार दिन में वे उसके पास नही जा सके थे, अतः रात में अचानक उसके घर पहुँच गये। चिंतामणि को उस समय उनका इस प्रकार आना रुचिकर नहीं हुआ। उसने उनको फटकारते हुए कहा,—"यदि तुम्हें भगवान् के प्रति भी ऐसी ही आसक्ति होती, तो तुम्हारा कल्याण हो जाता!" उसकी यह बात उन्हें लग गई, और वे तभी से भक्ति-मार्ग के पथिक बन गये। वे प्रातःकाल होते ही अपने ग्राम के निकट रहने वाले सोम गिरि नामक संन्यासी की शरण में गये। उनसे दीक्षा लेकर वे भगवद्-भक्ति और श्रीकृष्ण का गुण-गान करने लगे। लीला-गान विषयक उनकी मधुर रचनाओं के कारण उन्हें 'लीलाशुक' कहा जाने लगा और वे इसी नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए।

कुछ समय पश्चात् वे अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण के लीला-धाम मथुरामंडल की ओर चल दिये। मार्ग में उन्होंने एक रूपवती कुलवधू को देखा। यद्यपि वे संसार से विरक्त होकर भक्तिमार्ग के पथिक बन चुके थे, तथापि पूर्व संस्कार-वश उनके हृदय में वासना के कुछ अंकुर तब भी विद्यमान थे। उनके कारण वे उस रूपवती रमणी पर आसक्त हो गये और उसका पीछा करते हुए उसके घर तक पहुँच गये! वहाँ पर उनको अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अपने पतन का कारण

नेत्रों को समझ कर उन्हें सुई से फोड़ डाला ! इस प्रकार अंधे होकर वे पुनः अपनी यात्रा को चल दिये । नेत्रविहीन होने के कारण वे अत्यंत दुखी होकर मार्ग में भटकने लगे । कहते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकड़कर उन्हें मार्ग बतलाया था ! फिर वे किसी प्रकार ब्रज में पहुँच गये और वहाँ पर दिन-रात श्रीकृष्ण के लीला-रस में निमग्न रहने लगे । उनका अंत काल ब्रज में बीता था और उनका पार्थिव शरीर भी वहाँ की पावन रज में ही मिला था ।

वल्लभ संप्रदाय के एक ग्रंथ 'संप्रदाय प्रदीप' (रचना काल सं० १६१०) में भी विल्वमंगल की कथा आती है । उसमें लिखा गया है कि वे विष्णुस्वामी संप्रदाय के प्राचीन आचार्य थे । उन्होंने स्वप्न में श्री वल्लभाचार्य जी से कहा था कि वे विष्णुस्वामी की नष्टप्राय परंपरा को पुनर्जीवन प्रदान करें । 'संप्रदाय प्रदीप' में उल्लिखित विल्वमंगल के समय की संगति इन विल्वमंगल के समय से नहीं होती है । इनकी उपलब्ध रचनाओं में विष्णुस्वामी संप्रदाय से उनका कोई संबंध भी ज्ञात नहीं होता है; अतः 'संप्रदाय प्रदीप' के विल्वमंगल कोई अन्य महानुभाव हो सकते हैं ।

वे किस धर्म अथवा संप्रदाय के अनुयायी थे, इसके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है । उनकी रचनाओं से उनका कृष्णोपासक होना सिद्ध होता है, अतः वे वैष्णव समझे जा सकते हैं । किंतु उन्होंने कृष्ण-कर्णामृत (द्वितीय शतक, श्लोक सं० २४) में स्पष्ट रूप से अपने को शैव बतलाते हुए गोपीवल्लभ कृष्ण के प्रति भी अपनी आसक्ति व्यक्त की है; जैसा कि गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है । वे किस काल में हुए, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है । उनका समय १०वीं से १५वीं शताब्दी के बीच का माना गया है । श्री शशिभूषण दासगुप्त का मत है कि श्रीधर दास के 'सदुक्ति-कर्णामृत' (१।५८।५) में 'कृष्ण-कर्णामृत' का सं० १०६ वाला पद उद्धृत है । इससे कृष्ण-कर्णामृत का रचना-काल कम से कम १२वीं सदी मान लेने में कोई रुकावट नहीं पड़ती है । इस प्रकार इसके रचयिता विल्वमंगल को 'गीतगोविंद'-कार जयदेव के समकालीन अथवा उनसे कुछ पूर्व माना जा सकता है । वे दाक्षिणात्य थे, यह निर्विवाद है ।

वे भक्तहृदय होने के साथ ही साथ रससिद्ध कवि भी थे । उनकी भक्तिपूर्ण संस्कृत रचना 'कृष्ण-कर्णामृत' अत्यंत प्रसिद्ध है । उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेम में मग्न होकर अनुनय-विनय, हास्य-रोदन, हर्ष-उन्माद और नृत्य-प्रलाप करते हुए जो संयोग-वियोगात्मक गान रचे थे, वही 'कृष्ण-कर्णामृत' में संकलित हुए हैं । इनमें एक प्रेमी हृदय की आकुल पुकार एवं विह्वलतापूर्ण आर्त्तनाद है; अतः इनमें संयोग की अपेक्षा वियोग रस की अधिक निष्पत्ति हुई है । यह रचना कृष्ण-भक्तों को अत्यंत प्रिय रही है ।

विल्वमंगल के आरंभिक जीवन-वृत्तांत के अनुसार उनका विलासी होना और चिंतामणि नामक देवदासी से प्रताड़ित होने पर उनका भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख हो जाना; फिर श्रीकृष्ण द्वारा उनका उद्धार किया जाना आदि बातें कुछ परिवर्तन के साथ हिंदी के दो सर्वमान्य भक्त-कवि गो० तुलसीदास और महात्मा सूरदास के जीवन-वृत्तांतों में भी मिलती है । वस्तुतः ये दंत-कथाएँ मूल रूप में विल्वमंगल जी से ही संबंधित हैं; जैसा कि नाभा जी के कथन से स्पष्ट होता है[1] ।

---

(१) कर्णामृत सु कवित्त, जुक्ति अनुछिष्ट उचारी । रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी ॥
हरि पकरायौ हाथ, बहुरि तहँ लियौ छुड़ाई । 'कहा भयौ कर छूटैं, बदौं जो हिय तें जाई'॥
चिंतामणि सँग पायकैं, ब्रजवधू-केलि बरनी अनूप ।
कृष्ण-कृपा-कोपर प्रगट, विल्वमंगल मंगल-स्वरूप ॥ (भक्तमाल, छप्पय सं० ४६)

कविराज जयदेव—भक्त-कवियों के शिरोमणि रसिकराज जयदेव जी अपनी अमर कृति 'गीतगोविंद' के कारण विख्यात हैं, किंतु उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। नाभा जी ने उनकी रचना 'गीतगोविंद' और 'अष्टपदी' का उल्लेख करते हुए उन्हें शृंगार-भक्ति रस के ऐसे कवि-चक्रवर्ती कहा है, जिनके सरस काव्य को सुनने के लिए स्वयं भगवान् राधारमण जी प्रसन्न होकर अवश्य दर्शन देते हैं[1]। प्रियादास जी ने उनका विस्तृत वृत्तांत लिखा है, किंतु वह अलौकिकतापूर्ण और किंवदंतियों पर आधारित है[2]।

जयदेव जी के संबंध में अब तक जो अनुसंधान हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म बंगाल राज्यांतर्गत वीरभूमि नामक स्थान के निकटवर्ती किंदुबिल्व ग्राम में सं० ११६५ के लगभग हुआ था। उनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम रामादेवी अथवा राधादेवी था। जब वे छोटी आयु के थे, तभी उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। उसके उपरांत वे जगन्नाथपुरी चले गये थे। उनका आरंभिक जीवन भगवान् जगन्नाथ जी के भक्तिपूर्ण गीतों का गायन करते हुए बीता था। श्री जगन्नाथ जी की स्तुति विषयक उनकी 'अष्टपदी' संभवतः वहाँ पर ही रची गई थी। उस काल में बंगाल का राजा लक्ष्मणसेन (सं० ११७६–सं० १२३५) संस्कृत काव्य का बड़ा प्रेमी और सुकवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में गोवर्धनाचार्य, उमापतिधर, शरण और महाकवि धोयी जैसे कवि-पुंगव विद्यमान थे। जयदेव जी जन्मजात कवि और गायक थे। अपने सरस गेय काव्य के कारण वे राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि हो गये थे। उन्होंने वहाँ बड़ी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

वे गृहस्थ थे, विरक्त नहीं। उनकी दो पत्नियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से एक का नाम पद्मावती जी और दूसरी का रोहिणी जी था। उनके पुत्र का नाम कृष्णदेव था, जिसका जन्म सं० १२१५ के लगभग हुआ था। उन्होंने समस्त भारत की यात्रा की थी और वे व्रज में भी आये थे। ऐसा कहा जाता है, उन्होंने मथुरा के निकटवर्ती रावल ग्राम में कुछ काल तक निवास किया था। उनके सेव्य ठाकुर श्री राधामाधव जी थे। वह देव-प्रतिमा उन्हें रावल में ही प्राप्त हुई थी। उनका देहांत संभवतः बंगाल के कंदुलीग्राम में हुआ था। उसी स्थान पर उनकी समाधि बनी हुई है, जहाँ मकर संक्रांति के अवसर पर प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है। पौष शु. ७ को उसी स्थान पर उनकी जयंती का भी उत्सव मनाया जाता है। इन उत्सवों में हज़ारों वैष्णव सम्मिलित होते हैं। उस समय उनकी समाधि की परिक्रमा करते हुए सामूहिक संकीर्तन किया जाता है।

जयदेव जी की प्रसिद्ध रचना 'गीतगोविंद' संस्कृत भाषा का एक गेय प्रबंध काव्य है, जिसमें १२ सर्ग हैं। अपनी कोमल-कांत पदावली, सरस रचना-शैली और संगीतात्मकता के कारण आरंभ से ही इसकी बड़ी प्रसिद्धि रही है। इसके अनुकरण पर अनेक कवियों ने गेय काव्य रचे, किंतु उन्हें जयदेव के समान सफलता नहीं मिल सकी। वास्तव में 'गीतगोविंद' अपने विषय की अनुपम रचना है। इसने जयदेव जी को अमर कर दिया है। इसमें राधा-कृष्ण की जिन मधुर लीलाओं का भक्तिपूर्ण कथन किया गया है; उन्होंने जयदेव जी को साहित्य के माध्यम से धर्म में प्रतिष्ठित किया है। भारतीय भाषाओं के परवर्ती भक्त-कवियों को उनसे प्रचुर प्रेरणा मिली है।

---

(१) **भक्तमाल,** छप्पय सं० १७०

(२) **भक्तिरस बोधिनी,** कवित्त सं० १४४–१६३

जयदेव जी महाकवि होने के साथ ही परम भक्त भी थे। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी। उन्होंने 'गीतगोविंद' के आरंभ में ही अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा है,—'जिसके सरस मन में विलास कला द्वारा हरि-स्मरण का कुतूहल हो, उसी को जयदेव की कोमल-कांत पदावली संयुक्त मधुर वाणी को सुनना चाहिए[1]।' इस प्रकार की घोषणा के कारण सर्वश्री कीथ, मानियर विलियम्स और रामकुमार वर्मा जैसे विद्वान समालोचकों ने जयदेव जी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता पर शंका की है। उन्होंने लिखा है,—'गीतगोविंद में आध्यात्मिकता का संकेत भले ही मान लिया जावे; किंतु इसमें कामसूत्र के संकेतों के आधार पर राधा-कृष्ण का परिरंभन है, विलास है, क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में ही रहस्यवाद का संकेत आलोचकों द्वारा माना गया है[2]।'

वर्तमान आलोचकों के मत के विरुद्ध जयदेव जी को आरंभ से ही एक भक्त-कवि और उनकी रचना 'गीतगोविंद' को एक भक्तिपूर्ण काव्य माना गया है। राधा-कृष्णोपासक भक्त जनों ने तो उनके महत्व को स्वीकार किया ही है, कबीर जैसे स्पष्टवादी निर्गुण संत ने भी महात्मा नामदेव के साथ जयदेव जी को भी शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, शंकर जैसे परम भागवतों की कोटि का भक्त माना है[3]। श्री चैतन्य महाप्रभु 'गीतगोविंद' को सुन कर भक्ति भाव में आत्म विभोर हो जाया करते थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को उसका निरंतर गायन और श्रवण करने का आदेश दिया था। श्री जगन्नाथ जी के मंदिर सहित अगणित देव-स्थानों में ठाकुर जी के समक्ष सदा से ही इसके सरस पदों का गायन होता रहा है। इन सब बातों के कारण जयदेव जी को भक्त-कवि और उनकी रचना को भक्ति-काव्य मानने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए।

श्री गांगल भट्टाचार्य—इस अध्याय की काल-सीमा में ब्रज में आने वाले भक्त जनों में निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री गांगल भट्ट और उनकी शिष्य-परंपरा के आचार्यों के नाम उल्लेखनीय है। श्री गांगल भट्ट जी को निंबार्क संप्रदाय का ३२वाँ आचार्य माना जाता है और उनके जन्मोत्सव की तिथि चैत्र कृ० २ कही जाती है[4]। वे दिग्विजयी विद्वान श्री केशव काश्मीरी भट्ट के गुरु थे, इसी से उनके सांप्रदायिक महत्व का अनुमान किया जा सकता है। श्री गांगल भट्ट जी किस काल में विद्यमान थे, यह बड़ी उलझी हुई पहेली है। निंबार्क संप्रदायी मान्यता के अनुसार श्री केशव काश्मीरी जी अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल (सं. १३५३ से सं. १३७३) में विद्यमान थे[5]। इस प्रकार उनके गुरु श्री गांगल भट्ट जी का समय उनसे कुछ पहिले अर्थात् १४वीं शताब्दी का आरंभिक काल समझा जाता है; किंतु इसकी संगति अन्य प्रमाणों से नहीं होती है।

---

(१) यदि हरि स्मरणे सरसं मनो, यदि विलास कला सु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकांत पदावलीं, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तृ० सं०), पृ० ५०२

(३) १. माते सुकदेव, ऊधौ, अंक्रूर। हनुमत माते लै लंगूर॥
सिव माते हरि–चरनन सेव। कलि माते नामा–जयदेव॥ (कबीर बीजक)
२. जयदेव, नामा, विप्प सुदामा, तिनकौ कृपा भई अपार॥ (आदि ग्रंथ)

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १२

(५) वही , पृष्ठ १३

वृंदावन के भक्त-कवि श्री हरिराम जी व्यास ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कतिपय संतों एवं भक्तों का नामोल्लेख किया है, जिससे उसके अस्तित्व-काल का अनुमान किया जा सकता है। व्यास जी अपने एक पद में कुछ विशिष्ट भक्तों से आत्मीयता का नाता जोड़ते हुए कहते हैं,—"मैं रूप-सनातन का सेवक हूँ और गांगल भट्ट की मुझ पर कृपा रही है। रसिक हरिदास और हरिवंश ने भी मुझे अपने से पृथक् नहीं किया है, अर्थात् अपने साथ रखा है[1]।" इस उल्लेख के अनुसार यदि सर्वश्री रूप, सनातन, हरिदास और हित हरिवंश के साथ ही साथ गांगल भट्ट जी को व्यास जी का समकालीन न भी समझा जावे, तब भी उनसे कई शताब्दी पूर्व का मानना भी संभव नहीं है। काल-क्रम के अनुसार व्यास जी को निंबार्क संप्रदायी भक्ताचार्यों में से स्वयभूराम जी, उद्धव जी और परशुराम जी आदि का अथवा अधिक से अधिक उनके गुरु हरिव्यास देव जी का नामोल्लेख करना चाहिए था। किंतु वे उनके अतिरिक्त हरिव्यास देव जी के गुरु श्रीभट्ट जी और उनके गुरु केशव काश्मीरी भट्ट जी का भी नामोल्लेख न कर उनके गुरु गांगल भट्ट जी का उल्लेख वर्तमान काल की सी क्रिया में करते हैं। इससे ज्ञात होता है, वे 'गंगल भट्ट' निंबार्क संप्रदाय के आचार्य गांगल भट्ट जी से पृथक् कोई अन्य भक्त जन थे।

श्री गांगल भट्ट जी कहाँ के निवासी थे और वे किस काल में व्रज में आये थे, इसके संबंध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। नाभा जी ने उन्हें श्री भीष्म भट्ट जी का पुत्र तथा श्री वर्धमान भट्ट जी का भाई बतलाया है और उनकी भागवत-कथा की बड़ी प्रशंसा की है[2]। इसके अतिरिक्त उनका कोई जीवन-वृत्त प्राप्त नहीं होता है। उनकी नाम-छाप का एक होली का पद मिलता है[3]; किंतु यह उन्हीं की रचना है, अथवा उक्त नाम के किसी अन्य भक्त-कवि की—यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कदाचित यह उन गंगल भट्ट जी की रचना है, जिनका नामोल्लेख व्यास जी के पद में हुआ है।

श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य—उन्हें श्री गांगल भट्टाचार्य का शिष्य और निंबार्क संप्रदाय का ३३ वाँ आचार्य माना जाता है और उनके जन्मोत्सव की तिथि ज्येष्ठ शु० ४ कही जाती है[4]। यद्यपि वे तैलंग प्रदेशीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, तथापि कश्मीर में अधिक काल तक निवास

---

(१) इतनौ है सब कुटुम हमारौ।
रूप-सनातन कौ हौं सेवक, गंगल भट्ट सुढारौ॥
आसू कौ हरिदास रसिक, हरिवंश न मोहि बिसारौ।
—भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ सं० १६६, साधु-स्तुति का पद सं० २१

(२) भक्तमाल, छप्पय सं० ८२

(३) दोऊ राजत जुगल किसोर, अति आनंद भरे।
ब्रज जुवतिन के चित चोर, परम विचित्र खरे॥ × ×
मदन लजानौ देखिकैं, कमल नैन की केलि।
'गंगल' प्रभु आये घरें, सब सुख-सागर झेलि॥
—शृंगार रस सागर (प्रथम खंड), पृष्ठ सं० २४७ पद सं० १२७

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३-१४

करने के कारण काश्मीरी कहलाते थे। उनका जन्म निंबार्काचार्य जी के वंश में उन्हीं के जन्म-स्थान वैदूर्यपत्तन (आंध्र राज्य) में हुआ था[१]। वे दिग्विजयी विद्वान, तपस्वी महात्मा, परम भक्त और प्रकांड शास्त्र-वेत्ता थे। उन्होंने तीन बार समस्त भारत की यात्राएँ की थीं, जिनमें उन्होंने विधर्मियों को पराजित कर वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी। इनमें प्रस्थानत्रयी पर उनके विद्वतापूर्ण भाष्य और भागवत की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अपने उत्तर जीवन मे वे ब्रज में आकर बस गये थे। उनके जीवन-वृत्तांत की घटनाओं में मथुरा के मुसलमान क़ाज़ी से उनके संघर्ष की अनुश्रुति अत्यंत प्रसिद्ध है।

मथुरा के मुसलमान क़ाज़ी से संघर्ष—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस बोधिनी' टीका में इस घटना का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। उससे ज्ञात होता है, जब भट्ट जी कश्मीर मे थे, तब उन्होंने सुना कि मथुरा में विश्राम घाट के द्वार पर मुसलमानों ने एक ऐसा यंत्र लगा रखा है कि जो कोई हिंदू सहज स्वभाव से उधर होकर निकलता है, तो यंत्र के प्रभाव से उसकी सुन्नत (मुसलमानी संस्कार की एक क्रिया) हो जाती है। तब उसे पकड़ कर बलात् मुसलमान बना लिया जाता है। भट्ट जी अपने बहुसंख्यक शिष्यों के साथ वहाँ आये और उस स्थान पर जम कर बैठ गये। मुसलमान उनके वस्त्र हटा कर यह देखना चाहते थे कि उनकी सुन्नत हुई है या नहीं। इस पर उन्होंने क्रोध में भर कर सब को फटकार दिया। मुसलमानों ने मथुरा के सूबेदार से फरियाद की। सूबेदार ने भट्ट जी को पकड़ने के लिए जो सैनिक भेजे, वे पराजित होकर मारे गये और उन्हें यमुना में प्रवाहित कर दिया गया[२]। इस प्रकार किसी से हार न मानने वाला मुसलमान क़ाज़ी भी भट्ट जी की आध्यात्मिक शक्ति का परिचय प्राप्त कर भयभीत हो गया था[३]।

संघर्ष का काल—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस बोधिनी' टीका में यह नहीं बतलाया गया कि संघर्ष की वह घटना किस मुसलमान शासक के काल में हुई थी। निंबार्क संप्रदायी विद्वानों ने उक्त घटना को दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिजली के शासन काल (सं० १३५३–सं० १३७३) की, अथवा उससे भी पहिले (सं० १२१७) की बतलाते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की विद्यमानता भी उसी काल की सिद्ध करने का प्रयास किया है[४]।

---

(१) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५०६

(२) मथुरा मध्य मलेच्छ बाद करि बरबट जीते।
काजी अजित अनेक, देखि परिचै भयभीते ॥ (भक्तमाल, छप्पय सं० ७५)

(३) आपु काश्मीर सुनी, बसत विश्रांत तीर, तुरक समूह द्वार जंत्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोउ निकसत आय, ताकों पकरत जाय, ताके सुन्नत निहारियै ॥
संग लै हजार शिष्य, भरे भक्तिरंग महा, अरे वाही ठौर, बोले नीच, पट टारियै।
क्रोध भरि झारे, आय सूबा पै पुकारे, वे तो देखि सबै हारे, मारे जल बोरि डारियै ॥
—भक्तमाल टीका, कवित्त सं० ३३७

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३, श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३ और वृंदावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल', पृष्ठ ५०६–५१६

उस घटना की वास्तविकता की समीक्षा करने से पहिले हम उसके काल पर विचार करना चाहते हैं, क्यों कि इससे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल पर भी प्रकाश पड़ सकेगा। उक्त घटना का उल्लेख नाभा जी और प्रियादास जी की रचनाओं के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदायी वाङ्मय 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' और यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ दिग्विजय' (सं० १६२८) में भी हुआ है। जहाँ भक्तमाल और उसकी टीका में उस घटना का संबंध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया गया है, वहाँ 'वार्ता' में वह घटना श्री वल्लभाचार्य जी से संबंधित मानी गई है। हमने उसका विस्तृत वर्णन 'पुष्टि संप्रदाय' के प्रसंग में श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन-वृत्त के साथ आगामी पृष्ठों में किया है। यहाँ पर उसके काल-निर्णय के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि 'वार्ता' में उक्त घटना को सिकंदर लोदी के काल की बतलाया गया है[1]।

अब प्रश्न यह है कि निंबार्क संप्रदायी विद्वानों के मतानुसार वह घटना अलाद्दीन खिजली के काल (सं० १३५३-सं० १३७३) की है, अथवा पुष्टि संप्रदायी 'वार्ता' के अनुसार सिकंदर लोदी के काल (सं० १५४६-सं० १५७४) की ? इतिहास से सिद्ध है कि अलाउद्दीन खिलजी और सिकंदर लोदी दोनों ही क्रूर और हिंसक प्रकृति के शासक थे। खिलजी के शासन काल में मथुरा के असिकुंडा घाट के निकटवर्ती एक प्राचीन मंदिर को तोड़ कर उसके मसाले से वहाँ एक मसजिद बनाये जाने का उल्लेख तो मिलता है[2]; किंतु उस समय मथुरा में यांत्रिक संघर्ष जैसा कोई सामूहिक लोक-उत्पीड़न हुआ हो, इसका कथन किसी इतिहास ग्रंथ में नहीं हुआ है। ब्रज के निंबार्क संप्रदायी विद्वान श्री ब्रजवल्लभ शरण जी ने उक्त घटना को अलाउद्दीन खिलजी से भी पहिले सं० १२१७ की बतलाया है। उनका कथन है कि श्री केशव काश्मीरी जी के नाम का एक पट्टा सं० १२१७ का मिल रहा है, जिसे यवनों के तांत्रिक अत्याचार से हिंदू धर्म की रक्षा करने के निमित्त उन्हें सभी ब्रजवासियों ने अर्पित किया था और उसे समर्पित करने वालों में यवन भी थे[3]। वह तथाकथित 'पट्टा' अभी तक प्रकाश में नहीं आया है और न यही ज्ञात हो सका है कि उक्त कथन किस आधार पर किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से सं० १२१७ का काल सर्वथा अप्रामाणिक है; क्यों कि तब तक मुसलमानी राज्य ही क़ायम नहीं हुआ था, अतः मथुरा में यवन क़ाज़ी द्वारा लोक-उत्पीड़न किये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

जहाँ तक सिकंदर लोदी के शासन काल का संबंध है, वह मथुरामंडल के निवासियों के लिए बड़े कष्ट और संकट का रहा था। इसका उल्लेख अनेक ऐतिहासिक और सांप्रदायिक ग्रंथों में हुआ है। उस मज़हबी तानाशाह ने मथुरा के हिंदुओं को अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक कृत्य करने से रोक दिया था; यहाँ तक कि उसने उनके यमुना में स्नान करने और घाटों पर क्षौर कर्मादि कराने पर भी कड़ी पाबंदी लगा दी थी ! उसके क़ाज़ी–मुल्लाओं ने अनेक प्रकार के अत्याचार द्वारा मथुरा निवासी हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी। उस घोर आपत्ति के काल में वैष्णव धर्म के जिन आचार्यों और संतों ने मथुरा के हिंदुओं को संकट मुक्त करने का साहस किया था, उनमें श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और वल्लभाचार्य जी के नामों का

---

(१) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०–११

(२) ब्रज का इतिहास (प्रथम खंड), पृष्ठ १३८

(३) श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३

उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वह घटना सिकंदर लोदी के शासन काल की ज्ञात होती है और उसके कारण श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री वल्लभाचार्य जी की विद्यमानता भी एक ही समय की सिद्ध होती है।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री वल्लभाचार्य जी एक ही काल में विद्यमान थे, इसके समर्थन में पुष्टि संप्रदायी ग्रंथों के वे उल्लेख भी हैं, जिनमें उन दोनों महानुभावों की भेंट का कथन हुआ है। गदाधर द्विवेदी कृत 'संप्रदाय प्रदीप' (रचना काल सं० १६१०) में सर्वश्री काश्मीरी भट्टाचार्य जी और वल्लभाचार्य जी की भेंट का उल्लेख है[1]। उसके अतिरिक्त 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत 'माधव भट्ट काश्मीरी की वार्ता' है। उसमें लिखा गया है, माधव भट्ट पहिले श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के सेवक थे और उन दोनों ने श्री वल्लभाचार्य जी से श्रीमद् भागवत की कथा सुनी थी[2]। वार्ता में लिखा है,—'केशव भट्ट विद्या मद तें ऊँचे आसन पर बैठिकें कथा सुनते और माधव भट्ट मन लगाय दास भाव सों सुनते[3]।' वल्लभाचार्य जी की कथा सुनने से माधव भट्ट का मन काश्मीरी जी से हट कर आचार्य जी की ओर आकर्षित हो गया था। उससे क्षुब्ध होकर श्री काश्मीरी जी ने माधव भट्ट को वल्लभाचार्य जी के पास चले जाने को कहा था। माधव भट्ट आचार्य जी के शिष्य और उनके प्रधान लिपिक हो गये थे। उन्होंने आचार्य जी के समस्त ग्रंथों की हस्तलिपियाँ तैयार की थी। माधव भट्ट की मृत्यु वल्लभाचार्य जी के देहावसान से कुछ समय पूर्व हुई थी[4]।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की भेंट श्री वल्लभाचार्य जी के साथ ही साथ श्री चैतन्य महाप्रभु से भी हुई थी। इसका उल्लेख चैतन्य संप्रदायी विख्यात विद्वान सर्वश्री वृंदावनदास और कृष्णदास कविराज के साथ ही साथ प्रियादास जी ने भी किया है। वृंदावनदास कृत 'चैतन्य भागवत' और कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में श्री केशव भट्ट जी के नाम का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है, वरन् उनकी सुप्रसिद्ध उपाधि 'दिग्विजयी' से उन्हें संबोधित किया गया है[5]। प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस बोधिनी' भक्तमाल टीका में स्पष्ट रूप से श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का नामोल्लेख हुआ है। उसमें मथुरा के मुसलमान क़ाज़ी के साथ श्री काश्मीरी भट्ट जी के संघर्ष का वर्णन करने से पहिले ४ कवित्तों में उनकी चैतन्य महाप्रभु से भेंट होने का कथन किया गया है। प्रियादास के लेखानुसार वह भेंट चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान नदिया में हुई थी और उसमें उन दोनों महापुरुषों द्वारा शास्त्र-चर्चा किये जाने के अनंतर काश्मीरी जी का चैतन्य जी के समक्ष हतप्रभ होना बतलाया गया है[6]।

---

(१) संप्रदाय प्रदीप (विद्या विभाग, काँकरोली), पृष्ठ ७४ और १००
(२) माधव भट्ट काश्मीरी की वार्ता (चौरासी वैष्णवन की वार्ता, सं० २७)
(३) द्वारकादास परिख द्वारा संपादित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (तृ० सं०), पृष्ठ १४८
(४) वही " " " पृष्ठ १४८—१५२
(५) श्री चैतन्य भागवत, आदि खंड, नवम् अध्याय और श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, षोड़श अध्याय देखिये।
(६) भक्तमाल (भक्तिसुधा स्वाद तिलक, तृ० सं०) पृष्ठ ५६०—५६२ पर प्रकाशित प्रियादास कृत कवित्त सं० ३३३ से ३३५

वृंदावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल' में प्रियादास जी के कथन की समीक्षा करते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु की भेंट से संबंधित वे चार कवित्त प्रक्षिप्त माने गये हैं[1]। प्रियादास जी चैतन्य मतानुयायी थे। संभव है, सर्वश्री वृंदाबनदास और कृष्णदास कविराज के कथनों को स्पष्ट कर उन्हें विशद रूप में प्रचारित करने में उनका सांप्रदायिक उद्देश्य रहा हो; किंतु वैसा ही कथन अन्य संप्रदायों के भक्तों की रचनाओं में भी मिलता है। उदाहरणार्थ रामोपासक महाराज रघुराज सिंह कृत 'राम रसिकावली–भक्तमाला' में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है[2]।

सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और चैतन्य महाप्रभु के समकालीन होने की अनुश्रुति निंबार्क संप्रदाय में भी प्रचलित है। उसके अनुसार श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी द्वारा सर्वश्री चैतन्य जी और नित्यानंद जी आदि को शिष्य बनाने की मान्यता रही है। निंबार्क संप्रदायाचार्य श्री गोविंददेव जी (आचार्यत्व काल सं० १८००—सं० १८१४) कृत 'जयति चतुर्दश' ग्रंथ के अंतर्गत 'श्री गुरु परंपरा जयति' में इसका स्पष्ट कथन है[3], और 'श्री आचार्य–परंपरा–परिचय' में इसका संकेत किया गया है[4]। श्री वल्लभाचार्य जी सर्वश्री चैतन्य महाप्रभु और नित्यानंद जी के समकालीन थे, अतः निंबार्क संप्रदायी उल्लेखों के अनुसार भी वे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल में विद्यमान माने जावेंगे।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि चैतन्य, वल्लभ और निंबार्क संप्रदायी ग्रंथों के पूर्वोक्त कथनों में सांप्रदायिकता का आग्रह है। उनमें एक संप्रदाय के धर्माचार्य के महत्व को दूसरे संप्रदाय के धर्माचार्य की तुलना में जिस प्रकार घटा-बढ़ा कर लिखा गया है, उसका समर्थन कोई तटस्थ समीक्षक नहीं कर सकता। किंतु उनमें जो ऐतिहासिक तथ्य निहित है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन उल्लेखों की दीर्घकालीन शृंखला से यह समझा जा सकता है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु की भेंट श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी से किसी काल में अवश्य हुई थी। हमारे अनुमान से उन तीनों महानुभावों की भेंट का समय सं० १५५० से सं० १५६० के बीच का हो सकता है। उस समय सर्वश्री वल्लभाचार्य और चैतन्य देव की आयु १५–२० वर्ष से अधिक की नहीं होगी और श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी १००–१२५ वर्ष से कम के नहीं होंगे।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का अत्यंत दीर्घायु होना निंबार्क संप्रदाय में भी मान्य है। इस संप्रदाय के विद्वानों ने भट्टाचार्य जी की जीवन–लीला का एक छोर अलाउद्दीन खिलजी के काल (सं० १३५३–१३७३) में माना है, तो दूसरा छोर चैतन्य महाप्रभु के नदिया-निवास काल (सं० १५६२) में। यदि श्री व्रजवल्लभ शरण जी के मत को स्वीकार किया जाय, तो आरंभिक छोर सं० १२१७ तक खिच जाता है। इस प्रकार काश्मीरी जी का जीवन-काल १३ वीं शती के

---

(१) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५०८–५१६

(२) राम रसिकावली–भक्तमाला में प्रकाशित 'केशव भट्ट की कथा', पृष्ठ ६६८–६६६

(३) जयति काश्मीरि केशव सुभट जक्त-गुरु, जीत सब भुव भक्ति प्रचुर कीनीं।
कृष्ण चैतन्य नित्यानंदादिक त्रिगुण, बहु शिष्य करि अमित हरि-मूर्ति दीनीं॥
—निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ४६१

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३

आरंभ से १६वीं शती के अंत तक पहुँचने से उनकी आयु ४०० वर्ष से कम की सिद्ध नहीं होती है ! इसके लिए निंबार्क संप्रदायी विद्वानों का स्पष्टीकरण है कि केशव काश्मीरी जी 'अष्टांग सिद्ध योगी[1]' और 'दिव्य सिद्धि युक्त[2]' थे । एक भक्ति-संप्रदायाचार्य को 'अष्टांग सिद्ध योगी' और 'दिव्य सिद्धि युक्त' बतलाना भक्ति सिद्धांत के कहाँ तक अनुकूल है, यह विचारणीय है । वैसे संत-महात्माओं का दीर्घायु होना सर्वथा संभव है; किंतु उनके जीवन-काल की अवधि १००-१२५ वर्ष की तो हो सकती है, ४०० वर्ष की नहीं । यह मानना सर्वथा हास्यास्पद है कि श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी अलाउद्दीन खिलजी के काल से सिकंदर लोदी के काल तक विद्यमान रहे थे । हमारे अनुमान से उनका उपस्थिति-काल सं० १४४० से सं० १५६५ के लगभग है । इस प्रकार फीरोज़ तुगलक के काल से लेकर सिकंदर लोदी के काल तक उनकी विद्यमानता मानी जा सकती है ।

श्री वेदप्रकाश गर्ग ने ऐतिहासिक और सांप्रदायिक उल्लेखों की परिश्रम पूर्वक खोज और समीक्षा करने के अनंतर श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल का निरूपण किया है और मथुरा के यांत्रिक संघर्ष की वास्तविकता पर प्रकाश डाला है । उनका मत है, मथुरा का वह संकट काश्मीरी जी और वल्लभाचार्य जी दोनों के सम्मिलित प्रयास से दूर हुआ था । उक्त घटना का काल उन्होंने सं० १५६० के लगभग अनुमानित किया है । उनका निष्कर्ष है, केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी निश्चित रूप से चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे और यांत्रिक संघर्ष वाली घटना दिल्ली के तत्कालीन सुलतान सिकंदर लोदी के राजत्व काल में घटी थी[3] । हम भी गर्ग जी के निष्कर्ष से सहमत हैं; किंतु उक्त घटना का काल हमारे मतानुसार सं० १५६० से कुछ पूर्व का है । 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार उक्त घटना वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के काल में हुई थी, जब कि वे पहली बार ब्रज में आये थे । वह काल सं० १५५० का माना गया है[4] ।

यांत्रिक संघर्ष का वास्तविक स्वरूप—लोक प्रचलित अनुश्रुतियों और किंवदंतियों के कारण 'भक्तमाल' और 'वार्ता' आदि सांप्रदायिक ग्रंथों में मथुरा के संघर्ष को उसके वास्तविक रूप से भिन्न एक चमत्कारपूर्ण घटना बना दिया गया है । असल में वह एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका संबंध सिकंदर लोदी की हिंदुओं को तंग करने की नीति से है । गत पृष्ठों में हम लिख चुके हैं कि उस असहिष्णु सुलतान ने मथुरा के हिंदुओं को यमुना में स्नान करने तक की मनाही करदी थी, ताकि वे अपने धार्मिक कृत्य न कर सकें । उसने हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने के लिए अनेक अमानुषिक आदेश प्रचलित किये थे । उनके कारण मथुरा में बड़ा आतंक था और वहाँ के निवासी बड़े परेशान थे ।

उस काल में सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट और वल्लभाचार्य जी जैसे संत-महापुरुषों ने अत्यंत साहस पूर्वक हिंदुओं के उस संकट को दूर करने का प्रयास किया था । 'भक्तमाल' में लिखा है, केशव काश्मीरी जी ने मथुरा के मुसलमान सूबेदार के सैनिकों को मार कर यमुना में प्रवाहित

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ४७३
(२) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३
(३) श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय-निरूपण, (साहित्य संगम), पृष्ठ ७२-७३
(४) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०-११

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी (यंत्र-बाधा का निवारण करते हुए)

(यान्त्रिक संघर्ष मे विजय)

श्री श्रीभट्ट देव जी (श्रीराधा-कृष्ण को गोद में लेने के भावावेश में)

कर दिया था और वहाँ के क़ाज़ी को पराजित किया था ! उस काल की विषम परिस्थिति में अत्याचार पीड़ित हिंदुओं द्वारा मुसलमानों के साथ उस प्रकार का व्यवहार किया जाना संभव नहीं था। 'भक्तमाल' के उक्त विवरण की अपेक्षा 'श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' का कथन अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'वार्ता' में लिखा गया है कि वल्लभाचार्य जी ने अपने दो सेवकों को दिल्ली भेज कर उनके द्वारा सिकंदर लोदी को प्रभावित किया था, जिसके फल स्वरूप मथुरा के हिंदुओं का संकट दूर हुआ था। उक्त घटना का बौद्धिक समाधान यह हो सकता है कि जहाँ पहिले मुसलमान अधिकारियों ने हिंदुओं को यमुना में स्नान करने की बिलकुल मनाही कर दी थी, वहाँ उक्त महात्माओं के प्रयत्न से कुछ राजकीय कर देने पर उन्हें स्नानादि करने की आज्ञा मिल गई होगी। इस प्रकार का तीर्थ-कर उस काल में मथुरा में प्रचलित था और उसे बाद में मुगल सम्राट अकबर ने हटाया था।

भट्टाचार्य जी का अंतिम जीवन और देहावसान—उक्त घटना के पश्चात् श्री केशव भट्टाचार्य जी मथुरा में स्थायी रूप से रहने लगे थे। वे तब तक अत्यंत वृद्ध हो चुके थे। उनका निवास-स्थान मथुरा में ध्रुव क्षेत्र था, जहाँ के ध्रुव टीला और उसके निकटवर्ती नारद टीला पर वे अपनी शिष्य-मंडली के साथ निवास करते थे। उनका देहावसान अनुमानतः सं० १५६५ के लगभग मथुरा में हुआ होगा। वहाँ के नारद टीला पर चरण-चिह्न युक्त जो तीन समाधियाँ बनी हुई हैं, उनमें से एक श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की बतलाई जाती है।

श्री श्रीभट्ट जी—वे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के शिष्य थे। निंबार्क संप्रदाय की आचार्य-परंपरा में उन्हें ३४ वाँ आचार्य माना जाता है, और उनके जन्मोत्सव की तिथि अगहन शु० १२ कही जाती है[१]। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार उन्होंने आश्विन शु० २ को आचार्यत्व ग्रहण किया था, अतः उस दिन उनका पाटोत्सव मनाया जाता है[२]। श्री रूपरसिक जी की वाणी में श्रीभट्ट जी के जीवन-वृत्त से संबंधित जो संकेत मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उनका जन्म गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनके पूर्वज ज़िला हिसार (हरियाना) के निवासी थे; किंतु उनके माता-पिता उनके जन्म से बहुत पहिले ही मथुरा में आकर बस गये थे। श्रीभट्ट जी का जन्म मथुरा में ही हुआ था[३]। जब श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी मथुरा पधारे और यवन क़ाज़ी के अत्याचारों से व्रजवासियों की रक्षा करने के उपरांत यहाँ के ध्रुव क्षेत्र में निवास करने लगे, तब श्रीभट्ट जी उनके शिष्य हुए थे[४]। श्री काश्मीरी भट्ट जी के पश्चात् श्रीभट्ट जी ने उनके उत्तराधिकारी के रूप में निंबार्क संप्रदाय की आचार्य-गद्दी को सुशोभित किया था। वे जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भक्ति-भाव में तल्लीन रहे थे।

विद्यमानता का काल—श्रीभट्ट जी किस काल में विद्यमान थे, इसके संबंध में बड़ा विवाद है। नानपारा (ज़िला बहराइच) के पुस्तकालय में श्रीभट्ट जी की रचना 'युगल शतक' की एक प्रति है, जिसके अंत में एक दोहा दिया हुआ है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुसंधानकर्ताओं ने 'खोज रिपोर्ट' के लिए उक्त दोहा की जो प्रतिलिपि की थी, उससे 'युगल शतक' का

---

(१) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४–१५
(२) श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ ६
(३) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५१७ और श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४
(४) श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ ५

रचना-काल सं० १३५२ समझा गया है[1]। खोज-रिपोर्ट के अध्यक्ष डा० हीरालाल जैन ने उक्त दोहा में आये हुए 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ होने की संभावना प्रकट करते हुए इसे सं. १६५२ वि. की रचना माना है[2]। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि यह दोहा 'युगल शतक' की अन्य प्रतियों में नहीं मिलता है, अतः इसे संदिग्ध भी समझा जा सकता है। मिश्रबंधुओं ने इसका रचना-काल सं० १६३० के लगभग माना है[3]।

निंबार्क संप्रदायी विद्वान अभी तक 'युगल शतक' का रचना-काल सं० १३५२ मान कर श्रीभट्ट जी की विद्यमानता का काल विक्रम की १४ वीं शताब्दी मानने के पक्ष में रहे हैं[4]। किंतु एक नवीन तथ्य की उपलब्धि से अब कुछ विद्वानों का झुकाव १५ वीं शताब्दी की ओर होने लगा है। वृंदावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल' के के संपादक महोदय ने श्रीभट्ट जी के जीवन-वृत्त की समीक्षा करते हुए बतलाया है कि कश्मीर के मुसलमान शासक शाहीखाँ के शासन काल में श्रीभट्ट जी कश्मीर में थे और वहाँ के निवासियों के रोगों को दूर करने के लिए उन्हें ओषधि दिया करते थे[5]। डा० नारायणदत्त शर्मा ने अपने शोध-प्रबंध में 'तबकाते अकबरी'—भाग ३ के आधार पर इसका समर्थन किया है[6]। किंतु इन दोनों विद्वानों के कथनों में कुछ भ्रांतियाँ हैं, जिनका संशोधन होना आवश्यक है।

'श्री भक्तमाल' के संपादक ने कश्मीर के शासक शाहीखाँ का उपनाम सिकंदर बुतशिकन बतलाते हुए उसका शासन काल सन् १४२७ ई० (सं. १४८४) लिखा है, जब कि डा० नारायण दत्त शर्मा ने सं० १४३५ से सं० १४८७ वि० बतलाया है। इस संबंध में यह जानना आवश्यक है कि शाहीखाँ का नाम वास्तव में शाहखाँ था, और वह जैनुल आबदीन के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। सिकंदर बुतशिकन (मूर्तिभंजक) उनका उपनाम नहीं था, वरन् उसके पिता का नाम था। जहाँ सिकंदर हिंदू धर्म का बड़ा दुश्मन और मंदिर—मूर्तियों को नष्ट करने वाला था, वहाँ जैनुल आबदीन एक उदार एवं कलाप्रिय शासक था। उसके गुणों के कारण ही वह 'कश्मीर का अकबर' कहा गया है। उसने सन् १४२० के जून माह से सन् १४७० के अंत तक प्रायः ५२ वर्ष तक शासन किया था[7]। इस प्रकार उसका यथार्थ शासन काल सं. १४७७ से सं. १५२७ तक है। यदि श्रीभट्ट जी जैनुल आबदीन के शासन काल में कश्मीर में थे, तब उनकी विद्यमानता विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अंतिम और १६ वीं शताब्दी के आरंभिक काल में मानी जावेगी। किंतु 'तबकाते अकबरी' में जिस श्रीभट्ट वैद्य को कश्मीर का दरबारी पंडित बतलाया गया है, वह माधुर्य भक्ति के सरस पद—रचयिता और निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्रीभट्ट जी से अभिन्न था,

(१) नैन बान पुनि राम ससि, गनौ अंक गति बाम।
'जुगल सतक' पूरन भयौ, संवत् अति अभिराम ॥
(२) श्री भक्तमाल, (वृंदावन), पृष्ठ ५१८
(३) मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग), पृष्ठ ३५१
(४) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ६; श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४ और श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १०
(५) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५१८
(६) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण—भक्त हिंदी कवि (प्रथम खंड), पृष्ठ ३३
(७) दिल्ली सल्तनत (डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव), पृष्ठ ३१०

४. राधावल्लभ संप्रदाय

इसे मानने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हमारे मतानुसार कश्मीर का वह श्रीभट्ट वैद्य कोई दूसरा व्यक्ति था। इसी नाम का एक भक्त-कवि श्री वल्लभाचार्य जी के आरंभिक सेवकों में भी हुआ है और उसकी रचना निंबार्क संप्रदायाचार्य श्रीभट्ट जी की तरह माधुर्य भक्ति की ही है[1]; किंतु उसकी पृथकता प्रमाणित है। श्रीभट्ट जी की उपलब्ध रचना की परिष्कृत ब्रजभाषा और उसमें व्यक्त माधुर्य भक्ति के विकास की दृष्टि से उनकी विद्यमानता १४ वीं अथवा १५ वीं शताब्दी मानना संभव नहीं है। हमारे अनुमान से वे सं. १५२५ से सं. १६०० के लगभग विद्यमान रहे होंगे।

श्रीभट्ट जी की विशेषता—केशव काश्मीरी भट्ट जी तक प्रायः सभी निंबार्क संप्रदायी आचार्य दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; किंतु श्रीभट्ट जी उत्तर भारतीय गौड़ ब्राह्मण थे। उनसे पहिले के आचार्यों ने संस्कृत में रचना की थी; किंतु श्रीभट्ट जी निंबार्क संप्रदाय के प्रथम ब्रजभाषा वाणी-कार थे। उनकी रचना 'युगल शतक' को इसीलिए इस संप्रदाय में 'आदि वाणी' कहा जाता है। यद्यपि श्रीभट्ट जी ने संस्कृत में भी कुछ स्तोत्रों की रचना की थी; किंतु उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ ब्रजभाषा में रचा हुआ 'युगल शतक' ही है।

श्रीभट्ट जी से पहिले तक के आचार्यों का लक्ष्य द्वैताद्वैत दर्शन और नवधा भक्ति का प्रसार करना था; किंतु श्रीभट्ट जी ने अपनी रचना द्वारा माधुर्य भक्ति के प्रचार को प्रमुखता प्रदान की थी। नाभा जी ने उनके संबंध में कहा है,—'श्रीभट्ट जी की रचना माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है, और उसमें ललित लीलाओं से युक्त आनंदकंद श्री राधा-कृष्ण के ऐसे स्वरूप के दर्शन होते हैं, जो कवियों और रसिकों के मानस में प्रेम की वर्षा करते हैं[2]।' श्रीभट्ट जी राधा-कृष्ण की दिव्य मधुर लीलाओं का अहर्निश अवलोकन, मनन और गायन करते हुए सखी भाव में निमग्न रहा करते थे। उनका एक प्राचीन चित्र मिलता है, जिसमें वे सखी भाव में दिखलाये गये हैं और उनकी गोद में युगल किशोर श्री राधा-कृष्ण विराजमान हैं। उनकी रचना 'युगल शतक' के दोहों सहित १०० पदों में ब्रज लीला मिश्रित निकुंज लीला का सरस कथन हुआ है।

देहावसान और शिष्य परंपरा—श्रीभट्ट जी का देहावसान मथुरा के ध्रुव क्षेत्र में हुआ था, जहाँ के नारद टीला पर उनकी समाधि होने की मान्यता है। उनके शिष्यों में दो प्रधान थे,—१. श्री हरिव्यास देव जी और २. श्री वीरम त्यागी जी। श्री हरिव्यास देव जी से निंबार्क संप्रदाय की प्रमुख परंपरा चली है, जिसका उल्लेख आगामी पृष्ठों में इस संप्रदाय का विवरण लिखते हुए किया गया है। श्री हरिव्यास जी के शिष्यों की शाखाओं द्वारा निंबार्क संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ था। श्री वीरमदेव जी के शाखा के कुछ लोग अयोध्या के निकट दारानगर में तथा राज-स्थान के कृष्णगढ़ और कोटा नामक स्थानों में मिलते है। श्रीभट्ट जी की शिष्य-परंपरा के कुछ गृहस्थ गौड़ ब्राह्मण मथुरा के ध्रुव क्षेत्र में तथा जयपुर और कानपुर में भी निवास करते हैं[3]।

श्री माधवेन्द्र पुरी—वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक संप्रदायों में निंबार्क संप्रदाय के पश्चात् कदाचित माध्व संप्रदाय के आचार्य और भक्तगण ब्रजमंडल में आये थे। उनमें श्री माधवेन्द्र पुरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे श्री मध्वाचार्य की शिष्य-परंपरा में लक्ष्मीपति जी के शिष्य थे।

---

(१) वल्लभीय सुधा, (वर्ष ३, अंक ३-४) में प्रकाशित 'श्रीभट्ट पदावली'

(२) भक्तमाल, छप्पय सं० ७६

(३) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४-१५

पुरी जी के शिष्यों में सर्वश्री ईश्वर पुरी, परमानंद पुरी, केशव पुरी, रामचंद्र पुरी विख्यात संन्यासी हुए हैं। उनके अन्य शिष्यों में सर्वश्री अद्वैताचार्य, नित्यानंद प्रभु और माधवदास के नाम भी प्रसिद्ध हैं। पुरी जी के शिष्य ईश्वरपुरी जी चैतन्य महाप्रभु के गुरु थे। उनके दूसरे शिष्य अद्वैताचार्य और नित्यानंद प्रभु चैतन्यदेव के प्रमुख सहकारी थे। इस प्रकार चैतन्य संप्रदाय की स्थापना में माधवेन्द्र पुरी का आरंभिक योग रहा है। उनके अन्य शिष्य केशव पुरी जी श्री वल्लभाचार्य जी के बड़े भाई कहे जाते हैं। स्वयं वल्लभाचार्य जी को भी माधवेन्द्र पुरी ने काशी में विद्याध्ययन कराया था। वल्लभ संप्रदाय के उपास्य देव श्रीनाथ जी के प्राकट्य एवं उनकी आरंभिक सेवा-पूजा की व्यवस्था में भी उनका योग था। इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय की स्थापना से परोक्षरूपेण उनका संबंध रहा है। पुरी जी के एक शिष्य माधवदास ने वृंदावन के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि हरिराम व्यास के पिता सुमोखन शुक्ल को माध्व संप्रदाय की दीक्षा दी थी और स्वयं व्यास जी को भी उपदेश देकर उनके संदेहों का निवारण किया था[1]। इस प्रकार वैष्णव-धर्म के कई संप्रदायों से घनिष्ठ रूप में संबंधित होने के कारण श्री माधवेन्द्र पुरी का धार्मिक महत्व स्वयंसिद्ध है।

बड़े आश्चर्य की बात है, वैष्णव जगत् के परमाराध्य इन पुरी जी का क्रमबद्ध जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' में अनेक भक्तों का विस्तृत वृत्तांत लिखा गया है, किंतु उसके एक छप्पय में ८ हरिभक्त संन्यासियों के साथ माधवेन्द्र पुरी का नामोल्लेख मात्र किया गया है[2]। उसमें उनका कोई वृत्तांत नहीं लिखा गया। प्रियादास जी ने भी नाभा जी के छप्पय की टीका करते हुए पुरी जी के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। उनके जीवन-वृत्तांत की बिखरी हुई सामग्री श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, श्री चैतन्य चरितामृत और कतिपय बंगला ग्रंथों से प्राप्त होती है। इन ग्रंथों की कई बातें परस्पर विरुद्ध हैं। उनमें दिये हुए तिथि-संवत् भी पुरी जी की जीवनी के काल-क्रम में अंतर उपस्थित करते हैं। फिर भी इस सामग्री के आधार पर उनका संक्षिप्त परिचय लिखा जाता है।

पुरी जी का जीवन-परिचय—ऐसा कहा जाता है, वे तैलंग प्रदेश के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। 'चैतन्य चरितामृत' में उनके द्वारा गोवर्धन में गोपाल जी (श्रीनाथ जी) की देव-प्रतिमा के प्राकट्य की कथा लिखी गई है। उससे ज्ञात होता है, उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरंभिक व्यवस्था बंगाली ब्राह्मणों से कराई थी। उनके शिष्यों में अधिकतर बंगाली हरि-भक्त थे। इससे श्री बलदेव उपाध्याय ने उन्हें 'बंगाल का पक्षपाती' समझ कर बंगाली वैष्णव बतलाया है[3]। पुरी जी चाहें बंगाली हों अथवा दाक्षिणात्य, किंतु बंगाल में कृष्ण-भक्ति की आधार-शिला रखने का श्रेय उन्हीं को है। उनका जन्म-स्थान और जन्म-संवत् अनिश्चित हैं। अनुमानतः वे सं० १५०० से कुछ पूर्व उत्पन्न हुए थे। वे माध्व संप्रदाय के आचार्य, सर्व शास्त्रों के ज्ञाता और परम भक्त संन्यासी थे। वे विरक्त भाव से प्रायः मौन होकर कृष्ण-विरह में व्याकुल घूमा करते थे। उन्होंने कई बार विविध तीर्थों की यात्राएँ की थीं। जिस काल में वे दक्षिण की तीर्थ-यात्रा करने के अनंतर काशी में आकर रहने लगे थे, उसी काल में वल्लभाचार्य जी के पिता लक्ष्मण भट्ट जी भी वहाँ निवास करते थे। माधवेन्द्र पुरी ने लक्ष्मण भट्ट जी के कहने पर बालक वल्लभ को आरंभिक शिक्षा प्रदान की थी[4]।

(१) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ६५–६६
(२) भक्तमाल, छप्पय सं० १८१
(३) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ४६७
(४) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २६

वल्लभाचार्य ने कुछ ही वर्षों में वेद-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध कर काशी के विद्वानों में उच्च स्थान प्राप्त किया था। इस प्रकार सं० १५४३ से १५४५ तक माधवेन्द्र पुरी का काशी में रहना सिद्ध होता है।

माध्व संप्रदाय की आचार्य-परंपरा में लक्ष्मीपति जी तक किसी की रुचि माधुर्य भक्ति की ओर नहीं हुई थी। इस संप्रदाय में माधवेन्द्र पुरी जी ही माधुर्य भक्ति के सर्वप्रथम प्रतिष्ठाता माने गये हैं। वे माध्व संप्रदाय के अंतर्गत राधा-भाव के भी प्रवर्त्तक और प्रचारक थे। कालांतर में उनके मार्ग पर चल कर चैतन्य महाप्रभु ने इसी भक्ति-पद्धति को समुन्नत रूप में प्रचलित किया था।

गोपाल-प्रतिमा का प्राकट्य—माधवेन्द्र पुरी एक स्थान पर अधिक काल तक निवास न कर प्रायः भ्रमण किया करते थे। वे काशी से तीर्थ–यात्रा करते हुए ब्रज में गये थे। मथुरा पहुँच कर उन्होंने यमुना में स्नान किया और केशव भगवान् के दर्शन किये। फिर वे ब्रज–यात्रा करने के अभिप्राय से गोबर्धन चले गये थे। जिस काल में वे गोबर्धन पहुँचे, उस समय वहाँ की गिरिराज पहाड़ी पर एक देव–प्रतिमा के प्रकट होने के चिह्न दिखलाई दे रहे थे, जिससे ब्रजवासियों को बड़ा कौतुहल होता था। वल्लभ संप्रदायी साहित्य में लिखा है, सं० १४६६ की श्रावण कृष्णा ३ रविवार को गिरिराज पहाड़ी पर सहसा एक प्रतिमा की ऊर्ध्व वाम भुजा का प्राकट्य हुआ था। सं० १५३५ की वैशाख कृष्णा ११ को, जिस दिन वल्लभाचार्य जी का जन्म हुआ, उसी दिन उक्त प्रतिमा के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ था। गोवर्धन के ब्रजवासियों ने उस दिन बड़ा उत्सव मनाया था। सद्दू (साधू) पांडे, मानिकचंद आदि ब्रजवासी गण उस मुखारविंद पर दूध चढ़ाने लगे और उसकी पूजा करने लगे। वे उसे देवदमन, इंद्रदमन और नागदमन का स्वरूप कहा करते थे[1]। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उक्त मुखारविंद के दर्शन किये और वे उसकी सेवा–पूजा करते हुए वहाँ निवास करने लगे।

माधवेन्द्र पुरी के ब्रज में आने और गोबर्धन में देव–प्रतिमा की सेवा-पूजा करने का काल सं० १५४६ के लगभग सिद्ध होता है; क्यों कि सं० १५४५ तक वे काशी में रहे थे। उस देव–प्रतिमा को वल्लभ संप्रदाय में गोवर्धननाथ, गिरिधर अथवा श्रीनाथ जी कहा जाता है और चैतन्य संप्रदाय में उसे गोपाल जी कहते हैं। उसके प्राकट्य का श्रेय वल्लभ संप्रदाय में वल्लभाचार्य जी को[2] और चैतन्य संप्रदाय में माधवेन्द्र पुरी को[3] दिया गया है। वास्तव में वे दोनों ही महानुभाव उस श्रेय के भागीदार हैं। श्री माधवेन्द्र पुरी के सेवा–काल तक वह देव–विग्रह गिरिराज की कंदरा में ही विराजमान था और पुरी जी ने उसी स्थल पर उनकी आरंभिक सेवा–पूजा की व्यवस्था की थी। वल्लभाचार्य जी ने बाद में आकर उस देव-प्रतिमा को एक मंदिर में प्रतिष्ठित कर उसकी सेवा-पूजा का यथोचित प्रबंध किया था। गोवर्धन के जिस स्थल पर श्रीनाथ-गोपाल का प्राकट्य हुआ था, उसे बाद में गोपालपुरा अथवा यतिराज माधवेन्द्र पुरी के नाम पर यतिपुरा कहा जाने लगा। यह स्थान आजकल भी 'जतीपुरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

पुरी जी का अंतिम जीवन—'श्री चैतन्य चरितामृत' के अनुसार श्री माधवेन्द्र पुरी ने २ वर्ष तक गोवर्धन में श्रीनाथ–गोपाल की सेवा-पूजा की थी। उसके पश्चात् उन्होंने गौड़ प्रदेश से आये हुए दो बंगाली ब्राह्मणों को सेवा का भार सौंप दिया था और वे गोपाल जी के लिए चंदन एवं कपूर लेने के लिए दक्षिण-यात्रा को चले गये थे। उस समय वे गौड़ और जगन्नाथपुरी भी गये थे।

---

(१) श्री गोवर्धननाथ की प्राकट्य वार्ता, पृष्ठ ३-५ तथा कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ४८-४६

(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ६–१४

(३) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यखंड, परिच्छेद ४

जब वे १ मन चंदन और २० तोला कपूर लेकर वापिस लौट रहे थे, तब मार्ग में ही उनका देहावसान हो गया था[1]। पुरी जी का यथार्थ काल अनिश्चित है। चैतन्य संप्रदायी साहित्य के अनुसार उनका देहांत सं० १५४० की वैशाखी पूर्णिमा को[2] अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के जन्म से पहिले ही हो गया था। वल्लभ सम्प्रदायी साहित्य में उनकी विद्यमानता बहुत बाद तक बतलाई गई है। उसके अनुसार जब वल्लभाचार्य जी ने श्री गोवर्धननाथ की यथोचित सेवा-पूजा का प्रबंध किया था, तब राधाकुंड पर निवास करने वाले बंगाली ब्राह्मण सेवा के लिए नियुक्त किये गये थे। श्री माधवेन्द्र पुरी जी को उनका मुखिया बतलाया गया है[3]। वह काल सं० १५५० से १५६४ तक का होता है[4]। ऐसी स्थिति में पुरी जी के देहावसान—काल का निश्चय करना कठिन हो जाता है। हमारे मतानुसार सं० १५५० के पश्चात् उनकी विद्यमानता असंगत मालूम होती है। उनका देहावसान सं० १५५० के लगभग दक्षिण में हुआ था। वे उच्च कोटि के संत, विरक्त भक्त और कृष्ण-विरह की साक्षात् मूर्ति थे।

श्री ईश्वर पुरी—वे श्री माधवेन्द्र पुरी के प्रमुख शिष्य और श्री चैतन्य महाप्रभु के गुरु थे। उनका जन्म हालि नगर के निकटवर्ती कुमारहट्ट नामक स्थान के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे अपने आरंभिक जीवन में ही विरक्त होकर श्री माधवेन्द्र पुरी जी के शिष्य हो गये थे। श्री वृंदावन-दास ने लिखा है,—'माधवेन्द्र पुरी का समस्त प्रेम-तत्त्व ईश्वर पुरी को प्राप्त हुआ था और वे अपने गुरु के उस प्रेम-प्रसाद को भक्तों में वितरण करते हुए सर्वत्र भ्रमण किया करते थे[5]।' वे उस समय नवद्वीप भी गये थे, जिस समय युवक चैतन्य वहाँ अध्यापन का कार्य करते थे। वे उनकी विद्वत्ता पर अत्यंत प्रसन्न हुए थे। उन्होंने वहाँ पर अद्वैताचार्य की भक्त-मंडली में भी उपस्थित होकर भक्त जनों को कृतार्थ किया था। उसी समय उन्होंने स्वरचित 'कृष्ण-लीलामृत' की शिक्षा गदाधर पंडित को दी थी[6]। बाद में चैतन्य जी ने उनसे गया धाम में दीक्षा प्राप्त की थी।

वे एक स्थान पर स्थायी रूप से न रह कर प्रायः तीर्थाटन किया करते थे। सं० १५६२ के लगभग वे ब्रज में भी आये थे। उस समय उन्होंने यमुना-स्नान कर गोवर्धन में गिरिराज जी की परिक्रमा की थी और गोपाल जी के दर्शन किये थे। राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण वे यहाँ पर अधिक काल तक नहीं रहे और शीघ्र ही देशाटन को चले गये थे।

श्री वल्लभाचार्य जी—इस अध्याय की काल सीमा में ब्रज में आने वाले वे विख्यात भक्त और सर्वाधिक प्रतिष्ठित धर्माचार्य थे। उन्होंने जिस 'पुष्टि संप्रदाय' की स्थापना की थी, उसने ब्रज की धार्मिक स्थिति को बड़ा प्रभावित किया था। उनका विस्तृत जीवन-वृत्तांत उनके संप्रदाय के प्रसंग में आगामी पृष्ठों में लिखा गया है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यखंड, परिच्छेद ४
(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं वल्लभाचार्य, पृष्ठ १६
(३) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २०
(४) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ६—१०,
(५) श्री चैतन्य भागवत, आदिखंड, ७—२५३, २५४
(६) वही ,, ,, ,, ७—२२६, २३०

षष्ट अध्याय

उत्तर मध्य काल (२)

[विक्रम सं० १५८३ से विक्रम सं० १८८३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास का यह काल विविध दृष्टियों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । यद्यपि इसकी कालावधि केवल तीन शताब्दियों की है, तथापि इस थोड़े काल में ही जहाँ ब्रज संस्कृति के वर्तमान रूप का निर्माण तथा चरमोत्कर्ष हुआ, वहाँ उसका शोचनीय ह्रास होने पर उसके पुनरुत्थान का प्रयास भी किया गया था। इस काल के आरंभ में वर्तमान ब्रज संस्कृति के निर्माता महान् धर्माचार्य एवं उनके अनुगामी सुप्रसिद्ध भक्त गण हुए और उनका प्रशंसक एवं प्रोत्साहनकर्त्ता मुगल सम्राट अकबर जैसा अनुपम शासक हुआ था । उन सब के कारण उस युग को ब्रज संस्कृति का 'स्वर्ण काल' कहा जा सकता है । किंतु दुर्भाग्य से वह स्थिति एक शताब्दी तक भी नहीं रही, और औरंगजेब जैसे धर्मान्ध मुगल सम्राट के उत्पीड़न एवं अत्याचार से ब्रज संस्कृति का शोचनीय ह्रास होने लगा था । यद्यपि ब्रज के तत्कालीन धर्माचार्य एवं भक्त महानुभावों ने तथा उनमें श्रद्धा रखने वाले कतिपय राजपूत, जाट और मरहठा सरदार–सामंतों ने ब्रज संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयास किया था; किंतु उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। इस प्रकार यह काल ब्रज की राजनैतिक गति-विधियों से भी अधिक इसकी सांस्कृतिक उन्नति-अवनति के लिए अपना अनुपम महत्व रखता है । उसका जो भला-बुरा प्रभाव ब्रज की तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर पड़ा था, उसी का विवेचन इस अध्याय में किया गया है । यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह काल जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ब्रज के दीर्घकालीन इतिहास का कोई दूसरा काल नहीं है ।

मुगल काल (सं. १५८३ से सं. १८०५ तक) की स्थिति—राजनैतिक दृष्टि से इस काल का आरंभ बाबर द्वारा दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी और राजस्थान के राणा सांगा की पराजय से होता है । बाबर और उसके वंशज मुगल सम्राट कहलाते हैं, जिनका शासन सं० १५८३ से सं० १८०५ तक रहा था, अतः यह २२२ वर्ष का काल इतिहास में 'मुगल काल' के नाम से प्रसिद्ध है । सुलतानों की राजधानी दिल्ली थी, किंतु बाबर ने मुगल राज्य की स्थापना आगरा में की थी और उसी को अपनी राजधानी बनाया था । बाबर के पश्चात् हुमायू, अकबर और जहाँगीर के पूरे शासन-काल में तथा शाहजहाँ के आरंभिक काल में आगरा में ही राजधानी रही थी। उन विख्यात सम्राटों के शासन में आगरा की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी और वह भारतवर्ष का सब से प्रसिद्ध नगर हो गया था। चूंकि आगरा ब्रज प्रदेश के अंतर्गत है, अतः उसकी उन्नति का प्रभाव समस्त ब्रजमंडल की प्रगति पर पड़ा था । फलतः उस काल में ब्रज की अपूर्व भौतिक समृद्धि होने के साथ ही साथ उसकी धार्मिक उन्नति भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी ।

अकबर की उदार धार्मिक नीति—मुगल सम्राट अकबर ने अपने पूर्ववर्ती सुलतानों की नीति के विरुद्ध धार्मिक उदारता की नीति अपनायी थी । उसने सुलतानी काल की मजहबी तानाशाही के सभी आदेशों को रद्द कर दिया था, जिससे सभी धर्मो के अनुयायी अपने-अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक कृत्य करने के लिए स्वतंत्र हो गये थे। मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण पर लगी हुई पाबंदियाँ

हटा दी गई तथा जजिया कर और गो-वध को बंद कर दिया गया । उस काल में वैष्णव धर्म के विविध संप्रदायों के महान् आचार्य, अनेक संत-महात्मा और भक्तजन हुए थे; जिन्होंने अपनी विद्वत्ता, त्याग-तपस्या, उपासना-भक्ति और अपने निर्मल आचरण से राजा से रंक तक सभी वर्ग के नर-नारियों को प्रभावित किया था । स्वयं सम्राट अकबर और उसके प्रमुख दरबारियों ने विविध धर्मों के आचार्यों एवं संत-महात्माओं के प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी । वह काल ब्रजमंडल के लिए निश्चय ही 'स्वर्ण काल' था । यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि उस काल में एक ओर ब्रज में महान् धार्मिक पुरुष हुए, तो दूसरी ओर उदार शासक भी हुआ था । उस मणि-कांचन संयोग का प्रत्यक्ष प्रभाव ब्रज की आश्चर्यजनक उन्नति के रूप में दिखलाई दिया था । उसका श्रेय जहाँ ब्रज के संत-महात्माओं को है, वहाँ अकबर की उदार धार्मिक नीति को भी है ।

यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति के कारण ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों को प्रगति करने का समान सुयोग मिला था, तथापि ब्रज की जनता ने वैष्णव धर्म के विविध संप्रदायों के प्रति विशेष अभिरुचि प्रकट की थी । फलतः उस काल में जैन, शैव, शाक्त, स्मार्तादि धर्मों की अपेक्षा वैष्णव धर्म के भक्तिमार्गीय संप्रदायों की अधिक उन्नति हुई थी । उस समय ब्रज के साथ ही साथ समस्त उत्तर भारत में राधा-कृष्णोपासना का व्यापक प्रचार हो गया था ।

नीति-परिवर्तन और धार्मिक अशांति—अकबर के शासन काल में धार्मिक उदारता की जो नीति अपनायी गई थी, उसमें बाद के मुगल सम्राटों ने परिवर्तन कर दिया था । सम्राट जहाँगीर अपने पिता अकबर की भाँति धार्मिक दृष्टि से जागरूक और उदार नहीं था; फिर भी उसके काल में ब्रज की कुछ प्रगति ही हुई थी । अकबर के काल में ब्रज में जिन मंदिर-देवालयों का बनना आरंभ हुआ था, उनकी पूर्ति जहाँगीर के काल में हुई थी । मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर ओड़छा के राजा वीरसिंह देव ने उसी काल में श्री केशवराय जी का विशाल मंदिर बनवाया था । यह सब होते हुए भी एक विशिष्ट घटना ने उस काल में कुछ समय तक ब्रज में धार्मिक अशांति उत्पन्न कर दी थी । वह घटना 'तिलक-माला प्रसंग' के नाम से प्रसिद्ध है ।

यद्यपि जहाँगीर सभी धर्म-संप्रदायों के प्रति उदासीन था, तथापि उसका झुकाव वैष्णव भक्तों की अपेक्षा निर्गुणिया संतों की ओर अधिक था । जहाँगीर के आत्म-चरित से ज्ञात होता है कि वह उज्जैन निवासी एक तांत्रिक संत जदरूप (चिद्रूप) से बड़ा प्रभावित हो गया था । वह अकेला ही उसकी गुफा में जा कर उससे वार्तालाप करता था और उसके सत्संग में बड़ी शांति का अनुभव करता था[1] । वल्लभ संप्रदायी ग्रंथों से ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने संत जदरूप के वैष्णव विरोधी विचारों से प्रेरित होकर एक बार ऐसा आदेश जारी कर दिया था, जिसमें वैष्णवों की कंठी-माला और उनके तिलक पर रोक लगा दी गई थी[2] । उसके कारण ब्रज के वैष्णव संप्रदायों में बड़ी खलबली मच गई थी । उस काल में ब्रज में अनेक धर्माचार्य और भक्तजन थे । वे अपने धार्मिक चिह्नों की इस प्रकार अवज्ञा किये जाने से बड़े दुखी थे; किंतु उनमें से किसी को भी शाही आदेश के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस नहीं हुआ था । अंत में वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी गोकुलनाथ जी के

(१) जहाँगीर का आत्म-चरित, पृष्ठ ४१७–४१६

(२) वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), पृष्ठ २६६ की टिप्पणी

श्रीकृष्ण–जन्मस्थान के मन्दिर–निर्माता
ओरछा–नरेश वीरसिंह देव

प्रयत्न से जहाँगीर ने अपनी उस अनुचित आज्ञा को वापिस ले लिया था । यद्यपि उक्त घटना से व्रज के वैष्णव संप्रदायों की धार्मिक स्थिति पर अल्प कालीन ही कुप्रभाव पड़ा था, फिर भी उससे वैष्णव और अवैष्णव धर्मों के पारस्परिक विद्वेष का जो बीज-वपन हुआ, वह कालांतर में पल्लवित होकर प्रकट हुआ था ।

धार्मिक विद्वेष का सूत्रपात—मुगल सम्राट शाहजहाँ को हिंदू धर्म के किसी संप्रदाय से कोई प्रेम नहीं था; वल्कि कुछ द्वेष ही था । उसके शासन काल में धार्मिक विद्वेष का जो सूत्रपात हुआ, वह औरंगजेब के काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था । मुगल सम्राटों में सर्वप्रथम शाहजहाँ ने मंदिरों के निर्माण पर रोक लगायी थी । उसने सं० १६८९ में जब इस प्रकार का आदेश जारी किया, तब व्रज में वड़ी बेचैनी और धार्मिक अशांति उत्पन्न हो गई थी । उस समय तक मुगल दरबार में हिंदू राजाओं का पर्याप्त प्रभाव था, जिसके कारण शाहजहाँ ने अपनी उस आज्ञा को कार्यान्वित करने पर ज़ोर नहीं दिया था । शाहजहाँ के उत्तर काल में साम्राज्य की राजधानी आगरा से हटा कर दिल्ली में क़ायम की गई थी । उस परिवर्तन का भी व्रज की प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ा था । फलत: शाहजहाँ के शासन काल में व्रज की धार्मिक उन्नति की गति मंद पड़ गई थी ।

शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह सम्राट अकवर की तरह उदार धार्मिक विचारों का था । उसने धर्म ग्रंथों का अच्छा अध्ययन किया था । वह हिंदू धर्म का वड़ा प्रेमी था, और उसे हिंदू जनता से वड़ी सहानुभूति थी । मथुरा के श्री केशवराय जी के मंदिर में उसने स्वयं एक सुंदर कटहरा का निर्माण कराया था । शाहजहाँ का छोटा पुत्र औरंगजेब अपने वड़े भाई दारा की प्रकृति के एक दम विपरीत था । वह हिंदू धर्म का कट्टर दुश्मन था । दुर्भाग्य से शाहजहाँ के उपरांत औरंगजेब ही दारा को क़त्ल करा कर मुगल सम्राट बना था । उसके तख्त पर वैठने के काल सं० १७१५ से व्रज में धार्मिक विद्वेप का दौर प्रवल रूप में चल पड़ा था ।

धार्मिक उत्पीड़न—औरंगजेब ने सर्वप्रथम मथुरा के केशवराय जी के मंदिर से वह कटहरा हटाने की आज्ञा दी, जिसे उसके बड़े भाई दारा ने वनवाया था । शाही आज्ञा से मथुरा के फौजदार अब्दुल नवी ने सं० १७१७ में मंदिर में घुस कर वह कटहरा वलात् तोड़वा दिया था । सं० १७१८ में मथुरा के एक विशाल हिंदू मंदिर के स्थान पर उसने वह आलीशान मसजिद वनवाई, जो मथुरा शहर के मध्य में अभी तक विद्यमान है, और 'नवी साहव की मसजिद' कहलाती है ।

उन उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों से व्रज के हिंदुओं के कान खड़े हो गये और वे भविष्यत् दुर्दिनों की आशंका करते लगे । सं. १७२४ में औरंगजेब ने हिंदुओं के मंदिर-देवालयों और विद्यालयों को नष्ट करने तथा मूर्ति-पूजा पर पाबंदी लगाने का फ़रमान जारी कर दिया । उसके कारण व्रज के हिंदुओं में अशांति और विरोध की ज्वाला धधक उठी थी । महावन के निकट की ग्रामीण हिंदू जनता ने तो गोकुला जाट के नेतृत्व में विद्रोह ही कर दिया था । मथुरा का फौजदार अब्दुल नवी उस विद्रोह को दबाने के लिए गया, किंतु वह सं० १७२६ में मारा गया । उस घटना से औरंगजेब बुरी तरह क्रुद्ध हो गया था । उसने भारी सेना भेज कर मुट्ठी भर विद्रोहियों को कुचल दिया था ।

उक्त घटना के उपरांत औरंगजेब ने व्रज में ऐसा दमन-चक्र चलाया कि उससे वहाँ सुलतानी काल से भी अधिक बुरी स्थिति उत्पन्न हो गई थी । उस काल में हिंदुओं के सिर पर मानों आपत्ति का पहाड़ ही टूट पड़ा था ! व्रज में आने वाले तीर्थ—यात्रियों पर भारी कर लगाया गया, मंदिर—देवालय नष्ट किये जाने लगे, जजिया कर फिर से चालू कर दिया गया और हिंदुओं को वलात्

मुसलमान बनाने का अभियान जोरों से चल पड़ा[1] । तोड़े गये मंदिरों के स्थान पर मसजिद और सराय बनाई गईं तथा मक़तब और कसाईखाने क़ायम किये गये । हिंदुओं के दिल को दुखाने के लिए गो-वध करने की खुली छूट दे दी गई !

धर्माचार्यों का निष्क्रमण—जब ब्रज में ऐसा अंधेर होने लगा, तब यहाँ के धर्मप्राण भक्तजन अपनी देव-मूर्तियों और धार्मिक पोथियों को लेकर भागने का विचार करने लगे ! किंतु भाग कर कहाँ जावें, यह उनके लिए बड़ी समस्या थी । वे तीर्थ स्थानों में रह कर अपना धर्म-कर्म करना चाहते थे; किंतु उस काल में वहाँ रहना उनके लिए सर्वथा असंभव हो गया था[2] । उस समय कुछ प्रभावशाली हिंदू राज्यों की स्थिति औरंगजेब की मजहबी तानाशाही से मुक्त थी; अतः ब्रज के अनेक धर्माचार्य एवं भक्तजन अपने परिकर के साथ वहाँ जा कर बसने लगे । वल्लभ संप्रदाय के परमोपास्य श्रीनाथ जी तथा अन्य देव स्वरूप उसी काल में ब्रज से हटा कर हिंदू राज्यों में ले जाये गये थे । उस अभूतपूर्व धार्मिक निष्क्रमण के फलस्वरूप ब्रज में गोवर्धन और गोकुल जैसे समृद्धिशाली धर्मस्थान उजड़ गये थे, और महिमामडित वृंदावन शोभाहीन हो गया था । औरंगजेब के शासन में ब्रज की जैसी वर्बादी हुई, उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता है ।

अव्यवस्था और अशांति—मुगल शासन के उत्तर काल मे जो सम्राट हुए, उन्हें औरंगजेब के मजहबी तास्सुब की नीति का दुष्परिणाम भोगना पड़ा था । उस काल के राजपूत, मरहटा, जाट और सिक्ख जैसे प्रबल हिंदू वीरों पर उनका शाही प्रभाव नहीं रह गया था और वे अपने मंत्रियों के हाथ की कठपुतली मात्र बन गये थे । उस काल में दो सैयद-बंधु अब्दुल्ला और हुसैनअली मुगल शासन के प्रधान सूत्रधार थे । वे इतने प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न थे कि जिसे चाहते, उसे बादशाह बना देते; और जब चाहते, उसे तख्त से उतार देते थे ! उन्होंने अपनी कूटनीतिज्ञता से अनेक मुगल सरदारों के साथ ही साथ कुछ हिंदू सामंतों का भी सहयोग प्राप्त कर लिया था । अकबर की नीति के अनुकरण का ढोंग करते हुए वे हिंदू रीति-रिवाजों का पालन करते थे और उनके व्रत-उत्सवों को मनाते थे । वसंत और होली पर वे हिंदुओं के साथ मिल कर रंग-गुलाल से खेलते थे[3] ।

---

(१) **उस काल के कवियों की रचनाओं में औरंगजेबी अत्याचारों का इस प्रकार उल्लेख हुआ है,—**

१. जब तें साह तख्त पर बैठे । तब ते हिंदुन तें उर ऐंठे ॥
महँगे कर तीरथन लगाये । देव-देवालै निदरि - ढहाए ॥
घर—घर बाँधि जेजिया लीन्हे । अपने मन भाये सब कीन्हे ॥(लाल कृत 'छात्र प्रकाश')

२. देवल गिरावते फिरावते निसान अली, ऐसे डूबे राव-राने सबी गये लब की ॥(भूषण कवि)

(२) **महात्मा 'सूर किशोर' ने उस काल के भक्तों की मनोव्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया है,—**

जहँ तीरथ तहँ जमन-वास, पुनि जीविका न लहियै ।
असन-वसन जहँ मिलै, तहाँ सतसंग न पैयै ॥
राह चोर—वटमार कुटिल, निरधन दुख देहीं ।
महवासिन सन वैर, दूर कहुँ वसै सनेही ॥
कहे 'सूर किसोर' मिलै नहीं, जथा जोग चाही जहाँ ।
कलिकाल ग्रसेउ अति प्रवल हिय, हाय राम ! रहियै कहाँ ? (मिथिला माहात्म्य, छंद १)

(३) लेटर मुगल्स (प्रथम भाग), पृष्ठ १००

तत्कालीन मुगल सम्राट फर्रुखसियर (सं. १७७०—१७७५) ने जोधपुर के राजा अजीतसिंह को दबा कर उसकी पुत्री इंद्रकुँवरि को बलात् शाही हरम में दाखिल कर दिया था। उससे मारवाड़ी राजपूत मुगल शासन के बडे विरोधी हो गये थे। जब सं० १७७५ में फर्रुखसियर की हत्या कर दी गई, जब सैयद बंधुओं ने मारवाड़ नरेश को प्रसन्न करने के लिए इंद्रकुँवरि को उसके पिता के घर भेज दिया था[१]। "इतिहासकारों का मत है, सैयद बंधुओं की सम्मति से ही वह राजपूत बेगम 'शुद्ध' होकर सन्मान के साथ अपने नैंहर जोधपुर को गई थी। मुगलों के शासन काल की वह पहिली घटना थी, जब शाही हरम से कोई राजपूत कन्या अपने पैतृक घर को वापिस गई हो[२]"।

धार्मिक पुनरुत्थान का प्रयत्न—मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के शासन काल (सं. १७७६—सं. १८०५) में सैयद बंधुओं का प्रभाव समाप्त हो गया था। उस काल में मुसलमानी शासन के ह्रास और हिंदू राजशक्ति के पुनरुत्थान का युग आया था। राजस्थान में राजपूत नरेश, ब्रज में जाट सरदार, दक्षिण और मध्य भारत में मरहटा सामंत तथा पंजाब में सिक्ख वीर हिंदू राज-शक्ति के सुदृढ स्तंभ थे। हिंदू तीर्थों में काजी-मुल्लाओं का आतंक कम हो गया था, जिससे तीर्थ—यात्रियों और भक्तजनों के आवागमन से वहाँ की धार्मिक चहल-पहल बढ़ गई थी। ब्रज के धर्म-स्थान अपने लुप्त गौरव को पुनः प्राप्त करने लगे थे। वृंदावन उस काल में ब्रज का प्रधान धार्मिक केन्द्र हो गया था। वहाँ के वैष्णव धर्माचार्य अपने-अपने संप्रदायों की उन्नति करने में लग गये थे।

उस काल में आमेर का सवाई राजा जयसिंह बड़ा प्रभावशाली हिंदू नरेश हुआ था। मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने अपने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ एवं राज-प्रबंध को ठीक करने के लिए जयसिंह का सहयोग प्राप्त किया और उसे आगरा का सूबेदार बना दिया था। वह सं. १७७७ से सं. १७८३ तक आगरा का सूबेदार रहा था। उस काल मे और उसके बाद भी, वह मुगल दरबार का सर्वाधिक शक्तिशाली सामंत था। मथुरा-वृंदावन सहित समस्त ब्रजमंडल उसके प्रशासन और प्रभाव—क्षेत्र में था। उसने हिंदुओं की स्थिति को सुधारने और ब्रज के महत्व को बढाने का भारी प्रयत्न किया था। अपने प्रभाव से उसने मुहम्मद शाह से कई राजकीय सुविधाएँ प्राप्त की थी, जिनमें 'जजिया' कर का हटाना भी था। उस अपमानजनक कर के हटते ही ब्रज की हिंदू जनता ने आत्म-गौरव का अनुभव करते हुए शांति और संतोष की श्वांस ली थी।

वैष्णव-अवैष्णव संघर्ष—सवाई जयसिंह के शासन काल के कुछ पहिले से ही शैव, शाक्त, स्मार्तादि धर्मों के अनुयायी गण वैष्णव संप्रदायी भक्तजनों से धार्मिक संघर्ष करने लगे थे। औरंगजेब के शासन-काल तक ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों के अनुयायी तत्कालीन शासकों की मजहबी तानाशाही और क़ाजी-मुल्लाओं के उत्पीड़न से अपनी रक्षा करने में प्रयत्नशील रहे थे। वह काल वैष्णव और अवैष्णव सभी धर्म-संप्रदायों के लिए समान रूप से संकट का था। उस समय सबको अपने-अपने अस्तित्व को बचाने की चिंता थी; इसलिए उनका पारस्परिक विद्वेष उभर कर ऊपर नहीं आ सका था। किंतु जब हिंदू राज-शक्ति का पुनरुत्थान होने से इस्लामी खतरा कम हो गया, तब वे सभी धर्म-संप्रदाय अपनी-अपनी उन्नति की चेष्टा में पारस्परिक संघर्ष में भी फँस गये थे। उस काल में

(१) लेटर मुगल्स (प्रथम भाग), पृष्ठ ४२६

(२) राम-भक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ १२६

वैष्णव धर्म के भक्ति-संप्रदायों ने अधिक उन्नति की थी। उनकी लोकप्रियता के सामने शैव, शाक्त, स्मार्तादि अवैष्णव धर्म-संप्रदाय नहीं टिक पा रहे थे। वैष्णव संप्रदायों के बढ़ते हुए प्रभाव ने उन्हें पराभूत सा कर दिया था। उससे उनमें प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो गई, जिसने उग्र धार्मिक संघर्ष का रूप धारण कर लिया था।

अवैष्णव साधकों के अत्याचार—उस काल में अवैष्णव संप्रदायों के उग्र साधक धार्मिक उपदेश और शास्त्र का सहारा छोड़ कर तामसी उपाय एवं शस्त्र द्वारा वैष्णव भक्तों को पराजित करने की चेष्टा करने लगे थे। शैव धर्मानुयायी उग्र साधु और कनफटा जोगी, स्मार्त धर्म के दशनामी संन्यासी तथा गोसाईं और नागा आदि के दल के दल बड़े-बड़े दंड, चीमटे, त्रिशूल और शस्त्रों द्वारा वैष्णवों को आतंकित और पीड़ित करते हुए फिरते थे। उनकी बड़ी-बड़ी जमातें वैष्णव तीर्थों में जा कर वहाँ के भजनानंदी वैष्णव साधुओं एवं सात्विक प्रकृति के भक्तजनों पर प्रहार करती थीं, और उन्हें वैष्णवी तिलक एवं कंठीमाला त्यागने के लिए विवश करती थीं!

ब्रज में वैष्णवों की अपेक्षा अवैष्णवों का प्रभाव बहुत कम था, अतः यहाँ पर धार्मिक विद्वेष उग्र रूप में प्रकट नहीं हुआ था। किंतु अवध और उसके निकटवर्ती पूर्वी क्षेत्रों में जहाँ वैष्णव साधुओं की अपेक्षा दशनामी गोसाईंयों और शैव वैरागियों का ज़ोर अधिक था, वहाँ उनके धार्मिक विद्वेष ने बड़ा भयावह रूप धारण किया था। प्रेमलता जी कृत 'वृहत् उपासना रहस्य' में गोसाईंयों के तत्कालीन नेता लच्छी गिरि के अत्याचारों का और महात्मा रामप्रसाद के जीवन-वृत्त 'श्री महाराज चरित्र' में दशनामी गोसाईंयों द्वारा अयोध्या पर किये गये एक आक्रमण का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है,—

> लच्छी गिरि यक भयउ गोसाईं। प्रभु पद विमुख कंस की नाईं॥
> लै सहाय बहु यती गोसाईं। बहु वैस्नव मारेउ बरियाईं॥
> शस्त्र लिये धावत जग डोलैं। मारहिं निदरि वचन कटु बोलैं॥
> उमगेउ खल जिमि नदी तलावा। वैस्नव धर्महि चहत उड़ावा॥ × ×
> जहँ वैराग वेष कहुँ पावहिं। ताहि भाँति बहु त्रास देखावहिं॥
> तिनके डर सब लोग डेराने। जहँ-तहँ बैठि यकंत लुकाने॥
> बदलि वेष निज छाप छिपाई। कोउ निज भाँति न देहि देखाई[1]॥

वैष्णवों द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयत्न—अवैष्णव साधुओं के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने के लिए ब्रज के वैष्णव भक्तों ने कोई प्रयत्न नहीं किया था। वे सदा से धार्मिक उत्पीड़न को सहन करते रहने से उनके अभ्यस्त हो गये थे, अतः उस नये संकट के प्रति भी सहिष्णु बने रहे! किंतु राजस्थान के रामानंदी वैष्णव साधुओं ने अवैष्णवों के उत्पीड़न से अपनी रक्षा करने का बीड़ा उठाया था। उसे राजस्थान की वीर-भूमि का प्रभाव ही कहा जा सकता है। उसकी पहल जयपुर राज्य की रामानंदी गद्दी के अध्यक्ष स्वामी बालानंद ने की थी।

बालानंद जी का वैष्णव संगठन—'राम दल की विजय-श्री' नामक पुस्तिका में स्वामी बालानंद और उनके द्वारा वैष्णव संप्रदायों के संगठन किये जाने का वृत्तांत लिखा गया है। उसके अनुसार बालानंद जी का जन्म राजस्थान के किसी गाँव में सं. १७१० में हुआ था। वे बाल्यावस्था

---

(१) राम भक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ११९–१२०

में ही जयपुर राज्य की रामानंदी गद्दी के आचार्य विरजानंद जी के शिष्य हो गये थे और उनके पश्चात् वहाँ के आचार्य हुए थे । इस गद्दी की परंपरा स्वामी रामानंद जी के शिष्य स्वामी सुरसुरानंद की पाँचवीं पीढ़ी के आचार्य अनभयानद जी से चली है । अनभयानंद जी की शिष्य-परंपरा में विरजानंद जी पाँचवें और बालानंद जी छठे आचार्य थे । इस गद्दी की विशेष ख्याति स्वामी बालानंद जी के समय में ही हुई थी । उनके द्वारा वैष्णवों में शक्ति और शौर्य का संचार किये जाने से उन्हें रामानंदी संप्रदाय में हनुमान जी का अवतार माना जाता है[1] ।

स्वामी बालानंद ने अवैष्णवों के आतंक और उत्पीड़न से वैष्णवों की रक्षा करने के लिए चारों संप्रदायों के वैष्णवों का एक शक्तिशाली संगठन बनाने का निश्चय किया, जिसके लिए वृंदावन में एक सभा बुलाई गई[2] । उस काल में उत्तर भारत में ब्रज का वृंदावन ही समस्त वैष्णव संप्रदायों का प्रमुख केन्द्र था, अतः इसी स्थान पर उस महत्वपूर्ण सभा का आयोजन किया गया था । उसमें निर्णय किया गया कि चारों संप्रदायों के वैष्णवों को पारस्परिक भेद-भाव मिटा कर एक सूत्र में बँध जाना चाहिए और अपनी रक्षा के लिए वैष्णव साधुओं के एक दल को सैनिक *ढंग से संगठित करना चाहिए । उक्त निर्णय के अनुसार वैष्णव संप्रदायों में 'अनी–अखाड़ों' का* निर्माण किया गया था । वृंदावन की वह सभा किस संवत् में हुई, इसका उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु ऐसा अनुमान होता है कि वह सं० १७७० के लगभग हुई होगी ।

अनी-अखाड़े—वैष्णव धर्म के चारों संप्रदायों में दार्शनिक सिद्धांत और उपासना विषयक कतिपय भिन्नताओं के कारण आरंभ से ही आपस में कुछ मतभेद रहा है । किंतु जब अवैष्णव धर्मों के उग्र साधुओं की असहिष्णुता और उनके उत्पीड़न से सभी वैष्णव संप्रदायों के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया, तब उन्होंने पारस्परिक मतभेद और सांप्रदायिक संकीर्णता को भुला कर एक अनुशासनबद्ध सामूहिक संगठन की व्यवस्था की थी । उस संगठन को सैनिक रूप दिया गया, और उसके अंतर्गत ३ 'अनी' तथा १८ 'अखाड़े' बनाये गये । अनी का अर्थ है 'समूह' अथवा 'सेना', और अखाड़ा का अभिप्राय 'अखंड' से है[3] । इस प्रकार वे 'अनी-अखाड़े' चारों वैष्णव संप्रदायों के सामूहिक सैनिक संगठन थे ।

जिस तरह आपद्धर्म के कारण गुरु नानक देव के सीधे-सादे धार्मिक शिष्य (सिक्ख) समुदाय को गुरु गोविंदसिंह ने सैनिक संगठन में परिवर्तित कर दिया था, उसी प्रकार वैष्णव धर्म के भजनानंदी साधुओं की जमातों को स्वामी बालानंद ने सैनिक अखाड़े बना दिये; किंतु दोनों की स्थिति में मौलिक अंतर था । सिक्खों का संगठन एक विधर्मी राज-शक्ति की मजहबी तानाशाही के विरुद्ध हुआ था; किंतु वैष्णव अखाड़े हिंदू धर्म के कतिपय संप्रदायों की उच्छृंखल प्रवृत्ति के विरोध में बनाये गये थे । ऐसे अनेक अवसर आये, जब शैव साधुओं और दशनामी गोसांईयों का वैष्णव अखाड़ों के वैरागी भक्तों से दुर्भाग्यपूर्ण सशस्त्र संघर्ष हुआ था ।

---

(१) राम भक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३३५, ३८८
(२) वही, पृष्ठ १२०
(३) भजन रत्नावली (पृष्ठ ३०४) में 'अखाड़ा' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है,—
'अखंड संज्ञासंकेताः कृतो धर्म विवृद्धये ।' (राम भक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ १२१)

सवाई जयसिंह का धार्मिक समन्वय—उस काल में आमेर के सवाई राजा जयसिंह ने राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में भी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। वह एक धर्मप्राण नरेश होने के साथ ही साथ दूरदर्शी राजनयिक भी था। वह शैव, शाक्त, स्मार्त, वैष्णव आदि सभी धर्म-संप्रदायों को विशाल हिंदू धर्म के महत्वपूर्ण अंग मानता था और उनके पारस्परिक संघर्ष को हिंदू समाज के सामूहिक हित के विरुद्ध समझता था। वह वैष्णव धर्म के परंपरागत चतुः संप्रदायों के अतिरिक्त उस काल के नवीन भक्ति-संप्रदायों के स्वतंत्र अस्तित्व को भी हिंदू-हित के लिए अवांछनीय मानता था। यह वड़े महत्व की वात थी कि तत्कालीन मुगल सम्राट महम्मद शाह (सं० १७७६–सं० १८०५) ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था के कार्य में उसे सहयोग देने के लिए आमंत्रित किया था। फलतः वह दिल्ली सम्राट की ओर से सं० १७७७ में आगरा प्रांत का सूवेदार वनाया गया। जव वह आगरा का सूवेदार हुआ तो समस्त ब्रजमंडल भी उसके प्रभाव क्षेत्र में आ गया था। उस काल में उसने यहाँ के धर्म-संप्रदायों के पारस्परिक विद्वेष को दूर कर उन्हें एक सूत्र में वाँधने का क्रांतिकारी प्रयास किया था। जयसिंह का उद्देश्य अच्छा था, किंतु उसकी पूर्ति के लिए उसने जो साधन अपनाये, उनसे ब्रज के कई संप्रदायों को वडा कष्ट उठाना पड़ा था।

वृंदावन के कतिपय भक्ति संप्रदायों ने उस काल में वैष्णव धर्म के परंपरागत चतुः संप्रदायो और वैदिक विधि-निषेधों के प्रति उपेक्षा दिखलाई थी। सवाई राजा जयसिंह की दृष्टि मे वह धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन था, जिसे सहन करने के लिए वह तैयार नहीं था। उसने वृंदावन के उन भक्ति संप्रदायों के आचार्यों को आदेश दिया कि वे या तो वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों में से किसी एक के साथ संवद्ध हों, या अपने स्वतंत्र अस्तित्व की शास्त्रीय प्रामाणिकता सिद्ध करें। इसके लिए उसने सं० १७८० के लगभग अपनी राजधानी आमेर में एक वृहत् 'धर्म संमेलन' का आयोजन किया था और उसमें सम्मिलित होने के लिए ब्रज के सभी धर्म-संप्रदायों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया। उक्त संमेलन में हिंदू धर्म के विविध धर्म-संप्रदायों के पारस्परिक विद्वेष को दूर कर उनमें एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था।

उस समय ब्रज में वैष्णव धर्माचार्य सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंवार्क और मध्व के परंपरागत चतुः संप्रदायों के साथ ही साथ सर्वश्री रामानंद, वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश और हरिदास के भक्ति संप्रदाय भी प्रचलित थे। रामानंद, वल्लभाचार्य और चैतन्य देव के संप्रदाय क्रमशः सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी और मध्व के संप्रदायों की परंपरा में विकसित हुए थे; अतः वे अपने मूल संप्रदायों से किसी न किसी रूप में संवद्ध थे। स्वामी हरिदास और हित हरिवंश के भक्ति संप्रदाय अपना स्वतंत्र अस्तित्व मानते थे; किंतु सवाई जयसिंह के आदेशानुसार उन्हें भी चतुः संप्रदायों में से किसी एक के साथ अपना संवंध जोड़ना आवश्यक था। उस विषम परिस्थिति में स्वामी हरिदास के अनुयायी विरक्त साधुओं ने निंवार्क संप्रदाय से और गृहस्थ गोस्वामियों ने विष्णुस्वामी सप्रदाय से अपना-अपना संवंध स्थापित किया था। इस प्रकार हरिदासी संप्रदाय दो वर्गों में विभाजित हो गया। हित हरिवंश जी के अनुयायी राधावल्लभीय भक्तजन किसी भी संप्रदाय से संवद्ध नहीं हो सके थे; अतः उन्हें सवाई जयसिंह के राजकीय कोप का भाजन वनना पड़ा था। तत्कालीन राधावल्लभीय आचार्य श्री रूपलाल गोस्वामी उसी कारण वृंदावन छोड़ कर कामवन में निवास करने को वाध्य हुए थे। सं० १८०० में जव जयसिंह का देहावसान हो गया,

माधवजी (महादजी) सिंधिया

सवाई राजा जयसिंह
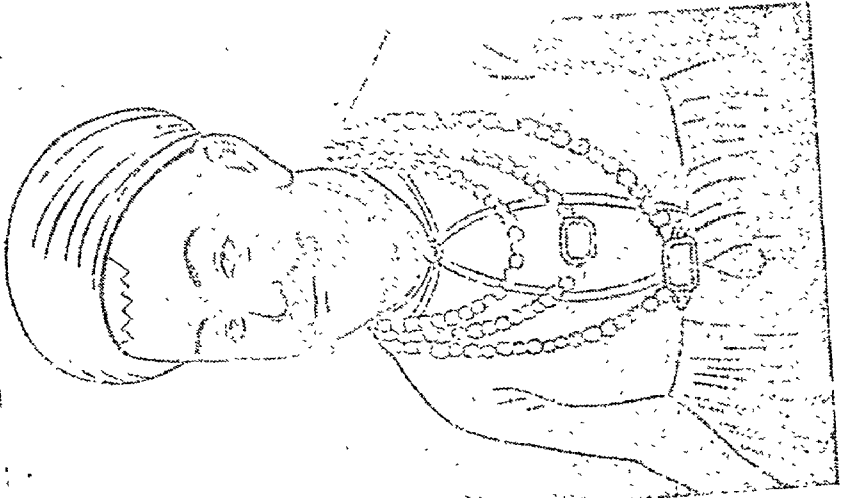
तब कहीं वे वृंदावन में वापिस आ सके थे[1]। इस प्रकार सवाई जयसिंह ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार ब्रज में सांप्रदायिक संगठन और धार्मिक समन्वय का उल्लेखनीय कार्य किया था।

जाट-मरहठा काल (सं. १८०५ से सं. १८८३ तक) की स्थिति—उस काल के जाट राजा और मरहठा सरदारों ने ब्रज की राजनैतिक गति–विधियों में बडी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी; किंतु वे यहाँ की धार्मिक स्थिति को उन्नत नहीं कर सके थे। वैसे वे दोनों ही हिंदुत्व के प्रबल समर्थक और ब्रज की गौरव-वृद्धि के बडे इच्छुक थे; किंतु राजनैतिक झंझटों में उलझे रहने और आपसी विद्वेष में फँस जाने के कारण वे ब्रज की धार्मिक प्रगति में कोई खास योग देने में असमर्थ रहे थे। उस कालावधि में जाटों के राजा बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह तथा मरहठों के अधिपति पेशवा और उनके सरदार माधव जी सिंधिया जैसे वीर–पुंगव दो प्रबल हिंदू-राजशक्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे। यदि वे दोनों मिल कर विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करते, तो छत्रपति शिवाजी के 'हिंदू पातशाही की स्थापना' के स्वप्न को साकार बना सकते थे; किंतु उन्होंने आपस में ही लडते रह कर हिंदू-हित की बड़ी हानि की थी। उसका दुष्परिणाम अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण के रूप में इस भू-भाग को भोगना पड़ा था।

अब्दाली द्वारा ब्रज का विनाश—अफगानिस्तान के पठान शासक अहमदशाह अब्दाली ने सं. १८१४ में इस देश पर बड़ा भीषण आक्रमण किया था। उस समय शक्तिहीन मुगल सम्राट आलमगीर (द्वितीय) दिल्ली के तख्त पर आसीन था। उसने आक्रमणकारी का प्रतिरोध करने की अपेक्षा उससे अपमानपूर्ण संधि कर ली थी। फलतः पहिले तो अब्दाली ने दिल्ली को लूटा, और फिर वह धूँआधार मचाता हुआ ब्रजमंडल पर चढ़ दौड़ा। उस समय जाटों और मरहठों में इस प्रदेश के स्वामित्व के लिए वैमनस्य और विवाद चल रहा था। उसके कारण कोई भी पक्ष इस भू-भाग की सुरक्षा के लिए अपने को उत्तरदायी नही समझता था। उस शोचनीय स्थिति में अरक्षित पड़े हुए ब्रज के धर्म-स्थान अब्दाली के क्रूर सैनिकों की बर्बरता के शिकार हुए थे।

अफगानी सैनिकों ने मथुरा और वृंदावन पर आक्रमण कर उन्हें खूब लूटा। उन्होंने धन बटोरने के लिए मंदिरों को नष्ट–भ्रष्ट किया, मूर्तियों को तोड़ा, पंडा-पुजारियों को मौत के घाट उतारा और स्त्रियों को अपमानित किया। उनके क्रूर कारनामों से ब्रज के अनेक धर्म-स्थान बर्बाद हो गये और बहु संख्यक वैष्णव भक्तों की जानें गईं। चाचा वृंदावनदास कृत 'हरि कला बेली' में वृंदावन में मारे गये जिन विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियों का नामोल्लेख हुआ है; उनमें ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानंद जी और राधावल्लभीय भक्त जन गोस्वामी मुकुंदलाल एवं बाबा प्रेमदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मथुरा और वृंदावन में पैशाचिक लीला करने के उपरांत अब्दाली के सैनिक ब्रज के तीसरे प्रमुख धार्मिक केन्द्र गोकुल में लूट–मार करने को गये थे। वहाँ पर नागा साधुओं और वैरागियों के सशस्त्र दलों ने उनसे जम कर मोर्चा लिया। उसी समय दैव योग से अब्दाली की सेना में हैजा फैल गया। फलतः आक्रमणकारियों को वापिस लौटना पड़ा। इस प्रकार नागाओं के अद्भुत साहस और आकस्मिक दैवी सहायता के कारण गोकुल के धर्म स्थान अब्दाली की क्रूरता के शिकार नही

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी, पृष्ठ ७०–७२, ४८४–४८५

सके थे। फिर भी उसके द्वारा मथुरा–वृंदावन में जैसा विनाश किया गया, उससे ब्रज का धार्मिक महत्व समाप्तप्राय हो गया था। औरंगजेब के काल में ब्रज के सर्वनाश में जो कुछ कमी रह गई थी, वह अब्दाली के उस आक्रमण मे पूरी हो गई! वह ऐसा भीषण आघात था कि उसने ब्रज के धर्म–संप्रदायों की ह्रासोन्मुखी स्थिति को फिर नहीं सुधरने दिया।

जाट राजाओं की देन—यद्यपि उस काल की विषम राजनैतिक परिस्थिति के कारण बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे यशस्वी जाट राजा ब्रज की धार्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहे थे; फिर भी अन्य क्षेत्रों में उनकी देन का बड़ा महत्व है। जाट नरेश सदा से श्री गिरिराज जी के अनन्य उपासक रहे हैं। उन्होंने गोवर्धन में कतिपय धार्मिक आयोजन भी किये थे; किंतु उनकी अधिक रुचि वहाँ पर दर्शनीय इमारतें बनवाने की ओर थी। फलतः उनके द्वारा गोवर्धन के साथ ही साथ वृंदावन, डीग और भरतपुर में सुंदर भवन, मंदिर, कुंज, छतरी और दुर्गों का निर्माण किया गया था। ये इमारतें ब्रज की वास्तु कला के अनुपम नमूने हैं।

माधव जी सिंधिया का ब्रज-प्रेम—मरहठों का विख्यात सेनापति माधव जी सिंधिया महान् वीर और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ हिंदुत्व का बड़ा अभिमानी एवं ब्रज का अनन्य प्रेमी था। तत्कालीन मुगल सम्राट शाह आलम (सं. १८१६–सं. १८६३) पर उसका बड़ा प्रभाव था; जिसके कारण उसने ब्रजवासियों की दशा सुधारने और ब्रज की धार्मिक स्थिति को कुछ उन्नत करने के लिए कई राजकीय सुविधाएँ प्राप्त की थी। वह मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्म स्थान पर एक विशाल मंदिर भी बनवाना चाहता था; किंतु कई कारणों से उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। प्रकृति से वह एक धार्मिक महापुरुष था। वृंदावन के धर्माचार्यों और विशेष कर हरिदासी संप्रदाय के विरक्त संतों के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा थी। वह ब्रज के साहित्य, संगीत और रास का बड़ा प्रेमी था। उसने स्वयं भी ब्रजभाषा में भक्तिपूर्ण पदों की रचना की थी। यदि उसे राजनैतिक झंझटों से अवकाश मिलता, तो वह ब्रज की धार्मिक प्रगति में पर्याप्त योग दे सकता था।

अंगरेज़ों का आधिपत्य—सं० १८५२ में माधव जी सिंधिया की मृत्यु हो गई थी। उसके पश्चात् ब्रज में योग्य शासक के अभाव से जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसका लाभ तत्कालीन अंगरेजी कंपनी को मिला था। जनरल लेक के कमान की अंगरेजी सेना ने सं० १८६० में मथुरा पर अधिकार कर लिया। फिर जनरल कँवरमियर ने सं० १८८३ में भरतपुर के जाट राजा को पराजित कर उसके अधिकार से गोवर्धन सहित ब्रज के बड़े भू-भाग को छीन लिया। इस प्रकार ब्रज प्रदेश अंगरेज़ों की दासता के बंधन में बँध गया।

धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन—जैसा कि 'उपक्रम' के आरंभ में ही कहा गया है, सं. १५८३ से सं. १८८३ तक का यह काल ब्रज के धर्म-संप्रदायों के इतिहास में सर्वाधिक महत्व का है। इसी काल में जहाँ महान् मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति के फल स्वरूप ब्रज के सभी धर्म–संप्रदायों की चरमोन्नति हुई थी, वहाँ औरंगजेब की धर्मान्धता और अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण के कारण उन्हें शोचनीय अवनति के दिन भी देखने पड़े थे। उन राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव ब्रज के वैष्णव संप्रदायों पर अधिक पड़ा था; उनमें भी वल्लभ संप्रदाय सर्वाधिक रूप में प्रभावित हुआ था। अतः पहिले वल्लभ संप्रदाय का, फिर दूसरे भक्ति संप्रदायों का और तत्पश्चात् ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों का विशद वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

१. बल्लभ संप्रदाय

नामकरण—व्रज के वैष्णव संप्रदायों में श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित भक्ति-संप्रदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसे वल्लभाचार्य जी के नाम पर 'वल्लभ संप्रदाय' कहा जाता है। इसका एक प्रसिद्ध नाम 'पुष्टि मार्ग' अथवा 'पुष्टि संप्रदाय' भी है। इस नाम की प्रेरणा आचार्य जी को श्रीमद् भागवत से प्राप्त हुई थी। भागवत का उल्लेख है, भगवान् के अनुग्रह से ही जीवात्मा का वास्तविक पोषण (पुष्टि) होना संभव है,—'पोषणं तदनुग्रहः[१]'। भगवान् की कृपा से ही जीव के हृदय में भगवद्भक्ति का संचार होता है और उसी से भगवत्-प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार भगवान का अनुग्रह (पोषण) ही भगवद्भक्ति का साधन है और वही उसका फल भी है। भगवद्भक्ति और भगवान की प्राप्ति में काल, कर्म और स्वभाव बाधक होते हैं; किंतु श्री वल्लभाचार्य जी का मत है,—'पुष्टि कालादि बाधिका[२]', अर्थात् पुष्टि (भगवत्-कृपा) से कालादि (काल, कर्म, स्वभाव) की बाधा भी नहीं हो पाती है। इसलिए भक्ति मार्ग में 'पुष्टि' को प्रधानता देने वाले इस संप्रदाय को 'पुष्टि मार्ग' कहा गया है।

परंपरा—वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों में यह भक्ति मार्ग विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित 'रुद्र संप्रदाय' की परंपरा में विकसित हुआ है और इसका दार्शनिक सिद्धांत भी विष्णुस्वामी संप्रदाय का 'शुद्धाद्वैतवाद' ही है। ऐसी मान्यता है कि श्री लक्ष्मण भट्ट जी विष्णुस्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे और उन्होंने अपने पुत्र श्री वल्लभाचार्य जी को स्वयं ही मंत्र-दीक्षा दी थी। विष्णुस्वामी संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य बिल्वमंगल जी के पश्चात् वल्लभाचार्य जी को उक्त संप्रदाय की आचार्य गद्दी पर आसीन किया गया था[३]। इसके साथ ही स्वयं वल्लभाचार्य जी ने भी अपने को 'विष्णुस्वामी मर्यादानुयायी' अथवा 'विष्णुस्वामी महानुवर्ती' घोषित किया है[४]। इस प्रकार मूल परंपरा और दार्शनिक सिद्धांत की अभिन्नता की दृष्टि से यह संप्रदाय विष्णुस्वामी संप्रदाय से संबद्ध है; किंतु स्वतंत्र विकास और भक्ति तत्व की भिन्नता के कारण इसे पृथक् संप्रदाय माना गया है।

---

(१) भागवत, द्वितीय स्कंध, दशम अध्याय, श्लोक ४

(२) तत्वदीप निबंध

(३) संप्रदाय प्रदीप, पृष्ठ ५६,१०२; संप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ २८ और अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ६

(४) १. अवंतिका (उज्जैन) के तीर्थ-पुरोहित नरोत्तम शर्मा के लिए श्री आचार्य जी ने सं. १५४६ चैत्र शुद्ध प्रतिपदा (चैत्रादि सं. १५४७ वि०) को एक वृत्ति-पत्र प्रदान किया था, जो संस्कृत भाषा और तेलगु लिपि में उपलब्ध है। उसमें आचार्य जी ने अपने को 'विष्णुस्वामी मर्यादानुयायी' लिखा है। (कांकरोली का इतिहास, पृ.२८-२९)

२. वल्लभाचार्य कृत 'निबन्ध' के प्रथम प्रकरण की पुष्पिका में 'विष्णुस्वामी मतानुवर्ति श्री वल्लभ दीक्षित विरचिते' लिखा मिलता है।

३. सं० १५६८ के ज्येष्ठ मास में श्री वल्लभाचार्य अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री रामकृष्ण भट्ट के साथ बदरीनाथ की यात्रा को गये थे। उस समय उन्होंने वहाँ के पुरोहित वासुदेव तैलंग को एक वृत्ति-पत्र लिख कर दिया था। उसमें उन्होंने अपने को 'विष्णुस्वामि मतानुवर्त्तः' लिखा है। (कां. इ., पृ. ४६-४७ और श्री वल्लभ विज्ञान, वर्ष १ सं. ५)

श्री वल्लभाचार्य जी (सं. १५३५-सं. १५८७)—

जीवन-वृत्तांत—श्री वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी संप्रदाय की परंपरा में एक स्वतंत्र भक्ति-पंथ के प्रतिष्ठाता, शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धांत के समर्थ प्रचारक और भगवत्-अनुग्रह प्रधान एवं भक्ति-सेवा समन्वित 'पुष्टि मार्ग' के प्रवर्त्तक थे। वे जिस काल में उत्पन्न हुए थे, वह राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से बड़े संकट का था। राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारत का अधिकांश भाग विदेशी मुसलमान शासकों की दासता के बंधन में बँधा हुआ था। वे शासक गण प्रायः आपस में लड़ते रहते थे; जिससे अशांति, अरक्षा और उथल-पुथल के कारण जनता को घोर कष्ट उठाना पड़ रहा था। धार्मिक दृष्टि से एक ओर उसे तास्सुवी मुसलमान शासकों की मजहवी तानाशाही से खतरा रहता था; तो दूसरी ओर उसे तात्कालिक धर्म-गुरुओं ने या तो जगत् से विरक्त कर रखा था, या रूढ़िग्रस्त धर्माडंवरों के जाल में फँसा रखा था। सामाजिक दृष्टि से ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, जिससे वर्णाश्रम के आचार-विचार और समाज के विधि-विधान नाम मात्र को रह गये थे। ऐसी विषम परिस्थिति में श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने धर्मोपदेश द्वारा जनता का जैसा कल्याण किया, उसके कारण उनका नाम अमर हो गया है।

पूर्वज और माता-पिता—श्री वल्लभाचार्य जी के पूर्वज आंध्र राज्य में गोदावरी तटवर्ती कांकरवाड़ नामक स्थान के निवासी थे। वे भारद्वाज गोत्रीय तैलंग ब्राह्मण थे। उनका कुल 'वेलनाट' अथवा 'वेल्लनाडु' नाम से प्रसिद्ध था और उसमें सोम यज्ञ कर्त्ता कई धर्मिष्ठ पुरुष समय-समय पर उत्पन्न हुए थे। उनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट दीक्षित प्रकांड विद्वान और धार्मिक महापुरुष थे। उनका विवाह विद्यानगर (विजयनगर) के राजपुरोहित सुशर्मा की गुणवती कन्या इल्लम्मागारू के साथ हुआ था; जिससे रामकृष्ण नामक पुत्र और सरस्वती एवं सुभद्रा नाम की दो कन्याओं की उत्पत्ति हुई थी।

कुछ समय पश्चात् लक्ष्मण भट्ट जी ने तीर्थ-यात्रा करने का विचार किया। वे स्त्री-बच्चे और आवश्यक सामान को लेकर अपने जन्म-स्थान से उत्तर भारत की ओर चल पड़े। उन्होंने प्रयाग, काशी, गया आदि तीर्थों की यात्रा की; और फिर सं० १५३४ में काशी जा कर वहाँ के हनुमान घाट पर स्थायी रूप से रहने लगे। कुछ काल तक काशी में निवास करने पर उन्होंने यह चर्चा सुनी कि दिल्ली का सुलतान एक बड़ी सेना के साथ नगर पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है। उस आपत्ति से बचने के लिए अनेक व्यक्ति सुरक्षित स्थानों में जाने का प्रबंध करने लगे। लक्ष्मण भट्ट जी और उनके साथ के दाक्षिणात्यों का विचार अपने प्रदेश में जाने का हुआ। फलतः वे लोग काशी छोड़ कर दक्षिण की ओर चल दिये। उस समय लक्ष्मण भट्ट जी की पत्नी इल्लम्मा जी गर्भवती थीं; किंतु उन्हें उसी स्थिति में लंबी यात्रा के लिए प्रस्थान करना पड़ा था।

जन्म—श्री लक्ष्मण भट्ट अपने संगी-साथियों के साथ यात्रा के कष्टों को सहन करते हुए जब वर्तमान मध्य प्रदेशांतर्गत रायपुर जिले के चंपारण्य नामक वन में होकर जा रहे थे, तब उनकी पत्नी को अकस्मात प्रसव-पीड़ा होने लगी। सायंकाल का समय था। सब लोग पास के चौड़ा नगर में रात्रि को विश्राम करना चाहते थे; किंतु इल्लम्मा जी वहाँ तक पहुँचने में भी असमर्थ थीं। निदान लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित उस निर्जन वन में रह गये और उनके साथी आगे बढ़ कर चौड़ा नगर में पहुँच गये। उसी रात्रि को इल्लम्मागारू ने उस निर्जन वन के एक विशाल शमी वृक्ष के नीचे अठमासा शिशु को जन्म दिया। बालक पैदा होते ही निश्चेष्ट और संज्ञाहीन सा

ज्ञात हुआ, इसलिए इल्लम्मागारू ने अपने पति को सूचित किया कि मृत बालक उत्पन्न हुआ है। रात्रि के अंधकार में लक्ष्मण भट्ट भी शिशु की ठीक तरह से परीक्षा नहीं कर सके। उन्होंने दैवेच्छा पर संतोष मानते हुए बालक को वस्त्र में लपेट कर शमी वृक्ष के नीचे एक गड़हे में रख दिया और उसे सूखे पत्तों से ढक दिया। तदुपरांत उसे वहीं पर छोड़ कर आप अपनी पत्नी सहित चौड़ा नगर में जाकर रात्रि में विश्राम करने लगे।

दूसरे दिन प्रातःकाल आगत यात्रियों ने बतलाया कि काशी पर यवनों की चढ़ाई का संकट दूर हो गया है। उस समाचार को सुन कर उनके कुछ साथी काशी वापिस जाने का विचार करने लगे और शेष दक्षिण की ओर जाने लगे। लक्ष्मण भट्ट काशी जाने वाले दल के साथ हो लिये। जब वे गत रात्रि के स्थान पर पहुँचे, तो वहाँ पर उन्होंने अपने पुत्र को जीवित अवस्था में पाया! ऐसा कहा जाता है, उस गड़हे के चहुँ ओर प्रज्वलित अग्नि का एक मंडल सा बना हुआ था और उसके बीच में वह नवजात बालक खेल रहा था! उस अद्भुत दृश्य को देख कर दम्पती को बड़ा आश्चर्य और हर्ष हुआ। इल्लम्मा जी ने तत्काल शिशु को अपनी गोद में उठा लिया और स्नेह से स्तन-पान कराया। उसी निर्जन वन में बालक के जात कर्म और नामकरण के संस्कार किये गये। बालक का नाम 'वल्लभ' रखा गया, जो बड़ा होने पर सुप्रसिद्ध महाप्रभु वल्लभाचार्य हुआ। उन्हें अग्निकुंड से उत्पन्न और भगवान की मुखाग्नि स्वरूप वैश्वानर का अवतार माना जाता है। इस प्रकार उस महापुरुष का जन्म बड़ी विचित्र परिस्थिति में सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ रविवार को चम्पारण्य में हुआ था।

जन्म-काल और जन्म-स्थान का निर्णय—श्री वल्लभाचार्य के जन्म-काल के संबंध में एक दूसरा पक्ष भी रहा है, जिसके अनुसार उनका जन्म-संवत् १५२९ माना गया है। यह पक्ष वल्लभ संप्रदाय के चतुर्थ गृह की 'भरूची' शाखा का है। इस शाखा के मान्य विद्वान् कल्याण भट्ट मठपति कृत 'कल्लोल' ग्रंथ में उक्त संवत् का सर्व प्रथम उल्लेख किया गया था। उक्त संवत् के पक्ष और विपक्ष में 'अनुग्रह' वर्ष ६ के कई अंकों में तथा अन्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओं एवं चर्चा-सभाओं में विविध विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये थे। यह उल्लेखनीय है कि 'कल्लोल' के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदाय के अन्य ग्रंथ, जैसे वल्लभ दिग्विजय, संप्रदाय प्रदीप, संप्रदाय कल्पद्रुम, निज वार्ता आदि में तथा वंशावलियों एवं जन्म-बधाई के पदों में सं० १५३५ का ही उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही ज्योतिष गणना से इस संवत् के तिथि-वार भी ठीक बैठते हैं[1]। इस प्रकार पर्याप्त वाद-विवाद और प्रचुर विचार-विमर्श होने के उपरांत सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ रविवार ही अंतिम रूप से वल्लभाचार्य जी का जन्म-दिवस मान लिया गया है।

उनके जन्म-स्थान चम्परण्य की स्थिति के संबंध में भी कुछ विद्वानों को भ्रम हुआ है। श्री ग्राउस ने इसे बनारस के पास का कोई जंगल बतलाया है[2], और डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इसे बिहार राज्य का चंपारन नामक स्थान समझा है[3]। उक्त विद्वानों के भ्रम का निवारण सर्व प्रथम

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १९—२० और वल्लभीय सुधा, वर्ष ११ अंक ३ देखिये

(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर्स (तृ. सं.), पृष्ठ २६१

(३) ब्रजभाषा, पृष्ठ १४

'कांकरोली का इतिहास' नामक ग्रंथ में किया गया था; जहाँ इस स्थान की यथार्थ स्थिति मध्य-प्रदेश राज्य के रायपुर ज़िला में बतलाई गई है[1]। बनारस और चंपारन में कोई ऐसा स्मृति-चिह्न नहीं मिलता है, जिससे उन्हें वल्लभाचार्य जी का जन्म-स्थान कहा जा सके; किंतु मध्य प्रदेश के रायपुर ज़िला में इसकी विद्यमानता है। वहाँ पर राजिम नामक एक कस्बा और रेल का जो स्टेशन है, उससे ७ मील दूर जंगल में 'चंपाझर' नामक स्थान है। वहाँ श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक बनी हुई है, और वहाँ प्रचुर काल से आचार्य जी का जन्मोत्सव भी मनाया जाता रहा है। इससे प्रमाणित होता है कि मध्य प्रदेश का यह 'चंपाझर' नामक स्थान ही महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-स्थल 'चंपारण्य' है। राजिम से चंपाझर तक बैल गाड़ी से अथवा पैदल जाना पड़ता है[2]।

आरंभिक जीवन—वल्लभाचार्य जी का आरंभिक जीवन काशी में व्यतीत हुआ था, जहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके अध्ययनादि की समुचित व्यवस्था की गई थी। उनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट ने उन्हें गोपाल मंत्र की दीक्षा दी थी और श्री माधवेन्द्र पुरी से उन्हें आरंभिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। उनके विद्या-गुरुओं मे लक्ष्मण भट्ट और माधवेन्द्र पुरी के अतिरिक्त सर्वश्री विष्णु-चित, तिरूमल और गुरुनारायण दीक्षित के नाम भी मिलते हैं। वे आरंभ से ही अत्यंत कुशाग्र बुद्धि और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। उन्होंने छोटी आयु में ही वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, काव्यादि में तथा विविध धार्मिक ग्रंथों में अभूतपूर्व निपुणता प्राप्त की थी। वे वैष्णव धर्म के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, शांकर आदिक धर्म-संप्रदायों के अद्वितीय विद्वान थे। उन्होंने अपने ज्ञान और पांडित्य के कारण काशी के विद्वत् समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त किया था।

कुटुंब-परिवार—उनका कुटुंब-परिवार काफी बड़ा और समृद्ध था, जिसके अधिकांश व्यक्ति दक्षिण के आंध्र प्रदेश में निवास करते थे। उनकी दो बहिनें और तीन भाई थे। बड़े भाई का नाम रामकृष्ण भट्ट था। वे माधवेन्द्र पुरी के शिष्य और दक्षिण के किसी मठ के अधिपति थे। उन्होंने तपस्या द्वारा बड़ी सिद्धि प्राप्त की थी। सं० १५६८ में वे वल्लभाचार्य जी के साथ बदरीनाथ धाम की यात्रा को गये थे। अपने उत्तर जीवन में वे संन्यासी हो गये थे। उनकी संन्यासावस्था का नाम केशवपुरी था। वल्लभाचार्य जी के छोटे भाई रामचंद्र और विश्वनाथ थे। रामचंद्र भट्ट बड़े विद्वान और अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनके एक पितृव्य ने उन्हें गोद ले लिया था और वे अपने पालक पिता के साथ अयोध्या में निवास करते थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें शृंगार रोमावली शतक (रचना-काल सं० १५७४), कृपा-कुतूहल, गोपाल लीला महाकाव्य और शृंगार वेदांत के नाम मिलते हैं।

वल्लभाचार्य जी का अध्ययन सं० १५४५ में समाप्त हो गया था। तब उनके माता-पिता उन्हें लेकर तीर्थ-यात्रा को चले गये थे। वे काशी से चल कर विविध तीर्थों की यात्रा करते हुए जगदीश पुरी गये और वहाँ से दक्षिण चले गये। दक्षिण के श्री वेंकटेश्वर बाला जी में सं० १५४६ की चैत्र कृ० ६ को उनका देहावसान हुआ था। उस समय वल्लभाचार्य जी की आयु केवल ११-१२ वर्ष की थी; किंतु तब तक वे प्रकांड विद्वान और अद्वितीय धर्म-वेत्ता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। उन्होंने काशी और जगदीश पुरी में अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की थी।

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १५

(२) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ६०६

यात्राएँ—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने अध्ययन की समाप्ति और पिता जी की मृत्यु के अनंतर अपने भक्ति सिद्धांत के व्यापक प्रचार के लिए विस्तृत यात्राएँ करने का निश्चय किया। उसकी पूर्ति के लिए सर्व प्रथम उन्होंने अपनी माता जी को दक्षिण स्थित विद्यानगर में उनके भाई के घर पहुँचा दिया। उसके उपरांत वे निश्चिंत होकर देशाटन करने लगे। उन्होंने समस्त भारत-वर्ष की कई वार यात्राएँ की थीं। उन यात्राओं में उन्होंने प्रकांड विद्वत्ता एवं प्रवल युक्तियों द्वारा उस समय के मत-मतान्तरों द्वारा फैलाये गये पाखंडवाद और शांकर मत के मायावाद का खंडन तथा अपने विशुद्ध ब्रह्मवाद एवं भक्ति-सेवाप्रधान पुष्टिमार्ग का मंडन किया था। उसके लिए उन्हें अनेक स्थानों में विविध धर्म-संप्रदायों के विद्वानों एवं धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ करना पड़ा था; किंतु उसमें सदैव उनकी विजय हुई थी। उन्होंने प्राय: २० वर्ष तक लगातार परिभ्रमण और देशाटन करते हुए लंवी यात्राएँ की थीं।

उनके आरंभिक जीवन की सफलता के लिए उन यात्राओं का वड़ा महत्व है। उनके कारण उनकी ख्याति समस्त देश में व्याप्त हो गई और वे अपने युग के सर्वप्रधान धर्माचार्य माने जाने लगे। उनके अधिकांश शिष्य-सेवक उन यात्राओं में ही हुए थे, और उनके अनेक ग्रंथ भी उसी काल में रचे गये थे। वल्लभ संप्रदाय में उन यात्राओं को श्री आचार्य जी की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' अथवा 'दिग्विजय' कहा जाता है। उन यात्राओं में तीन प्रमुख हैं, जिनकी महत्वपूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

प्रथम यात्रा—श्री वल्लभाचार्य जी की इस यात्रा का आरंभ 'वार्ता' साहित्य के अनुसार सं० १५४८ की वैशाख कृ० २ को हुआ था। वैसे वे सं० १५४६ से ही यात्रा कर रहे थे; जव कि वे प्रमुख तीर्थ स्थानों और धार्मिक स्थलों में धर्म-प्रचार करते हुए सं० १५४६ के अंत में उज्जैन पहुँचे थे। उन्होंने चैत्रादि सं० १५४७ के आरंभिक दिवस चैत्र शु० १ को उज्जैन के तीर्थ-पुरोहित नरोत्तम शर्मा के लिए वृत्ति-पत्र प्रदान किया था। उसके पश्चात् वे ओड़छा गये, जहाँ उन्होंने 'घट सरस्वती' नामक एक तांत्रिक विद्वान को शास्त्रार्थ में पराजित किया। सं० १५४८ में वे विद्यानगर गये थे। उसी समय संभवत: उन्होंने अपनी माता जी को उनके भाई के निवास-स्थान पर छोड़ा था। विद्यानगर की विद्वत्सभा में उन्होंने मायावादियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें निरुत्तर किया था। कुछ विद्वानों ने भ्रम वश इस शास्त्रार्थ को विद्यानगर के राजा कृष्णदेव राय की धर्म-सभा वाला वह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ समझा है, जिसमें विविध धर्मों के विद्वानों को पराजित करने से आचार्य जी का 'कनकाभिषेक' किया गया था। वहाँ से दक्षिण-पूर्व के तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए जव वे 'झाड़खंड' (जगन्नाथ पुरी से वैजनाथ धाम तक का वन्य प्रदेश) में पहुँचे, तव सं. १५४९ की फाल्गुन शु० ११ को अकस्मात उनके अंतःकरण में व्रज की ओर जाने की प्रेरणा हुई थी। फलतः वे वहाँ से सीधे व्रजमंडल की ओर चल दिये थे।

वे सं० १५५० की ग्रीष्म ऋतु के अंत में व्रज में पहुँचे और वह उनकी प्रथम व्रज-यात्रा थी। उन्होंने वहाँ चातुर्मास्य किया और गोकुल का अनुसंधान कर वहाँ के गोविंदघाट पर श्रीमद् भागवत का पारायण किया था। उसी स्थल पर उन्होंने श्रावण शु० ११ को अपने प्रमुख सेवक दामोदरदास हरसानी को सर्व प्रथम मंत्र-दीक्षा दी थी। इस प्रकार उन्होंने समर्पण मंत्र द्वारा अपने 'पुष्टि' मार्गीय संप्रदाय की स्थापना की थी। उसके उपरांत उन्होंने मथुरा जाकर वहाँ के विश्राम घाट की 'यंत्र-वाधा' दूर की। उस यात्रा में ७ वर्ष लगे थे और वह सं. १५५३ में पूरी हुई थी।

द्वितीय यात्रा—वह यात्रा सं० १५५४ की ज्येष्ठ शु० २ रविवार को आरंभ हुई थी। उसमें आचार्य जी ने अपने विशुद्ध ब्रह्मवाद और पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धांत का व्यापक प्रचार किया था। उसी यात्रा में वे ब्रज के गोवर्धन नामक प्राचीन लीला-स्थल में गये थे। वहाँ सं० १५५६ में उन्होंने गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्रागट्य कर उनकी सेवा-पूजा की आरंभिक व्यवस्था की थी। उसी समय सद्दू पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास प्रभृति अनेक ब्रजवासी गण आचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। इस संप्रदाय के कुछ ग्रंथों में श्रीनाथ जी की सेवा का आरंभ आचार्य जी की प्रथम यात्रा के काल में होना लिखा गया है; किंतु अन्य घटनाओं की संगति से वह कथन ठीक नहीं मालूम होता है।

इस द्वितीय यात्रा में वे धर्म-प्रचार करते हुए महाराष्ट्र के विख्यात तीर्थ पंढरपुर गये थे। वहाँ पर श्री विट्ठलेश जी का दर्शन करने के अनंतर उन्हें अपना विवाह करने की प्रेरणा हुई थी। फलतः वे पंढरपुर से विद्यानगर गये और वहाँ से अपनी माता जी को साथ लेकर काशी आ गये। वह यात्रा सं० १५५८ में पूर्ण हुई थी और उसमें प्रायः ५ वर्ष लगे थे।

उस यात्रा की समाप्ति पर उन्होंने सं० १५५८ की आषाढ़ शु० ५ को काशी में मधुमंगल नामक सजातीय ब्राह्मण की सुलक्षणा कन्या महालक्ष्मी (अक्का जी) के साथ विवाह किया था। उस समय महालक्ष्मी जी की आयु केवल ८ वर्ष की थी, अतः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अभी समय नहीं आया था। उस अवसर का लाभ उठाने के लिए वे तृतीय यात्रा का आयोजन करने लगे।

तृतीय यात्रा—वह यात्रा सं० १५५८ के पौष मास में आरंभ हुई थी और श्री वल्लभाचार्य जी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण यात्रा थी। उसमें उनके गौरव की अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। उस यात्रा में वे सबसे पहिले गोवर्धन गये, जहाँ उनकी प्रेरणा से अंबाला के एक धनाढ्य सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के विशाल मंदिर बनवाने की योजना बनायी थी। इस मंदिर का निर्माण कार्य सं. १५५६ की वैशाख कृ० ३ को आरंभ हुआ। उसके उपरांत वे अनेक स्थानों में भ्रमण और अपने मत का प्रचार करते हुए सं. १५६३ में काशी में गये। वहाँ पर 'पत्रावलम्बन' ग्रंथ द्वारा उन्होंने मायावादियों और शैव-शाक्तों को निरुत्तर किया। काशी से वे पुनः गोवर्धन गये। वहाँ पर सं. १५६४ में पूरनमल खत्री द्वारा बनवाए हुए नवीन मंदिर में उन्होंने श्रीनाथ जी के स्वरूप को विराजमान किया। उस कार्य के अनंतर वे दक्षिण चले गये। वहाँ पर सं. १५६५-६६ में उन्होंने विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में भाग लिया था। उस शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण राजा कृष्णदेव राय द्वारा उनका 'कनकाभिषेक' किया गया। वह यात्रा सं. १५६६ के लगभग पूरी हुई।

यात्रा की समाप्ति पर वे श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ गोवर्धन गये थे। उसी काल में सूरदास और कृष्णदास उनके सेवक हुए थे। आचार्य जी ने सूरदास को श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने का आदेश दिया और कृष्णदास को मंदिर की व्यवस्था का भार सोंपा था। उसके उपरांत आचार्य जी गृहस्थ धर्म के निर्वाहार्थ अड़ैल में जा कर रहने लगे थे।

ब्रज आगमन—जब श्री वल्लभाचार्य जी अपनी प्रथम यात्रा करते हुए 'झाड़खंड' में पहुँचे, तब सं. १५४६ की फाल्गुन शुक्ला ११ गुरुवार को भगवत्-प्रेरणा से अकस्मात् उन्हें ब्रज में जाने की इच्छा हुई थी। वे अपनी यात्रा के पूर्व कार्यक्रम को स्थगित कर सीधे ब्रजमंडल की ओर चल दिये[1]। उनके साथ जो सेवक थे, उनमें दामोदरदास हरसानी तथा कृष्णदास मेघन प्रमुख थे,

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ६—१०

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी

श्री आचार्य जी और सर्वश्री माधव भट्ट, दामोदरदास हरसानी एवं कृष्णदास मेघन

मथुरा का विश्रामघाट

और वे स. १५५० की ग्रीष्म ऋतु में व्रज में आये थे। उनका आगमन इस पुरातन प्रदेश के भाग्योदय का सूचक था। उनके कारण इसे जो गौरव प्राप्त हुआ, वह इतिहास प्रसिद्ध है। उस काल में समस्त व्रजमंडल पर दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी का कठोर शासन था। उसके दमनकारी आदेशों से यहाँ पर ऐसा आतंक और भय छाया हुआ था कि धर्मप्राण हिंदुओं का यहाँ पर रहना बड़ा कठिन हो गया था। फिर भी श्री आचार्य जी ने यहाँ पर ही 'चातुर्मास्य' करने का निश्चय किया था।

'गोकुल' का अन्वेषण—व्रज की सीमा में प्रविष्ट होने पर उन्होंने यमुना के उस पार मथुरा के सामने वाले 'वृहदारण्य' में विश्राम किया। वे भगवान् श्रीकृष्ण के आरंभिक लीला-स्थल 'गोकुल' में निवास करना चाहते थे; किंतु उस काल में यमुना पार के उस विशाल वन में नंदालय सहित श्रीकृष्ण के शैशव कालीन प्राचीन स्थलों की यथार्थ स्थिति अज्ञात थी। उस वन के एक भाग में 'महावन' का ऐतिहासिक स्थल था; किंतु महमूद गजनवी के आक्रमण के पश्चात् वह भी वीरान हो गया था। श्री आचार्य जी उस बीहड़ वन में श्रीकृष्ण की शैशव-लीला के प्राचीन स्थलों का अन्वेषण करने लगे। उन्होंने वर्तमान गोकुल के उस स्थल को विशेष महत्वपूर्ण समझा, जिसे आजकल 'गोविंदघाट' कहते हैं।

'श्री बैठक चरित्र' के अंतर्गत गोकुल की बैठक के प्रसंग में लिखा गया है, जब श्री आचार्य जी को गोकुल की यथार्थ स्थिति के निश्चय करने में कठिनाई हो रही थी, तब श्री यमुना जी ने स्त्री का रूप धारण कर उन्हें बतलाया था कि नदी के तट पर जहाँ छोंकर का अमुक वृक्ष है, वहाँ 'गोविंदघाट' का प्राचीन लीला-स्थल है, और उसी के निकट का भू-भाग प्राचीन गोकुल है।

'समर्पण मंत्र' की दीक्षा और 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना—गोकुल की स्थिति निश्चित हो जाने पर श्री वल्लभाचार्य जी ने वहाँ चातुर्मास्य करते हुए भागवत की कथा कहना आरंभ किया। दामोदरदास हरसानी और कृष्णदास मेघन प्रभृति उनके सेवक तथा कतिपय व्रजवासी गण उक्त कथा को बड़ी श्रद्धा पूर्वक सुनते थे। श्रावण मास में श्री आचार्य जी ने भागवत का साप्ताहिक पारायण किया था। जिस दिन पारायण की समाप्ति हुई, उस दिन सं. १५५० की श्रावण शु० ११ (पवित्रा एकादशी) थी। उस शुभ तिथि की मध्य रात्रि को श्री आचार्य जी को दिव्य अनुभूति हुई कि स्वयं भगवान श्रीहरि उन्हें सांप्रदायिक दीक्षा के शुभारंभ करने का आदेश दे रहे हैं! आचार्य जी ने अपने ग्रंथ 'सिद्धांत रहस्य' के आरंभ में लिखा है,—"श्रावण मास की शुक्ला एकादशी को रात्रि के समय साक्षात् भगवान् ने उनसे कहा कि वे जीवों के देह गत पंच दोषों की निवृत्ति के लिए उन्हें 'ब्रह्म संबंध' की दीक्षा दें[1]।"

भगवत् आदेश की पूर्ति के निमित्त श्री आचार्य जी ने उसी समय अपने प्रमुख सेवक दामोदरदास हरसानी को जगाया और उसे समर्पण मंत्र द्वारा 'ब्रह्म संबंध' की प्रथम दीक्षा दी। इस प्रकार दामोदरदास हरसानी की दीक्षा द्वारा श्री वल्लभाचार्य जी ने सं० १५५० की श्रावण शुक्ला ११ को व्रज में गोकुल के गोविंदघाट पर 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना की थी। उस अवसर पर

---

(१) श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि। साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः। सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधा स्मृताः॥
—सिद्धांत रहस्य, १–२

गोकुल–महावन के कुछ ब्रजवासियों ने भी आचार्य जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। इसका संकेत आचार्य जी के सेवक अच्युतदास गौड़ की वार्ता में मिलता है। उसमें लिखा है, जब आचार्य जी महावन में नारायणदास ब्रह्मचारी के घर पधारे, तब ब्रह्मचारी जी ने और बालक अच्युतदास ने उनसे मंत्र प्राप्त किया था[1]।

मंत्र–दीक्षा के शुभारंभ की पुनीत स्मृति में गोकुल के गोविंदघाट पर छोंकर के वृक्ष के नीचे पहिले एक कच्चा चबूतरा बनाया गया और बाद में पक्की 'बैठक' बनवाई गई थी। श्री आचार्य जी की ८४ बैठकों में से इसे प्रथम बैठक होने का गौरव प्राप्त है। इसी के आस-पास की भूमि में आचार्य जी के सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने बाद में बस्ती बसायी थी, जिसे वर्तमान गोकुल कहा जाता है।

विश्रामघाट की 'यंत्र-बाधा' का निवारण–जैसा लिखा जा चुका है, जब आचार्य जी ब्रज में आये, उस समय यह धार्मिक प्रदेश दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी की मजहबी तानाशाही के कष्टों से कराह रहा था। सिकंदर लोदी बड़ा तास्सुबी और क्रूर शासक था। ऐसा कहा जाता है, वह एक निम्न जातीय हिंदू माता का पुत्र था; इसलिए तुर्क मुसलमान सरदार उसे सुलतान बनाने के पक्ष में नहीं थे। उसने हिंदुओं पर भीषण अत्याचार कर यह सिद्ध करना चाहा था कि वह भी किसी कट्टर मुसलमान से कम नहीं है! उसके क़ाज़ी–मुल्लाओं और राजकीय कर्मचारियों ने मथुरा में ऐसे अमानवीय आदेश जारी कर रखे थे कि उनसे वहाँ के निवासियों का जीवन दूभर हो गया था। श्री वल्लभाचार्य जी ब्रजवासियों का कष्ट दूर करने के निमित्त गोकुल से मथुरा गये और वहाँ के तीर्थ पुरोहित उजागर चौबे के निवास–स्थान पर ठहरे।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में लिखा है, जब श्री आचार्य जी मथुरा में यमुना–स्नान करने के लिए विश्रामघाट को जाने लगे, तब उजागर चौबे तथा दूसरे लोगों ने इसका निषेध किया। उसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा,—'दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी का कामदार रुस्तम अली यहाँ आया था, उसका चौबों ने उपहास किया। उससे रुष्ट होकर उसने विश्रामघाट पर एक ऐसा यंत्र टाँग दिया है कि उसके नीचे होकर जो हिंदू निकलता है, उसकी चोटी कट जाती है और दाढ़ी निकल आती है। इस प्रकार मुसलमान किये जाने के भय से कोई भी हिंदू यमुना–स्यान नही कर पाता है।' आचार्य जी ने उन लोगों के कथन पर ध्यान नहीं दिया, और वे अपने साथियों सहित विश्रामघाट की ओर चल दिये। उन्होंने वहाँ यमुना–स्नान किया। उन पर यंत्र का कोई प्रभाव नहीं हुआ; किंतु बाद में फिर हिंदुओं की चोटी कटने लगी और दाढ़ी निकलने लगी। मथुरा निवासियों ने श्री आचार्य जी से प्रार्थना की, कि वे उस यंत्र-बाधा को सदा के लिए समाप्त कर दें। इस पर श्री आचार्य जी ने अपने दो सेवक वासुदेवदास और कृष्णदास को एक यंत्र देकर दिल्ली भेजा। उस यंत्र से प्रभावित होकर सिकंदर लोदी ने मथुरा की यंत्र-बाधा को हटाने के लिए आदेश जारी कर दिया, जिससे मथुरा निवासियों का कष्ट दूर हो गया[2]। उसी स्मृति में विश्रामघाट पर 'श्री आचार्य जी महाप्रभु की बैठक' बनाई गई है।

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता, वार्ता सं. ५४ अच्युतदास गौड़ की वार्ता

(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०–११

'वार्ता' में जिस तथाकथित 'यंत्र-बाधा' को चमत्कारिकता के रंग में रँग कर उसे वल्लभाचार्य जी के अलौकिक प्रभाव की सूचक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, वह वास्तव में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। उसमें रुस्तम अली और श्री आचार्य जी के यंत्रों की करामात का कथन तथा चोटी के स्थान पर दाढ़ी निकलने आदि की बातें बिलकुल कपोल कल्पनाएँ हैं। मथुरा के चौबों द्वारा रुस्तम अली का उपहास करने की बात भी सर्वथा असंगत है। उस काल में सुलतान सिकंदर लोदी के कठोर शासन का ऐसा आतंक था कि किसी हिंदू द्वारा राजकीय कर्मचारी तो क्या, किसी साधारण मुसलमान के साथ भी वैसा व्यवहार करना कदापि संभव नहीं था। आश्चर्य की बात है, डा. हरिहरनाथ टंडन जैसे आधुनिक विद्वान ने भी मथुरा के चौबों द्वारा रुस्तम अली से उपहास किये जाने की बात को 'सच' माना है! गोया उस काल में भी मथुरा में आजकल की सी स्थिति थी। उन्होंने रुस्तम अली द्वारा एक बड़ी कैंची या कतरनी को टाँगने, उससे खड़ी चोटी वालों की चोटी का कुछ भाग कट जाने और उसे रस्सी से दाढ़ी की तरह बाँध देने की हास्यास्पद बातें लिख कर उस काल के हिंदुओं की वास्तविक स्थिति को अनदेखी किया है[१]!

उस घटना में तथ्य की बात यह है कि वल्लभाचार्य जी के ब्रज में आने से पहिले मथुरा के विश्रामघाट पर हिंदुओं का श्मशान था, जहाँ हिंदू अपने मृतकों का दाह-संस्कार करने के अनंतर क्षौर कर्म और स्नानादि किया करते थे। सिकंदर लोदी ने मथुरा के हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने के लिए उनके धार्मिक कृत्यों पर कड़ी पाबंदी लगा दी थी। उस क्रूर सुलतान के मज़हबी उन्माद के कारनामों से स्वयं मुसलमानों के लिखे हुए इतिहास ग्रंथों के पन्ने भरे पड़े हैं।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय में सुरक्षित 'तबक़ाते अकबरी' की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रोफेसर हलीम ने लिखा है कि सिकंदर लोदी के शासन में राज्य की ओर से मथुरा के घाटों पर कर्मचारी नियुक्त थे, जो हिंदुओं को यमुना में स्नान नहीं करने देते थे और बाल नहीं बनवाने देते थे। प्रोफेसर हलीम की तरह डा. ईश्वरीप्रसाद और डा. आशीर्वादीलाल ने भी लिखा है कि सं. १५४६ के आस-पास मथुरा में हिंदुओं को यमुना में स्नान करने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। 'तारीखे दाऊदी' में भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है[२]। 'तारीखे दाऊदी' जहाँगीर कालीन इतिहास-लेखक अब्दुल्ला की रचना है। इसमें सिकंदर लोदी के धर्मोन्माद और अत्याचारों का जो उल्लेख है, उसे श्री ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है,—'सिकंदर ने मथुरा के हिंदुओं पर अपने सिर और दाढ़ी मुड़वाने तथा धार्मिक कृत्य करने की कड़ी पाबंदी लगा दी थी। उसके आदेश के कारण मथुरा में हिंदुओं को नाई मिलना कठिन हो गया था[३]।' अब्दुल्ला से पहिले अकबर कालीन इतिहास-लेखक फरिश्ता ने भी 'तारीखे फरिश्ता' में उसी प्रकार का कथन करते हुए लिखा था,—'सिकंदर का आदेश था कि कोई हिंदू यमुना–स्नान न करे। उसने नाइयों को कड़ी हिदायत की थी कि वे हिंदुओं के सिरों और दाढ़ियों को न मूँड़ें। उसके कारण हिंदू अपनी धार्मिक क्रियाएँ नहीं कर सकते थे[४]।'

---

(१) देखिये 'वार्ता साहित्य', पृष्ठ ५४०

(२) हिस्ट्री आफ दि राइज़ आफ दि महम्मडन पावर, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर (तृतीय संस्करण), पृष्ठ ३४

(४) हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

श्री वल्लभाचार्य जी ने पहिले तो विश्रामघाट पर से श्मशान हटवाया, ताकि हिंदू अपने मुर्दों का दाह संस्कार अन्यत्र कर सकें। फिर उन्होंने हिंदुओं को यमुना–स्नान की आज्ञा दिलवाने के लिए अपने दो सेवकों को सिकंदर लोदी के पास फरियाद करने दिल्ली भेजा[१]। उस काल में उस प्रकार की फरियाद करना भी बड़े साहस का काम था, जिसे कोई प्रवल आत्म विश्वासी व्यक्ति जीवन का खतरा उठा कर ही कर सकता था ! ऐसा जान पड़ता है, श्री आचार्य जी के प्रयास से सिकंदर लोदी ने कुछ शर्तों के साथ मथुरा में हिंदुओं को यमुना–स्नान करने और वहाँ के घाटों पर क्षौर कर्मादि करने की सुविधा प्रदान कर दी थी। कदाचित उसके लिए राजकीय कर देना पड़ता था। उस प्रकार का तीर्थ-कर सुलतानों के शासन–काल में मथुरा में लगता था, जिसे मुगल सम्राट अकवर ने सं. १६२० में हटाया था। सुलतानी काल में हिंदुओं को हिंदू बने रहने के लिए 'जज़िया' नाम का एक और कर भी देना पड़ता था, जिसे मुगल सम्राट अकवर ने ही सं. १६२७ में वंद किया था।

आचार्य जी के प्रयास से मथुरा के हिंदुओं को यमुना–स्नान और क्षौर कर्मादि धार्मिक कृत्य करने की जो सुविधा प्राप्त हुई थी, वह उनके महत्व की एक वड़ी वात थी। उसे 'वार्ता'-साहित्य में 'यंत्र-वाधा' जैसी चमत्कारपूर्ण घटना की कल्पना द्वारा वास्तविकता से परे कर दिया गया है। 'कांकरोली का इतिहास' का यह उल्लेख कि "आचार्य चरण की त्याग वृत्ति के माहात्म्य से प्रभावित होकर सिकंदर लोदी ने वैष्णव संप्रदायों के साथ किसी प्रकार का जोर-जुल्म न करने की मुनादी पिटवादी[२]" भी सर्वथा अप्रामाणिक है। इतिहास से सिद्ध है, सिकदर लोदी का मजहवी उन्माद उसके समस्त शासन-काल में वरावर जारी रहा था। उसके आदेश से राजकीय कर्मचारी गण ब्रज में चाहे जव संकट उपस्थित कर देते थे, जिससे वहाँ भय और आतंक छा जाता था। ऐसी कई घटनाओं का उल्लेख इतिहास और सांप्रदायिक साहित्य में मिलता है।

श्रीनाथ जी की सेवा और मंदिर-निर्माण का आयोजन—श्री वल्लभाचार्य जी अपनी 'द्वितीय यात्रा' के प्रसंग में सं. १५५६ में पुनः ब्रज में आये थे। उस समय सिकंदर लोदी का दमन चक्र वहाँ पर वड़ी तेजी से चल रहा था। उसने मूर्ति-पूजा और मंदिर-निर्माण पर कड़ी पावंदी लगा दी थी और पुराने मंदिरों की मरम्मत करने का निषेध कर दिया था। उस काल में ब्रज के अधिकांश मंदिर–देवालय उपेक्षित और जीर्ण होने के कारण अत्यंत शोचनीय अवस्था में थे। इस पर भी जव राजकीय कर्मचारियों की उन पर क्रूर दृष्टि पड़ जाती थी, तभी उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करने करने का प्रवल अभियान चल पड़ता था। इस प्रकार ब्रज के हिंदू अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार उपासना और सेवा-पूजा करने के अधिकार से वंचित हो गये थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने सिकंदर लोदी के दमनकारी कठोर आदेशों की उपेक्षा कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म-वल का-परिचय दिया था।

'वार्ता' से ज्ञात होता है, श्री वल्लभाचार्य जी मथुरा से गोवर्धन गये और वहाँ सद्दू (साधु) पांडे के चवूतरे पर उन्होंने विश्राम किया। गिरिराज पहाड़ी की तलहटी में, जहाँ आजकल आन्यौर गाँव है, वहाँ उन दिनों सद्दू पांडे का निवास-स्थान था। वह गोपालन का कार्य करता था, और उसके पास वहुसंख्यक गायें थी। वहाँ पहुँचने पर आचार्य जी को ज्ञात हुआ कि गिरिराज

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ११

(२) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ३४

विषय पृष्ठ संख्या

५. हरिदास संप्रदाय

पहाड़ी की कंदरा से एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ है। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उनका नाम 'गोपाल' रख कर उनकी पूजा के आयोजन की चेष्टा की थी, किंतु उस काल की विषम परिस्थिति के कारण वे समुचित व्यवस्था नहीं कर सके थे। वहाँ के व्रजवासियों में उक्त देव स्वरूप के प्रति अत्यंत श्रद्धा और भक्ति की भावना थी; किंतु वे सुलतानी शासन के आतंक के कारण प्रकट रूप में उनकी पूजा आदि करने का साहस नहीं कर पाते थे।

श्री आचार्य जी ने उक्त देव स्वरूप के दर्शन किये और उन्हें 'गोवर्धननाथ' अथवा 'श्रीनाथ जी' के नाम से प्रसिद्ध किया। उन्होंने वहाँ के व्रजवासियों को कृष्णाश्रय का मंत्र देकर उनमें आत्म बल का संचार कर दिया और उन्हें श्रीनाथ जी की यथोचित रीति से सेवा-पूजा करने के लिए उत्साहित किया। उनके प्रोत्साहन से व्रज में श्रीनाथ जी के रूप में भगवान श्रीकृष्ण की बाल-किशोर भावनात्मक सेवा-पूजा प्रचलित हुई थी। आचार्य जी ने गिरिराज पहाड़ी पर एक छोटा सा कच्चा मंदिर बनवा कर उसमें श्रीनाथ जी के स्वरूप को विराजमान कर दिया था। स्थानीय व्रजवासी गण बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगे। उसी अवसर पर सद्दू पांडे, मानिकचंद पांडे, रामदास चौहान, कुंभनदास, अच्युतदास प्रभृति अनेक व्रजवासी आचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। आचार्य जी ने रामदास चौहान को श्रीनाथ जी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया। सद्दू पांडे और अन्य व्रजवासी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सेवा में सहयोग देते थे और कुंभनदास कीर्तन करते थे। श्रीनाथ जी की सेवा की वह आरंभिक व्यवस्था कर आचार्य जी पुनः अपनी यात्रा को चले गये। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की सेवा के प्रचलन से मानों व्रज में धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आधार-शिला ही रख दी गई थी, जिसका श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी को था।

उसके पश्चात् जब श्री वल्लभाचार्य जी सं. १५५८ में व्रज में आये, तब उन्होंने अम्बाला के एक धनाढ्य हरिभक्त पूरनमल खत्री को श्रीनाथ जी का पक्का मंदिर बनवाने के लिए बड़ा इच्छुक पाया; किंतु सुलतानी आतंक के कारण उसे साहस नहीं हो रहा था। उस काल की विषम परिस्थिति में किसी नये मंदिर के निर्माण का आयोजन करना राजकीय संकट को आमंत्रित करना था! किंतु श्री आचार्य जी की प्रेरणा और उनके प्रोत्साहन से मंदिर-निर्माण की आवश्यक व्यवस्था की जाने लगी। उसके लिए आगरा से हीरामन नामक एक कुशल शिल्पी बुलाया गया, जिसने मंदिर का मानचित्र बना कर उसके निर्माण का आवश्यक प्रबंध किया था।

हीरामन शिल्पी ने शिखरदार मंदिर का मानचित्र बनाया था; किंतु आचार्य जी नंदालय की भावना के अनुसार बिना शिखर का हवेलीनुमा मंदिर बनवाना चाहते थे। उसका एक कारण यह भी था कि उस काल के यवन आक्रांता शिखरों से मंदिरों को सरलता से पहचान कर उन्हें नष्ट कर दिया करते थे। फिर भी मंदिरों की वास्तु कला के अनुसार शिखर बनाना आवश्यक था, अतः श्रीनाथ जी के मंदिर को भी उसी प्रकार का बनाया गया। 'वार्ता' में लिखा है, श्रीनाथ जी ने स्वप्न में पूरनमल खत्री को मंदिर बनवाने के लिए और हीरामन मिस्त्री को मानचित्र बना कर मंदिर निर्माण करने के लिए प्रेरित किया था। मंदिर का शिखर भी श्रीनाथ जी की प्रेरणा से ही बनाया गया था[१]। वैसे तो जगत् के सभी कार्य भगवत्-प्रेरणा से ही सम्पन्न होते हैं, किंतु निमित्त रूप से किसी व्यक्ति विशेष का कर्त्तृत्व माना जाता है। 'वार्ता' में श्रीनाथ जी की इच्छा को प्रमुखता प्रदान करते हुए श्री आचार्य जी के महत्व को गौण कर दिया गया है।

---

(१) श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ१७–१८

'वार्ता' में लिखा है, सं. १५५६ की वैशाख शु० ३ को श्रीनाथ जी के मंदिर के निर्माण का कार्यारंभ हुआ था। उसमें एक लाख से अधिक रुपया लग गया था; किंतु फिर भी मंदिर पूरा नहीं हो सका था। 'वार्ता' के अनुसार मंदिर के पूर्ण न होने का कारण द्रव्याभाव ही था[1]। हमारे मत से वास्तविक बात यह थी कि सिकंदर लोदी के आदेश से या तो मंदिर का निर्माण कार्य रोक दिया था, अथवा बने हुए मंदिर को तोड़ दिया गया था। इसका स्पष्ट उल्लेख चैतन्य संप्रदायी साहित्य में मिलता है, जिसके आधार पर लिखा गया है,—"सिकंदर लोदी के क़ाज़ी ने जब ब्रज के मंदिरों पर अत्याचार करना आरंभ किया, तब यवनों के उपद्रव के डर से गौड़ीय पुजारी श्रीनाथ-गोपाल को मंदिर से नीचे उतार कर तीन मील दूर 'टोड़ का घना' नामक घनघोर बन में ले गये और वहाँ गुप्त भाव से सेवा करने लगे। उधर सुलतान के लोगों ने पूरनमल द्वारा बनवाये हुए मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यवनों का उपद्रव शांत होने पर एक मील दूर 'श्याम ढाक' नामक स्थान पर एक पर्ण मंदिर बनवा कर उसमें श्रीनाथ-गोपाल को विराजमान किया गया था[2]।"

श्रीनाथ जी को 'टोड़ का घना' में छिपाना—'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में भी श्रीनाथ जी को 'टोड़ का घना' में ले जाने का कथन किया गया है, किंतु उसमें वास्तविक कारण की उपेक्षा कर 'चतुरा नागा' नामक भगवद् भक्त को दर्शन देने का उद्देश्य बतलाया गया है। वे चतुरा नागा कौन से भक्त जन थे, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। निंबार्क संप्रदाय में चतुर चिंतामणि जी, जो श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की शिष्य-परंपरा में छठे आचार्य थे, 'नागाजी' कहलाते हैं; किंतु उनके समय की संगति इन चतुरा नागा से नहीं होती है। ऐसा मालूम होता है, वे निंबार्क संप्रदायी नागा जी से भिन्न कोई दूसरे भक्त जन थे। फिर भी उनके संबंध में विशेष अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

'अष्ट सखान की वार्ता' के अंतर्गत कुंभनदास की वार्ता में भी उक्त घटना का उल्लेख हुआ है, जिसका कारण स्पष्ट रूप से 'म्लेच्छ का उपद्रव' बतलाया गया है। उसमें लिखा है, भगवत् द्वेषी म्लेच्छ की लूट-मार से बचने के लिए गोवर्धन के सद्दू पांडे, मानिकचंद पांडे, रामदास और कुंभनदास श्रीनाथ जी के स्वरूप को 'टोड़ का घना' नामक एक निर्जन और कंटकाकीर्ण बीहड़ वनखंड में ले गये थे। व्रजवासी गण खान-पान और रहन-सहन की कठिनाइयों को सहन करते हुए भी उस दुर्गम स्थल में तब तक रहे, जब तक भय की आशंका बनी रही थी। शांति स्थापित होने पर वे पुनः श्रीनाथ जी को लेकर गोवर्धन लौट आये थे[3]। उस घटना का उल्लेख कुंभनदास ने अपने दो पदों में किया है[4]।

---

(१) श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १६

(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं वल्लभाचार्य, पृष्ठ १७–१८

(३) कुंभनदास की वार्ता, प्रसंग २

(४) १. भावत तोहि टोड़ को घनो।
कांटे लगे, गोखरू टूटे, फाटत है सब तनो॥ × ×

२. बैठ्यो आइकें बन माँहि। × ×
डरपति फिरै मृगी तें सिंघ क्यों, ए बातें हमकों न सुहाहिं।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धनधर, सूनों भवन देखि पछिताहिं॥

—कुंभनदास (विद्या विभाग, कांकरोली), पद सं. ३६८, ३६६

पूर्वोक्त पदों की उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें आक्रमणकारियों के प्रति रोष व्यक्त न करते हुए श्रीनाथ जी के प्रति ही व्यंगोक्ति की गई है ! कुंभनदास प्रभृति व्रजवासियों की भावना थी कि वे घटनाएँ श्रीनाथ जी की लीला मात्र हैं। श्रीनाथ जी अपनी इच्छा से इस प्रकार के खेल कर रहे हैं, वरना उस तुच्छ सुलतान की क्या सामर्थ्य है कि वह उनका बाल भी बांका कर सके !

उक्त घटना का उल्लेख पुष्टि संप्रदाय के वार्ता साहित्य के साथ ही साथ चैतन्य मत के साहित्य में भी मिलता है। 'वार्ता' में उक्त घटना की तिथि सं. १५५२ की श्रावण शु० ३ बुधवार बतलाई गए है[1], और चैतन्य मत के साहित्य में सं. १५५५ लिखी गई है[2]। डा. हरिहरनाथ टंडन ने 'वार्ता' की तिथि में वार की भूल बतलाई है[3]। इस प्रकार वह तिथि अप्रामाणिक हो जाती है। डा. टंडन उसे सं. १६१४ की घटना मानते हैं। उनके मतानुसार मुगल सम्राट अकबर के शासन काल में आदिलशाह सूर और हेमू के विद्रोह के समय वह गड़बड़ी हुई थी[4]। हमारे मतानुसार वह घटना सं. १५५६ के कुछ समय बाद की है, जब कि आचार्य जी श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरंभिक व्यवस्था कर अपनी यात्रा के लिए चले गये थे[5]। चैतन्य मत के साहित्य में लिखा गया है, उस घटना के समय श्रीनाथ-गोपाल का देव विग्रह ३ दिनों तक 'टोड़ का घना' में रहा था। उस समय उपद्रवकारियों ने पूरनमल खत्री द्वारा बनवाये हुए श्रीनाथ जी के मंदिर को तोड़ दिया, जिसके कारण श्रीनाथ जी को 'श्याम ढाक' नामक स्थान में एक अस्थायी पर्ण मंदिर बना कर रखा गया था[6]।

श्रीनाथ जी को गांठोली के वन में छिपाना—सिकंदर लोदी अपने अंतिम काल तक व्रज की देव-मूर्तियों और उनके देवालयों के लिए संकट पैदा करता रहा था। इसका प्रमाण 'चैतन्य चरितामृत' के उस उल्लेख से मिलता है, जिसमें श्रीनाथ जी के स्वरूप को सुरक्षा के लिए गांठोली के वन में ले जाने की बात कही गई है। श्री चैतन्य महाप्रभु का व्रज-आगमन सुलतान सिकंदर लोदी के देहावसान से कुछ समय पहिले सं. १५७२-७३ के लगभग हुआ था। उस समय उन्होंने मथुरा में श्री केशव भगवान के दर्शन किये थे। जब वे श्री गोपाल जी (श्रीनाथ जी) के दर्शन करने के लिए गोवर्धन गये, तब उन्हें मालूम हुआ कि गौड़ीय पुजारियों ने उस देव-स्वरूप को गिरिराज पहाड़ी के मंदिर से हटा कर गांठोली के बन में छिपा दिया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उक्त बन में जाकर ही उनके दर्शन किये थे[7]। चैतन्य संप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है कि सं. १५७२ के अगहन मास में एक दिन गोवर्धन में यह खबर बड़े जोरों से फैली कि वहाँ शीघ्र ही आक्रमण होने वाला है। उससे बचने के लिए गौड़ीय पुजारी गण गोपाल जी के स्वरूप को गांठोली

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७

(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७

(३) वार्ता साहित्यः एक बृहद् अध्ययन, पृष्ठ ५४२

(४) वही „ „ पृष्ठ

(५) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ८-१०

(६) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १८

(७) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य खंड, परिच्छेद १८, पयार ३०-३१

के घने वन में ले गये थे और उन्हें वहाँ के ज्वाला कुंड पर तीन दिन तक रखा था। जब आक्रमण का संकट टल गया, तब चौथे दिन श्री गोपाल जी को गिरिराज पहाड़ी के मंदिर में ले जाकर पधराया गया था[1]।

श्रीनाथ जी के मंदिर-निर्माण की पूर्ति और सेवा का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के मंदिर-निर्माण का आरंभ तो सं. १५५६ में कर दिया था; किंतु वह पूरा नहीं हो सका था। 'वार्ता' में उसका कारण द्रव्याभाव बतलाया गया है; किंतु हमारे मतानुसार वह धनाभाव से भी अधिक सिकंदर लोदी का मजहबी उन्माद था, जिससे उक्त मंदिर पूरा नही किया जा सका था। 'वार्ता' में लिखा है, वह मंदिर २० वर्ष तक पूरा नहीं हुआ था और उस अधूरे मंदिर में ही श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा होती रही थी। जब पूरनमल खत्री ने पर्याप्त धनोपार्जन कर लिया, तब उसने सं. १५७६ में मंदिर को पूरा कराया। उस समय श्री वल्लभाचार्य जी अड़ैल से गोवर्धन आये थे, और सं. १५७६ की वैशाख शु० ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होंने बड़े समारोह पूर्वक श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था[2]।

'वार्ता' में मंदिर के पूर्ण होने का जो कारण बतलाया गया है, वह भी सर्वांश में सत्य नहीं है। वास्तविक बात यह है कि जब तक सिकंदर लोदी जीवित रहा, तब तक मंदिर पूरा नहीं किया जा सका था। सं. १५७४ में जब उस क्रूर सुलतान की मृत्यु हो गई, तब ब्रजवासियों ने संतोष की श्वांस ली थी। सिकंदर का पुत्र इब्राहीम अपने पिता के समान कट्टर नही था, और वह ब्रजमंडल की ओर से उदासीन होकर जौनपुर तथा कड़ा-मानिकपुर के युद्ध अभियानों में उलझा हुआ था। उन कारणों से उस काल में ब्रज में कुछ शांति थी। उस परिस्थिति का लाभ उठा कर श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मंदिर को पूरा कराने के लिए पूरनमल खत्री को प्रेरित किया था। निदान पूरनमल के द्रव्य से वह मंदिर सं. १५७६ में पूरी तरह बन कर तैयार हुआ था। उस समय श्री आचार्य जी अड़ैल से वहाँ पधारे थे; और सं. १५७६ की वैशाख शु० ३ को उस नवीन मंदिर में श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था।

तब तक श्रीनाथ जी का वैभव भी बहुत बढ़ गया था। मंदिर में सेवा-पूजा विशाल आयोजन के साथ की जाती थी। श्रीनाथ जी के दूध-घर की सेवा के लिए सैकड़ों गायें थीं, जिन्हें सद्दू पांडे प्रभृति ब्रजवासियों ने भेंट की थीं। उस काल तक सूरदास और कृष्णदास भी आचार्य जी के सेवक हो चुके थे। उन दोनों को सं. १५६७ में आचार्य जी ने मंत्र-दीक्षा दी थी। सूरदास को श्रीनाथ जी के मंदिर का प्रमुख कीर्तनकार नियत किया गया था और कुंभनदास उनके सहायक बनाये गये थे। कृष्णदास को मंदिर का अधिकारी नियत किया गया, जिन्होंने मंदिर की समुचित व्यवस्था कर पुष्टि संप्रदाय के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। सं. १५७७ में परमानंददास भी श्री आचार्य जी से दीक्षा लेकर गोवर्धन आ गये थे। वे भी सूरदास और कुंभनदास के साथ श्रीनाथ जी का कीर्तन करते थे। इस प्रकार अष्टछाप के चारों वरिष्ठ महानुभाव—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास एवं कृष्णदास ने श्रीनाथ जी की विविध भाँति से सेवा और उनके समक्ष पद-गान करते हुए ब्रज में कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार में योग दिया था।

---

(१) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं वल्लभाचार्य, पृष्ठ २७

(२) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्त्ता, पृष्ठ

सुलतानों के आतंकपूर्ण शासन काल में श्रीनाथ जी का वह मंदिर ही व्रजमंडल में पहिला नया देवालय बनाया गया था। उसके कम से कम ५० वर्ष बाद फिर मुगल सम्राट अकबर के उदार शासन काल में व्रज के विविध स्थानों में मंदिर-देवालय बनाये गये थे। इस प्रकार उस संकट काल में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित करने और उनका मंदिर बनवाने के लिए श्री आचार्य जी के साहस और आत्म बल की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम ही होगी।

विद्यानगर का शास्त्रार्थ और आचार्यत्व—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति-सिद्धांत की स्थापना के लिए जो अनेक शास्त्रार्थ किये थे, उनमें विद्यानगर की धर्म-सभा का शास्त्रार्थ सब से अधिक महत्वपूर्ण था। जब आचार्य जी अपनी तृतीय यात्रा करते हुए दक्षिण में अपने पूर्वजों के ग्राम कांकरवाड़ में गये, तब उन्होंने सुना कि विद्यानगर में एक महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ हो रहा है। दक्षिण प्रदेशीय विद्यानगर (विजयनगर) राज्य के हिंदू नरेश महाराजा नृसिंह वर्मा के सुयोग्य सहकारी राजा कृष्णदेव राय ने विद्यानगर में एक विशाल धर्म-सभा का आयोजन किया था, जिसमें विविध धर्म-संप्रदायों के विद्वान अपने-अपने सिद्धांतों की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रहे थे[1]। शास्त्रार्थ में एक ओर मध्व, निंबार्क, विष्णुस्वामी और रामानुज संप्रदायों के वैष्णव विद्वान थे, और दूसरी ओर शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैव-शाक्त आदि अवैष्णव विद्वान थे। वैष्णवों के प्रमुख वक्ता माध्व संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ थे, और अवैष्णवों के प्रधान वक्ता शंकर मतानुयायी विद्यातीर्थ थे। दोनों पक्षों में प्रबल वाद-विवाद हुआ। अंत में वैष्णव पक्ष गिरने लगा। वल्लभाचार्य भी उस शास्त्रार्थ का समाचार सुन कर वहाँ पर गये थे। उन्होंने वैष्णव पक्ष के समर्थन में ऐसा प्रकांड पांडित्य प्रदर्शित किया कि गिरता हुआ वह पक्ष प्रबल हो गया, और अद्वैतवादियों तथा अवैष्णवों को पराजय उठानी पड़ी[2]। वैष्णवों की उस विजय का कारण वल्लभाचार्य जी थे, अतः वहाँ के वैष्णव आचार्यों और राजा कृष्णदेव राय ने उनका समुचित आदर-सन्मान करने का निश्चय किया।

वल्लभाचार्य जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर माध्व संप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ उनको अपने संप्रदाय का आचार्य बनाना चाहते थे, और विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य उनको विष्णु-स्वामी की गद्दी पर आसीन करना चाहते थे। विष्णुस्वामी ने जिस शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, वह वल्लभाचार्य जी के समय में नाम मात्र के लिए विद्यमान था। कहते हैं, विष्णुस्वामी की गद्दी पर उस समय बिल्वमंगल नामक एक आचार्य थे, जो किसी योग्य विद्वान को अपना उत्तरा-धिकारी बना कर आप समाधिस्थ होना चाहते थे। वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धांत विष्णु-स्वामी मत के अनुकूल था, अतः उन्होंने विष्णुस्वामी संप्रदाय के आचार्य का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' तथा पुष्टि संप्रदाय के अन्य ग्रंथों में वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी संप्रदाय का आचार्यत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति का नाम बिल्वमंगल लिखा गया है। बिल्वमंगल नाम के तीन व्यक्ति हुए है। यहाँ पर विष्णुस्वामी संप्रदायानुगामी द्रविड़ देशीय बिल्वमंगल जी से अभिप्राय है[3]।

---

(१) गुजराती ग्रंथ 'श्री विट्ठलेश चरितामृत', पृ० ८५

(२) कांकरोली का इतिहास, पृ० ३७

(३) संप्रदाय प्रदीप, प्रकरण ३, पृष्ठ ४५

राजा कृष्णदेव राय ने वल्लभाचार्य जी को सन्मानित करने के लिए उनका कनकाभिषेक किया और विभिन्न वैष्णवाचार्यों ने उनको विष्णुस्वामी संप्रदाय का आचार्य घोषित करते हुए 'आचार्य चक्र चूड़ामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु' की उपाधि से सन्मानित किया। तभी से वे लोक में 'श्री आचार्य जी महाप्रभु' के नाम से विख्यात हुए थे। कनकाभिषेक में वल्लभाचार्य जी को विपुल स्वर्ण भेंट किया था। उसमें से उन्होने केवल ७ स्वर्ण मुद्राएँ लेकर शेष धन को उपस्थित विद्वान ब्राह्मणों में वितरित कर दिया था।

वल्लभाचार्य जी की जीवन-घटनाओं में विद्यानगर के कनकाभिषेक का विशेष महत्व है, किंतु उसका ठीक-ठीक संवत् पुष्टि संप्रदाय के ग्रंथों में भी नहीं मिलता है। कतिपय सांप्रदायिक ग्रंथों में श्री वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के समय कनकाभिषेक का होना लिखा गया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इसी मत को स्वीकार किया है[1]; किंतु ऐतिहासिक काल-क्रम से वह घटना सं. १५६५ से पूर्व की नहीं हो सकती, क्यों कि राजा कृष्णदेव राय का शासन-काल उसी संवत् से आरंभ होता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के कई प्रसंगों में वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा में ही विद्यानगर के एक शास्त्रार्थ का संकेत मिलता है। उस शास्त्रार्थ में भी उन्होंने मायावाद का खंडन और ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया था। ऐसे शास्त्रार्थ उनकी तीनों यात्राओं में अनेक बार हुए थे। उस शास्त्रार्थ को कनकाभिषेक वाला प्रसिद्ध शास्त्रार्थ समझ लेने से यह भ्रम चल पड़ा है।

गुजरात के सावली नामक ग्राम में एक कूए की खुदाई के समय कुछ ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त हुई है। इस सामग्री में एक जीर्ण ताड़पत्र भी है, जिसमें वल्लभाचार्य जी के कनकाभिषेक का समय सं. १५६५ अंकित है[2]। इस लेख की प्राप्ति से यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि कनकाभिषेक वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा में नहीं, बल्कि उनकी तृतीय यात्रा में हुआ था। उस समय उनकी आयु ३० वर्ष के लगभग थी।

गृहस्थाश्रम और संतान—वल्लभाचार्य जी ने सं. १५३५ से सं. १५५८ तक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया था। वे जीवन पर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह करना चाहते थे; किंतु अपने मत के प्रचारार्थ उत्तराधिकारी की आवश्यकता समझ कर उन्हें विवाह करना पड़ा। उनका विवाह सं. १५५८ में हुआ था; किंतु पत्नी के अल्पायु होने से उन्होंने तृतीय यात्रा के पश्चात् सं. १५६६ में गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। उस समय तक वे अपनी यात्राओं की पूर्ति, धार्मिक दिग्विजय और आचार्यत्व-ग्रहण कर चुके थे। वे गृहस्थाश्रम के निर्वाहार्थ प्रयाग के दूसरी ओर यमुना के दक्षिण तट पर स्थित अड़ैल नामक ग्राम में अपना स्थायी निवास बना कर रहे थे। उनका दूसरा स्थायी निवास काशी के निकटवर्ती चरणाट नामक स्थल में भी था।

वल्लभाचार्य जी के दो पुत्र हुए थे। बड़े पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म सं. १५६८ की आश्विन कृ० १२ को अड़ैल में और छोटे पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म सं. १५७२ की पौष कृ० ९ को चरणाट में हुआ था। दोनों पुत्र अपने पिता के समान विद्वान और धर्मनिष्ठ थे।

---

(१) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ७०

(२) विद्यापत्तनम्। श्री नृसिंहवर्म सार्वभौम स्वस्ति श्री साम्राज्ये मीन मासे ११ लोकगुरु आचार्य चक्रवर्ति श्री प्रभु वल्लभ हेमाभिषिक्तम्। ...आवृत्ति पूर्ण कार्तिक शु०... अब्द १५६५

—श्री वसंतराम शास्त्री कृत गुजराती 'पुष्टिमार्ग नो इतिहास', पृष्ठ १९

शुद्धाद्वैत सिद्धांत—वल्लभ संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है। ऐसा समझा जाता है, इस सिद्धांत के प्रवर्त्तक आचार्य विष्णुस्वामी थे, जो श्री वल्लभाचार्य से कई शताब्दी पहिले हुए थे। वल्लभाचार्य जी ने उसी को विकसित और व्यवस्थित कर परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया था। इस दार्शनिक सिद्धांत के नाम में 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द इसलिए जोड़ा गया है, ताकि इसे सर्वश्री शंकराचार्य और रामानुजाचार्यादि के सिद्धांतों से पृथक् समझा जा सके। शंकराचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए उसके अतिरिक्त सब कुछ माया अर्थात् मिथ्या माना है, इसलिए उनके अद्वैतवाद में ब्रह्म के साथ माया की भी मान्यता है। रामानुजाचार्य ने अद्वैत ब्रह्म को चिन्मय आत्मा और जड़ प्रकृति से विशिष्ट बतलाया है। वल्लभाचार्य ने पूर्वोक्त आचार्यों के मत के विरुद्ध ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया है, इसलिए उनका सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है; जब कि शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के सिद्धांत क्रमशः 'केवलाद्वैत' और 'विशिष्टा-द्वैत' कहे गये हैं। अन्य आचार्यों के दार्शनिक सिद्धांत 'प्रस्थानत्रयी'—वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र—पर आधारित हैं; किंतु वल्लभ सिद्धांत में उन तीनों के साथ भागवत को भी सम्मिलित कर 'प्रमाण चतुष्ट्य' की मान्यता है।

वल्लभाचार्य जी कृत ब्रह्मसूत्र का 'अणुभाष्य' शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धांत का प्रमुख उपजीव्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त आचार्य जी कृत 'तत्वार्थ दीप निबंध' और भागवत की 'सुबोधिनी टीका', उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी कृत 'विद्वन्मंडन' और 'सुबोधिनी टिप्पणी', उनके वंशज पुरुषोत्तम जी कृत 'अणु भाष्य प्रकाश', 'विद्वन्मंडन टीका' और 'सुबोधिनी-टिप्पणी-प्रकाश' तथा अन्य विद्वानों की बहु संख्यक रचनाओं द्वारा इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान डा. गोपीनाथ कविराज ने वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख दार्शनिक ग्रंथों का नामोल्लेख करने के अनंतर उनके समुचित महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। उनका कथन है,—रामानुजीय अथवा माध्व संप्रदाय के तुल्य वल्लभ संप्रदाय का साहित्य व्यापक अथवा पांडित्यपूर्ण नहीं है। 'शतदूषणी' अथवा 'न्यायामृत' के तुल्य ग्रंथ शुद्धाद्वैत दर्शन के साहित्य में नहीं हैं[1]। श्री कंठमणि शास्त्री कृत 'शु. पु. संस्कृत वाङ्मय' ग्रंथ से स्पष्ट है कि इस संप्रदाय का साहित्य बड़ा समृद्ध है, अतः कविराज जी का उक्त कथन ठीक नहीं है।

आविर्भाव और तिरोभाव—वल्लभ सिद्धांत में 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' को विशेष महत्व दिया गया है। इन दो पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होने पर ही वल्लभ सिद्धांत के मर्म को समझा जा सकता है। वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है,—"यह सृष्टि दो प्रकार की है—जीवात्मक और जड़ात्मक। इन्हीं दो तत्वों के संमिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई है। हम जो कुछ देखते हैं, वह चैतन्य, जड़ किंवा प्रकृति और उन दोनों का संमिश्रण—इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इन्हीं तीनों के द्वारा संसार में अनेक दृश्य दिखाई देते हैं और लोप हो जाते हैं। वस्तुओं का दिखाई देना और लोप होजाना, यह केवल आविर्भाव और तिरोभाव है। कोई वस्तु वास्तव में नष्ट नहीं हो जाती है। ब्रह्मांड में जो परमाणु हैं, इनका नाश नहीं होता है। जिसे लोग नाश समझते हैं, वह रूपांतर होना है। परमाणु में रूपांतर होने से वस्तुओं का नाश होता हुआ दिखाई देता है। वस्तुओं का एक रूप से दूसरे रूप में परिणित हो जाना—यही 'तिरोभाव' और 'आविर्भाव' है[2]।

---

(१) भारतीय संस्कृति और साहित्य (दूसरा भाग), पृष्ठ २३६

(२) सूरदास (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ २३८

वल्लभ सिद्धांत का सार-तत्व—शंकराचार्य के सिद्धांत का सार आधे श्लोक में ही बतलाते हुए कहा गया है,—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः'—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ही ब्रह्म है; वह ब्रह्म से अलग नहीं है। इसके विरुद्ध वल्लभाचार्य के सिद्धांत का सार-तत्व भी आधे श्लोक में इस प्रकार बतलाया गया है,—'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं, अंशो जीवो हि नापरः'—ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है और जीव भगवान का अंश है; वह परब्रह्म नहीं है। इस प्रकार विविध आचार्यों के दार्शनिक सिद्धांतों में ब्रह्म, जीव और जगत् के संबंध में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। वल्लभ संप्रदाय के शुद्धाद्वैत सिद्धांतानुसार इनके स्वरूप का जो विवेचन किया गया है, उसे संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

परब्रह्म—वैदिक वाङ्मय में 'नायमात्मा प्रवचेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' आदि वचनों द्वारा जिस आत्मतत्व की दुर्लभता का बखान किया गया है; उसे मनीषियों ने 'परब्रह्म' कहा है। परब्रह्म 'एक' है; किंतु इसके 'अनेक' नाम-रूप कहे गये हैं। यह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, और निराकार होते हुए भी साकार है। यह कर्त्ता-अकर्त्ता, सूक्ष्म-स्थूल, कार्य-कारण सभी कुछ है। यह विरुद्ध धर्माश्रयी, अनंत शक्तिमान्, विभु और प्रभु है। अक्षर तत्व, कर्म तत्व, काल तत्व और स्वभाव—ये सब परब्रह्म के ही स्वरूपांगत हैं। इसके तीन मुख्य धर्म माने गये हैं,—सत्, चित् और आनंद; जिनके कारण इसे 'सच्चिदानंद' कहते हैं। इसी परब्रह्म को श्रुति, स्मृति, शास्त्र और पुराणादि में ईश्वर, परमात्मा और भगवान् भी कहा गया है।

भारतीय तत्वज्ञान के निदर्शक तीन प्रमुख ग्रंथ हैं,—उपनिषद्, भगवत् गीता और ब्रह्मसूत्र; जो क्रमशः श्रुतिप्रस्थान, स्मृतिप्रस्थान और न्यायप्रस्थान कहे जाते हैं। इनमें महर्षि बादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' प्रधान है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए जीव और जगत् से इसका संबंध बतलाया गया है। इसके प्रथम सूत्र,—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में ही ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है, जिससे इसके प्रतिपाद्य विषय का बोध हो जाता है। यह ग्रंथ सूत्र शैली में लिखा गया है, जिसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए विविध धर्माचार्यों ने अनेक भाष्यों की रचना की है। वल्लभाचार्य जी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य 'अणु भाष्य' कहलाता है, जिसमें परब्रह्म के शुद्धाद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को 'पुरुषोत्तम', आध्यात्मिक स्वरूप को 'अक्षरब्रह्म' और भौतिक स्वरूप को 'जगत्' कहते है। परब्रह्म अपनी अनंत शक्तियों के साथ निरंतर अपने आप में आंतर रमण करता रहता है, इसलिए इसे 'आत्माराम' कहा जाता है।

पुरुषोत्तम कृष्ण—जब परब्रह्म को बाह्य प्रकार से रमण करने की इच्छा होती है, तब अपने आनंद धर्मों वाले दिव्य आधिदैविक 'पुरुषोत्तम' रूप से कृष्ण के रूप में प्रकट होकर अपनी शक्तियों के साथ बाह्य रमण करता है। श्री स्वामिनी, चंद्रावली, राधा आदि पुरुषोत्तम कृष्ण की आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जिनसे अनंत भाव रूपी सखी-सहचरियाँ प्रकट होती हैं। इन शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए पुरुषोत्तम कृष्ण अपने में से गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, यमुना आदि को भी प्रकट करते हैं। ये सब परब्रह्म पुरुषोत्तम के ऐश्वर्य रूप होने से चैतन्य हैं; फिर भी कृष्ण-लीला के लिए इन्होंने जड़ता धारण कर रखी है। गीता, भागवत आदि ग्रंथों में परब्रह्म के जिस भव्य स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है, वह भक्ति का विषय होने से ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट, साकार और सगुण है। यही पुरुषोत्तम कृष्ण है।

श्री वल्लभाचार्य का कथन है, परब्रह्म कृष्ण ही सत्, चित् और आनंद रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि समस्त कार्यों को सम्पन्न करते हैं[1]। वे समस्त दिव्य गुणों से युक्त हैं। उनका दिव्य रजोगुण ब्रह्मा रूप से सृष्टि करता है, दिव्य सतोगुण विष्णु रूप से सब की रक्षा करता है और उनका दिव्य तमोगुण रुद्र रूप से संहार भी करता है।

अपनी आनंदमयी नित्य और दिव्य लीलाओं का औरों को प्रकट ज्ञान कराने के लिए साक्षात् पुरुषोत्तम कृष्ण सारस्वत कल्प में ब्रज में अवतरित हुए थे। पुरुषोत्तम के अविर्भाव से उनका समस्त लीला-परिकर और उनके लीला-स्थल भी गोप-गोपियों एवं वृंदावन-गोवर्धन आदि के रूप में अवतीर्ण हुए थे। इस प्रकार समस्त ब्रजमंडल कृष्ण-रूप हो गया था। तभी इस भू-तल की सामग्री पुरुषोत्तम कृष्ण के भोग योग्य हो सकी थी। भक्ति और उपासना के लिए आचार्य जी ने इन कृष्ण को ही सर्वोपरि देवता स्वीकार किया है; क्यों कि उनके मतानुसार कृष्ण से बढ़ कर वस्तुतः कोई भी दोष रहित देवता नहीं है[2]।

परब्रह्म कृष्ण का विरुद्ध धर्माश्रयत्व—शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म कृष्ण सर्व धर्मों के आश्रय रूप हैं, अतः वे 'धर्मी' कहलाते हैं। उनमें परस्पर विरुद्ध धर्म भी साथ-साथ रहते हैं, यही उनकी विशिष्टता और विचित्रता है। वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है, प्रकृतिजन्य सत्, रज, तम गुणों के अभाव में परब्रह्म कृष्ण जिस प्रकार 'निर्गुण' हैं, उसी प्रकार आनंदादि दिव्य गुणों के होने से सगुण' भी हैं। इसी तरह वे निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे अणु भी हैं, और महान् से भी महान् हैं। वे सर्वतंत्र-स्वतंत्र होते हुए भी भक्त के आधीन हैं। इस प्रकार परब्रह्म कृष्ण विरुद्ध धर्मों के आश्रय रूप हैं[3], अतः 'कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम सर्व-भवन-समर्थ' हैं। वे भक्तों को अपने इस रूप का अनुभव करा कर जगत् में निःसीम माहात्म्य प्रकट करते हैं। उनकी इस विशिष्टता और विचित्रता के मानने पर ही वेदादि में वर्णित ब्रह्म के निर्गुण-सगुण और निराकार-साकार रूप की प्रतिपादक श्रुतियों का मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार वल्लभ संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत में वेद, वेदांत और पुराणादि धर्म ग्रंथों की एक-वाक्यता प्रमाणित की गई है।

जीव—शुद्धाद्वैत सिद्धांत में जीव को ब्रह्म का चिदंश कहा गया है। श्री वल्लभाचार्य ने अग्नि के विस्फुलिंगों (चिनगारियों) की तरह ब्रह्म में से जीवों की उत्पत्ति बतलाई है। जिस प्रकार अग्नि और चिनगारी दोनों में स्वरूप से कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भी स्वरूपगत अभेदत्व है; अर्थात् मूल रूप में जीव भी उतना ही सत्य है, जितना स्वयं ब्रह्म। फिर भी जीव ब्रह्म नहीं है; क्यों कि ब्रह्म अंशी है और जीव केवल उसका अंश मात्र है। जिस प्रकार छोटी-बड़ी चिनगारियों में अग्नि का न्यूनाधिक अंश विद्यमान होता है, उसी प्रकार जीवों की भी स्थिति है। जीव और ब्रह्म में यह अंतर है कि जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है, जब कि ब्रह्म की शक्तियाँ असीम और अनंत हैं।

---

(१) परब्रह्म तु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं वृहत्। जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः। देवता रूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्यं हरिर्मतः॥ (सिद्धांत मुक्तावली, श्लोक सं. ३-१०)

(२) कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्। (अन्तःकरण प्रबोध, श्लोक १)

(३) विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयो युक्त्य गोचरः (निबन्ध)

श्री वल्लभाचार्य ने जीव की तीन अवस्थाएँ मानी हैं,—शुद्ध, संसारी और मुक्त। शुद्धावस्था में जीवों में आनंदात्मक भगवदैश्वर्यादि धर्मों की स्थिति रहती है; अतः उस अवस्था में जीव ब्रह्म रूप होता है। जब ईश्वरेच्छा से जीव का माया से संबंध होता है, तब उसमें से ऐश्वर्यादि भगवत् धर्म तिरोहित हो जाते हैं। उस समय 'मैं' और 'मेरे' की मिथ्या कल्पना करता हुआ जीव सांसारिक मोह-ममता में फँस कर अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह जीव की संसारी-अवस्था होती है, और उस समय वह अपने को दीन, हीन एवं पराधीन मान कर अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। पुनः भगवत्-अनुग्रह से जब जीव भगवान् की शरण में जाता है, तब माया के भ्रम-जाल से उसकी मुक्ति हो जाती है, और वह अपने मूल स्वरूप में फिर से स्थित हो जाता है। वह जीव की मुक्तावस्था होती है। आचार्य जी के मतानुसार तीनों अवस्थाओं में जीव का परम कर्त्तव्य है कि वह भगवद्-भजन करे। रामानुज एवं निंबार्क जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह वल्लभाचार्य ने भी जीव के अणुत्व का समर्थन किया है। जीव को अणु सिद्ध करने के कारण ही उनका रचा हुआ ब्रह्मसूत्र भाष्य कुछ विद्वानों के मतानुसार 'अणु भाष्य' कहलाता है।

जगत्—शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार जगत् परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। वल्लभाचार्य जी का कथन है, भगवान् श्रीहरि अपने सत्धर्म से अट्ठाईस तत्त्व रूप में जगत् स्वरूप होते हैं[1]। इस प्रकार भगवत्-कृति जन्य और भगवत् स्वरूपात्मक होने के कारण जगत् भी ब्रह्म के समान ही सत् है; जैसे 'कारण' और 'कार्य' की समान स्थिति होती है। शंकराचार्य की भाँति वल्लभाचार्य ने जगत् को असत् अथवा मिथ्या नहीं माना है। 'स वै न रेमे', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स द्वितीय-मैच्छत' आदि श्रुति वाक्यों में भी एकाकी और आत्माराम ब्रह्म के बाह्य रमण करने, 'एक' से 'बहुत' होने अथवा आनंदादि धर्मों के आस्वादन करने की इच्छा से उसके जगत् रूप में आविर्भूत होने का संकेत मिलता है।

साधारणतया 'जगत्' और 'संसार' समानार्थक शब्द माने जाते हैं; किंतु शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार इनमें भारी भेद है। जगत् ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है, किंतु संसार मायाग्रस्त जीव के अविद्या-अज्ञानादि से माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पना मात्र है, इसलिए यह असत्य है। वल्लभाचार्य का कथन है, जहाँ कहीं पुराणों में जगत् को माया रूप मिथ्या कहा गया है, वहाँ उसका अभिप्राय वस्तुतः वैराग्य भाव को उत्पन्न करना है[2]। जब भगवत्-अनुग्रह से विद्या-ज्ञान के उदय होने पर जीव मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसके 'संसार' (अविद्या-अज्ञानादि) का तो अंत हो जाता है; किंतु जगत्-प्रपंच फिर भी बना रहता है। प्रलय काल में जब भगवान् आत्मरमण करने की इच्छा करते हैं, तब भी जगत् का नाश नहीं होता है, वरन् उसका 'तिरोभाव' होता है, अर्थात् वह अपने मूल स्वरूप परब्रह्म में उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार घट के टूट जाने पर उसके भीतर का आकाश वृहद् आकाश में समा जाता है। जगत् का यह आविर्भाव और तिरोभाव एक मात्र भगवान् की इच्छा पर आधारित है। 'जगत्' और 'संसार' का यह भेद शुद्धाद्वैत सिद्धांत की विशेषता है। वल्लभ संप्रदाय के अतिरिक्त अन्य किसी संप्रदाय में इस प्रकार का भेद नहीं किया गया है।

---

(१) अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः (निबन्ध)

(२) मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते (निबन्ध)

माया—शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार माया परब्रह्म की स्वरूपा शक्ति है, अतः इसे 'आत्म ाया' कहा गया है। यह परब्रह्म से सदा वेष्टित रहती है। जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक ाक्ति और सूर्य से उसका प्रकाश भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म से आत्म-माया भी भिन्न नहीं । यह माया परब्रह्म के आधीन है, परब्रह्म उसके आधीन अथवा आश्रित नहीं है, इसलिए ब्रह्म ः सत्य स्वरूप को माया कभी आच्छादित नहीं कर सकती है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने भागवत् की 'सुबोधिनी' टीका में माया के दो रूप बतलाये हैं। ासका एक रूप 'व्यामोहिका' है। इस रूप में वह भगवान् के चरणों की दासी है, अतः भगवान् ः सेवक के पास जाने में लज्जित होती है[1]। उसका दूसरा रूप 'करण' है। इससे भगवान् जगत् ी उत्पत्ति तथा उसका पालन और संहार करते हैं[2]। जब महाप्रलय के अनंतर परब्रह्म बाह्य मण करने की इच्छा से जगत् का आविर्भाव करते हैं, तब उनका प्रथम कार्य आत्म-माया का ाकाश करना होता है। वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की भाँति माया को 'सत्–असत्–विलक्षण ाथा अनिर्वचनीय' नहीं माना है।

पुष्टिमार्ग—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए जिस भक्ति मार्ग का प्रचलन किया, वह 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। ुद्धाद्वैतवाद के लिए आचार्य जी चाहें विष्णुस्वामी के ऋणी रहे हों, किंतु पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक ोने का श्रेय उन्हीं को है। कहते हैं, इसके लिए वल्लभाचार्य जी को निम्नलिखित आंतरिक प्रेरणा ई थी,—"अन्य संप्रदायों (रामानुज, मध्व, निंबार्क) में नारद पंचरात्र वैखानसादि शास्त्र प्रति- ादित दीक्षा-पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी संप्रदाय में आत्म–निवेदनात्मक भक्ति की ्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपके इस संप्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) ार्गीय आत्म-निवेदन द्वारा प्रेम स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। संप्रति भक्तिमार्गानुयायी न समाज शांकर सिद्धांत के प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो रहा है, अतः उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ी संपन्न हो सकते हैं[3]।"

फलतः वल्लभाचार्य जी ने पूर्वाचार्यों के मर्यादामार्गीय भक्ति संप्रदायों से भिन्न अपने ुष्टिमार्गीय संप्रदाय की स्थापना की थी। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, आचार्य जी को इस ाम की प्रेरणा श्रीमद् भागवत से प्राप्त हुई थी और इसका प्रारंभ उन्होंने ब्रज में यमुना तट की उस पावन भूमि से किया था, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की शैशव कालीन लीलाएँ हुई थीं। वल्लभाचार्य ी के मतानुसार भगवान् के अनुग्रह से ही जीव के हृदय में भक्ति का संचार होकर उसका वास्तविक कल्याण होता है।

भक्ति के सामान्यतः दो भेद माने गये हैं, जिन्हें 'मर्यादा भक्ति' और 'पुष्टि भक्ति' कहा ाता है। मर्यादा भक्ति में वेद–शास्त्र विहित साधनों की आवश्यकता और फल की आकांक्षा रहती ; किंतु पुष्टि भक्ति साधन निरपेक्ष और आकांक्षा रहित होती है। वल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध ्याख्याता श्री हरिराय जी ने 'पुष्टिमार्ग लक्षणानि' में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है,—

---

(१) श्री सुबोधिनी, २–७–४७

(२) श्री सुबोधिनी, १०–५४–१५

(३) संप्रदाय प्रदीप

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्री कृष्ण के स्वरूप–प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक संबंध ही साधन रूप बन कर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप संबंध बनते हैं; जिस मार्ग में भगवद्–विरह अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है[1]।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है,—"पुष्टिमार्ग में आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय—उन फलों की आकांक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते है, तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सपादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है, जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दे। इसी 'समर्पण' से इस मार्ग का आरंभ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि में प्रवेश हो जाने पर अंत। बीच का मार्ग 'सेवा' द्वारा प्राप्त होता है, जिससे अहंता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है[2]।"

'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म संबंध'—पुष्टिमार्ग में समर्पण (आत्म-निवेदन) अर्थात् ब्रह्म संबंध को बड़ा महत्व दिया गया है। सच तो यह है, इसके बिना पुष्टिमार्ग की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। संसार की अहंता–ममता त्याग कर परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरणों में आत्म-निवेदन कर दीनता पूर्वक उनका अनुग्रह प्राप्त करने को 'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म संबंध' कहते है। यह पुष्टि-मार्गीय दीक्षा है, जिसे प्राप्त करने पर साधक को एक विशिष्ट प्रकार के रहन-सहन और आचार-विचार का पालन करना पड़ता है।

मानव की इंद्रियाँ स्वभावतः दुष्ट हैं और सांसारिक बातों में उनकी शीघ्र ही प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिए श्री वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है कि दुष्ट इंद्रियों के हित के लिए संसार की समस्त वस्तुओं का संबंध जगदीश्वर श्रीकृष्ण से कर देना ही उचित है[3]। इस प्रकार उपासक और उपास्य अथवा जीव और ब्रह्म का शाश्वत संबंध स्थापित करने वाली इस पवित्र दीक्षा के संबंध में लोक में बड़ा भ्रम फैला हुआ है, किंतु यह सब अज्ञान के कारण है।

वस्तुतः इस दीक्षा का अभिप्राय यह है कि जीव अविद्या के कारण ब्रह्म से अपना संबंध भूल गया हे। यह सहस्रों वर्षो से परब्रह्म श्री कृष्ण का वियोग सहन करता हुआ जन्म–मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है। गुरु उस विस्मृत संबंध की पुनः याद दिलाता है और श्री कृष्ण के चरणों में दीक्षार्थी का आत्म-निवेदन अर्थात् आत्म-समर्पण कराता हे। दीक्षार्थी भक्ति-भाव से अपने दोषों की निवृति के लिए श्री कृष्ण की शरण में जाता हे। इस प्रकार आत्म–निवेदन, संबंध-स्थापन और शरण-गमन इन तीनों के एकीकरण को 'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म-संबंध' कहते है। इन तीनों अंशो को पृथक्-पृथक् समझ कर इस संस्कार पर आक्षेप करना भूल है।

---

(१) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ३९५
(२) शुक्ल जी कृत 'सूरदास'
(३) निरोध लक्षण, श्लोक १२

श्री वल्लभाचार्य जी के प्रतिनिधि के रूप में उनका वंशज कोई गोस्वामी आचार्य जिस मंत्र से जीव का श्री कृष्ण के चरणों में आत्म-निवेदन अर्थात् समर्पण कराता है, वह इस प्रकार है,—"श्री कृष्णः शरणं मम । सहस्र परिवत्सरमित काल जात कृष्ण वियोग जनिततापं क्लेशानंद तिरोभावोहं, भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागार पुत्रवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि । दासोहं कृष्ण तवास्मि ।" इसका अभिप्राय इस प्रकार है,—"मैं कृष्ण की शरण में हूँ । सहस्रों वर्षों से मेरा श्री कृष्ण से वियोग हुआ है । वियोगजन्य ताप और क्लेश से मेरा आनंद तिरोहित हो गया है, अतः मैं भगवान् श्री कृष्ण को देह, इंद्रिय, प्राण, अंतःकरण और उनके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, वित्त और आत्मा सब कुछ अर्पित करता हूँ । हे कृष्ण ! मैं आपका दास हूँ; मैं आप का ही हूँ ।"

यह चौरासी अक्षरों का 'गद्य मंत्र' कहलाता है, जो 'ब्रह्म संबंध' की विशिष्ट दीक्षा का है । सामान्य दीक्षा अष्टाक्षर मंत्र 'श्री कृष्णः शरणं मम' से अथवा पंचाक्षर मंत्र 'कृष्ण तवास्मि' से ही दी जाती है । अष्टाक्षर मंत्र को 'नाम मंत्र' भी कहते हैं । इन दोनों मंत्रों का उच्चारण पूर्वोक्त गद्य मंत्र के क्रमशः आरंभ और अंत में भी किया जाता है । ऐसी प्रसिद्धि है, श्री वल्लभाचार्य जी के हस्ताक्षरों से लिखा हुआ मूल गद्य मंत्र जूनागढ (गुजरात) के श्री दामोदर जी के मंदिर में सुरक्षित है ।

यह आत्म-समर्पण की भावना मूलतः श्रीमद् भगवत गीता में मिलती है । गीता के अंत में श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपना सर्वोत्तम उपदेश देते हुए उसे भगवान् की शरण में जाने को कहा है,—'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।' जब जीव आत्म-समर्पण की भावना से भगवान् की शरण में जावेगा, तब वे भी उसे कैसे छोड़ सकते हैं ! इस संबंध में श्रीमद् भागवत में भी श्री कृष्ण की उक्ति है,—'जो व्यक्ति दारागार, पुत्राप्त, प्राण और वित्त सहित मेरी शरण में आता है, हे उद्धव ! मैं भी उसको किस प्रकार त्याग सकता हूँ[1] !'

उपर्युक्त वाक्यों को प्रमाण मान कर श्री वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म संबंध अथवा आत्म-निवेदन की प्रणाली प्रचलित की थी, जो अब तक व्यवहार में आती है । यदि कोई व्यक्ति, चाहें वह आचार्य हो चाहें दीक्षार्थी, अज्ञानवश उसका दुरुपयोग करता है, वह निश्चय ही वल्लभाचार्य जी के मत के विरुद्ध आचरण करता है ।

समर्पण विधि—वल्लभ संप्रदायी साहित्य में समर्पण अर्थात् मंत्र-दीक्षा की कई विधियों का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार हैं,—१. पत्र द्वारा मंत्र लिख कर भेजना, २. किसी भी समय और किसी भी स्थान पर अधिकारी भक्त को मंत्र देना तथा ३. विशेष विधि पूर्वक श्री ठाकुर जी के सान्निध्य में मंत्र देना ।

उक्त विधियों में से प्रथम विधि राजघरानों की उन अंतःपुर वासिनी महिलाओं के लिए थी, जिन्हें रनिवास से बाहर आने की बहुत कम सुविधा होती थी । इस प्रकार की दीक्षा राजा जयमल की बहिन को दी गई थी । इसका उल्लेख "हरिदास बनिया की वार्ता" में हुआ है । उक्त वार्ता से ज्ञात होता है, गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने एक पत्र में समर्पण मंत्र लिख कर भेजा था, जिसे

---

(१) ये दारागार पुत्राप्त प्राणन् वित्त मिमं परं ।
हित्वामां शरणं यातः कथं तां स्त्यक्तुमुत्सहे ॥

'स्नान करके अपरस में बांचने' की आज्ञा दी गई थी[1] । दूसरी विधि उन दैवी और अधिकारी महानुभावों के लिए थी, जिनको धार्मिक विधि-विधान विषयक वाह्याचार की अधिक आवश्यकता नहीं थी । इस प्रकार की दीक्षा श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी ब्रजयात्रा के प्रसंग में गोघाट पर सूरदास को दी थी । उस समय आचार्य जी भोजन करने के उपरांत गद्दी पर विराजमान थे और सूरदास भी संभवतः भोजन करके ही आये थे । आचार्य जी ने सूरदास को दोवारा स्नान करा कर समर्पण मंत्र दिया था[2] । वे दोनों विधियाँ विशेष स्थिति में विशेष प्रकार के दीक्षार्थियों के लिए थीं, और उनके देने वाले भी सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी जैसे समर्थ आचार्य थे। तीसरी सामान्य विधि साधारणतया प्रचलित थी, और वही अब भी प्रचलित है । उसके अनुसार दीक्षार्थी को पहिले दिन व्रत करना पड़ता है । दूसरे दिन स्नान करके वह आचार्य की सेवा में उपस्थित होता है । उस समय आचार्य उसे ठाकुर जी के सन्मुख समर्पण मंत्र सुना कर दीक्षित करते हैं ।

श्री वल्लभाचार्य जी और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उच्च कुल के सवर्ण हिंदुओं के साथ ही साथ शूद्रों, अन्त्यजों और मुसलमानों को भी पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित होने का अधिकार दिया था । अन्त्यजों और मुसलमानों को केवल 'नाम' सुनाया जाता था । 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी के कितने ही अन्त्यज और मुसलमान शिष्य-सेवकों के नाम मिलते हैं ।

पुष्टिमार्गीय सेवा—श्री वल्लभाचार्य जी ने भगवान् श्री कृष्ण की सदैव सेवा करना जीव का आवश्यक कर्त्तव्य बतलाया है । उनका मत है, ऐसा करने से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति होती है और ब्रह्म का बोध होता है[3] । साधारणतया 'सेवा' और 'पूजा' समानार्थक माने जाते हैं; किंतु वल्लभ संप्रदाय की भक्ति-भावना के अनुसार इनमें भेद है । उपास्य देव की स्नेह पूर्वक की गई परिचर्या 'सेवा' कहलाती है, जो विधि-विधान की अपेक्षा भावात्मकता से की जाती है । किंतु स्नेह और भावना की उपेक्षा कर विधि-विधान के आग्रह से की गई परिचर्या को 'पूजा' कहते हैं। 'सेवा' पुष्टिमार्गीय संप्रदाय की विशेयता है, जब कि 'पूजा' मर्यादामार्गीय संप्रदायों में प्रचलित है।

श्री आचार्य जी ने 'सेवा' के दो प्रकार बतलाये हैं,—१. क्रियात्मक सेवा और २. भावात्मक सेवा । क्रियात्मक सेवा भी दो प्रकार की बतलाई है,—१. तनुजा और २. वित्तजा । अपने आप तथा स्त्री, पुत्र, कुटुंबादि द्वारा की गई शारीरिक सेवा को 'तनुजा' कहते हैं, जब कि धन-संपत्ति तथा उनसे संबंधित समस्त साधनों से की गई सेवा 'वित्तजा' कहलाती है । इस प्रकार की सेवाओं से जीव की अहंता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढ़ता होती है । भावनात्मक सेवा मानसी है, जिसे आचार्य जी ने सर्वोत्तम बतलाया है । इसे भगवान् में चित्त को सर्वरूपेण प्रवण करने से ही किया जा सकता है, और इसकी सिद्धि तनुजा-वित्तजा प्रकार वाली क्रियात्मक सेवा के अनंतर ही होती है[4] । इसीलिए पुष्टिमार्गीय सेवा में क्रियात्मक सेवा पर विशेष वल दिया गया है ।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में 'हरिदास वनिया की वार्ता' ,प्रसंग सं. १

(२) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'सूरदास की वार्ता', प्रसंग सं. १

(३) कृष्ण सेवा सदा कार्या...। ततः संसार दुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्म बोधनम् । (सि. मु. १-२)

(४) सिद्धांत मुक्तावली, श्लोक १-२ देखिये ।

वल्लभ संप्रदाय के प्रधान उपास्य देव श्रीनाथ जी

श्री यमुना जी
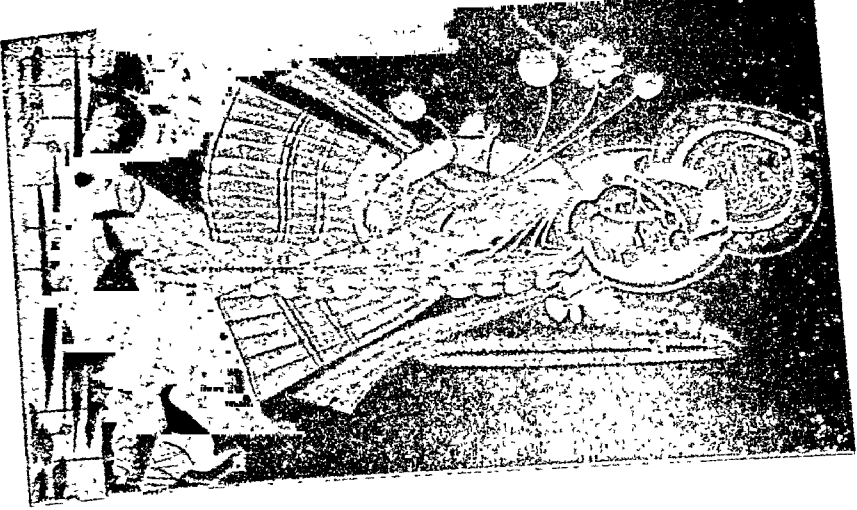
श्री गिरिराज जी
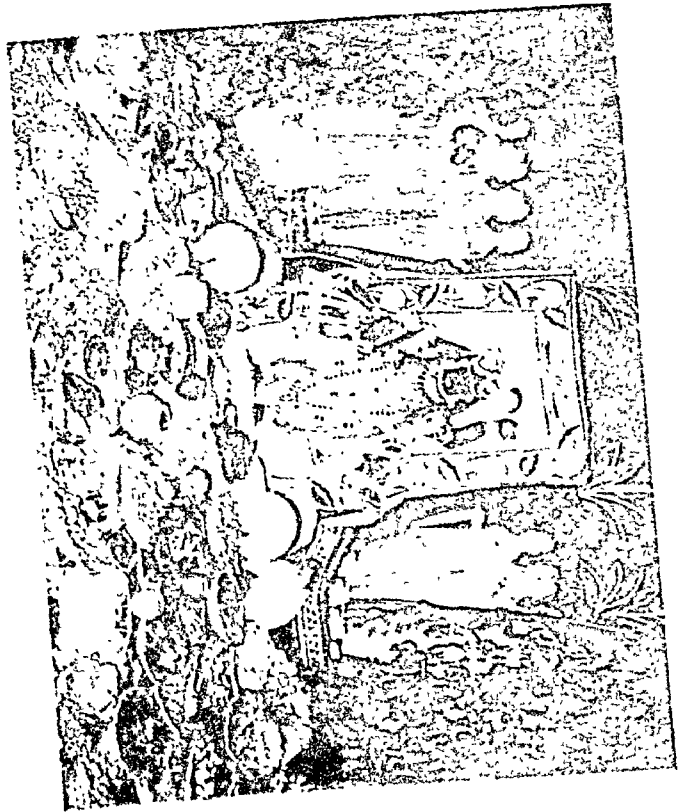
पुष्टिमार्गीय सेवा के दो क्रम हैं,—१. प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत की 'नित्योत्सव सेवा' तथा २. बारह महीनों और छहों ऋतुओं की 'वर्षोत्सव सेवा'। आचार्य जी ने पुष्टिमार्ग की गुरु व्रज की गोपियों को माना है, अतः उन्हीं की प्रेम–भावना के अनुसार उन्होंने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि का निर्माण किया है।

नित्योत्सव की सेवा–विधि में वात्सल्य भाव की प्रधानता है। मातृभाव स्वरूपा व्रजांगनाओं ने श्री कृष्ण के प्रति वात्सल्य स्नेह से प्रेरित होकर उनकी परिचर्या प्रातःकाल के जागरण से सायंकालीन शयन पर्यंत की थी। नित्योत्सव की सेवा में आचार्य जी ने व्रजांगनाओं की उसी भावना को चरितार्थ किया है। नित्योत्सव की सेवा में आठ समय के उत्सव होते हैं। इन्हें १. मंगला, २. शृंगार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग, ५. उत्थापन, ६. भोग, ७. संध्या-आरती और ८. शयन कहा जाता है। इनसे प्रातःकाल से सायंकाल पर्यंत श्री कृष्ण–सेवा में मन लगा रहता है।

वर्षोत्सव की सेवा–विधि में द्वादश मास एवं षट् ऋतुओं के उत्सवों, अवतारों की जयंतियों, लोक–त्योहारों और वैदिक पर्वों का समावेश किया गया है। इनसे आचार्य जी ने आसक्ति रूप स्वकीय और व्यसन रूप परकीय प्रेम-भावना, लोक–भावना तथा ब्रह्म–भावना का कृष्ण–सेवा में विनियोग कर दिया है।

नित्योत्सव और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा–विधियों के तीन प्रमुख अंग हैं,— १. शृंगार, २. भोग और ३. राग। ये तीनों सांसारिक व्यसन भी हैं, जिनसे बचना जीव के लिए बड़ा कठिन होता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने इनसे जीव को छुटकारा दिलाने के लिए इन्हें भगवत्सेवा में लगा दिया है। उनका मत है, भगवान् के संसर्ग से इन व्यसनों का विकृत रूप शुद्ध हो जाता है; यहाँ तक कि भगवत्संसर्ग के प्रभाव से ये व्यसन स्वयं भगवद्रूप हो जाते हैं। इसी बात को श्रीमद् भागवत में और भी स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि बुरे और भले कैसे ही विषयों को भगवान के साथ लगाया जाय, वे सभी भगवत् रूप हो जाते हैं[1]।

इस प्रकार सांसारिक विषयों में फँसा हुआ जीव भी भगवत्सेवा के कारण भगवदीय होकर जीवन्मुक्त हो सकता है। इस तरह की सेवा–विधि श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने संप्रदाय में प्रचलित की थी, जिसका विस्तार बाद में उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ था।

सेव्य स्वरूप—वल्लभ संप्रदाय में परब्रह्म कृष्ण ही परमाराध्य, परमोपास्य और परम सेव्य भी हैं। इस संप्रदाय की मान्यता है कि अनवतार दशा में परब्रह्म कृष्ण श्रीनाथ जी के रूप में व्रज में प्रकट हुए हैं। इस प्रकार श्रीनाथ जी का स्वरूप श्री कृष्ण की बाल्य–किशोर अवस्था का, और गिरिराज–धारण करने के भाव का है। उनकी ऊर्ध्व भुजा इसी भाव की सूचक है, अतः इन्हें 'गिरिधर' अथवा 'गोवर्धननाथ' कहा जाता है। श्री कृष्ण की तरह श्रीनाथ जी को भी गायें अत्यंत प्रिय हैं, अतः इन्हें 'गोपाल' भी कहा गया है।

वल्लभ संप्रदाय की मान्यता है, जिस दिन गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, उसी दिन उनकी रक्षा के लिए गोवर्धन के विविध स्थानों से चतुर्व्यूह भी प्रकट हुए थे। उनमें से गोविंददेव नामक वासुदेव व्यूह गोविंदकुंड से, संकर्षणदेवनामक संकर्षण व्यूह संकर्षणकुंड से, दानीराय नामक प्रद्युम्न व्यूह दानघाटी से और हरिदेव नामक अनिरुद्ध व्यूह श्रीकुंड से प्रकटे थे।

---

(१) कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ (भागवत, १०–२९–१५)

इस प्रकार श्रीनाथ जी वल्लभ संप्रदाय में सर्वोपरि सेव्य स्वरूप माने गये हैं। उनके अतिरिक्त इस संप्रदाय में आठ सेव्य स्वरूप और भी हैं, जिनके नाम १. श्री नवनीतप्रिय जी, २. श्री मथुरेश जी, ३. श्री विट्ठलनाथ जी, ४. श्री द्वारकाधीश जी, ५. श्री गोकुलनाथ जी, ६. श्री गोकुलचंद्रमा जी, ७. श्री मदनमोहन जी और ८. श्री बालकृष्ण जी हैं। श्रीनाथ जी सहित ये स्वरूप श्रीकृष्ण के ९ विशिष्ट रूपों के प्रतीक नव निधि रूप हैं। श्री वल्लभाचार्य जी के समय से लेकर अब तक ये वल्लभ संप्रदाय के सर्वमान्य सेव्य स्वरूप रहे हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि अन्य संप्रदायों की देव मूर्तियों की तरह इन्हें 'मूर्ति' न कह कर 'स्वरूप' कहा जाता है। वल्लभ संप्रदायी भक्त-जन इनकी सेवा साक्षात् कृष्ण का स्वरूप मान कर करते हैं।

श्री आचार्य जी ने उक्त स्वरूपों के अतिरिक्त गिरिराज (पहाड़ी) और यमुना (नदी) की भी बड़ी महिमा बतलाई है। फलतः वल्लभ संप्रदाय में श्री गिरिराज जी और श्री यमुना जी को भी सेव्य स्वरूप माना जाता है। श्री गिरिराज जी भगवान् श्री कृष्ण के सखा और श्री यमुना जी उनकी पटरानी एवं पुष्टि शक्ति के रूप में उपास्य और सेव्य हैं। पुष्टि संप्रदायी भक्तों को श्री गिरिराज जी का दर्शन और उनकी परिक्रमा करना आवश्यक माना गया है। इसलिए ब्रज-यात्रा के अवसर पर प्रति वर्ष उनसे संबंधित अनेक उत्सव और समारोह होते हैं। श्री यमुना जी का स्नान और उसका जल-पान भी पुष्टि संप्रदायी भक्तों का आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति—वल्लभ संप्रदाय में मंत्र-दीक्षा लेकर कृष्ण-सेवा करने के अनंतर किसी व्यक्ति को पुष्टिमार्गीय भक्ति करने का अधिकारी माना जाता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति में आरंभ से अंत तक प्रेम की प्रधानता है, अतः इसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं। आचार्य जी ने श्री कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए उनका स्वरूप तो वही स्वीकार किया, जो उपनिषदों में प्रतिपादित है; किंतु उनकी प्राप्ति का सरल-सुगम साधन 'ज्ञान मार्ग' की अपेक्षा 'भक्ति मार्ग' बतलाया है। उनके मतानुसार भक्ति मार्ग शुद्ध प्रेम द्वारा की गई सेवा का मार्ग है, इसीलिए उन्होंने जीव के कल्याण के लिए भक्ति और सेवा को एक-दूसरे से संबद्ध कर दिया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने विशुद्ध प्रेम को 'शुद्ध पुष्टि' बतलाया है। गोपियाँ विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं, अतः उन्होंने गोपियों को गुरु मान कर उनके प्रेमात्मक साधनों को ही पुष्टि भक्ति के प्रमुख साधन माना है। वल्लभाचार्य जी ने गोपियों को तीन श्रेणियों मे विभाजित कर उनकी भक्ति-भावना के अनुसार ही पुष्टिमार्गीय भक्ति की व्यवस्था की है।

गोपियों की तीन श्रेणियाँ इस प्रकार हैं,—१. व्रजांगनाएँ, २. गोप-कुमारिकाएँ और ३. गोपांगनाएँ। व्रजांगनाओं ने श्री कृष्ण का बाल भाव से भजन किया था, अतः उनकी भक्ति वात्सल्य भावना की है। पुष्टि संप्रदाय की नित्य सेवा-विधि में भी वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है। गोप-कुमारिकाओं ने कात्यायनी व्रत से श्री कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने के लिए भजन किया था, अतः उनकी भक्ति स्वकीय भाव की है। गोपांगनाओं ने लोक-वेद के भय से मुक्त होकर और सर्व धर्मों के त्याग पूर्वक श्री कृष्ण की प्राप्ति के लिए भजन किया था; अतः उनकी भक्ति परकीय भाव की है। इस प्रकार पुष्टि संप्रदाय में केवल वात्सल्य भक्ति ही नहीं; बल्कि सख्य, कांता-स्वकीय और परकीय-तथा ब्रह्म भाव की निर्गुण भक्ति भी ग्राह्य है।

वल्लभ संप्रदाय में सभी प्रकार की भक्ति करने वाले भक्त जन आरंभ से ही होते रहे हैं। कुछ लोगों का यह कथन कि इस संप्रदाय में केवल वात्सल्य भक्ति ही मान्य है, सर्वथा निराधार और अप्रमाणिक है। यद्यपि इस संप्रदाय में कांता भक्ति की आधार गोप-कुमारिकाएँ और गोपांगनाएँ मानी गई हैं; तथापि वल्लभाचार्य जी ने श्री राधा जी का भी यथोचित महत्व स्वीकार किया है। उनकी रचना पुरुषोत्तम सहस्रनाम, त्रिविधि नामावली आदि में माधुर्यमूर्ति श्री राधा जी का उल्लेख मिलता है। आचार्य जी के पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी के समय में जब पुष्टि संप्रदायी भक्ति में माधुर्य भाव की प्रधानता हो गई थी, तब राधा जी का और भी महत्व बढ़ गया था। उस समय उन्हें परब्रह्म कृष्ण की आत्म शक्ति माना गया। गो० विट्ठलनाथ जी कृत 'शृंगार रस मंडन' और 'स्वामिनी स्तोत्र' में इसी प्रकार का भक्ति-भाव प्रकट किया गया है।

फिर भी पुष्टिमार्गीय भक्ति के एक मात्र आधार भगवान् श्री कृष्ण हैं। वल्लभाचार्य जी ने श्री कृष्ण को केन्द्र-विंदु मान कर ही अपने संप्रदाय का वृत्त बनाया है। उन्होंने अपने दार्शनिक और भक्ति सिद्धांत का सार तथा अपने संप्रदाय की रूप-रेखा एक ही श्लोक में व्यक्त करते हुए कहा है,—एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव। मंत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा[1]॥ अर्थात्—कृष्ण कृत गीता ही एक मात्र शास्त्र है, कृष्ण ही एक मात्र आराध्य देव हैं, कृष्ण का नाम ही एक मात्र मंत्र है और कृष्ण-सेवा ही एक मात्र कर्तव्य कर्म है।

वैराग्य-संन्यास—पुष्टिमार्गीय भक्ति में वैराग्य और संन्यास भी मान्य हैं, किंतु इनका स्वरूप ज्ञानमार्गीय वैराग्य-संन्यास से भिन्न माना गया है। वल्लभाचार्य जी ने 'भक्तिवर्धिनी' और 'संन्यास निर्णय' नामक अपनी रचनाओं में पुष्टिमार्गीय वैराग्य-संन्यास का विवेचन किया है।

'भक्तिवर्धिनी' में आचार्य जी ने कहा है, भक्ति का अधिकारी व्यक्ति घर में रह कर वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का पालन करे और मुख्य रूप से भगवान् की तनुजा-वित्तजा सेवा करता रहे। इससे उसका मन लौकिक विषयों से हट जावेगा और प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन की भक्ति-भावना दृढ़ हो जावेगी। इस प्रकार का अभ्यास करने से जब वह प्रेमलक्षणा भक्ति की उच्च अवस्था को पहुँच जावे, तब वह चाहें तो घर को छोड़ कर संन्यास भी ले सकता है; किंतु फिर भी उसे निष्क्रिय न होकर सत्संग और प्रभु-सेवा में लगा रहना चाहिए।

'संन्यास-निर्णय' में आचार्य जी ने कहा है, संन्यास का अर्थ है सर्वस्व त्याग; किंतु देहधारी जीव के लिए यह संभव नहीं है। यदि पुत्र-कलत्रादि का गृह-बंधन प्रभु के प्रेम की प्राप्ति में बाधक होता हो, तो संन्यास लिया जा सकता है; किंतु उसमें दंड-कमंडलु धारण करने जैसे बाह्य वेश को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। भक्तिमार्गीय संन्यास साधन-संन्यास नहीं है, वरन् फलात्मक संन्यास है; अर्थात् अतिशय विरक्ति होने पर उसे उन समस्त फलों की आकांक्षा को भी त्याग देना चाहिए, जो उच्च कोटि के भक्त को प्रभु की कृपा से प्राप्त हो सकते हैं। भक्तिमार्गीय संन्यासी सब ओर से मन हटा कर प्रभु के विरहानंद में लीन हो जाता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने भक्तिमार्गीय संन्यास का पर्यवसान श्री कृष्ण की रासलीला में बतलाया है; इसी से उनके मतानुसार संन्यास का अभिप्राय समझा जा सकता है। इस प्रकार का संन्यास स्वयं आचार्य जी ने भी अपने अंतिम काल में लिया था।

---

(१) तत्वदीप निबंध, श्लोक ४

आचार्य जी के ग्रंथ—श्री वल्लभाचार्य जी ने समकालीन परिस्थिति के परिज्ञान और धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए तीन बार देशव्यापी पैदल यात्राएँ की थीं; जिनमें उनके जीवन के प्रायः २५ वर्ष लगे थे। इस प्रकार पर्यटन और प्रचारादि में अधिक व्यस्त रहने के कारण उन्हें निश्चित हो कर ग्रंथ-रचना करने का अवकाश नहीं मिला था। फिर भी उन्होंने अनेक छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना की थी, जिनसे उनके गंभीर अध्ययन और प्रकांड पांडित्य का परिचय मिलता है। उनके अधिकांश ग्रंथ यात्रा–काल में ही रचे गये थे। उस समय माधव भट्ट नामक एक काश्मीरी पंडित उनके लिपिक का कार्य करते थे। अवकाश के समय में आचार्य जी अपने ग्रंथों को बोल कर लिखाते थे और माधव भट्ट लिखते थे। दैवी इच्छा से माधव भट्ट का असामयिक देहावसान हो गया था। उस समय आचार्य जी भागवत की 'सुवोधिनी' टीका की रचना कर रहे थे। माधव भट्ट के निधन का समाचार सुन कर आचार्य जी ने कहा था,—'सुवोधिनी अधूरी रह गई। भगवद्–इच्छा इतनी की ही थी[1]!' फलतः माधव भट्ट के देहावसान से आचार्य जी के कई ग्रंथ अधूरे रह गये, और कई की अधिक प्रतियाँ नहीं की जा सकी थीं।

आचार्य जी ने कुल कितने ग्रंथ रचे थे, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। उनके ग्रंथों की कोई प्राचीन प्रामाणिक सूची नहीं मिलती है। साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने ८४ ग्रंथों की रचना की थी। 'वल्लभ दिग्विजय' ग्रंथ में इसी प्रकार का उल्लेख है; किंतु 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में उनके ग्रंथों की संख्या ३५ वतलाई गई है। अभी तक जो ग्रंथ प्रकाश में आये हैं, उनसे यह कहा जा सकता है कि ८४ की संख्या अनुश्रुति मात्र है; ३५ की संख्या ठीक मालूम होती है। पं० पुरुषोत्तम पुरोहित ने आचार्य जी के अधिकाधिक ग्रंथों का नामोल्लेख करने का प्रयास करते हुए ७१ ग्रंथों की सूची प्रकाशित की है[2]; किंतु उन्होंने स्वयं इस संख्या में न्यूनता होने की संभावना व्यक्त की है। आचार्य जी के ग्रंथों की संख्या चाहें कितनी ही हो; किंतु इस समय उनके ३१ छोटे–बड़े ग्रंथ माने जाते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं,—

१. ब्रह्मसूत्र का 'अणु भाष्य' और 'वृहद् भाष्य', २. भागवत की 'सुवोधिनी' टीका, ३. भागवत तत्वदीप निवंध, ४. पूर्व मीमांसा भाष्य, ५. गायत्री भाष्य, ६. पत्रावलंवन, ७. पुरुषोत्तम सहस्रनाम, ८. दशमस्कंध अनुक्रमणिका, ९. त्रिविध नामावली, १०. शिक्षा श्लोक, ११–२६ षोड़श ग्रंथ, (१. यमुनाष्टक, २. वालवोध, ३. सिद्धांत मुक्तावली, ४. पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद, ५, सिद्धांत रहस्य, ६. नवरत्न, ७. अंतःकरण प्रवोध, ८. विवेकधैर्याश्रय, ९. कृष्णाश्रय, १०. चतुःश्लोकी, ११. भक्तिवर्धिनी, १२. जलभेद, १३. पंचपद्य, १४. संन्यास निर्णय, १५. निरोध लक्षण, १६. सेवा फल), २७. भगवत्पीठिका, २८. न्यायादेश, २९. सेवा फल विवरण, ३०. प्रेमामृत तथा ३१. विविध अष्टक, (१. मधुराष्टक, २. परिवृढ़ाष्टक, ३. नंदकुमार अष्टक, ४. श्री कृष्णाष्टक, ५. गोपीजन-वल्लभाष्टक आदि)।

आचार्य जी के वड़े ग्रंथों में ब्रह्मसूत्र भाष्य और भागवत की सुवोधिनी टीका सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं; किंतु ये दोनों ग्रंथ अपूर्ण मिलते हैं। उनके छोटे ग्रंथों में 'षोड़श ग्रंथ' अधिक प्रसिद्ध हैं और उनका प्रचार भी वहुत है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि इन

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'माधव भट्ट की वार्ता', प्रसंग ४
(२) श्री महाप्रभु जी के ग्रंथ (श्री वल्लभ विज्ञान, वर्ष ६ अंक १)

सप्तम अध्याय

आधुनिक काल

(विक्रमपूर्व सं. १८८३ से विक्रम सं. २०२४ तक)

छोटे ग्रंथों को आचार्य जी ने विविध अवसरों पर अपने शिष्य–सेवकों के प्रवोधनार्थ रचे थे। जैसा पहिले लिखा चुका है, माधव भट्ट के असामयिक निधन से आचार्य जी के ग्रंथों की अधिक प्रतियाँ नहीं की जा सकी थीं। आचार्य जी का तिरोधान होने पर उनके अधिकांश ग्रंथों की प्रामाणिक प्रतियाँ उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ जी के अधिकार में आई थीं। जब गोपीनाथ जी का असामयिक निधन हो गया, तब उनकी विधवा बहू जी उक्त प्रतियों को अपने साथ दक्षिण स्थित अपने पिता के घर ले गई थीं, जहाँ वह अमूल्य ग्रंथ–राशि लुप्त हो गई थी ! श्री आचार्य जी के दूसरे पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने बड़ी चेष्टा पूर्वक अनेक ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ कराई थीं। आगरा निवासी कन्हैयाशाल क्षत्रिय को आचार्य जी के समस्त छोटे ग्रंथ कंठस्थ थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने आगरा जाकर उनसे वे ग्रंथ लिखवाये थे[1]। इस समय श्री वल्लभाचार्य जी के जितने ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे सब गो० विट्ठलनाथ जी के काल में ही संगृहीत किये गये थे।

आचार्य जी ने अपने शुद्धाद्वैत सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए महर्षि बादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' (उत्तर मीमांसा) पर भाष्य–रचना की थी। ऐसा समझा जाता है, उन्होंने बृहद् और सूक्ष्म दो रूपों में भाष्य रचा था। समयाभाव के कारण बृहद् भाष्य का क्रम नहीं चल सका, पर सूक्ष्म भाष्य की रचना वे करते रहे थे; किंतु वह भी पूरी नहीं की जा सकी थी। बाद में गो० विट्ठलनाथ जी ने उसकी पूर्ति की थी। संभव है, आचार्य जी ने सूक्ष्म भाष्य की पूरी रचना की हो, और गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी के ग्रंथों के साथ उसकी पूर्ण प्रति नष्ट हो गई हो। बृहद् भाष्य का जितना अंश रचा गया था, वह आचार्य पुरुषोत्तम जी (जन्म सं. १७१४) के समय तक विद्यमान था। पुरुषोत्तम जी ने वल्लभाचार्य कृत भाष्य पर 'प्रकाश' नामक विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा था। श्री कंठमणि शास्त्री का मत है, बृहद् भाष्य का वह अंश 'प्रकाश' में अंतर्लीन हो गया है[2]। आचार्य जी कृत सूक्ष्म भाष्य 'अणु भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र के जो चार अध्याय हैं, उनमें से आचार्य जी कृत भाष्य रचना दो अध्यायों की पूरी और तीसरे की अधूरी ही मिलती है। तीसरे अध्याय की पूर्ति और चौथे अध्याय की रचना गो. विट्ठलनाथ जी ने की थी।

'सुबोधिनी' श्रीमद् भागवत की विद्वत्तापूर्ण विशद टीका है, जिसकी रचना आचार्य जी ने अपने भक्ति–सिद्धांत के समर्थन में की थी। सुबोधिनी के अंतःसाक्ष्य और श्री ब्रजराय जी कृत 'सुबोधिनी विवरण' से विदित होता है कि इस विशद टीका से पहिले श्री आचार्य जी ने भागवत की एक सूक्ष्म टीका भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है। सुबोधिनी नामक विशद टीका भी भागवत के सभी स्कंधों पर नहीं मिलती है। इस समय प्रथम, द्वितीय, तृतीय और दशम स्कंधों की पूरी तथा एकादश स्कंध के कुछ अंश की टीका ही उपलब्ध है; शेष स्कंधों की टीका नहीं मिलती है। कतिपय आधुनिक विद्वानों का अनुमान है, श्री आचार्य जी ने सभी स्कंधों पर सुबोधिनी रची होगी[3]; किंतु माधव भट्ट की वार्ता से उक्त अनुमान की असंगति स्पष्ट होती है। भागवत का हृदय–स्थल उसका दशम स्कंध है, और सौभाग्य से इस स्कंध की पूरी सुबोधिनी उपलब्ध है। इससे आचार्य जी की रचना–प्रणाली का महत्व समझा जा सकता है। श्री हरिराय जी ने कहा है,—

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'कन्हैयाशाल क्षत्री की वार्ता', प्रसंग १

(२) शु. पु. संस्कृत वाङ्मय (प्रथम खंड), पृष्ठ १०१

(३) देखिये, श्री वल्लभ विज्ञान, वर्ष ६ अंक १ और ११

'जिसने वल्लभाचार्य जी का आश्रय नहीं लिया, सुबोधिनी का पठन-पाठन नहीं किया और श्री कृष्ण की आराधना नहीं की, उसका जन्म इस भू-तल पर व्यर्थ है,—नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी। नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥' सारांश यह है, सुबोधिनी श्री आचार्य जी की सर्वाधिक महत्व की रचना है। इस पर गो. विट्ठलनाथ जी की 'टिप्पणी', श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' तथा अन्य आचार्यों और विद्वानों के लेख-विवरणादि उपलब्ध हैं। इसका सर्व प्रथम प्रकाशन भागवत की उस अष्ट टीका के साथ हुआ था, जिसे सं. १९६० में श्री नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृंदावन में प्रस्तुत किया था। उसके उपरांत इस ग्रंथ के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

'भागवत तत्व दीप निबंध' की रचना सुबोधिनी से पहिले हुई थी। इसका अध्ययन करने पर ही सुबोधिनी के मर्म को भली भाँति समझा जा सकता है। 'दशम स्कंध अनुक्रमणिका' ९८ श्लोकों की एक छोटी रचना है, जिसमें श्री कृष्ण की लीलाओं की सूची दी गई है। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि इसका श्रवण करने से ही सूरदास जी और परमानंददास जी को लीला-गान की प्रेरणा हुई थी, जिससे 'सूरसागर' और 'परमानंदसागर' जैसे गौरव ग्रंथों की रचना हो सकी थी। 'श्री पुरुषोत्तम सहस्रनाम' एक सुप्रसिद्ध सांप्रदायिक रचना है। श्री आचार्य जी ने श्रीमद् भागवत में से शुद्धाद्वैत सिद्धांत प्रतिपादक एक हजार नामों का संकलन कर इसकी रचना की है। इसीलिए इसे भागवत का 'सार-समुच्चय' कहा गया है। ऐसी प्रसिद्धि है, आचार्य जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी को समस्त भागवत के पाठ का फल प्राप्त करने के लिए इसका नित्य पाठ करने का आदेश दिया था। 'पत्रावलंबन' एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक रचना है। इसमें वेद और वेदांत की एकवाक्यता का प्रतिपादन किया गया है। इसे आचार्य जी ने मायावादियों को निरुत्तर करने के लिए रचा था। 'षोड़श ग्रंथ' आचार्य जी कृत १६ छोटी रचनाओं का समुच्चय है। इनमें आचार्य जी ने अपने दार्शनिक और भक्ति सिद्धांतों का स्पष्टीकरण संक्षिप्त और सरल रीति से किया है। इन ग्रंथों का वल्लभ संप्रदाय में बहुत प्रचार है। इनमें से 'अंतःकरण प्रबोध' आचार्य जी की अंतिम कृति कही जाती है[1]। वल्लभाचार्य जी के ये समस्त ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं।

आचार्य जी के शिष्य-सेवक—श्री वल्लभाचार्य जी प्रकांड विद्वान और महान् धर्मोपदेष्टा थे। साथ ही उनका व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली और रहन-सहन बड़ा आकर्षक था। उन सब कारणों से जो व्यक्ति भी उनके संपर्क में आते थे, वे नतमस्तक होकर उनके अनुगामी बन जाते थे। इस प्रकार उनके बहुसंख्यक शिष्य-सेवक हुए थे; जिनमें ब्राह्मण से लेकर शूद्र और अन्त्यज तक सभी वर्णों एवं जातियों के व्यक्ति थे; किंतु उनमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की संख्या अधिक थी। उनके अनुगामियों में पंडित-मूर्ख, धनी-निर्धन, गृहस्थ-विरक्त, कुलीन-अकुलीन सभी वर्गों और श्रेणियों के आबाल-वृद्ध एवं नर-नारी थे। उनके प्रमुख शिष्य-सेवकों में से ८४ का वृत्तांत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मिलता है। उनके अतिरिक्त और भी कितने ही मुख्य शिष्य-सेवक थे, जिनका नामोल्लेख विविध वार्ता ग्रंथों में हुआ है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में उल्लिखित आचार्य जी के शिष्य-सेवकों में सर्व प्रथम नाम दामोदरदास हरसानी का आता है। वे आचार्य जी के पट्ट शिष्य और अंतरंग सेवक थे। उन्हें

(१) देखिये, चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'माधव भट्ट की वार्ता', प्रसंग ४ का 'भाव'।

आचार्य जी ने सर्व प्रथम ब्रह्म संबंध की मंत्र-दीक्षा दी थी और पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धांत, सेवा विधि तथा भगवत्-लीला रहस्य की गूढतम बातें बतलाई थीं। आचार्य जी का तिरोधान होने पर उनके बालक पुत्र गो. विट्ठलनाथ जी को पुष्टि संप्रदाय की अनेक महत्वपूर्ण बातें हरसानी जी से ही ज्ञात हुई थीं। आचार्य जी के आरंभिक सेवकों में दूसरे प्रमुख व्यक्ति कृष्णदास मेघन थे, जो सोरों के क्षत्रिय थे। वे उनके विश्वसनीय अनुचर, खवास एवं भंडारी—सब कुछ थे, और आचार्य जी की सभी यात्राओं में उनके साथ रहे थे। उन्होंने आरंभ से अंत तक आचार्य जी के साथ रह कर उनकी दिन-रात सेवा की थी। जब आचार्य जी का तिरोधान हुआ, तब उन्होंने भी अपना शरीर छोड़ दिया था।

आचार्य जी के ब्रजवासी सेवकों में आन्योर के सद्दू पांडे प्रमुख थे, जो अपनी पत्नी भवानी, पुत्री नरो और भाई मानिकचंद के साथ आचार्य जी के शिष्य हुए थे। उनके साथ ही कुंभनदास, अच्युतदास और रामदास चौहान ने भी आचार्य जी से मंत्र-दीक्षा प्राप्त की थी। उन सब ने आचार्य जी के आदेशानुसार श्रीनाथ जी की आरंभिक सेवा की समुचित व्यवस्था की थी। अन्य ब्रजवासी शिष्य-सेवकों में अड़ींग के अवधूतदास, मथुरा के नारायणदास भाट और कविराज भाट, शेरगढ़ के त्रिपुरदास कायस्थ तथा महावन के नारायणदास ब्रह्मचारी के नाम उल्लेखनीय हैं। आगरा निवासी शिष्य-सेवकों में कन्हैयाशाल और विष्णुदास छीपा के नाम उल्लेख योग्य हैं। कन्हैयाशाल को आचार्य जी ने अपने सभी छोटे ग्रंथों की शिक्षा दी थी और गो. विट्ठलनाथ जी ने उन्हीं से उक्त ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त की थी। विष्णुदास छीपा बड़े आस्थावान भक्त जन थे। उन्होंने दीर्घायु प्राप्त की थी और अपनी वृद्धावस्था में वे गोकुल आकर गो. विट्ठलनाथ जी के ड्योढ़ीवान हुए थे।

आचार्य जी के विद्वान शिष्यों में दामोदरदास हरसानी के अतिरिक्त माधव भट्ट, हरिवंश, अच्युतदास, पद्मनाभदास, मुकुंददास, गंगाधर भट्ट, हरिहर भट्ट, ब्रह्मानंद, कृष्णचंद्र आदि के नाम विविध वार्ता ग्रंथों में मिलते हैं। माधव भट्ट आचार्य जी के लिपिक थे। उनका देहावसान आचार्य जी की विद्यमानता में हुआ था। दामोदरदास हरसानी, अच्युतदास और हरिवंश जी आचार्य जी के बाद तक जीवित रहे थे। उन्होंने गो. विट्ठलनाथ जी को पुष्टिमार्गीय भक्ति और सेवा संबंधी गूढ़ बातें बतलाई थीं, तथा 'शृंगार रस मंडन' ग्रंथ की भाव प्रधान रचना में सहयोग दिया था। पद्मनाभदास कन्नौज के विद्वान ब्राह्मण और कथा-व्यास थे। वे आचार्य जी से दीक्षा लेकर ब्रज में आ गये थे। उन्हें मथुरा के निकटवर्ती कर्णावल नामक स्थान से श्री मथुरेश जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था। मुकुंददास मालवा के कायस्थ थे और भागवत के मर्मज्ञ विद्वान एवं सुकवि थे। उन्होंने भागवत के आधार पर 'मुकुंदसागर' नामक एक बड़े काव्य-ग्रंथ की रचना की थी, किंतु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

आचार्य जी के शिष्यों में अनेक सुकवि, गायक और कीर्तनकार भी थे; जिनमें कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास और कृष्णदास प्रमुख थे। कुंभनदास पुष्टिमार्गीय कवियों में सबसे वयोवृद्ध और माधुर्य भक्ति के सरस गायक थे। वे श्रीनाथ जी के सर्वप्रथम कीर्तनकार हुए थे। सूरदास जी पुष्टिमार्गीय कवियों के शिरोमणि और ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनका 'सूरसागर' ब्रजभाषा भक्ति साहित्य का अक्षय भंडार है। परमानंददास और कृष्णदास का स्थान भी पुष्टिमार्गीय कवि-गायकों में बहुत ऊँचा है। कृष्णदास उच्च कोटि के भक्त-कवि होने के साथ ही साथ

१०. गोवर्धन में—चंद्रसरोवर पर छोंकर के वृक्ष के नीचे है।
११. ,, —आन्यौर में सद्दू पांडे के घर में है। इस स्थल पर श्री आचार्य जी ने सं. १५५६ में श्रीनाथ जी की आरंभिक सेवा का आयोजन किया था।
१२. ,, —गोविंदकुंड पर है।
१३. ,, —जतीपुरा में श्री गिरिराज जी के मुखारविंद के सन्मुख है। यहाँ पर श्रीनाथ जी के प्राकट्य की स्मृति में व्रज-यात्रा के अवसर पर 'कुनवाड़ा' किया जाता है।
१४. कामवन में —श्रीकुंड पर है।
१५. बरसाना में —गह्वरवन के कृष्णकुंड पर है।
१६. करहला में —कृष्णकुंड पर है।
१७. संकेत में —कुंड पर छोंकर के वृक्ष के नीचे है।
१८. प्रेमसरोवर में —कुंड पर है।
१९. नंदगाँव में —पानसरोवर पर है।
२०. कोकिलावन में —कृष्णकुंड पर है।
२१. शेषशायी में —क्षीरसागर कुंड पर है।
२२. चीरघाट में —यमुना तट पर कात्यायिनी देवी के मंदिर के निकट है।
२३. मानसरोवर में —कुंड पर है।
२४. वृंदाबन में —वंशीवट पर है।

आचार्य जी का चित्र—श्री वल्लभाचार्य जी का जो प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रामाणिक चित्र माना जाता है, वह कृष्णगढ़ (राजस्थान) के राजकीय मंदिर से प्राप्त हुआ है। उसके संबंध में वल्लभ संप्रदाय में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी ने आचार्य जी की प्रभुता से प्रभावित होकर उसे अपने शाही चित्रकार 'होनहार' से बनवाया था। वह चित्र सुलतानी काल के पश्चात् मुगल बादशाहों की शाही चित्रशाला में विद्यमान रहा था और उसे कृष्णगढ़ के राजा रूपसिंह ने शाहजहाँ से प्राप्त किया था। इसका उल्लेख सर्वप्रथम कृष्णगढ़ के राजकवि जयलाल जी ने 'नागर समुच्चय' ग्रंथ में किया था, और बाद में उसके आधार पर विद्वद्वर श्री कंठमणि शास्त्री ने 'कांकरोली का इतिहास' में लिखा[1]। 'श्री वल्लभ विज्ञान' के आरंभिक अंक में उक्त ऐतिहासिक चित्र की प्रतिकृति प्रकाशित करते हुए उसी अनुश्रुति को दोहराया गया है। आश्चर्य की बात है, वल्लभ संप्रदाय में अभी तक उक्त चित्र के संबंध में वह भ्रमात्मक प्रवाद चल रहा है, और बड़े-बड़े विद्वानों के रहते हुए भी उसका संशोधन नहीं किया गया है !

आचार्य जी के उपलब्ध चित्रों में यह निश्चय ही प्राचीनतम है, और इसका ऐतिहासिक महत्व भी निर्विवाद है; किंतु इसे सिकंदर लोदी द्वारा अपने शाही चित्रकार होनहार से बनवाने की बात सर्वथा अप्रामाणिक है। दिल्ली के सुलतान अपने मज़हबी कारणों से मूर्तियों और चित्रों के बड़े विरोधी थे। इसके लिए सुलतान फ़ीरोजशाह तुग़लक (शासन काल सं. १४०८–१४४५) का उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उसके 'आत्म वृतांत' से ज्ञात होता है कि उसके प्रासादों की दीवारों और दरवाजों पर जो तस्वीरें थीं, उन सबको उसने अल्लाहताला की आज्ञानुसार पुतवा दिया और जिन-जिन वस्तुओं—डेरे, परदे, कुर्सियों पर जहाँ-जहाँ किसी किस्म की प्रतिमूर्ति पाई गई, उसको

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ३४

भी मिटा दिया। उसकी निगाह में वह एक धार्मिक कर्तव्य था[१]। सिकंदर लोदी सभी सुलतानों में सबसे ज्यादा कट्टर था। वह कुरान और हदीस के अनुसार मूर्तियों और चित्रों को नष्ट करना अपना मजहबी फर्ज समझता था! ऐसी स्थिति में उसके द्वारा एक वैष्णव धर्माचार्य का चित्र बनवाने और उसे आदर पूर्वक अपनी चित्रशाला में रखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। फिर जिस 'होनहार' चित्रकार को सिकंदर कालीन समझा जाता है, वह उसके प्रायः दो शताब्दी पश्चात् शाहजहाँ के काल में हुआ था, और उसी का दरबारी चित्रकार था[२]।

ऐसा अनुमान होता है, मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति के कारण जब हिंदू संत–महात्माओं का आदर किया जाने लगा, तभी उनके चित्र भी बनाये जाने लगे थे। वर्तमान चित्र शाहजहाँ के काल में उसके दरबारी चित्रकार 'होनहार' ने बनाया था। संभव है, इस चित्र की मूल 'शबीह' अकबर के किसी दरबारी हिंदू चित्रकार ने बनाई हो, और उसी के आधार पर होनहार ने उसका चित्रण किया हो। कृष्णगढ़ के राजा रूपसिंह ने अपनी वीरता से शाहजहाँ को प्रसन्न कर उससे वह चित्र प्राप्त किया था, और अपने राज-मंदिर में उसे श्रद्धा पूर्वक प्रतिष्ठित किया था। वर्तमान काल में नाथद्वारा के चित्रकारों ने उसके आधार पर जो चित्र बनाये हैं, वही इस समय प्रचलित हैं।

आचार्य जी का महत्त्व और उनकी धार्मिक देन—श्री वल्लभाचार्य जी का प्रादुर्भाव होने से पहिले इस देश की धार्मिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी। वेदोक्त कर्म, ज्ञान और उपासना की मर्यादा नष्टप्राय हो गई थी। नाना प्रकार के मत–मतांतरों के विवाद और पाखंडों के कारण भ्रान्तिक जनता किंकर्तव्य विमूढ़ हो रही थी। जहाँ भारत में 'जीवेम शरदः शतम्' तथा 'व्यशेमहि देवहितं यदायुः' के उद्घोष से दीर्घ जीवन को सार्थक करने की मंगल–कामना की जाती थी, वहाँ 'सर्व क्षणिकं' तथा 'जगन्मिथ्या' के प्रचार से जीवन को व्यर्थ और भारस्वरूप माना जाने लगा था। उसके फल स्वरूप भोली–भाली आस्तिक जनता या तो निरुपाय होकर घिघियाती[३]–रिरियाती और रोती–चिल्लाती थी, अथवा जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दब कर या 'काशी–करवट' द्वारा अपने जीवन का अंत करने में ही परम कल्याण मानती थी[४]। साधारण जनता से ऊपर का ज्ञानी और पंडित कहलाने वाला वर्ग 'सोऽहं' का मंत्र जपता हुआ अहंकारविमूढ़ और गर्वोन्मत्त होकर अनुचित पथ का अनुसरण कर रहा था। उधर विधर्मी शासकों ने अपनी धर्मान्धतापूर्ण कुटिल नीति से घोर आतंक और संकट पैदा कर दिया था!

इस त्रिदोषात्मक भयंकर रोग से ग्रसित देश की दुर्दशा का अनुभव करते हुए वल्लभाचार्य जी ने कहा था,—'सर्व मार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि। पाखंडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥

अहंकारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु। लाभ पूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च। सत्पीडाव्यग्र लोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम[५]॥'

---

(१) भारतीय चित्र कला (मेहता), पृष्ठ ३८

(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ६३

(३) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'सूरदास की वार्ता', प्रसंग १

(४) वही ,, ,, , वार्ता सं० ८४ का 'भाव'

(५) कृष्णाश्रय, श्लोक सं० १,४ और २

उन्होंने उक्त रोग के उपचार के लिए संजीवनी स्वरूप जो धर्मोपदेश दिया, वह निश्चय ही बड़ा कल्याणकारी सिद्ध हुआ। उससे उत्तरी भारत के धार्मिक जगत् में एक क्रांति की लहर सी दौड़ गई! आचार्य जी ने भगवान् श्री कृष्ण के महत्व को सर्वोपरि बतलाते हुए मानव को एक मात्र उन्हीं का आश्रय ग्रहण करने को कहा था। उनके उपदेश से दुखी जीवों को सान्त्वना और संतोष प्राप्त हुआ, तथा वे निश्चिंत और निर्भय होकर परब्रह्म भगवान श्री कृष्ण की शरण में जाने लगे। उनका मत ऐसा आकर्षक, उपयोगी, सुगम और श्रेयष्कर सिद्ध हुआ कि राजा-रंक, पंडित-मूर्ख, गुण-अगुणी, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी वर्गों के व्यक्तियों में इसका सरलता से प्रचार हो गया, और प्राय: समस्त उत्तरी भारत, विशेष कर ब्रज, राजस्थान और गुजरात के अगणित व्यक्तियों ने इसे स्वीकार कर लिया।

आचार्य जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और आकर्षक था। वे अपने समय के धुरंधर विद्वान, आदर्श महात्मा और सुप्रसिद्ध धर्माचार्य थे। वे निस्पृह, त्यागी और परोपकारी थे। उनको राजा–महाराजा और धनी–मानी व्यक्तियों से कई बार अपार द्रव्य प्राप्त हुआ था; किंतु उन्होंने उसे स्वयं स्वीकार न कर साधु–संतों और विद्वन्मंडली में वितरित करा दिया, अथवा भगवत्सेवा में लगा दिया था। उनका स्वभाव सरल और रहन–सहन सादा था। उन्होंने जीवन भर सिले हुए वस्त्र नहीं पहिने, और न चरण–पादुका आदि का ही उपयोग किया था। उनका प्रखर पांडित्य उनके ग्रंथों से प्रकट है और उनकी अनुपम विद्वत्ता एवं तर्क–शक्ति उनके शास्त्रार्थों से सिद्ध होती है। उन्होंने सुलतानी काल की अत्यंत विषम परिस्थिति में कृष्णोपासना के पुनरुद्धार और प्रचार का जो बीज-वपन किया, वह मुगल शासन के अनुकूल वातावरण में ब्रज के अन्य धर्माचार्यों एवं संत–महात्माओं के सिंचन से लहलहाता हुआ विशाल वृक्ष बन गया था।

श्री गोपीनाथ जी (सं. १५६८ – सं. १५९९)—

जीवन-वृत्तांत—श्री गोपीनाथ जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सं. १५६८ की आश्विन कृ. १२ को अड़ैल में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा श्री वल्लभाचार्य जी के निरीक्षण में हुई थी; अत: उन पर अपने यशस्वी पिता की प्रकांड विद्वत्ता और धार्मिक प्रकृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। जब श्री वल्लभाचार्य जी का सं. १५८७ में काशी में तिरोधान हो गया, तब गोपीनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उस समय वे केवल १९ वर्ष के युवक थे। उसी वर्ष उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी का जन्म हुआ था।

श्री वल्लभाचार्य जी अपने अंतिम काल में अड़ैल से काशी आ गये थे। उस समय उनके पारिवारिक जन काशी तथा उसके निकटवर्ती चरणाट (चुनार) में रहते थे। आचार्य जी के पश्चात् गोपीनाथ जी अपने परिवार सहित पुन: अड़ैल में जाकर रहने लगे थे। वे वहाँ से ही संप्रदाय का संचालन करते थे, और उनके सुयोग्य अनुज विट्ठलनाथ जी उनके कार्यों में सहयोग प्रदान करते थे। गोपीनाथ जी शांत और गंभीर प्रकृति के विद्वान पुरुष थे। उनकी रुचि ग्रंथों के अनुशीलन और तीर्थ–यात्रा करने में अधिक थी। वे संप्रदाय और गृहस्थ के कार्यों की देख–भाल अपने छोटे भाई श्री विट्ठलनाथ जी पर छोड़ कर आप प्राय: जगदीशपुरी और द्वारका धाम जैसे दूरस्थ तीर्थ–स्थानों की यात्रा करने चले जाते थे। उन्हें श्री जगन्नाथ जी का इष्ट था, अत: वे जगदीशपुरी की यात्रा अधिक किया करते थे।

श्रीनाथ जी की सेवा-व्यवस्था—श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा बंगाली वैष्णवों को दी थी, और मंदिर की व्यवस्था करने का अधिकार कृष्णदास को दिया था। अधिकारी कृष्णदास बंगालियों की सेवा-विधि से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने इसकी शिकायत गोपीनाथ जी से की थी। सं० १५८९ में सर्वश्री गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी श्रीनाथ जी की सेवा संबंधी जाँच के लिए गोवर्धन आये। उन्होंने कृष्णदास की शिकायत को ठीक पाया। कृष्णदास ने बंगालियों को श्रीनाथ जी की सेवा से पृथक् करने के लिए कहा; किंतु गोपीनाथ जी अपने पिता द्वारा किये गये प्रबंध में उलट-फेर नहीं करना चाहते थे। जब कृष्णदास ने बहुत जोर दिया, तब श्रीनाथ जी की सेवा के हित में उचित व्यवस्था करने का आदेश देकर गोपीनाथ जी अपने भाई के साथ अड़ैल वापिस चले गये। उसके पश्चात् कालांतर में अधिकारी कृष्णदास ने युक्ति पूर्वक बंगालियों को निकाल दिया था। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जावेगा। सं० १५९५ में गोपीनाथ जी जब जगन्नाथपुरी की यात्रा को गये, तब वहाँ के तीर्थ-पुरोहित कृष्णदास गुच्छिवार को उन्होंने एक वृत्तिपत्र लिख कर दिया था। उन्होंने विविध स्थानों की यात्रा में जो धन प्राप्त किया था, उसे श्रीनाथ जी के लिए अर्पित कर दिया। उस धन से सोने-चांदी के बर्तन तथा सेवा संबंधी आवश्यक साज-सामान का संचय किया गया, जिससे श्रीनाथ जी की सेवा का वैभव बढ़ने लगा था।

ग्रंथ-रचना—गोपीनाथ जी बड़े विद्वान पुरुष थे। इससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी अपने पिता एवं छोटे भाई की तरह अनेक ग्रंथों की रचना की होगी; किंतु उनका केवल एक ग्रंथ 'साधन दीपिका' ही उपलब्ध है। इस ग्रंथ में उन्होंने भक्ति की साधन स्वरूपा सेवा-विधि पर अच्छा प्रकाश डाला है। संप्रदाय कल्पद्रुम में उनके रचे हुए तीन अन्य ग्रंथ 'सेवा विधि', 'नाम निरूपण संज्ञा' और 'वल्लभाष्टक' का भी उल्लेख है[1], किंतु ये ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं हैं।

देहावसान—गोपीनाथ जी अधिक काल तक जीवित नहीं रहे थे। उनका आकस्मिक और और असामयिक निधन जगदीशपुरी में उस समय हुआ था, जब वे वहाँ दर्शन-यात्रा के लिए गये थे। उनका देहावसान किस काल में हुआ था, इस संबंध में बड़ा मतभेद है। वल्लभ संप्रदाय के ग्रंथों में उससे संबंधित विविध संवत् मिलते हैं; अतः उनके निधन-काल की समीक्षा करना आवश्यक है।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में लिखा गया है, श्री गोपीनाथ जी के आचार्य होने के तीन वर्ष पश्चात् उनके बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी की गोवर्धन में अकाल मृत्यु हो गई थी। उससे उदास होकर गोपीनाथ जी जगदीशपुरी की यात्रा करने चले गये थे, जहाँ उनका भी आकस्मिक निधन हो गया था[2]। इस प्रकार उक्त वार्ता में सर्वश्री गोपीनाथ जी और उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी दोनों का निधन-काल सं. १५९० लिखा गया है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में गोपीनाथ जी का देहावसान काल सं. १६२० लिखा मिलता है[3]। उसी संवत् को 'कांकरोली का इतिहास' में भी स्वीकृत किया गया है[4]। 'संप्रदाय प्रदीप' से ज्ञात होता है, सं. १६१० में जब यह ग्रंथ पूर्ण हुआ था, तब श्री गोपीनाथ जी और पुरुषोत्तम जी दोनों ही विद्यमान नहीं थे[5]।

(१) संप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ १४२
(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २३
(३) संप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ ६८
(४) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ८७-८८
(५) संप्रदाय प्रदीप, चतुर्थ प्रकरण

श्री गोपीनाथ जी और श्री पुरुषोत्तम जी

गो० विट्ठलनाथ जी और सूरदास जी

चैतन्य संप्रदाय

वल्लभ संप्रदाय की ऐतिहासिक घटनाओं और सांप्रदायिक उल्लेखों की संगति मिलाने से श्री गोपीनाथ जी और पुरुषोत्तम जी के निधन से संबंधित उक्त सभी संवत् भ्रमात्मक सिद्ध होते हैं। इस संबंध का अंतिम निष्कर्ष यह है कि श्री गोपीनाथ जी का निधन सं. १५९९ में जगदीशपुरी में हुआ था[1]। श्री पुरुषोत्तम जी की भी अकाल मृत्यु हुई थी; किंतु वह गोपीनाथ जी की विद्यमानता में नहीं, वरन् उनके पश्चात् सं. १६०६ में हुई थी[2]।

गोपीनाथ जी के उत्तराधिकार का विवाद—गोपीनाथ जी का देहावसान होने पर उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उपस्थित हुआ था। उस समय उनके एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी की आयु केवल १२ वर्ष की थी। गोपीनाथ जी के पुत्र होने के कारण नियमानुसार पुरुषोत्तम ही पुष्टि संप्रदाय की आचार्य–गद्दी के वास्तविक अधिकारी थे; किंतु अल्प–वयस्क होने के कारण उन्हें सांप्रदायिक उत्तरदायित्व सोंपना संप्रदाय के अनेक वरिष्ट व्यक्तियों को उचित ज्ञात नहीं होता था। वे लोग श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी को गोपीनाथ जी का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। श्री विट्ठलनाथ जी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ जी के आचार्यत्व–काल से ही संप्रदाय के उत्तरदायित्व को सँभाल रहे थे; अतः उनकी योग्यता सर्व विदित थी। इसीलिए पुष्टि संप्रदाय के वरिष्ट व्यक्तियों ने उन्हीं को आचार्य बनाने का आग्रह किया था।

गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी श्री विट्ठलनाथ जी के आचार्य बनाये जाने के विरुद्ध थीं। वह अपने बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी को आचार्य-गद्दी पर बैठा कर स्वयं संप्रदाय की देख-भाल करना चाहती थी। इसलिए उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर एक ऐसा पारिवारिक कलह और सांप्रदायिक विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसने पुष्टि संप्रदाय के सभी प्रमुख व्यक्तियों को दो गुटों में विभाजित कर दिया था। यद्यपि विट्ठलनाथ जी ने आचार्य बनने की कभी इच्छा प्रकट नहीं की; तथापि संप्रदाय के अधिकांश व्यक्ति उन पर बराबर ज़ोर डालते रहे। कुछ थोड़े से व्यक्ति पुरुषोत्तम जी के समर्थक थे; जिनमें सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी कृष्णदास थे।

सं. १६०५–६ में पुरुषोत्तम जी की आयु १८ वर्ष की हो गई। उनके वयस्क हो जाने पर उनके पक्षपातियों ने उन्हें आचार्य बनाये जाने का ज़ोरदार आंदोलन किया, जिसके कारण कई अप्रिय घटनाएँ भी हो गई थीं। उनमें सबसे अधिक दुःखद घटना श्री विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्योढ़ी बंद किया जाना था। उस काल में अधिकारी कृष्णदास का इतना अधिक प्रभाव था कि उन्होंने पुरुषोत्तम जी का पक्ष लेकर सं. १६०६ में श्री विट्ठलनाथ जी का श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करना ही बंद कर दिया था! वल्लभ संप्रदायी वार्ताओं में उक्त घटना को गंगाबाई के प्रसंग से जोड़ा गया है, किंतु वास्तव में उसका कारण आचार्यत्व के उत्तराधिकार का विवाद था[3]।

श्री विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्योढ़ी बंद किये जाने से वह विवाद और भी अधिक उग्र रूप धारण करता; किंतु उसके कुछ समय पश्चात् ही पुरुषोत्तम जी की गोवर्धन में अकस्मात मृत्यु हो गई थी। उसके कारण उत्तराधिकार का वह विवाद स्वतः शांत हो गया और श्री विट्ठलनाथ जी सर्व सम्मति से गोपीनाथ जी के उत्तराधिकारी मान लिये गये।

---

(१) लेखक कृत 'अष्टछाप परिचय,' पृष्ठ १९–२१ देखिये।

(२) वही ,, , पृष्ठ २३

(३) चौ. वै. वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता' तथा 'अष्टछाप-परिचय', पृ. २०९-२१०,२२१–२२३

श्री विट्ठलनाथ जी (सं० १५७२ – सं० १६४२)—

श्री विट्ठलनाथ जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और **जीवन-वृतांत**—श्री विट्ठलनाथ जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और श्री गोपीनाथ जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म सं. १५७२ की पौष कृ० ६ शुक्रवार को काशी के निकटवर्ती चरणाट (चुनार) नामक स्थान में हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई थी। वे आरंभ से ही बड़े मेधावी और प्रतिभाशाली थे। उन्होने १५ वर्ष की आयु में ही सांगोपाग वेद, वेदांतादि दर्शन और भागवतादि पुराणों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सांप्रदायिक ग्रंथों का भली भाँति अनुशीलन किया था। उनकी विद्वत्ता उनके रचे हुए ग्रंथों से प्रकट है। उन्होंने अपनी योग्यता और सूझ–बूझ से पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया, जिससे वह वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक संप्रदायो में सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। उनके दो विवाह हुए थे, जिनसे उन्हें ११ सतान—७ पुत्र और ४ पुत्रियाँ हुई थी।

श्रीनाथ जी की सेवा-व्यवस्था में परिवर्तन—श्री गोपीनाथ जी का निधन होने के अनंतर सं. १६०० में श्री विट्ठलनाथ जी सहकुटुंब ब्रज में आये और अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति में उन्होंने ब्रज-यात्रा की थी। उसी समय उन्होंने मथुरा के उजागर चौवे को एक वृत्ति-पत्र लिखा था। उन कार्यो से निवृत्त होकर उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा–व्यवस्था पर ध्यान दिया। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सं. १५७६ की वैशाख शु० ३ को वल्लभाचार्य जी ने पूरनमल खत्री द्वारा निर्मित नये मंदिर में श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था। तभी से श्रीनाथ जी की सेवा का दायित्व बंगाली वैष्णवों पर था, और वहाँ की समस्त व्यवस्था करने का अधिकार कृष्णदास को था। वह व्यवस्था गोपीनाथ जी के देहावसान-काल तक यथावत् चलती रही थी।

उस समय तक वल्लभाचार्य जी द्वारा निश्चित सामान्य विधि से ही श्रीनाथ जी की सेवा होती थी। गोपीनाथ जी ने अपने जीवन–काल में उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता नही समझी थी। किंतु विट्ठलनाथ जी अब संप्रदाय का वैभव बढ़ाना चाहते थे, अतः उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा–प्रणाली में भी तदनुसार परिवर्तन करने का विचार किया। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए द्रव्य की अत्यंत आवश्यकता थी। विट्ठलनाथ जी और अधिकारी कृष्णदास दोनों ही इसकी व्यवस्था करने लगे। विट्ठलनाथ जी ने इस कार्य के लिए यात्रा करने का विचार किया; अतः सं. १६०० में ही वे अड़ैल होते हुए गुजरात गये। गोपीनाथ जी के निधन के उपरांत सांप्रदायिक कार्य से की हुई अपनी उस प्रथम यात्रा में विट्ठलनाथ जी को अत्यंत सफलता प्राप्त हुई थी। उन्होने उस यात्रा में पुष्टि संप्रदाय का यथेष्ट प्रचार किया। वे जहाँ भी गये, वहाँ ही अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक हुए और उनको यथेष्ट धन प्राप्त हुआ। यात्रा के अनंतर वे ब्रज में आकर गोवर्धन गये और समस्त अर्जित सम्पत्ति को उन्होंने श्रीनाथ जी की भेंट कर दिया। इस प्रकार श्रीनाथ जी की सेवा की समुचित व्यवस्था कर वे अपने स्थायी निवास अड़ैल वापिस चले गये।

यद्यपि श्रीनाथ जी की सेवा पहिले से अधिक सरंजाम पूर्वक होने लगी थी, तथापि अधिकारी कृष्णदास उससे संतुष्ट नही थे। इसका कारण यह था कि उन्हें बंगाली पुजारियों की सेवा-विधि से बड़ा असतोष था। वल्लभ संप्रदाय के व्रजवासी वैष्णव और साधु-संतों को भी उन पुजारियों की सेवा-प्रणाली पसद नही थी। उन्होने अनेक बार इसकी शिकायत अधिकारी कृष्णदास से की थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के 'भावप्रकाश' में लिखा है, उन बंगाली पुजारियों की

सेवा-पद्धति पुष्टि संप्रदाय के अनुकूल नहीं थी। श्रीनाथ जी की सेवा के साथ वे देवी की भी पूजा करते थे और उन्होंने श्रीनाथ जी के बहुत से द्रव्य का दुरुपयोग किया था[१]।

अधिकारी कृष्णदास ने युक्ति पूर्वक बंगाली पुजारियों को श्रीनाथ जी के मंदिर से निकाल दिया, और वहाँ की सेवा-पूजा के लिए अपने आदमियों को नियुक्त कर दिया। तभी से आचार्य जी के सेवक रामदास प्रभृति साँचौरा-औदीच्य ब्राह्मण श्रीनाथ जी की सेवा करने लगे। उन्हीं के सजातीय अब भी पुष्टि संप्रदाय के मंदिरों में सेवा-पूजा करते हैं; जब कि आचार्य जी के सजातीय तैलंग ब्राह्मणों ने कभी इसमें हस्तक्षेप नहीं किया।

सेवा-परिवर्तन का काल—सांप्रदायिक उल्लेखों में श्रीनाथ जी की सेवा-परिवर्तन के दो संवत्—१५६० और १६२८ मिलते हैं। हमारे मतानुसार सं. १५६० में उक्त घटना का सूत्रपात हुआ और सं. १६२८ में उसका समापन। सं. १५८७ में श्री वल्लभाचार्य जी का देहावसान हुआ था; तभी से अधिकारी कृष्णदास श्रीनाथ जी के मंदिर की नवीन व्यवस्था करने के लिए उत्सुक थे। उस समय गोपीनाथ जी विद्यमान थे, और वे ही तत्कालीन आचार्य थे; किंतु 'वार्ता' में उस घटना के प्रसंग में उनका नामोल्लेख न होकर सर्वत्र विट्ठलनाथ जी का नाम मिलता है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो जिस समय कृष्णदास उसकी स्वीकृति प्राप्त करने अड़ैल गये थे, उस समय गोपीनाथ जी किसी दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करने चले गये हों, जैसा कि वे प्राय: किया करते थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस समय गोपीनाथ जी का देहावसान हो गया हो, और उनके पश्चात् विट्ठलनाथ जी ही सांप्रदायिक कार्यो की देख-भाल कर रहे हों। 'वार्ता' के प्रसंगों की पूर्वापर संगति मिलाने से वह घटना सं. १५६० की अपेक्षा गोपीनाथ जी के देहावसान के अनंतर सं. १६०२ के लगभग होना समीचीन जान पड़ती है। यही वह समय है, जब विट्ठलनाथ जी संप्रदाय के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी आचार्यत्व के विवाद और पारिवारिक कलह के कारण कोई नवीन क्रांतिकारी व्यवस्था करने में संकोच करते थे। सं. १६०६ तक बंगालियों से श्रीनाथ जी की सेवा विषयक सभी अधिकार निश्चय पूर्वक लिये जा चुके थे। उस समय अधिकारी कृष्णदास का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उन्होंने पुरुषोत्तम जी का पक्ष लेकर विट्ठलनाथ जी की उपेक्षा की और उन्हें श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने से भी रोक दिया था!

जैसा पहिले कहा गया है, सांप्रदायिक इतिहास में उक्त घटना का काल सं. १६२८ भी मिलता है। इसका एक विशेष कारण है। बंगालियों को सेवा से निकालने के बाद वे बहुत दिनों तक अपने अधिकारों के लिए झगड़ा करते रहे थे; किंतु कृष्णदास की दबंग नीति के कारण उनको सफलता नहीं मिली थी। सं. १६२८ में, अकबर के शासन-काल में, बंगालियों ने श्रीनाथ जी की मालकियत का प्रश्न फिर से उठाया और वे अपनी फरियाद अकबर बादशाह के पास तक ले गये। उस समय अधिकारी कृष्णदास ने राजा टोडरमल और राजा बीरबल के नाम विट्ठलनाथ जी से पत्र मँगवाये थे। उन दोनों की सहायता से ही बंगालियों का झगड़ा सदा के लिए तय हुआ था[२]। वह अंतिम निर्णय सं. १६२८ में हुआ था। इस प्रसंग में टोडरमल और बीरबल के नाम 'वार्ता' में आये हैं। उक्त नामों की संगति भी इसी प्रकार मिल सकती है, अन्यथा सं. १५६० में उनका हस्तक्षेप करना इतिहास के विरुद्ध पड़ता है।

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग २ का 'भाव'
(२) वही ,, ,, ,, , प्रसंग २

आचार्यत्व का विवाद—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री गोपीनाथ जी का निधन होने के कई वर्ष बाद तक भी श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने को पुष्टि संप्रदाय का आचार्य घोषित नहीं किया था; यद्यपि संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों ने उनको ही आचार्य मान लिया था और वही संप्रदाय की देख-भाल भी कर रहे थे। यह बात गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को असह्य थी। वे अपने बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी को ही आचार्य-पद का वास्तविक अधिकारी मानती थीं और कृष्णदास उनका समर्थन कर रहे थे। चूँकि विट्ठलनाथ जी अत्यंत लोकप्रिय और आचार्य-पद के सर्वथा योग्य थे; अतः गोपीनाथ जी की पत्नी को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिल रही थी।

गोपीनाथ जी अपने आचार्यत्व-काल में भी उतने लोकप्रिय नहीं रहे थे, जितने कि तब विट्ठलनाथ जी थे। पुष्टि संप्रदाय के आचार्य होते हुए भी गोपीनाथ जी का आकर्षण संप्रदाय के सर्वोपरि उपास्य देव श्रीनाथ जी अपेक्षा जगन्नाथ जी के प्रति विशेष था। वे श्री जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ बार-बार जगदीशपुरी जाया करते थे, और अंत में वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। विट्ठलनाथ जी बचपन से ही श्रीनाथ जी के परम भक्त थे। वे गोवर्धन में महीनों रह कर श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा किया करते थे। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, वल्लभाचार्य जी की विद्यमानता में भी गोपीनाथ जी के साम्प्रदायिक विचार अपने पिता जी के सिद्धांतों के पूर्णतया अनुकूल नहीं थे। वल्लभाचार्य जी ने 'पुष्टिमार्ग' का प्रचार किया था; किंतु गोपीनाथ जी 'मर्यादामार्गीय' कहलाते थे[1]। संप्रदाय में यह भी मान्यता चल पड़ी थी कि विट्ठलनाथ जी कृष्ण के और गोपीनाथ जी बलदेव के अवतार हैं[2], अतः सांप्रदायिक व्यक्तियों का आकर्षण गोपीनाथ जी की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी की ओर विशेष रहता था। वार्ता' में ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख है, जब कि पुष्टि संप्रदाय के शिष्यों ने गोपीनाथ जी का चरणोदक न लेकर विट्ठलनाथ जी का लिया था[3]। उस समय जो पुष्टि संप्रदाय के शिष्य बनते थे, वे अपनी दीक्षा प्रायः विट्ठलनाथ जी से ही लेते थे, गोपीनाथ जी से नहीं। यही कारण है कि अष्टछाप के तीन भक्त-कवि गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास गोपीनाथ जी के आचार्य-गद्दी पर रहते हुए भी विट्ठलनाथ जी से ही दीक्षित हुए थे। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि विट्ठलनाथ जी अत्यंत लोकप्रिय और पुष्टि-सप्रदाय के शिष्य-सेवकों में अत्यंत आदरणीय थे।

जब तक पुरुषोत्तम जी अल्प-वयस्क थे, तब तक उनकी माता भी चुप रही थीं। सं. १६०५ में जब पुरुषोत्तम जी को १८वाँ वर्ष लगा, तब उनकी माता जी ने उन्हें पुष्टि संप्रदाय की आचार्य गद्दी पर बैठाने का आंदोलन उठाया। उनको विट्ठलनाथ जी के समक्ष तो अपना मंतव्य प्रकट करने का साहस नहीं हुआ; किंतु वे अपने कतिपय समर्थकों द्वारा अपने उद्देश्य को सफल करने की चेष्टा करने लगीं। विट्ठलनाथ जी की योग्यता और लोकप्रियता के कारण उनके विरुद्ध पुरुषोत्तम जी का समर्थन करने वाला कोई वरिष्ट व्यक्ति मिलना कठिन था; किंतु दैवयोग से उस समय एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को पुरुषोत्तम जी का पक्ष समर्थन करने के लिए श्रीनाथ जी के मंदिर के अधिकारी कृष्णदास जैसे प्रभावशाली व्यक्ति मिल गये। वह घटना पुष्टि संप्रदाय में 'गंगाबाई का प्रसंग' के नाम से प्रसिद्ध है।

(१) चौ. वै. की वार्ता में 'देवा कपूर खत्री' और 'प्रभुदास जलोटा' की वार्ताओं का 'भाव'
(२) वही ,, 'देवा कपूर खत्री' और 'नारायणदास भाट' की वार्ताओं का 'भाव'
(३) वही ,, 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसंग ५ का 'भाव'

गंगावाई का प्रसंग—जिस समय का यह वृत्तांत लिखा जा रहा है, उस समय गंगावाई नामक एक वैष्णव महिला का श्रीनाथ जी के मंदिर में अधिक आना-जाना रहता था। गंगावाई श्रीनाथ जी की सेविका और वल्लभाचार्य जी की शिष्या थी। वह एक धनाढ्य महिला थी और उसके द्रव्य को लेने वाला कोई उत्तराधिकारी नहीं था। उन दिनों श्रीनाथ जी की परिवर्तित सेवा-प्रणाली के कारण कृष्णदास को मंदिर के व्यय के लिए द्रव्य की अधिक आवश्यकता रहती थी; अतः उन्होंने गंगावाई से घनिष्टता बढा कर उसके द्रव्य को श्रीनाथ जी के उपयोग में लेना आरंभ कर दिया। गंगावाई कृष्णदास की यहाँ तक कृपापात्र हुई कि श्रीनाथ जी के भोग के समय में भी उसे वहाँ से हटाने का किसी को साहस नहीं होता था; यद्यपि उस समय उसका वहाँ रहना पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि के विरुद्ध था। श्री विट्ठलनाथ जी गंगावाई की अनधिकार उस चेष्टा से असंतुष्ट थे; किंतु मंदिर के अधिकारी होने के कारण वे कृष्णदास से इस संबंध में कुछ नहीं कहते थे।

गंगावाई पर अधिकारी कृष्णदास की इस प्रकार अनुचित कृपा वहुत से व्यक्तियों के हृदय में संदेह उत्पन्न करने लगी। कई दुर्बुद्धि व्यक्तियों ने यहाँ तक कह डाला कि अधिकारी कृष्णदास और गंगावाई का अनुचित संबंध है! ऐसे ही व्यक्तियों ने यह शिकायत विट्ठलनाथ जी के पास भी पहुँचाई। विट्ठलनाथ जी तो पहले से ही गंगावाई से असंतुष्ट थे, अतः उन्होंने कृष्णदास से इस विषय में कुछ पूछ-ताछ किये बिना ही गंगावाई का श्रीनाथ जी के मंदिर आना-जाना बंद करा दिया।

विट्ठलनाथ जी की उस आज्ञा के कारण अधिकारी कृष्णदास उनसे वड़े रुष्ट हुए। बंगालियों को सेवा-पूजा से हटाने के कारण उनका प्रभाव वहुत वढ़ गया था और वे इतने निरंकुश हो गये थे कि मंदिर की प्रवंध-व्यवस्था में किसी का भी हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। उसके साथ ही वे विट्ठलनाथ जी की अपेक्षा पुरुषोत्तम जी को वल्लभाचार्य जी की गद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी मानते थे। उक्त कारणों से उन्होंने विट्ठलनाथ जी की गंगावाई संबंधी आज्ञा की ही अवहेलना नहीं की; वल्कि स्वयं उन पर ही श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने की पावंदी लगा दी!

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में उस दुर्घटना का कारण गंगावाई को तो वतलाया है; किंतु उसमें कृष्णदास से उसके 'अनुचित संवंध' अथवा 'पारिवारिक कलह' या 'आचार्यत्व के विवाद' के संवंध में कुछ नहीं लिखा गया है। उसमें केवल इतना ही लिखा मिलता है कि एक दिन श्रीनाथ जी के राजभोग की सामग्री पर गंगावाई की दृष्टि पड़ गई, अतः उस सामग्री को श्रीनाथ जी ने स्वीकार नहीं किया। जव यह वात विट्ठलनाथ जी को ज्ञात हुई, तो उन्होंने खेद पूर्वक अधिकारी कृष्णदास से कहा,—"तुम्हारे ही कारण आज श्रीनाथ जी को कष्ट हुआ है!" उनके उक्त शब्दों से रुष्ट होकर कृष्णदास ने उनका श्रीनाथ जी के मंदिर में आना वंद करा दिया। लीला भावना वाली चौरासी वार्ता में 'गंगावाई की दृष्टि' वाली वात तो लिखी गई है; किंतु उसकी संगति पुरुषोत्तम जी के उत्तराधिकार से भी मिलाई गई है[1]। वास्तव में उस दुर्घटना का मुख्य कारण लोकापवाद और आचार्यत्व का विवाद था; 'गंगावाई की दृष्टि' वाली वात तो आनुषंगिक और भावनात्मक मात्र है।

---

(१) लीला भावना वाली चौ. वै. की वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग ७

विप्रयोग—श्रीनाथ जी की ड्योढ़ी बंद किये जाने से विट्ठलनाथ जी को हार्दिक क्लेश हुआ; किंतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा का उल्लंघन करने की कोई चेष्टा नहीं की। वे गोवर्धन से हट कर उसके निकटवर्ती परासोली ग्राम स्थित चंद्रसरोवर पर रहने लगे। वे छै महीने तक श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित रहे थे, किंतु उन्होंने अधिकारी कृष्णदास की आज्ञा के विरुद्ध मंदिर में प्रवेश करने की चेष्टा नहीं की। पुष्टि संप्रदाय के किसी व्यक्ति को भी अधिकारी की उस अनुचित आज्ञा के विरोध करने का साहस नहीं हुआ। उक्त घटना से विट्ठलनाथ जी की शांत प्रकृति और कृष्णदास के प्रभाव का ज्ञान भली भाँति हो सकता है।

श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित होने पर विट्ठलनाथ जी ने उस समय 'विप्रयोग' किया था। वे अन्न का त्याग कर केवल दुग्धाहार करते हुए परासोली–चंद्रसरोवर पर रहे थे। उस काल में श्री वल्लभाचार्य जी के वरिष्ट शिष्य दामोदरदास हरसानी और रामदास मुखिया प्रायः विट्ठलनाथ जी से मिलने के लिए आते रहते थे। विट्ठलनाथ जी भागवत का पाठ करने के अनंतर हरसानी जी से श्री वल्लभाचार्य जी की जीवनी और लीला–भावना के प्रसंगों को सुना करते थे। हरसानी जी द्वारा कथित वे प्रसंग 'महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता' के आरंभिक अंश 'श्री गुसाईं जी और दामोदरदास जी कौ संवाद' के रूप में प्राप्त हैं[1]। उक्त 'संवाद' की हस्तप्रति कांकरोली के सरस्वती भंडार (बंध सं. ९३–४) में सुरक्षित है।

श्रीनाथ जी के वियोग में विह्वल होकर विट्ठलनाथ जी ने उस काल में अपनी आंतरिक वेदना की जो काव्यात्मक अभिव्यक्ति की थी, वह पुष्टि संप्रदायी साहित्य में 'विज्ञप्ति' के नाम से उपलब्ध है। 'वार्ता' का उल्लेख है, विट्ठलनाथ जी 'विज्ञप्ति' के श्लोकों को कागज पर लिख कर उन्हें फूल–माला में छिपा कर रामदास मुखिया के द्वारा श्रीनाथ जी की सेवा में भेजा करते थे[2]। 'विज्ञप्ति' के श्लोकों की एक-एक पक्ति अतिशय दैन्य, भगवत्–विप्रयोग और आत्म–निवेदन की भावना से भरी हुई है। उदाहरणार्थ,—'ईदृशः कोऽपराधोऽस्ति, हृदयेश न वेद्म्यहम्। येतान्तराय एतावान् श्रीमुखावलोकने मम ॥'—अर्थात्, हे हृदयेश्वर! मेरे वेजाने मुझ से ऐसा कौन सा अपराध हो गया, जिससे मुझे आपके श्रीमुख के दर्शन करने में भी बाधा उत्पन्न हो गई है!'

विट्ठलनाथ जी की क्षमाशीलता और कृष्णदास का पश्चात्ताप—जब श्री विट्ठलनाथ जी को विप्रयोग करते हुए छै महीने बीत गये, और कृष्णदास ने अपनी आज्ञा वापिस नहीं ली; तब विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने मथुरा के हाकिम के पास इसकी फरियाद की। हाकिम ने कृष्णदास को गिरफ्तार कर कारागार में डाल दिया, और विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने की राजाज्ञा प्रदान की। गिरिधर जी राजकीय आदेश को लेकर परासोली गये और अपने पिता जी से श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने को कहा। इस पर विट्ठलनाथ जी ने उत्तर दिया,—'अधिकारी कृष्णदास की आज्ञा विना हम मंदिर में नहीं जावेंगे। गिरिधर जी ने कहा,—'कृष्णदास तो अपने कर्म के प्रायश्चित स्वरूप मथुरा के कारागार में है।' कृष्णदास की उस विपत्ति के समाचार से विट्ठलनाथ जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा, जब तक अधिकारी कृष्णदास बंधनमुक्त नहीं होंगे, तब तक वे अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करेंगे। उनकी उस प्रतिज्ञा को सुन कर मथुरा के हाकिम ने कृष्णदास को कारागार से मुक्त करा दिया और विट्ठलनाथ जी ने

(१) लेखक कृत 'अष्टछाप-परिचय', पृष्ठ २२

(२) लीला भावना वाली चौ. वै. की वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग ७

उनका अधिकारी के रूप में ही स्वागत-सत्कार किया। विट्ठलनाथ जी की उस अलौकिक क्षमाशीलता और अपूर्व उदारता का कृष्णदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करते हुए विट्ठलनाथ जी से क्षमा-याचना ही नहीं की, प्रत्युत वे उसी दिन से उनके अनन्य भक्त हो गये। कृष्णदास का वह परिवर्तित भाव उनके कई पदों में व्यक्त हुआ है[1]।

'वार्ता' साहित्य के आधार पर यह समझा जा सकता है कि आचार्यत्व के विवाद संबंधी पारिवारिक कलह का सूत्रपात सं. १६०२ में हुआ था। गंगाबाई के प्रसंग को लेकर जब कृष्णदास का विट्ठलनाथ जी से मतभेद हुआ, तब सं. १६०५ में उक्त विवाद ने उग्र रूप धारण किया था। तभी सं. १६०५ की पौष शु० ६ से सं. १६०६ की आषाढ़ शु० ५ तक के छै माह में विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्योढ़ी बंद रही थी। उसी काल में विट्ठलनाथ जी ने विप्रयोग किया था[2]। सं. १६०६ के आषाढ़ कृष्ण पक्ष में दैवयोग से पुरुषोत्तम जी का असामयिक देहावसान हो गया था। इस प्रकार आचार्यत्व के विवाद, पारिवारिक कलह और कृष्णदास से मतभेद होने के कारण जो अप्रिय घटना हुई थी; वह पुरुषोत्तम जी के निधन, राजकीय हस्तक्षेप और विट्ठलनाथ जी की क्षमाशीलता के फल स्वरूप कृष्णदास के परिवर्तित दृष्टिकोण से समाप्त हुई थी। पुरुषोत्तम जी के निधन-दिवस से १३ दिन पश्चात् सं. १६०६ की आषाढ़ शु. ५ को विट्ठलनाथ जी ने पुनः मंदिर में प्रवेश कर श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे।

आचार्यत्व-ग्रहण और सांप्रदायिक उन्नति—सं. १६०७ में विट्ठलनाथ जी ने विधिपूर्वक आचार्यत्व ग्रहण किया था। उसके उपरांत वे पुष्टि संप्रदाय की सांगोपांग उन्नति करने में लग गये थे। गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी निराश होकर अपनी निजी संपत्ति और वल्लभाचार्य जी एवं गोपीनाथ जी के ग्रंथों की अनेक हस्त प्रतियाँ अपने साथ लेकर दक्षिण प्रदेश स्थित अपने पितृालय चली गई थीं[3]। वह अमूल्य ग्रंथ-राशि वहाँ अस्त-व्यस्त होकर अप्राप्य हो गई थी।

श्री वल्लभाचार्य जी के तिरोधान के समय विट्ठलनाथ जी किशोरावस्था के थे, अतः पुष्टि संप्रदायी भक्ति और सेवा-भावना का समस्त तत्व उन्हें स्वयं आचार्य जी से जानने का यथेष्ट अवसर नहीं मिला था। वल्लभाचार्य जी ने सांप्रदायिक तत्व की शिक्षा विशेष रूप से अपने प्रमुख शिष्य दामोदरदास हरसानी को दी थी। विट्ठलनाथ जी ने अपनी माता जी के आदेशानुसार दामोदरदास जी से पुष्टि संप्रदाय की सेवा-भक्ति का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था[4]। उनके अतिरिक्त अच्युतदास से उन्होंने संप्रदाय की लीला-भावना की जानकारी उपलब्ध की थी[5]।

---

(१) १. ताही कों सिर नाइयै, जो श्री वल्लभ-सुत पद-रज रति होहि।
२. परम कृपालु श्री वल्लभनंदन, करत कृपा निज हाथ दे माथै।
३. बलिहारी विट्ठलेश की, जिन जगत उद्धार्यो।
—कृष्णदास पद संग्रह (कांकरोली), सं. ११२१–११२३ और नि. की. सं. भाग ३

(२) १. लीला भावना वाली चौ. वै. की वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग ७
२. लेखक कृत 'अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ २१–२३

(३) यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ दिग्विजय'

(४) चौ. वै. की वार्ता में 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसंग २

(५) चौ. वै. की वार्ता में 'अच्युतदास सनोढ़िया की वार्ता', प्रसंग १ का 'भाव'

विट्ठलनाथ जी ने आरंभ से ही इस बात का अनुभव किया कि पुष्टि संप्रदाय की सांगोपांग उन्नति के लिए उसकी सेवा-भावना का क्रियात्मक रूप से विस्तार होना आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा के अंतर्गत शृंगार, भोग एवं राग के विस्तार करने की एक योजना बनाई और उसे कार्यान्वित करने का भरपूर प्रयास किया। 'राग' के विस्तार का घनिष्ट संबंध 'कीर्तन' से था, जिसे समुचित रूप में सम्पन्न करने के लिए उन्होंने आचार्यत्व-ग्रहण करने से पहिले ही 'अष्टछाप' की स्थापना कर दी थी। इसके संबंध में विस्तार से आगे लिखा गया है।

ब्रज का स्थायी निवास—सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गोपीनाथ जी का ब्रज से घनिष्ट संबंध होते हुए भी उन्होंने स्थायी रूप से यहाँ रहने का विचार नहीं किया था। विट्ठलनाथ जी उनके समय से ही ब्रज मे अधिक रहा करते थे। उन्हे गोवर्धन और गोकुल में निवास करना बड़ा आनंददायक जान पड़ता था। आचार्यत्व ग्रहण करने से पहिले ही उन्होंने अपने अनेक शिष्यों की तरह अष्टछाप के तीन महानुभाव सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और नंददास को गोकुल में ही पुष्टि संप्रदाय की दीक्षा दी थी। फिर भी उस काल में उनका स्थायी निवास अड़ैल में था। आचार्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से ब्रज में रहने की योजना बनाने लगे।

मुगल सम्राट अकबर का शासन आरंभ होने से पहिले हिंदू धर्माचार्यों का ब्रज में निवास करना सुविधाजनक नहीं था; किंतु अकबर के शासन काल में स्थिति बदल गई थी। सं. १६१९ में सम्राट अकबर ने बैरमखाँ से स्वतंत्र होकर राज्य शासन का समस्त प्रबंध अपने हाथ में ले लिया था; और ब्रज प्रदेश के प्रमुख नगर आगरा में राजधानी क़ायम कर राजकीय सुव्यवस्था एवं धार्मिक उदारता के साथ शासन करना आरंभ किया था। उसी काल में श्री विट्ठलनाथ जी ने अड़ैल से हट कर स्थायी रूप से ब्रज में निवास करने का निश्चय किया। ब्रज में आने से पहिले वे कुछ समय तक गोंडवाना की रानी दुर्गावती के आग्रह से उसकी राजधानी गढ़ा (म. प्र.) में रहे थे। गढ़ा जाते हुए वे मार्ग में राजा रामचंद्र बघेला की राजधानी में भी रुके थे। रामचंद्र बघेला ने उनका बड़ा सत्कार किया था। वह राजा संगीत कला का बड़ा प्रेमी था। संगीत-सम्राट तानसेन अकबरी दरबार में जाने से पहिले उसी राजा के आश्रय में रहा था और वहाँ पर ही उसका विट्ठलनाथ जी से परिचय हुआ था। विट्ठलनाथ जी वहाँ से रानी दुर्गावती की राजधानी गढ़ा में गये। उस समय उनकी प्रथम पत्नी का देहांत हो चुका था। रानी दुर्गावती के आग्रह से सं. १६२० की वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होंने एक सजातीय तैलंग भट्ट की पुत्री पद्मावती जी के साथ अपना द्वितीय विवाह किया था। सं. १६२१ में जब रानी दुर्गावती का मुगल सम्राट अकबर से भीषण युद्ध छिड़ जाने की आशंका हुई, तब विट्ठलनाथ जी वहाँ से अड़ैल होते हुए स्थायी रूप से ब्रज-वास करने के विचार से मथुरा आ गये थे।

श्री विट्ठलनाथ जी सं. १६२३ में मथुरा आये थे। उन्होंने यहाँ पर रानी दुर्गावती द्वारा निर्मित एक बड़े भवन में सपरिवार निवास किया था। रानी ने उक्त भवन में विट्ठलनाथ जी और उनके छहों पुत्रों के लिए सात घर बनवाये थे, जिनके कारण वह 'सतघरा' कहलाता था[1]। इस समय वह प्राचीन भवन तो नहीं रहा; किंतु उसके स्थान पर एक दूसरा छोटा मकान बना हुआ है। मथुरा में जहाँ वह भवन था, उसके और-पास का मुहल्ला अब भी 'सतघरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

(१) भावसिंधु की वार्ता, पृष्ठ २७३

'सतघरा' में श्रीनाथ जी—श्री विट्ठलनाथ जी मथुरा के 'सतघरा' में अपने पारिवारिक जनों को छोड़ कर आप सं. १६२३ में गुजरात की यात्रा को चले गये थे। पीछे से उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने कुछ समय के लिए श्रीनाथ जी के स्वरूप को गोबर्धन से लाकर उसी सतघरा भवन में विराजमान किया था। उस समय श्रीनाथ जी के साथ गोवर्धन से सूरदासादि भक्तगण भी मथुरा आये थे। उसी स्थान पर वृंदावन के गौड़ीय गोस्वामियों ने श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे। सूरदास और अकबर की भेंट भी संभवतः उसी काल में मथुरा में हुई थी।

वार्ता साहित्य और सांप्रदायिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि श्रीनाथ जी सं. १६२३ की फाल्गुन कृ. ७ को मथुरा पधारे और यहाँ के 'सतघरा' में २ माह २२ दिन अर्थात् सं. १६२४ की वैशाख शु. १३ तक विराजमान रहे थे। उसके पश्चात् वैशाख शु. १४ (नृसिंह जयंती) को पुनः उन्हें गिरिराज के मंदिर में पधराया गया था। उस काल में श्रीनाथ जी के उत्सवों की नित्य नई झाँकियाँ मथुरा में होती रही थीं। उस प्रकार का धार्मिक आयोजन मथुरा के मुसलमानी शासन में संभवतः प्रथम वार हुआ था, जिसका श्रेय सम्राट अकवर की उदार धार्मिक नीति को है।

सम्राट अकबर से संपर्क—राज्य शासन सँभालने के पश्चात् सम्राट अकवर सं. १६२० में प्रथम वार मथुरा आया था। उस समय यहाँ पर यात्रियों से 'तीर्थ-यात्रा कर' और स्थायी रूप से निवास करने वाले हिंदुओं से 'जज़िया कर' लिया जाता था। इसी प्रकार के कई अमानवीय कर यहाँ सुलतानी काल से लगते आ रहे थे। सम्राट अकबर ने सं. १६२० में 'तीर्थ-यात्रा कर' और सं. १६२१ में 'जज़िया कर' हटा दिया, जिससे ब्रजवासियों ने सुख और संतोष की श्वांस ली थी। उसी काल में सम्राट ने यहाँ वल्लभ संप्रदाय और श्री विट्ठलनाथ जी के संबंध में भी सुना होगा। जब विट्ठलनाथ जी सं. १६२३ में मथुरा आकर बस गये, तब उन्होंने सम्राट अकबर से संपर्क स्थापित किया। श्री विट्ठलनाथ जी के आकर्षक व्यक्तित्व, प्रगाढ़ पांडित्य और धार्मिक जीवन से सम्राट अत्यंत प्रभावित हुआ था। उसी समय अकबर के अनेक उच्च पदाधिकारी और दरवारी गण भी विट्ठलनाथ जी के संपर्क में आये थे। सम्राट अकवर का प्रोत्साहन पुष्टि संप्रदाय की उन्नति में वड़ा सहायक सिद्ध हुआ था।

गोकुल में वस्ती और मंदिरों का निर्माण—श्री विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित मथुरा में रह तो रहे थे; किंतु नागरिक अशांति के कारण वहाँ का रहना उन्हें रुचिकर ज्ञात नहीं होता था। वे व्रज के शांत वातावरण में निवास करना चाहते थे। मथुरा के निकटवर्ती गोकुल नामक स्थान वल्लभाचार्य जी के समय से ही पुष्टि संप्रदाय का पुण्य स्थल हो गया था और गोवर्धन के पश्चात् इस संप्रदाय का वही प्रमुख केन्द्र माना जाता था। श्री विट्ठलनाथ जी भी वहाँ प्रायः रहा करते थे।

संवत् १६२७ में उन्होंने स्थायी रूप से गोकुल में वसने का आयोजन किया। उसके लिए सम्राट अकवर से सुविधा प्राप्त कर उन्होंने मथुरा के सामने यमुना नदी के उस पार पर्याप्त भूमि उपलब्ध की और उस पर गोकुल की वर्तमान वस्ती का निर्माण कराया। सर्व प्रथम वहाँ एक हवेली तथा एक मंदिर वनाये गये थे। 'वार्ता' में लिखा है, यादवेन्द्रदास ने फाल्गुन कृ. ७ को डेढ़ प्रहर रात्रि गये मंदिर की नींव खोदी थी। यादवेन्द्रदास महावन निवासी एक कुम्हार थे। उन्होंने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ली थी; किंतु वे विट्ठलनाथ जी के समय तक विद्यमान रहे थे। उन्होंने आचार्य जी और विट्ठलनाथ जी की यात्राओं में उन दोनों की वड़ी सेवा की थी। वे इतने

शक्तिशाली थे कि यात्रा में अकेले ही इतना सामान लेकर चलते थे, जितना कई व्यक्तियों द्वारा भी ले चलना कठिन होता था। उन्होंने शुभ मुहूर्त्त के निर्वाह के लिए एक रात्रि में अकेले ही गोकुल के मंदिर की पूरी नींव खोद डाली थी[1]।

सं. १६२८ में गोकुल में अनेक मकान और श्री नवनीतप्रिय जी आदि ठाकुरों के कई मंदिर बन गये थे। तभी से श्री विट्ठलनाथ जी अपने कुटुंब, सजातीय बंधु तथा शिष्य-सेवकों के साथ वहाँ रहने लगे थे। उनके वहाँ बस जाने से व्रज की धार्मिक उन्नति बड़ी तीव्र गति से होने लगी थी। विट्ठलनाथ जी के सबसे छोटे पुत्र घनश्याम जी का जन्म गोकुल में ही सं. १६२८ की मार्गशीर्ष कृ० १३ को हुआ था[2]। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, गोकुल के मंदिरों और वहाँ की सांप्रदायिक हवेलियों की आवश्यक व्यवस्था चांपाभाई अधिकारी और शंकरभाई कोठारी करते थे[3]। उस समय वहाँ की प्रबंध-व्यवस्था पर जो व्यय होता था, उसकी पूर्ति नहीं हो पाती थी; जिससे प्रायः कर्ज़ा बना रहता था। उसके लिए विट्ठलनाथ जी को बार-बार यात्राएँ करनी पड़ती थीं। फिर भी किससे द्रव्य लेना चाहिए और किससे नहीं, इस संबंध में वे बड़े सावधान रहते थे। 'वार्ता' में लिखा है, सम्राट अकबर के प्रिय दरबारी राजा बीरबल ने कर्ज़ चुकाने के लिए श्री विट्ठलनाथ जी को पर्याप्त द्रव्य देना चाहा था; किंतु उसकी सूचना मिलते ही वे बीरबल से बिना कहे-सुने ही चले गये थे, ताकि उसका द्रव्य न लेना पड़े[4]।

गोकुल में श्री विट्ठलनाथ जी के निवास स्थान की चौकीदारी विष्णुदास छीपा करते थे। विष्णुदास श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे; किंतु वे दीर्घजीवी हुए थे। 'अष्टछाप' की स्थापना के समय वे कदाचित् गोवर्धन में श्रीनाथ जी का कीर्तन करते थे, क्यों कि उनका नाम अष्टसखाओं में आया है[5]। बाद में नंददास के आने पर उनको तो 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया गया और विष्णुदास छीपा को गोकुल भेज दिया गया था। तब तक वे अत्यंत वृद्ध हो चुके थे, अतः उन्हें श्री विट्ठलनाथ जी का ड्योढ़ीवान नियुक्त किया गया था[6]। 'वार्ता' में लिखा है, यदि कोई विवादी पंडित विट्ठलनाथ जी से शास्त्रार्थ करने को आता था, तो उसे ड्योढ़ी पर विष्णुदास ही निरुत्तर कर देते थे, ताकि विट्ठलनाथ जी को उससे शास्त्रार्थ करने में व्यर्थ श्रम न करना पड़े[7]।

व्रज में मंदिरों का निर्माण—सुलतानों के शासन-काल में हिंदुओं को अपने मंदिर-देवालय बनाने की आज्ञा नहीं थी। सम्राट अकबर ने अपने शासन-काल में उस पुरानी आज्ञा को रद्द कर दिया था। तभी व्रज में स्वतंत्रता पूर्वक मंदिर-देवालय बनाये जा सके थे। पुष्टि संप्रदाय

---

(१) चौ. वै. की वार्ता में 'जादवेन्द्रदास कुम्हार की वार्ता', प्रसंग १ और २
(२) खटऋतु वार्ता के अंतर्गत 'श्री वल्लभ कुल का प्रागट्य', पृष्ठ ४६
(३) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में 'भाइला कोठारी की वार्ता' और चौ. वै. की वार्ता में 'संतदास चोपड़ा की वार्ता'
(४) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में वार्ता सं. १० पर 'भाइला कोठारी की वार्ता और वार्ता सं. २०८ पर 'चांपाभाई क्षत्री की वार्ता'
(५) 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता', पृष्ठ २७ पर श्री द्वारकेश जी का छप्पय
(६) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ३४
(७) चौ. वै. की वार्ता में 'विष्णुदास छीपा की वार्ता'

निंबार्क संप्रदाय

मुगल सम्राट अकबर

राजकीय वेश में गो० विट्ठलनाथ जी

के मंदिरों का निर्माण व्रज में उससे पहिले ही आरंभ हो गया था। गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण तो सिकंदर लोदी के शासन-काल सं. १५५६ में ही हुआ था; किंतु उसकी पूर्ति सिकंदर की मृत्यु के २ वर्ष पश्चात् सं. १५७६ में हुई थी। गोकुल की वस्ती सं. १६२८ में अकवर के शासन-काल में वसी थी, तव तक व्रज की धार्मिक स्थिति विलकुल वदल चुकी थी। फिर भी ऐसा नहीं मालूम होता है कि तव तक भी राजकीय आज्ञा के विना मंदिरों के निर्माण की पूरी छूट मिल गई हो।

फिर गोवर्धन और गोकुल में पुष्टि संप्रदायी मंदिर किस प्रकार वन सके थे, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका समाधान यह है, पुष्टि संप्रदाय के मंदिर हिंदू देवालयों की वास्तु कला के अनुसार न होकर साधारण घरों के समान वनाये जाते थे। उनमें मंदिर-देवालयों की भाँति शिखरादि नहीं होते थे और उनका वाहरी रूप भी प्रायः घरों-हवेलियों जैसा होता था। उन्हें मंदिर न कह कर 'हवेली' ही कहा जाता था। इसके कारण मुसलमान शासकों को उनके मंदिर होने का आभास नहीं हो पाता था।

अकवर के शासन-काल में जव हिंदुओं के मंदिर-निर्माण पर कोई खास पावंदी नहीं रही थी, तव भी पुष्टि संप्रदायी मंदिर-देवालय पहिले की भाँति विना शिखर के हवेलीनुमा वनाये जाते थे और उन्हें 'हवेली' ही कहा जाता था। आज-कल चाहें उनकी वास्तु कला में कुछ परिवर्तन हो गया है; किंतु उन्हें अव भी प्रायः हवेली ही कहा जाता है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सं. १६२८ में जव विट्ठलनाथ जी ने गोकुल की नई वस्ती वसाई थी, तव वहाँ भी मंदिर-हवेलियों का वनना आरंभ हुआ था। सं. १६३० में विट्ठलनाथ जी ने गोपालपुर (गोवर्धन) स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में 'शैया मंदिर मणिकोठा' वनवाया था[1]। सं. १६३८ के लगभग गोकुल और गोपालपुर में पुष्टि संप्रदाय के उपास्य सातों स्वरूपों के मंदिर वन गये थे, क्यों कि उनके वाद ही श्री विट्ठलनाथ जी ने उनके सम्मिलित रूप में अन्नकूट और डोल के उत्सव किये थे[2]। उसके पश्चात् विट्ठलनाथ जी के सातों पुत्र उन स्वरूपों की पृथक्-पृथक् सेवा करने लगे थे। सं. १६४० में विट्ठलनाथ जी ने गोकुल में छप्पनभोग का वृहत् उत्सव किया था; जिसमें गोकुल-गोपालपुर के समस्त सेव्य स्वरूप (नवनिधि)पधराये गये थे[3]।

राजकीय सन्मान—वार्ता साहित्य और पुष्टि संप्रदाय के ऐतिहासिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मुगल सम्राट अकवर श्री विट्ठलनाथ जी का वड़ा आदर-सन्मान करता था। उसने विट्ठलनाथ जी को राजकीय सुविधाएँ देने के लिए कई पट्टे-परवाने और फ़रमान जारी किये थे। सम्राट के अतिरिक्त जिन अन्य उच्च पदस्थ व्यक्तियों ने उसी काल में फ़रमानों द्वारा विट्ठलनाथ जी को सन्मानित किया था, उनमें अलीअकवर की पुत्री हमीदावानु वेगम और सेनानायक मुरीदखाँ के नाम उल्लेखनीय हैं[4]। वे सभी पट्टे फ़रमानादि फारसी भाषा में हैं। पुष्टि संप्रदायी विद्वानों ने उन्हें अंगरेजी, गुजराती और हिंदी भाषाओं में अनुवादित कर विविध पत्रों तथा ग्रंथों में प्रकाशित किया है।

---

(१) वल्लभ कुल को प्राकट्य (खटऋतु वार्ता), पृष्ठ ५८

(२) वार्ता साहित्यः एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५३५

(३) वही ,, , पृष्ठ ३०३

(४) मोगल वादशाही फरमानो (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष), पृष्ठ ७४-७७

एक फरमान सं. १६३४ (सन् ९८५ हिजरी) का है, जिसमें श्री विट्ठलनाथ जी को निर्भय होकर गोकुल में निवास करने की सुविधा प्रदान की गई है। उसके द्वारा सम्राट अकबर ने अपने कर्मचारियों तथा अन्य सभी व्यक्तियों को आदेश दिया है कि वे विट्ठलनाथ जी व उनके सेवकों के साथ न तो किसी तरह की छेड़-छाड़ (मुजाहमत) करें और न कभी कुछ माँगें[1]। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, एक वार विट्ठलनाथ जी ने आगरा में सूरत के एक साहूकार की पुत्र-वधू का वड़ी कुशलता पूर्वक न्याय कराया था[2]। उससे सम्राट अकवर वड़ा प्रसन्न हुआ था। ऐसा समझा जाता है, उसी समय उसने वह फरमान जारी किया था। इस प्रकार उक्त घटना सं. १६३४ में हुई थी। पुष्टि संप्रदाय में यह अनुश्रुति वहुत प्रसिद्ध है कि उस न्याय से प्रसन्न होकर ही अकवर ने विट्ठलनाथ जी को 'गोसाईं जी' का पद और न्यायाधीश के अधिकार प्रदान किये थे। विट्ठलनाथ जी का एक चित्र न्यायाधीश की राजकीय वेष-भूषा का प्राप्त भी होता है[3]। सम्राट से मानद (ऑनरेरी) न्यायाधीश के अधिकार प्राप्त कर गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उस काल में मथुरामंडल की जनता का वड़ा हित-साधन किया था।

दो फरमान सं. १६३८ (९८९ हिजरी) के हैं, जिनमें से एक सम्राट अकवर का और दूसरा वेगम हमीदावानु का है। सम्राट ने उक्त फरमान द्वारा गोसाईं जी की गायों को विना रोक-टोक कहीं भी चरने की सुविधा प्रदान की है। हमीदावानु के फरमान में महावन के 'करोड़ी' एवं 'अमलदारों' को आदेश दिया गया है कि वे विट्ठलनाथ जी की गायों को खालसा अथवा जागीर की किसी भी जमीन में चरने से न रोकें[4]। सम्राट अकवर की धार्मिक नीति में गोरक्षा की व्यवस्था वड़ी महत्त्वपूर्ण थी। उसके पूर्ववर्ती मुसलमान सुलतानों ने गो-वध की खुली छूट देकर हिंदुओं के हृदयों पर मार्मिक चोट की थी। अकवर ने गाय के महत्व और उसके प्रति हिंदुओं की धार्मिक भावना को स्वीकार करते हुए गो-रक्षा को प्रोत्साहन दिया था। उसने शाही फरमान जारी कर अपने राज्य में सर्वत्र गो-हत्या वंद करादी थी। यहाँ तक कि गो-हत्या करने वाले को उसने मृत्यु दंड देने की व्यवस्था की थी। वह एक ऐसा कार्य था, जिससे उसने अपनी समस्त हिंदू जनता के मन को मोह लिया था। उस प्रकार की व्यवस्था कराने में अकवर की हिंदू रानियों और उसके हिंदू दरवारियों के साथ ही साथ श्री विट्ठलनाथ जी जैसे उन धर्माचार्यो का भी हाथ था, जिन्होंने अपने उच्च धार्मिक जीवन से सम्राट को प्रभावित किया था।

सम्राट अकवर फतहपुर सीकरी के शाही इवादतखाना (उपासना गृह) में विभिन्न धर्मों के विद्वानों से धार्मिक परिचर्चा किया करता था। सं. १६३६ से सं. १६३९ तक के ३ वर्षों में वहाँ पर धार्मिक विचार-विमर्श और वाद-विवाद का वड़ा जोर रहा था। उसी काल में सम्राट ने गोवर्धन, गोकुल और वृंदावन के कतिपय संत-महात्माओं और धार्मिक विद्वानों को भी विचार-विमर्श के लिए आमंत्रित किया था। अष्टछाप के वयोवृद्ध भक्त-कवि कुंभनदास उसी काल में, संभवत: सं. १६३८ में अनिच्छा पूर्वक फतहपुर-सीकरी गये थे[5]।

(१) पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृष्ठ ७४; वार्ता साहित्य, पृष्ठ ५११
(२) दोसौ वावन वैष्णवन की वार्ता, (द्वितीय खंड), पृष्ठ ३३९-३४८
(३) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ३७
(४) कांकरोली का इतिहास, पृ. १०५; पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृ. ७४; वार्ता साहित्य, पृ. ५११
(५) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १०२

सं. १६३८ में सम्राट अकबर ने फतहपुर सीकरी में एक बड़ी धर्म परिषद् का आयोजन किया था। उसमें सम्मिलित होने के लिए उसने अनेक धार्मिक विद्वानों को बुलाया था। गोसाईं विट्ठलनाथ जी भी उक्त परिषद् में सम्मिलित हुए थे। उस समय उन्होंने परिषद् में उपस्थित विद्वानों के समक्ष अपना अपूर्व पांडित्य प्रदर्शित किया था। ऐसा समझा जाता है, उससे प्रसन्न होकर ही सम्राट ने और हमीदाबानु ने पूर्वोक्त फरमान जारी किये थे।

एक फरमान सिपहसालार मुरीदखाँ का सं. १६४६ (१५८९ हिजरी) का है। उसमें गोसाईं जी की गायों के चरने की भूमि को कर मुक्त किया गया है। दो फरमान सम्राट अकबर के और हैं, जो सं. १६५१ (१००१ हिजरी) के हैं। उनके द्वारा गोसाईं विट्ठलनाथ जी और उनके वंशजों को जतीपुरा गाँव जहाँ श्रीनाथ जी का मंदिर था, और गोकुल गाँव जहाँ विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित निवास करते थे, माफी में दिये गये थे[1]। वे तीनों फरमान जिस काल में जारी किये गये थे, तब तक गोसाईं विट्ठलनाथ जी का तिरोधान हो चुका था; किंतु उनमें नाम उन्हीं का है। उनमें यह आदेश दिया गया है कि गोसाईं जी को दी हुई सुविधाएँ उनके वंशजों को 'नसलन बाद नसल' बराबर मिलती रहेंगी।

सम्राट अकबर द्वारा सं. १६५१ (हिजरी १००१) में जारी किया गया एक ऐसा फरमान भी मिलता है, जिसमें ब्रजमंडल के मथुरा, सहार, मानगुतेह और ओढ़ परगनाओं के 'करोड़ियों' एवं जागीरदारों को आदेश दिया गया है कि वे उक्त परगनों एवं उनके निकटस्थ स्थानों में मोर पक्षी का शिकार न होने दें तथा जनता की गायों के चरने में रुकावट न डालें। यह फरमान उस समय जारी किया गया था, जब सम्राट अकबर लाहौर में था[2]।

उक्त फरमानों द्वारा दी गई राजकीय सुविधाओं और जागीरों के अतिरिक्त सम्राट अकबर ने गोसाईं विट्ठलनाथ जी को खिलअत दी थी तथा घोड़ा की सवारी, दमामा, इत्र और पंखा आदि सब के प्रयोग करने का अधिकार दिया था। इस प्रकार के अधिकार मुसलमानी शासन में सर्वोच्च श्रेणी के हिंदुओं को भी बड़ी कठिनता से मिलते थे। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि सम्राट उनका कितना अधिक सन्मान करता था। सम्राट अकबर के अतिरिक्त उसके प्रमुख दरबारी राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, राजा बीरबल और संगीत–सम्राट तानसेनादि भी गो. विट्ठलनाथ के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे।

यात्राएँ—गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता की भाँति कितनी ही यात्राएँ की थीं। वे यात्राएँ पूर्व में जगन्नाथ जी तक और पश्चिम में द्वारका जी तक की गईं थीं। उन्होंने कदाचित धुर दक्षिण की यात्रा नहीं की थी। जगन्नाथ जी और द्वारका जी की तो उन्होंने कई बार यात्राएँ की थीं। ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि द्वारका की उन्होंने ६ बार यात्रा की थी। उस काल में यात्रा करना कितना श्रमसाध्य और संकटपूर्ण था, इसका अनुमान आजकल की स्थिति में लगाना संभव नहीं है। आजकल रेल, मोटर और वायुयान के युग में जो यात्राएँ घंटों अथवा दो-एक दिन में निर्विघ्नता पूर्वक हो जाती हैं, उनके लिए उस काल में महीनों और कभी-कभी वर्षों लग जाते थे। फिर उन यात्राओं में चोर, डाकू और लुटेरों का सदैव संकट रहता था, इसलिए उनके निर्विघ्न समाप्त होने के अवसर बहुत कम आते थे।

---

(१) पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृष्ठ ७५–७६ और वार्ता साहित्य, पृष्ठ ५११

(२) मोगल बादशाही फरमानो (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष), फरमान ४ (अ) पृष्ठ ७६

यात्रा के साधन और घुड़सवारी—तत्कालीन यात्राएँ अधिकतर पैदल, बैलगाड़ी, घोड़ों अथवा रथों द्वारा की जाती थी। साधारण जन और साधु-संत प्रायः पैदल यात्रा करते थे; किंतु समृद्धिशाली व्यक्ति अन्य साधनों का उपयोग करते थे। उस काल में कई तरह से घोड़ों का बड़ा महत्व था। सेना के लिए तो घोड़े अनिवार्य थे; किंतु अन्य कार्यों के लिए भी उनकी बड़ी उपयोगिता थी। समृद्धिशाली व्यक्ति सुंदर घोड़ों का रखना अपनी प्रतिष्ठा और शान-शौक़त के लिए आवश्यक समझते थे। घोड़ों के गुण-दोष की परीक्षा और उनके विविध रोगों के निदान एवं चिकित्सा का एक शास्त्र ही बन गया था, जो 'शालिहोत्र' कहलाता था। शालिहोत्रियों और सुयोग्य साईसों की उस समय बड़ी क़द्र होती थी।

पुष्टिसंप्रदायी वार्ता साहित्य में जहाँ अनेक विषयों का विस्तृत वर्णन हुआ है, वहाँ घोड़ों के संबंध में अपेक्षाकृत कम उल्लेख मिलते हैं; घुड़साल और साईसों के तो और भी कम हैं। इससे समझा जा सकता है कि पुष्टि संप्रदायी आचार्य और भक्त जन घोड़ों का बहुत कम उपयोग करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी देशव्यापी लंबी-लंबी यात्राएँ पैदल चल कर ही की थीं; किंतु श्री विट्ठलनाथ जी ने अपनी यात्राओं में घोड़ों का उपयोग किया होगा। 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के कई प्रसंगों में विट्ठलनाथ जी का सुंदर घोड़ों के प्रति आकर्षण होने का उल्लेख मिलता है। उनसे यह भी ज्ञात होता हैं कि अपने उत्तर जीवन में वे घोड़ों पर चढ़ कर ही गोकुल से गिरिराज जी जाया करते थे, जब कि आरंभिक काल में वे प्रायः पैदल जाते थे। उससे समझा जा सकता है, उन्होंने अपनी लंबी यात्राओं में घोड़ों का उपयोग किया होगा।

'हृषिकेश क्षत्री की वार्ता' से ज्ञात होता है कि वह आगरा नगर में रहता था और घोड़ों की दलाली करता था। उसकी विट्ठलनाथ जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी; अतः वह चाहता था कि एक सुंदर घोड़ा गोसाईं जी की भेंट करे। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, जिसके कारण वह अपनी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सका था। एक बार घोड़ों का एक बड़ा सौदागर दो हज़ार घोड़े लेकर आगरा आया था। उन घोड़ों को हृषिकेश ने बिकवाया और उनकी दलाली में उसे दो घोड़े और दोसौ रुपया प्राप्त हुए थे। उन घोड़ों में से एक 'अबलख रंग' का बहुत सुंदर घोड़ा था। उस पर मखमली जीन कस कर उसे विट्ठलनाथ जी की भेंट करने के लिए वह गोकुल ले गया। गोसाईं जी की इच्छा थी कि एक सुंदर घोड़े पर चढ़ कर वे गोकुल से गिरिराज जी जाया करें। उस इच्छा की पूर्ति होने का समाचार विष्णुदास पौरिया से सुन कर हृषिकेश से मिलने के लिए "श्री गुसाईं जी द्वार पर पधारे और घोड़ा कों देखिकें बहुत प्रसन्न भए[1]।" इसी वार्ता में लिखा गया है, वह घोड़ा गोकुल के सामने यमुना पार 'मोहनपुर' में बँधता था। उस काल में मोहनपुर गाँव वर्तमान औरंगाबाद के आस-पास होगा। गोसाईं विट्ठलनाथ जी गोकुल से नाव द्वारा मोहनपुर आते थे और वहाँ से घोड़ा पर चढ़ कर वे गिरिराज जी जाया करते थे[2]।

'बीरबल की बेटी की वार्ता' में लिखा है, जब सम्राट अकबर विट्ठलनाथ जी से मिलने गोकुल गया, तब उसने उन्हें भेंट देनी चाही थी। विट्ठलनाथ जी उसे अस्वीकार करते रहे। जब अकबर ने बहुत आग्रह किया, "तब श्री गुसाईं जी ने कह्यौ, जो भले, ऐसो तुम बहोत हठ करत हो,

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता (द्वितीय खंड) हृषिकेश क्षत्री की वार्ता, पृष्ठ २७१
(२) वही " " " , पृष्ठ २७०-२७४

तो एक घोड़ा ऐसौ होइ, जो घरी में पाँच कोस चले। और वहौत सूधौ होइ, चाल वहौत सुंदर होइ, जो असवारी में चैन पावैं[1]।" सम्राट अकवर से किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा न रख कर उससे एक सुंदर घोड़े की माँग करने से गोसाईं जी का घोड़ों के प्रति आकर्षण ज्ञात होता है। 'मधुसूदनदास क्षत्री की वार्ता' से भी विदित होता है कि उसने गोसाईं जी की इच्छा जान कर उन्हें एक सुंदर घोड़ा भेंट किया था[2]। उक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि गोसाईं जी को घोड़े की सवारी वड़ी पसंद थी। 'वार्ता' में लिखा है कि सम्राट अकवर द्वारा दिया हुआ घोड़ा मोहनपुर में वँधता था; और उसके लिए घास, दाना तथा साईस का प्रवंध भी सम्राट की ओर से ही किया जाता था[3]।

गोसाईं जी की यात्राओं का विवरण—'वार्ता' साहित्य से ज्ञात होता है कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अनेक यात्राएँ की थीं। उन यात्राओं में उन्होंने पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था और अनेक व्यक्तियों को पुष्टि मार्ग की दीक्षा दी थी। श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा सं. १६०० में आरंभ की थी। उस यात्रा में वे गुजरात–सौराष्ट्र का पर्यटन करते हुए द्वारका तक गये थे। सं. १६१० में उन्होंने मगध प्रदेश की और सं. १६१४ में गौड़ प्रदेश की यात्राएँ की थीं। सं. १६१६ में वे जगदीशपुरी की यात्रा को गये थे। वहाँ पर जगन्नाथ जी का रथोत्सव देख कर उन्होंने पुष्टि संप्रदाय में भी उसी प्रकार का उत्सव करना आरंभ किया था। सं. १६३४ के लगभग उन्होंने पुनः गौड़ प्रदेश की यात्रा की थी। उन्होंने अपने जीवन काल में ६ वार द्वारका की ओर कम से कम ३ वार व्रजमंडल की यात्राएँ की थीं।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी की यात्राओं में गुजरात प्रदेश की यात्राएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। उन्हीं यात्राओं के कारण भारत के उस पश्चिमी भाग में पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था। वे यात्राएँ सं. १६०० से लेकर सं० १६३८ तक के काल में ६ वार की गई थीं। उन यात्राओं का क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है,—

१. प्रथम यात्रा सं. १६०० में अड़ैल से आरंभ हुई थी।

२. द्वितीय यात्रा सं. १६१३ में अड़ैल से ही आरंभ की गई थी।

३. तृतीय यात्रा सं० १६१९ में गोंडवाना की राजधानी गढ़ा से आरंभ हुई थी।

४. चतुर्थ यात्रा सं. १६२३ में मथुरा से आरंभ हुई थी। उस अवसर पर जव विट्ठलनाथ जी गुजरात में थे, तव उनकी अनुपस्थिति में उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने सं. १६२३ की फाल्गुन कृ. ७ को श्रीनाथ जी का स्वरूप मथुरा के सतघरा में पधराया था।

५. पंचम यात्रा सं. १६३१ में गोकुल से आरंभ हुई थी। उस यात्रा में गोसाईं जी ने कुंभनदास को भी साथ में चलने के लिए कहा था; किंतु वे श्रीनाथ जी को छोड़ कर नहीं जा सके थे[4]।

६. पष्ठ यात्रा सं. १६३८ में गोकुल से ही आरंभ हुई थी। उस समय श्री गिरिधर जी भी गोसाईं जी के साथ गये थे[5]। वह गोसाईं जी की अंतिम वड़ी यात्रा थी।

---

(१) दोसौ वावन वैष्णवन की वार्ता (प्रथम खंड) 'वीरवल की वेटी की वार्ता', पृष्ठ ५१६

(२) वही ,, (द्वितीय खंड) 'मधुसूदनदास क्षत्री की वार्ता', पृष्ठ २१८

(३) वही ,, (प्रथम खंड) 'वीरवल की वेटी की वार्ता', पृष्ठ ५१७

(४) अष्टछाप–परिचय, पृष्ठ १००

(५) वल्लभ कुल कौ प्राकट्य (खटऋतु की वार्ता), पृष्ठ ६०

उस काल में गुजरात जाने का मार्ग आगरा होकर था। उन यात्राओं के प्रसंग में तथा अन्य कार्यों से गोसाईं जी अनेक बार आगरा गये थे। वहाँ पर वे अपने शिष्य–सेवकों के घर पर ठहरते थे। उसी समय उन्हें राजा बीरबल आदि अनेक राजपुरुषों से मिलने का अवसर मिलता था। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, बीरबल की पुत्री गोसाईं जी की सेविका थी और राजा बीरबल स्वयं गोसाईं जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था।

गोकुल से गुजरात की यात्रा करने के लिए उस काल में जिन स्थानों में होकर जाना पड़ता था, उनके नाम इस प्रकार मिलते हैं,—गोकुल, मथुरा, आगरा, फतेहपुर सीकरी, बयाना, बंदर सींदरी, मेड़ता, वागड़ा, रोहा, अहमदाबाद, बड़ौदा, भड़ोंच, सूरत आदि।

प्राचीन काल से लेकर बाद की अनेक शताब्दियों तक शूरसेन प्रदेश से गुजरात–सौराष्ट्र तक और वहाँ से धुर दक्षिण तक तथा शूरसेन से मध्य भारत तक की अटूट धार्मिक शृंखला बनी रही थी। यही कारण था कि जब विक्रम की १२ वीं शताब्दी में दक्षिण प्रदेशीय धर्माचार्यों ने वैष्णव धर्म का उत्तर में भी प्रचार किया, तब उन्हें वहाँ कोई असुविधा नहीं हुई थी। उत्तर की जनता ने उसे जाना–पहिचाना हुआ धर्म ही समझा था। जब श्री वल्लभाचार्य जी और उनके पश्चात् श्री विट्ठलनाथ जी ने ब्रज से गुजरात तथा सौराष्ट्र में जाकर पुष्टि संप्रदाय का प्रचार किया था, तब उस प्राचीन परंपरा और धार्मिक शृंखला के कारण वे भी अपने मत का वहाँ सुविधा पूर्वक प्रचार कर सके थे। द्वारका में रहने वाले गूगली जाति के ब्राह्मण अब भी अपनी परंपरा ब्रज के ब्राह्मणों से बतलाने में गर्व का अनुभव करते हैं। उनका कथन है, उनके पूर्वज श्री कृष्ण के साथ मथुरा से वहाँ आये थे। उन ब्राह्मणों के आचार–विचार ब्रजवासी ब्राह्मणों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने अनेक बार ब्रज–यात्राएँ की थीं। वे यात्राएँ ब्रज चौरासी कोस की होती थीं, जिन्हें 'यात्रा' की अपेक्षा 'परिक्रमा' कहना उचित होगा और वे पैदल ही की जाती थीं। गोसाईं जी की वे परिक्रमाएँ सं. १६०० से सं. १६२८ तक के काल में कई बार की गई थीं। कवि जगतनंद ने सं. १६२४ की परिक्रमा का पद्यबद्ध वृत्तांत लिखा है, जो 'श्री गुसाईं जी की वन-यात्रा' के नाम से उपलब्ध है। सं. १६२८ की परिकमा का उल्लेख 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत 'पीतांबरदास की वार्ता' में मिलता है। ब्रज की परिक्रमा ब्रजमंडल के पुराण-प्रसिद्ध १२ वनों और २४ उपवनों की होती थी, जो ७ अथवा ११ दिनों में पूरी की जाती थी। कवि जगतनंद के उल्लेखानुसार गो. विट्ठलनाथ जी की उक्त परिक्रमाएँ ११ दिन में पूरी हुई थीं। इस प्रकार की यात्रा अथवा परिक्रमा आजकल भी होती हैं; किंतु यात्रियों की सुविधा के विचार से अब इनमें अधिक समय लगता है।

पुष्टिमार्गीय सेवा का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री विट्ठलनाथ जी ने सांप्रदायिक उत्तरदायित्व सँभालते ही सबसे पहिले पुष्टिमार्गीय सेवा के विस्तार करने का आयोजन किया था। उसके लिए उन्होंने ठाकुर जी के नित्योत्सव और वर्षोत्सव की सेवा-विधियों को अत्यंत भव्य, गंभीर और कलात्मक रूप में प्रचलित किया था। उन्होंने इनके संबंध में जो क्रम निर्धारित किया था, वही अभी तक पुष्टि संप्रदायी मंदिरों में प्रचलित है। नित्योत्सव और वर्षोत्सव की सेवा-विधियों के तीन प्रमुख अंग हैं,—१. शृंगार, २, भोग और ३. राग। यहाँ इन पर कुछ विस्तार से लिखा जा रहा है।

श्री गिरिराज जी का कुनवाड़ा भोग

अष्टछाप

मध्य में—गोसाईं विट्ठलनाथ जी

★

दाहिनी ओर—१. सूरदास, २. कुंभनदास, ३. परमानंददास, ४. कृष्णदास

बायीं ओर—५. गोविंदस्वामी, ६. छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास, ८. नंददास

१. श्रृंगार—ठाकुर जी के वस्त्राभूषण और उनकी साज-सज्जा को 'श्रृंगार' कहते हैं। वल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथ जी के श्रृंगार के केवल दो उपकरण 'पाग' और 'मुकुट' थे। विट्ठलनाथ जी ने उनका विस्तार कर दो के स्थान पर आठ उपकरण प्रचलित किये थे। वे आठों उपकरण १. मुकुट, २. सेहरा, ३. टिपारा, ४. कुल्हा, ५. पाग, ६. दुमाला, ७. फेंटा और ८. पगा (ग्वाल पगा) हैं। ये आठों उपकरण ठाकुर जी के श्रीमस्तक के श्रृंगार हैं। इनके साथ ही ठाकुर जी और स्वामिनी जी के मस्तक, मुख, कंठ, हस्त, कटि, चरणादि के अनेक श्रृंगार किये जाते हैं। इनमें बहुसंख्यक आभूषणों का उपयोग किया जाता है।

श्री ठाकुर जी और स्वामिनी जी के आभूषणों के साथ उनके विविध भाँति के वस्त्रों की भी व्यवस्था की गई है; जो ऋतुओं के अनुसार बदलती रहती है। जैसे शीत काल में भारी, मोटे वस्त्र तथा रुई के गद्दल आदि होते हैं और उष्ण काल में हलके, पतले तथा झीने वस्त्रादि। इन वस्त्राभूषणों को किस प्रकार धारण कराया जाय, इसका एक सुनियोजित क्रम निर्धारित किया गया है। मुकुट की लटक किस ओर हो, इसका भी निश्चित विधान है।

ठाकुर जी के साथ ही मंदिर की साज-सज्जा के लिए पर्दे, पिछवाही आदि का भी आवश्यक प्रबंध किया गया है। इस साज-सज्जा में भी ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार सुंदर वस्त्राभूषण और रंग-विरंगी साज-सज्जा से ठाकुर जी की झाँकियों का आनंद प्राप्त कर भक्तगण इस संप्रदाय की ओर सदा ही आकर्षित होते रहे हैं। श्रृंगार के विस्तार से इस संप्रदाय ने कई महत्वपूर्ण कलाओं की उन्नति में बड़ा योग दिया है।

२. भोग—खान-पानादि के विविध पदार्थों को सुंदर और शुद्ध रूप में प्रस्तुत कर उन्हें ठाकुर जी के समर्पण करने को 'भोग' कहते हैं। समर्पित पदार्थ 'प्रसाद' कहलाता है। श्री वल्लभाचार्य जी के समय में सखड़ी, अनसखड़ी और दूध की कतिपय सामग्री तथा फल-मेवा का भोग ही श्रीनाथ जी को समर्पित किया जाता था। श्री विट्ठलनाथ जी ने भोग का भी बड़ा विस्तार किया था। उन्होंने पचासों भोज्य पदार्थों का ठाकुर जी की सेवा में विनियोग कर एक ऐसी समुन्नत पाक कला को जन्म दिया, जो इस संप्रदाय की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

इस संप्रदाय की पाक कला का पूरा वैभव कुनवाड़ा, अन्नकूट और उनसे भी बढ़ कर छप्पनभोग की झाँकियों में दिखलाई देता है। यदि विट्ठलनाथ जी उनकी व्यवस्था न करते, तो आज बीसों प्रकार की भोज्य सामग्रियों के बनाने की विधि ही लुप्त हो गई होती। अन्नकूट का प्रचलन तो वल्लभाचार्य जी के समय में ही हो गया था, यद्यपि उसका बहुत छोटा रूप था; किंतु बड़े अन्नकूट और छप्पनभोग बाद में विट्ठलनाथ जी ने प्रचलित किये थे। छप्पनभोग में षट् ऋतुओं के सभी मनोरथ करने आवश्यक होते हैं, इसलिए उसे बृहत् रूप में सम्पन्न किया जाता है। सांप्रदायिक उल्लेखों के अनुसार विट्ठलनाथ जी ने सं. १६१५ में श्रीनाथ जी का प्रथम छप्पनभोग कराया था। तभी से इस संप्रदाय में छप्पनभोग करने की प्रथा प्रचलित हुई है। सं. १६४० में श्री विट्ठलनाथ जी ने गोकुल में एक बृहत् छप्पनभोग किया था; जिसमें गोकुल और गोपालपुर के सभी सेव्य स्वरूप (नव निधि) पधराये गये थे[1]। 'श्रृंगार' और 'भोग' की सांप्रदायिक भावना का विशद विवेचन श्री गोकुलनाथ जी कथित 'रहस्य भावना' की वार्ता में हुआ है[2]।

---

(१) वार्ता साहित्य: एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ३०३
(२) वल्लभीय सुधा, वर्ष ११ अंक १-२ देखिये

३. राग—ठाकुर जी की सेवा में राग का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। राग में गायन करने से मन शीघ्र ही एकाग्र होता है, इसलिए इसे निरोध का साधक माना गया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने निरोधमयी पुष्टिमार्गीय सेवा में राग सहित कीर्तन करने का आवश्यक विधान किया था। उनका कथन है,—अपने सुख के लिए आनंद स्वरूप भगवान् का कीर्तन-गान करना चाहिए। इस प्रकार के गायन से जैसा सुख मिलता है, वैसा सुख शुकदेवादि मुनीश्वरों को आत्मानंद में भी नहीं मिला, फिर दूसरों का तो कहना ही क्या है! इसलिए सब कुछ छोड़ कर चित्त के निरोधार्थ सदैव प्रभु का गुण-गान करना उचित है। ऐसा करने से ही सच्चिदानंदता सिद्ध होती है[1]।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा के आरंभिक दिन से ही उनके 'कीर्तन' गान की व्यवस्था की थी। उन्होंने सर्व प्रथम कुंभनदास को और फिर सूरदास तथा परमानंददास को श्रीनाथ जी का कीर्तनिया नियुक्त किया था। इस कीर्तन को अनेक राग-रागिनियों मे ताल-स्वर और विविध वाद्यों के साथ अत्यंत विकसित एवं समुन्नत रूप प्रदान करने का श्रेय श्री विट्ठलनाथ जी को है। उन्होंने श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में समय और ऋतु के रागों द्वारा ही कीर्तन करने का जो क्रम निर्धारित किया था, वह पुष्टि संप्रदायी मंदिरों में अभी तक यथावत् प्रचलित है।

श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा को विधि पूर्वक और भव्य रूप में सम्पन्न करने के लिए श्री विट्ठलनाथ जी ने स. १६०२ में ही 'अष्टछाप' की स्थापना कर दी थी; यद्यपि तब तक उन्होंने आचार्यत्व भी ग्रहण नहीं किया था। इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय सेवा में 'राग' को कितना महत्वपूर्ण माना गया है। अष्टछाप के कीर्तनकारों द्वारा जिस विशाल पद-साहित्य का निर्माण हुआ है, वह पुष्टि संप्रदाय की धार्मिक महत्ता, सांस्कृतिक चेतना और साहित्यिक समृद्धि का सूचक है। अतः यहाँ पर अष्टछाप के संबंध में कुछ विस्तार से लिखने की आवश्यकता है।

अष्टछाप—श्री विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की आठों झाँकियों में उनकी लीला-भावना के अनुसार समय और ऋतु के रागों द्वारा कीर्तन करने की व्यवस्था की थी। उसके लिए उन्होंने चार अपने पिता जी के और चार अपने भक्त-गायक शिष्यों की एक मंडली संगठित की थी। उस मंडली के आठों महानुभाव श्रीनाथ जी के परम भक्त होने के साथ ही साथ अपने समय मे पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ, गायक और कवि भी थे। उनके निर्वाचन से श्री गो. विट्ठलनाथ जी ने उन पर मानों अपने आशीर्वाद की मौखिक 'छाप' लगायी थी, जिससे वे 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुष्टि संप्रदाय की भावना के अनुसार वे श्रीनाथ जी के आठ अंतरंग सखा हैं, जो उनकी समस्त लीलाओं में सदैव उनके साथ रहते हैं; अतः उन्हें 'अष्टसखा' भी कहा गया है[2]। 'अष्टछाप' अथवा 'अष्टसखा' की शुभ नामावली इस प्रकार है,—

वल्लभाचार्य जी के शिष्य— १. कुंभनदास, २. सूरदास, ३. कृष्णदास ४.परमानंददास।
विट्ठलनाथ जी के शिष्य—५. गोविंदस्वामी, ६. छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास ८. नंददास।

वल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथ जी के प्रथम नियमित कीर्तनकार सूरदास थे। बाद में परमानंददास भी उन्हें नियमित रूप से सहयोग देने लगे थे। कुंभनदास यद्यपि सूरदास से भी पहिले कीर्तन करते आ रहे थे, तथापि गृहस्थ होने के कारण उन्हें नियमित रूप से अधिक समय

(१) निरोध लक्षणम्, श्लोक ४,६,९
(२) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १-२

। की सुविधा नहीं थीं । इस प्रकार वल्लभाचार्य जी के समय तक सूरदास और परमानंददास यमित रूप से श्रीनाथ जी की सभी झाँकियों में कीर्तन करते थे, तथा कुंभनदास अपने अवकाश अनुसार उन्हें सहयोग देते थे। अधिकारी कृष्णदास भी अपनी सुविधा से उसमें भाग लिया करते । वल्लभाचार्य जी के पश्चात् गोपीनाथ जी के समय में भी कीर्तन का वही क्रम चलता रहा था।

विट्ठलनाथ जी के समय में श्रीनाथ जी की कीर्तन प्रणाली को सुव्यवस्थित और विस्तृत किया ।या था, अतः आठों समय की झाँकियों में पृथक्-पृथक् कीर्तनकार नियुक्त किये जाने की आव- ।कता प्रतीत हुई थी। विट्ठलनाथ जी के शिष्यों में भी कई उच्च कोटि के संगीतज्ञ और भक्त- वि थे। इसलिए उन्होंने अपने पिताजी के पूर्वोक्त चारों कीर्तनकारों के साथ अपने चार संगीतज्ञ ।ष्यों को सम्मिलित कर 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। उसकी व्यवस्था विट्ठलनाथ जी द्वारा . १६०० में की गई गुजरात की प्रथम यात्रा से वापिस आने के उपरांत हुई थी। उस समय जरात की यात्रा से प्राप्त धन को श्रीनाथ जी की नव निर्मित विस्तृत सेवा प्रणाली के हेतु अर्पित ।या गया था। वह कार्य सं. १६०२ में सम्पन्न हुआ; अतः वही अष्टछाप की स्थापना का भी काल है।

'अष्टछाप' का सांप्रदायिक महत्व—पुष्टि संप्रदाय की मान्यता है, जब गोवर्धन की गिरिराज हाड़ी पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ; तब उनकी नित्यलीलाओं में सदैव साथ रहने वाले उनके ।ठ अंतरंग सखा भी उनकी सेवा के लिए इस भूतल पर प्रकट हुए थे। उक्त मान्यता के अनुसार ही ष्टछाप के आठों महानुभावों को पुष्टि संप्रदाय मे श्रीनाथ जी के 'अष्टसखा' कहा गया है। उन ष्टसखाओं ने अपने कीर्तन द्वारा श्रीनाथ जी की विविध लीलाओं का सरस गायन किया था। सका उल्लेख 'वार्ता' में इस प्रकार हुआ है,—"जब श्री गोवर्धननाथ जी प्रगट भये, तब अष्टसखा हू मि पै प्रकट भये, अष्टछाप रूप होय कें सब लीला को गान करत भये[1]।" श्रीमद् भागवत में ।ीकृष्ण के एकादश सखाओं का नामोल्लेख हुआ है[2]। उनमें से आरंभिक आठ कृष्ण, तोप, ।ोज, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल और ऋषभ पुष्टि संप्रदाय की मान्यता के अनुसार अष्टछाप के ।ाठों महानुभाव थे। उनमें से सूरदास 'कृष्ण', परमानंददास 'तोप', कुंभनदास 'अर्जुन', कृष्णदास ऋषभ', गोविंदस्वामी 'श्रीदामा', छीतस्वामी 'सुबल', चतुर्भुजदास 'विशाल' और नंददास 'भोज' ।खा माने जाते हैं।

'अष्टसखान की वार्ता' के श्री हरिराय जी कृत 'भाव प्रकाश' में अष्टसखाओं के सांप्रदायिक ।हत्व पर विशद प्रकाश डाला गया है। हरिराय जी का मत है, गिरिराज की तलहटी नित्यलीला ।ूमि है। यहाँ पर श्रीनाथ जी स्वामिनी जी सहित नित्यलीला करते हैं और ये आठों सखा उनकी ।ीलाओं में अष्ट प्रहर उनके साथ रहते है। अष्टसखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की ।स्थिति है। वे दिन में ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी वन-लीला का आनंद प्राप्त करते हैं, और ।ात में स्वामिनी जी की सखी रूप से निकुंज-लीला का सुखानुभव करते हैं। इस प्रकार ये आठों ।हानुभाव ठाकुर जी के अंग रूप हैं, जो उनकी अंतरंग लीलाओं में अहर्निश सम्मिलित होकर

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २७

(२) हे कृष्णस्तोष हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन्, देवप्रस्थ वरूथप॥ (दशम स्कंध, पूर्वार्ध, अध्याय २२)

लीला-रस का दिव्यानंद प्राप्त करते रहते हैं। स्वामिनी जी की सखी रूप में अष्टछाप के जो सखी नाम हैं; उनमें सूरदास 'चम्पकलता', परमानंददास 'चंद्रभागा', कुंभनदास 'विशाखा', कृष्णदास 'ललिता', गोविंदस्वामी 'भामा', छीतस्वामी 'पद्मा', चतुर्भुजदास 'विमला' या 'रंगदेवी' और नंददास 'चंद्रलेखा' या 'सुदेवी' माने गये हैं।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' (पृष्ठ २७) में श्री द्वारकेश जी कृत एक छप्पय है[1], जिसमें अष्टसखाओं के नाम दिये गये हैं। उन नामों में नंददास के स्थान पर विष्णुदास का नाम मिलता है। इससे नंददास के संबंध में शंका होती है। बात यह है, सं. १६०२ तक नंददास के अतिरिक्त अन्य सातों भक्तजन पुष्टि संप्रदाय में सम्मिलित हो चुके थे। नंददास सं. १६०२ के लगभग विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए थे। जब विट्ठलनाथ जी ने सं. १६०२ में 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमें उक्त सातों भक्तजनों के साथ श्री वल्लभाचार्य जी के सेवक विष्णुदास छीपा को सम्मिलित किया गया था। बाद में जब नंददास आ गये, तब उनकी सांप्रदायिक स्थिति एवं काव्य-संगीत विषयक योग्यता के कारण उन्हें विष्णुदास के स्थान पर रखा गया। विष्णुदास छीपा तब तक अत्यंत वृद्ध हो चुके थे; अतः वे विट्ठलनाथ जी के द्वार-रक्षक नियुक्त किये गये[2]।

अष्टछाप के वे आठों महानुभाव गोवर्धन के विविध स्थलों पर निवास करते थे। वे प्रति दिन श्रीनाथ जी की सेवा में उपस्थित होकर अपने-अपने ओसरे से उनकी झाँकियों में कीर्तन किया करते थे। उन आठों कीर्तनकारों के आठ सहकारी भी थे, जो कीर्तन में उन्हें सहयोग देते थे, तथा अवकाश के समय में उनके कीर्तनों को लिख लिया करते थे। अष्टछाप के उक्त कीर्तनकार आशुकवि, महान् संगीतज्ञ और रससिद्ध गायक थे। वे झाँकियों की लीला-भावना तथा समय और ऋतु के अनुसार अपने हार्दिक भावों को तत्काल पद रूप में प्रस्तुत कर उनका सामयिक रागों में गायन करते थे। लिपिकों द्वारा तत्काल लिपिबद्ध किये जाने से ही उनका विशाल पद साहित्य अभी तक सुरक्षित रहा है।

सं० १६३६ तक वे आठों महानुभाव विद्यमान थे। उनमें से कृष्णदास, सूरदास, कुंभनदास, नंददास और परमानंददास का क्रमशः देहावसान श्री विट्ठलनाथ जी के तिरोधान-काल स. १६४२ से पहिले ही हो गया था। शेष तीनों गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास श्री विट्ठलनाथ जी के तिरोधान का समाचार सुनते ही अपने-अपने नश्वर शरीर को उसी दिन छोड़ गये थे। इस प्रकार विट्ठलनाथ जी के अंतिम काल तक वे सभी महानुभाव अपने भौतिक शरीर को त्याग कर दिव्य देह द्वारा श्रीनाथ जी की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये। उनका अधिकांश जीवन श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करते हुए गिरिराज की तलहटी (गोवर्धन) में बीता था, और वहीं पर उन सब का निधन भी हुआ था। वहाँ पर उनके स्मृति-स्थल अब भी विद्यमान हैं।

---

(१) सूरदास सो 'कृष्ण', 'तोक' परमानंद जानो।
कृष्णदास सो 'ऋषभ', छीतस्वामी 'सुबल' बखानो॥
'अर्जुन' कुंभनदास, चत्रभुजदास 'विसाला'।
विष्णुदास सो 'भोज', स्वामिगोविंद 'श्रीदामाला'॥
अष्टछाप आठों सखा, श्री द्वारकेश परमान।
जिनके कृत गुन गान करि, निज जन होत सुथान॥

(२) सूर-निर्णय, पृष्ठ ९२ तथा चौ. वै. की वार्ता में 'विष्णुदास छीपा की वार्ता', प्रसंग १

अष्टछाप के स्मृति-स्थल---सूरदास का निवास परासोली--चंद्रसरोवर के जिस स्थल पर था, और जहाँ उन्होंने अपनी भक्ति-साधना की थी, वहाँ उनके स्मारक स्वरूप एक कुटिया बनी हुई है। सूरदास जी ने वहाँ सं. १५६७ से सं. १६४० तक प्रायः ७३ वर्ष के सुदीर्घ काल तक निवास किया था। उस कुटी के निकटवर्ती एक चबूतरे पर वृक्ष के नीचे उनका देहावसान हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने उनके स्मारक में उस चबूतरा पर उनके रेखा-चित्र और संक्षिप्त परिचय सहित एक शिलाखंड स्थापित किया है।

कुंभनदास का निवास जमुनावतो गाँव में था, जो चंद्रसरोवर के निकट है। उसके समीपवर्ती परासोली गाँव में उनके खेत थे। आन्यौर के पास वाले संकर्षण कुंड पर उनका निधन हुआ था। उनका स्मारक जमुनावतो गाँव में बनाया गया है।

कृष्णदास का निवास स्थल जतीपुरा के निकटवर्ती बिलछू वन में एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था और पूँछरी के निकट एक सूखे कूए में गिर कर उनकी मृत्यु हुई थी। उनके स्मारक स्वरूप बिलछू वन में एक चबूतरा है। उनकी मृत्यु का कूआ अभी तक विद्यमान है।

परमानंददास का साधना-स्थल जतीपुरा के निकटवर्ती सुरभीकुंड पर एक तमाल वृक्ष के नीचे था और वहाँ पर ही उनका निधन हुआ था। उस प्राचीन तमाल वृक्ष के स्थान पर उनके स्मारक में नया तमाल का वृक्ष लगाया गया है।

गोविंदस्वामी का पुण्य स्थल सुरभीकुंड से थोड़ा आगे एक वनखंड में है, जिसे गोविंदस्वामी की कदमखंडी कहते हैं। वहाँ एक टीले के नीचे की कंदरा में उनका साधना-स्थल था और वहीं पर उनका देहावसान भी हुआ था। पहिले यह कदमखंडी अत्यंत सघन और रमणीक थी; किंतु गाँव के समीप होने से उसका वह सुंदर रूप अब नहीं रहा। उनके स्मारक में वहाँ उनकी समाधि बनी है।

छीतस्वामी मथुरा के निवासी थे, जहाँ उनका मकान बताया जाता है। उनका साधना-स्थल पूँछरी गाँव के समीपवर्ती नवल अप्सरा कुंड पर एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था। वह स्थल 'रामदास की गुफा' के निकट है। वहाँ उनका स्मारक बनाने की योजना है।

चतुर्भुजदास पूर्वोक्त कुंभनदास के पुत्र थे, अतः उनका निवास स्थान और खेत उनके पिता की भाँति क्रमशः जमुनावतो और परासोली गाँवों में थे। उनका निधन रुद्रकुंड पर एक इमली वृक्ष के नीचे हुआ था। उक्त कुंड जतीपुरा के निकट गुलालकुंड जाने वाले मार्ग पर है। वहाँ एक पुराना इमली का वृक्ष है, जिसे उनका स्मारक चिन्ह समझा जाता है। उस स्थल पर उनका नवीन स्मारक बनाया गया है।

नंददास का साधना-स्थल गोवर्धन गाँव में मनसा देवी मंदिर के नीचे और मानसी गंगा के तटवर्ती एक पीपल के वृक्ष की छाया में था। वहीं पर उनका निधन भी हुआ था। इस समय भी उक्त स्थल पर एक पीपल का वृक्ष है, जो उनके स्मारक-चिन्ह का सूचक है। नंददास जी के समय में वह एकांत स्थल था; किंतु अब वहाँ बस्ती बस गई है और मकानादि बन गये हैं।

आगे के पृष्ठों पर अष्टछाप के विवरण का एक नक्शा दिया गया है, जिसमें शरणागति-काल के क्रम से उनके नाम, जन्म-संवत् और जन्म-स्थान, शरण-संवत् और शरण-स्थान, सखा नाम और सखी नाम, कीर्तन का समय, मुख्य लीला-गायन, ब्रज में निवास-स्थल, देहावसान-काल और देहावसान के स्थल तथा उनके स्मृति-स्थलों का उल्लेख किया गया है। इस विवरण से अष्टछाप के समग्र रूप का भली भाँति बोध हो सकेगा।

अष्टछाप (अष्टसखा) का विवरण

नाम	जन्म-संवत् जन्म-स्थान	शरण-काल शरण-स्थल	लीला संबंधी सखा नाम, सखी नाम	कीर्तन का समय	मुख्य लीला गायन	गोवर्धन में निवास-स्थल	देहावसान का काल और स्थल	स्मृति स्थल
१. कुंभनदास	सं. १५२५ कार्तिक कृ. ११ जमुनावती (गोवर्धन)	सं. १५५६ गोपालपुर (गोवर्धन)	अर्जुन सखा विशाखा सखी	राजभोग	निकुंज लीला	जमुनावती (गोवर्धन)	सं. १६४० संकर्पण कुड, आन्यौर	जमुनावती में घर-वार परासोली में खेत संकर्पण कुंड पर निधन-स्थल
२. सूरदास	सं. १५३५ वैशाख शु. ५ सीही (गुड़गांव)	सं. १५६७ गोघाट (जि. आगरा)	कृष्ण सखा चंपकलता सखी	उत्थापन	मान लीला	चंद्रसरोवर (परासोली)	सं. १६४० चंद्रसरोवर	गोघाट पर कुटी, चंद्रसरोवर पर कुटी व चबूतरा
३. कृष्णदास	सं. १५५३ चिलोतरा (गुजरात)	सं. १५६८ गोवर्धन (व्रज)	ऋषभ सखा ललिता सखी	शयन	रास लीला	बिलछू वन, गिरिराज	सं. १६३६ पूंछरी गिरिराज	बिलछू वन पूंछरी पर कूआ

४. परमानंद दास	सं. १५५० अगहन शु. ७ कन्नौज (उ. प्र.)	सं. १५७७ ज्येष्ठ शु. १२ अड़ैल (प्रयाग)	तोप सखा चंद्रभागा सखी	मंगला	वाल लीला	सुरभीकुंड तमाल वृक्ष के नीचे	सं. १६४१ भाद्रपद कृ. ९ सुरभी कुंड	श्याम तमाल सुरभी कुंड
५. गोविंद स्वामी	सं. १५६२ आंतरी (म. प्र.)	सं. १५९२ गोकुल (व्रज)	श्रीदामा सखा भामा सखी	ग्वाल	आँख-मिचौनी लीला, हिंडोला लीला	कदमखंडी गिरिराज	सं. १६४२ फाल्गुन कृ. ७ गिरिराज	कदमखंडी में समाधि व मंदिर
६. छीत स्वामी	सं. १५७१ पौष कृ. १० मथुरा	सं. १५९२ गोकुल (व्रज)	सुवल सखा पद्मा सखी	संध्या आरती	जन्म लीला	अप्सरा कुंड पूंछरी	सं. १६४२ फाल्गुन कृ. ७	श्याम तमाल अप्सरा कुंड पूंछरी
७. चतुर्भुज दास	सं. १५९७ जमुनावती (गोबर्धन)	सं. १५९८ गोपालपुर (गोवर्धन)	विशाल सखा विमला सखी (रंगदेवी)	संध्या भोग	गोवर्धन लीला	जमुनावती	सं. १६४२ फाल्गुन कृ. ७ रुद्रकुंड	इमली का वृक्ष रुद्रकुंड
८. नंददास	सं. १५९० रामपुर (सोरों) उ. प्र.	सं. १६०७ गोकुल (व्रज)	भोज सखा चंद्रलेखा सखी (सुदेवी)	शृंगार	किशोर लीला	मानसीगंगा गोवर्धन	सं. १६४० मानसीगंगा	पीपल का वृक्ष मानसीगंगा

पुष्टिमार्गीय भक्ति और माधुर्य भाव—श्री विट्ठलनाथ जी के समय में 'पुष्टिमार्गीय सेवा' की भाँति 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' का भी अत्यधिक विकास हुआ था। उस काल में इस संप्रदाय में भक्ति के अन्य भावों की अपेक्षा माधुर्य भाव का अधिक प्रभाव हो गया था। पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियों की उस काल की रचनाओं में राधा–कृष्ण की सरस लीलाओं के माधुर्य भावपूर्ण विस्तृत कथन मिलते हैं। स्वयं विट्ठलनाथ जी ने 'श्रृंगार रस मंडन' और 'स्वामिनी स्तोत्र' आदि की रचना द्वारा माधुर्य भक्ति और राधा–भाव को प्रोत्साहन दिया था। इस संबंध में कुछ विद्वानों की धारणा है कि विट्ठलनाथ जी के समय में इस संप्रदाय में जो माधुर्य भक्ति और राधा–भाव का अत्यधिक विकास हुआ था, उस पर ब्रज के अन्य भक्ति संप्रदायों का प्रभाव था; क्यों कि श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति सिद्धांत में इनका समावेश न कर केवल वात्सल्य भक्ति और कृष्णोपासना को ही मान्यता दी थी। इस प्रकार की धारणा श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति सिद्धांत और पुष्टि संप्रदाय के इतिहास का अध्ययन करने से भ्रमात्मक सिद्ध होती है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वल्लभाचार्य जी ने श्री कृष्ण के प्रति गोपियों के विविध प्रेम-भावों के आधार पर ही अपने भक्ति सिद्धांत का प्रचलन किया था; जिसमें वात्सल्य के साथ ही साथ सख्यादि और स्वकीय–परकीय माधुर्य भावों का भी समावेश था। उन्होंने उन सभी भक्ति-भावों का उपदेश अपने शिष्य-सेवकों को दिया था, जिन्होंने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार उन्हें ग्रहण किया था। पुष्टिमार्गीय सेवा में वात्सल्य भाव की प्रधानता होने से आचार्य जी के अधिकांश शिष्य–सेवकों की भावना वात्सल्य भक्ति के प्रति थी; किंतु उनके कतिपय शिष्य जैसे कुंभनदास, पद्मनाभदास और श्रीभट्ट आदि ने माधुर्य भक्ति को ग्रहण किया था। पुष्टि संप्रदाय के इतिहास से सिद्ध है कि कुंभनदास, पद्मनाभदास और श्रीभट्ट श्री आचार्य जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे सभी माधुर्य भाव से ओत–प्रोत हैं; यहाँ तक कि उनमें वात्सल्य भाव के पद ढूँढ़ने पर भी कदाचित ही मिलेंगे। यदि पुष्टि संप्रदाय में माधुर्य भक्ति का प्रचलन श्री विट्ठलनाथ जी के समय में अन्य भक्ति संप्रदायों के प्रभाव से माना जावेगा, तो फिर उक्त कवियों की रचनाओं में प्राप्त माधुर्य भाव को किससे प्रभावित कहा जावेगा ? यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि कुंभनदास अपनी माधुर्य भावपरक रचनाओं का गायन श्रीनाथ जी के कीर्तन में सं. १५५६ से ही करने लगे थे। यह वह काल है, जब कि ब्रज में माधुर्य भक्तिप्रधान अन्य संप्रदायों का उदय भी नहीं हुआ था; इसलिए इस संप्रदाय पर उनके प्रभाव का प्रश्न ही नहीं है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने 'रसोवैसः', 'सर्वरसः' आदि श्रुति वाक्यों के आधार पर अपने इष्टदेव परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण को रसात्मक बतलाते हुए उनके मधुर रूप का गायन किया है। उनके रचे हुए स्तोत्र 'मधुराष्टक' और 'परिवृढ़ाष्टक' में तथा उनकी 'सुबोधिनी' आदि रचनाओं में भगवान् श्री कृष्ण के मधुर रूप और माधुर्य भक्ति का विशद वर्णन हुआ है। 'मधुराष्टक' के आठ श्लोकों में उन्होंने अपने इष्टदेव को मधुराधिपति बतलाते हुए उनका समग्र स्वरूप, उनकी समस्त लीलाएँ–चेष्टाएँ तथा उनके परिकर आदि सभी को मधुर बतलाया है। 'परिवृढ़ाष्टक' में परब्रह्म की माधुर्यमंडित लीलाओं के प्रति आसक्ति व्यक्त की गई है। श्रीमद् भागवत के कतिपय स्कंधों की सुबोधिनी टीका में उन्होंने माधुर्य भक्ति का जैसा प्रवाह बहाया है, वैसा माधुर्य भक्ति एवं लीला रस की निकुंज भावना के प्रचारक संप्रदायों की रचनाओं में भी कठिनता से मिलता है। श्री राधा जी के प्रति उनकी भावना 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' और 'त्रिविध नामावली' में व्यक्त हुई है।

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रचारित पुष्टि संप्रदाय की उस मूल भावना को ही श्री विट्ठलनाथ जी ने विकसित किया था। उस पर किसी अन्य संप्रदाय का प्रभाव बतलाना असंगत है। वैसे एक ही काल और एक ही क्षेत्र में प्रचलित धर्म–संप्रदाय एक–दूसरे से थोड़े–बहुत प्रभावित होते ही हैं; किंतु उससे उनके मौलिक सिद्धांतों में अंतर नहीं आता है। जब विट्ठलनाथ जी पुष्टिमार्गीय सेवा–भक्ति के विकास और विस्तार करने में प्रयत्नशील हुए, तब उन्होंने भगवत्–सेवा में तो वात्सल्य भाव की ही प्रधानता रखी थी, किंतु भगवत–भक्ति में उन्होंने किशोर भाव की माधुर्य भक्ति को प्रमुखता दी थी। इसके लिए उनकी व्यवस्था है,—"सदा सर्वात्मना सेव्यो, भगवान् गोकुलेश्वरः। स्मर्तव्यो गोपिकावृन्दैः, क्रीडन वृंदावने स्थितः।। अर्थात्—गोकुलाधीश भगवान् श्री बालकृष्ण सदा सर्वात्म भाव से सेव्य हैं, और गोपिकावृंद के साथ क्रीड़ा करने वाले श्री वृंदावन-विहारी सदा स्मरणीय हैं।" इस व्यवस्था में वात्सल्य भाव को सेवनीय और किशोर भाव की माधुर्य भावना को स्मरणीय–भजनीय माना गया है। वैसे वात्सल्य भाव और माधुर्य भाव एक–दूसरे के विरुद्ध हैं; किंतु श्री विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि संप्रदाय की सेवा–भक्ति में दोनों का सामंजस्यपूर्ण विकास कर बड़ा ही युगांतरकारी कार्य किया था। ब्रज के धर्म–संप्रदायों के लिए यह उनकी बड़ी महत्वपूर्ण देन है।

गोसाईं जी के ग्रंथ—गो. विट्ठलनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उन्होंने वेद-शास्त्र-पुराणादि धार्मिक एवं सैद्धांतिक ग्रंथों का भली भाँति अनुशीलन किया था,—यह उनके रचे हुए ग्रंथों से पूर्णतया स्पष्ट है। उक्त ग्रंथों में श्री वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धांत तथा भक्ति तत्व पर प्रकाश डाला गया है, और पुष्टि संप्रदाय का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप में विवेचन किया गया है। श्री विट्ठलनाथ जी कृत प्रायः ५० छोटे–बड़े ग्रंथ कहे जाते हैं, जिनमें से कुछ स्वतंत्र ग्रंथ हैं और कुछ श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों की पूर्ति अथवा टीका–टिप्पणी के रूप में लिखे गये हैं। इनमें जो ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं, उनकी नामावली इस प्रकार है,—

१. विद्वन्मंडन, २. भक्तिहंस, ३. भक्तिहेतु, ४. शृंगार रस मंडन, ५. विज्ञप्ति, ६. सर्वोत्तम स्तोत्र, ७. स्वामिनी स्तोत्र, ८. चतुःश्लोकी, ९. दानलीला, १०. अणु भाष्य का अंतिम १।। अध्याय, ११. निबंध प्रकाश की पूर्ति और टीका, १२. सुबोधिनी टिप्पणी, १३. न्यासादेश विवृत्ति तथा १४. षोड़श ग्रंथ विवृत्ति आदि।

स्वतंत्र ग्रंथों में 'विद्वन्मंडन', 'भक्तिहंस' और 'शृंगार रस मंडन' प्रमुख हैं; जिन्हें विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि संप्रदाय के क्रमशः दार्शनिक सिद्धांत, भक्ति-तत्व और लीला-रस के स्पष्टीकरण के लिए रचा था। 'विद्वन्मंडन' अत्यंत पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है। इसमें शंका समाधान की पद्धति पर शुद्धाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। इसके संबंध में प्रसिद्ध है कि विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी युक्तिपूर्वक पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते थे और श्री विट्ठलनाथ जी उसका खंडन करते हुए शास्त्र प्रतिपादित सिद्धांत की उत्तर पक्ष के रूप में स्थापना करते थे। यह ग्रंथ अणु भाष्य की पूर्ति करने से पहिले गोकुल में रचा गया था। 'भक्तिहंस' पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपक एक सैद्धांतिक ग्रंथ है। 'शृंगार रस मंडन' श्री विट्ठलनाथ जी के आरंभिक काल की रचना होते हुए भी अत्यंत प्रौढ़ है। इसमें शृंगार रस, व्रतचर्या, दान लीला, दशोल्लास आदि के वर्णन सहित पुष्टि संप्रदाय के रस पक्ष और लीला भाव का मार्मिक विवेचन किया गया है। इसका रचना–काल सं. १६१३ है। 'वार्ता' में लिखा है, इसकी रचना में श्री विट्ठलनाथ जी ने दामोदरदास

हरसानी से सहायता ली थी[1]। 'विज्ञप्ति' दैन्य, आत्म-निवेदन और भगवत्-विरह सूचक एक प्रार्थनात्मक ग्रंथ है। 'सर्वोत्तम स्तोत्र' एक स्तुति परक रचना है, जिसमें श्री वल्लभाचार्य जी के १०८ नामों का भावनात्मक कथन किया गया है। पुष्टि संप्रदायी वैष्णव गण अपनी कामना-पूर्ति के लिए इसका दैनिक पाठ करते हैं।

पूर्वोक्त स्वतंत्र ग्रंथों के अतिरिक्त श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी कृत 'अणु भाष्य' की पूर्ति की थी, और 'सुबोधिनी' पर टिप्पणी, 'न्यासादेश' पर विवृत्ति तथा षोडश ग्रंथों में से कई पर विवृत्ति आदि की रचना की थी। इन समस्त ग्रंथों में श्री आचार्य जी के सिद्धांतों का भली भाँति स्पष्टीकरण किया गया है।

गोसाईं जी के शिष्य-सेवक—गो. विट्ठलनाथ जी के सैकड़ों शिष्य-सेवक थे, जिनमें से २५२ विशिष्ट व्यक्तियों के वृत्तांत सांप्रदायिक शैली में लिखे हुए 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में मिलते हैं। उक्त 'वार्ता' ग्रंथ से ज्ञात होता है कि गोसाईं जी के शिष्य-सेवकों में परम भक्त, धार्मिक विद्वान, कवि-कलाकार, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार से लेकर अत्यंत साधारण स्त्री-पुरुष तक थे। उनमें उच्च वर्णों के कुलीन सद् गृहस्थों के साथ ही साथ विरक्त साधु-संन्यासी तथा शूद्र, अन्त्यज और मुसलमान भी थे। उन विभिन्न वर्ग, श्रेणी और स्तर के व्यक्तियों का पुष्टिमार्ग के प्रति इस प्रकार श्रद्धा-भावना से आकृष्ट होना गो. विट्ठलनाथ जी के व्यापक प्रभाव का परिचायक है।

गोसाईं जी के परम भक्त, धार्मिक विद्वान और कवि-कलाकार शिष्यों में सर्वप्रथम नाम सर्वश्री गोविंदस्वामी, नंददास, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी का आता है, जिन्हें 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया गया था और जो अपनी विशिष्टताओं के कारण श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा कहलाते थे। उनके उपरांत 'संप्रदाय-प्रदीप' के रचयिता गदाधर मिश्र और 'वल्लभाख्यान' के कर्ता गोपालदास के नाम उल्लेखनीय हैं। वे गदाधर मिश्र श्री आचार्य जी के सेवक गदाधरदास से भिन्न थे। गोपालदास कृत 'वल्लभाख्यान' में आचार्य जी और गोसाईं जी के चरित्रों के साथ ही साथ पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का भी सरल और सुबोध शैली में सुंदर कथन किया गया है। वार्ता साहित्य के आरंभिक प्रचारकों में गोवर्धनदास, मन्नालाल और कृष्णभट्ट का विशेष स्थान है। गोसाईं जी के दूसरे विद्वान शिष्यों में चतुर्भुजदास मिश्र, दामोदर झा और मुरारीदास के नाम लिये जा सकते हैं। मदनगोपाल कायस्थ गोसाईं जी के लिखिया और बड़े रामदास श्रीनाथ जी के भीतरिया थे। गोकुल के मंदिरों की समस्त व्यवस्था का दायित्व चांपाभाई अधिकारी, भाइला कोठारी और चाचा हरिवंश पर निर्भर था।

गोसाईं जी के उन शिष्य-सेवकों की संख्या बहुत अधिक है; जिन्होंने साहित्य, संगीत और विविध कलाओं की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया था। ऐसे व्यक्तियों में अष्टछापी महानुभावों के उपरांत संगीत-सम्राट तानसेन, भक्त-कवि रसखान और भक्त-कवयित्री गंगाबाई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गोविंदस्वामी पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ संगीताचार्य और नंददास तथा रसखान सर्वश्रेष्ठ कवि थे। 'श्री विट्ठल गिरिधरन' की छाप से काव्य-रचना करने वाली गंगाबाई क्षत्राणी इस संप्रदाय की सर्वोत्तम महिला-कवयित्री थी। गोविंददास खवास और कृष्णदास सुप्रसिद्ध

---

१) चौ. वै. की वार्ता में 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसंग ८ का 'भाव'

अन्य धर्म-संप्रदाय

जैन धर्म

शैव धर्म

शाक्त धर्म

रामानुज संप्रदाय

नर्त्तक, जसरथ और कृष्णदास मोली कीर्तनिया, ध्यानदास सारंगीवादक थे और गोविंदी गायिका थी। गोसाईं जी का एक सेवक गीया जाट बड़ा विनोदी और मसखरा था।

गोसाईं जी के शिष्य-सेवकों में अनेक राजा-महाराजा, राजकीय पुरुष और धनी-मानी व्यक्ति थे तथा कतिपय रानियाँ और धनाढ्य महिलाएँ थीं। सम्राट अकबर गो. विट्ठलनाथ जी का कितना सन्मान करता था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। अकबर के सुप्रसिद्ध दरबारी राजा मानसिंह, राजा बीरबल, राजा टोडरमल, तानसेन और पृथ्वीसिंह (पृथ्वीराज) की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। अकबर की बेगम ताजबीबी, दासी रूपमंजरी और बीरबल की बेटी तथा राय पुरुषोत्तम और उसके घर की महिलाओं का गोसाईं जी के प्रति अनन्य भाव था। उनके अतिरिक्त गोंडवाना की रानी दुर्गावती, बांधवगढ़ के राजा रामचंद्र बघेला, नरवरगढ़ के राजा आसकरन, आमेर के राजा मानसिंह के अनुज माधवसिंह और उसकी रानी रत्नावली, राजा जोधसिंह, राजा पर्वतसेन, राजस्थान की संभ्रांत महिला अजबकुँवरि और धारबाई-लाड़बाई तथा आगरा के सेठ ज्ञानचंद के नाम उल्लेखनीय हैं।

गो. विट्ठलनाथ जी के मुसलमान शिष्य-सेवकों में तानसेन, रसखान और ताजबीबी के अनंतर अलीखान पठान और उसकी भक्तहृदया पुत्री पीरज़ादी तथा भक्त-गायक धोंधी के नाम प्रसिद्ध हैं। उनके शूद्र और अन्त्यज अनुयायियों में माधुरीदास माली, मेहा धीमर, रूपमुरारी व्याधा, मोहन भंगी तथा अनेक कुनबी, गूजर, मोची और चूहड़ों का उल्लेख वार्ता साहित्य में मिलता है।

गोसाईं जी का परिवार—गोसाईं विट्ठलनाथ जी के दो विवाह हुए थे, जिनसे उन्हें ११ संतान—७ पुत्र और ४ पुत्रियाँ हुई थीं। प्रथम पत्नी रुक्मिणी जी से ६ पुत्र हुए और ४ पुत्रियाँ हुईं तथा द्वितीय पत्नी पद्मावती से १ पुत्र घनश्याम जी हुए थे। सभी संतान सुयोग्य एवं अपने यशस्वी पिता जी के अनुरूप थीं, और उनकी देख-भाल एवं शिक्षा-दीक्षा का यथोचित प्रबंध किया गया था। सभी पुत्र प्रकांड विद्वान और सांप्रदायिक तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे। उनके भी अनेक संतान थीं। इस प्रकार गोसाईं जी का परिवार काफी बड़ा और भरा-पूरा था।

उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है,—

१. श्री गिरिधर जी—वे गोसाईं विट्ठलना जी के सबसे बड़े पुत्र थे। उनका जन्म सं. १५९७ की कार्तिक शु. १२ को अड़ैल में हुआ था। वे बड़े विद्वान और शांत प्रकृति के धर्माचार्य थे। उनके ३ पुत्र और ३ पुत्रियाँ थीं। गोसाईं जी के पश्चात् गिरिधर जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनका निधन सं. १६७७ में हुआ था।

२. श्री गोविंदराय जी—उनका जन्म सं. १५९९ की मार्गशीर्ष कृ. ८ को अड़ैल में हुआ था। उनके ४ पुत्र थे। उनका निधन सं. १६५० में हुआ था।

३. श्री बालकृष्ण जी—उनका जन्म सं. १६०६ की आश्विन कृ. १३ को हुआ था। वे श्याम वर्ण और पुष्ट शरीर के थे। उनके १ पुत्री और ६ पुत्र थे। उनका निधन सं. १६५० में हुआ था।

४. श्री गोकुलनाथ जी—उनका जन्म सं. १६०८ की मार्गशीर्ष शु. ७ को अड़ैल में हुआ था। उनका घरेलू नाम वल्लभ था। वे गोसाईं जी के पुत्रों में सर्वाधिक योग्य, यशस्वी और दीर्घजीवी हुए थे। उनका निधन सं. १६९७ में हुआ था।

५. श्री रघुनाथ जी—उनका जन्म सं. १६११ की कार्तिक शु. १२ को अड़ैल में हुआ था। वे बड़े विद्वान थे। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन सं. १६६० में हुआ था।

६. श्री यदुनाथ जी—उनका जन्म सं. १६१५ की चैत्र शु. ६ को अड़ैल में हुआ था। वे प्रकांड विद्वान और सांप्रदायिक तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन सं० १६६० में हुआ था।

७. श्री घनश्याम जी—वे विट्ठलनाथ जी की अंतिम संतान थे। उनका जन्म गोसाईं जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी से सं. १६२८ की मार्गशीर्ष कृ. १३ को ब्रज के गोकुल नामक स्थान में हुआ था। उनके २ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन सं. १६६६ में हुआ था।

पारिवारिक बटवारा और 'सप्त गृह'—जब गो. विट्ठलनाथ जी को अपने अंतिम काल का आभास हुआ, तब उन्होंने अपनी समस्त चल और अचल संपत्ति सहित अपने सेव्य स्वरूपों (उपास्य मूर्तियों) का बटवारा अपने सातों पुत्रों में कर दिया था। उनके पुत्रों ने उन स्वरूपों की पृथक्-पृथक् सेवा आरंभ की थी, जिससे पुष्टि संप्रदाय के 'सप्त गृह' की परंपरा प्रचलित हुई है। पुष्टि संप्रदाय के सर्व प्रधान उपास्य देव श्रीनाथ जी और सर्वश्री आचार्य जी एवं गोसाईं जी के निजी सेव्य स्वरूप श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा का संबंध सातों भाइयों से रखा गया; किंतु उन दोनों स्वरूपों की देख-भाल विशेष रूप से श्री गिरिधर जी के टीकैत घराने को सौंपी गई। शेष सातों स्वरूपों का बटवारा सातों भाइयों में कर दिया गया था। उक्त बटवारे का काल 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में सं. १६४० लिखा गया है। अन्यत्र उसका समय सं. १६३५ भी मिलता है[1]।

वे सेव्य 'स्वरूप' गोसाईं जी के किस पुत्र को प्राप्त हुए थे, और वे अब कहाँ विराजमान हैं; इसका विवरण इस प्रकार है,—

पुत्रों के नाम	गृह	स्वरूप	वर्तमान स्थिति
१. गिरिधर जी	प्रथम गृह	श्रीनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
		श्री नवनीतप्रिय जी	,, ,,
		श्री मथुरेश जी	जतीपुरा (ब्रज)
२. गोविंदराय जी	द्वितीय गृह	श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
३. बालकृष्ण जी	तृतीय गृह	श्री द्वारकानाथ जी	कांकरोली ,,
४. गोकुलनाथ जी	चतुर्थ गृह	श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल (ब्रज)
५. रघुनाथ जी	पंचम गृह	श्री गोकुलचंद्रमा जी	कामवन (राजस्थान)
६. यदुनाथ जी	षष्ठ गृह	श्री बालकृष्ण जी	सूरत (गुजरात)
७. घनश्याम जी	सप्तम गृह	श्री मदनमोहन जी	कामवन (राजस्थान)

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०८

गो० श्री विट्ठलनाथ जी और उनके सातों पुत्र
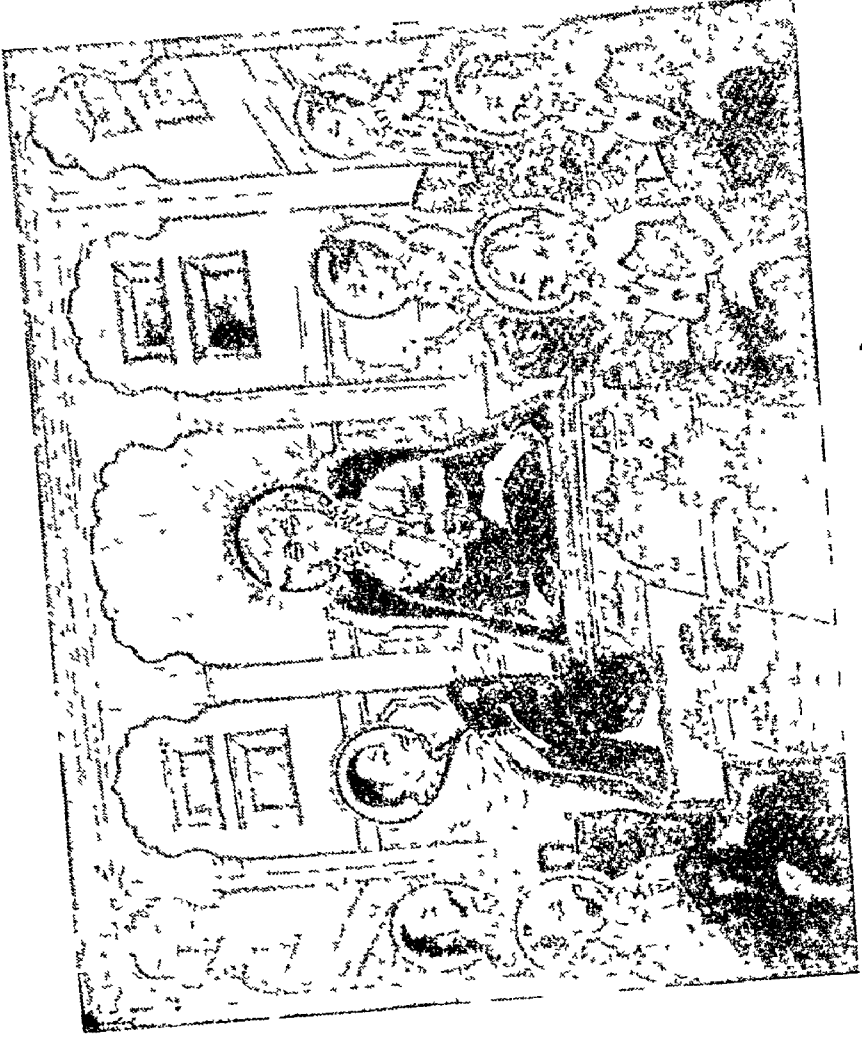
श्री मथुरेश जी, जतीपुरा

श्री गोकुलनाथ जी, गोकुल

श्री गोकुलचंद्रमा जी, कामवन

श्री मदनमोहन जी, कामवन

पुष्टि संप्रदाय की नवनिधि ये सभी देव स्वरूप गो. विट्ठलनाथ जी के समय में और उनके कुछ समय बाद तक व्रज में जतीपुरा–गोवर्धन तथा गोकुल स्थित अपने–अपने मंदिरों में ही विराजमान थे। सं. १७२६ के लगभग जब औरंगजेब ने व्रज के मंदिर–देवालयों और उनकी मूर्तियों को नष्ट कर हिंदुओं को बल पूर्वक मुसलमान बनाना आरंभ किया, तब उन भगवद् स्वरूपों की सुरक्षा के लिए उन्हें गुप्त रूप से जतीपुरा और गोकुल के मंदिरों से हटा कर हिंदू राजाओं के राज्यों में ले जाया गया था। तत्कालीन हिंदू राजाओं ने उक्त स्वरूपों को सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान कर उनके मंदिर बनवाए और उनकी सेवा-पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी।

उक्त नवनिधियों में से श्री गोकुलनाथ जी का स्वरूप सबसे पहिले व्रज में वापिस लाया गया और उन्हें गोकुल के मंदिर में विराजमान किया गया। उनके पश्चात् श्री गोकुलचंद्रमा जी को जयपुर–बीकानेर से व्रज में लाया गया और उन्हें कामवन के मंदिर में विराजमान किया गया। अब से कुछ समय पहिले श्री मथुरेश जी के स्वरूप को भी कोटा से गोवर्धन लाया गया और वे अब जतीपुरा के मंदिर में विराजमान हैं।

गो. विट्ठलनाथ जी के सात पुत्रों द्वारा पुष्टि संप्रदाय के सुप्रसिद्ध 'सप्त गृह' की परंपरा प्रचलित हुई है। इन सात घरों को इस संप्रदाय की 'सात गद्दियाँ' अथवा 'सप्त पीठ' भी कहा जाता है। इस समय गोसाईं जी के सात पुत्रों में से प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी और छठे पुत्र यदुनाथ जी के ही वंश चल रहे हैं। शेष पाँचों पुत्रों के घरों की परंपरा उक्त दोनों घरों से गोद लिये गये बालकों से चल रही है।

गोसाईं जी का 'आठवाँ पुत्र'—गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पूर्वोक्त सात औरस पुत्रों के अतिरिक्त उनका एक पोष्य पुत्र भी था। उसका नाम तुलसीदास था, जिन्हें गोसाईं जी के 'आठवें लाल जी' कहा गया है। उसका उल्लेख 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं. २३९ में हुआ है। उक्त 'वार्ता' से ज्ञात होता है, तुलसीदास का जन्म दिल्ली से बीस कोस पर एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। वह ब्राह्मण गोसाईं विट्ठलनाथ जी का सेवक था और उनके साथ रह कर ठाकुर जी के जल–घर की सेवा करता था। जब तुलसीदास केवल ५ वर्ष के अबोध बालक थे, तभी उनके माता–पिता की मृत्यु हो गई, अतः उनका पालन–पोषण गो. विट्ठलनाथ जी के बालकों के साथ होने लगा। तुलसीदास यह समझते थे कि वे भी गोसाईं जी के ही पुत्र हैं।

जब गोसाईं जी के सातों पुत्र बड़े हुए, तब पारिवारिक बटवारे में उन्हें पृथक्–पृथक् ठाकुर सेवाएँ दी गईं, ताकि वे उनकी स्वतंत्र व्यवस्था कर सकें। उस समय तुलसीदास को कोई सेवा न मिलने से वे उदास रहने लगे। गोसाईं जी ने यह देखकर तुलसीदास को श्री गोपीनाथ जी की सेवा प्रदान की और उन्हें आदेश दिया कि वे सिंध प्रदेश में जाकर पुष्टि मार्ग का प्रचार करें। तुलसीदास अपने ठाकुर गोपीनाथ जी को लेकर व्रज से चल दिये। उन्होंने गोसाईं जी के आदेश के अनुसार सिंध प्रदेश के निवासियों में पुष्टि मार्ग का प्रचार किया था। उनके वंशज अब भी सिंध निवासियों को पुष्टि मार्ग की दीक्षा देते हैं[1]। इस घराने के सांप्रदायिक साहित्य के अनुसार तुलसीदास उपनाम 'लाल जी' का समय सं. १६०८ से सं. १६७५ तक ज्ञात होता है।

---

(१) दोसौ बावन [illegible] र्ता, सं. २३९ (तृतीय खंड) पृष्ठ २५२–२५४

गोसाईं जी का तिरोधान—गो. विट्ठलनाथ का तिरोधान गोवर्धन के गोपालपुर (जतीपुरा) नामक स्थान में हुआ था। वे श्रीनाथ जी के राजभोग के अनंतर मध्याह्न काल में उनकी नित्यलीला में प्रविष्ट हुए थे। सांप्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने गिरिराज की एक कंदरा में प्रवेश किया, और वहाँ वे श्री गोवर्धननाथ जी की नित्यलीला में सदेह लीन हो गये थे। उक्त कंदरा में से उनका केवल उपरना (उत्तरीय वस्त्र) ही उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी को मिला था; जिससे उन्होंने गिरिराज की तलहटी में गोसाईं जी की उत्तर क्रिया की थी। उसी दिन अष्टछापी सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास का भी निधन हुआ था।

तिरोधान-काल का निर्णय—गोसाईं जी का तिरोधान किस काल में हुआ, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। अष्टछाप के तीन महानुभावों का निधन-काल भी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के तिरोधान-काल से संबंधित है; अतः उसकी प्रामाणिकता पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार सं. १६४४ की फाल्गुन शु. ११ तथा अन्य प्रमाणों से सं. १६४२ के माघ (ब्रज के फाल्गुन) मास की कृ. ७ उनके तिरोधान की तिथियाँ ज्ञात होती हैं[1]। उनके विरुद्ध सम्राट अकबर के वे दो फ़रमान हैं, जो सं. १६५१ में गो. विट्ठलनाथ जी के नाम जारी किये गये थे[2]। कतिपय विद्वानों का कथन है, यदि गोसाईं जी का तिरोधान सं. १६४४ तक हो गया था, तब सं. १६५१ के फ़रमानों में उनके नाम का उल्लेख नहीं होता; अतः वे उनके तिरोधान का काल सं. १६५१ के पश्चात् मानने के पक्ष में हैं[3]।

सबसे पहिले उक्त फ़रमानों के संवत् पर विचार करना आवश्यक है। गोसाईं जी से संबंधित विविध फ़रमानों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सं. १६३८ तक के फ़रमानों में केवल विट्ठलनाथ जी का ही नाम आया है; किंतु सं. १६५१ के फ़रमानों में उनके नाम के साथ उनके वंशजों के लिए "नसलन दर नसल" शब्द भी लिखे गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पिछले फ़रमान गोस्वामी जी के काल में तथा बाद के उनके वंशजों के काल में जारी किये गये थे। उस प्रकार के फ़रमान अकबर द्वारा सं. १६५१ तक ही नहीं, बल्कि शाहजहाँ आदि द्वारा सं. १६६० के बाद तक भी जारी होते रहे थे। ऐसी स्थिति में गोसाईं जी की विद्यमानता सं. १६६० के बाद तक भी माननी होगी, जो नितांत असंगत है। इस संबंध में डा. दीनदयालु गुप्त का तर्क विचारणीय है। उन्होने लिखा है,—'बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद जब तक उसके उत्तराधिकारियों के नाम उसकी सम्पत्ति के काग़ज़ों का दाखिल खारिज नहीं होता, तब तक सरकारी काग़ज उसी के नाम जारी होते रहते हैं[4]।'

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त सांप्रदायिक इतिहास में भी ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे गोसाईं जी की विद्यमानता सं. १६५१ तो क्या सं. १६४६ तक भी नहीं मानी जा सकती। जब तक गोसाईं जी विद्यमान रहे, उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी के अतिरिक्त किसी अन्य पुत्र को प्रदेश-यात्रा के लिए नहीं जाने दिया था। उनके तिरोधान के बाद ही उनके सभी पुत्र स्वतंत्र

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १११

(२) मुगल बादशाहों के फरमान सं० ४–५ (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृष्ठ ७५–७६)

(३) 'शुद्धाद्वैत', वर्ष ३ अंक ५ तथा 'श्रीकृष्ण' का लेख–'गुसाईं जी का लीला-प्रवेश संवत्'

(४) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ७८

रूप से प्रदेश जाने लगे थे। गोसाईं जी के चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी के सं. १६४६ में गुजरात से उदयपुर जाने का और पंचम पुत्र रघुनाथ जी के सं. १६४६ में गुजरात जाने का उल्लेख संप्रदाय के प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक गो. विट्ठलनाथ जी विद्यमान नहीं थे।

'संप्रदाय कल्पद्रुम' में उल्लिखित सं. १६४४ का समर्थन किसी भी अन्य प्रमाण से नहीं होता है। फिर सं. १६४२ के पश्चात् गोसाईं जी द्वारा कोई महत्वपूर्ण कार्य किये जाने का भी उल्लेख सांप्रदायिक इतिहास में नहीं मिलता है। इससे सं. १६४२ तक ही उनकी विद्यमानता मानना समीचीन होगा। पुष्टि संप्रदाय में उनके तिरोधान की जो तिथि सं. १६४२ की फाल्गुन कृ. ७ मानी जाती है, वह प्रामाणिक जान पड़ती है। वही तिथि अष्टछाप के तीन महानुभाव सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास के निधन की भी है। अष्टछाप के शेष पाँच महानुभावों का निधन उससे पहिले ही हो चुका था। इस प्रकार गोसाईं जी के साथ श्रीनाथ जी के आठों सखा भी उनकी नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये थे।

गोसाईं जी की वैठकें—जिस प्रकार श्री वल्लभाचार्य जी की ८४ वैठकें प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार श्री विट्ठलनाथ जी की २८ वैठकों की भी ख्याति है। इनमें से १६ वैठकें व्रज में हैं और १२ भारतवर्ष के अन्य स्थानों में हैं; जो 'श्री गोसाईं जी की वैठकें' कहलाती हैं। जिन स्थानों में ये वैठकें वनी हुई हैं, वहाँ विट्ठलनाथ जी ने भागवत का प्रवचन किया, अथवा धर्मोपदेश दिया था।

जगतनंद कृत 'श्री गुसाईं जी की वन-यात्रा' नामक ग्रंथ में श्री विट्ठलनाथ जी की व्रज स्थित ७ वैठकों का ही उल्लेख हुआ है[1]; किंतु पुष्टि संप्रदाय में उनकी १६ वैठकों की प्रसिद्धि है। व्रजमंडल की ये १६ वैठकें इस प्रकार हैं,—

१. गोकुल में—ठकुरानी घाट पर है।
२. ,, —श्री द्वारकानाथ जी के मंदिर में है।
३. वृंदावन में—वंशीवट पर है।
४. राधाकुंड में—श्री राधा-कृष्ण कुंड पर है।
५. गोवर्धन में—चंद्र सरोवर पर है, जहाँ श्री विट्ठलनाथ जी ने छै महीने तक विप्रयोग किया था।
६. ,, —चंद्र सरोवर पर फूलघर की वैठक है।
७. ,, —जतीपुरा में श्री मथुरेश जी के मंदिर में है।
८. कामवन में—श्री कुंड पर है।
९. वरसाना में—प्रेम सरोवर पर है।
१०. ,, —संकेत वन में कुंड के ऊपर है।
११. रीठोरा में—कुंड के ऊपर है। रीठोरा चंद्रावली जी का स्थान है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने अपने 'श्री दानलीला' ग्रंथ की रचना की थी।
१२. करहला में—कुंड के ऊपर पीपल के वृक्ष के नीचे है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'रास पंचाध्यायी' की सुवोधिनी टीका पर अपनी टिप्पणी लिखी थी।
१३. कोटवन में—कुंड के ऊपर है।

---

(१) श्री गोकुल, वृंदावने, श्री गोवर्धन हेत। कामा सुरभीकुंड पर, परासोली, संकेत॥
मानसरोवर, रिठौरा, गोस्वामी विठलेश। व्रज में वैठक सात हैं 'जगतनंद' शुभ वेश॥

१४. चीरघाट में—घाट पर है। यहाँ विट्ठलनाथ जी ने 'व्रतचर्या' ग्रंथ की रचना की थी।

१५. वच्छवन में—छोंकर के वृक्ष के नीचे है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'वेणु गीत' की सुबोधिनी टीका पर अपनी टिप्पणी लिखी थी।

१६. वेलवन में—यमुना तट पर है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'श्री पुरुषोत्तम उल्लास' ग्रंथ की रचना की थी।

गोसाईं जी का महत्व और उनकी धार्मिक देन—यद्यपि शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिष्ठापक और भक्ति-सेवा प्रधान पुष्टिमार्ग के मूल प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी थे, तथापि उनकी समुचित व्यवस्था और सांगोपांग उन्नति करने का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथ जी को है। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना कर अपने धार्मिक सिद्धांतों को प्रस्थान चतुष्ट्य के सुदृढ़ धरातल पर स्थापित किया, और कई बार लंबी-लंबी यात्राएँ कर उनका व्यापक प्रचार किया था। उनके काल में प्रायः समस्त उत्तरी भारत वैष्णव धर्मोक्त भक्तिमार्ग और कृष्णोपासना के रंग में रँग गया था, जिसका अधिकांश श्रेय आचार्य जी और गोसाईं जी द्वारा प्रचारित पुष्टि संप्रदाय को है।

पुष्टि संप्रदाय की स्थापना से पहिले उत्तर भारत में अधिकतर शैव–शाक्तादि अवैष्णव और शांकर मतों का बोल-बाला था। वार्ता साहित्य में 'बाबा वेनु की वार्ता' है, जिससे ज्ञात होता है कि श्री बल्लभाचार्य जी के समय में काशी से प्रयाग तक के गाँवों में सर्वत्र देवी की पूजा होती थी। वहाँ पर वैष्णव देवताओं का कोई नाम भी नहीं जानता था[1]! सर्वश्री बल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी ने अपने धार्मिक उपदेश से अवैष्णवों को आस्थावान वैष्णव और भगवान् कृष्ण का उपासक बना दिया था। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने तो अपनी अपूर्व भक्ति-भावना तथा आकर्षक सेवा–प्रणाली द्वारा कृष्ण–भक्ति और कृष्णोपासना का और भी व्यापक प्रचार किया था। 'भक्तमाल' में उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुए उन्हें घोर कलि काल में द्वापर युग की स्थापना करने वाला बतलाया गया है[2]।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी सुप्रसिद्ध धर्माचार्य, प्रकांड विद्वान और कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ साहित्य, संगीत और कलाओं के मर्मज्ञ एवं प्रोत्साहनकर्ता थे। उन्होंने अपने संप्रदाय के कवियों, संगीताचार्यों, गायकों, वादकों, चित्रकारों, पाकशास्त्रियों तथा अन्य कलाकारों को संगठित कर उनकी कलाओं को धार्मिक कार्यों में लगा दिया था। इस प्रकार उन्होंने मानव-जीवन की समस्त सत्य, शिव और सुंदर भावनाओं को भगवान् के अर्पित करा कर उनके सदुपयोग करने का मार्ग दिखलाया था। ब्रज, ब्रज भाषा और ब्रज साहित्य के लिए तो उनकी देन इतनी महान् है कि उसका यथार्थ मूल्यांकन करना संभव नहीं है। एक भक्ति संप्रदाय के धर्म-गुरु होते हुए भी उनके धार्मिक विचार अत्यंत उदार थे, और उनका सामाजिक दृष्टिकोण प्रगतिशील एवं समन्वयवादी था। यही कारण है कि उनके शिष्यों में बड़े-बड़े राजा–महाराजाओं से लेकर भिक्षुक तक, धुरंधर विद्वानों से लेकर मूर्ख तक और उच्च जातियों के कुलीनों से लेकर शूद्र, अन्त्यज एवं म्लेच्छ तक थे। उन सबको उन्होंने भगवत्सेवा का समान अधिकार दिया था। विभिन्न वर्णों और जातियों के हिंदुओं के साथ ही साथ उस काल के अनेक मुसलमानों ने भी उनसे दीक्षा ली थी। भारत के धर्माचार्यों में गो. विट्ठलनाथ जी का स्थान अनेक दृष्टियों से अनुपम और बे जोड़ है।

---

(१) चौ. वै. की वार्ता में 'बाबा बेनु की वार्ता' का 'भाव'

(२) भक्तमाल, छप्पय सं. ७६

वल्लभ संप्रदाय के 'सप्त गृह' की वंश-परंपरा

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. विट्ठलनाथ जी के सातों पुत्रों से वल्लभ संप्रदाय के आचार्य वल्लभवंशीय गोस्वामियों के 'सप्त गृह' की परंपरा प्रचलित हुई है। इन सातों घरों को इस संप्रदाय की 'सात गद्दियाँ' कहते हैं। अन्य संप्रदायों की भाँति कभी-कभी इन्हें 'सात पीठ' भी कहा जाता है। यह भी लिखा जा चुका है कि इन सात घरों में से केवल पहिले और छटे घरों की ही अविच्छिन्न वंश-परंपराएँ प्रचलित हैं। शेष पाँच घरों की मूल परंपराएँ कुछ काल के उपरांत समाप्त हो गईं; किंतु उनके वंश पूर्वोक्त दो घरों से गोद लिये हुए बालकों की संतान से चले हैं। वल्लभ कुल के सभी गोस्वामीगण इन्हीं सातों घरों की वंश-परंपराओं में हैं। यहाँ पर इन घरों का संक्षिप्त परिचय लिखा जाता है। इसके लिखने में हमें गो. ब्रजभूषण जी शर्मा कृत 'श्री वल्लभ-वंशवृक्ष' से बहुत सहायता मिली है।

१. प्रथम गृह

इस गृह की परंपरा गो. विट्ठलनाथ जी के प्रथम पुत्र गो. गिरिधर जी से चली है। श्री गिरिधर जी अपने भाइयों में सबसे बड़े थे और गोसाईं जी ने घरेलू बटवारा करते समय उन्हें ठाकुर श्री मथुरेश जी का स्वरूप प्रदान करने के साथ ही साथ वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी एवं श्री नवनीतप्रिय जी के मुख्य सेवाधिकारी भी नियुक्त किया था। इसलिए उनका घर वल्लभ संप्रदायी आचार्यों में 'टीकैत' अथवा 'तिलकायत' घराना कहलाता है।

इस गृह की वंश-परंपरा का विस्तार अन्य सभी गृहों से अधिक हुआ है। इसके संबंध में पुष्टि संप्रदाय में एक अनुश्रुति प्रचलित है। गोसाईं विट्ठलनाथ जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी का निधन उनके एक मात्र पुत्र घनश्याम जी की बाल्यावस्था में ही हो गया था। श्री गिरिधर जी की पत्नी भामिनी बहू जी ने अपने बालकों की भाँति ही अपने छोटे देवर घनश्याम जी का भी लालन-पालन किया था। उनके उस स्नेह-वात्सल्य से प्रसन्न होकर श्री विट्ठलनाथ जी ने आशीर्वाद दिया कि भामिनी बहू जी की कोख सदा हरी-भरी रहेगी! गोसाईं जी के आशीर्वाद से श्री गिरिधर जी का प्रथम गृह सबसे अधिक फूला-फला है। इस प्रकार पद-प्रतिष्ठा और वंश-विस्तार दोनों दृष्टियों से प्रथम गृह ही वल्लभवंशीय गोस्वामियों के घरों में सबसे बड़ा है।

श्री गिरिधर जी (सं. १५९७ – सं. १६७७)—

जीवन-वृत्तांत—वल्लभ संप्रदाय के 'प्रथम गृह' के प्रतिष्ठापक श्री गिरिधर जी का जन्म सं. १५९७ की कार्तिक शु. १२ को अड़ैल में हुआ था। वे गो. विट्ठलनाथ जी के पुत्रों में सबसे बड़े थे; अतः गोसाईं जी का तिरोधान होने के अनंतर वही पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। आचार्य-गद्दी पर आसीन होने के समय उनकी आयु प्रायः ४५ वर्ष की थी। इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने यशस्वी पिता जी के संसर्ग और सत्संग का यथेष्ट लाभ उठाया था। फलतः वे प्रगाढ़ विद्वान और सांप्रदायिक तत्व के अच्छे ज्ञाता हुए थे। उनकी विद्वत्ता उनके उन सारगर्भित प्रश्नों से प्रकट होती है, जिनके समाधान के लिए गो. विट्ठलनाथ जी ने 'विद्वत्मंडन' ग्रंथ की रचना की थी। वे बड़े ही शांत स्वभाव और सौम्य प्रकृति के धर्माचार्य थे। उन्हें ठाकुर-सेवा और भगवद्-भजन में लगे रहना अधिक प्रिय था। उनके रचे हुए दो ग्रंथ मिलते हैं, जिनके नाम हैं,— 'गद्य मंत्र टीका' और 'उत्सव निर्णय स्तोत्र'।

संतान—श्री गिरिधर जी के ३ पुत्र थे और ३ पुत्रियाँ थीं। उनके ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी का जन्म सं. १६३० में हुआ था। द्वितीय पुत्र दामोदर जी सं. १६३२ में और तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी सं. १६३४ में उत्पन्न हुए थे। मुरलीधर जी बड़े होनहार युवक थे, किंतु उनका देहावसान युवावस्था में ही हो गया था। श्री गिरिधर जी के उपरांत दामोदर जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

सांप्रदायिक उन्नति और राजकीय सन्मान—श्री गिरिधर जी के आचार्यत्व-काल में पुष्टि संप्रदाय की यथेष्ट हुई थी। उनके संरक्षण में सातों घरों के गोस्वामियों ने उस काल में सांप्रदायिक उन्नति में पर्याप्त योग दिया था। श्री गिरिधर जी प्रायः ३५ वर्ष तक आचार्य-गद्दी पर विराजमान रहे थे। उनके आचार्यत्व के आरंभिक २० वर्ष सम्राट अकबर के शासन में तथा अंतिम १५ वर्ष जहाँगीर के शासन में बीते थे। सम्राट अकबर का गिरिधर जी के प्रति वैसे ही आदर-सन्मान का भाव रहा था, जैसा उसका गो. विट्ठलनाथ जी के प्रति था। सं. १६४६ में शाही सिपहसालार मुरीदखाँ ने और सं. १६५१ में स्वयं सम्राट अकबर ने गो. विट्ठलनाथ जी के नाम से जो शाही फ़रमान जारी किये थे, वे वस्तुतः गिरिधर जी के काल में उन्ही के लिए थे। उन फ़रमानों में श्रीनाथ जी के मंदिर की गोपालपुर (जतीपुरा) स्थित गायों को सुविधापूर्वक चरने की पुष्टि की गई थी और गोपालपुर तथा गोकुल के मौज़ों की ज़िमीदारी के अधिकार प्रदान किये गये थे[1]। इन फ़रमानों का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है।

उस काल में सम्राट अकबर के कृपा-पात्र जितने राजा-महाराजा और विशिष्ट व्यक्ति थे, उन्हें स्वयं अथवा उनके प्रतिनिधियों को शाही दरबार में उपस्थित रहना आवश्यक होता था। तभी वे शाही कृपाओं से लाभान्वित हो सकते थे। शाही दरबार में उन सब के स्थान उनके पद और गौरव के अनुसार नियत रहते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है, श्री गिरिधर जी के प्रतिनिधि स्वरूप उनके ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी अकबर के सम्मान्य दरबारी थे।

मुरलीधर जी बड़े होनहार युवक थे। उनकी योग्यता के कारण सम्राट अकबर उनसे बडा स्नेह करता था और उन पर पूरा विश्वास रखता था। उस काल में सम्राट के खान-पान की व्यवस्था करने वाले सर्वाधिक विश्वसनीय पदाधिकारी होते थे, क्यों कि उन पर ही सम्राट का बहुमूल्य जीवन निर्भर था। ऐसा कहा जाता है, मुरलीधर जी सम्राट के उपयोग में आने वाले गंगा जल के निरीक्षक थे। यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि सम्राट अकबर गंगा जल पिया करता था। उसके लिए सीलबंद चाँदी के घड़ों में शुद्ध गंगा जल लाने की नियमित व्यवस्था थी। सम्राट चाहें राजधानी में होता था और चाहें यात्राओं में, सभी जगह उक्त व्यवस्थानुसार उसे शुद्ध गंगा जल प्राप्त होता रहता था।

अंतिम काल और देहावसान—श्री गिरिधर जी दीर्घजीवी हुए थे। उनकी विद्यमानता में ही उनके पाँच छोटे भाइयों का देहावसान हो गया था; केवल गोकुलनाथ जी ही उनके समय तक और कुछ बाद तक भी विद्यमान रहे थे। श्री गिरिधर जी का आचार्यत्व-काल प्रायः निर्विघ्नता पूर्वक पूरा हुआ था। उनके अंतिम काल में केवल एक घटना ऐसी हुई, जिसने ब्रज में धार्मिक अशांति उत्पन्न कर दी थी और पुष्टि संप्रदाय सहित सभी वैष्णव धर्म-संप्रदायों को संकट में डाल दिया था। उसका कारण सम्राट जहाँगीर का वह राजकीय आदेश था, जिससे ब्रजस्थ वैष्णवों

---

(१) पुष्टिमार्गना ५०० वर्ष, पृष्ठ ७५-७६; वार्ता साहित्य, पृष्ठ ५११

के कंठी-माला पहिनने पर पाबंदी लगा दी गई थी। उससे बचने के लिए अनेक धर्माचार्य व्रजमंडल छोड़ कर अन्यत्र चले गये थे। पुष्टि संप्रदाय के गोस्वामियों को भी उस काल में गोकुल-गोवर्धन छोड़ना पड़ा था। उक्त प्रसंग में श्री गोकुलनाथ जी प्रायः सभी गोस्वामी बालकों के साथ सोरों (जिला एटा) चले गये थे। केवल श्री गिरिधर जी ठाकुर-सेवा की व्यवस्था करने के लिए व्रज में रहे थे। जैसा पहिले लिखा गया है, सम्राट जहाँगीर ने उज्जैन निवासी तांत्रिक संत जदरूप के वैष्णव विरोधी विचारों से प्रभावित होकर वैष्णवों की कंठी-माला और उनके तिलक पर रोक लगा दी थी[1]। बाद में श्री गोकुलनाथ जी के प्रयास से वह रोक हटाई गई थी। इसके संबंध में आगे श्री गोकुलनाथ जी के वृत्तांत में विस्तार से लिखा जावेगा।

श्री गिरिधर जी का देहावसान गोकुल में हुआ था। उस समय श्री गोकुलनाथ ने उनका अंतिम संस्कार करा कर सभी शोकाकुल जनों को सान्त्वना प्रदान की थी। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में लिखा है, श्री गिरिधर जी का देहावसान सं. १६६० में हुआ था, और वे अपने उपास्य ठाकुर श्री मथुरेश जी का शृंगार करते समय उनके मुखारविंद में लीन हो गये थे! तत्कालीन घटनाओं की संगति से श्री गिरिधर जी के देहावसान का उक्त संवत् ठीक नहीं है। सांप्रदायिक इतिहास से उनके देहावसान का यथार्थ काल सं. १६७७ सिद्ध होता है।

बैठकें—श्री गिरिधर जी की व्रज में ५ बैठकें हैं, जिनमें से गोकुल और कामर की बैठकें अधिक प्रसिद्ध हैं। ये पाँच बैठकें इस प्रकार हैं,—

१. गोकुल में —श्री विट्ठलनाथ जी की बैठक के सन्मुख है। यहाँ बैठ कर श्री गिरिधर जी ने सिद्धांत मंथन के लिए पूर्व पक्ष उपस्थित किया था और श्री विट्ठलनाथ जी ने उत्तर पक्ष प्रस्तुत किया था, जिसके फल स्वरूप 'विद्वत्मंडन' ग्रंथ की रचना हुई थी।

२. गोवर्धन में —जतीपुरा स्थित श्री मथुरेश जी के मंदिर में है। यहाँ श्री गिरिधर जी ने श्रीनाथ जी को सात स्वरूपों सहित विराजमान कर अन्नकूट किया था।

३. कामर में —साधु के मंदिर में गुफा के अंदर है। यहाँ अंधकार होने से दीपक के प्रकाश में दर्शन किये जाते हैं।

४. नरी-सेंमरी में—बलभद्र कुंड पर है। यहाँ पर श्री गिरिधर जी ने छै मास तक निवास कर भागवत की कथा कही थी।

५. कामवन में—सुरभी कुंड पर श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक के पास है।

प्रथम गृह की वंश-परंपरा—श्री गिरिधर जी के तीन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी का देहांत युवावस्था में ही हो गया था और उनका कोई उत्तराधिकारी भी नहीं था। शेष दो पुत्रों में से मध्यम पुत्र दामोदर जी और कनिष्ट पुत्र गोपीनाथ जी की संतानों से प्रथम गृह की वंश-परंपरा चली है। श्री गिरिधर जी के पश्चात् दामोदर जी वल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे और वे अपने वयोवृद्ध काका श्री गोकुलनाथ जी के संरक्षण में पुष्टि संप्रदाय की धार्मिक गति-विधियों

---

(१) जहाँगीर का आत्म-चरित्, पृष्ठ ४१७-४१९

का संचालन करते रहे थे। दामोदर जी के दो पुत्र थे,—१. वालकृष्ण जी (जन्म सं. १६५४) और विट्ठलराय जी (जन्म सं. १६५७)। वालकृष्ण जी का निस्संतान देहावसान हो गया था, अतः विट्ठलराय जी ही दामोदर जी के उपरांत पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे।

श्री विट्ठलराय जी वड़े यशस्वी और प्रतापी धर्माचार्य थे। उनके आचार्यत्व-काल में मुगल सम्राट शाहजहाँ का शासन था। यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि मुगल सम्राटों में सर्व प्रथम शाहजहाँ ने हिंदुओं के मंदिर–निर्माण पर रोक लगाई थी। यद्यपि वह आदेश सं. १६८६ में जारी कर दिया था, तथापि शाहजहाँ पर हिंदू सामंतों के प्रभाव और उसके ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह की धार्मिक उदारता के कारण उसका पालन कराने पर कभी ज़ोर नहीं दिया गया। फिर भी शाहजहाँ हिंदू धर्म के प्रति उदार नहीं था। यह वड़ी विचित्र वात है कि जिस काल में उसने मंदिर–निर्माण को रोकने के लिए राजकीय आदेश निकाला था, उसके कुछ ही महीने पश्चात् सं. १६९० में उसने दो फ़रमान जारी कर श्री विट्ठलराय जी को गोकुल गाँव की ज़िमीदारी की माफी वहाँ के मंदिरों के व्यय के निमित्त प्रदान की थी[1]। शाहजहाँ के उदार पुत्र दारा शिकोह ने सं. १७००, सं. १७०४ और सं. १७१४ में तीन फ़रमान जारी किये थे, जिनमें गोकुल और गोपालपुर के देव स्थानों के लिए कई प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी गई थीं[2]। शाहजहाँ के उच्च पदाधिकारी इस्हाक़ आजमखाँ ने भी सं. १७०३ मे एक फ़रमान जारी कर श्री विट्ठलराय जी को गोकुल में हाट–वाज़ार पर कर लगाने और उसे वसूल करने का अधिकार दिया था[3]। उक्त फ़रमानों से ज्ञात होता है कि श्री विट्ठलराय जी कितने प्रभावशाली धर्माचार्य थे और उनके काल में पुष्टि संप्रदाय किस प्रकार निरंतर उन्नति करता रहा था।

प्रथम गृह के ११ 'उपगृह'—श्री विट्ठलराय जी के चार पुत्र थे,—१. गिरिधारी जी (जन्म सं. १६८६), २. गोविंद जी (जन्म सं. १६९७), ३. वालकृष्ण जी (जन्म सं. १७००) और ४. वल्लभ जी (जन्म सं. १७०३)। उनमें गिरिधारी जी सबसे वड़े होने के कारण पुष्टि संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनके समय में प्रथम गृह का पारिवारिक बटवारा हो गया था, जिसके अनुसार नित्यलीला स्थित श्री दामोदर जी और गोपीनाथ जी के तत्कालीन वंशजों ने विभाजित होकर पृथक्–पृथक् ठाकुर–सेवाएँ प्रचलित की थीं। दामोदर जी के वंश में श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा रही थी, जिससे उनका घराना 'टीकैत' कहा गया। श्री गोपीनाथ जी (दीक्षित जी) के वंशजों के पास श्री मथुरेश जी की सेवा रही थी। कालांतर में दामोदर जी के वंशजों के ६ और गोपीनाथ जी के वंशजों के ५ उपगृह हो गये थे। उनके कारण प्रथम गृह के अंतर्गत ११ उपगृह हुए।

श्री दामोदर जी के ६ उपगृहों की गद्दियों के स्थान इस प्रकार हैं,—१. नाथद्वारा, २. वंबई (श्री गोकुलाधीश जी), ३. वंबई (श्री लाल जी) ४. अमरेली, ५. पोरवंदर और गोकुल तथा ६. वंबई (वड़ा मंदिर)। श्री गोपीनाथ दीक्षित जी के ५ उपगृहों की गद्दियों के स्थान इस प्रकार हैं,—७. कोटा और कृष्णगढ, ८. अहमदावाद, ९. चांपासेनी और मांडवी, १०. जामनगर, जूनागढ़ और पोरवंदर तथा ११. कोटा (वड़े महाप्रभु जी)।

---

(१) मुगल वादशाहों के फ़रमान, सं. ७ और ८ (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृष्ठ ७७–७८)
(२) वही ,, , सं. ८,११,१२,१३ (,, ,, , पृष्ठ ७७,७९,८०)
(३) वही ,, , सं. ९ (,, ,, , पृष्ठ ७८)
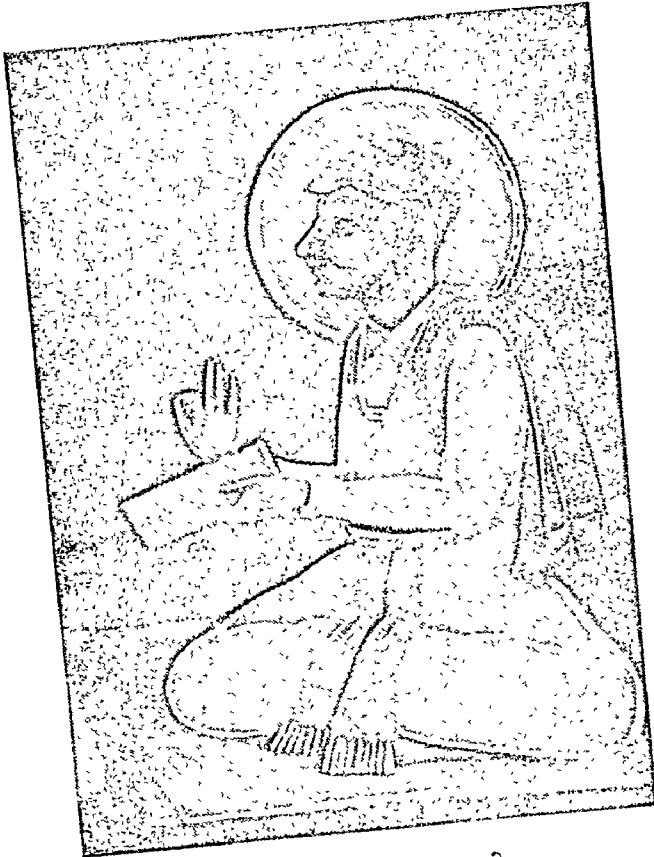
गोस्वामी श्री हरिराय जी

पूर्वोक्त ११ उपगृहों में से प्रथम उपगृह नाथद्वारा की गद्दी श्रीनाथ जी का घर होने से वल्लभ संप्रदाय की 'टीकैत' अथवा 'तिलकायत' गद्दी है। इसका आरंभ श्री दामोदर जी के पौत्र और श्री विट्ठलराय जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधारी जी से हुआ है। सप्तम उपगृह श्री मथुरेश जी का घर है। इसका आरंभ श्री गोपीनाथ दीक्षित जी के ज्येष्ठ पुत्र वल्लभ जी उपनाम प्रभु जी (जन्म सं. १६६०) से हुआ है। शेष ६ उपगृहों के विभिन्न स्थानों में वल्लभ संप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूप विराजमान हैं।

२. द्वितीय गृह

इस गृह की परंपरा गो. विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र श्री गोविंदराय जी से चली है। श्री गोविंदराय जी के अनंतर उनके ज्येष्ठ पुत्र कल्याणराय जी (जन्म सं. १६२५) और उनके उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र हरिराय जी इस घर के तिलकायत हुए थे। श्री हरिराय जी इस घर के तो सर्वाधिक प्रसिद्ध धर्माचार्य थे ही, वल्लभवंशीय समस्त गोस्वामियों में भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यहाँ पर उनका वृत्तांत कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

श्री हरिराय जी (सं. १६४७ – सं. १७७२) —

जीवन-वृत्तांत—श्री हरिराय जी का जन्म सं. १६४७ की भाद्रपद कृ० ५ को ब्रज के गोकुल नामक स्थान में हुआ था। उस काल में गोवर्धन के पश्चात् गोकुल ही वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था और इस संप्रदाय के सातों स्वरूपों के मंदिर तथा सभी गोस्वामी बालकों के निवास-स्थल होने के कारण वह वल्लभ संप्रदायी भक्त जनों का प्रमुख तीर्थ स्थल हो गया था। ऐसी पुण्य भूमि के धार्मिक वातावरण में जन्म लेकर श्री हरिराय जी ने अपनी जीवन–लीला आरंभ की थी। जब वे ८ वर्ष के हुए, तब कुल–रीति के अनुसार गोकुल में उनका यज्ञोपवीत किया गया था। उस समय गोसाईं जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी विद्यमान थे। तिलकायत आचार्य तथा कुटुंब में सबसे बड़े होने के कारण वटुक को ब्रह्म–संबंध की दीक्षा देने का अधिकार उन्हीं को था; किंतु उन्होंने अपने अनुज श्री गोकुलनाथ जी को आदेश दिया कि वे वटुक हरिराय जी को दीक्षा दें। बाद में हरिराय जी ने शिक्षा भी श्री गोकुलनाथ जी से ही प्राप्त की थी। इस प्रकार श्री गोकुलनाथ जी जैसे प्रकांड विद्वान और धर्मवेत्ता श्री हरिराय जी के दीक्षा–गुरु और शिक्षा–गुरु थे। उनके सत्संग और सुशिक्षण से श्री हरिराय जी वल्लभ संप्रदायी सिद्धांत, भक्ति तत्त्व और साहित्य के प्रमुख विद्वान हुए थे। वे आरंभ से ही श्री गोकुलनाथ जी के संपर्क में रहे थे, अतः उनकी जीवन-चर्या, भक्ति–भावना और रचनाओं का हरिराय जी पर विशेष प्रभाव पड़ा था।

यात्राएँ और बैठकें—श्री हरिराय जी का अधिकांश जीवन यद्यपि गोकुल, गोवर्धन आदि ब्रज के वल्लभ संप्रदायी केन्द्रों में निवास करते हुए बीता था, तथापि वे समय–समय पर देशव्यापी यात्राएँ भी किया करते थे। उन यात्राओं में उन्होंने वल्लभ संप्रदायी सिद्धांत, भक्ति, उपासना और सेवा-विधि का व्यापक प्रचार करने के साथ ही साथ सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी के शिष्य–सेवकों की जीवन–गाथाओं के शोध का भी महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके अन्वेषण से उपलब्ध तथ्यों का उल्लेख उनकी रची हुई वार्ताओं में मिलता है। अपनी यात्राओं में प्रवचन और प्रचार के निमित्त उन्होंने जिन स्थानों में निवास किया था, वहाँ उनकी 'बैठकें' बनी हुई हैं। ये बैठकें ७ हैं, जिनमें से १ ब्रज में और शेष ७ राजस्थान एवं गुजरात में हैं। ब्रज की एक मात्र बैठक गोकुल में है।

संतान और शिष्य–सेवक—श्री हरिराय जी के चार पुत्र थे, जिनके नाम सर्वश्री गोविंदजी, विट्ठलराय जी, छोटा जी और गोरा जी थे। उन सब का असमय में ही देहावसान हो गया था। उनके शिष्य–सेवकों में विट्ठलनाथ भट्ट, हरजीवनदास और प्रेम जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

ग्रंथ–रचना—श्री हरिराय जी ने वहुसंख्यक ग्रंथों की रचना की थी। उनके ग्रंथों की संख्या जितनी अधिक है, उतनी वल्लभ संप्रदाय ही नहीं, वरन् किसी भी संप्रदाय के धर्माचार्य की भी नही है। उन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी गद्य–पद्यात्मक विपुल ग्रंथ रचे थे। उनके रचे हुए छोटे-वड़े ग्रंथ दोसौ से भी अधिक हैं, जिनमें १६६ ग्रंथ संस्कृत में और ५२ ग्रंथ ब्रजभाषा में हैं। उनकी रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वार्ता साहित्य है, जिसने उन्हें वल्लभ संप्रदाय के साथ ही साथ हिंदी साहित्य में भी अमर कर दिया है। उनके द्वारा रचित और संपादित ब्रजभाषा ग्रंथों में चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दोसौ वावन वैष्णवन की वार्ता के 'भाव प्रकाश' सहित संपादित संस्करण, महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता और श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अतिरिक्त इनके रचे हुए कई पद्यात्मक ग्रंथ और कीर्तन के वहुसंख्यक पद भी हैं।

अंतिम काल और तिरोधान—श्री हरिराय जी अपने जन्म–काल से सं. १७२६ तक ब्रज में रहे थे। उसके वाद जब औरंगजेव के भीषण दमन के कारण वल्लभवंशीय गोस्वामियों को ब्रज से निष्क्रमण करना पड़ा, तब उनकी आयु ८० वर्ष के लगभग थी। अपनी उस वृद्धावस्था में लंबी यात्रा के कष्ट उठा कर वे भी अपने सेव्य स्वरूप और परिकर के साथ मेवाड़ पहुँचे थे। वहाँ पर ही उनका अंतिम काल व्यतीत हुआ था। उनका तिरोधान १२५ वर्ष की पूर्णायु होने पर सं. १७७२ में मेवाड़ के खिमनौर ग्राम में हुआ था; जहाँ उनकी वैठक और छत्री वनी हुई हैं[1]। इस प्रकार उनके जीवन के अंतिम ४५ वर्ष मेवाड़ में वीते थे। उनकी अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ, जिनमें भावात्मक वार्ताएँ मुख्य हैं, उसी काल मे रची गई थीं।

व्यक्तित्व और महत्व—पुष्टि संप्रदाय में सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी के पश्चात् श्री हरिराय जी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार्य हुए थे। वे चारों 'महाप्रभु' और 'प्रभुचरण' के नाम से इस संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। श्री गोकुलनाथ जी की तरह श्री हरिराय जी का साहित्यिक महत्व भी उनके सांप्रदायिक महत्व से कम नहीं है।

श्री गोपेश्वर जी—वे श्री हरिराय जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म सं. १६४६ मे हुआ था। वे भी वड़े विद्वान और कई ग्रंथों के रचयिता थे। उनकी पत्नी का असामयिक देहावसान हो गया था। वल्लभ संप्रदाय में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि अपनी पत्नी के विरह में गोपेश्वर जी वड़े शोकाकुल और उद्विग्न रहा करते थे। उस समय श्री हरिराय जी ने उन्हें सान्त्वना देने के लिए अनेक पत्र लिखे थे। वे पत्र संस्कृत भाषा में लिखे हुए ४१ की संख्या में उपलब्ध हैं, और 'शिक्षा पत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें सर्वश्री आचार्य जी और गोसाईं जी की शिक्षाओं के आधार पर उपदेशात्मक कथन किया गया है। उन्हें पढ़ कर श्री गोपेश्वर जी का उद्विग्न मन शांत हुआ था और वे पुनः अपने कर्त्तव्य–पथ पर अग्रसर हुए थे। उन्होंने उक्त पत्रों पर ब्रजभाषा में टीका भी की थी। पुष्टि संप्रदाय के धार्मिक साहित्य में 'शिक्षा पत्र' अत्यंत लोकप्रिय रचना है।

---

(१) लेखक कृत 'गो. हरिराय जी का पद साहित्य', पृष्ठ ६

द्वितीय गृह की वंश-परंपरा—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री हरिराय जी के चारों पुत्रों का निस्संतान देहावसान हुआ था। उनके छोटे भाई गोपेश्वर जी और उनके परिवार के अन्य व्यक्तियों के भी वंश नहीं चले थे। इस प्रकार इस घर की मूल परंपरा समाप्त हो गई थी। उसे चालू रखने के लिए गिरिधर जी नामक बालक को प्रथम गृह से गोद लिया गया था। श्री गिरिधर जी प्रथम गृह के तिलकायत श्री दामोदर जी (बड़े दाऊजी) के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं. १७४५ में हुआ था। उनकी संतान से द्वितीय घर के अंतर्गत दो उपगृहों की परंपरा चली है।

इस घर का प्रथम उपगृह गिरिधर जी के प्रथम पुत्र रघुनाथ जी (जन्म सं. १७६२) के वंशजों का है। इसकी गद्दियाँ नाथद्वारा और इंदौर में हैं। नाथद्वारा में इस घर की तिलकायत गद्दी है, जहाँ द्वितीय गृह के प्रधान सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी विराजमान हैं। द्वितीय उपगृह गिरिधर जी के चतुर्थ पुत्र घनश्याम जी (जन्म सं. १७७४) के वंशजों का है। इसकी गद्दियाँ बंबई (लाल बावा) और नड़ियाद में हैं।

३. तृतीय गृह

श्री बालकृष्ण जी—तृतीय गृह की परंपरा गो. विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी से चली है। गो. बालकृष्ण जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उन्हें गो. विट्ठलनाथ जी ने श्री द्वारकाधीश जी की सेवा प्रदान की थी। उनके छोटे भाई यदुनाथ जी ने उन्हें श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप भी अर्पित कर दिया था। फलतः इस घर में दोनों स्वरूपों की सेवा होती है। बालकृष्ण जी ने कई ग्रंथों की रचना की थी; जिनमें १. स्वप्नदृष्ट स्वामिनी स्तोत्र, २. गुप्त स्वामिनी स्तोत्र विवृति, ३. भक्तिवर्द्धिनी स्तोत्र विवृति, ४. प्रसाद वागीश भाष्य विवरण और ५. सर्वोत्तम स्तोत्र विवृति उपलब्ध हैं। उनके १ पुत्री और ६ पुत्र हुए थे। सं. १६५० में जब श्री बालकृष्ण जी का तिरोधान हुआ, तब उनके ज्येष्ठ पुत्र द्वारकेश जी (जन्म सं. १६३०) इस घर के तिलकायत हुए थे। उसी समय से इस घर के दो उपगृह हो गये थे।

तृतीय गृह की वंश-परंपरा—इस घर का प्रथम उपगृह द्वारकेश जी के वंशजों का है, जिसकी दो गद्दियाँ कांकरोली में हैं। उनमें से प्रथम तिलकायत गद्दी के प्रधान मंदिर में श्री द्वारकाधीश जी विराजमान हैं। द्वितीय गद्दी में श्री मथुराधीश जी की सेवा होती है। उनका मंदिर 'छोटा मंदिर' कहलाता है। द्वितीय उपगृह श्री द्वारकेश जी के भाई पीतांबर जी (जन्म सं. १६३६) के वंशजों का है। इसकी गद्दी सूरत में है, जहाँ श्री बालकृष्ण जी विराजमान हैं। इस उपगृह में श्री पुरुषोत्तम जी बड़े प्रसिद्ध विद्वान हुए है, अतः उनका कुछ विशेष वृत्तांत लिखा जाता है।

श्री पुरुषोत्तम जी (सं. १७२४ से सं. १८०० के बाद तक)—

श्री पुरुषोत्तम जी का जन्म सं. १७२४ की भाद्रपद शु. ११ को हुआ था। वे पीतांबर जी के पुत्र थे; किंतु तृतीय गृह के द्वितीय उपगृह के तिलकायत श्री व्रजराय जी ने उन्हें गोद ले लिया था; जिससे वे सूरत की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका रहन–सहन अत्यंत सादा एवं सरल था; और उनका पांडित्य तथा शास्त्रीय ज्ञान अपार था। वे पुष्टि–संप्रदाय के उद्भट विद्वान और समर्थ व्याख्याता थे। उन्होने सर्वश्री आचार्य जी और गोसाईं जी के अनेक ग्रंथों पर विद्वत्तापूर्ण 'विवरण' लिखे हैं, जिनमें उनके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। उनके अतिरिक्त उन्होने कई सैद्धांतिक ग्रंथों की स्वतंत्र रचना भी की है। उन्हें 'लक्षावधि ग्रंथकर्त्ता' माना जाता है। अपने विद्वत्तापूर्ण बहुसंख्यक ग्रंथों के कारण वे 'ग्रंथ वारे' अथवा 'लेख वारे' के उपनामों से प्रसिद्ध हैं।

पुरुषोत्तम जी सदैव ग्रंथ-रचना और शास्त्र-चर्चा में तल्लीन रहते थे। जब वे यात्रा में होते, तब भी उनके साथ ग्रंथों से भरे हुए अनेक गाड़े चलते थे। उन्होंने अपनी यात्राओं में विविध धर्म-संप्रदायों के विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर पुष्टि संप्रदाय की ध्वजा फहरायी थी; जिससे वे 'दिग्विजयी' कहलाते थे। उनके पश्चात् उनके जैसा विद्वान धर्माचार्य इस संप्रदाय में और नहीं हुआ है। उनके रचे हुए ग्रंथों में आचार्य जी कृत 'अणु भाष्य' पर 'प्रकाश' नामक विशद व्याख्या तथा 'सुबोधिनी' की गोसाईं जी कृत टिप्पणी पर पांडित्यपूर्ण 'विवरण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त षोड़श ग्रंथ टीका, अवतार वादावली, प्रस्थान रत्नाकर, अधिकरण न्यायमाला, पुरुषोत्तम सहस्रनाम विवृति, विविध वाद संग्रह आदि भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

तृतीय गृह के गोस्वामियों की विशेषता विद्या-व्यसन और ग्रंथाभिरुचि रही है। इसका एक प्रमाण कांकरोली का सुप्रसिद्ध 'विद्या विभाग' है, जहाँ पुष्टि संप्रदाय के दुर्लभ ग्रंथों का बड़ा भंडार एकत्र किया गया है।

४. चतुर्थ गृह

इस गृह की परंपरा गो. विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी से चली है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्हें पैतृक बटवारे में ठाकुर श्री गोकुलनाथ जी की सेवा प्राप्त हुई थी; जो अब भी इस घर में प्रधान रूप से प्रचलित है। गोसाईं जी के सातों पुत्रों में गोकुलनाथ जी सबसे अधिक विद्वान, संप्रदाय के मर्मज्ञ और लोकप्रिय थे। सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी की तरह उन्होंने भी पुष्टि संप्रदाय के प्रचार और उसकी गौरव-वृद्धि करने में बड़ा योग दिया था; अतः उनका कुछ विशेष वृत्तांत लिखा जाता है।

श्री गोकुलनाथ जी (सं. १६०८ – १६९७)—

जीवन-वृत्तांत—श्री गोकुलनाथ जी का जन्म सं. १६०८ की मार्गशीर्ष शु. ७ शुक्रवार को अड़ैल में हुआ था। उनका मूल नाम वल्लभ था; किंतु वे गोकुलनाथ जी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने वेद-शास्त्र-पुराणादि का प्रचुर ज्ञानार्जन कर पुष्टि संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। उन्हें अपने पिताजी द्वारा साप्रदायिक ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त हुई थी और संप्रदाय के वरिष्ट शिष्य-सेवक, विशेषतया अष्टछाप के सुप्रसिद्ध संगीताचार्य गोविंदस्वामी से साहित्य और संगीत की प्रेरणा मिली थी। इस प्रकार वे प्रकांड विद्वान और विविध शास्त्रों के ज्ञाता धर्माचार्य थे। अपने पांडित्य और सांप्रदायिक ज्ञान के कारण वे अपने पिताजी के जीवन-काल में ही संप्रदाय के मर्मज्ञ माने जाने लगे थे। गो. विट्ठलनाथ जी के तिरोधान के अनंतर जब उनके सातों पुत्रों ने अपने-अपने सेव्य स्वरूपों और शिष्य-सेवकों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करना आरंभ किया, तब गोकुलनाथ जी का महत्त्व तथा प्रभाव और भी बढ़ गया था।

श्री गिरिधर जी के आचार्यत्व काल में गोकुलनाथ ही पुष्टि संप्रदाय के सर्वमान्य व्याख्याता के रूप से प्रसिद्ध थे। कुटुंभ-परिवार और शिष्य-सेवकों पर उनका बड़ा प्रभाव था। श्री विट्ठलनाथ जी के वयोवृद्ध शिष्य भी उनका स्नेहपूर्ण आदर करते थे और सातों घरों के सभी शिष्य-सेवक उन पर समान रूप से श्रद्धा रखते थे। कुटुंभ-परिवार के झगड़े-झंझटों को भी वही निबटाया करते थे। इतने प्रभावशाली होते हुए भी वे अपने बड़े भाइयों के प्रति अत्यंत आदर और छोटे भाइयों के प्रति अतीव वात्सल्य का भाव रखते थे। श्री गिरिधर जी की आज्ञा के बिना वे कभी

संत जदरूप

गो० गोकुलनाथ जी

परिशिष्ट

कोई काम नहीं करते थे। वे जीवन पर्यंत पुष्टि संप्रदाय के प्रचार-प्रसार और उसकी गौरव-वृद्धि करने में सचेष्ट रहे थे। उनके महत्वपूर्ण कार्यों में एक घटना 'माला प्रसंग' के नाम से पुष्टि संप्रदाय में अधिक प्रसिद्ध है। उक्त घटना का वर्णन यहाँ किया जाता है।

'माला प्रसंग'—पुष्टि संप्रदाय की धार्मिक अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि मुगल सम्राट जहाँगीर के शासन काल में एक बार ब्रज में निवास करने वाले वैष्णवों के तिलक और कंठी-माला पर रोक लगा दी गई थी। शाही हुक्म था कि जो व्यक्ति तिलक या कंठी-माला धारण करेगा, उसे दंड दिया जावेगा ! वैष्णव संप्रदायों के सभी भक्त गण तिलक और कंठी-माला धारण करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते हैं। उस काल में तो तिलक और कंठी-माला पर और भी जोर दिया जाता था; किंतु राजकीय आदेश के कारण इन धार्मिक चिह्नों का धारण करना उस समय असंभव हो गया था। बहुत से लोगों ने अनिच्छा पूर्वक तिलक लगाना बंद कर दिया और कंठी-माला उतार कर रख दीं। जिन्होंने ऐसा करना पसंद नहीं किया, वे ब्रज छोड़ कर अन्यत्र चले गये थे।

उस काल में ब्रज के गोवर्धन और गोकुल नामक स्थानों में पुष्टि संप्रदाय के वैभवशाली मंदिर-देवालय थे, और सातों घरों के गोस्वामियों का बड़ा कुटुंभ-परिवार तथा उनके शिष्य-सेवकों का विशाल परिकर था। शाही आदेश के कारण उन सब पर संकट आ गया था। उधर ब्रज के मुसलमान हाकिमों ने कंठी-माला और तिलक धारण करने वाले वैष्णवों के विरुद्ध कठोर अभियान आरंभ कर रखा था। उस विषम परिस्थिति में गोकुलनाथ जी ने वैष्णव धर्म के सभी भक्ति-संप्रदायों के सन्मान और गौरव की रक्षा के लिए राजकीय आदेश की सविनय अवज्ञा करते हुए शांतिपूर्ण संघर्ष किया था। वह एक प्रकार का 'सत्याग्रह' था, जो उस काल में सर्वथा अभूतपूर्व था।

राजकीय कर्मचारी ब्रज के वैष्णवों की कंठी-माला तोड़ देते थे और उनके तिलक बिगाड़ देते थे; किंतु गोकुलनाथ जी उन्हें धैर्यपूर्वक धार्मिक नियमों के पालन करने का उपदेश देते हुए नई कंठी-माला पहिना देते थे। जब मुसलमान अधिकारियों ने गोकुलनाथ जी के समक्ष यह शर्त रखी कि या तो वे शाही आदेश के अनुसार कंठी-माला और तिलक का परित्याग करें, अथवा ब्रज को छोड़ कर अन्यत्र चले जावें; तब गोकुलनाथ जी ने कंठी-माला और तिलक को छोड़ने की अपेक्षा अपने परम प्रिय ब्रजमंडल को भी छोड़ना स्वीकार कर लिया। फलतः वे अपने पारिवारिक जनों और शिष्य-सेवकों के साथ गोवर्धन-गोकुल का परित्याग कर गंगा तटवर्ती सोरों (जि. एटा) नामक धार्मिक स्थल में निवास करने को चले गये थे। उनके इस प्रकार निष्क्रमण से ब्रज के वे उल्लासपूर्ण धार्मिक केन्द्र सूने और निर्जन हो गये थे। उस समय ब्रज में पुष्टि संप्रदाय के उपास्य स्वरूपों की सेवा और मंदिरों की देख-भाल के लिए केवल श्री गिरिधर जी ही रह गये थे।

पुष्टि संप्रदायी गोस्वामियों और उनके परिकर के ब्रज से हट जाने पर वहाँ के मुसलमान अधिकारियों का वैष्णव भक्तों के प्रति और भी कठोर व्यवहार होने लगा था। वहाँ के सभी वैष्णव संप्रदायों के धार्मिक जन उससे बड़े परेशान थे; किंतु शाही आदेश के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का किसी को साहस नहीं होता था। अंत में गोकुलनाथ जी ने उसके संबंध में शाही दरबार में फ़रियाद करने का निश्चय किया। उस समय सम्राट जहाँगीर कश्मीर में था। पुष्टि संप्रदायी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि गो. गोकुलनाथ जी ७० वर्ष की वृद्धावस्था में लंबी यात्रा करते हुए कश्मीर पहुँचे थे। उसी स्मृति में वहाँ उनकी बैठक बनी हुई है। वे कश्मीर में सम्राट जहाँगीर

के दरबार में उपस्थित हुए और अपनी फ़रियाद की। उन्होंने कंठी-माला और तिलक के पक्ष में शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किये और सम्राट अकबर की धार्मिक सहिष्णुता का स्मरण दिलाया; जिसका बड़ा वांछनीय प्रभाव पड़ा था। उसके फलस्वरूप सम्राट जहाँगीर ने कश्मीर से वापिस आने पर अपनी वह आज्ञा वापिस ले ली थी। उसके उपरांत गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ सोरों से व्रज में वापिस आ गये थे।

इस प्रकार श्री गोकुलनाथ जी के प्रयत्न से व्रज के समस्त वैष्णव संप्रदायों की धार्मिक प्रतिष्ठा और गौरव की रक्षा हुई थी। सभी वैष्णव भक्त प्रसन्नता पूर्वक अपने-अपने धार्मिक चिह्न कंठी-माला तथा तिलक को धारण करने लगे और 'जय-जय श्री गोकुलेश' कहकर श्री गोकुलनाथजी का जय-जयकार करने लगे। यह जय-ध्वनि तभी से वल्लभ संप्रदाय में प्रचलित हुई है। पुष्टि संप्रदायी उल्लेखों के अनुसार सम्राट जहाँगीर का वह आदेश सं. १६७४ में जारी हुआ था और सं. १६७७ में उसे वापिस लिया गया था[1]। गो. गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ सं. १६७६ की मार्गशीर्ष शु. ६ सोमवार को गोकुल से सोरों गये थे; और राजकीय आदेश के रद्द होने पर सं. १६७७ की चैत्र कृ. १० बुधवार को वहाँ से वापिस आये थे[2]।

पुष्टि संप्रदायी अनुश्रुतियों और उल्लेखों से विदित होता है कि सम्राट जहाँगीर ने अपनी वह आज्ञा जदरूप (चिद्रूप) नामक एक तांत्रिक संन्यासी के वैष्णव विरोधी विचारों से प्रभावित होकर प्रचलित की थी। किंतु इसका उल्लेख न तो उस काल के किसी फ़ारसी ग्रंथ में मिलता है, और न जहाँगीर की आत्म-कथा में ही इसके संबंध में कुछ लिखा गया है। सांप्रदायिक उल्लेख के अनुसार जदरूप एक गुजराती ब्राह्मण था; जो संन्यासी होकर उज्जैन आ गया था और क्षिप्रा नदी के तट पर भर्तृहरि की गुफा में निवास करता था। वहाँ उसकी तपस्या और सिद्धि की बड़ी ख्याति हो गई थी। सम्राट जहाँगीर अपने राज्यारोहण के ग्यारहवें वर्ष सं. १६७३ में अजमेर से दलबल सहित उज्जैन गया था। वहाँ पर वह पहिली बार संत जदरूप से मिला था। इसका उल्लेख करते हुए उसने लिखा है,—"२ री इस्फंदारभुज (माघ शु. १५ सं. १६७३) को हम कालियदह (उज्जैन) से नाव में सवार हुए और अगले पड़ाव पर गये। हमने अनेक बार सुना था कि एक तपस्वी संन्यासी जदरूप बहुत वर्ष हुए उज्जैन से निकल कर जंगल के एक कोने में रहता है, और सच्चे ईश्वर के अर्चन में लगा रहता है। मुझे उसके सत्संग की बड़ी इच्छा थी[3]।"

गुजरात से लौटने पर जहाँगीर सं. १६८५ के अगहन मास में फिर उससे दो बार मिला था। उसने उसकी विद्वत्ता और परमहंस वृत्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है,—"उसका सत्संग बेशक बहुत ग़नीमत है। वह वेदांत का रहस्य बहुत साफ़-साफ़ कहता है। उससे मिलने पर बहुत खुशी होती है। उसकी उम्र ६० साल से ऊपर है[4]।" उसके बाद संत जदरूप उज्जैन से मथुरा आ गया था। वह यहाँ पर एकांत में एक छोटी सी गुफा में रहने लगा था। सं. १६७६ के आश्विन मास में आगरा से कश्मीर जाते हुए जहाँगीर का मथुरा में मुक़ाम हुआ था। उस समय वह कई बार जदरूप से मिला था और उससे मिल कर उसने बड़ी शांति का अनुभव किया था।

---

(१) अष्टछाप—परिचय, पृष्ठ ७६—७७

(२) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३८४

(३) 'जहाँगीर का आत्म चरित' पृष्ठ ४१७—४१६ तथा 'उज्जयिनी दर्शन' पृष्ठ १०१

(४) उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ १०१

सम्राट जहाँगीर ने जदरूप से अनेक बार मिल कर उसके संबंध में जो प्रशंसात्मक बातें लिखी हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वह संत की विद्वत्ता, त्यागवृत्ति और तपस्या से अत्यंत प्रभावित हुआ था। उसका सत्संग करने में सम्राट को इतना सुख और आनंद मिलता था कि उसे जब कभी अवसर मिलता, वह उससे ज्ञान–चर्चा अवश्य किया करता था। उसके आत्म–चरित में एक शब्द भी ऐसा नहीं है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि संत जदरूप ने वैष्णवों के तिलक और कंठी–माला पर पाबंदी लगाने के लिए कभी बादशाह से कुछ कहा हो। सम्राट अकबर ने विविध धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति की जो नीति अपनाई थी, उसका पालन बहुत हद तक जहाँगीर ने भी किया था। जहाँगीर की माता और उसकी कई रानियाँ वैष्णव धर्म के प्रति बड़ी आकृष्ट थीं। उसकी एक रानी तो धार्मिक प्रवृत्ति के कारण 'जगत् गोसाइँन' कहलाती थी! जहाँगीर के शासन काल में व्रज के विविध स्थानों में अनेक मंदिर–देवालय बनाये गये थे, जिनमें मथुरा के श्री कृष्ण–जन्म-स्थान स्थित श्री केशवराय जी का सुप्रसिद्ध मंदिर भी था। उसे जहाँगीर के अत्यंत कृपापात्र राजा वीरसिंह देव ने बनवाया था। ऐसी दशा में जहाँगीर की धार्मिक नीति से उक्त घटना की संगति नहीं बैठती है।

डा० हरिहरनाथ टंडन ने पुष्टि संप्रदायी साहित्य के अनुसार उक्त घटना का उल्लेख करने के अनंतर उसकी आलोचना की है। उनके मतानुसार उस घटना का संबंध जहाँगीर से जोड़ना अनुचित है। वह घटना जहाँगीर की अपेक्षा शाहजहाँ से संबंधित हो सकती है; क्यों कि उसी ने जहाँगीर के शासन–काल में एक बार विद्रोह कर सारे उत्तर भारत की शाँति भंग कर दी थी और अपने शासन-काल में पुराने मंदिरों के जीर्णोद्धार को रोक दिया था[1]। किंतु वल्लभ संप्रदायी उल्लेखों में अथवा अन्यत्र भी, जहाँ कहीं इस घटना का कथन किया गया है, वहाँ इसे जहाँगीर से ही संबंधित बतलाया गया है। फिर उस घटना को जिस जदरूप संन्यासी की प्रेरणा से होना लिखा गया है, वह जहाँगीर के शासन काल में ही विद्यमान था और उसी पर उक्त संत का बड़ा प्रभाव था।

वल्लभ संप्रदाय के साहित्यिक उल्लेखों तथा अन्य कवियों की तत्कालीन रचनाओं में इस घटना का जैसा विशद वर्णन मिलता है, उसे देखते हुए इसकी प्रामाणिकता में संदेह करने की गुंजाइश नहीं रहती है। वल्लभ संप्रदायी कवियों में गोसाईं जी के आगरा निवासी शिष्य वृंदावन-दास तथा गोकुलनाथ जी के शिष्य न्यारा वाला गोपालदास, कल्याण भट्ट और 'प्रसिद्ध' कवि तथा हिंदी के अन्य कवि प्राणनाथ, बिहारी, श्रीपति, शेख, गहरगोपाल और खेम आदि ने उक्त घटना का कथन किया है और उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए श्री गोकुलनाथ जी का गुण-गान किया है[2]। न्यारा वाला गोपालदास कृत 'मालोद्धार' (रचना-काल सं. १७०० के लगभग) और कल्याण भट्ट कृत 'कल्लोल' (रचना-काल सं. १६९० के लगभग) के तत्संबंधी कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ जी की जन्म-बधाई वाले एक प्रसिद्ध पद में भी उक्त घटना का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उस पद की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,—

(राग मारू) जयति विट्ठल-सुवन, प्रकट वल्लभ बली, प्रबल पन करी, तिलक–माल राखी।
खंड पाखंड, दंडी विमुख दूर करि, हर्‌यौ कलि काल, तुम निगम साखी॥

---

(१) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३६३

(२) वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २६६; वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३८५–३८७

इस प्रकार विविध कवियों के तत्कालीन उल्लेखों से यही समझा जा सकता है कि 'माला-प्रसंग' की घटना 'अवश्य हुई थी; और उसकी जड़ में किसी न किसी रूप में संत जदरूप था। जदरूप एक वेदांती संन्यासी था, जिसकी सांप्रदायिक मान्यताएँ वैष्णव धर्मोक्त भक्ति-संप्रदायों के आचार-विचार और वेश-भूषा के प्रतिकूल थी। ऐसी दशा में यह सर्वथा संभव है कि जदरूप की प्रेरणा से, अथवा उसके विचारों के समर्थन में जहाँगीर ने स्वयं अपने मन से ही, वैष्णवों के माला-तिलक पर रोक लगाई हो। उससे ब्रज के समस्त भक्ति संप्रदायों के वैष्णवों को जो भारी असुविधा हुई थी, उसका निवारण गो. गोकुलनाथ जी के प्रयत्न से हुआ था।

ग्रंथ-रचना—श्री गोकुलनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उनकी सांप्रदायिक देन के समान उनकी ग्रंथ-रचना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में ग्रंथ रचे थे। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में उनके १३ ग्रंथों के नाम लिखे गये हैं, किंतु उन नामों के अंतर्गत वस्तुतः अनेक ग्रंथ हैं। इस प्रकार उनके रचे हुए कुल ग्रंथों की संख्या ३२ होती है। उनके संस्कृत ग्रंथों में सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी कृत अनेक ग्रंथों पर उनकी टीका-टिप्पणियाँ हैं। ब्रजभाषा ग्रंथों में चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, हास्य प्रसंग और वचनामृत उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही उनके रचे हुए कतिपय पद भी मिलते हैं। उन्होंने ब्रज-भाषा में उस वार्ता साहित्य का आरंभ किया था, जो पुष्टि संप्रदाय की विशिष्ट साहित्यिक देन है; और जिसके कारण ब्रजभाषा गद्य की उस काल में अभूतपूर्व उन्नति हुई थी।

शिष्य-सेवक—गोकुलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवक थे, जिनमें से ७८ अधिक प्रसिद्ध हैं। उनमें भड़ौच के मोहनभाई का नाम उल्लेखनीय है। मोहनभाई एक गुजराती वैश्य और विख्यात राज्याधिकारी था। वह आगरा के गोकुलपुरा में रहता था। गोकुलनाथ जी के कई शिष्य-सेवक अच्छे कीर्तनकार और सुकवि भी थे।

अंतिम काल और देहावसान—श्री गोकुलनाथ जी अपने भाइयों में सर्वाधिक दीर्घजीवी हुए थे। सांप्रदायिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अंतिम काल में उनके नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी। उनका देहावसान सं. १६९७ की फाल्गुन कृष्णा ९ को हुआ था। उस समय उनकी आयु ९० वर्ष के लगभग थी।

बैठकें—गो. श्री गोकुलनाथ जी की १३ बैठकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें से ८ बैठकें ब्रज में हैं। ब्रज़ की बैठकें इस प्रकार हैं,—

१. गोकुल में —श्री गोकुलनाथ जी के मंदिर में है।

२. वृंदावन में —वंशीवट पर है। वहाँ गोकुलनाथ जी ने 'श्री वल्लभाष्टक' की संस्कृत टीका की थी।

३. राधाकुंड में —कुंड पर है।

४. गोवर्धन में —चंद्रसरोवर पर है। वहाँ पर गोकुलनाथ जी ने 'श्री सर्वोत्तम स्तोत्र' की संस्कृत टीका लिखी थी। इसी स्थान पर उन्होंने रासधारियों द्वारा रासलीला कराई थी। इसके बाद ही पुष्टि संप्रदाय में रास का प्रचलन हुआ था।

५. ,, —जतीपुरा में श्री गोकुलनाथ जी के मंदिर में है।

६. कामवन में —श्री कुंड पर है।

८. करहला में —श्री विट्ठलनाथ जी की बैठक के पास है। वहाँ पर गोकुलनाथ जी ने वेणुगीत पर प्रवचन किया था।

८. रासोली में —रासकुंड पर छोंकर के वृक्ष के नीचे है। वहाँ पर भ्रमरगीत की सुबोधिनी टीका की कथा कही थी।

चतुर्थ गृह की वंश-परंपरा और शिष्य-परंपरा—श्री गोकुलनाथ जी के तीन पुत्र थे,— १. गोपाल जी (जन्म सं, १६४२), २. विट्ठलेश जी (जन्म सं. १६४५) और ३. व्रजरत्न जी (जन्म सं. १६५०)। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र गोपाल जी और कनिष्ट पुत्र व्रजरत्न जी निस्संतान गोलोकवासी हुए थे। मध्यम पुत्र विट्ठलेश जी से चतुर्थ गृह की वंश-परंपरा चली थी; किंतु वह भी विट्ठलेश जी के पौत्र व्रजपति जी (जन्म सं. १६९३) पर समाप्त हो गई। इस प्रकार मूल परंपरा की समाप्ति होने से उसको द्वितीय गृह से लक्ष्मण जी (जन्म सं. १८६६) नामक बालक को गोद लेकर चलाना पड़ा था। दैवयोग से लक्ष्मण जी की वंश-परंपरा भी आगे नहीं चल सकी, अतः उसे पुनः अन्य गृहों से गोद लिये हुए बालकों से चलाना पड़ा है। इस गृह की गद्दी गोकुल में है, जहाँ इसके सेव्य स्वरूप श्री गोकुलनाथ जी विराजमान हैं।

इस घर के शिष्य-सेवक गो. गोकुलनाथ जी को अपना सर्वस्व मानते हैं, और पुष्टि संप्रदाय के अन्य गोस्वामियों की अपेक्षा उन्हें विशेष महत्ता प्रदान करते हैं। उनकी सांप्रदायिक मान्यताओं में भी पुष्टि संप्रदाय के सर्वमान्य विधि-विधान से कुछ भिन्नता है। इस घर के शिष्यों में कितने ही भक्त, कवि और कलाकार हुए हैं।

५. पंचम गृह

श्री रघुनाथ जी—इस गृह की परंपरा श्री विट्ठलनाथ जी के पंचम पुत्र श्री रघुनाथ जी से चली है; जिन्हें गोसाईं जी ने ठाकुर श्री गोकुलचंद्रमा जी का स्वरूप प्रदान किया था। श्री रघुनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार उन्होंने संस्कृत में १४ ग्रंथों की रचना की थी; जिनमें आचार्य जी के षोड़श ग्रंथों की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। श्री रघुनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री देवकीनंदन जी (जन्म सं. १६३४) थे। गो. विट्ठलनाथ जी अपने इस पौत्र से बड़ा स्नेह करते थे। उनके आशीर्वाद से देवकीनंदन जी बड़े प्रभावशाली धर्माचार्य हुए थे।

श्री द्वारकेश जी—देवकीनंदन जी के वंश में श्री द्वारकेश जी (जन्म सं. १७५१) बड़े विख्यात वार्त्ताकार और भक्त-कवि हुए हैं। वे अपने भावात्मक वार्त्ता ग्रंथों के कारण पुष्टि संप्रदाय में 'भावना वारे' के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रंथों में अष्टसखान के दोहा (भाव संग्रह), श्रीनाथ जी आदि सात स्वरूपों की भावना, उत्सव भावना, नित्य लीला, मूल पुरुष और पद्योपदेश उल्लेखनीय हैं।

पंचम गृह की वंश-परंपरा—पंचम गृह की जो मूल परंपरा श्री रघुनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र देवकीनंदन जी से चली थी, वह उनके वंशज द्वारकानाथ जी (जन्म सं. १८२५) पर समाप्त हो गई थी। उसे आगे चलाने के लिए द्वितीय गृह से वल्लभ जी (जन्म सं. १८६१) नामक बालक गोद लिये गये थे। उन्हीं के वंशजों से इस घर की परंपरा चली है। इस घर के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी हैं, जो इस समय कामवन (राजस्थान) में विराजमान हैं। इस घर के शिष्य-सेवकों में कई परम भक्त और व्रजभाषा के कवि हुए हैं।

६. षष्ठ गृह

श्री यदुनाथ जी—वल्लभ संप्रदाय के षष्ठ गृह की परंपरा गो. विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी से चली है। श्री यदुनाथ जी का जन्म सं. १६१५ में अड़ैल में और विवाह सं. १६३० के लगभग गोकुल में हुआ था। वैसे तो उनका अपने सभी भाइयों से सहज स्नेह था, किंतु तृतीय अग्रज श्री बालकृष्ण जी से वे विशेष सौहाद्र रखते थे। उनका रहन-सहन प्रायः बालकृष्ण जी के साथ होता था। जब गो. विट्ठलनाथ जी ने अपने पुत्रों में सेव्य स्वरूपों का बटवारा किया, तब बालकृष्ण जी को श्री द्वारकानाथ जी और यदुनाथ जी को श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप प्रदान किये गये थे। ठाकुर श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप की आकृति बहुत छोटी होने से यदुनाथ जी ने उन्हें स्वयं स्वीकार न कर अपने बड़े भाई बालकृष्ण जी को अर्पित कर दिया था। इससे श्री द्वारकानाथ जी और श्री बालकृष्ण जी दोनों स्वरूपों की सेवा तृतीत घर में होने लगी; और अपनी इच्छा का स्वरूप न मिलने से यदुनाथ जी बड़े असंतुष्ट रहने लगे। जब गो. विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी के साथ सभी सेव्य स्वरूपों को पधरा कर जतीपुरा में उनका सम्मिलित उत्सव किया था, तब सब गोस्वामी बालक तो उसमें सम्मिलित हुए; किंतु बटवारे से असंतुष्ट होने के कारण यदुनाथ जी वहाँ नहीं गये और गोकुल में रहे आये। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' का उल्लेख है, उस समय श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने शिष्य राजा आसकरन को गोकुल भेज कर उन्हें बुलाया था[1]। आसकरन जी के समझाने से यदुनाथ जी चले तो गये, किंतु उनका असंतोष दूर नहीं हुआ था। बाद में उन्हें श्री कल्याणराय जी का स्वरूप दिया गया था। यदुनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उनका रचा हुआ 'श्री बल्लभ दिग्विजय' ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिसकी रचना सं. १६५८ में हुई थी। उनका देहावसान सं. १६६० के लगभग हुआ था।

षष्ठ गृह की वंश-परंपरा—प्रथम गृह की तरह इस षष्ठ गृह की मूल वंश-परंपरा भी अविच्छिन्न रही है, यद्यपि उसके समान इसका विस्तार नहीं हुआ है। श्री यदुनाथ जी के ५ पुत्र हुए थे, जिनके नाम क्रमशः १. मधुसूदन जी (जन्म सं. १६३४), २. रामचंद्र जी (जन्म सं.१६३८), ३. जगन्नाथ जी (जन्म सं. १६४२), ४. बालकृष्ण जी (जन्म सं. १६४४) और ५. गोपीनाथ जी (जन्म सं. १६४७) थे। उनमें से आरंभिक तीन पुत्र सर्वश्री मधुसूदन जी, रामचंद्र जी और जगन्नाथ जी के वंशजों से इस गृह के अंतर्गत तीन उपगृह चले हैं। अंतिम दो पुत्र बालकृष्ण जी और गोपीनाथ जी के वंश नहीं चले।

छठे घर का प्रथम उपगृह तिलकायत श्री मधुसूदन जी के वंशजों का है। इसकी गद्दी शेरगढ़ (बड़ोदा) में है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री कल्याणराय जी हैं। द्वितीय उपगृह श्री रामचंद्र जी के वंशजों का है। इसकी गद्दी मथुरा में है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी–दाऊजी हैं। तृतीय उपगृह श्री जगन्नाथ जी के वंशजों का है। इसकी गद्दी काशी में है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मुकुंदराय जी–गोपाललाल जी हैं।

इस घर के द्वितीय उपगृह में श्री पुरुषोत्तम जी एक सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न एवं लोक प्रसिद्ध धर्माचार्य हुए हैं, अतः उनका कुछ विशेष वृत्तांत लिखा जाता है।

---

(१) संप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ ६१ दोहा सं. ४२–५०

श्री पुरुषोत्तम जी (ख्याल वारे)—वे इस घर के द्वितीय उपगृह में श्री रामचंद्र जी की पाँचवीं पीढ़ी में हुए थे, और उनका जन्म सं. १८०५ में हुआ था। उनके रचे हुए व्रजभाषा के लोकगीत विख्यात हैं, जिनके कारण वे वल्लभवंशीय गोस्वामियों में 'ख्याल वारे' के उपनाम से प्रसिद्ध रहे हैं। लोक-रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने कीर्तन के पद भी रचे थे। उनका एक महत्व-पूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने औरंगजेब के दमन-चक्र से उजड़ी हुई गोकुल नगरी को फिर से आबाद किया, तथा व्रज-यात्रा की उच्छिन्न परंपरा को पुनः प्रचलित किया था। उस समय उन्होंने व्रज-यात्रा का जो नया क्रम निर्धारित किया था, प्रायः वही अभी तक चल रहा है।

गो. पुरुषोत्तम जी के ४ पुत्र हुए थे, जिनमें से तीन का निस्संतान देहावसान हुआ था। उनके द्वितीय पुत्र व्रजपाल जी (जन्म सं. १८३९) के वंशजों से इस घर की परंपरा चलती रही है। व्रजपाल जी के बड़े पुत्र विट्ठलनाथ जी (जन्म सं. १८७५) के वंश में मथुरा के श्री मदनमोहन-दाऊजी की गद्दी है और छोटे पुत्र पुरुषोत्तम जी (जन्म सं. १८७९) के वंश में मथुरा के छोटे मदनमोहन जी की गद्दी है। इन दोनों गद्दियों के कई गोस्वामी और उनके कितने ही शिष्य-सेवक परम भक्त, विशिष्ट विद्वान, सुकवि और कला-कोविद हुए हैं।

७. सप्तम गृह

श्री घनश्याम जी—सप्तम गृह की मूल परंपरा गो. श्री विट्ठलनाथ जी के सातवें पुत्र श्री घनश्याम जी से चली है। घनश्याम जी का जन्म गोसाईं जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी के गर्भ से सं. १६२८ में गोकुल में हुआ था। वे गोसाईं जी के सबसे छोटे पुत्र और उनकी अंतिम संतान थे। वे अपने अन्य भाइयों से आयु में बहुत छोटे थे; यहाँ तक कि उनकी माता जी का असामयिक देहावसान होने पर उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री गिरिधर जी की पत्नी ने अपने बालको के साथ उनका भी लालन-पालन किया था। गोसाईं परिवार के सब व्यक्तियों का घनश्याम जी से अत्यंत स्नेह था, और सभी उनकी सुख-सुविधा का बड़ा ध्यान रखते थे। घर के बटवारे में उन्हें ठाकुर श्री मदनमोहन जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था, जो आजकल कामवन में विराजमान हैं। श्री घनश्याम जी संस्कृत और व्रजभाषा के विद्वान थे। उनकी संस्कृत रचना 'मधुराष्टक' और 'गुप्त रस' की टीकाएँ हैं, तथा व्रजभाषा में रचे हुए कुछ स्फुट पद हैं। उनके २ पुत्र थे और १ पुत्री थी।

सप्तम गृह की वंश-परंपरा—श्री घनश्याम जी के ज्येष्ठ पुत्र व्रजपाल जी (जन्म सं. १६५२) का निस्संतान देहावसान हो गया था; अतः द्वितीय पुत्र गोपीश जी (जन्म सं१. ६६३) उनके पश्चात् सप्तम गृह के तिलकायत हुए थे। श्री गोपीश जी के ४ पुत्र हुए थे; किंतु इस घर की वंश-परंपरा उनके सबसे छोटे पुत्र श्री रमण जी (जन्म सं. १७०४) से चली थी। श्री रमण जी की तीसरी पीढ़ी में व्रजरमण जी (जन्म सं. १७५७) हुए थे। उनके बाद इस घर की मूल परंपरा समाप्त हो गई। उसे चालू रखने के लिए पहिले तृतीय गृह से व्रजपाल जी और उनके पश्चात् पंचम गृह से गोपाल जी नामक बालकों को गोद लिया गया था। इस घर के शिष्य-सेवकों में कुछ परम भक्त और सुकवि भी हुए हैं।

उपर्युक्त 'सप्त गृहों' के अतिरिक्त पुष्टि संप्रदाय का एक घर और भी है, जिसे 'लाल जी' का घर कहा जाता है। आगे के पृष्ठों में उसका संक्षिप्त वृत्तांत लिखा गया है।

८. 'लाल जी' का घर

स्थापना और महत्व - जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. विट्ठलनाथ जी के सुप्रसिद्ध सात औरस पुत्रों के अतिरिक्त उनका एक पालित पुत्र भी था। 'वार्ता' में उनका नाम तुलसीदास बतलाया गया है, और उन्हें गोसाईं जी के 'आठवें लाल जी' कहा गया है। 'वार्ता' के अनुसार गो. विट्ठलनाथ जी ने उन्हें ठाकुर श्री गोपीनाथ जी का स्वरूप प्रदान कर यह आदेश दिया था कि वे सिंध प्रदेश में जा कर पुष्टि मार्ग का प्रचार करें और वहाँ के निवासियों को मंत्र-दीक्षा दें[1]। उक्त तुलसीदास 'लाल जी' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए और उनका घराना 'लाल जी का घर' कहा गया; जिसे पुष्टि संप्रदाय का 'आठवाँ घर' भी कहा जा सकता है[2]। इस घर के सेव्य स्वरूप श्री गोपीनाथ जी हैं; और पाकिस्तान बनने से पहिले तक इसकी प्रधान गद्दी सिंध नदी के तटवर्ती डेरा-गाज़ीखाँ में थी तथा दूसरी गद्दी डेराइस्मायलखाँ में थी।

यद्यपि लाल जी के घर की गद्दी भी पुष्टि संप्रदाय के सुविख्यात सातों घरों की गद्दियों के साथ ही साथ स्थापित हुई थी; तथापि यह उतनी प्रसिद्ध नहीं हुई, जितनी इस संप्रदाय की वे सात गद्दियाँ हैं। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि 'लाल जी' गो. विट्ठलनाथ जी के औरस पुत्र नहीं थे, अतः उनकी गद्दी को स्वभावतः वह महत्व नही मिल सका, जो इस संप्रदाय की उक्त सातों गद्दियों को प्राप्त है। दूसरा कारण यह है कि लाल जी और उनके वंशजों के कार्य-क्षेत्र सिंध और पंजाब के वे भाग रहे हैं, जो विदेशियों द्वारा सदैव आक्रांत होने के कारण भारत के कृष्णोपासक धार्मिक क्षेत्र से प्रायः कटे-छटे से रहे हैं। फिर भी यह गद्दी इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि इसके आचार्यो तथा शिष्य-सेवकों ने अनेक कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी ब्रजमंडल से बहुत दूर भारत के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्रों में कृष्णोपासना तथा पुष्टिमार्गीय सेवा-भक्ति का प्रचार किया और ब्रजभाषा-हिंदी की पताका फहराये रखी।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गो. विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि-मार्ग के प्रचारार्थ भारत के दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी भागों के विविध-स्थानों की तो लंबी-लंबी यात्राएँ की थीं; किंतु उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भागों में वे थानेश्वर से आगे नहीं गये थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है, जब श्री आचार्य जी थानेश्वर में थे, तब उन्होंने वहाँ बहने वाली सरस्वती नदी के उल्लंघन करने का निषेध किया था। यहाँ तक कि नदी के पार सिहनंद गाँव में, वहाँ के निवासियों की प्रार्थना करने पर भी, वे नहीं गये थे[3]। 'वार्ता' के उक्त उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि पुष्टि संप्रदाय के आचार्य भारत के उत्तरी और उत्तर-पश्चिम भागों को, वहाँ के निवासियों के आचार-विचार, रहन-सहन और खान-पान के कारण धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध क्षेत्र मानते थे। देश के उसी अछूते भाग में पुष्टि संप्रदाय के प्रचार करने का श्रेय 'लाल जी के घर' की गद्दी को है[4]।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, सं. २३९ (तृतीय खंड). पृष्ठ २५२-२५४

(२) देखिये, श्री लल्लुभाई छगनलाल देसाई का लेख,—'श्री गुसाईं जी ना आठमा लाल जी' (वैश्वानर, वर्ष १३, अंक ३-४)

(३) चौ. वै. की वार्ता में, वार्ता सं. ३८,—'वासुदेवदास छकड़ा की वार्ता' का 'भाव'

(४) देखिये, लेखक कृत 'वल्लभ संप्रदाय की आठवीं गद्दी और उसका साहित्य' शीर्षक का लेख (ब्रज भारती, वर्ष १९, अंक ३)

श्री तुलसीदास—इस घर के सांप्रदायिक साहित्य के अनुसार तुलसीदास जी उपनाम 'लाल जी' का जन्म सं. १६०८ की माघ शु. ७ बुधवार को मेष लग्न में हुआ था। उनके पिता का नाम अजु जी और माता का नाम देवकी जी था। वे कोशल गोत्र और ललरी अल्ल के सारस्वत ब्राह्मण थे[1]। इस घर की मान्यता है कि तुलसीदास जी का जन्म-स्थान सिंध प्रदेश में लाड़काना का निकटवर्ती सेवन ग्राम है।

पुष्टिमार्ग का प्रचार और ग्रंथ-रचना—गो. विट्ठलनाथ जी के संपर्क में रहने से तुलसीदास जी पुष्टि संप्रदाय की भक्ति और सेवा-विधि से भली भाँति परिचित हो गये थे। उन्होने सिंध नदी के तटवर्ती डेरागाज़ीखाँ को अपना मुख्य केन्द्र बनाया, और वहाँ से सिंध तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशों में कृष्णोपासना एवं पुष्टिमार्ग का प्रचार किया था। उन्होंने कई ग्रंथों के साथ ही साथ ब्रज-भाषा में कीर्तन और उपदेश संबंधी अनेक पदों एवं दोहों की रचना की थी। वे पुष्टि संप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार ठाकुर गोपीनाथ जी के उत्सव किया करते थे, जिनमें उनके रचे हुए पदों का गायन होता था। उनके रचे हुए ग्रंथों के नाम श्रीमद् भागवत, भक्ति रस सुधा, लघु पचीसी, शिक्षा पचीसी, घर की पद्धति, गीता माहात्म्य, धर्म संवाद, उत्सव मालिका आदि हैं। उनका काव्योपनाम 'लालदास' अथवा 'लालमति' था।

अंतिम काल और देहावसान—वे प्रायः ६७ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। अपने अंतिम काल में वे ठाकुर-सेवा और सांप्रदायिक प्रचार का उत्तरदायित्व अपने वंशजों को सौंप कर स्वयं ब्रज में आ गये थे। उनका देहावसान सं. १६७५ की भाद्रपद शु. ६ को वृंदावन में हुआ था। वहाँ ठाकुर मदनमोहन जी के पुराने मंदिर के निकट उनकी समाधि बनी हुई है।

लाल जी के घर की वंश-परंपरा—तुलसीदास जी उपनाम 'लाल जी' के ४ पुत्र थे,—१. सर्वश्री मथुरानाथ जी, २. गिरिधारी जी, ३. भगवान जी और ४. ग्वाल जी। उनमें से अंतिम दोनों पुत्रों के वंश नहीं चले थे। लाल जी के ज्येष्ठ पुत्र मथुरानाथ जी का जन्म सं. १६४५ में डेरागाजीखाँ में हुआ था। वे अपने पिता जी के पश्चात् इस घर के आचार्य हुए थे। उन्होंने सिंध और पंजाब में पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उनके बाद इस घर की दो गद्दियाँ हो गई थीं। लाल जी के बड़े पुत्र मथुरानाथ जी के वंशजों की प्रधान गद्दी डेरागाजीखाँ में थी, और छोटे पुत्र गिरिधारी जी (जन्म सं. १६४६) के वंशजों की दूसरी गद्दी डेराइस्मायलखाँ में क़ायम हुई। इस घर के आचार्यो में केवलराम जी अधिक प्रसिद्ध हुए है, अतः यहाँ उनका संक्षिप्त वृत्तांत लिखा जाता है।

श्री केवलराम—वे लाल जी के पौत्र और मथुरानाथ जी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं. १६७४ में हुआ था। वे अपने पिता के पश्चात् इस घर की प्रधान गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होंने पुष्टि संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया और बहुसंख्यक काव्य रचनाएँ की थीं। उनके रचे हुए ग्रंथों में स्नेह सागर, ज्ञान दीपक और रत्न सागर उल्लेखनीय हैं।

वंशज—केवलराम जी के दो पुत्र हुए थे,—१. मदनमोहन जी और २. जगन्नाथ जी। उनमें से ज्येष्ठ पुत्र मदनमोहन जी (जन्म सं. १७०१) इस गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होंने ब्रजभाषा में पर्याप्त रचनाएँ की थीं। इस घर के भक्त-कवियों में केवलराम जी का स्थान सर्वोच्च है। उनके

---

(१) परमानंद कृत 'लाल जी की स्तुति'; खेमदास और कल्याणदास कृत 'लाल की बधाई'

पश्चात् मदनमोहन जी का है। उन्होंने भागवत दशम स्कंध का ब्रजभाषा छंदों में अनुवाद किया था। मदनमोहन जी के छोटे भाई जगन्नाथ का देहावसान युवावस्था में हो गया था, और उनके कोई भी संतान नहीं थी। उनकी विधवा पत्नी मुक्खनदेवी जी डेरागाजीखाँ से वृंदावन आ गई थीं। उनका समस्त जीवन वृंदावन में ही भगवद्-भक्ति और सेवा-पूजा करते हुए बीता था। उनके नाम पर वृंदावन में 'मुक्खन माता की कुंज' है, जो ब्रज में इस घर की गद्दी का प्रमुख केन्द्र है। इस कुंज में श्री गोरे दाऊजी की सेवा होती है।

मदनमोहन जी के तीन पुत्र हुए थे,—१. प्रद्युम्न जी (सं. १७२६ – सं. १७७४), २. ब्रजभूषण जी (स. १७३३ – सं. १८०१) और ३. धरणीधर जी। उनमें प्रद्युम्न जी के पुत्र अनिरुद्ध जी का वंश नहीं चला था। ब्रजभूषण जी के वंशजों से इस घर की परंपरा चलती रही है। लाल जी के समय से लेकर इस देश पर अंगरेजों का अधिकार होने तक इस गद्दी की सांप्रदायिक उन्नति होती रही थी, और इसके साहित्य का भी विकास होता रहा था। अंगरेजों के शासन काल में इसमें शिथिलता आ गई थी। इस गद्दी के आचार्यों के साथ ही साथ उनके शिष्य-सेवकों में भी अनेक सुकवि हुए हैं।

वल्लभवंशियों का ब्रज से निष्क्रमण और सेव्य स्वरूपों का स्थानांतरण—

औरंगजेब का दमन—मुगल सम्राट औरंगजेब का शासन काल (सं. १७०५–१७६४) ब्रज के हिंदुओं के लिए वड़े संकट का युग था। उस धर्मान्ध बादशाह ने राज्याधिकार प्राप्त करते ही अपने मजहबी तास्सुब के कारण ब्रज के हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने का भारी प्रयत्न किया, और उनके मंदिर–देवालयों को नष्ट–भ्रष्ट करने का प्रबल अभियान चलाया था। उससे ब्रज के धर्माचार्यों और भक्तजनों के लिए जीवन-मरण की समस्या पैदा हो गई थी। पुष्टि संप्रदाय के वल्लभ-वंशीय गोस्वामियों को तो अपना सर्वनाश ही होता दिखलाई देने लगा। कारण यह था कि उनका मुगल बादशाहों से विशेष संबंध रहा था और वे उनसे लाभान्वित भी हुए थे, तथा उनके मंदिर–देवालयों में बड़े सरंजाम और धूम-धाम से धार्मिक आयोजन हुआ करते थे; अतः वे औरंगजेब की आँखों में सबसे अधिक खटक रहे थे।

ब्रज से निष्क्रमण—उस विषम परिस्थिति में ब्रज के विविध धर्माचार्य गण अपनी प्राणाधिक देव-मूर्तियों और धार्मिक पोथियों की सुरक्षा के लिए ब्रज को छोड़ कर अन्यत्र जाने को विवश हुए थे। वल्लभवंशीय गोस्वामियों ने अपने सेव्य स्वरूप, धार्मिक ग्रंथ तथा अन्य आवश्यक मामग्री के साथ ब्रज से हट कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय किया था। उस काल में अनेक हिंदू राजा पुष्टि सप्रदाय के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने अपने-अपने राज्यों में गोस्वामियों के लिए जमीन–जायदाद भी दे रखी थीं; किंतु औरंगजेब के विरुद्ध उन्हें आश्रय देने का साहस सब को नहीं होता था। फिर भी वल्लभवंशीय गोस्वामियों को तो ब्रज से हटना ही था। वे अपनी–अपनी सुविधा के अनुमार विभिन्न स्थानों में जाने का आयोजन करने लगे।

ब्रज से हटने वाले वल्लभवंशीय गोस्वामियों में 'तृतीय गृह' के तत्कालीन आचार्य श्री ब्रज-भूषण जी (सं. १७०० – सं. १७५८) कदाचित प्रथम व्यक्ति थे। उनका अपने कुटुंबी ब्रजराय जी से पारिवारिक झगड़ा था, जिससे बचने के लिए भी उन्होंने अन्यत्र जाना आवश्यक समझा था। सं. १७२० के अंत में वे अपने सेव्य स्वरूप श्री द्वारकाधीश जी, अपने परिवार-परिकर तथा आवश्यक

चित्र-सूची

ग्रंथ और कुछ चल संपत्ति के साथ गुप्त रूप से गोकुल छोड़ कर गुजरात की ओर चले गये थे। उस समय वहाँ के कई धनी-मानी सेठ-साहूकार उनके शिष्य-सेवक थे। वे राजनगर (अहमदाबाद) पहुँच कर वहाँ के एक सेठ के मकान में ठहरे। उसी के गर्भ-गृह में श्री द्वारकाधीश जी को विराज-मान कर वे गुप्त रीति से उनकी सेवा करते हुए वहाँ रहने लगे।

उसी प्रकार अन्य गृहों के गोस्वामी गण भी शनैः-शनैः चुपचाप गोकुल छोड़ कर अन्यत्र जाने लगे। सं. १७२६ में औरंगजेब ने मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री केशवराय जी के मंदिर को नष्ट करा दिया था। उसके बाद उसका अगला लक्ष गोकुल और गोवर्धन के पुष्टि संप्रदायी मंदिरों को नष्ट करना था। उससे वल्लभवंशीय गोस्वामियों में भगदड़ मच गई और वे अपने-अपने सेव्य स्वरूपों के साथ सामूहिक रूप में ब्रज से निष्क्रमण करने को विवश हो गये थे।

श्रीनाथ जी का गोवर्धन-परित्याग—पुष्टि संप्रदाय के सर्वप्रधान सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी का गोवर्धन के जतीपुरा-गोपालपुर से हटाया जाना वल्लभवंशीय गोस्वामियों के ब्रज से निष्क्रमण करने का सर्वाधिक शोचनीय प्रसंग है। वह ब्रज के धार्मिक इतिहास की एक अत्यंत दुःखद दुर्घटना है। उसके कारण गोवर्धन और गोकुल के हरे-भरे धार्मिक क्षेत्र सर्वथा उजड़ गये थे, और ब्रज की सांस्कृतिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था।

श्रीनाथ जी तथा नवनीतप्रिय जी की सेवा-व्यवस्था का प्रमुख उत्तरदायित्व गिरिधर जी के प्रथम गृह की टीकैत गद्दी को रहा है। उस काल में श्री दामोदर जी (दाऊ जी) इस घर के तिलकायत थे, किंतु वे १५ वर्ष के बालक थे। इसलिए उनकी तरफ से उनके बड़े काका गोविंद जी श्रीनाथ जी की सेवा और प्रथम गृह की व्यवस्था संबंधी कार्यों का संचालन करते थे।

श्री गोविंद जी ने उस संकट काल में श्रीनाथ जी की सुरक्षा के लिए उन्हें गिरिराज जी के मंदिर से हटा कर गुप्त रीति से अन्यत्र ले जाने का निश्चय किया। फलतः एक दिन सायंकाल होते ही श्रीनाथ जी को चुपचाप रथ में विराजमान किया गया। उनके साथ कुछ धार्मिक ग्रंथ और आवश्यक सामग्री को भी रखा गया। फिर रथ को अत्यंत गुप्त रीति से आगरा की ओर हाँक दिया गया। रथ के साथ गोविंद जी, उनके दोनों अनुज बालकृष्ण जी और वल्लभ जी, कुछ अन्य गोस्वामी गण, श्रीनाथ जी की कृपापात्र एक ब्रजवासिन महिला गंगाबाई तथा कतिपय ब्रजवासी थे। वह कार्यवाही ऐसी गुप्त रीति से की गई थी कि किसी को कानों-कान खबर भी नहीं हुई!

'वार्ता' से ज्ञात होता है, जिस दिन श्रीनाथ जी ने गोवर्धन छोड़ा था, उस दिन सं. १७२६ की आश्विन शुक्ला १५ शुक्रवार था[1]। यह तिथि ज्योतिष गणना से ठीक सिद्ध हुई है[2], अतः इसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। 'वार्ता' में लिखा है, श्रीनाथ जी के जाने के पश्चात् औरंगजेब की सेना मंदिर को नष्ट करने के लिए गिरिराज पर चढ़ दौड़ी थी। उस समय मंदिर की रक्षा के लिए कुछ थोड़े से ब्रजवासी सेवक ही वहाँ तैनात थे। उन्होंने वीरता पूर्वक आक्रमणकारियों का सामना किया था, किंतु अंत में वे सब मारे गये। उस अवसर पर मंदिर के दो जलघरियाओं ने जिस

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ४६

(२) वार्ता साहित्य : एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४५

वीरता का परिचय दिया था, उसका सांप्रदायिक ढंग से अलौकिक वर्णन 'वार्ता' में हुआ है[१]। आक्रमणकारियों ने मंदिर को नष्ट–भ्रष्ट कर वहाँ एक मसजिद बनवाई थी[२]।

श्रीनाथ जी की यात्रा और मेवाड़ का प्रवास—गोवर्धन से चल कर श्रीनाथ जी का रथ रातों–रात ही आगरा पहुँच गया था। उस काल में आगरा में पुष्टि संप्रदाय के अनेक शिष्य-सेवक थे। उनके सहयोग से वहाँ श्रीनाथ जी को गुप्त रूप में कुछ काल तक रखा गया था। वहाँ उनकी नियमित सेवा–पूजा होती रही, और यथा समय उनका अन्नकूट भी किया गया। उसी काल में गोकुल का मुखिया विट्ठल दुवे श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप, वाल तिलकायत दामोदर जी तथा प्रथम गृह की बहू–बेटियों को लेकर आगरा आ गया था[३]। इस प्रकार सबके एकत्र हो जाने के उपरांत आगरा छोड़ कर अन्यत्र जाने की तैयारी होने लगी।

निष्कासित गोस्वामियों का वह दल आगरा से चल कर पर्याप्त समय तक विभिन्न हिंदू राज्यों का चक्कर काटता रहा था। अंत में उन सब ने मेवाड़ राज्य में प्रवेश किया और वहाँ उन्हें स्थायी रूप से आश्रय प्रदान किया। जब तक वे यात्रा में रहे थे, तब तक श्रीनाथ जी को बड़ा छिपा कर रखा जाता था, और किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर ही अत्यंत गुप्त रीति से उनकी सेवा-पूजा की जाती थी। जिन स्थानों में श्रीनाथ जी कुछ अधिक काल तक विराजे थे, अथवा जहाँ उनका कोई विशेष उत्सव हुआ था, वहाँ उनकी 'चरण चौकियाँ' बनाई गईं। ऐसी अनेक 'चरण चौकियाँ' अभी तक विद्यमान हैं। आगरा में उनके प्रथम मुक़ाम और अन्नकूट करने की स्मृति में जो 'चरण चौकी' बनाई गई है, वह वहाँ के फुलट्टी बाज़ार के एक मकान में स्थित है।

'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में श्रीनाथ जी की निष्क्रमण–यात्रा और उनके ठहरने के मुक़ामों का विस्तृत वर्णन मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि सं. १७२६ की आश्विन कृ. १५ को वे आगरा पहुँचे थे और वहाँ अन्नकूट करने के अनंतर कार्तिक के महीने में उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया था। आगरा से चल कर वे ग्वालियर राज्य में गये थे, जहाँ चंबल नदी के तट-वर्ती दंडोतीघार नामक स्थान में उन्होंने मुक़ाम किया था। वहाँ 'कृष्णपुरी' में श्रीनाथ जी विराजे थे। उस स्थान से चल कर वे कोटा गये, जहाँ 'कृष्णविलास' की पद्मशिला पर श्रीनाथ जी ४ महीने तक विराजमान रहे थे। कोटा से पुष्कर होते हुए वे कृष्णगढ़ गये थे। वहाँ नगर से २ मील दूर पहाड़ी पर 'पीतांबर जी की गाल' में श्रीनाथ जी विराजे थे। कृष्णगढ़ से चल कर जोधपुर राज्य के बंबाल और बीसलपुर स्थानों में होते हुए वे चांपासेनी पहुँचे थे, जहाँ श्रीनाथ जी ४–५ महीने तक विराजमान रहे थे। उसी स्थान पर सं. १७२७ के कार्तिक मास में उनका अन्नकूट उत्सव किया गया था। अंत में मेवाड़ राज्य के सिंहाड़ नामक स्थान में पहुँच कर वे स्थायी रूप से विराजमान हुए थे। उस काल में मेवाड़ का राणा राजसिंह (शासन सं. १६८६ – सं. १७३७) सर्वाधिक शक्तिशाली हिंदू नरेश था। उसने औरंगजेब के विरोध की उपेक्षा कर पुष्टि संप्रदाय के गोस्वामियों को आश्रय और संरक्षण प्रदान किया था। सं. १७२८ के कार्तिक में श्रीनाथ जी सिंहाड़ पहुँचे थे, और वहाँ मंदिर बन जाने पर फाल्गुन कृ. ७ शनिवार को उनका पाटोत्सव किया गया था[४]।

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ४७
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ४८
(३) वही ,, ,, , पृष्ठ ४९
(४) वही ,, ,, , पृष्ठ ६८

इस प्रकार श्रीनाथ जी को गिरिराज के मंदिर से हटा कर सिंहाड़ के मंदिर में विराजमान करने तक २ वर्ष, ४ महीना, ७ दिन का समय लगा था[1]। उस काल में गोस्वामियों को और उनके परिकर को नाना प्रकार के संकटों का सामना करना पड़ा; किंतु वे अपने आराध्य देव श्रीनाथ जी को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने में सफल हुए थे। श्रीनाथ जी के कारण मेवाड़ का वह अप्रसिद्ध सिंहाड़ ग्राम 'श्रीनाथ द्वारा' के नाम से समस्त भारतवर्ष में विख्यात हो गया।

पुष्टि संप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूपों का स्थानांतरण—औरंगजेब के शासन काल में पुष्टि संप्रदाय के सभी प्रमुख सेव्य स्वरूपों को व्रज से हटा कर अन्य सुरक्षित स्थानों में विराजमान किया गया था। उनमें से श्रीनाथ जी के स्थानांतरण का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वैसा अन्य स्वरूपों का उपलब्ध नहीं है; फिर भी तत्संबंधी कुछ सूचनाएँ कतिपय ग्रंथों में मिलती हैं। उन्हीं के आधार पर उनके स्थानांतरण का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा जाता है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री द्वारकानाथ जी के स्वरूप को श्रीनाथ जी के व्रज छोड़ने से भी पहिले हटाया गया था। उन्हें आरंभ में गुजरात के राजनगर (अहमदाबाद) में रखा गया, और फिर मेवाड़ के आसोटिया नामक स्थान में ले जाया गया था। वहाँ के मंदिर में उन्हें सं. १७२७ की भाद्रपद शु. ७ को पधाराया गया[2]। बाद में उन्हें कांकरोली नामक स्थान में पहुँचाया गया; जहाँ के मंदिर में वे अभी तक विराजमान हैं। श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप को तो श्रीनाथ जी के साथ ही ले जाया गया था, और वे अब भी नाथद्वारा के मंदिर में विराजमान हैं। द्वितीय गृह के तिलकायत श्री हरिराय जी अपने सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी को लेकर श्रीनाथ जी के साथ ही व्रज से हटे थे या कुछ बाद में, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। किंतु इतना निश्चित है, वे भी प्रायः उसी काल में अपने परिकर के साथ व्रज से गये थे। उन्होंने मेवाड़ के खिमनौर नामक स्थान में आश्रय लिया था[3]।

इस प्रकार सं. १७२८ में पुष्टि संप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी, तथा द्वितीय और तृतीय गृहों के उपास्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी और श्री द्वारकानाथ जी मेवाड़ में विराजमान हो गये थे। उन्हें अपने राज्य में रख कर मेवाड़-नरेश राजसिंह ने उस काल में बड़े साहस का परिचय दिया था। सं. १७३६ में औरंगजेब ने मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया; किंतु उसमें उसकी पराजय हुई थी। सं. १७३७ की कार्तिक शु. १० को महाराणा राजसिंह की मृत्यु हो गई। उसके उपरांत सं. १७३८ में औरंगजेब ने पुनः मेवाड़ पर आक्रमण किया, जिसमें उसकी जीत हुई थी। वे सब झगड़े-झंझट होते रहे; किंतु पुष्टि संप्रदाय के वे चारों सेव्य स्वरूप मेवाड़ में ही विराजमान रहे, और अब भी वहीं पर हैं।

प्रथम गृह के उपास्य श्री मथुरेश जी को उस काल में जब व्रज से हटाया गया, तब कुछ समय तक इधर-उधर घूमने के अनंतर उन्हें पहिले बूंदी राज्य में विराजमान किया गया था। जब जयपुर और बूंदी के राजाओं में संघर्ष हुआ, तब उसमें कोटा के तत्कालीन महाराव ने बूंदी की

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ६७-६६

(२) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १४०

(३) वही „ , पृष्ठ १४८ की टिप्पणी

सहायता की थी। उसके उपलक्ष में महाराव ने बूंदी-नरेश से मथुरेश जी का स्वरूप माँग लिया और उन्हें बड़ी श्रद्धा पूर्वक अपनी राजधानी कोटा में पधराया था। फलतः सं. १७९५ में श्री मथुरेश जी कोटा पधारे थे। कोटा के महाराव दुर्जनशाल और राज्यमंत्री द्वारकादास बड़े भक्त जन थे। उस समय इस घर के तिलकायत गोपीनाथ जी (जन्म सं. १७४५) श्री मथुरेश जी के स्वरूप को कोटा ले गये थे। राज्यमंत्री द्वारकादास ने अपनी हवेली और महाराव दुर्जनशाल ने जागीर उन्हें भेंट की थीं। तब से इस घर की गद्दी कोटा में स्थापित हुई, और अब से कुछ समय पूर्व तक उसी स्थान पर थी। इस समय श्री मथुरेश जी ब्रज के जतीपुरा नामक स्थान में विराजमान हैं।

चतुर्थ, पंचम और सप्तम गृहों के उपास्य क्रमशः श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुलचंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के स्वरूपों को ब्रज से हटा कर अस्थायी रूप से इधर-उधर रखने के पश्चात् जयपुर राज्य में विराजमान किया गया था। वहाँ के महाराज प्रतापसिंह के शासन-काल (सं. १८३३-सं. १८५८) तक जयपुर के मंदिरों में उन तीनों स्वरूपों की सेवा बड़े वैभव के साथ होती थी। बाद में राजकीय उपेक्षा से उत्पन्न असुविधा के कारण श्री गोकुलनाथ जी को जयपुर से हटाया गया, और कालांतर में उन्हें ब्रज में वापिस लेजा कर गोकुल में विराजमान किया गया। श्री गोकुल-चंद्रमा जी एवं श्री मदनमोहन जी के स्वरूपों को पहिले बीकानेर में रखा गया, और फिर उन्हें कामवन (राजस्थान) में विराजमान किया गया। ये तीनों स्वरूप अब भी क्रमशः गोकुल और कामवन में विराजमान हैं।

षष्ठ गृह के तिलकायत श्री यदुनाथ जी को प्रदत्त, किंतु उनके द्वारा अस्वीकृत किये जाने से तृतीय गृह के तिलकायत गो. बालकृष्ण जी द्वारा सेवित, ठाकुर श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप को तृतीय गृह के तत्कालीन गोस्वामी व्रजराय जी (जन्म सं. १६८२) उस संकट-काल में ब्रज से हटा कर सूरत (गुजरात) ले गये थे। यह स्वरूप अभी तक उसी स्थान में विराजमान है। षष्ठ गृह के सेव्य स्वरूप श्री कल्याणराय जी को भी उसी काल में ब्रज से हटाया गया था। कालांतर में उन्हें शेरगढ़ (बड़ोदा) में विराजमान किया गया। यह स्वरूप अब भी उसी स्थान में छठे घर की तिलकायत गद्दी के मंदिर में विराजमान है।

निष्क्रमण और स्थानांतरण का दुष्परिणाम—वल्लभवंशीय गोस्वामियों के निष्क्रमण और उनके सेव्य स्वरूपों के स्थानांतरण का बड़ा शोचनीय दुष्परिणाम ब्रजमंडल को भोगना पड़ा था। उसकी धार्मिक और कलात्मक समृद्धि उस भीषण आघात से एक बार समाप्त सी हो गई थी। गोस्वामियों के आश्रित और उनके देवालयों से संबंधित जो पंडित, विद्वान, कवि, गायक, वादक, नर्त्तक, चित्रकार, मूर्तिकार, स्थपति, शिल्पी आदि बहुसंख्यक गुणी जन थे; वे एक साथ ही निराश्रित और असहाय हो गये थे। औरंगजेब के मजहबी तास्सुब और कला-विरोधी दृष्टिकोण के कारण उन्हें राजकीय प्रश्रय भी प्राप्त नहीं हो सका था; अतः उनमें से अधिकांश उन्हीं स्थानों में जाने को विवश हुए, जहाँ गोस्वामियों ने आश्रय ग्रहण किया था। ऐसे गुणी जनों के सैकड़ों परिवार उस समय सदा के लिए ब्रज को छोड़ कर अन्यत्र जा कर बस गये थे। इस प्रकार उस काल में ब्रज की जो अपरिमित क्षति हुई, उसका यथार्थ वर्णन करना संभव नहीं है।

बाद में जब जाट-मरहठाओं का प्रभुत्व हुआ, तब उन्होंने ब्रज की धार्मिक और सांस्कृतिक क्षति को पूरा करने की कुछ चेष्टा की थी; किंतु उसका कोई खास परिणाम दिखलाई नहीं दिया। विगत युग की वह धार्मिक उन्नति ब्रज के लिए स्वप्न की सी संपत्ति हो कर रह गई!

२. चैतन्य संप्रदाय

नाम और परंपरा—व्रज के कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में वल्लभ संप्रदाय के पश्चात् चैतन्य संप्रदाय अधिक महत्वपूर्ण है। इस भक्ति-संप्रदाय का प्रवर्त्तन श्री चैतन्य देव की प्रेरणा से गौड़ अर्थात् प्राचीन बंगाल प्रदेश में हुआ था। इसलिए जहाँ इसके प्रवर्त्तक-प्रेरक के नाम पर इसे 'चैतन्य संप्रदाय' अथवा 'चैतन्य मत' कहते हैं, वहाँ यह अपने जन्म-स्थान के कारण 'गौड़ीय संप्रदाय' भी कहा जाता है। वैष्णव धर्म के प्राचीन चतु: संप्रदायों में यह भक्ति संप्रदाय श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रचारित 'ब्रह्म संप्रदाय' किंवा 'माध्व संप्रदाय' की परंपरा में विकसित हुआ है; अत: इसका एक नाम 'माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय' भी है।

यद्यपि इसका जन्म बंगाल में और प्रारंभिक प्रचार बंगाल तथा उड़ीसा प्रदेशों में हुआ था; तथापि इसका शास्त्रीय और लोक-सम्मत स्वरूप व्रजमंडल में निवास करने वाले चैतन्य-भक्त गौड़ीय गोस्वामियों ने निर्धारित किया था। इसके साथ ही इस संप्रदाय ने व्रज की धार्मिक भावना पर भी प्रचुर प्रभाव डाला है। इससे व्रज के भक्ति-संप्रदायों में इसका विशिष्ट स्थान रहा है।

परंपरा की दृष्टि से इस संप्रदाय का जन्म एवं विकास माध्व संप्रदाय के अंतर्गत हुआ, और इसकी मूल प्रेरणा भी माध्व संप्रदायी विख्यात धर्माचार्य श्री माधवेन्द्र पुरी तथा उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी से चैतन्य को मिली; फिर भी श्री चैतन्य देव, उनके प्रमुख सहकारी सर्वश्री अद्वैताचार्य एवं नित्यानंद तथा चैतन्य जी के विद्वान पार्षद सर्वश्री सनातन-रूपादि गोस्वामियों के चिंतन-मनन एवं विचार-मंथन के फलस्वरूप इसने एक स्वतंत्र भक्ति-संप्रदाय का रूप धारण कर लिया। इसका भक्ति-तत्व और दार्शनिक सिद्धांत भी माध्व संप्रदाय के सर्वथा अनुकूल नहीं रहा। इन सब कारणों से इसे एक पृथक् भक्ति संप्रदाय ही माना गया है।

श्री चैतन्य महाप्रभु (सं. १५४२ – सं. १५९०)—

जीवन-वृत्तांत—श्री चैतन्य देव बंगाली ब्राह्मण थे। उनका जन्म बंगाल के नवद्वीप (नदिया) नामक स्थान में सं. १५४२ की फाल्गुन शु. १५ को हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शची देवी था। उनका आरंभिक नाम विश्वंभर अथवा निमाई था। वे गौर वर्ण के होने से गौरांग भी कहलाते थे। संन्यासी होने पर उनका नाम कृष्ण चैतन्य हुआ था। वे इसी नाम से अथवा चैतन्य महाप्रभु के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं।

वे बड़े मेधावी और प्रतिभाशाली थे। उन्होंने १४-१५ वर्ष की आयु में ही प्रचुर विद्या प्राप्त कर ली थी, और १६ वर्ष की आयु में वे एक पाठशाला स्थापित कर छात्रों को विद्या प्रदान करने लगे थे। उनके पांडित्य और शास्त्रीय ज्ञान की इतनी ख्याति थी कि दूर-दूर के छात्र गण उनकी पाठशाला में पढ़ने आते थे। उनका विवाह हो गया था, और वे सुख पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे थे।

सं. १५६२ में वे अपने स्वर्गीय पिता के श्राद्ध और पिंड-दान के लिए गया धाम गये थे। वहाँ पर उन्हें श्री माधवेन्द्र पुरी के शिष्य श्री ईश्वर पुरी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उक्त पुरी जी के शिष्य हो गये, और उनके उपदेश तथा सत्संग से उनके जीवन में महान् परिवर्तन हो गया। वे गृहस्थ से प्राय: उदासीन होकर दिन-रात भगवद्-भक्ति में लीन रहने लगे। उन्होंने नवद्वीप की शाक्त संप्रदायी जनता में कृष्ण-भक्ति और हरिनाम-कीर्तन का प्रचार करना आरंभ किया। उनके भक्ति-भाव और निर्मल चरित्र से आकर्षित होकर अनेक नर-नारी उनके भक्त बन गये थे।

उनकी धार्मिकता और भक्ति-भावना की ख्याति नवद्वीप से बाहर समस्त बंगाल में व्याप्त थी। दूर-दूर के अनेक श्रद्धालु जन उनकी शरण में आकर श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति की उनसे प्रेरणा प्राप्त करने लगे। उनके सहकारियों और शिष्यों की एक बड़ी मंडली बन गई थी, जिसमें सर्वश्री नित्यानंद, अद्वैताचार्य, हरिदास आदि प्रमुख थे।

संन्यास और पर्यटन—चैतन्य देव ने सं. १५६६ के माघ मास में संन्यास की दीक्षा ली थी। उनका संन्यास-आश्रम का नाम 'कृष्ण चैतन्य' था। संन्यासी होने पर वे सर्वप्रथम जगन्नाथ-पुरी गये थे। वहाँ उन्होंने नीलाचल पर कुछ काल तक निवास किया। उस समय उन्होंने वहाँ के विख्यात न्यायशास्त्री वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य को अपने प्रकांड पांडित्य से प्रभावित किया था। उसके बाद वे देशाटन को चले गये। उन्होंने ८ वर्ष तक भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा की थी।

वे सबसे पहिले दक्षिण-यात्रा को गये। वहाँ गोदावरी के तट पर उनकी राय रामानंद नामक एक विद्वान राजपुरुष से भेंट हुई थी। राय रामानंद जी उड़ीसा के राजा की ओर से उस प्रदेश के राज्यपाल थे। उन्होंने श्री चैतन्य देव के साथ साध्य-साधन तत्व पर आध्यात्मिक वार्ता की थी, जिससे प्रभावित होकर वे चैतन्य देव के अनुगत हो गये और बाद में उनकी सेवा में नीलाचल में रहने लगे थे। वहाँ से चल कर श्री चैतन्य देव श्रीरंग क्षेत्र पहुँचे। वहाँ पर वैंकट भट्ट के घर उन्होंने चातुर्मास्य किया। उक्त भट्ट जी का पुत्र गोपाल उस समय १२ वर्ष का बालक था। उसे चैतन्य देव ने सं. १५६८ की कार्तिक शु. ११ को अपना अनुगत किया था। बाद में वही सुप्रसिद्ध गोपाल भट्ट गोस्वामी हुआ था।

दक्षिण-यात्रा से वापिस आने के पश्चात् श्री चैतन्य देव ने कुछ काल तक जगन्नाथ पुरी में विश्राम किया। उसके उपरांत वे ब्रज-वृंदावन की यात्रा करने का विचार करने लगे। उन दिनों वे कृष्ण-भक्ति के प्रेमावेश में प्रायः विह्वल हो जाया करते थे। इसलिए उनके अनुगामी भक्तों ने उनकी मनोदशा और मार्ग की संकटपूर्ण स्थिति के कारण उन्हें वृंदावन जाने से बार-बार रोका था, किंतु फिर भी वे चल ही दिये थे।

जगन्नाथ पुरी से चल कर वे गौड़ प्रदेश में प्रविष्ट हुए और वहाँ के रामकेलि नामक ग्राम में पहुँचे। वह ग्राम गौड़ के बादशाह हुसैनशाह के प्रमुख राज-कर्मचारी सर्वश्री सनातन और रूप का निवास-स्थल था। वे दोनों भाई बड़े विद्वान और भक्त जन थे। उन्होंने चैतन्य देव का उपदेश सुना और उनसे बड़े प्रभावित हुए। वे राज-सेवा से मुक्त होकर विरक्ति-भाव से जीवन-यापन करने और चैतन्य देव के मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा करने लगे। उस यात्रा में चैतन्य देव वृंदावन नहीं जा सके थे। उस समय उनके साथ अनुगामी भक्तों की एक बड़ी भीड़ हो गई थी, जिसे साथ लेकर ब्रज-वृंदावन की कठिन यात्रा करना उन्होंने उचित नहीं समझा था। श्री चैतन्य देव की वह यात्रा सं. १५७१ के लगभग हुई थी।

ब्रज-यात्रा—उस काल में भारत के पूर्वी भाग से ब्रजमंडल तक की यात्रा करना बड़ा कठिन और संकटपूर्ण था। यात्रा के मार्ग में मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा अधिकृत प्रदेश थे, चोर-डाकुओं द्वारा आक्रांत निर्जन और अरक्षित भू-भाग थे, तथा हिंसक पशुओं के क्रीड़ा-स्थल अनेक वन खंड थे; जिनमें से कुशलता पूर्वक बच निकलना सशस्त्र सैनिकों के लिए भी कठिन होता था। निहत्थे तीर्थ-यात्रियों के लिए तो वह यात्रा उस काल में प्रायः असंभव ही थी। फिर भी विरक्त साधु-संन्यासी और धर्म-प्राण व्यक्ति सब प्रकार की कठिनाइयों को सहन करते हुए वह यात्रा
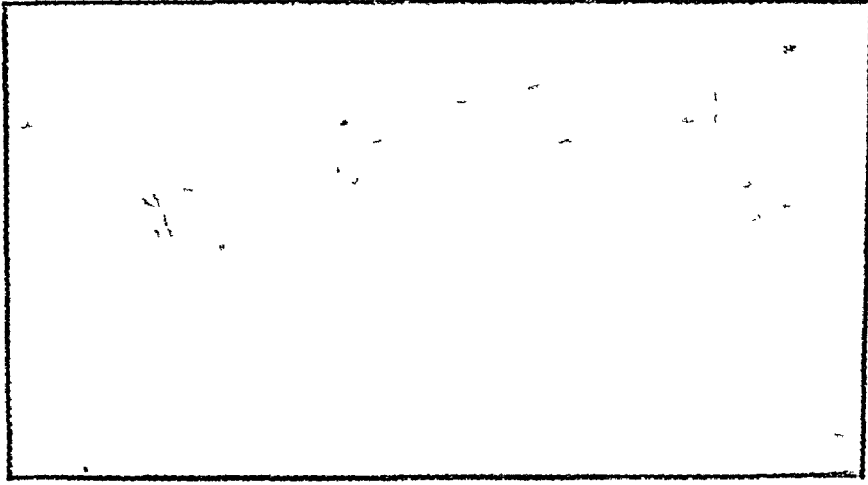
श्री चैतन्य महाप्रभु
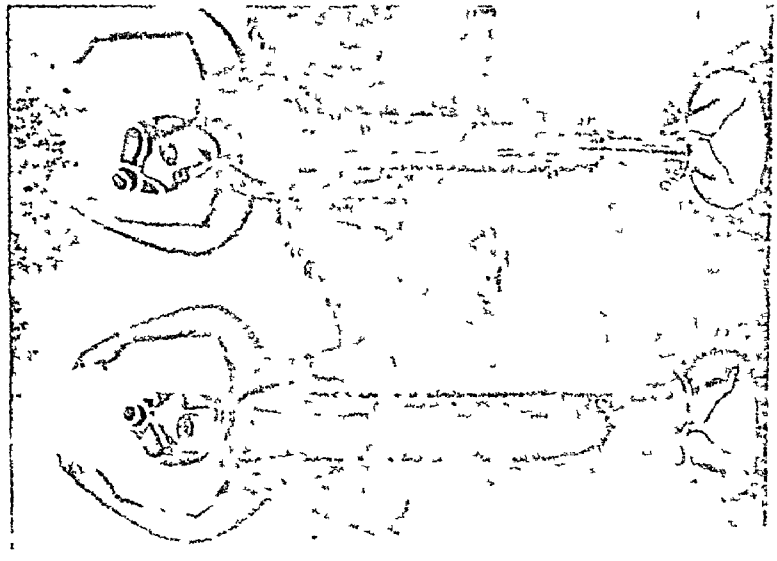
श्री नित्यानंद जी और श्री चैतन्यदेव जी

किया करते थे। ऐसे यात्रियों में रसिकराज जयदेव, यतिराज माधवेन्द्र पुरी और उनके सुयोग्य शिष्य ईश्वर पुरी भी थे; जिनके व्रज में आने का वर्णन हम गत पृष्ठों में कर चुके हैं।

जिस समय चैतन्य देव अपने जन्म–स्थान नवद्वीप में थे, तभी वे और उनके साथ के सभी भक्त जन व्रज–वृंदावन की ओर आकर्षित हो गये थे। वे वहाँ जा कर श्री कृष्ण के लीला-स्थलों का दर्शन करना चाहते थे। किंतु जैसा पहिले लिखा गया है, उन दिनों व्रज की यात्रा का मार्ग बड़ा संकटपूर्ण था और वहाँ के अधिकांश लीला–स्थल भी सघन वनों में आच्छादित होने के कारण प्रायः अज्ञात और लुप्त हो गये थे। सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी और ईश्वर पुरी आदि जिन महानुभावों ने व्रज की यात्रा की थी, वे भी उक्त कारणों से वहाँ के समस्त लीला–स्थलों का दर्शन करने में असमर्थ रहे थे।

श्री चैतन्य देव व्रज के दुर्गम और दुर्लभ लीला-स्थलों को भक्त-जनों के लिए सुगम और सुलभ करना चाहते थे; अतः उन्होंने अपने दो अनुचर लोकनाथ और भूगर्भ को सं. १५६६ के लगभग व्रज भेजा था। उन्हें आदेश दिया गया कि वे व्रज-वृंदावन के मार्ग का सर्वेक्षण कर वहाँ के प्राचीन लीला–स्थलों का अन्वेषण करें, और उनके पर्यटन एवं दर्शन की असुविधाओं को दूर करने का प्रयास करें। वे दोनों बंगाली युवक संन्यासी कई महीने तक व्रज के बीहड़ वनों में भटकते रहे; किंतु लीला–स्थलों को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने के कार्य में उन्हें बहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई थी। उसी काल में उन्हें समाचार मिला कि चैतन्य देव संन्यासी होकर नवद्वीप से नीलाचल चले गये हैं। वे उनसे मिलने की उतावली में अपने अधूरे काम को छोड़ कर व्रज से वापिस चले गये। उसके उपरांत स्वयं चैतन्य जी ने भी कई बार व्रज–वृंदावन की यात्रा करने का विचार किया; किंतु विविध कारणों से वे सं. १५७३ से पहिले वहाँ नहीं जा सके थे।

चैतन्य का व्रज-आगमन—श्री चैतन्य देव ने जगन्नाथ पुरी में चातुर्मास्य करने के उपरांत सं. १५७३ की शरद ऋतु में अपनी चिर इच्छित व्रज-यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। उनके साथ केवल दो व्यक्ति थे,—एक ब्राह्मण सेवक और दूसरा बलभद्र भट्टाचार्य नामक एक नवयुवक भक्त जन। वे झाड़खंड के बीहड़ वन में होकर काशी आये और वहाँ कुछ काल तक उन्होंने निवास किया। फिर वहाँ से प्रयाग होते हुए व्रजमंडल की ओर चल दिये। मार्ग के निर्जन वनों में उन्हें प्रायः व्याघ्रादि हिंसक पशु मिलते थे; किंतु चैतन्य जी के अलौकिक प्रभाव से उनकी यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई थी।

जिस समय श्री चैतन्य देव मथुरा आये, उस समय वहाँ पर दिल्ली के सुलतान सिकंदर लोदी के मज़हबी अत्याचारों के कारण अत्यंत भय और आतंक का वातावरण बना हुआ था। चैतन्य जी उससे किंचित भी भयभीत नहीं हुए। उन्होंने मथुरा के विश्राम घाट पर यमुना-स्नान किया और निर्भयता पूर्वक अपने धार्मिक कृत्य किये। फिर वे श्री केशव भगवान् के दर्शनार्थ उनके मंदिर में गये। वहाँ उन्होंने हरिनाम–कीर्तन करते हुए नृत्य किया था। उस समय वे प्रेमावेश में विह्वल हो गये थे। उसका वर्णन कृष्णदास कविराज ने इस प्रकार किया है,—

मथुरा आसिया कैल विश्रान्त तीर्थे स्नान। जन्म–स्थाने केशव देखि, करिला प्रणाम॥
प्रेमानन्दे नाचे गाये, सघन हुंकार। प्रभुर प्रेमावेशे देखि, लोके चमत्कार[1]॥

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १७, पयार १४७–१४८

चैतन्य महाप्रभु द्वारा श्रीकृष्ण–जन्म स्थान पर जाने और वहाँ पर श्री केशव भगवान् का दर्शन करने के पूर्वोक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि उस काल तक केशव भगवान् का प्राचीन मंदिर विद्यमान था, और उसके कुछ समय वाद ही उसे सिकंदर लोदी ने नष्ट कराया था।

चैतन्य देव ने ब्रज में मथुरा और वृंदावन के मध्यवर्ती अक्रूर घाट पर निवास किया था। वहाँ से ही वे ब्रज के विविध वनों की यात्रा करने गये थे। उन्होंने गोवर्धन, राधाकुंड, नंदगाँव, काम-वन आदि लीला स्थलों का दर्शन और पर्यटन किया था। जब वे गोवर्धन पहुँचे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वहाँ के श्रीनाथ-गोपाल जी के स्वरूप को ब्रजवासी गरण गांठोली के वन में ले गये हैं। श्री चैतन्य देव ने गांठोली जाकर ही गोपाल जी के दर्शन किये थे[1]। ऐसा मालूम होता है, उसी समय मथुरा में सिकंदर लोदी ने श्री केशव भगवान् के मंदिर का ध्वंश कराया था। गोवर्धन के भक्त जनों को आशंका हुई कि मथुरा के वाद सिकंदर का आक्रमण गोवर्धन के मंदिर पर ही होगा। उसी से वचने के लिए वे श्रीनाथ–गोपाल के देव-विग्रह को गांठोली के निर्जन वन में ले गये थे।

वृंदावन–दर्शन—'चैतन्य चरितामृत' से ज्ञात होता है, श्री चैतन्य जी अपनी उस यात्रा में वृंदावन भी गये थे। वहाँ उन्होंने कालियदह, केशीघाट आदि तीर्थों में स्नान कर यमुना तटवर्ती एक प्राचीन इमली वृक्ष के नीचे बैठ कर हरिनाम-कीर्तन किया था। वृंदावन में सात्विक प्रेमावेश होने से और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा तीर्थ स्थलों पर अत्याचार किये जाने से वे इतने विह्वल हुए कि वार–वार प्रलाप करते हुए मूर्छित हो जाते थे। उस मनोदशा में वे ब्रज-वृंदावन में अधिक काल तक निवास नहीं कर सके, क्यों कि उनके अनुचर उन्हें शीघ्र ही वहाँ से प्रयाग ले गये। उस अल्पकालीन निवास में उन्होंने गोवर्धन के निकट राधाकुंड–कृष्णकुंड के प्राचीन तीर्थ-स्थलों का अन्वेषण किया, किंतु ब्रज के लुप्तप्राय लीला-स्थलों के पुनरुद्धार करने का उन्हें अवकाश नहीं मिला था। ब्रज से वापिस जाते हुए जब वे प्रयाग पहुँचे, तब वहाँ के निकटवर्ती अड़ैल नामक स्थान में पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हुई थी। उस समय दोनों महापुरुषों ने धार्मिक वार्तालाप करते हुए दिव्यानंद का अनुभव किया था[2]।

ब्रज के लीला-स्थलों के पुनरुद्धार की प्रेरणा—ब्रज-यात्रा से वापिस जाने पर श्री चैतन्य देव ने अनेक गौड़ीय विद्वानों और भक्त जनों को ब्रज में निवास करने और वहाँ के लीला-स्थलों के उद्धार करने के लिए प्रेरित किया था। उनमें से ब्रज में सर्वप्रथम आने वाले रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी नामक महानुभाव थे। जैसा पहिले लिखा गया है, वे दोनों बंधु गौड़ (वंगाल) के मुसलमान शासक हुसेनशाह के सर्वोच्च पदाधिकारी थे। अपने पद-गौरव को छोड़ कर वे अकिंचन के रूप में ब्रजवास करने को आये थे। चैतन्य देव ने उन दोनों भक्त जनों को आवश्यक शिक्षा देकर भेजा था। वे क्रमशः सं. १५७४ और सं. १५७६ में ब्रज में आकर स्थायी रूप से रहने लगे थे। चैतन्य संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है, वृंदावन में निवास करने से पहिले रूप-सनातन गोस्वामी वंधु मथुरा के ध्रुव घाट पर ठहरे थे। वहाँ पर ही उनकी सुबुद्धिराय से भेंट हुई थी[3]।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १८, पयार ३०–३१

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १९, पयार ५७–५८

(३) वही ,, ,, , परिच्छेद २५, पयार १३९–१६३

संशोधन की सूचना

ग्रंथ को शुद्ध रूप में छापने की पूरी सावधानी करने पर भी कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। पाठक उन्हें शुद्ध कर लेने की कृपा करें; विशेषतया निम्न लिखित अशुद्धियों को—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१०	कर्मण्यता	अकर्मण्यता
४१	३४	बुद्धिक	बुद्धिल
५१	१८	लिप्त	लुप्त
५६	१३	छठी	तृतीय
२१०	३६	कामवन	अन्यत्र
२१३	१८	महानुवर्ती	मतानुवर्ती
३३५	७	गौणीय	गौड़ीय
३४०	११	१७७५	१७८०
३४१	१२	एक	डेढ़
३६२	१८	भाटियानी	भट्टी
३६८	८	श्री विहारी जी	श्री राधावल्लभ जी
४३९	टिप्पणी	केलिदास	केलिमाल
४४०	३६	१६३७	१६३२
४६८	१९	'केलिमाल' के टीकाकार आचार्य नागरीदास जी नहीं थे, वरन् पीतांबरदास जी के शिष्य अन्य नागरीदास थे।	
५१२	२९	गोकुलनाथ	गोकुलदास
५२७	१५	गोविंदलाल	गोविंदराय

ब्रज में आने पर सर्वश्री सनातन–रूप गोस्वामियों ने गोवर्धन, राधाकुंड, नंदगाँव, गोकुल आदि विविध लीला-स्थलों में निवास किया था। जब वृंदावन में बस्ती बसने लगी, तब वे वहाँ पर स्थायी रूप से रहने लगे थे। उन्होंने ब्रज के अज्ञात लीला–स्थलों का अनुसंधान और कृष्ण–भक्ति के अनुपम ग्रंथों की रचना कर ब्रज संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया था।

चैतन्य देव का अंतिम काल और देहावसान—श्री चैतन्य देव अपने अंतिम काल में जगन्नाथपुरी के नीलाचल में स्थायी रूप से रहे थे। ब्रज–यात्रा के उपरांत फिर उन्होंने कोई यात्रा नहीं की थी; और श्री जगन्नाथ जी के सान्निध्य में उन्होंने १६ वर्ष तक निवास किया था। चैतन्य देव के कारण नीलाचल में भक्त-मंडली का सदैव जमाव रहता था। वहाँ पर अहर्निश भागवत-पाठ तथा कृष्ण-कर्णामत, गीत-गोविंद एवं चंडीदास–विद्यापति की रचनाओं का गायन और हरिनाम-संकीर्तन हुआ करता था, जिससे वहाँ का वातावरण सदैव कृष्ण–भक्ति से ओतप्रोत रहता था। चैतन्य जी के साथ वहाँ स्थायी रूप से रहने वाले भक्तों में सर्वश्री हरिदास, गदाधर पंडित, राय रामानंद, स्वरूप दामोदर, अच्युतानंद और रघुनाथदास प्रमुख थे।

नीलाचल में स्थायी रूप से निवास करने वाले भक्तों के अतिरिक्त प्रति वर्ष रथ-यात्रा के अवसर पर और भी अनेक भक्त जन एकत्र हो जाते थे। वे जगन्नाथ जी के दर्शन और चैतन्य देव के सत्संग का लाभ उठाने के लिए दूर-दूर से आया करते थे। उस समय वहाँ पर धार्मिक भावना और भगवद्–भक्ति का मानों पारावार ही उमड़ पड़ता था। वहाँ के भक्त जनों को तब जो आनंद प्राप्त होता था, वह अकथनीय है।

अपने अंतिम काल के १२ वर्षों में श्री चैतन्य देव प्रायः संज्ञाहीन और बाह्यज्ञान शून्य से होकर सदैव कृष्ण-विरह में विह्वल रहा करते थे। उनके नेत्रों से निरंतर प्रेमाश्रुओं की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती थी। उनके अनुचर भक्त जन जयदेव, विद्यापति और चंडीदास कृत राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का गायन कर उनको सान्त्वना देते रहते थे। एक दिन दिव्योन्माद की दशा में वे सागर-तट पर विचरण कर रहे थे। वहाँ समुद्र की उत्तान लहरों में वे अकस्मात अंतर्लीन हो गये! इस प्रकार सं. १५९० में उनका देहावसान हुआ था। उस समय उनकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी।

चैतन्य देव के असामयिक और आकस्मिक देहावसान से उनकी भक्त–मंडली पर मानों वज्रपात ही हो गया था! सब लोग हा-हाकार करते हुए असीम दुःख का अनुभव करने लगे। नीलाचल ही नहीं, जहाँ भी चैतन्य के भक्त थे, वहाँ ही अपार शोक-सागर उमड़ पड़ा। सब लोग अपने को असहाय और अनाथ मानने लगे। गौड़ प्रदेश के भक्त जनों को तो नित्यानंद जी ने किसी प्रकार सँभाल लिया था; किंतु नीलाचल में निवास करने वाले चैतन्य जी के अंतरंग जनों को सान्त्वना देने वाला कोई नहीं था। वे सब अपने शास्ता के वियोग की वेदना में जीवित ही मृतक समान हो गये थे। चैतन्य जी के प्रेम-पात्र स्वरूपदामोदर का देहांत उसी साल हो गया। उनके अंतरंग पार्षद गदाधर पंडित तथा राय रामानंद भी उसी वर्ष इस संसार को छोड़ गये थे। चैतन्य और स्वरूपदामोदर दोनों के देहावसान से दुखित होकर रघुनाथदास गोस्वामी वृंदावन चले गये। नीलाचल निवासी अन्य भक्तों का या तो देहांत हो गया, अथवा वे नवद्वीप या वृंदावन में जाकर रहने लगे थे। इस प्रकार चैतन्य देव का देहावसान होने से नीलाचल के भक्तों की मानों दुनियाँ ही उजड़ गई थी!

चैतन्य देव का महत्व और उनकी अनुपम देन—चैतन्य देव के समय में बंगाल की राजनैतिक और सामाजिक दुर्दशा के साथ ही साथ वहाँ की धार्मिक स्थिति भी अत्यंत शोचनीय थी। राजनैतिक दृष्टि से वह प्रदेश मुसलमानी शासन के आधीन था, और वहाँ की सामाजिक दशा अत्यंत ह्रासोन्मुखी एवं अनाचारपूर्ण थी। धार्मिक दृष्टि से उक्त प्रदेश में शाक्त धर्म के विविध संप्रदाय प्रचलित थे, जो अधिकतर वाममार्गीय तांत्रिक आचारों के प्रति आस्था रखते थे। उनके अनुयायी गण अपनी तामसी भावना के अनुसार मद्य-मांस का उपयोग करते हुए विभिन्न देवियों की उपासना-पूजा किया करते थे। जन-साधारण में चंडी, मनसा और वाशुली-विषहरी आदि लोक-देवियों की पूजा प्रचलित थी। वृंदावनदास कृत 'चैतन्य भागवत' से ज्ञात होता है, उस काल में बंगाली जनता रात्रि-जागरण पूर्वक मंगल चंडी के गायन को ही एक मात्र धर्म-कर्म मानती थी। वे लोग मनसा देवी की मूर्ति बना कर उसकी पूजा में दंभ पूर्वक प्रचुर धन-व्यय करते थे और विविध उपहारों द्वारा वाशुली देवी की तथा मद्य-मांस द्वारा यक्ष-यक्षिणियों की पूजा को परम धर्म मानते थे[1]।

उस काल के बंगालियों में ज्ञान मार्ग का फिर भी कुछ प्रचार था; किंतु भक्ति मार्ग के अनुयायी उनमें बहुत कम संख्या में थे। वैष्णव धर्म और कृष्ण-भक्ति का प्रचलन उनमें नाम मात्र को ही था। तत्कालीन बंगालियों की उस स्थिति पर दुःख प्रकट करते हुए वृंदावनदास जी ने कहा है,—"सब लोग कृष्ण के नाम और उनकी भक्ति से शून्य हैं। कहने से भी कोई कृष्ण का नाम नहीं लेता है। सब संसार व्यवहार-रस में मत्त हो रहा है। कृष्ण-पूजा और कृष्ण-भक्ति से कोई भी प्रेम नहीं करता है। निरंतर होने वाले व्यर्थ के नृत्य, गीत और वाद्य के कोलाहल में कोई भी परम मंगलकारी कृष्ण के नाम को नहीं सुनता है[2]।"

उस काल के वामाचारी व्यक्तियों को उनकी हिंसात्मक और अनाचार पूर्ण तामसी साधना से हटा कर उन्हें वैष्णव धर्म की सात्वकी उपासना तथा कृष्ण-भक्ति की ओर आकर्षित करना चैतन्य देव जैसे युगांतरकारी महापुरुष का ही काम था। उसमें उन्हें अपने प्रमुख सहकारी श्री नित्यानंद जी से पूरा सहयोग प्राप्त हुआ था। नाभा जी ने उनके धार्मिक महत्व का कथन करते हुए कहा है,—

गौड़ देस पाखंड मेटि, कियौ भजन-परायन। करुनासिंधु कृतज्ञ भये, अगतिन गति-दायन॥
दसधा रस आक्रांत, महत जन चरन उपासे। नाम लेत निहपाप, दुरित तिहिं नर के नासे॥
अवतार विदित पूरब मही, उभै महत देही धरी।
नित्यानंद-कृष्णचैतन्य की, भक्ति दसौं दिसि विस्तरी[3]॥

---

(१) धर्म-कर्म लोक सबे एइ मात्र जाने। मंगल चंडीर गीते करे जागरणे॥६३॥
दम्भ करि विषहरि पूजे कोन जने। पुत्तलि करये केहो दिया बहु धने॥६७॥
वाशुलि पूजये केहो नाना उपहारे। मद्य-मांस दिया केहो यक्ष-पूजा करे॥८१॥
—चैतन्य भागवत, आदि खंड, द्वितीय अध्याय

(२) कृष्ण नाम-भक्ति शून्य सकल संसार।६५। बलि लेओ केहो नाहि लय कृष्ण-नाम॥७७॥
सकल संसार मत्त व्यवहार रसे। कृष्ण-पूजा, कृष्ण-भक्ति कारो नाहि वासे॥८८॥
निरवधि नृत्य-गीत-वाद्य कोलाहले। ना शुने कृष्णेर नाम परम मंगले॥९०॥
—चैतन्य भागवत, आदि खंड, द्वितीय अध्याय

(३) भक्तमाल, छप्पय सं. ७२

चैतन्य देव का व्यक्तित्व इतना आकर्षक, उनके आचार इतने अलौकिक, विचार इतने अद्भुत और उपदेश इतने मोहक थे कि छोटा-बड़ा जो व्यक्ति भी उनके संपर्क में आता था, वही उनका श्रद्धालु भक्त बन जाता था ! उनके भक्तों में जन-साधारण से लेकर विख्यात विद्वान, प्रसिद्ध धर्माचार्य और समृद्धिशाली महानुभाव तक थे; जिनमें कितने ही आयु, विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा में भी उनसे बढ़े हुए थे। फिर भी वे सब अपनी मर्यादा और अपने गौरव का विचार न कर चैतन्य देव के विनीत अनुचर और अनुयायी बन गये थे। उनके भक्तों का विश्वास था कि वे अवतारी महापुरुष हैं; यद्यपि स्वयं उन्होंने सदैव अपने को विनम्रता पूर्वक तुच्छातितुच्छ व्यक्ति बतलाया था।

संन्यासी होने से पूर्व ही उन्हें भगवान् कृष्ण का अवतार मान लिया गया था। इसकी सर्व प्रथम घोषणा अद्वैताचार्य जैसे वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित धर्माचार्य ने तब की थी, जब चैतन्य देव गया धाम से वापिस आकर नवद्वीप में कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने लगे थे। अपने जीवन-काल में ही उस प्रकार की सामूहिक श्रद्धा प्राप्त करना उनके महत्व की बहुत बड़ी बात है।

चैतन्य भक्तों की मान्यता थी कि उनमें भगवान् कृष्ण के 'रसराज' और भगवती राधिका के 'महाभाव' दोनों रूपों का समावेश हुआ है, अतः उन्हें राधा-कृष्ण का सम्मिलित अवतार समझा जाता था। उनके उस अवतारी रूप का पूर्ण प्रकाश उनके अंतिम काल में जगन्नाथ पुरी के नीलाचल धाम में हुआ था। बाद में उनके भक्तों में उनकी इसी भाव से उपासना-पूजा भी प्रचलित हो गई थी। बंगाल के अनेक मंदिरों में चैतन्य देव की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। वहाँ पर उनकी सेवा-पूजा बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक होती है। चैतन्य जी की मूर्ति बनाने की प्रथा कब से चली, इसके संबंध में कोई निश्चित बात ज्ञात नहीं होती है। ऐसा माना जाता है, चैतन्य देव के संन्यासी हो जाने पर जब उनकी पत्नी विष्णुप्रिया जी को असह्य विरह-वेदना होने लगी, तब उसे शांत करने के लिए उनके घर में सर्व प्रथम चैतन्य-मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। उसके बाद अन्य स्थानों में भी वैसी ही मूर्तियाँ स्थापित की गईं, और उनकी उपासना-पूजा का व्यापक प्रचलन हुआ।

चैतन्य देव के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव बंगाल—उड़ीसा से लेकर ब्रजमंडल तक के विस्तृत भू—भाग पर पड़ा है। यह प्रभाव यहाँ की धर्मोपासना पर तो है ही; इसके साथ ही इस विशाल क्षेत्र में प्रचलित विविध भाषाओं का साहित्य भी इससे बड़ा प्रभावित हुआ है। संस्कृत, बंगला, उड़िया, मैथिली, असमिया और ब्रजभाषा—हिंदी के मध्यकालीन भक्ति—साहित्य पर उक्त प्रभाव स्पष्टतया दिखलाई देता है। इस पर आश्चर्य की बात यह है कि चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारियों में से किसी ने भी कोई विशिष्ट धर्म—ग्रंथ नहीं रचा था ! चैतन्य संप्रदाय का जो विशाल साहित्य उपलब्ध है, वह सब चैतन्य जी के अनुयायी भक्तों द्वारा रचा हुआ है। चैतन्य जी के महत्व की एक बड़ी बात यह भी है कि उनके जीवन—काल में ही उनकी प्रशस्ति के ग्रंथों की रचना होने लगी थी। वे ग्रंथ संस्कृत और बंगला दोनों भाषाओं के हैं, जिनमें चैतन्य देव का जीवन—वृत्तांत अत्यंत श्रद्धा—भक्ति पूर्वक लिखा गया है। ये ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं कि वे अपने जीवन—काल में ही कितने लोकप्रिय हो गये थे। चैतन्य देव का महत्व निश्चय ही अनुपम और उनकी देन निस्संदेह महान् है।

चैतन्य देव के सहकारी तथा अनुयायी भक्त जन—चैतन्य देव के प्रति श्रद्धा रखने वाले प्रमुख भक्त जनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी उन विशिष्ट महानुभावों की है, जिन्होंने चैतन्य जी के उद्देश्य की महत्ता को समझ कर आरंभ से ही उनके महान् कार्य में भरपूर सहयोग दिया था। उन्हें उनका सहकारी अथवा सहयोगी कहा जा सकता

है। ऐसे महापुरुषों में सर्वश्री नित्यानंद और अद्वैताचार्य प्रमुख थे। उन्होंने गौड़ प्रदेशीय भक्त-मंडली का संगठन कर उनमें कृष्ण-भक्ति के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। चैतन्य संप्रदाय में उन्हें भी अवतार माना जाता है। इस संप्रदाय में चैतन्य देव 'महाप्रभु' कहे जाते हैं, तो नित्यानंद और अद्वैताचार्य को भी 'प्रभु' कहा जाता है। उनके अतिरिक्त श्रीवास पंडित और हरिदास भी चैतन्य देव के प्रसिद्ध सहकारी थे। श्रीवास चैतन्य देव के भक्ति-प्रचार में उनके प्रारंभिक सहयोगी रहे थे। जब चैतन्य जी नवद्वीप में थे, तब वे श्रीवास के निवास-स्थान पर ही हरि-कीर्तन किया करते थे। हरिदास नवद्वीप से लेकर नीलाचल तक सदैव चैतन्य देव के साथ रहे थे। वे मुसलमान होते हुए भी हरिनाम—कीर्तन के प्रमुख प्रचारक थे। उनका देहावसान नीलाचल में हुआ था और चैतन्य जी ने स्वयं अपने हाथों से उनके भौतिक शरीर को अंतिम समाधि दी थी।

चैतन्य—भक्तों की दूसरी श्रेणी उन श्रद्धालु महापुरुषों की है, जो चैतन्य देव के अलौकिक व्यक्तित्व तथा अद्भुत आचार-विचारों से आकर्षित होकर उनके अनुगत हुए थे। उनमें कतिपय महानुभाव अपनी विद्वत्ता और विशिष्टता को भुला कर अहर्निश उनकी सेवा करना ही अपना परम कर्तव्य मानते थे। उनको इस संप्रदाय में 'पार्षद' कहा जाता है। चैतन्य देव के पार्षदों में राय रामानंद, गदाधर पंडित और स्वरूप दामोदर प्रमुख थे। राय रामानंद कृष्ण-तत्व के महान् ज्ञाता और व्याख्याता थे। उन्होंने 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक नाटक की भी रचना की थी, जिसका प्रदर्शन देख कर चैतन्य देव को अतीव आनंद प्राप्त होता था। गदाधर पंडित बड़े विद्वान और भागवत के मार्मिक प्रवक्ता थे। वे चैतन्य देव को भागवत सुनाया करते थे। स्वरूप दामोदर चैतन्य जी के निकटतम साथी, अंतरंग सेवक, सचिव और सहायक सब-कुछ थे। वे नवद्वीप से नीलाचल तक चैतन्य जी के साथ निरंतर रहे थे, और उन्होंने अनुचर के रूप में उनकी बड़ी सेवा की थी। वे विद्वान होने के साथ ही साथ संगीतज्ञ और गायक भी थे। उनका कंठ बड़ा मधुर था। वे चैतन्य जी के समक्ष कीर्तन—गान किया करते थे, जिसे सुन कर वे आनंद विभोर हो जाते थे। सुप्रसिद्ध गौड़ीय गोस्वामी रघुनाथदास को चैतन्य देव ने आरंभ में स्वरूप दामोदर के संरक्षण में ही रखा था। वे सब श्रद्धालु भक्त जन चैतन्य जी के अंतिम काल तक उनके साथ छाया की तरह रहे थे। जब चैतन्य देव का देहावसान हो गया, तब उन तीनों ने भी उनके वियोग में एक वर्ष के अंदर ही अपने शरीरों को छोड़ दिया था।

चैतन्य-भक्तों में अनेक प्रकांड विद्वान और विख्यात भक्त-कवि भी थे, जिन्होंने चैतन्य देव की उद्देश्य-पूर्ति में अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा को लगा दिया था। ऐसे महानुभावों में वासुदेव [illegible]चार्य और प्रकाशानंद सरस्वती क्रमशः न्याय और वेदांत शास्त्रों के अद्वितीय पंडित थे। राय [illegible]मानंद की अनुपम धर्म-तत्वज्ञता का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। मुरारि गुप्त, वृंदावनदास, [illegible]दास कविराज और कर्णपूर सुप्रसिद्ध भक्त-कवि थे। उन सबने अपने-अपने ढंग से चैतन्य संप्रदाय की बड़ी सेवा की थी।

चैतन्य देव के जिन अनुयायी भक्तों ने ब्रजमंडल में निवास कर यहाँ चैतन्य संप्रदाय के प्रचार-प्रसार के साथ ही साथ ब्रज की धार्मिक प्रगति और सांस्कृतिक समृद्धि करने में भी अपना [illegible]हत्वपूर्ण योग दिया था; उनमें सर्वश्री सनातन, रूप, गोपाल भट्ट, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, जीव, [illegible]ष्णदास कविराज और नारायण भट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमें से आरंभिक छै [illegible]माव वृंदावन के 'षट् गोस्वामी' कहलाते हैं। उन सब का ब्रज से घनिष्ठतम संबंध रहा है; उनका कुछ विशेष वृत्तांत यहाँ दिया जाता है।

१–२. सर्वश्री सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी—वृंदावन के चैतन्य संप्रदायी गोस्वामियों में सर्वश्री सनातन और रूप सबसे वरिष्ट और सर्वाधिक सम्मान्य महानुभाव थे। वे दोनों सगे भाई थे, और बंगाल के जैसोर जिलांर्गत फतेहाबाद निवासी कुमार देव ब्राह्मण के पुत्र थे। उनका एक छोटा भाई अनुपम उपनाम वल्लभ भी था। अनुपम के एक मात्र पुत्र का नाम जीव था, जो बड़ा होने पर अपने पितृव्य सनातन-रूप के साथ वृंदावन में रहा था। सनातन और रूप का जन्म विक्रम की १६वीं शती के पूर्वार्ध में हुआ था, किंतु उनके जन्म-संवत् अनिश्चित हैं[1]। उनके ये नाम भी चैतन्य देव ने रखे थे। उनके मूल नाम क्या थे, इसका उल्लेख किसी प्रामाणिक ग्रंथ में नहीं मिलता है। ऐसा कहा जाता है, सनातन का पूर्व नाम अमर और रूप का संतोष था[2]।

उन दोनों भाइयों की प्रकृति समान थी और उनकी जीवन-चर्या भी आरंभ से अंत तक प्रायः एक सी ही चली थी। उन दोनों ने साथ–साथ राजकीय सेवा आरंभ की थी, दोनों को साथ-साथ वैराग्य हुआ, दोनों साथ–साथ चैतन्य के भक्त हुए और दोनों ने साथ ही साथ ब्रज-वास किया था। दोनों का देहावसान भी प्रायः साथ ही साथ हुआ था। इस प्रकार उन दोनों के जीवन–वृत्तांत आपस में इतने घुले-मिले और गुथे हुए हैं कि उन्हें अलग-अलग लिखने से व्यर्थ की पुनरावृत्ति हो सकती है। इसलिए उन दोनों की जीवनी साथ-साथ लिखी गई हैं।

सनातन और रूप दोनों ने संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रों और धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। ऐसा कहा जाता है, वे अरबी-फारसी के भी विद्वान थे। उस समय गौड़ (प्राचीन बंगाल) का स्वतंत्र शासक हुसैनशाह था, जो गुणग्राही और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके शासन-काल में गौड़ की तत्कालीन राजधानी रामकेलि (जि. मालदह) विविध विद्याओं और कलाओं का केन्द्र बन गई थी। सनातन तथा रूप दोनों भाई हुसैनशाह के राज्य कर्मचारी नियत हुए और उन्नति करते हुए मंत्रियों के सर्वोच्च पदों पर प्रतिष्ठित हो गये थे। हुसैनशाह ने उनकी विद्वता, प्रतिभा एवं कार्य–कुशलता से प्रभावित होकर सनातन को अपना प्रधान मंत्री और रूप को राजस्व मंत्री बनाया था तथा उन्हें क्रमशः 'साकर मल्लिक' और 'दबीर खास' की उपाधियों से सन्मानित किया गया था। वे उस काल में अपने मूल नामों की अपेक्षा अपनी उपाधियों से ही अधिक प्रसिद्ध थे; इसीलिए कुछ विद्वानों ने उन्हें भ्रमवश मुसलमान समझने की भूल की है[3]!

हुसैनशाह के राज्य का संचालन सनातन और रूप की प्रबंध-कुशलता, न्याय-प्रियता और प्रजा-वत्सलता से सफलता पूर्वक हो रहा था। उसके लिए वे दोनों भाई राज्य भर में अत्यंत लोक-प्रिय भी थे, किंतु उनका मन शासन–कार्य में नही लगता था। पूर्व संस्कारों के कारण वे जन्म से ही हरि–भक्त और सत्संग-परायण थे, अतः राज-काज से अवकाश मिलते ही वे भगवद्–भक्ति, शास्त्र-चर्चा और विद्वानों के सत्संग में लग जाते थे।

---

(१) बंगला ग्रंथ 'वैष्णव दिग्दर्शिनी' में उनके जन्म–संवत् क्रमशः १५३६ तथा १५४२ लिखे गये हैं, और हिंदी मासिक पत्र 'श्री गौरांग' (वर्ष २, अंक २) में वे क्रमशः १५२२ तथा १५२७ बतलाये गये हैं।

(२) 'श्रील रूप गोस्वामी' शीर्षक का लेख (गौड़ीय, वर्ष ६ अंक ३)

(३) देखिये, डा० के. एम. मुंशी लिखित 'कुलपति का पत्र' (दैनिक हिंदुस्तान, १५-५-५५)

जिस काल में सनातन–रूप रामकेलि में राज्य मंत्री थे, उस समय बंगाल और उड़ीसा प्रदेशों में चैतन्य द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति और हरिनाम-कीर्तन की धूम मची हुई थी। सनातन और रूप ने भी उनका नाम सुना था। वे उनके दर्शन करने और उनकी सेवा में अपना जीवन लगा देने को उतावले हो उठे थे। उन्होंने गुप्त रूप से एक पत्रिका चैतन्य देव के पास भेजी, जिसमें उनसे रामकेलि में पधारने की बड़ी दीनता पूर्वक प्रार्थना की गई थी। वह सच्चे भक्त-हृदयों की आकुल पुकार थी, जिसकी चैतन्य जी उपेक्षा नहीं कर सके थे। उन दिनों वे संन्यासी होकर जगन्नाथ पुरी में निवास करते थे, किंतु उनका मन वृंदावन-यात्रा के लिए लालायित था। उन्होंने जगन्नाथ पुरी से चल कर रामकेलि होते हुए वृंदावन जाने की योजना बनाई।

चैतन्य देव रामकेलि पहुँच कर एक ब्राह्मण के घर पर ठहरे। सनातन–रूप ने जैसे ही उनके आगमन का समाचार सुना, वैसे ही वे राजकीय वेश त्याग कर अत्यंत दीनता पूर्वक उनके चरणों में आ गिरे, और उनके नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। चैतन्य जी ने प्रेमपूर्वक उन्हें उठा कर हृदय से लगा लिया। उन्होंने दोनों भाइयों को संबोधन करते हुए कहा,—"मैं जानता हूँ, तुम दोनों का जन्म इस राजकीय सेवा के लिए नहीं हुआ है। तुम्हें धर्म-प्रचार का महत्वपूर्ण पारमार्थिक कार्य करना है, किंतु इसमें उतावली मत करो। सुविधानुसार यहाँ के झंझटों से मुक्त होकर मेरे पास आना।" ऐसा कह कर चैतन्य देव रामकेलि से चल दिये, किंतु वे उस समय वृंदावन नहीं जा सके थे। उसके कुछ काल पश्चात् उन्होंने वृंदावन-यात्रा की थी।

चैतन्य देव के जाने के पश्चात् सनातन-रूप ने राजकीय सेवा से निवृत होने की चेष्टा की, किंतु हुसैनशाह उन जैसे विश्वसनीय और कार्य-कुशल मंत्रियों को पद-मुक्त करने के लिए तैयार नहीं हुआ। फलतः उन्होंने गुप्त रूप से रामकेलि छोड़ने का निश्चय किया। एक दिन अवसर देख कर रूप तो अपने छोटे भाई अनुपम के साथ चुपचाप रामकेलि से चल दिये; किंतु सनातन कुछ बाधाओं के कारण उनके साथ नहीं जा सके थे। बाद में वे भी किसी प्रकार राजकीय बंधन से मुक्त हो कर वहाँ से निकल भागे थे!

वे दोनों भाई चैतन्य जी के दर्शनार्थ नीलाचल की ओर चल पड़े; किंतु मार्ग में उन्हें समाचार मिला कि वे ब्रज-वृंदावन की यात्रा को गये हैं। फलतः वे भी ब्रज की ओर चल दिये। जिस समय चैतन्य देव वृंदावन से वापिस आ रहे थे, तब प्रयाग में रूप से और काशी में सनातन से उनकी भेंट हुई थी। उन दोनों भाइयों ने कुछ काल तक चैतन्य जी की सेवा में रह कर उनके उपदेश और सत्संग का लाभ उठाया था। श्री चैतन्य देव ने उन्हें धर्म शास्त्र, भक्ति शास्त्र, रस तत्व, धर्म तत्व, साध्य-साधन तत्व आदि की भली भाँति शिक्षा दी थी। उसके उपरांत उन्होंने आदेश दिया कि वे ब्रज-वृंदावन में जा कर निवास करें, और वहाँ लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा भक्ति तत्व का प्रचार करें। कृष्णदास कविराज ने श्री चैतन्य देव की उक्त शिक्षा का विशद वर्णन किया है। उनके कथन से ज्ञात होता है, श्री चैतन्य देव ने पहिले रूप को प्रयाग के दशाश्वमेध पर दश दिनों तक और बाद में सनातन को काशी के चंद्रशेखर निवास-स्थल (वर्तमान जतनवर) पर दो माह तक शिक्षा दी थी। उसके उपरांत वे जगन्नाथ पुरी चले गये थे[1]।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला का १६ वाँ परिच्छेद रूप की शिक्षा के लिए तथा २० से २५ तक के परिच्छेद सनातन की शिक्षा के लिए देखिये।
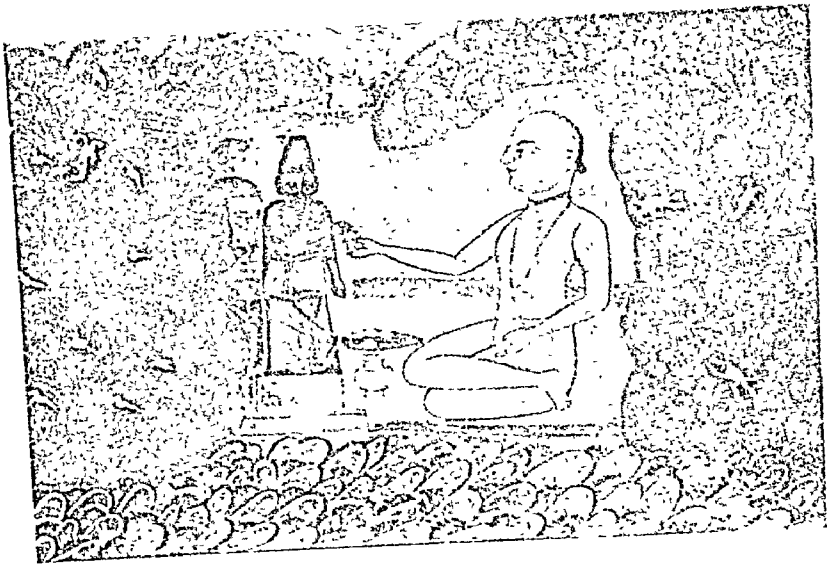
श्री सनातन गोस्वामी और उनके ठाकुर

सर्वश्री सनातन–रूपादि गोस्वामी गण
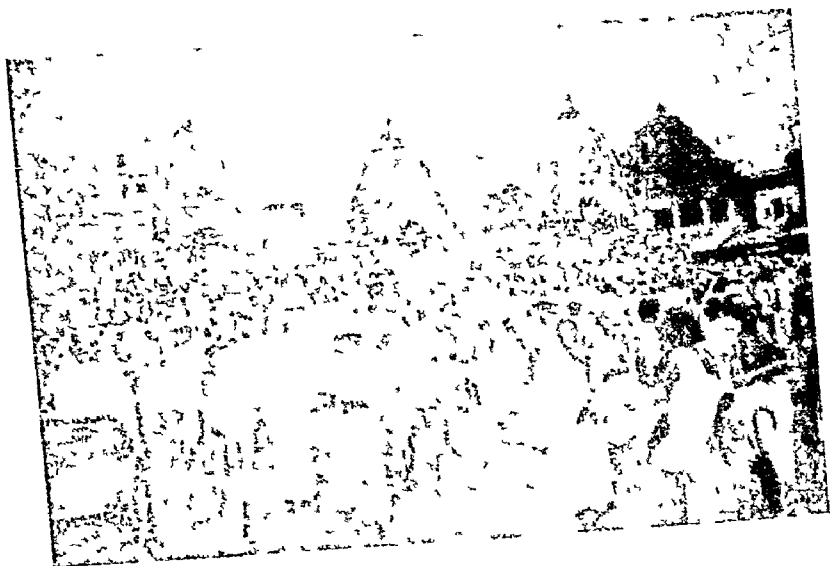
श्री जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा

श्री राधाकुंड के तट पर—
श्री रघुनाथदास गोस्वामी की समाधि

श्री चैतन्य जी के आदेशानुसार सं. १५७३ में रूप और सं. १५७४ में सनातन व्रज में आये थे। उन्होंने कुछ काल तक व्रज में निवास किया; बाद में वे एक बार फिर श्री चैतन्य देव के दर्शनार्थ जगन्नाथ पुरी चले गये। वहाँ से वापिस आने पर उन दोनों ने स्थायी रूप से व्रज में निवास किया था। चैतन्य संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि सं. १५७४ में रूप और सं. १५७६ में सनातन स्थायी रूप से व्रज में आ कर रहे थे। उन्होंने अपने अंतिम काल तक यहाँ निवास कर व्रज के अनेक लीला–स्थलों के अन्वेषण–उद्धार, भक्तिमार्गीय सिद्धांत ग्रंथों की रचना, और कृष्णोपासना के प्रचार का महान् कार्य किया था। व्रज के धार्मिक गौरव और सांस्कृतिक समृद्धि में सर्वाधिक योग देने वाले धर्माचार्यों में सर्वश्री सनातन और रूप गोस्वामियों के स्थान अग्रिम पंक्ति में आते हैं।

उन्होंने राजकीय पद-प्रतिष्ठा और विपुल धन–वैभव का परित्याग कर अत्यंत विरक्त और दीन भाव से व्रज में निवास किया था। नाभा जी ने उनकी अनुपम त्याग-वृत्ति और अपूर्व भक्ति-भावना की बड़ी प्रशंसा की है[1]। कृष्णदास कविराज ने उनके संबंध में बतलाया है,—"वे व्रज के वनों में वृक्षों के तले निवास करते थे और ब्राह्मणों के घरों से माँगी हुई स्वल्प भिक्षा पर जीवन का निर्वाह करते थे। उन्होंने सूखी रोटी और चनों के अतिरिक्त खान-पान और रहन-सहन के सभी भोगों को त्याग दिया था[2]!" वे साधारणतया व्रज के नंदगाँव, गोकुल तथा महावन में, और विशेषतया राधाकुंड एवं वृंदावन में रहे थे। उक्त स्थानों में उनकी भजन-कुटियों के अवशेष विद्यमान हैं।

सनातन गोस्वामी ने सं. १५९० में ठाकुर श्री मदनमोहन जी की और रूप गोस्वामी ने सं. १५९२ में ठाकुर श्री गोविंददेव जी की सेवाएँ प्रचलित की थीं। कालांतर में उनके मंदिर वृंदावन में बनाये गये थे। मुलतान के एक धनी व्यापारी रामदास कपूर ने कालिय दह के निकटवर्ती द्वादशादित्य टीला पर मदनमोहन जी का मंदिर बनवाया था, तथा राजा मानसिंह ने गोपीनाथ बाज़ार के निकट गोमा टीला पर श्री गोविंददेव जी के विशाल और कलापूर्ण मंदिर का निर्माण कराया था। उन प्राचीन मंदिरों को औरंगजेब के शासन काल में नष्ट–भ्रष्ट किया गया था। उनकी देव-मूर्तियों को भक्त जन गुप्त रूप से वृंदावन से हटा कर हिंदू राजाओं के राज्यों में ले गये थे, जो अभी तक वहाँ पर ही विराजमान हैं। कालांतर में वृंदावन के प्राचीन मंदिरों के निकट उनके नये मंदिर बनवाये गये; जिनमें उन देव स्वरूपों की प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं।

वे दोनों गोस्वामी बंधु धर्म-तत्व, भक्ति-तत्व और रस-तत्व के महान् ज्ञाता थे। उन्होंने चैतन्य देव की शिक्षाओं को अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों द्वारा बड़े विशद रूप में प्रस्तुत किया है; इसी-लिए वे चैतन्य संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथ माने जाते हैं। सनातन-रूप की रचनाओं ने व्रज से लेकर बंगाल तक की धार्मिक भावना और भक्ति-साहित्य को बड़ा प्रभावित किया है।

सनातन गोस्वामी के ग्रंथ—१. श्री हरि भक्ति विलास, २. वृहत् भागवतामृत, ३. भागवत दशमस्कंध की वृहत् वैष्णव तोषिणी टीका और ४. दशम चरित् आदि।

रूप गोस्वामी के ग्रंथ—१. विदग्ध माधव नाटक, २. ललित माधव नाटक, ३. हंसदूत, ४. उद्धव संदेश, ५. भक्ति रसामृत सिंधु, ६. उज्ज्वल नीलमणि, ७. लघु भागवतामृत, ८. नाटक चंद्रिका, ९. दान केलि कौमुदी और १०. मथुरा माहात्म्य आदि।

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. ८९

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, १९ वाँ परिच्छेद, पयार सं. ११५–११६

वे दोनों गोस्वामी दीर्घजीवी हुए थे। उनके देहावसान का काल सं. १६१० के कुछ बाद का माना जाता है। ब्रजभूषणदास जी के मतानुसार श्री सनातन गोस्वामी के देहावसान की तिथि सं. १६११ की आषाढ़ शु. १५ है[1]। उसके कुछ काल पश्चात् श्री रूप गोस्वामी का भी देहावसान हो गया था। उनकी समाधियाँ वृंदावन में बनी हुई हैं। सनातन गोस्वामी की समाधि श्री मदन-मोहन जी के नये मंदिर के निकट है, तथा रूप गोस्वामी की समाधि श्री राधा—दामोदर जी के मंदिर में है।

श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण वेंकट भट्ट जी के पुत्र थे। उनका जन्म दक्षिण में कावेरी नदी के तटवर्ती श्रीरंगम् के निकट वेलमंडी ग्राम में सं. १५५७ में हुआ था। जब चैतन्य देव संन्यासी होने के अनंतर सं. १५६८ में दक्षिण-यात्रा के लिए गये थे, तब उन्होंने श्रीरंगम् में चातुर्मास्य किया था। तभी वेंकट भट्ट जी चैतन्य देव के संपर्क में आये थे। यद्यपि भट्ट जी का घराना श्री संप्रदाय का अनुयायी था, तथापि उन पर और उनके बालक पुत्र गोपाल पर चैतन्य जी के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उसके उपरांत वे दोनों पिता—पुत्र उनके परम भक्त हो गये थे।

गोपाल भट्ट तभी से चैतन्य देव के सत्संग में रहने की कामना करने लगे। किंतु जब तक उनके माता-पिता जीवित रहे, तब तक उनकी मनोभिलाषा पूरी नहीं हो सकी थी। सं. १५८८ तक उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। तभी वे विरक्तावस्था में घर से चल दिये और तीर्थ-यात्रा करते हुए सं. १५९० के लगभग वृंदावन पहुँचे। वहाँ से वे श्री चैतन्य देव के दर्शनार्थ जगन्नाथ पुरी जाना चाहते थे। उसी समय वृंदावन में श्री चैतन्य जी के देहावसान का समाचार आया। उसे सुन कर वहाँ के समस्त चैतन्य-भक्त बड़े दुःखी हुए। उनके साथ ही साथ गोपाल भट्ट जी को भी अपार दुःख हुआ; किंतु वे सब धैर्य धारण कर श्री चैतन्य जी की शिक्षाओं को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक सचेष्ट हो गये। गोपाल भट्ट जी गौड़ीय भक्तों के साथ वृंदावन में रहने लगे। उन्होंने सनातन-रूप गोस्वामियों के साथ ब्रज-वृंदावन में चैतन्य संप्रदायी भक्ति-तत्व के प्रचार में विशेष योग दिया था।

गोपाल भट्ट जी परम विरक्त और महान् भक्त होने के साथ ही साथ वैष्णव धर्म-ग्रंथों के प्रकांड विद्वान तथा भक्ति-तत्व के बड़े ज्ञाता थे। उन्होंने सनातन गोस्वामी कृत 'हरि भक्ति विलास' का बृहत् संस्करण प्रस्तुत किया था। जीव गोस्वामी कृत 'षट् संदर्भ' की कारिका भी उनकी रची हुई कही जाती है। उन्होंने सं. १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा से वृंदावन में श्री राधारमण जी की सेवा प्रचलित की थी। बाद में वहाँ उनका मंदिर बनवाया गया, जो वृंदावन में गौड़ीय संप्रदाय का प्रसिद्ध देव-स्थान है। गोपाल भट्ट जी का देहावसान सं. १६४२ की श्रावण कृ. ५ को वृंदावन में हुआ था। उनकी समाधि श्री राधारमण जी के मंदिर के समीप बनी हुई है।

गोपाल भट्ट जी के शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उनमें से एक श्रीनिवास जी गृहस्थ थे। वे प्रसिद्ध विद्वान तथा भक्ति-तत्व के प्रवक्ता थे, और उन्होंने बंगाल में चैतन्य संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। दूसरे गोपीनाथ जी विरक्त थे। वे गोपाल भट्ट जी के सेव्य स्वरूप श्री राधारमण जी की सेवा करते थे। उन्होंने ब्रज में गौड़ीय भक्ति के प्रचार में योग दिया था। गोपीनाथ जी के

---

(१) श्री गौरांग (वर्ष ३, अंक ३)

ब्रज के
धर्म-संप्रदायों का
इतिहास

पश्चात् उनके छोटे भाई दामोदर जी को श्री राधारमण जी की सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ था। दामोदर जी गृहस्थ थे। उनके वंशज ही वृंदावन के 'राधारमणी गोस्वामी' हैं। उनकी वंश-परंपरा और शिष्य-परंपरा में बहुसंख्यक भक्त, धर्माचार्य, विद्वान, कवि और कलाकार हुए हैं; जिन्होंने ब्रज में चैतन्य संप्रदाय के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

४. श्री रघुनाथदास गोस्वामी—वे बंगाल प्रदेशांर्गत सप्तग्राम ताल्लुका के धनाढ्य कायस्थ जिमीदार गोवर्धनदास के एक मात्र पुत्र थे। उनका जन्म सं. १५६० के लगभग हुआ था। जब शांतिपुर में अद्वैताचार्य के निवास-स्थान पर श्री चैतन्य देव का आगमन हुआ था, तब बालक रघुनाथदास को उनके दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ। तभी से उनमें वैराग्य और भक्ति-भावना का उदय हो गया था। वे घर छोड़ कर विरक्त भाव से चैतन्य देव की सेवा में रहना चाहते थे, किंतु उनके वृद्ध माता-पिता अपने एक मात्र पुत्र को इस प्रकार घर से जाने देने को तैयार नहीं थे। उन्होंने रघुनाथदास की इच्छा के विरुद्ध एक अत्यंत सुंदरी कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया; ताकि वे गृहस्थ में आसक्त हो जावें। उसके विपरीत वे उस संकट से बचने के लिए एक दिन चुपचाप घर से चल दिये और श्री चैतन्य देव की सेवा में जगन्नाथ पुरी जा पहुँचे। उस समय उनकी आयु केवल १६ वर्ष की थी।

उनके माता-पिता ने उन्हें घर वापिस ले जाने की बड़ी चेष्टा की, किंतु वे नहीं गये। चैतन्य देव ने उनकी देख-रेख और समुचित शिक्षा के लिए अपने अंतरंग पार्षद स्वरूप दामोदर को नियुक्त किया था। उन्हीं के साथ वे कठोर संयम और अतिशय विरक्ति-भाव से रहा करते थे। उन्होंने भगवद्–भक्ति और श्री जगन्नाथ जी की सेवा–उपासना में अपने जीवन को लगा दिया था।

रघुनाथदास ने १६ वर्ष तक जगन्नाथपुरी में निवास कर श्री चैतन्य देव की अनन्य भाव से सेवा की थी और उनके उपदेशों से लाभ उठाया था। जब श्री चैतन्य देव और स्वरूप दामोदर का देहावसान हो गया, तब वे हा-हाकार करते हुए नीलाचल से ब्रज में आ गये। उन्होंने सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों के सत्संग में रह कर बड़ी कठिन तपस्या की थी। वे वैराग्य, विरह और संयम के मूर्तिमान स्वरूप थे। गौड़ीय भक्तों में वे 'दास गोस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वे ब्रज के गौड़ीय भक्तों को चैतन्य देव की नीलाचल–लीलाओं की वार्ता सुनाया करते थे। उनके प्रोत्साहन और सहयोग से ही कृष्णदास कविराज ने अपनी वृद्धावस्था में भी 'श्री चैतन्य चरितामृत' जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की थी। वे अधिकतर राधाकुंड के मानसपावन घाट पर एक छोटी सी कुटिया में रहा करते थे। उनका देहावसान भी वहाँ पर ही हुआ था। उक्त स्थल पर उनकी समाधि बनी हुई है। वे सं. १५९१ में नीलाचल से ब्रज में आये थे, और उन्होंने प्रायः ४८ वर्षों तक ब्रज-वास किया था। उनका देहावसान सं. १६४० की आश्विन कृ. १२ को हुआ था। उनके रचे हुए ग्रंथ १. स्तवावली, २. मुक्ता–चरित और ३. दान-केलि-चिंतामणि हैं।

५. रघुनाथ भट्ट गोस्वामी—वे चैतन्य देव के अनन्य भक्त तपन मिश्र के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १५६२ में काशी में हुआ था। जब चैतन्य जी नीलाचल से वृंदावन की यात्रा को गये थे, तब वे काशी में तपन मिश्र के घर पर ठहरे थे। उस समय रघुनाथ की आयु १०–११ वर्ष के लगभग थी। तभी उन्हें प्रथम बार चैतन्य जी के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसके उपरांत वे चैतन्य देव के परम भक्त हो गये थे। उन्होंने अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की थी; फिर भी वे प्रचुर ज्ञानार्जन करने में सफल हुए थे।

अपनी युवावस्था में वे जगन्नाथपुरी गये थे, जहाँ नीलाचल में उन्हें श्री चैतन्य जी के सत्संग का पुनः सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनका मन वहाँ पर इतना रम गया कि वे स्थायी रूप से नीलाचल में रहना चाहते थे; किंतु चैतन्य देव ने उनको वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए काशी वापिस भेज दिया था। वे घर पर आकर माता-पिता की सेवा के साथ ही साथ भक्ति-ग्रंथों का गंभीर अध्ययन-मनन भी करने लगे। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया था।

जब उनके माता-पिता का काशी में देहांत हो गया, तब वे चैतन्य देव की सेवा के लिए जगन्नाथ पुरी चले गये थे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने चैतन्य जी के सान्निध्य में भक्ति-तत्व और साध्य-साधन तत्व का भली भाँति ज्ञान प्राप्त किया था। उस काल में गदाधर पंडित श्री चैतन्य देव को भागवत की कथा सुनाया करते थे। गदाधर जी के सत्संग में रहने से रघुनाथ भट्ट भी भागवत के मार्मिक प्रवक्ता हो गये थे। उनका कंठ बड़ा मधुर था और वे संगीत कला के भी अच्छे ज्ञाता थे, अतः उनके द्वारा भागवत की सस्वर कथा अत्यंत सरस और प्रभावोत्पादक होती थी।

चैतन्य देव ने रघुनाथ भट्ट को आदेश दिया कि वे वृंदावन जाकर वहाँ के गौड़ीय भक्तों को भागवत की कथा सुनाया करें। उनके आदेशानुसार रघुनाथ भट्ट सं. १५८७ में वृंदावन आ गये, और श्री सनातन-रूप गोस्वामियों के सत्संग में रहने लगे। वे अपनी सरस कथा द्वारा वृंदावन के भक्त जनों को भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-माधुरी का रसास्वादन कराते थे। वृंदावन में श्री गोविंद-देव जी के समक्ष प्रति दिन सायंकाल को उनकी कथा होती थी, जिसे गौड़ीय भक्त जनों के अतिरिक्त सैकड़ों धर्मप्राण ब्रजवासी भी बड़ी श्रद्धा पूर्वक सुनते थे।

रघुनाथ भट्ट के शिष्यों में गौड़ प्रदेशीय भक्त जन अधिक थे। उनका देहावसान सं. १६१० के कुछ काल उपरांत सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों के प्रायः साथ ही साथ हुआ था। उनकी समाधि वृंदावन में श्री रंगजी के मंदिर के निकटवर्ती उस स्थान पर बनी हुई है, जिसे 'चौंसठ महंतों का समाधि-स्थल' कहा जाता है।

६. श्री जीव गोस्वामी—वे सर्वश्री सनातन-रूप के छोटे भाई अनुपम उपनाम वल्लभ के एक मात्र पुत्र और वृंदावन के षट् गोस्वामियों में अन्यतम थे। उनका जन्म १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गौड़ प्रदेश की राजधानी रामकेलि में हुआ था। श्री ब्रजभूषणदास के मतानुसार उनका जन्म-संवत् १५६८ है[1]। जब जीव अबोधावस्था के बालक थे; तभी उनके पिता का देहांत हो गया था और उनके दोनों ताऊ सनातन-रूप जी रामकेलि से वृंदावन चले गये थे। इस प्रकार बचपन में ही अनाथ हो जाने से उनकी देख-भाल और शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था नहीं हो सकी थी। फिर भी पूर्व संस्कार एवं जन्मजात प्रतिभा से उन्होंने थोड़े ही समय में पर्याप्त शिक्षा और विविध शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली थी।

जीव के सन्मुख आरंभ से ही उनके सुविख्यात पितृव्य सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों के अपूर्व वैराग्य और भक्तिपूर्ण जीवन का आदर्श रहा था। उससे प्रेरित होकर वे भी युवावस्था में ही विरक्त हो गये थे। सं. १५६० के पश्चात् तो उनका घर में रहना असंभव हो गया; फलतः वैराग्य और भक्ति का जीवन व्यतीत करने के लिए वे रामकेलि छोड़ कर चल दिये। उस समय तक

(१) श्री गौरांग, (वर्ष २, संख्या २)

श्री चैतन्य देव का देहावसान हो चुका था; किंतु जीव का हृदय उनकी भक्ति से ओत-प्रोत था। इसलिए चैतन्य जी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम उनके जन्म-स्थान नवद्वीप की यात्रा की। वहाँ पर श्रीवास के घर पर उन्हें नित्यानंद जी के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। चैतन्य देव के देहावसान के अनंतर वंगीय भक्तों के नेतृत्व और मार्ग-प्रदर्शन का संपूर्ण दायित्व नित्यानंद जी पर ही था। उन्होंने जीव को परामर्श दिया कि वे अपने विद्वान पितृव्यों के साथ वृंदावन में रह कर उनके मार्ग का अनुसरण करें। नित्यानंद जी के आदेशानुसार जीव ब्रज की ओर चल दिये। वे मार्ग में कुछ काल के लिए काशी में ठहर गये थे। वहाँ पर उन्होंने गौड़ीय विद्वानों से वेदांतादि विविध शास्त्रों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। उसके उपरांत वे वृंदावन चले गये।

सं. १५९२ के लगभग जीव वृंदावन आ गये थे। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष से भी कम थी। उन्होंने अपने यशस्वी पितृव्य रूप गोस्वामी से दीक्षा ली थी, और उन्हीं के सत्संग में रह कर वे श्रीमद् भागवतादि वैष्णव भक्ति-ग्रंथों का विशेष रूप से अध्ययन करने लगे। सं. १५९९ में उन्होंने श्री राधा-दामोदर जी की सेवा प्रचलित की। वे जीवन पर्यन्त अपने इष्ट देव के भजन-पूजन और वैष्णव सिद्धांत ग्रंथों की रचना में प्रवृत्त रहे थे। उन्होंने आजन्म ब्रह्मचारी रह कर निष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत किया था। वे अपने विख्यात पितृव्यों के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। नाभा जी ने उनके विषय में कहा है,—"रूप-सनातन का समस्त भक्ति-जल जीव गोस्वामी रूपी गहरे सरोवर में एकत्र हुआ था[1]।" उनके महत्व की इससे अच्छी प्रशस्ति और नहीं हो सकती है।

रूप-सनातन गोस्वामियों के देहावसान के अनंतर जीव गोस्वामी ही गौड़ीय विद्वानों में अग्रणी थे। वे दीर्घ काल तक जीवित रह कर ब्रज और वंगाल के गौड़ीय भक्तों का नेतृत्व करते रहे थे। उस काल में जो भक्त जन वंगाल-उड़ीसा से ब्रज में आते थे, वे जीव गोस्वामी का सत्संग कर उनसे पूर्णतया लाभान्वित होते थे।

वृंदावन के चैतन्य संप्रदायी षट् गोस्वामियों में जीव गोस्वामी आयु में सबसे छोटे थे; किंतु भक्ति, वैराग्य और विद्वत्ता में वे किसी से कम नहीं थे। उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण विविध रचनाओं द्वारा चैतन्य संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत को दार्शनिक आधार पर स्थापित किया है। उनके ग्रंथों में स्वतंत्र रचनाओं के अतिरिक्त सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों के ग्रंथों की विद्वतापूर्ण टीकाएँ भी हैं। उनकी अनेक रचनाओं में से १. षट् संदर्भ, २. क्रम संदर्भ, ३. सर्व संवादिनी, ४. दुर्गम संगमनी, ५. लोचन रोचनी, ६. लघु तोषिणी, और ७. गोपाल चम्पू आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहिले ब्रज में तालपत्र-भोजपत्र पर ग्रंथ लिखे जाते थे। कहते हैं, जीव गोस्वामी ने ही प्रथम वार आगरा से कागज़ मँगा कर उन पर अपने ग्रंथों को लिखवाया था। उनका देहावसान सं. १६५३ की पौष शु. ३ को वृंदावन में हुआ था। उनकी समाधि वृंदावन में श्री राधा-दामोदर जी के मंदिर के दक्षिण पार्श्व में वनी हुई है।

ब्रज में उनके अतिशय वैराग्य और अपूर्व भक्ति-भाव की कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। उनमें से एक अनुश्रुति राजस्थान की सुप्रसिद्ध भक्त-कवयित्री मीरावाई से संवंधित है। ऐसा कहा जाता है, जब मीरावाई जी वृंदावन आई थीं, तव वे जीव गोस्वामी के दर्शनार्थ उनकी कुटिया पर

---

(१) संदेह-ग्रंथि छेदन समर्थ, रस-रास-उपासक परम धीर।
रूप-सनातन-भक्ति-जल, जीव गुसाईं सर गंभीर॥ (भक्तमाल, छप्पय सं. ९३)

भी गई थी। जीव गोस्वामी का नियम था कि वे किसी स्त्री से नहीं मिलते थे, जिसका ज्ञान मीरा-बाई को नहीं था। अपने नियमानुसार जीव गोस्वामी ने मीराबाई से मिलने का निषेध कर दिया; किंतु वह महिमामती भक्त महिला कोई सामान्य स्त्री तो थी नहीं। उसने जीव गोस्वामी से कहला भेजा, मैं तो अब तक यही समझती थी कि वृंदावन में पुरुष केवल श्रीकृष्ण हैं; किंतु आज मालूम हुआ कि यहाँ कोई दूसरा पुरुष भी है! उक्त मार्मिक व्यंगोक्ति से विह्वल होकर गोस्वामी जी अपनी कुटी से बाहर निकल आये। उन्होंने अपने दर्शन से मीराबाई को अनुगृहीत किया, और स्वयं भी उनसे मिल कर कृतार्थ हो गये! मीराबाई के वृंदावन-आगमन की स्मृति में वहाँ एक मंदिर भी बनाया गया है। उक्त अनुश्रुति कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता; किंतु उससे जीव गोस्वामी की वैराग्य-वृत्ति और भक्ति-भावना का अच्छा परिचय मिलता है।

श्री कृष्णदास कविराज—उनकी गणना वृंदावन के षट् गोस्वामियों में नहीं होती है; किंतु उनका महत्व उक्त गोस्वामियों से किसी प्रकार कम नहीं है। उनकी सुविख्यात रचना 'श्री चैतन्य चरितामृत' ने उन्हें धार्मिक जगत् में अमर कर दिया है। उनका जन्म बंगाल के वर्धमान जिलांतर्गत झामटपुर गाँव के एक वैश्य कुल में हुआ था। श्री ब्रजभूषणदास जी ने 'श्री गौरांग' (वर्ष २, अंक २) में उनका जन्म-संवत् १५७४ लिखा है; किंतु श्री श्यामदास ने 'चैतन्य चरितामृत' (आदि लीला) की प्रस्तावना में सं. १५८५ बतलाया है। उनके माता-पिता का देहांत उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। उन्होंने संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था, और अपने पूर्व संस्कारों के कारण वे भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित होकर निष्ठावान कृष्ण-भक्त हो गये थे।

वे आरंभ से ही विरक्त स्वभाव के थे, अतः उन्होंने अपना विवाह नहीं किया। जब वे युवा थे, तभी भिक्षुक के वेश में तीर्थ-यात्रा करते हुए ब्रज की ओर चल दिये। वे सं. १५९० के पश्चात् वृंदावन आये थे। वहाँ पर उन्होंने रूप गोस्वामी से वैष्णव भक्ति-ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त की थी। वे गौड़ीय भक्तों के साथ वृंदावन और राधाकुंड में निवास कर भगवद्-भजन और धर्म-चर्चा में सदैव तल्लीन रहते थे।

ग्रंथ-रचना—उनके रचे हुए ग्रंथों में दो अधिक प्रसिद्ध हैं,—१. श्री गोविंद लीलामृत और २. श्री चैतन्य चरितामृत। प्रथम ग्रंथ संस्कृत भाषा में है और दूसरा बंगला भाषा में। प्रथम ग्रंथ में रूप गोस्वामी कृत 'स्मरण मंगल स्तोत्र' के आधार पर श्री राधा-गोविंद की अष्टकालीन दैनंदिनी लीलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। दूसरे ग्रंथ में श्री चैतन्य देव का सर्वांगपूर्ण चरित्र है, जिसे कविराज जी ने बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक लिखा है। यह केवल चरित्र मात्र नहीं है; बल्कि इसमें चैतन्य संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति तत्व का विशद विवेचन भी किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म-ग्रंथों के प्रकांड विद्वान और भक्ति-तत्व के मार्मिक ज्ञाता थे।

'श्री चैतन्य चरितामृत' से पहिले चैतन्य-चरित्र के कई ग्रंथों की रचना हो चुकी थी, जिनमे वृंदावनदास कृत 'चैतन्य भागवत' ग्रंथ की अधिक प्रसिद्धि थी। ब्रज में निवास करने वाले गौड़ीय भक्त जन उक्त ग्रंथ के पाठ द्वारा चैतन्य-चरित्र का रसास्वादन किया करते थे; किंतु उससे उनकी तृप्ति नहीं होती थी। इसलिए श्री गोविंददेव जी के मुख्य पुजारी हरिदास जी सहित अनेक गौड़ीय भक्तों ने कृष्णदास कविराज से प्रार्थना की थी कि वे चैतन्य-चरित्र के सर्वांगपूर्ण काव्य-ग्रंथ की रचना करें।

कविराज जी तब तक वृद्ध हो चुके थे, और वे शरीर से अत्यंत शिथिल थे। फिर भी गौड़ीय भक्तों के स्नेहपूर्ण आग्रह से वे ग्रंथ-रचना में प्रवृत्त हुए थे। उस काल में वे रघुनाथदास गोस्वामी के साथ राधाकुंड में निवास करते थे। वहाँ पर ही 'श्री चैतन्य चरितामृत' ग्रंथ की रचना की गई, और उसमें रघुनाथदास गोस्वामी से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। रघुनाथदास जी ने नीलाचल धाम में निवास करते समय चैतन्य देव जी की अनेक लीलाएँ स्वयं अपनी आँखों से देखी थीं; जिनका प्रामाणिक कथन इस ग्रंथ में किया गया है। कविराज जी ने कई वर्षों तक दिन-रात परिश्रम कर सं. १६३८ में उक्त ग्रंथ को पूरा किया था। उसके कुछ महीनों के पश्चात् सं. १६३६ में उनका देहावसान हो गया[1]। उनकी समाधि वृंदावन में श्री राधा-दामोदर जी के मंदिर में बनी हुई है।

श्री नारायण भट्ट—व्रज की धार्मिक भावना के साथ ही साथ उसकी विविध क्षेत्रों में गौरव-वृद्धि करने का श्रेय जिन महात्माओं को है, उनमें नारायण भट्ट जी का महत्व किसी से कम नहीं है। उनका जन्म सं. १५८८ की वैशाख शु. १४ (नृसिंह चौदस) को दक्षिण के मदुरा नगर में हुआ था। वे भृगुवंशी दक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनके पिता जी का नाम भास्कर भट्ट था और माता का नाम यशोमती था। उनका घराना माध्व संप्रदायानुयायी कृष्णोपासक वैष्णव था। उनकी आरंभिक शिक्षा दक्षिण में हुई थी। वे इतने प्रतिभाशाली थे कि उन्होंने अल्पायु में ही यथेष्ट ज्ञानोपार्जन कर लिया था। वे अपनी बाल्यावस्था में ही कृष्ण-भक्त और व्रज-वृंदावन के अनुरागी हो गये थे। कहते हैं, उन्होंने १२ वर्ष की अल्पायु में ही अपने प्रथम ग्रंथ 'व्रज प्रदीपिका' की रचना दक्षिण में की थी। उसके उपरांत वे व्रज में निवास करने के लिए घर से चल दिये थे।

वे ढाई वर्ष तक अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए सं. १६०२ में व्रज से आये थे। उस काल में वृंदावन, राधाकुंड आदि व्रज के धार्मिक स्थलों में अनेक गौड़ीय भक्तों का निवास था। वे भक्त जन चैतन्य देव की प्रेरणा से भक्ति-ग्रंथों की रचना, कृष्णोपासना और हरि-कीर्तन का प्रचार तथा व्रज के लुप्त तीर्थों के उद्धार का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। वे सभी कार्य कालांतर में नारायण भट्ट जी द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुए थे।

श्री चैतन्य देव के प्रिय पार्षद गदाधर पंडित गोस्वामी के शिष्य कृष्णदास ब्रह्मचारी थे। प्रियादास जी ने लिखा है कि कृष्णदास ब्रह्मचारी सनातन गोस्वामी के आदेशानुसार उनके उपास्य श्री मदनमोहन जी की सेवा करते थे। उन्होंने नारायण भट्ट जी को दीक्षा देकर शिष्य किया था[2]। वे राधाकुंड के गौड़ीय भक्तों के साथ निवास करने लगे। उनका व्रजागमन इस पुण्य भूमि के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ था। उन्होंने जीवन पर्यन्त विविध भाँति से व्रज की गौरव-वृद्धि का यत्न किया और उसमें यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी।

व्रज के लिए देन—नारायण भट्ट जी की व्रज संबंधी देन का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—(१) श्रीमद् भागवत और वाराह पुराणादि में श्रीकृष्ण-लीला के जिन स्थलों का उल्लेख मिलता है, उन्हें काल के प्रवाह से लोग भूल गये थे। भट्ट जी ने अनुसंधान पूर्वक उन्हें पुनः प्रकट किया था। उनके उस महत्वपूर्ण कार्य का उल्लेख नाभाजी ने 'भक्तमाल' में इस प्रकार किया है,—
'गोप्य स्थल मथुरामंडल, जिते वाराह बखाने। ते किये नारायण प्रगट, प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने[3] ॥'

---

(१) श्री श्यामदास ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' (आदि लीला) की प्रस्तावना में उक्त ग्रंथ का समापन-दिवस सं. १६७२ की ज्येष्ठ कृ. ५ रविवार बतलाया है।

(२) भक्तमाल-टीका, कवित्त सं. ३८१ (३) भक्तमाल, छप्पय सं. ८७

(२) ब्रज के वन, उपवन, तीर्थ और देवी-देवताओं की महिमा तथा भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति के प्रचारार्थ उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी।

(३) ब्रज के आध्यात्मिक और भौतिक रूप के प्रदर्शन के लिए तथा वहाँ के वन-वैभव का आनंद प्रदान करने के लिए उन्होंने 'ब्रज-यात्रा' और 'वन-यात्रा' का प्रचार किया था। उसके कारण प्रति वर्ष देश के सहस्रों नर-नारियों को ब्रज के समग्र रूप के दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ।

(४) भावुक भक्तों को राधा-कृष्ण की सरस लीलाओं का रसास्वादन कराने के लिए उन्होंने 'लीलानुकरण' के रूप में 'रास' का प्रचार किया और ब्रज के अनेक स्थानों में रास-मंडलों का निर्माण कराया था। उससे ब्रज के गायन, वादन, नृत्य और नाट्यादि प्राचीन कलाओं का पुनरुद्धार हुआ। इस संबंध में भक्तवर प्रियादास जी ने लिखा है,—

भट्ट श्री नारायण जू, भये ब्रज-परायन, जाँय जहाँ गायें, तहाँ ब्रज करि ध्याये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकाश किये, जिये यों रसिक जन, कोटि सुख पाये हैं[1] ॥

रास लीला के प्रचार में नारायण भट्ट जी को अपने एक स्नेही कलाकार ब्रजवल्लभ जी से वड़ी सहायता मिली थी। नाभा जी ने ब्रजवल्लभ जी की नृत्य-गान विषयक निपुणता की प्रशंसा करते हुए बतलाया है कि उनकी कला से रास में मानों रस की वर्षा होने लगती थी। उनका यश समस्त ब्रज में व्याप्त था और उन्होंने नारायण भट्ट जी को भी अपने प्रेम के वशीभूत कर लिया था[2]।

नारायण भट्ट जी ने ब्रज में आने पर पहिले प्रायः १२ वर्ष तक राधाकुंड नामक तीर्थ स्थल में निवास किया था। उसके उपरांत वे ब्रज के ऊँचेगाँव नामक स्थान में चले गये थे। वहाँ उन्होंने गृहस्थ जीवन आरंभ किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम दामोदर भट्ट था, जिनका जन्म सं. १६१५ में हुआ था। नारायण भट्ट जी ने ऊँचेगाँव में बलदेव जी और बरसाने में लाड़िलीलाल जी की सेवा प्रचलित की थी, जो अभी तक उनके उत्तराधिकारियों और शिष्यों के अधिकार में है। उनके शिष्यों में नारायणदास श्रोत्रिय मुख्य थे। उनके वंशज बरसाने के गोस्वामी हैं, जिनको लाड़िली जी के मंदिर की सेवा का अधिकार प्राप्त है।

ग्रंथ-रचना—नारायण भट्ट जी के अनेक महत्वपूर्ण कार्यों में उनकी ग्रंथ-रचना का स्थान भी उल्लेखनीय है। उनका जीवन-वृत्तांत 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' नामक काव्य ग्रंथ में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि उन्होंने ६० ग्रंथों की रचना की थी। उनके प्रमुख ग्रंथों के नाम १. ब्रज भक्ति विलास, २. भक्ति रस तरंगिणी, ३. रसिकाह्लादिनी, ४. ब्रजोत्सव चंद्रिका, ५. ब्रजोत्सवाह्लादिनी, ६. भक्त भूषण संदर्भ, ७. बृहत् ब्रज गुणोत्सव, ८. भक्ति विवेक आदि हैं। ये समस्त ग्रंथ ब्रज के गौरव और उनकी भक्ति-भावना से संबंधित हैं। ब्रज के भक्ति-साहित्य में सर्वश्री सनातन, रूप, जीव और कृष्णदास कविराज के ग्रंथों के पश्चात् नारायण भट्ट के ग्रंथों के का प्रमुख स्थान है।

नारायण भट्ट जी का उत्तर जीवन ब्रज के ऊँचेगाँव में बीता था। उनका देहावसान १७ वीं शताब्दी के अंत में भाद्रपद शुक्ला १२ (वामन द्वादशी) को ऊँचेगाँव में ही हुआ था; उनकी समाधि भी बनी हुई है। इस समाधि पर प्रति वर्ष चैत्र कृष्णा ५ को बरसाना के द्वारा 'समाज' का आयोजन किया जाता है। उस अवसर पर ब्रज के संगीतज्ञ अपने गायन को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

[1] टीका, कवित्त सं. ३५६
[2] छप्पय सं. ८८

चैतन्य संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति-तत्त्व —

वैष्णव धर्म के प्रायः सभी भक्ति-संप्रदाय किसी न किसी दार्शनिक सिद्धांत को लेकर चले हैं। इसीलिए उनके प्रवर्त्तकों और प्रमुख प्रचारकों ने अपने-अपने मतों के समर्थन में सिद्धांत ग्रंथों की रचना की है और उन्हें ब्रह्मसूत्र-गीता आदि के भाष्यों द्वारा संपुष्ट किया हैं। किंतु चैतन्य संप्रदाय किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत की अपेक्षा भक्ति तत्त्व का आग्रह लेकर चला था। श्री चैतन्य देव कृष्णोपासक और परम भक्त महानुभाव थे। उनका उद्देश्य कृष्णोपासना और भक्ति तत्व का प्रचार करना था; जिसकी संपुष्टि के लिए उन्होंने किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत के आश्रय की आवश्यकता नहीं समझी थी। यही कारण है कि उन्होंने अथवा उनके प्रमुख सहकारी सर्वश्री नित्यानंद और अद्वैताचार्य ने किसी सिद्धांत ग्रंथ की भी रचना नहीं की थी, और न ब्रह्मसूत्रादि पर कोई भाष्य ही रचा था; यद्यपि वे धर्म-तत्व के प्रकांड विद्वान होने से वैसी रचना करने में समर्थ थे। दूसरी बात यह भी थी कि सर्वश्री चैतन्य देव, नित्यानंद और अद्वैताचार्य ने माध्व संप्रदायी धर्माचार्यों से दीक्षा ली थी, और उनका भक्ति मार्ग माध्व संप्रदाय की परंपरा में ही विकसित हुआ था। इसलिए उन्होंने माध्व संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत और श्री मध्वाचार्य कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' को अपने मत के लिए भी मान्य समझा था। फिर चैतन्य देव श्रीमद् भागवत को सर्वोपरि सिद्धांत ग्रंथ मानने के साथ ही साथ उसे ब्रह्मसूत्र का भी प्रकृत भाष्य समझते थे। ऐसी दशा में उनको अथवा उनके प्रमुख सहकारियों में से किसी को भी अन्य सिद्धांत ग्रंथ अथवा भाष्य ग्रंथ की रचना करने की आवश्यकता ज्ञात नहीं हुई थी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री चैतन्य देव ने अपने काल के प्रमुख धार्मिक विद्वान सर्वश्री सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानंद और प्रकाशानंद सरस्वती के साथ तत्त्व-मंथन करते हुए अथवा सर्वश्री सनातन, रूपादि भक्त जनों को समय-समय पर शिक्षात्मक उपदेश देते हुए जो विचार व्यक्त किये थे, उनमें उनके दार्शनिक और भक्ति सिद्धांत के तत्त्व भी सन्निहित थे। उनके उपदेश का जो रूप बना, वह माध्व संप्रदाय के पूर्णतया अनुकूल नहीं था। किंतु चैतन्य जी की वह विचार-धारा चैतन्य-भक्तों के लिए अमृत-धारा के समान निर्मल और समस्त तत्त्वों का सार ज्ञात हुई थी,— "श्री कृष्णचैतन्य-वाणी अमृतेर धार। तेहों ये कहेन वस्तु सेइ तत्त्व सार।" फलतः वही उनके लिए उपादेय और अनुकरणीय थी।

कालांतर में इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि चैतन्य जी की शिक्षाओं के आधार पर उनके द्वारा प्रचारित भक्ति-संप्रदाय के स्वतंत्र ग्रंथ निर्मित किये जावें। उस आवश्यकता की पूर्ति ब्रज में निवास करने वाले गौड़ीय विद्वान भक्त सर्वश्री सनातन, रूप, जीव और कृष्णदास कविराज आदि के ग्रंथों से हुई थी। वही चैतन्य संप्रदाय के स्वत्तंत्र सिद्धांत ग्रंथ माने गये; क्यों कि उनमें चैतन्य जी के भक्ति-तत्त्व का विशद विवेचन होने के साथ ही साथ उनके दार्शनिक सिद्धांत का भी स्पष्टीकरण किया गया था। किंतु वह दार्शनिक सिद्धांत माध्व संप्रदाय के 'द्वैतवाद' से कुछ भिन्न था। उसे 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' कहा गया और उसी को चैतन्य संप्रदाय का स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धांत माना जाने लगा। इस सिद्धांत के प्रतिष्ठाता गौड़ीय गोस्वामियों ने अपने ग्रंथों में माध्व संप्रदाय का कोई विशेष आग्रह नहीं दिखलाया, बल्कि आवश्यकतानुसार उसके विरुद्ध भी अपना मत प्रकट किया। गौड़ीय सिद्धांत में माध्व सिद्धांत से किन बातों में भिन्नता है और किन बातों में अभिन्नता है, इसका उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया जावेगा।

गौड़ीय दार्शनिक सिद्धांत—जैसा पहिले कहा गया है, चैतन्य अर्थात् गौड़ीय संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धांत 'अचिन्त्य भेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धांत का नामकरण और इसकी प्रतिष्ठा जीव गोस्वामी ने श्रीमद् भागवत पर अपने विवेचनात्मक ग्रंथ 'षट् संदर्भ' एवं 'सर्व संवादिनी' में की है और उसका स्पष्टीकरण कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' में किया है। उक्त विद्वानों ने ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वारा उक्त सिद्धांत को संपुष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। किंतु बाद में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' की संपुष्टि ब्रह्मसूत्र भाष्य से भी करने की अनिवार्य आवश्यकता मानी जाने लगी। उसकी पूर्ति ब्रज में निवास करने वाले गौड़ीय विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविंद भाष्य' की रचना द्वारा १८वी शताब्दी के अंत में की थी। इस प्रकार 'गोविंद भाष्य' ब्रह्मसूत्र का गौड़ीय भाष्य है, और उसके द्वारा गौड़ीय दार्शनिक सिद्धांत के रूप में 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' की संपुष्टि एवं उसकी विशद विवेचना हुई है।

जीव गोस्वामी ने गौड़ीय सिद्धांत का सूत्र बतलाते हुए कहा है, परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्व शक्तिमान् हैं और उनकी शक्ति के रूप में जीव-जगत् आदि की स्थिति है। ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का वैसा ही संबंध है, जैसा शक्तिमान् का शक्ति के साथ होता है। शक्तिमान् से शक्ति का अस्तित्व तो पृथक् ज्ञात नहीं होता, किंतु उसका कार्य पृथक् जान पड़ता है। उसके लिए कस्तूरी और उसकी गंध, अथवा अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार जहाँ अस्तित्व की दृष्टि से ब्रह्म का जीव एवं जगत् से 'अभेद' है, वहाँ कार्य की दृष्टि से 'भेद' भी है। यह भेदाभेद संबंध नित्य और सत्य होते हुए भी 'अचिन्त्य' है; अर्थात् मानवीय चिंतन के बाहर है,—इसका निर्णय तर्क अथवा युक्ति आदि से नहीं किया जा सकता है। इसीलिए गौड़ीय गोस्वामियों ने इस सिद्धांत को 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहा है। इस सिद्धांत के मुख्य तत्व इस प्रकार हैं,—

परब्रह्म श्रीकृष्ण—श्री चैतन्य देव ने सनातन गोस्वामी को धर्म-तत्व की शिक्षा देते हुए जो उपदेश दिया था, उसमे ब्रह्म और जीवादि के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया था। उसका उल्लेख करते हुए कृष्णदास कविराज ने कहा है,—श्रीकृष्ण ज्ञान, योग और भक्ति के साधनों द्वारा अपने को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के रूपों में प्रकाशित करते हैं[1]। अर्थात्—श्रीकृष्ण ही परब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि सब-कुछ हैं। उन्हें ज्ञानमार्गीय भक्त ब्रह्म के रूप में, योगमार्गीय परमात्मा के रूप में और भक्तिमार्गीय भगवान् के रूप में प्राप्त करते हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति के रूप में अनंत जीव है, और कृष्ण ही जगत् के कर्त्ता तथा निमित्त कारण हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल से वे स्वयं जगत् में परिणत होने पर भी स्वरूप से अविकृत रहते हैं। वे सर्वतंत्र स्वतत्र, विभुचित्, सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और सच्चिदानंद एवं ज्ञान-विज्ञान स्वरूप हैं।

जीव—स्वरूप से जीव श्रीकृष्ण का नित्य दास है। यह उनकी तटस्था शक्ति है, और उनका उसी प्रकार भेदाभेद प्रकाश है, जिस प्रकार सूर्य की किरण हैं और अग्नि का ताप है[2]। परब्रह्म कृष्ण विभुचित् हैं, तो जीव अणुचित् है। यद्यपि जीव परब्रह्म श्रीकृष्ण की भाँति अनादि है, तथापि अपने स्वरूप को भूलने पर वह मायामोहित और बद्ध होता है। उसके बंधन का कारण श्रीकृष्ण से उसकी विमुखता है। जब कृष्ण-कृपा से जीव के बंधन कट जाते हैं, तब वह मुक्ति प्राप्त

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, २० वाँ परिच्छेद, पयार सं. १३४
(२) वही ,, , ,, , ,, , पयार सं. १०१-१०२

करता है। इस प्रकार मायावद्ध जीवों के अतिरिक्त मायामुक्त जीव भी हैं, जो ब्रह्म के ही समान आनंद प्राप्त करते हैं; किंतु फिर भी उससे पृथक् रहते हैं। अणुचित् होने के कारण वे विभुचित् ब्रह्म से स्वरूप तथा सामर्थ्य में सदैव भिन्न हैं। कृष्ण–भक्ति जीव का नित्य धर्म है। यही उसका परम पुरुषार्थ और उसके प्रयत्न का चरम फल है।

जगत्—परब्रह्म श्रीकृष्ण जगत् के कर्त्ता, धर्त्ता और विधाता हैं। सृष्टि की रचना के समय वे स्वयं जगत् रूप में परिणत होते हैं, अतः जगत् भी उनके समान ही सत् है; किंतु वह उनकी भाँति नित्य नहीं है। परब्रह्म श्रीकृष्ण जगत् के निमित्त कारण भी हैं और उपादान कारण भी। कुछ लोग प्रकृति अर्थात् ब्रह्म की गुणमाया को जगत् का कारण मानते हैं, किंतु गौड़ीय सिद्धांत इसके विरुद्ध है। उसके अनुसार प्रकृति या गुणमाया जड़ है, इसलिए वह जगत् का मुख्य निमित्त कारण नहीं हो सकती। कृष्ण–कृपा से जब उसमें शक्ति का संचार होता है, तब वह जगत् का गौण उपादान कारण उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अग्नि की शक्ति से लोहे में भी जलाने की शक्ति आ जाती है[1]।

प्रकृति—यह नित्य है, और परब्रह्म श्रीकृष्ण की गुणमाया है; तथा उनके आश्रित और वशवर्तिनी है। यह जड़ है, किंतु परब्रह्म से शक्ति प्राप्त कर सृष्टि का गौण उपादान कारण होती है।

काल—यह परिवर्तनशील जड़ तत्व है, और प्रलय–सृष्टि का निमित्त रूप है।

कर्म—यह अनादि, नश्वर एवं जड़ तत्व है, और परब्रह्म श्रीकृष्ण का शक्ति रूप है।

उपर्युक्त प्रमुख तत्वों के अतिरिक्त गौड़ीय सिद्धांत में १. अधिकारी, २. संबंध, ३. विषय और ४. प्रयोजन नामक चार अनुबंधों का भी निर्णय किया गया है। 'गोविंद भाष्य'–रचयिता बलदेव विद्याभूषण ने श्री मध्वाचार्य द्वारा मान्य नौ प्रमेयों को भी स्वीकार किया है, जिनका विस्तृत वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तिका 'प्रमेय रत्नावली' में किया है।

गौड़ीय भक्ति तत्व—चैतन्य संप्रदाय मुख्य रूप से भक्ति–प्रचारक संप्रदाय है। इसमें भक्ति तत्व को प्रमुख और दार्शनिक सिद्धांत को गौण स्थान दिया गया है; इसलिए इस संप्रदाय के स्वरूप–ज्ञान के लिए इसकी भक्ति–पद्धति से भली भाँति परिचित होना आवश्यक है। चूंकि इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारी बंगीय महानुभाव थे, और इसका जन्म एवं आरंभिक प्रचार बंग प्रदेश में हुआ था; अतः इसके भक्ति तत्व पर बंगाल के शाक्त तंत्र और महायानादि बौद्ध संप्रदायों की साधन–प्रणालियों का प्रभाव होना स्वाभाविक था। पर बंगाल से भी अधिक इस पर दक्षिण की भक्ति–भावना का प्रभाव पड़ा है। कारण यह है कि दाक्षिणात्य धर्माचार्य श्री माधवेन्द्र पुरी और उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी की शिक्षाओं के आधार पर श्री चैतन्य देव ने अपनी भक्ति–पद्धति का निर्माण किया था, और उसका विकास भी दक्षिण में उद्भूत माध्व संप्रदाय की परंपरा में ही हुआ था। फिर चैतन्य देव ने अपनी दक्षिण–यात्रा में राय रामानंद के साथ तत्व–मंथन करने और वहाँ से प्राप्त ब्रह्म संहिता एवं कृष्ण–कर्णामृत जैसे भक्तिमार्गीय ग्रंथों का अनुशीलन करने के उपरांत ही इसे वास्तविक रूप प्रदान किया था। इस प्रकार चैतन्य संप्रदाय का गौड़ीय भक्ति तत्व दाक्षिणात्य तथा बंगीय साधन–प्रणालियों के संमिश्रण से बना है, और इस पर पांचरात्रादि वैष्णव आगमों के साथ ही साथ शाक्त एवं बौद्ध तंत्रों का भी प्रभाव पड़ा है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ५वाँ परिच्छेद, पयार सं. ५०–५४

गौड़ीय भक्ति के मुख्य सूत्र और उपकरण—यद्यपि चैतन्य जी ने किसी सिद्धांत ग्रंथ की रचना नहीं की थी, तथापि उनके रचे हुए कतिपय श्लोक और स्तोत्रादि उपलब्ध हैं। उनमें से आठ श्लोक 'शिक्षाष्टक' कहलाते हैं। वे वस्तुतः एक भक्त हृदय के मार्मिक उद्‌गार हैं; जो साधारण जनों के लिए सामान्य और अधिकारी भक्तों के लिए सारगर्भित ज्ञात होते हैं। चैतन्य देव कृत विविध श्लोकों और उनके द्वारा अनेक अवसरो पर अनुगामी जनों को दिये हुए उपदेशों में उनके भक्ति-तत्व के साथ ही साथ दार्शनिक सिद्धांत के सूत्र भी सन्निहित हैं। गौड़ीय विद्वानों ने इनके आधार पर ही चैतन्य संप्रदाय की रूप-रेखा निश्चित की है।

गौड़ीय भक्ति तत्व में भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वोपरि महत्व माना गया है। श्रीकृष्ण की भक्ति, उपासना और आराधना करना ही गौड़ीय भक्तों का परम कर्त्तव्य होता है। चैतन्य संप्रदायी विद्वानों ने श्रीकृष्ण को केन्द्र-विंदु मान कर ही अपने सांप्रदायिक वृत्त का निर्माण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्री चैतन्य देव द्वारा प्रचारित गौड़ीय भक्ति के मुख्य उपकरण इस प्रकार वतलाये है,—"भगवान् श्रीकृष्ण एक मात्र आराध्य हैं और उनका धाम वृंदावन है। उनकी आराधना का आदर्श व्रज-गोपियों की उपासना है। श्रीमद् भागवत प्रमाण ग्रंथ है, और प्रेम ही जीव का परम पुरुषार्थ है,—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्द्धाम वृंदावनं। रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ॥
भागवतं प्रमाणममलं प्रेमां पुमर्थो महान्। श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नाः परः ॥

साधन-भक्ति और उसके अंगोपांग—चैतन्य संप्रदाय के परमाराध्य और परमोपास्य श्रीकृष्ण का प्रेम जिस साधन से प्राप्त होता है, उसे 'साधन-भक्ति' कहते हैं। श्री रूप गोस्वामी ने कहा है'—"साधन-भक्ति उत्तमा भक्ति है और उसका साध्य अथवा लक्ष्य कृष्ण-प्रेम होता है। साधन-भक्ति द्वारा जब नित्यसिद्ध कृष्ण-प्रेम का हृदय में उदय हो जाय, तभी उसकी सफलता अथवा सिद्धि जाननी चाहिए[1]।" कृष्णदास कविराज का कथन है,—"नवधा भक्ति का आचरण इस साधन-भक्ति का 'स्वरूप लक्षण' है, और कृष्ण-प्रेम का प्राकट्य उसका 'तटस्थ लक्षण' है[2]।"

गौड़ीय विद्वानों ने साधन-भक्ति के अनेक अंगोपांगों का विस्तृत कथन किया है। श्री चैतन्य देव ने सनातन जी को शिक्षा देते हुए साधन-भक्ति के चौंसठ अंग वतलाये हैं; और उनमें से भी पाँच अंगों को उन्होंने प्रमुखता प्रदान की है। सर्वश्री रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उन पाँच अंगों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है,—१. सत्संग, २. हरिनाम-कीर्तन, ३. भागवत-श्रवण, ४. मथुरामंडल का वास, और ५. श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्ति की सेवा[3]। उनके मतानुसार यह आवश्यक नहीं है कि साधन-भक्ति के इन सभी अंगों की सबके द्वारा साधना की जावे। साधक गण अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार एक अथवा अनेक अंगों की भी साधना कर सकते है। उन्होंने कहा है, अनेक साधक भक्तों ने एक-एक अंग की सिद्धि द्वारा ही कृष्ण-प्रेम प्राप्त किया है। ऐसे भक्तों का उदाहरण देते हुए रूप गोस्वामी ने वतलाया है,—'राजा परीक्षित ने केवल श्रवण से, श्री शुकदेव जी

(१) भक्ति रसामृत सिंधु, १-२-२
(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, २२वाँ परिच्छेद, पयार सं. ५६
(३) १. भक्ति रसामृत सिंधु, १-२-४३
२. श्री चै. च., मध्य लीला, २२वाँ परिच्छेद, पयार सं. ७४-७५

ने कीर्तन से, प्रह्लाद जी ने स्मरण से, श्री लक्ष्मी जी ने पाद–सेवन से, राजा पृथु ने पूजन से, अक्रूर जी ने वंदना से, श्री हनुमान जी ने दास्य से, अर्जुन जी ने सख्य से और राजा वलि ने आत्म–निवेदन से ही भगवान् को प्राप्त किया था[1]।'

हरि–संकीर्तन—यद्यपि भक्ति के सभी अंग समान रूप से उपादेय हैं; तथापि गौड़ीय संप्रदाय में हरि–संकीर्तन को विशेष महत्व दिया गया है। श्री जीव गोस्वामी ने 'क्रम संदर्भ' में कीर्तन की परिभाषा करते हुए कहा है,—'नामकीर्त्तनंचेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्'—भगवान् के नाम–रूप का उच्च स्वर से गायन करना 'कीर्तन' कहलाता है। गौड़ीय भक्तों ने कीर्तन की बड़ी महिमा बतलाई है। कृष्णदास कविराज ने सब प्रकार के भजनों में तो नवधा भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया है, और उसमें भी कीर्तन को सर्वश्रेष्ठ माना है,—'भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति। तार मध्ये सर्व-श्रेष्ठ नाम–संकीर्तन ॥' श्री चैतन्य देव को कीर्तन अत्यंत प्रिय था। उन्होंने अपने शिक्षाष्टक' में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण–संकीर्तन का ही गुण-गान किया है,—'सर्वात्मिस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण–संकीर्तनम्'। वे जीवन पर्यंत हरि–कीर्तन में सर्वाधिक रुचि लेते रहे और उसका व्यापक रूप में प्रचार करते रहे थे। इसलिए उन्हें कीर्तन का प्रवर्त्तक या पिता कहा जाता है। लोक में हरि-भक्ति के प्रचार का सबसे सुगम साधन कीर्तन ही माना गया है, और इसे लोकप्रिय बनाने में चैतन्य संप्रदाय का सर्वाधिक योग रहा है।

अष्टकालीन लीलाओं का स्मरण और ध्यान—चैतन्य संप्रदाय में कीर्तन के पश्चात् स्मरण और ध्यान को अधिक महत्व दिया गया है। इससे भक्तों के चित्त में एकाग्रता और भक्ति–भाव में दृढता होती है तथा उन्हें अलौकिक आनंद का अनुभव होता है। श्री रूप गोस्वामी ने गौड़ीय भक्तों की सुविधा के लिए पद्मपुराणोक्त पाताल खंड, वृंदावन माहात्म्य के १४वें अध्याय के आधार पर अपने 'स्मरण मंगल' स्तोत्र की रचना की है। इसमें श्रीकृष्ण की दैनिक लीलाओं की एक छोटी सी रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है; जो भक्त जनों में बड़ी लोकप्रिय हुई है। चैतन्य संप्रदाय के कई प्रमुख कवियों ने 'स्मरण मंगल' के भाष्य रूप में विविध ग्रंथों की रचना की है; जिनमें कवि कर्णपूर कृत 'श्रीकृष्णाह्निक कौमुदी', कृष्णदास कविराज कृत 'गोविंद लीलामृत', विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'श्रीकृष्ण भावनामृत' और सिद्ध बाबा कृष्णदास द्वारा संपादित 'भावना सार संग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें अंतिम ग्रंथ तीन हजार श्लोकों का एक वृहत् संकलन है। ये सभी ग्रंथ गौड़ीय भक्तों को बड़े प्रिय रहे हैं।

भक्ति के दो प्रकार—साधन–भक्ति दो प्रकार की मानी गई है,—१. वैधी भक्ति और २. राग भक्ति। श्रीकृष्ण के प्रति बलवती तृष्णा के उत्पन्न हुए बिना केवल शास्त्रों की आज्ञा-पूर्ति के लिए ही उनका भजन करना 'वैधी भक्ति' कहलाती है; और श्रीकृष्ण में बलवती तृष्णा द्वारा उनसे अहेतुक अर्थात् निष्काम प्रेम करने को 'राग भक्ति' कहते है। कृष्णदास कविराज ने कहा है, वैधी भक्ति करने वाले भक्त जन सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सालोक्य मुक्ति प्राप्त कर वैकुंठ का सुखोपभोग कर सकते हैं; किंतु उन्हें 'व्रज भाव' अर्थात् प्रेमा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती[2]। व्रज–भाव प्रदायिनी प्रेमा भक्ति 'राग भक्ति' है, जो वैधी भक्ति से श्रेष्ठ है।

---

(१) भक्ति रसामृत सिंधु, १–२–१२९

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, तीसरा परिच्छेद, पयार सं. १३–१६

गौडीय भक्ति सिद्धांत के अनुसार 'राग भक्ति' भी दो प्रकार की होती है,—१. रागात्मिका और २. रागानुगा। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध ब्रजवासी परिकर नंद-यशोदा, गोप-गोपियों आदि के अतिशय कृष्ण-प्रेम को 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। कलि काल में इस प्रकार की भक्ति करना संभव नहीं है, और उसे करने का कलियुगी जीवों को अधिकार भी नही है। इस समय तो भक्त जन श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध पूर्वोक्त ब्रजवासी परिकर के अनुगत होकर 'रागानुगा भक्ति' ही कर सकते हैं। राग भक्ति के चार भाव हैं,—१. दास्य, २. सख्य, ३. वात्सल्य और ४. माधुर्य। ब्रज में इन चारों भावों के नित्यसिद्ध परिकर हुए है। उनमें से साधक को अपने भावानुकूल परिकर के अनुगत होकर श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार से जो रागानुगा भक्ति करता है, उसकी श्रीकृष्ण के चरणारविंद में प्रीति उत्पन्न होती है[1]।

गौड़ीय भक्तों के गुण—गौड़ीय भक्त जनों में अतिशय दीनता, नम्रता, सहिष्णुता और समता आदि गुणों का होना आवश्यक है। उन्हें स्वयं मान-प्राप्ति का इच्छुक न होकर दूसरों को आदर-सन्मान देना चाहिए। श्री चैतन्य देव ने स्वयं कहा है,—भक्त को तृण से भी अधिक तुच्छ और वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर तथा स्वयं मान की इच्छा न रख कर दूसरों को मान देना उचित है[2]।

गौड़ीय भक्तों में ऊँच-नीच और जाति-पाँति का भेद-भाव नही होता है। सभी भक्त जन चाहें वे किसी भी वर्ण, जाति, कुल अथवा धर्म-संप्रदाय के हों, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाश्रित होने के अधिकारी हैं। कृष्णदास कविराज ने कहा है,—'नीच जाति के होने से कृष्ण-भजन के अयोग्य और उच्च कुल के ब्राह्मण होने से ही उसके योग्य नहीं हो जाते। जो कृष्ण-भजन करे, वहीं बड़ा है और जो भक्तिशून्य है, वही नीच है। कृष्ण-भजन में जाति और कुल का विचार नही है। भगवान् जितनी दया दीनों पर करते हैं, उतनी कुलीन-पंडित-धनी लोगों पर नही, क्यों कि उन्हे अपने कुल-पांडित्य-धन का बड़ा अभिमान होता है[3]।'

श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारी नित्यानंद जी ने उच्च वर्ण के हिंदुओं के साथ ही साथ निम्न वर्णों के व्यक्तियों, अन्त्यजों और मुसलमानों को भी कृष्ण-भक्ति की शिक्षा दी थी। चैतन्य जी के प्रभाव से श्री जगन्नाथ पुरी में अब तक ऊँच-नीच और जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं है। वहाँ पर सभी जातियों के व्यक्ति एक पंक्ति में बैठ कर श्री जगन्नाथ जी का प्रसाद ग्रहण करते हैं।

संभोग और विप्रलंभ—साहित्य जगत् में जिसे श्रृंगार रस कहते है, वही आलंबन के भेद से भक्ति जगत् मे मधुर रस कहा जाता है। फलतः श्रृंगार रस की भाँति मधुर भक्ति रस के भी संभोग और विप्रलंभ नामक दो भेद होते है। भक्त जनों को संभोग की अपेक्षा विप्रलंभ की साधना अधिक आनंददायी ज्ञात होती है। श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख अनुयायी भक्त जन इसीलिए विप्रलंभ रस के साधक रहे हैं।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, बाईसवाँ परिच्छेद, पयार सं. ८४-६३

(२) श्री चैतन्य कृत 'शिक्षाष्टक', श्लोक सं. ३

(३) नीच जाति नहे कृष्ण-भजने अयोग्य। सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
येई भजे सेइ बड़, अभक्त हीन छार। कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि विचार॥
दीनेर अधिक दया करे भगवान्। कुलीन-पंडित-धनीर बड़ अभिमान॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, अन्त्य लीला, परिच्छेद ४

भक्ति रस—गौड़ीय भक्ति सिद्धांत का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष भक्ति तत्त्व को 'रस' के रूप में मान्यता प्रदान करना है। इस चिन्मय रस सिद्धांत के मूल तत्त्व श्री चैतन्य देव की शिक्षाओं में मिलते हैं; किंतु उसे व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री रूप गोस्वामी को है। उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति रस का सर्वप्रथम सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है। जीव गोस्वामी कृत 'पट् संदर्भ' में और कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' में भी भक्ति रस का विशद रूप में प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार सर्वश्री रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी एवं कृष्णदास कविराज को चैतन्य संप्रदाय में मान्य भक्ति रस के प्रतिष्ठाता और व्याख्याता होने का गौरव प्राप्त है।

अपनी प्रिय वस्तु के प्रति सहज आसक्ति को 'रति' कहते है। वैष्णव भक्तों के सर्वाधिक प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण हैं, अतः उनके प्रति भक्तों की आसक्ति 'कृष्ण-रति' कहलाती है, जिसकी परिपूर्णता ही 'भक्ति रस' है। कृष्णदास कविराज का कथन है, श्रवण—कीर्तनादि साधन—भक्ति से कृष्ण—रति का उदय होता है। उक्त रति के प्रगाढ़ होने पर इसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम की वृद्धि होने पर उसे क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव कहा जाता है। जिस प्रकार ईख से रस, रस से गुड़, गुड़ से खांड़, खांड़ से चीनी, चीनी से मिश्री तथा मिश्री से सितोपला की उत्पत्ति है, और जिनमें एक दूसरे से बढ़ कर मधुरिमा होती है; उसी प्रकार कृष्ण—रति दृढ़ हो कर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव में परिणत होती हुई उत्तरोत्तर माधुर्य को प्राप्त होती है। कविराज जी कहते हैं,—'ये प्रेम, स्नेह, भाव, महाभावादि कृष्ण—भक्ति रस के स्थायी भाव हैं। जब उनमें समुचित विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और संचारी भावों का योग होता है, तब वे कृष्ण-भक्ति रस रूप अमृत का आस्वादन कराते हैं[1]।

कृष्ण—भक्ति रस के प्रकार और उनका तारतम्य—भक्तों की रुचि और उनकी निष्ठा के अनुसार कृष्ण—रति के मुख्यतः पाँच भेद हैं, जिनके कारण कृष्ण-भक्ति के भी पाँच प्रमुख प्रकार हैं,— १. शांत रस, २. दास्य रस, ३. सख्य रस, ४. वात्सल्य रस और ५. मधुर रस। भक्ति मार्ग का यह रस-भेद साहित्य-संसार के रस-भेद से भिन्न है। साहित्य-संसार में शृंगार रस निम्न कोटि का, और शांत रस उच्च कोटि का माना गया है; किंतु इसके विपरीत भक्ति मार्ग में शांत रस निम्न श्रेणी का रस है, और शृंगार किंवा मधुर रस सर्वोच्च श्रेणी का है। मधुर रस की श्रेष्ठता के कारण इसे उज्ज्वल रस भी कहा जाता है।

कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत', मध्य लीला के १९वें परिच्छेद में कृष्ण-भक्ति रस के पूर्वोक्त पाँचों भेदों का तारतम्य उनके गुणों के आधार पर बतलाते हुए कहा है,—शांत भक्ति रस में केवल एक गुण कृष्ण-निष्ठा का होता है, जब कि अन्य भक्ति रसों में उत्तरोत्तर अधिक गुण होते हैं। दास्य में शांत भक्ति रस का गुण कृष्ण-निष्ठा तो है ही, उसमें कृष्ण-सेवा गुण की अधिकता है। सख्य रस में कृष्ण-निष्ठा और कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त कृष्ण में असंकोच बुद्धि गुण का आधिक्य है। वात्सल्य भक्ति रस में कृष्ण-निष्ठा, कृष्ण-सेवा और कृष्ण में असंकोच बुद्धि गुणों के अतिरिक्त कृष्ण के प्रति ममताधिक्य गुण की विशेषता है। मधुर भक्ति रस में पूर्वोक्त चारों भक्ति—रसों के समस्त गुणों के अतिरिक्त कृष्ण के सुखार्थ सर्वस्व समर्पण भावना का विशेष गुण होता है। इसलिये इसे सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस माना गया है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, १९वाँ परिच्छेद, पयार सं. १५१—१५३

मधुर भक्ति रस का आस्वादन इंद्रियों का विषय तो है ही नहीं, वह मन और बुद्धि का विषय भी नहीं है। इसीलिए भक्ति ग्रंथों मे इसकी साधना करने वाले भक्तों के लिए अनेक कठिन नियमों के पालन करने का विधान किया गया है। मधुर भक्ति रस के साधक का इंद्रिय, मन और बुद्धि पर पूर्ण रूपेण अधिकार और नियंत्रण होना आवश्यक है। उसे इस लोक के तो क्या परलोक के भी समस्त भोग, यहाँ तक कि मुक्ति के अलौकिक सुखों की कामना भी छोड़नी पड़ती है। तभी वह इस सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस की आराधना करने का अधिकारी हो सकता है।

कृष्णदास कविराज द्वारा कथित और चैतन्य संप्रदाय में मान्य कृष्ण-भक्ति के पूर्वोक्त रस-भेद संबंधी विवेचन का सार निम्न नक्शे से स्पष्ट किया गया है,—

१. शांत भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा।

२. दास्य भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा, २. कृष्ण-सेवा।

३. सख्य भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा, २ कृष्ण-सेवा, ३. कृष्ण में असंकोच बुद्धि।

४. वात्सल्य भक्ति रस—१. कृष्ण-निष्ठा, २. कृष्ण-सेवा, ३. कृष्ण में असंकोच बुद्धि, ४. कृष्ण के प्रति ममताधिक्य।

५. मधुर भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा, २. कृष्ण-सेवा, ३. कृष्ण में असंकोच बुद्धि, ४. कृष्ण के प्रति ममताधिक्य, ५. कृष्ण सुखार्थ सर्वस्व-समर्पण[१]।

मधुर भक्ति रस का 'परकीया' भाव—मधुर रस का आस्वादन दो प्रकार के भावों से किया जाता है,—१. स्वकीया भाव से और परकीया भाव से। ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-संप्रदायों में माधुर्य भक्ति के अंतर्गत प्रायः 'स्वकीया' भाव की मान्यता है; किंतु चैतन्य संप्रदाय के भक्ति रस में 'परकीया' भाव को प्रमुखता दी गई है। इस संप्रदाय का यह परकीया भक्ति-भाव राधा और गोपियों के कृष्ण-प्रेम पर आधारित है। पुराणों से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं में उनकी सतत् संगिनी श्री राधा और गोपियाँ ब्रज के विविध गोपों की पत्नियाँ थी। वे अपने पतियों की उपेक्षा कर श्रीकृष्ण से प्रगाढ़ प्रेम करती थी। उनका वह आचरण श्रुति-स्मृति प्रतिपादित विधि मार्ग के विरुद्ध होने से अनुचित माना जा सकता है। उससे प्रत्येक व्यक्ति को शंका हो सकती है कि अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना के लिए अवतरित भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं उस प्रकार के अधर्माचरण को क्यों प्रोत्साहित किया था? श्रीमद् भागवत का उल्लेख है, जब शुकदेव जी ने रास लीला के प्रसंग में श्रीकृष्ण के साथ ब्रज-बालाओं के स्वच्छंद नृत्य-गान और आलिंगन-चुंबनादि रस-केलि का कथन किया था, तब उसे काम-क्रीड़ा समझ कर राजा परीक्षित ने भी उनसे उसी प्रकार की शंका की थी। उसके समाधान में शुकदेव मुनि ने सीधा सा यह उत्तर दिया था,—'तेजस्वी पुरुषों को अनुचित कार्य करने पर भी दोष नहीं होता है; जैसे अग्नि सब प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों को ग्रहण करने पर भी उनके दोषों से दूषित नहीं होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तो परम तेजस्वी और सर्व सामर्थ्यवान् हैं, अतः वे सब प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त हैं[२]।'

---

(१) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ ९६–९७

(२) श्रीमद् भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ३४

जिस समय भागवत की रचना हुई थी, उस समय मध्य काल की भाँति भक्ति-तत्त्व का समुचित विकास नही हो पाया था। फलतः उस काल में परकीयावाद की मान्यता भी माधुर्य भक्ति-रस के प्रमुख भाव के रूप में नहीं हुई थी। इसलिए शुकदेव मुनि का उपर्युक्त उत्तर उतना समाधान-कारक ज्ञात नही होता है, जितना कि परकीयावाद को धार्मिक धरातल पर स्थापित करने वाले गौड़ीय विद्वानों का तत्संबंधी स्पष्टीकरण है। श्रीकृष्ण की रास लीला में ब्रज-बालाओं के जिस आचरण को राजा परीक्षित ने काम-क्रीड़ा समझा था, उसे गौड़ीय विद्वानों ने प्रेम-भक्ति बतलाया है। कृष्णदास कविराज ने 'काम' और 'प्रेम' में लोहे और सोने का सा अंतर बतलाते हुए कहा है,—"अपनी इंद्रिय-तृप्ति के सुख की इच्छा को 'काम' कहते हैं, और श्रीकृष्ण-प्रीति के सुख की लालसा 'प्रेम' कहलाती है[1]।"

बंगाल का प्रभाव—चैतन्य संप्रदाय का परकीयावाद मूल रूप में बंगाल की उपज है, अतः इस तत्त्व की पृष्ठभूमि को समझने के लिए वहाँ के तत्कालीन धार्मिक वातावरण को ध्यान में रखना आवश्यक है। मध्य काल मे बगाल प्रदेश बौद्ध-शाक्त तंत्रवाद का प्रमुख गढ़ था, और वहाँ की धर्मोपासना में परकीया भक्ति का प्रचार था। बौद्ध धर्म के 'सहज यान' और शाक्त धर्म की तांत्रिक साधना की पृष्ठभूमि पर ही बंगाली वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास हुआ है। श्री चैतन्य जी ने एक ओर बौद्ध-शाक्त तांत्रिक उपासना से प्रभावित बगाली लोक धर्म को वैष्णवता का कलेवर प्रदान कर उसे कृष्ण-भक्ति से अनुप्राणित किया, तो दूसरी ओर उन्होंने सहजिया पंथ के अनुयायी कविवर चडीदास के परकीया प्रेम-मूलक गीतों की स्वीकृति द्वारा उसे अनुरंजित भी किया था। इससे चैतन्य संप्रदाय के भक्ति-तत्त्व में परकीयावाद का समावेश हो गया।

चैतन्य देव से भक्ति-तत्त्व की शिक्षा प्राप्त कर जब गौड़ीय गोस्वामी गण ब्रज-वृंदावन में आये, तब वहाँ के कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में भक्ति के अन्य अंगों के साथ ही साथ माधुर्य भक्ति का भी प्रचार था। किंतु वह माधुर्य भक्ति बंगाल के परकीया भाव से भिन्न स्वकीया भाव-प्रधान थी। ब्रज के वैष्णव संप्रदायों की भावना राधा जी को स्वकीया मानने की है, जब कि चैतन्य संप्रदाय में उन्हें परकीया माना गया है। गौड़ीय गोस्वामी गण यद्यपि परकीयावाद के समर्थक थे; तथापि वे ब्रज की स्वकीया भावना की भी उपेक्षा नहीं कर सके थे। फलतः उनके ग्रंथों में परकीया भक्ति का स्पष्टतया समर्थन नहीं मिलता है।

चैतन्य संप्रदाय के 'राधा तत्त्व' में 'परकीयावाद' का कथन करते हुए हमने गत पृष्ठों में श्री जीव गोस्वामी की उस मनोदशा का उल्लेख किया है, जिसका आभास श्री रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रंथ की उनके द्वारा रचित 'लोचन रोचनी' टीका में मिलता है। वे 'स्वेच्छया-परेच्छया' की दुविधा के कारण निस्संकोच भाव से परकीयावाद का समर्थन नहीं कर सके हैं[2]। राधा जी के परकीयत्व पर आवरण डालने के लिए ही कदाचित रूप गोस्वामी कृत 'ललित माधव' नाटक में और जीव गोस्वामी कृत 'गोपाल चम्पू' में राधा-कृष्ण का विवाह भी कराया गया है। पुराणों में उल्लिखित ब्रज के विविध गोपों के साथ राधा और गोपियों के वैवाहिक संबंध के विषय में

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद, पयार सं. १४०-१४२

(२) १. इस ग्रंथ का विगत पृष्ठ सं. १७६ देखिये।

२. लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ १०१-१०२ देखिये।

में गोस्वामियों का कथन है कि वे विवाह भगवान् श्रीकृष्ण की योग माया की लीला मात्र थे ! श्रीराधा तथा गोपियाँ तो श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओं में निरंतर उनके साथ रही थीं, और उनके माया-विग्रहों अर्थात् कल्पित प्रतिमूर्तियों के साथ ब्रज के विविध गोपों के विवाह योग माया द्वारा कराये गये थे ! इस प्रकार वे विवाह वास्तविक न होकर स्वप्नवत् थे । गोपों के घरों में राधा और गोपियों की उन प्रतिमूर्तियों का ही सदैव निवास रहा था, जब कि वे स्वयं श्रीकृष्ण के साथ निरंतर लीलारत रही थी !

सर्वश्री रूप—जीव गोस्वामियों की अपेक्षा कृष्णदास कविराज ने अधिक स्पष्ट रूप से परकीया भाव का समर्थन किया है । उनका कथन है,—'परकीया भाव में रस का अधिक उल्लास होता है; किंतु वह ब्रज से अन्यत्र संभव नहीं है । यह भाव ब्रज की गोप-वधुओं में निरंतर विद्यमान है, और उनमें भी राधा जी में इसकी परमावधि है[1] ।' कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' गौड़ीय दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति-तत्त्व का सर्वाधिक प्रतिनिधि ग्रंथ है । इसमें जिस परकीया भाव का प्रतिपादन किया गया है, वही चैतन्य संप्रदाय की माधुर्य भक्ति का यथार्थ रूप है ।

कृष्णदास कविराज और जीव गोस्वामी के उत्तर काल में बौद्ध—शाक्त सहजिया पंथों के प्रभाव से बंगाल के चैतन्य संप्रदायी भक्तों में भी सहजिया विचार-धारा की प्रबलता हो गई थी । उस समय चैतन्य संप्रदाय के अंतर्गत सहजिया वैष्णवों ने परकीया भक्ति का ज़ोर—शोर से प्रचार किया था । उसकी गूंज ब्रज में भी हुई थी, जिसके कारण यहाँ भी परकीया भक्ति का प्रचलन बढ़ने लगा था । जीव गोस्वामी के पश्चात् ब्रज के गौड़ीय वैष्णवों के नेता विश्वनाथ चक्रवर्ती थे । उन पर बंगाली वातावरण का विशेष प्रभाव था । उन्होंने अपने ग्रंथों में दृढ़ता पूर्वक परकीया भक्ति का समर्थन किया है । जीव गोस्वामी के परकीया संबंधी विचारों पर अपना मत प्रकट करते हुए उन्होंने उज्ज्वल नीलमणि की स्वरचित टीका 'आनंद चंद्रिका' में लिखा है,—'मैं श्री जीव गोस्वामी के उसी अभिमत को मानता हूँ, जिसे उन्होंने स्वेच्छा पूर्वक व्यक्त किया है; अन्य प्रकार से लिखा हुआ उनका मत मुझे माननीय नहीं है,—अत्र श्री जीव गोस्वामि चरणान्तु यन्मतम् । स्वेच्छाभिमत मतेन्मे माननीयं न चेतरत ॥'

विश्वनाथ चक्रवर्ती के समय में रूप कविराज नामक एक गौड़ीय भक्त ने चैतन्य संप्रदाय के बाह्य धर्माचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी । उसने आंतरिक भक्ति के नाम पर ऐसी कुत्सित साधना प्रचलित करने की चेष्टा की थी, जिससे चैतन्य संप्रदाय की साख कम होने की आशंका हो गई थी । विश्वनाथ चक्रवर्ती ने रूप कविराज को शास्त्रार्थ में परास्त कर उसका बहिष्कार कर दिया । चक्रवर्ती जी के पश्चात् बंगाल के सहजिया वैष्णवों ने परकीया भक्ति को प्रचारित करने के जोश में वृंदावन के गोस्वामियों पर भी आक्षेप करना आरंभ किया था । वे अपने को चैतन्य देव द्वारा प्रचारित राग-मार्ग का वास्तविक अनुयायी मानते थे, और वृंदावन के गौड़ीय गोस्वामियों को विधि-मार्ग के प्रचारक बतलाते थे ! सहजिया वैष्णवों का वह अनर्गल कथन तो चैतन्य संप्रदाय में मान्य नहीं हुआ; किंतु परकीया भक्ति इस संप्रदाय की भक्ति-भावना का प्रमुख अंग बन गई ।

परकीया भाव की महत्ता—गौड़ीय विद्वानों ने माधुर्य भक्ति में परकीया भाव को प्रमुखता देने के साथ ही साथ उसकी महत्ता का भी बड़ा गुण—गान किया है । उन्होंने परकीया भाव की

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद, पयार सं. ४२–४३

तुलना में स्वकीया भाव को अमान्य ठहराते हुए कहा है कि श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं में उनका निरंतर साथ देने वाली सभी व्रजांगनाएँ परकीया थीं; अतः उनके स्वकीया भाव की मान्यता असंगत है। श्रीमद् भागवतादि कृष्ण-लीला के सर्वमान्य ग्रंथों में व्रजांगनाओं का वर्णन परकीया भाव से ही हुआ है और उसका चरमोत्कर्ष रास लीला में दिखलाया गया है। परकीया भक्ति की महत्ता का सबसे कारण यह है कि इसमें आत्मोत्सर्ग और आत्म निवेदन की जैसी सुदृढ़ भावना है, वैसी स्वकीया भाव में संभव नहीं है। परकीया भाव में प्रिय-मिलन की जैसी उत्कट अभिलाषा और नाना विघ्न-बाधाओं को सहन करने की जैसी अदम्य इच्छा होती है, वैसी स्वकीया भाव में कदापि नहीं हो सकती।

साहित्य संसार की लौकिक परकीया नायिका के दुर्लभ प्रिय-मिलन की तुलना भी स्वकीया नायिका के सहज सुलभ समागम से नहीं की जा सकती है। लौकिक परकीया नायिका पारिवारिक भय एवं लोकापवाद की उपेक्षा करती हुई, तथा पग-पग पर विविध विघ्न-बाधाओं को सहती हुई जैसे आत्म निवेदन के भाव से उपपति की कामना करती है; वैसा भाव लौकिक स्वकीया नायिका में भी नहीं होता है। फिर साहित्य संसार के प्राकृत एवं लौकिक परकीया भाव तथा भक्ति मार्ग के अप्राकृत एवं अलौकिक परकीया भाव में धरती और आकाश का सा अंतर है। कामी जनों का परकीया भाव अनुचित रीति से इंद्रिय-तृप्ति और वासना-पूर्ति का एक साधन मात्र है; किंतु भक्तों का अलौकिक परकीया भाव परब्रह्म श्रीकृष्ण का अपनी आह्लादिनी शक्ति रूपी व्रजांगनाओं के साथ दिव्य लीला-विलास है। लौकिक नायक-नायिकाओं के प्राकृत परकीया भाव का सर्वप्रथम कथन 'नाट्य शास्त्र' में भरत मुनि ने किया है। उनके संबंध में श्री चैतन्य देव ने कहा है, हमारा व्रज रस अर्थात् अप्राकृत परकीया भक्ति रस उक्त भरत मुनि के लिए अगम्य है,—'आमार व्रजेर रस सेहो नाहि जाने!'

गौड़ीय विद्वानों ने परकीया भाव के पक्ष में यहाँ तक कहा है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार का प्रमुख कारण परकीया भाव से रसास्वादन करना ही था; अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना तो गौण कारण है! उनका कथन है, परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने दिव्य गोलोक धाम में अपनी स्वरूप शक्तियों के साथ जिस दिव्य केलि-क्रीडा में सतत् रत रहते हैं, वह स्वकीया भाव की है; अतः उसमें चरम सीमा के रसोत्कर्ष का अभाव होता है। उसकी पूर्ति के निमित्त ही परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा-गोपियों के साथ व्रज में प्रकट होते हैं और परकीया भाव से रमण कर परमोत्कृष्ट लीला-रस का आस्वादन करते हैं। इसीलिए कृष्णदास कविराज ने कहा है, परकीया भाव में रस का सर्वाधिक उत्कर्ष है, किंतु उसकी प्राप्ति व्रज के अतिरिक्त अन्यत्र संभव नहीं है,—
'परकीया भावे अति रसेर उल्लास। व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास॥'

माध्व संप्रदाय से अभिन्नता और भिन्नता—चैतन्य संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत और भक्ति-तत्व के पूर्वोक्त विवेचन के उपरांत यह देखना है कि इसका माध्व संप्रदाय से क्या संबंध है। जैसा पहिले लिखा गया है, चैतन्य संप्रदाय का जन्म और विकास तो माध्व संप्रदाय के अंतर्गत हुआ है, किंतु चैतन्य देव तथा उनके अनुगामी भक्तों के तत्त्व-मंथन, चिंतन-मनन और प्रवचनादि के फलस्वरूप इसकी जो प्रगति हुई, उसके कारण इसका दार्शनिक और भक्ति सिद्धांत पूर्णतया माध्व संप्रदाय के अनुकूल नहीं रह सका। इस संप्रदाय के विद्वान गोस्वामियों ने अपने सिद्धांत ग्रंथों की रचना में माध्व संप्रदाय का कोई आग्रह नहीं दिखलाया है, बल्कि आवश्यकतानुसार उसके विरुद्ध भी अपना मत प्रकट किया है।

१८ वीं शती के उत्तर काल में वैष्णव संप्रदायों के धार्मिक विवाद के कारण ऐसी जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि नये वैष्णव मतों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पुराने वैष्णव संप्रदायों में से किसी एक के साथ अपना संबंध जोड़ना आवश्यक हो गया था। उस समय बलदेव विद्याभूषण ने, चैतन्य संप्रदाय की स्वतंत्र सत्ता मानते हुए भी, इसे माध्व संप्रदाय के अंतर्गत रखना स्वीकार किया। बलदेव के बाद जब उस संकटकालीन स्थिति का अंत हो गया, तब इस संप्रदाय के तत्कालीन विद्वानों को इसे पूर्णतया माध्व संप्रदाय के अंतर्गत ही रखने में कोई सार्थकता ज्ञात नहीं हुई। फलतः इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया, और माध्व संप्रदाय से इसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता की स्पष्ट घोषणा की गई। माध्व संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय में किन बातों में अभिन्नता है और किन बातों में भिन्नता, इसका यहाँ संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया जाता है।

अभिन्नता—माध्व संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय दोनों ही ब्रह्म और जीव की भिन्नता में विश्वास रखते हैं। दोनों में ब्रह्म को सगुण, सविशेष और विभु-चेतन्, तथा जीव को अणु-चेतन् और भगवान् का सेवक माना जाता है। दोनों में समान रूप से जीव की मुक्ति भगवान् की कृपा से ही मानी जाती है। दोनों में जगत् को सत्य और ब्रह्म का परिणाम माना जाता है। इस प्रकार दोनों में सैद्धांतिक अभिन्नता है।

भिन्नता—माध्व संप्रदाय जहाँ ब्रह्म और जीव की चिर भिन्नता मानता है, वहाँ चैतन्य संप्रदाय में गुण और गुणी भाव से जीव और ब्रह्म की भिन्नता के साथ अभिन्नता भी स्वीकृत है। इसीलिए माध्व संप्रदाय को पूर्ण 'द्वैतवादी' और चैतन्य संप्रदाय को 'अचिन्त्य भेदाभेदवादी' कहा जाता है। यह दोनों की भिन्नता का प्रमुख भेद हुआ। उसके अतिरिक्त उनकी जिन अन्य बातों में भिन्नता है, वे इस प्रकार हैं—

माध्व संप्रदाय में—	चैतन्य संप्रदाय में—
१. विष्णु सर्वोच्च तत्त्व हैं।	१. कृष्ण सर्वोच्च तत्त्व हैं।
२. भगवान् के सभी पूर्णावतार हैं। उनमें से किसी की भी उपासना की जा सकती है।	२. कृष्ण ही पूर्णावतार हैं। वे स्वयं भगवान् हैं, और दूसरे उनके अंशावतार हैं। कृष्ण ही एक मात्र उपास्य हैं।
३. सकर्मा भक्ति श्रेयष्कर है।	३. शुद्धा भक्ति श्रेयष्कर है।
४. दास्य भक्ति से भगवान् की प्राप्ति होती है।	४. दास्य के अतिरिक्त शांत, सख्य, वात्सल्य और मधुर भक्ति से भी भगवान् की प्राप्ति होती है।
५. ऐश्वर्य-प्रधान भक्ति की विशेषता है।	५. माधुर्य-प्रधान भक्ति की विशेषता है।
६. देवता गण श्रेष्ठ हैं।	६. ब्रज-गोपिका गण श्रेष्ठ हैं।
७. उच्च वर्णों के भक्त जन ही मोक्ष के अधिकारी हैं।	७. उच्च-नीच सभी वर्णों के भक्त जन समान रूप से मोक्ष के अधिकारी हैं।
८. महाभारत सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है।	८. भागवत सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है।

उपर्युक्त विवेचन से चैतन्य और माध्व संप्रदायों के पारस्परिक संबंध पर प्रकाश पड़ता है। उससे स्पष्ट होता है कि जहाँ दोनों की मौलिक बातों में अभिन्नता है, वहाँ कुछ बातों में भिन्नता भी है।

चैतन्य संप्रदाय की स्थापना और उसका प्रचार-प्रसार—

स्थापना और आरंभिक प्रचार—श्री चैतन्य देव ने बंगाल और उड़ीसा की बौद्ध-शाक्त धर्मावलंबी जनता को कृष्णोपासना की ओर बड़े आकर्षक ढंग से प्रेरित अवश्य किया था; किंतु उन्होंने किसी मत अथवा संप्रदाय विशेष की स्थापना करने तथा उसे व्यवस्थित रूप से प्रचारित करने का कोई प्रयास नहीं किया। यह कार्य उनके सहकारियों और अनुयायियों द्वारा बाद में सम्पन्न हुआ था। चैतन्य देव ने कृष्णोपासना और भक्ति-तत्त्व के प्रचारार्थ सर्वश्री नित्यानंद और अद्वैताचार्य को बंगाल में तथा सनातन-रूपादि गोस्वामियों को ब्रजमंडल में नियुक्त किया था। उन्होंने पूर्ण आत्मीयता, उत्कट लगन और अपूर्व उत्साह के साथ चैतन्य जी के आदेश का पालन किया। उनके प्रयत्न से चैतन्य संप्रदाय का व्यवस्थित रूप बना, और उसके विधि-पूर्वक प्रचलन को गति मिली। इस संप्रदाय की स्थापना और इसका प्रचार-प्रसार अन्य धर्म-संप्रदायों की भाँति शास्त्रार्थ, खंडन-मंडन और आंदोलन द्वारा नहीं हुआ; बल्कि इसके अनुयायी भक्तों की सच्चरित्रता, भक्ति-भावना, विद्वत्ता, विनम्रता और त्याग-वृत्ति के कारण हुआ है।

ब्रज-वृंदावन की देन—यद्यपि चैतन्य संप्रदाय का जन्म बंगाल में और इसका आरंभिक प्रचार बंगाल और उड़ीसा में हुआ, तथापि उसका शास्त्रीय रूप ब्रज-वृंदावन में निवास करने वाले गौड़ीय गोस्वामियों द्वारा निर्मित हुआ था। उन गोस्वामियों में सर्वश्री सनातन, रूप, गोपाल भट्ट, जीव और कृष्णदास कविराज की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। रूप गोस्वामी ने श्री चैतन्य देव द्वारा प्रचारित भक्ति-तत्त्व को अपने सारगर्भित ग्रंथ 'श्री भक्ति रसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' द्वारा सुदृढ़ आधार पर स्थापित किया था। सनातन गोस्वामी और गोपाल भट्ट श्री चैतन्य देव के धर्म-तत्त्व के व्यवस्थापक माने जाते हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना 'श्री हरि-भक्ति विलास' इस संप्रदाय का स्मृति ग्रंथ ही है। कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' चैतन्य-चरित्र का सर्वांगपूर्ण ग्रंथ होने के साथ ही साथ चैतन्य संप्रदाय की सर्वमान्य सैद्धान्तिक रचना भी है। इसमें चैतन्य जी के धर्म-तत्व, भक्ति-तत्त्व और रस-तत्व की विशद व्याख्या अनेक वैष्णव ग्रंथों के आधार पर की गई है। जीव गोस्वामी कृत संदर्भ ग्रंथों और भाष्य ग्रंथों में चैतन्य संप्रदाय के दार्शनिक और भक्ति सिद्धांतों का अत्यत विद्वत्तापूर्ण विवेचन हुआ है। जीव गोस्वामी के अतिरिक्त श्री नारायण भट्ट और उनके पश्चात् सर्वश्री विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं बलदेव विद्याभूषण ने अपने पांडित्यपूर्ण ग्रंथों द्वारा ब्रज-वृंदावन की गौड़ीय परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखा था। बलदेव कृत 'गोविंद भाष्य' चैतन्य संप्रदाय का सर्वाधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रंथ माना जाता है।

इस प्रकार ब्रज-वृंदावन में रचा हुआ ग्रंथ-समुच्चय ही चैतन्य संप्रदाय का सर्वमान्य प्रामाणिक साहित्य है। उसका महत्व समस्त गौड़ीय भक्तों को सदा ही स्वीकृत रहा है। चैतन्य संप्रदाय के इतिहास में ब्रज-वृंदावन का यह गौरव इसलिए और भी अधिक उल्लेखनीय है कि अन्य स्थानों में रचा हुआ चैतन्य संप्रदाय का साहित्य उन दिनों तब तक प्रामाणिक नहीं माना जाता था, जब तक उसे ब्रज के विद्वत्समाज से मान्यता प्राप्त नहीं हो जाती थी।

सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों ने ब्रजमंडल में श्री चैतन्य देव के भक्ति-तत्त्व का प्रचार और उसके सैद्धांतिक ग्रंथों की रचना द्वारा चैतन्य संप्रदाय को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। फलतः अपने जीवन काल में वे ब्रजमंडल एवं बंगाल दोनों ही प्रदेशों के चैतन्य संप्रदायी भक्तों का

मार्ग प्रदर्शन और बौद्धिक नेतृत्व करते रहे थे। उस काल में विविध स्थानों के अनेक भक्त जन उनके सत्संग और उपदेश से लाभान्वित होने तथा उनसे शिक्षा–दीक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से उनकी सेवा में उपस्थित होते थे। वे बड़ी आत्मीयता के साथ उन्हें सब प्रकार की शिक्षा तो देते थे; किंतु दीक्षा देने में उनको संकोच होता था। सब तरह से समर्थ तथा महान् होते हुए भी वे अपने को तुच्छ एवं पतित मानते थे, और किसी भी भक्त जन को दीक्षा देने का अपने को अनधिकारी समझते थे! उन्होंने श्री चैतन्य देव की उस शिक्षा को पूर्णतया हृदयंगम किया था कि भक्त जन को अपने लिए तृण से भी अधिक तुच्छ समझना चाहिए, और स्वयं मान की इच्छा न रख कर दूसरो को सन्मानित करना चाहिए। जब कोई भक्त जन उनसे दीक्षा देने को कहता, तो वे उसे अपने साथी अन्य विद्वान भक्तों के पास भेज दिया करते थे।

उस काल में ब्रज के वरिष्ट चैतन्य संप्रदायी विद्वानों में दो भट्ट गोस्वामी थे,—१. गोपाल भट्ट और २. रघुनाथ भट्ट। उनमें गोपाल भट्ट दाक्षिणात्य और रघुनाथ भट्ट गौड़ीय थे। सनातन-रूप गोस्वामियों के आग्रह से वे दोनों ही आगत भक्तों को चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा दिया करते थे। उसके लिए यह व्यवस्था की गई थी कि पछाँह के भक्त जनों को गोपाल भट्ट और पूर्वियों को रघुनाथ भट्ट दीक्षा देंगे[1]। उक्त व्यवस्था के अनुसार बंगाल–उड़ीसा आदि पूर्वी प्रदेशों के भक्त जन प्रायः रघुनाथ भट्ट से तथा ब्रजमंडल सहित सभी पश्चिमी स्थानों के भक्त जन गोपाल भट्ट से चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा लेते थे। इस संप्रदाय में गोपाल भट्ट जी के परिकर में ही ब्रज के अनेक विख्यात विद्वान और ब्रजभाषा के बहुसंख्यक भक्त–कवि हुए हैं।

सनातन–रूप गोस्वामियों के उपरांत उनके सुयोग्य भतीजे जीव गोस्वामी ने चैतन्य संप्रदाय का नेतृत्व सँभाला था। वे प्रकांड विद्वान और परम भक्त होने के साथ ही साथ कुशल संगठनकर्त्ता भी थे। उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता और योग्यता पूर्वक इस संप्रदाय का संचालन किया था। उस समय विविध स्थानों के भक्त जन और भी अधिक संख्या में ब्रज में आने लगे थे। वे मार्ग की कठिनाइयों को प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हुए वहाँ पहुँचते थे। जीव गोस्वामी तथा अन्य वरिष्ट गौड़ीय विद्वानों से भक्ति–ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त कर और उनके उपदेशों से लाभान्वित होकर वे अपने-अपने स्थानों में जा कर चैतन्य संप्रदाय का प्रचार किया करते थे। इस प्रकार इस संप्रदाय के निर्माण और इसके प्रचार–प्रसार में आरंभ से ही ब्रज–वृंदावन की अत्यंत महत्त्वपूर्ण देन रही है।

बंगाल–उड़ीसा के प्रचार में ब्रज का योग—श्री चैतन्य देव ने बंगाल में कृष्णोपासना के प्रचार का उत्तरदायित्व श्री नित्यानंद और अद्वैताचार्य को सोंपा था। वे स्वयं संन्यासी होने के काल से अपने देहावसान काल तक जगन्नाथ पुरी में रहे थे; अतः उनके कारण उड़ीसा में कृष्ण–भक्ति के प्रचार का सूत्रपात हुआ था। अद्वैताचार्य ने प्रायः कुलीन बंगालियों को ही कृष्ण–भक्ति का उपदेश दिया; किंतु नित्यानंद जी ने समाज के सभी वर्गों के लिए कृष्णोपासना का द्वार खोल दिया था। इस प्रकार बंगाल और उड़ीसा में कृष्णोपासना और कृष्ण–भक्ति के प्रचार की व्यापक पृष्ठभूमि निर्मित हो गई थी। नित्यानंद जी के उपरांत उनकी विदुषी पत्नी जाह्नवा देवी जी, पुत्र वीरचंद्र जी, शिष्य द्वादश गोपाल और उनके परिकर ने, तथा अद्वैताचार्य जी के पश्चात् उनकी

---

(१) गोपाल भट्टेर सेवक पश्चिमा मात्र।
गौड़िया आसिले रघुनाथ कृपा–पात्र॥ (अनुरागवल्ली)

प्रथम अध्याय

आदि काल

[प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व सं० ५६६ तक]

उपक्रम—

ब्रज का धार्मिक महत्व—ब्रज अति प्राचीन काल से ही एक सुप्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र रहा है। यहाँ की संस्कृति का मौलिक आधार और इसकी मूल चेतना भी धर्म ही है, अतः यह एक धार्मिक संस्कृति है। ब्रज को यह गौरव प्राप्त है कि यहाँ पर भारत के प्रायः सभी प्रमुख धर्म-संप्रदायों का विकास हुआ था और यहाँ की धार्मिक संस्कृति ने विभिन्न कालों में देश के अधिकांश भागों को प्रभावित किया था। ऐसी स्थिति में ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास में यहाँ के धार्मिक महत्व का प्रमुख रूप से उल्लेख होना स्वाभाविक है।

काल-विभाजन—ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास के इस खंड में ब्रज के उन सभी धर्म-संप्रदायों का क्रमवद्ध विवरण देने की चेष्टा की गई है, जिन्होंने ब्रज संस्कृति को इतना गौरवान्वित किया है। विवेचन की संगति और अध्ययन की सुविधा के लिए इस विवरण को निम्न लिखित कालों में विभाजित किया गया है—

१. आदि काल— प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व सं० ५६६ तक
(वैदिक काल से बुद्धपूर्व काल तक)

२. प्राचीन काल— विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक
(बुद्ध काल से शुंग काल तक)

३. पूर्वमध्य काल— विक्रमपूर्व सं० ४३ से विक्रम-पश्चात् सं० ६०० तक
(शक काल से गुप्त काल तक)

४. मध्य काल— विक्रम सं० ६०० से सं० १२६३ तक
(मौखरी-वर्धन काल से राजपूत काल तक)

५. उत्तरमध्य काल—(१) विक्रम सं० १२६३ से सं० १८८३ तक
(सल्तनत काल से जाट-मरहटा काल तक)

६. ,, ,, —(२) ,, ,, ,,

७. आधुनिक काल— विक्रम सं० १८८३ से सं० २०२३ तक
(अंगरेजी शासन काल से स्वाधीनता काल तक)

प्रथम अध्याय की कालावधि—वर्षों की पूर्वोक्त सीमा में इस प्रथम अध्याय की कालावधि को समेटना संभव नहीं है। इस अवधि का एक सिरा वैदिक धर्म के अज्ञात युग में पहुँच कर लुप्त हो जाता है, तो इसका दूसरा सिरा बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् बुद्ध के जन्म से पहिले के ऐतिहासिक युग में आता है; इसीलिए हमने इसकी अवधि प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व सं० ५६६ तक की मानी है। यह अवधि कई हजार वर्षो की हो सकती है। इस वृहत् काल में प्राचीन ब्रज ने धार्मिक क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, उसका कोई स्पष्ट चित्र उपलब्ध नहीं है। इसीलिए इसका संक्षिप्त विवरण देकर ही संतोष करना पड़ा है।

परंपरा के भक्तों ने बंगाल–उड़ीसा आदि पूर्वी प्रदेशों में चैतन्य संप्रदाय का प्रचार किया था। उनके उस महत्वपूर्ण कार्य में उन गौड़ीय भक्तों का विशेष योग रहा था, जिन्होंने बंगाल–उड़ीसा से ब्रज में जा कर वहाँ के चैतन्य संप्रदायी भक्तों से शिक्षा प्राप्त की थी और फिर अपने–अपने स्थानों में चैतन्य संप्रदाय के प्रचार का आयोजन किया था।

उस काल में बंगाल–उड़ीसा आदि के भक्त जनों में ब्रज के गौड़ीय गोस्वामियों की विद्वत्ता और भक्ति–भावना की बड़ी ख्याति थी। वहाँ के अनेक उत्साही भक्त जन चैतन्य सप्रदाय के सिद्धांत और भक्ति ग्रंथों की विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्रज में आते थे, और यहाँ गौणीय विद्वानों के सत्संग से लाभान्वित होते थे।

१७वीं शताब्दी के मध्य काल में बंगाल–उड़ीसा से जो उत्साही युवक भक्त चैतन्य संप्रदाय का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रज में आये थे; उनमें सर्वश्री श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानंद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उस समय तक सर्वश्री सनातन, रूप और रघुनाथ भट्ट गोस्वामियों का देहावसान हो चुका था। ब्रज के गौड़ीय भक्तों के नेता गोपाल भट्ट जी और जीव गोस्वामी थे। वे तीनों युवक भक्त सर्वश्री लोकनाथ, गोपाल भट्ट, जीव गोस्वामी, रघुनाथदास, कृष्णदास कविराज प्रभृत्ति वरिष्ट गौड़ीय विद्वानों की सेवा में रह कर भक्ति–तत्त्व और धर्म ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त करने लगे। उस काल में जीव गोस्वामी जी श्री सनातन–रूप जी के ग्रंथों की टीका लिख रहे थे। उन तीनों युवक विद्यार्थियों ने उक्त टीका-ग्रंथों की अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं; जिनके कारण चैतन्य संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत का व्यापक प्रचार करने की सुविधा हो गई थी।

सर्वश्री श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानंद सं. १६२० के लगभग ब्रज में आये थे, और सं. १६३६ तक यहाँ रहे थे। उस काल में उन्होंने गोवर्धन, राधाकुंड, वृंदावन जैसे ब्रज के गौड़ीय केन्द्रों में निवास करने वाले वरिष्ठ विद्वानों से चैतन्य संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली थी। अपना अध्ययन समाप्त करने पर जब वे बंगाल–उड़ीसा स्थित अपने घरों को वापिस जाने को प्रस्तुत हुए, तब जीव गोस्वामी ने उन्हें अपने-अपने स्थानों में चैतन्य संप्रदाय के प्रचार करने का आदेश दिया। उसके लिए उन्हें वृंदावन में निर्मित भक्ति ग्रंथों की अनेक प्रतियाँ भी अपने साथ ले जाने को कहा गया। उन तीनों में श्रीनिवास जी सबसे अधिक योग्य थे, अतः उनको उक्त कार्य का विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया था।

सं. १६३९ की अगहन शु. ५ के मुहूर्त्त में उन्हें वृंदावन से विदा होना था। उस दिन श्री गोविंददेव जी के मंदिर में उन्हें विदा करने के लिए एक उत्सव किया गया, जिसमें अनेक भक्त जन एकत्र हुए थे। श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानंद ने सर्वश्री लोकनाथ, गोपाल भट्ट, रघुनाथदास, जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज प्रभृति गुरु जनों से आशीर्वाद प्राप्त किया तथा अपने सहपाठी और इष्ट मित्रों से गले मिल कर वे अपनी यात्रा को चल दिये। श्री जीव गोस्वामी ने उन्हें श्री गोविंददेव जी की प्रसादी मालाएँ अर्पित करते हुए उनकी सफलता के हेतु शुभ कामना की।

उनके साथ धर्म ग्रंथों से भरे हुए कई संदूक थे, जिन्हें बड़ी सावधानी से बैल गाड़ी में रखा गया था। उनकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की गई थी और मार्ग में कोई रोक–टोक न करे, उसके लिए मुगल सम्राट अकबर से अनुमति–पत्र प्राप्त कर लिया गया था। इस प्रकार यथोचित प्रबंध कर लेने पर भी उनकी यात्रा निर्विघ्न पूरी नहीं हो सकी थी। जब वे बंगाल की पश्चिमी

सीमा के विष्णुपुर राज्य में पहुँचे, तब वहाँ के बीहड़ वन स्थित डाकुओं ने उनके संदूकों को खजाना समझ कर लूट लिया था ! दुर्लभ ग्रंथों के लुट जाने से वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने प्रण किया कि जब तक लुटे हुए ग्रंथ प्राप्त नहीं होगे, तब तक वे वहाँ से नहीं हटेंगे। विष्णुपुर के राजकुमार को जब वह समाचार मिला, तो उसने जाँच-पड़ताल कराई। उसके प्रयत्न से सब ग्रंथ प्राप्त हो गये। वह श्रीनिवास जी की विद्वत्ता, विनम्रता और भक्ति-भावना से इतना प्रभावित हुआ कि अपने परिवार और अनुचरों सहित उनका शिष्य हो गया। उसके सहयोग से श्रीनिवास जी ने विष्णुपुर सहित पश्चिमी बंगाल के अनेक स्थानों मे चैतन्य संप्रदाय का प्रचार किया था। नरोत्तमदास और श्यामानंद ने भी अपने-अपने स्थानों में उस प्रकार के प्रचार की सुंदर व्यवस्था की थी। उन तीनो भक्त महानुभावों और उनके परिकर तथा शिष्यों द्वारा बंगाल, उड़ीसा, असम आदि पूर्वी प्रदेशों में चैतन्य संप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था, और उसमें ब्रज के तत्कालीन गौड़ीय विद्वानों की प्रेरणा रही थी; अतः उन तीनों के कुछ विशेष वृत्तांत यहाँ दिये जाते हैं।

श्री श्रीनिवासाचार्य—वे बंगाल के वर्धमान जिलांतर्गत एक ग्राम के ब्राह्मण कुल में सं. १५७६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। उनके पिता गंगाधर भट्टाचार्य उपनाम चैतन्यदास और नाना बलरामाचार्य थे। घर के धार्मिक वातावरण से प्रेरित होकर वे अपनी युवावस्था में ही विरक्त हो गये थे। उनका आकर्षण चैतन्य जी के भक्तिमार्ग की ओर हो गया था; अतः उन्होंने नवद्वीप, शांतिपुर एवं जगन्नाथ पुरी की यात्रा कर चैतन्य-भक्तों का दर्शन और उनका सत्संग किया था। वे विविध तीर्थ स्थानों मे होते हुए सं. १६२० के लगभग ब्रज में आये थे। उन्होंने गोपाल भट्ट गोस्वामी से चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा ली और वे वृंदावन के गौड़ीय भक्तों के सत्संग में रहने लगे। उन्होंने जीव गोस्वामी से वैष्णव सिद्धांत ग्रंथों का भली भाँति अध्ययन किया था, जिससे वे चैतन्य संप्रदाय के विशेषज्ञ विद्वान और मार्मिक प्रवक्ता हो गये थे। जब वे वृंदावन में थे, तभी बंगाल से नरोत्तम दास और उड़ीसा से श्यामानंद भी वहाँ पर गोस्वामियों से वैष्णव धर्म-ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त करने को आये थे। उन तीनों को जीव गोस्वामी ने बंगाल और उड़ीसा प्रदेशों में चैतन्य संप्रदाय तथा वैष्णव धर्म ग्रंथो के प्रचार का कार्य सोंपा था; जिसे उन्होंने बड़ी सफलता पूर्वक पूरा किया था।

श्रीनिवास जी अपनी विद्वत्ता और भक्ति-भावना के कारण आचार्य पदवी से विभूषित किये गये। उनके उपदेश और प्रभाव से बंगाल में चैतन्य संप्रदाय का विशेष प्रचार हुआ था। उन्होंने अपने शिष्यों के साथ उक्त प्रदेश में कृष्ण-भक्ति की धारा प्रवाहित कर दी थी, जिससे वहाँ चैतन्य संप्रदाय के भक्ति-तत्त्व के साथ ही साथ हरि-संकीर्तन के प्रचार में भी बड़ा योग मिला था। इसीलिए उन्हें श्री चैतन्य देव जी का अवतार माना जाता है। श्रीनिवास जी के कई सतान थीं और अनेक शिष्य थे। उनकी पुत्री हेमलता एक विदुषी महिला थी तथा उनके शिष्यों में गोविंददास कविराज सुप्रसिद्ध पद-रचयिता थे। उन सब ने श्रीनिवास जी के कार्य को प्रगति प्रदान की थी। श्रीनिवास जी का देहांत स. १६६४ में हुआ था।

श्री नरोत्तमदास ठाकुर—वे बंगाल के खेतुरी राज्य के राजकुमार थे। उनका जन्म सं. १५८० की माघ पूर्णिमा को हुआ था। वे आरंभ से ही भक्ति-मार्ग की ओर आकर्षित थे, अतः वे छोटी आयु में ही विरक्त हो गये और अपने राज्याधिकार, घर-बार एवं कुटुंब-परिवार को छोड़ कर वृंदावन आ गये थे। वहाँ पर उन्होने लोकनाथ गोस्वामी से दीक्षा लेने की चेष्टा की। लोकनाथ जी वृंदावन

के चीरघाट पर एक छोटी सी कुटिया में भजन-ध्यान किया करते थे। वे किसी को शिष्य नहीं बनाते थे। फिर नरोत्तमदास तो एक राजपुत्र थे, जिन्हें दीक्षा देने का उन्होंने सर्वथा निषेध किया था। नरोत्तमदास उससे निराश नहीं हुए। वे गुप्त रूप से अपने मनोनीत गुरुदेव की सब प्रकार से सेवा करते रहे। उन्होंने जीव गोस्वामी के सत्संग में रह कर वैष्णव भक्ति-ग्रंथों का अध्ययन किया और उन्हीं की कृपा से वे लोकनाथ जी से मंत्र-दीक्षा प्राप्त करने में सफल हो सके थे।

सं. १६३९ में जब जीव गोस्वामी के आदेशानुसार श्रीनिवास जी और श्यामानंद जी बंगाल-उड़ीसा में धर्म-प्रचारार्थ गये थे, तब नरोत्तमदास जी भी उनके साथ थे। उन्होंने अपने निवास स्थान खेतुरी में एक आश्रम बनवाया और एक विशाल धर्मोत्सव का आयोजन किया, जिसमें बहुसंख्यक वैष्णव भक्तों को आग्रह पूर्वक निमंत्रित किया गया था। उक्त उत्सव में श्री चैतन्य जी के सभी प्रमुख अनुगामी भक्त और उनके शिष्य-प्रशिष्य उपस्थित हुए थे। श्रीनिवास जी को उत्सव का प्रधान बनाया गया और उन्हें आचार्य पदवी से विभूषित किया गया। उस अवसर पर खेतुरी में चैतन्य संप्रदायी ६ देव-विग्रहों की स्थापना की गई तथा कथा-प्रवचन, उपदेश-कीर्तन आदि के आनंददायी कार्यक्रम हुए थे। नरोत्तमदास जी ने स्वयं बड़ा सुंदर कीर्तन किया था। वह उत्सव सं. १६४० में हुआ, और कई दिनों तक चलता रहा था। बंगाल में चैतन्य संप्रदायी भक्ति के प्रचार की दृष्टि से वह उत्सव बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता है, और सांप्रदायिक इतिहास में वह 'खेतुरी महोत्सव' के नाम से प्रसिद्ध है।

नरोत्तमदास जी सुप्रसिद्ध भक्त होने के साथ ही साथ सरस कीर्तनकार और सुकवि भी थे। उन्होंने देवीदास मृदंगी के सहयोग से रस-कीर्तन की एक विशिष्ट गायन शैली प्रचलित की थी, जो 'गरानहाटी' के नाम से विख्यात है। उनके रचे हुए प्रार्थना के पद बेजोड़ हैं, जिनमें एक भक्त हृदय की आकुलता और उत्कट श्रद्धा-भावना व्यक्त हुई है। उनके रचे हुए ग्रंथ 'प्रेम भक्ति चंद्रिका' और 'प्रार्थना' गौड़ीय भक्तों में बड़े लोकप्रिय रहे हैं।

नरोत्तमदास जी दीर्घायु हुए थे। उनका देहावसान सं. १६६८ की कार्तिक कृष्णा ५ को हुआ था। उनकी भस्मि वृंदावन लाई गई, जहाँ उनकी समाधि बनाई गई थी। यह समाधि उनके गुरु लोकनाथ जी की समाधि के निकट वृंदावन के श्री गोकुलानंद जी के मंदिर में है। उनका चित्र राधाकुंड में जाह्नवा जी के मंदिर में लगा हुआ है।

श्री श्यामानंद—उनका मूल नाम दुखी कृष्णदास था। वे मेदिनीपुर ज़िला के निवासी सदगोप थे और उनका जन्म सं. १५९० के लगभग हुआ था। वे श्री नित्यानंद जी की शिष्य-परंपरा में हुए थे। उन्होंने वृंदावन में श्री जीव गोस्वामी से भक्ति-तत्त्व और वैष्णव धर्म-ग्रंथों की शिक्षा प्राप्त की थी। वे श्रीनिवास जी और नरोत्तमदास जी के सहपाठी थे और उन्हीं के साथ वृंदावन से स्वदेश जा कर चैतन्य संप्रदाय के प्रचार में लग गये थे। उन्होंने उड़ीसा प्रदेश को अपने प्रचार का क्षेत्र बनाया था। उनके शिष्यों में रसिकमुरारी नामक एक धनाढ्य भक्त जन थे। वे श्यामानंद जी के अनन्य भक्त थे और उनके प्रचार-कार्य में प्रमुख सहायक थे। श्यामानंद जी अपने शिष्यों के साथ 'खेतुरी महोत्सव' में सम्मिलित हुए थे। वे भक्त और धर्म-प्रचारक होने के साथ ही साथ पद-रचयिता भी थे। उनका तथा उनके शिष्य रसिकमुरारी का चमत्कारपूर्ण जीवन-वृत्तांत और उनके भक्ति-प्रचार का विस्तृत विवरण साधुचरण कृत ब्रजभाषा काव्य 'रसिक विलास' में लिखा मिलता है।

उन्नति, अवनति और पुनरुन्नति का काल-चक्र—ब्रज–वृंदावन के जिन गौड़ीय गोस्वामियों ने चैतन्य संप्रदाय के भवन की आधार–शिला रखने के साथ ही साथ इसके निर्माण और साज–शृंगार में अपने यशस्वी जीवन का उत्सर्ग किया था, वे अपनी विद्यमानता में ही इसकी भव्यता के आलोक से ब्रज के धार्मिक जगत् को देदीप्यमान कर गये थे। उसके उपरांत वे एक-एक कर भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गोलोक धाम को प्रस्थान करने लगे। सबसे पहिले सं. १६१० के कुछ पश्चात् सर्वश्री सनातन, रूप और रघुनाथ भट्ट का देहावसान हुआ। उनके बाद सर्वश्री कृष्णदास कविराज, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट, और लोकनाथ का निधन क्रमश: सं. १६३६, १६४०, १६४२ और १६४५ में हो गया था। उससे संप्रदायिक क्षेत्र में रिक्तता का होना स्वाभाविक था; किंतु जीव गोस्वामी की विद्यमानता से उसकी बहुत-कुछ पूर्ति हो रही थी। उक्त गोस्वामी जी वृद्ध और शिथिल होते हुए भी अपनी प्रकांड विद्वत्ता से चैतन्य संप्रदाय का बड़ी कुशलता पूर्वक संचालन कर रहे थे। सं. १६५३ में जीव गोस्वामी का भी देहावसान हो गया। उन जैसे उज्ज्वल नक्षत्र के अस्त होने से चैतन्य संप्रदाय की भक्ति और विद्वत्ता के वातावरण में अंधकार सा दिखलाई देने लगा था।

उस काल में सर्वश्री श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तमदास ठाकुर और श्यामानंद जैसे विद्वान भक्त श्री जीव गोस्वामी की विद्वत्ता के प्रकाश से लाभान्वित होकर बंगाल–उड़ीसा के भक्ति–क्षेत्रों को आलोकित कर रहे थे। किंतु ब्रज के चैतन्य संप्रदायी केन्द्रों को प्रकाशित करने वाला जीव गोस्वामी का कोई समर्थ प्रतिनिधि नहीं रहा था। उसके उपरांत भी इस सप्रदाय की विद्वत्ता और भक्ति का वातावरण दिन–प्रतिदिन अंधकाराच्छादित ही होता गया। कालांतर में ब्रज में औरंगजेबी अत्याचार की ऐसी आंधी उठी कि उससे धार्मिक जगत् मे भय, आतंक, निराशा की काली छाया छा गई थी!

जब सं. १७२६ में औरंगजेब के आदेशानुसार ब्रज के प्रसिद्ध मंदिर नष्ट–भ्रष्ट किये जाने लगे, तब भक्त जनों को अपने प्राणों से भी अधिक अपने उपास्य देव–विग्रहों की सुरक्षा की चिंता होने लगी थी। वे महानुभाव अनेक संकटों को सहन करते हुए उक्त देव-विग्रहों को यथा संभव हिंदू राजाओं के संरक्षण में पहुँचाने की चेष्टा करने लगे। उस संकट काल में चैतन्य संप्रदाय के वृंदावनस्थ प्राचीन मंदिर नष्टप्राय हो गये तथा उनके देव-विग्रह किसी प्रकार जयपुर आदि राज्यों में पहुँचा दिये गये। ब्रज के अनेक गौड़ीय भक्त जन भी गोवर्धन–वृंदावन जैसे पुण्य स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र जा बसने को विवश हो गये। उस संकटापन्न दुर्दशा का यह दुष्परिणाम हुआ कि ब्रज के गौड़ीय वैष्णवों के संगठन में शिथिलता और पांडित्य में न्यूनता आने लगी। उनका जो प्रभाव बंगाल–उड़ीसा के गौड़ीय भक्तों पर था, वह भी समाप्त होने लगा था। ऐसी विषम परिस्थिति में श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बंगाल से आकर वृंदावन में निवास किया था। उन्होंने अपनी प्रकांड विद्वत्ता और प्रगाढ़ भक्ति-भावना से चैतन्य संप्रदाय के नष्टप्राय गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती—उनका जन्म १७ वी शती के अंत में अथवा १८ वीं शती के आरंभ में बंगाल के मुर्शिदाबाद जिला के देवग्राम नामक स्थान में हुआ था। उनकी आरंभिक शिक्षा उनके जन्म-स्थान में हुई थी। बाद में उन्होंने भक्ति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान कृष्णचरण चक्रवर्ती से सैदाबाद में वैष्णव भक्ति-ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। वे विवाहित होकर कुछ समय तक गृहस्थ भी रहे थे, किंतु सांसारिक मोह-ममता में उनका मन नहीं रमा। वे विरक्त होकर घर से चल दिये। वैष्णवी दीक्षा की प्राप्ति के उपरांत उनका नाम 'हरि बल्लभ' हुआ। उन्होंने अपनी काव्य-रचनाएँ इसी नाम से की हैं; किंतु वे गौड़ीय संप्रदाय में विश्वनाथ चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चक्रवर्ती जी विरक्त होने के पश्चात् १८ वीं शती के मध्य काल में बंगाल से ब्रज में आ गये थे। उन्होंने वृंदावन में निवास कर गौड़ीय संप्रदाय की बड़ी सेवा की थी। वे परम भक्त, प्रकांड दार्शनिक विद्वान और रससिद्ध कवि थे। उनके समय में रूप गोस्वामी आदि पूर्ववर्ती गौड़ीय विद्वानों के ग्रंथ अनेक लोगों को दुर्बोध ज्ञात होने लगे थे, अतः उन्होंने उन ग्रंथों की सरल टीकाएँ लिखीं और उनके सुबोध संस्करण प्रस्तुत किये। उन्होंने गीता, भागवत, गोपालतापिनी और ब्रह्मसंहिता आदि प्राचीन धर्म ग्रंथों की रसमयी व्याख्या की। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन शास्त्रों और वैष्णव आचार्यों के सिद्धांत ग्रंथों के पठन-पाठन और प्रचार का नया मार्ग दिखलाया था। उसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना भी की थी। अपनी महान् धार्मिक कृतियों के कारण उनको श्री रूप गोस्वामी का अवतार माना जाता है।

जीव गोस्वामी के बाद गौड़ीय वैष्णवों के सगठन और पांडित्य में शिथिलता आ गई थी। चैतन्य संप्रदाय की परकीया भक्ति आदि विशिष्ट मान्यताओं के संबंध में भी तत्कालीन विद्वानों ने अनेक विवाद उपस्थित कर दिये थे। ऐसी परिस्थिति में विश्वनाथ चक्रवर्ती के नेतृत्व में और उनके प्रगाढ़ पांडित्य एवं महान् व्यक्तित्व के कारण, गौड़ीय वैष्णव परंपरा को पुनः गौरव प्राप्त हुआ था। वे वृंदावन मे निवास करते थे, किंतु अपनी वृद्धावस्था में प्रायः राधाकुड में रहा करते थे। उन्होने वृंदावन में ठाकुर श्री गोकुलानंद जी की सेवा प्रचलित की थी। उनका देहांत सं. १८११ की माघ शुक्ला ५ को राधाकुड में हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें बलदेव विद्याभूषण प्रमुख थे।

श्री बलदेव विद्याभूषण—वे उत्कल प्रदेशांतर्गत रेमुना के निकटवर्ती एक ग्राम के प्रतिष्ठित परिवार में उत्पन्न हुए थे। उनका निश्चित जन्म-संवत् अज्ञात है। इतना निश्चय है कि वे विक्रम की १८वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। उनका घराना वैष्णव धर्मावलंबी नहीं था, किंतु वे स्वयं वैष्णव हो गये थे। उन्होंने श्यामानंद जी की शिष्य-परंपरा में राधादामोदर पंडित से दीक्षा लेकर उन्हीं से अपनी आरंभिक शिक्षा भी प्राप्त की थी। अपने शिक्षण काल में ही उन्होंने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया था। वे शीघ्र ही व्याकरण, अलंकार, न्याय, वेदातादि के ज्ञाता हो गये थे।

वैष्णव भक्ति-ग्रंथों की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत वे विरक्त होकर ब्रज में आ गये थे। उस समय गौड़ीय भक्तों के नेता श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती थे। उनके प्रकांड पांडित्य और अद्वितीय विद्वत्ता की बड़ी ख्याति थी। वे तब तक वृद्ध हो चुके थे और ब्रज के राधाकुंड नामक तीर्थ-स्थान में निवास करते थे। बलदेव जी ने चक्रवर्ती महोदय से वैष्णव भक्ति-तत्त्व और रस-तत्त्व का विशेष अध्ययन किया था। उन्होंने चक्रवर्ती जी के विकसित परकीयावाद में भी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की और अनेक अवसरों पर विद्वत्-समाज में उसकी स्थापना की थी। इससे वे ब्रज-वृंदावन के गौड़ीय भक्तों में सबसे अधिक विद्वान और विश्वनाथ चक्रवर्ती के योग्यतम उत्तराधिकारी समझे जाने लगे थे।

उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना और प्राचीन ग्रंथों की टीकाएँ की थीं। उनके ग्रंथों में ब्रह्मसूत्र-भाष्य अधिक प्रसिद्ध है, जो 'गोविंद भाष्य' कहलाता है। उसकी रचना सं. १८०० के लगभग हुई थी। विश्वनाथ चक्रवर्ती की भाँति उनकी रचनाएँ भी भक्ति, दर्शन और साहित्य के क्षेत्रों में समान रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उनका देहावसान १९वीं शती के आरंभिक दशक में हुआ था। उनके पश्चात् फिर वैसा विद्वान चैतन्य संप्रदाय में नहीं हुआ था।

राजा जयसिंह का विरोध और 'गोविंद भाष्य' की रचना—१८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे वृंदावन सहित समस्त ब्रजमंडल जयपुर राज्य के प्रभाव क्षेत्र में था। उस समय के जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह यद्यपि हिंदू धर्म के पोषक एक धर्मप्राण राजा थे, तथापि कुछ वैष्णव विरोधी लोगों ने उन्हे वृंदावन के वैष्णव संप्रदायों के विरुद्ध भड़का दिया था। उन्हें समझाया गया कि इन संप्रदायों की प्रेमा-भक्ति प्रचलित लोकाचारों के साथ ही साथ वैदिक विधि-निषेध की भी विरोधिनी है और ये प्रेमोपासक भक्ति-संप्रदाय अवैदिक हैं! वैष्णव भक्ति के प्रति उस प्रकार की धारणा बनाये जाने से उन्होंने समस्त वैष्णव सप्रदायों का ही विरोध किया और शैव धर्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसके कारण ब्रज-वृंदावन के वैष्णव संप्रदायों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा था। बहुत से वैष्णव भक्तों ने महाराज से फरियाद की, कि वे भक्ति संप्रदायों के प्रति उस प्रकार का अन्याय न करें। महाराज जयसिंह ने उस विषय पर भली भाँति विचार करने के लिए एक धर्म-समेलन करने का आयोजन किया। वह संमेलन सं. १७७५ के लगभग जयपुर राज्य की तत्कालीन राजधानी आमेर मे हुआ था। उसमें समस्त वैष्णव संप्रदायों को अपने प्रति-निधियों द्वारा अपने-अपने सिद्धांतों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आमंत्रित किया गया था।

उस समय ब्रज में निवास करने वाले गौड़ीय भक्तों के नेता श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती थे, जो अपनी विद्वत्ता और विशिष्ट भक्ति-भावना के कारण वैष्णव भक्तों में विख्यात थे। उन्हें जयपुर समेलन में चैतन्य संप्रदाय की प्रामाणिकता सिद्ध करने का निमंत्रण मिला था। चक्रवर्ती जी अत्यंत वृद्ध होने के कारण वृंदावन छोड़ कर कहीं भी जाने में असमर्थ थे। उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य बलदेव विद्याभूषण को उक्त समेलन में भाग लेने के लिए भेज दिया।

बलदेव जी ने जयपुर धर्म समेलन में बड़ी विद्वत्ता पूर्वक गौड़ीय पक्ष को प्रस्तुत किया था। उसके फलस्वरूप चैतन्य संप्रदाय को इस शर्त पर मान्यता प्रदान की गई कि उसके भक्ति सिद्धांत के समर्थन मे ब्रह्मसूत्र-भाष्य उपस्थित किया जावे। कहते हैं, बलदेव जी ने अल्प काल में ही ब्रह्मसूत्र के 'गोविंद भाष्य' की रचना कर चैतन्य संप्रदाय के सन्मान की रक्षा की थी। इस प्रकार जयपुर-नरेश का विरोध भी अंततः इस संप्रदाय के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ; क्यों कि उसके कारण वैष्णव संप्रदायों मे उसकी धाक ही नही जमी, वरन् उसके प्रचार में भी यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई थी।

उत्थान-पतन का क्रम—सर्वश्री विश्वनाथ चक्रवर्ती और बलदेव विद्याभूषण के काल में ब्रज का चैतन्य संप्रदाय पुनः उन्नति के पथ पर आरूढ़ हो गया था। उस समय बंगाल-उड़ीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तों पर वृंदावन के गौड़ीय विद्वानों का किसी न किसी रूप में धार्मिक अनुशासन भी पुनः क़ायम हो गया था। उस काल के विद्वानों में अधिकाश बंगाली थे, जो वृंदाबन में निवास करने के कारण बंगाल और ब्रज दोनों प्रदेशों के वातावरण से परिचित होते थे। उनका यह प्रयास रहता था कि बंगाल-उड़ीसा और ब्रज के चैतन्य मतानुयायी भक्तों की धार्मिक मान्यता में समन्वय और संतुलन होकर एकसूत्रता बनी रहे।

श्री बलदेव विद्याभूषण के पश्चात् ब्रज पर नादिरशाह और अहमदशाह के जो आक्रमण हुए, उन्होंने यहाँ के रहे-सहे महत्व को फिर बड़ी हानि पहुँचाई। फलतः बंगाल और उड़ीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तों पर वृंदावन का अनुशासन समाप्त हो गया, और परंपरागत एकसूत्रता भंग हो गई। वस्तुतः बलदेव के अनंतर वृंदावन में चैतन्य संप्रदाय का कोई ऐसा विद्वान नहीं हुआ, जो बंगाल और ब्रज की एकसूत्रता बना रखने में समर्थ होता।

व्रज की उस शोचनीय स्थिति का कुप्रभाव बंगाल-उड़ीसा में निवास करने वाले गौड़ीय
भक्तों पर स्पष्टतया दिखलाई दिया था। जैसा पहिले लिखा गया है, बौद्ध-शाक्त तंत्रवाद के कारण
बंगाल का धार्मिक वातावरण श्री चैतन्य देव के समय से ही परकीया-प्रधान था; किंतु वह
वृंदावनस्थ गोस्वामियों के प्रभाव से व्रज के स्वकीया वातावरण से समन्वित होकर संतुलित रहता
आया था। जब व्रज का अंकुश बंगाल पर से हट गया, तब वहाँ के परकीयावाद ने जोर पकड़
लिया। उसके फलस्वरूप चैतन्य संप्रदाय के अंतर्गत सहजिया वैष्णवों की प्रबलता हो गई थी।
उन्होंने बंगाली जनता में वृंदावन के गौड़ीय गोस्वामियों की मान्यता के विरुद्ध अपनी वासनामयी
परकीया भक्ति का प्रचार किया। उसी परिस्थिति में बंगाल में चैतन्य संप्रदाय के अंतर्गत 'वैरागी-
वैरागिन' पंथ का जन्म हुआ। सहजिया और वैरागी वैष्णवों की हीन साधना के कारण चैतन्य
संप्रदाय का पतन होने लगा, और-विचारवान व्यक्तियों की नजरों में उसका महत्व कम हो गया।

पुनरुत्थान का प्रयत्न—चैतन्य संप्रदाय को उस अधःपतन से बचा कर उसके पुनरुत्थान
का प्रयत्न भी बंगाल की अपेक्षा व्रज में ही हुआ था। अब से प्रायः एक शताब्दी पूर्व व्रज के
गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल में 'सिद्ध बावा' नामक एक वैष्णव भक्त विद्यमान थे। उन्होंने
श्रीकृष्ण और चैतन्य देव की अष्टकालीन लीलाओं से संबंधित रचनाओं को विशद रूप मे प्रचारित
किया था, जिससे चैतन्य संप्रदाय की तत्कालीन विकृत भक्ति-भावना के परिष्कृत होने में सहायता
मिली थी। सिद्ध बावा और उनके सुयोग्य शिष्य सिद्ध कृष्णदास बावा के निर्मल आचरण और
निष्काम सेवा-भावना से किये गये सद् प्रयत्नों के कारण चैतन्य संप्रदाय की उखड़ी हुई ख्याति की
जड़ फिर से जमने लगी। उसके फलस्वरूप इस संप्रदाय का पुनरुत्थान होने लगा।

चैतन्य संप्रदाय के इस पुनरुत्थान में बंगाली विद्वानों ने प्रचार के नवीन साधकों से भी
सहायता ली थी। श्री चैतन्य जी के अस्तित्व-काल से ही इस संप्रदाय के विद्वान भक्त समय-समय
पर अनेक ग्रंथों की रचना विविध भाषाओं में करते रहे हैं; किंतु उनका प्रचार सीमित रूप में ही
हो पाता था। इस समय मुद्रण यंत्र का प्रचलन हो जाने से उन ग्रंथों के प्रकाशन और प्रचार की
अधिक सुविधा हो गई थी। फलतः इस संप्रदाय के सिद्धांतों का भी व्यापक प्रचार होने लगा। अगर-
तला के महाराज वीरचंद्र माणिक्य बहादुर, कासिम बाजार के महाराज मणीन्द्रचंद्र नंदी और
तरास ज़िला पावना के राय बनमाली बहादुर की आर्थिक सहायता से चैतन्य संप्रदाय के दुर्लभ
ग्रंथों को खोज-खोज कर प्रकाशित कराया गया और उनका निःशुल्क वितरण किया गया। उस
समय पत्र-पत्रिकाओं और सभा-समितियों द्वारा भी चैतन्य संप्रदाय के प्रचार का विशद आयोजन
किया गया। उन प्रयत्नों के फलस्वरूप विगत एक शताब्दी में ही यह संप्रदाय दृढ़ता पूर्वक अपने
पैरों पर खड़ा हो गया और अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने में बहुत-कुछ सफल हो सका।

जहाँ तक व्रज का संबंध है, यहाँ सिद्ध कृष्णदास बावा के काल में और उनके पश्चात् भी
अनेक गौड़ीय महात्मा हुए; जिन्होंने अपनी उपासना-भक्ति, त्याग-वृत्ति और सेवा-भावना से चैतन्य
संप्रदाय के गौरव को बनाये रखा। किंतु प्रचार के नवीन साधनों के अभाव मे इस संप्रदाय की
यथोचित प्रगति नहीं हो सकी है। औरंगजेब के काल में जिन प्राचीन गौड़ीय देवालयों का ध्वंस
हुआ था और जिनके देव-विग्रह यहाँ से स्थानांतरित किये गये थे; उनका न तो अभी तक पुनरुद्धार
हुआ है, और न वे देव-विग्रह ही पुनः व्रज में वापिस ला[illegible] सके हैं। ये तथ्य इस संप्रदाय की
शिथिलता के सूचक हैं, जिसे दूर करने का प्रयत्न होना [illegible]हिए।

गौड़ीय सेव्य स्वरूप और देवालय—जैसा पहिले लिखा जा गया है, औरंगजेबी अत्याचार के काल में इस संप्रदाय के प्राचीन सेव्य स्वरूप उनके देवालयों से हटा कर हिंदू राजाओं के संरक्षण में पहुँचा दिये गये थे। वहाँ पर उनके मंदिर-देवालय वना कर उनकी सेवा-पूजा का यथोचित प्रबंध किया गया था। उन देव-विग्रहों में से अधिकांश अभी तक व्रज से बाहर ही विराजमान हैं। उनके स्थान पर वृंदावन के नये देवालयों में उनकी प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। यहाँ पर उक्त सेव्य स्वरूपों का कुछ विशेष विवरण लिखा जाता है।

१. **श्री मदनमोहन जी**—इनका प्राचीन स्वरूप श्री सनातन गोस्वामी को मथुरा में प्राप्त हुआ था। सनातन जी के आदेश से कृष्णदास ब्रह्मचारी उनकी सेवा-पूजा किया करते थे। उनका पुराना मंदिर वृंदावन में कालियघाट के समीप है, जिसे मुलतान के रामदास कपूर ने वनवाया था।

२. **श्री गोविंददेव जी**—इनका प्राचीन स्वरूप श्री रूप गोस्वामी को वृंदावन मे गोमा टीला से प्राप्त हुआ था। उनकी सेवा पहिले श्री काशीश्वर पंडित ने और फिर हरिदास पंडित ने की थी। उनका पुराना मंदिर आमेर के राजा मानसिंह ने वनवाया था, जो सं. १६४७ में पूरा हुआ था। वह व्रज का सर्वश्रेष्ठ देवालय था।

३. **श्री गोपीनाथ जी**—यह श्री मधु पंडित के सेव्य स्वरूप हैं। इनका पुराना मंदिर वृंदावन में वंशीवट पर है, जिसे रायसेन ने सं. १६४६ में वनवाया था।

४. **श्री राधारमण जी**—यह श्री गोपाल भट्ट जी के सेव्य स्वरूप हैं। उनका पाटोत्सव सं. १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा को वृंदावन में हुआ था।

५. **श्री राधादामोदर जी**—यह श्री जीव गोस्वामी के सेव्य स्वरूप हैं। उनका पाटोत्सव सं. १५९९ की माघ शु. १० को वृंदावन में हुआ था।

६. ७. ८—**श्री राधाविनोद जी, श्री गोकुलानंद जी और श्री श्यामसुंदर जी**—ये सर्वश्री लोकनाथ जी, विश्वनाथ चक्रवर्ती जी और श्यामानंद जी के सेव्य स्वरूप हैं।

ये सभी सेव्य स्वरूप औरंगजेव का शासन आरंभ होने तक वृंदावन स्थित अपने-अपने प्राचीन देवालयों में विराजमान थे। जव औरंगजेव की मजहवी तानाशाही से उन देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, तव अधिकांश स्वरूपों को वृंदावन से हटा कर जयपुर पहुँचा दिया गया था। केवल श्री राधारमण जी का स्वरूप यहाँ किसी प्रकार रहा आया था। उस काल में व्रज में उनकी सेवा लुप्तप्राय हो गई थी। जव यहाँ पर जाट-मरहठों का शासन आरंभ हुआ, तब फिर से उनकी सेवा-पूजा की व्यवस्था की गई। उस समय वृंदावन में उनके नये मंदिर-देवालय वनाये गये, जिनमें प्राचीन स्वरूपों की प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। नंदकुमार वसु नामक एक धनाढ्य वंगाली भक्त ने सं. १८७७ में श्री मदनमोहन जी, श्री गोविंददेव जी एवं श्री गोपीनाथ जी के नये मंदिर वनवाये और लखनऊ के शाह कुंदनलाल उपनाम ललितकिशोरी जी ने २०वीं शती के आरंभ में श्री राधारमण जी का मंदिर वनवाया था।

इस समय श्री सनातन गोस्वामी के सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी करौली नगर में विराजमान हैं। वहाँ राजकीय प्रवंध से उनकी सेवा-पूजा की जाती है। श्री रूप गोस्वामी के सेव्य स्वरूप श्री गोविंददेव जी, मधु पंडित के श्री गोपीनाथ जी, जीव गोस्वामी के श्री राधा-दामोदर जी, लोकनाथ जी के श्री राधाविनोद जी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती जी के श्री गोकुलानंद जी इस समय जयपुर के मंदिरों में विराजमान हैं, जहाँ बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा-पूजा की जाती है।

३. निंबार्क संप्रदाय

परंपरा और आरंभिक आचार्य—वैष्णव धर्म के सुविख्यात चतुः संप्रदायों में यह एक प्राचीन भक्ति संप्रदाय है। इसकी परंपरा सनकादि महर्षियों से मानी जाती है, अतः इसका मूल नाम 'सनकादि संप्रदाय' है। हमने इसी नाम से गत पृष्ठों में इसका उल्लेख किया है। इस संप्रदाय के ऐतिहासिक प्रतिष्ठाता और आरंभिक प्रचारक श्री निंबार्काचार्य जी हुए हैं, अतः इसका लोक-प्रसिद्ध नाम 'निंबार्क संप्रदाय' है। इसका दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैताद्वैत' कहलाता है, और भक्ति के क्षेत्र में इसकी मान्यता 'राधा-कृष्णोपासना' की है। इससे पूर्व जिन वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय का विवरण लिखा गया है, वे दोनों कृष्णोपासक संप्रदाय हैं। उनमें प्रमुख रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति की जाती है, और श्रीकृष्ण का महत्त्व श्रीराधा जी से अधिक माना जाता है। किंतु इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण के समान ही श्रीराधा जी का भी महत्त्व है और दोनों की सम्मिलित रूप में उपासना-भक्ति की जाती है। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धांत के साथ ही साथ उपासना-भक्ति के क्षेत्र में भी पूर्वोक्त दोनों संप्रदायों से निंबार्क संप्रदाय की भिन्नता है।

श्री निंबार्काचार्य जी का संक्षिप्त जीवन-वृत्तांत और उनके दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैताद्वैत' का सूक्ष्म परिचय गत पृष्ठों में दिया जा चुका है। साथ ही यह भी बतलाया जा चुका है कि ब्रज में निवास कर यहाँ राधा-कृष्णोपासना का प्रचार करने वाले वैष्णव धर्माचार्यों में श्री निंबार्काचार्य जी कदाचित प्रथम महानुभाव थे। इस प्रकार ब्रज की उपासना-भक्ति के विकास में इस संप्रदाय का विशिष्ट योग रहा है। श्री निंबार्काचार्य जी के शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी थे। उनका ब्रज से जो संबंध था, उसका उल्लेख भी किया जा चुका है। श्रीनिवासाचार्य जी से लेकर देवाचार्य जी तक 'द्वादश आचार्य' तथा सुंदर भट्टाचार्य जी से लेकर श्रीभट्टाचार्य जी तक 'अष्टादश भट्ट' में से किन-किन का ब्रज से संबंध रहा और उन्होंने किस प्रकार यहाँ अपने भक्ति संप्रदाय का प्रचार किया, इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं है।

अंतिम तीन भट्टाचार्य सर्वश्री गांगल भट्ट जी, केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्रीभट्ट जी का निश्चय ही ब्रज से घनिष्ट संबंध रहा है और उनके द्वारा यहाँ की धार्मिक प्रगति में भी बड़ा योग मिला है। किंतु उन तीनों धर्माचार्यों के अस्तित्व-काल की जो सांप्रदायिक मान्यता है, उसने उनके उज्ज्वल स्वरूप पर अनिश्चय और अप्रमाणिकता का आवरण चढ़ा दिया है। उसका यह परिणाम हुआ है कि ब्रज का प्राचीनतम भक्ति संप्रदाय होते हुए भी इसके संबंध में हमारी जानकारी सबसे कम है। हमने गत पृष्ठों में यथा संभव उपलब्ध सामग्री के आधार पर निंबार्क संप्रदाय के उक्त तीनों यशस्वी आचार्यों की ब्रज संबंधी देन पर कुछ प्रकाश डाला है।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का मथुरा के मुसलमान काजी से जो संघर्ष हुआ और उसमें उनको जो अपूर्व सफलता प्राप्त हुई, उससे उनके यश के साथ ही साथ निंबार्क संप्रदाय के प्रभाव एवं प्रसार में भी वृद्धि हुई होगी। काश्मीरी भट्ट जी के शिष्य श्रीभट्ट जी इस संप्रदाय के सर्वप्रथम उत्तर भारतीय ही नहीं, वरन् ठेठ ब्रजवासी धर्माचार्य थे। वे मथुरा में जन्मे, जीवन पर्यंत ब्रज में रहे और अंत में यहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। उन्होंने इस संप्रदाय में सर्वप्रथम ब्रजभाषा में काव्य-रचना की, और नवधा भक्ति में माधुर्य भाव को प्रमुखता प्रदान की थी। उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि उनका लक्ष्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति द्वैताद्वैत दर्शन के प्रचार से कहीं

अधिक श्रीराधा–कृष्ण की दिव्य मधुर लीलाओं का रसास्वादन करना और कराना था। उन्हें इस संप्रदाय का 'आदि वाणीकार' तो कहा ही जाता है; किंतु यदि उन्हें ब्रज का प्रथम निंबार्क संप्रदायी आचार्य भी कहा जाय, तो कोई असंगति नहीं होगी। वस्तुतः श्रीभट्ट जी से ही इस संप्रदाय का ब्रज से घनिष्ट संबंध स्थापित होता है, और उनके यशस्वी शिष्य श्री हरिव्यास देव जी से निंबार्क संप्रदाय के वास्तविक सांप्रदायिक एवं भक्तिमार्गीय स्वरूप का निर्माण होता है। गत पृष्ठों में श्रीभट्ट जी के संबंध में हम कुछ विस्तार से लिख चुके हैं। अब श्री हरिव्यास देव जी से इस संप्रदाय के इतिहास का आरंभ किया जाता है। किंतु उससे पहिले इस संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत के उस रूप पर प्रकाश डाला जाता है; जो सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल में बना था।

निंबार्कीय भक्ति सिद्धांत—

वैष्णव संप्रदायों के भक्ति सिद्धांत उनके दार्शनिक सिद्धातों पर आधारित हैं, अतः उनका अन्योन्याश्रित संवध है। निंबार्क संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत का मूल तत्त्व श्रीराधा-कृष्ण के सम्मिलित रूप की उपासना है, जो इसके दार्शनिक सिद्धांत द्वैताद्वैतवाद पर ही आधारित है। इसलिए इसके भक्ति सिद्धांत पर प्रकाश डालने से पूर्व द्वैताद्वैत सिद्धांत की पर्यालोचना करना उचित होगा।

द्वैताद्वैत सिद्धांत—यह दार्शनिक सिद्धांत ब्रह्म और जीव के स्वाभाविक भेदाभेद संबंध की मान्यता को लेकर चला है। इस सिद्धांत के प्रवर्त्तक श्री निंबार्काचार्य जी का मत है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है तथा जीव अल्पज्ञ और अणु है,—इस अर्थ में ब्रह्म जीव से भिन्न है। किंतु जैसे पत्र-पुष्प, प्रभा और इंद्रियों की पृथक् स्थिति होते हुए भी वे क्रमशः वृक्ष, दीपक और प्राण से अभिन्न हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार उनका स्वाभाविक भेदाभेद संबंध है।

इस सिद्धांत के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं,—

परब्रह्म—यह अनंत गुणों का भंडार, सर्वव्यापक और समस्त शक्ति का आधार है; अतः यह सगुण, विभु और सर्वशक्तिमान है। इसकी परा शक्ति जीव है, और अपरा शक्ति प्रकृतिरूप जगत् है। यह स्वयं जगत् में व्याप्त है और यही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। ब्रह्म दृश्य–अदृश्य, अणु–विभु, सगुण–निर्गुण सब कुछ है; किंतु वह सदैव एकरस है। परब्रह्म श्रीकृष्ण से अभिन्न है। श्रीकृष्ण के वामांग में श्रीराधा की नित्य स्थिति है। इस प्रकार परब्रह्म ही अद्वय श्रीराधा–कृष्ण का युगल स्वरूप है।

जीव—यह परब्रह्म की परा शक्ति होने से उसी का अंश है और स्वरूप से अणु है। यह ब्रह्म के समान सत् है, किंतु माया से आवृत्त होने के कारण इसका धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है। जीव अत्यंत सूक्ष्म एवं अनंत हैं, और परब्रह्म के आश्रित तथा आधीन हैं। इनके दो भेद हैं,—१. बद्ध और २. मुक्त। बद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं, जिन्हें बुभुक्षु और मुमुक्षु कहा गया है। इसी तरह मुक्त जीवों के भी दो प्रकार हैं, १. नित्य मुक्त और २. बद्ध मुक्त। मुक्त जीव भगवान के अंतरंग और पार्षद होते हैं।

जगत्—यह परब्रह्म की अपरा शक्तिरूप प्रकृति का परिणाम है; अतः ब्रह्म के समान ही सत् है। ब्रह्म स्वयं जगत्‌रूप में व्यक्त है। ब्रह्म के सिवाय जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण होने के साथ ही साथ इसका निमित्त कारण भी है।

धर्म का स्वरूप और भारतीय संस्कृति में उसकी महत्ता—

'धर्म' शब्द और उसका अर्थ—धर्म एक छोटा सा शब्द है, किंतु भारतीय संस्कृति में यह बहुत बड़े अर्थ का द्योतक माना गया है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। 'धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः'—धर्म प्रजा को एक सूत्र में धारण करता है, इसीलिए इसे 'धर्म' कहते हैं। इस परिभाषा से समझा जा सकता है कि जिन मौलिक सिद्धांतों पर मानव-जीवन का आधार है, उन्हीं का नाम 'धर्म' है। किसी अन्य देश अथवा किसी विदेशी भाषा में 'धर्म' का ठीक पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता है, अतः विदेशी शब्द 'रिलीजन' अथवा 'मजहब' से भी धर्म के यथार्थ अभिप्राय का बोध नहीं होता है। 'धर्म' और 'संस्कृति' दोनों ही अपने महत्व और अर्थ-विस्तार के कारण हमारे शब्द-कोष के अनुपम रत्न कहे जा सकते हैं।

धर्म के लक्षण और उसकी पहिचान—हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने दीर्घकालीन चिंतन, मनन और अनुभव के द्वारा धर्म का जो वास्तविक अभिप्राय समझा था, उसे भारत के आदिम धर्मशास्त्री मनु ने व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं— १. धैर्य, २. क्षमा, ३. मन का निग्रह, ४. चोरी का त्याग, ५. पवित्रता, ६. इंद्रियों का निग्रह, ७. बुद्धि, ८. विद्या, ९. सत्य और १०. क्रोध का अभाव[1]। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यही वे मौलिक सिद्धांत हैं, जिन पर अखिल विश्व के मानव-जीवन का आधार है।

उक्त सिद्धांतों पर आधारित धर्म की पहिचान के लिए मनु ने चार साधनों का निर्देश किया है। वे हैं,—१. वेद, २. स्मृति (धर्मशास्त्र) ३. सदाचार (सत्पुरुषों का आचरण) और ४. आत्म बोध[2]। धर्म का मूल 'वेद' है, अतः श्रुति-वचन धर्म की पहिचान के प्रमुख साधन हैं। श्रुतियों का स्पष्टीकरण स्मृतियों में किया गया है। यदि श्रुतियों और स्मृतियों के वचनों में किसी को सामंजस्य ज्ञात न हो, तो उसका निश्चय सत्पुरुषों के आचरण से किया जा सकता है। यदि उसमें भी कोई शंका जान पड़े, तब उसका निर्णय अपनी अंतरात्मा से करना चाहिए। कई विचारकों ने इन साधनों को अनुलोम और प्रतिलोम क्रमानुसार विभिन्न प्रकारों से प्रस्तुत किया है; किंतु उनसे धर्म को पहिचानने की उक्त कसौटी में कोई अंतर नहीं आता है।

भारतीय धर्म की उपादेयता—धर्म की जैसी मौलिक, सार्वभौम और सर्वांगीण परिभाषा भारत में की गई है और उसका जैसा सर्वकालीन, सर्वजनोपयोगी एवं सामंजस्यमूलक स्वरूप इस देश के मनीषियों ने प्रस्तुत किया है; वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए भारतीय धर्म में संकीर्णता, असहिष्णुता और अनुदारता का पूर्णतया अभाव है। इसका यह सुफल हुआ है कि विभिन्न विचारों के व्यक्ति यहाँ सदैव सहिष्णुता पूर्वक निवास करते रहे हैं, जब कि अन्य देशों में ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ के तथाकथित धर्म ही सारे झगड़े-फसाद, मार-काट एवं खून-खराबी के दृश्य उपस्थित करते रहे हैं। इसका कारण उनमें धर्म के मौलिक तत्वों का अभाव ही कहा जा सकता है। ऐसी दशा में उन्हें 'धर्म' जैसा गौरवशाली नाम देना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

---

(१) मनुस्मृति, ६–९२

(२) मनुस्मृति, २–६, २–१२

पूर्वोक्त प्रमुख तत्वों के साथ ही साथ द्वैताद्वैत सिद्धांत में अन्य तत्वों की भी मान्यता है। प्राकृत, अप्राकृत और काल—ये इस सिद्धांत के अनुसार अचेतन तत्त्व हैं। प्रकृति से उत्पन्न जगत् 'प्राकृत' है; किंतु भगवान् के गोलोकादि दिव्य धाम 'अप्राकृत' हैं, क्यों कि इनकी उत्पत्ति प्रकृत्ति से नहीं मानी गई है। 'काल' नामक अचेतन तत्त्व स्वरूप से नित्य और कार्य से अनित्य माना गया है। इसे जगत् का नियामक और परमात्मा का नियम्य वतलाया है[1]।

निंवार्कीय भक्ति—जैसा पहिले लिखा गया है, इस संप्रदाय की भक्ति का मूल तत्त्व श्रीराधा-कृष्ण के 'युगल स्वरूप की उपासना' है, जो इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैताद्वैत' पर आधारित है। इस उपासना-पद्धति के प्रवर्त्तक श्री निंवार्काचार्य जी माने जाते हैं; किंतु इसका स्पष्ट रूप सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल में प्रकाश में आया था। इस संप्रदाय की मान्यता है, श्रीराधा-कृष्ण अद्वय परमतत्त्व हैं, जो क्रीड़ा के निमित्त आनंद और आह्लाद—इन दो रूपों में प्रकट होते हैं। श्री हरिव्यास देव जी ने कहा है,—'एक स्वरूप सदा द्वै नाम। आनंद के आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनंद स्याम[2]॥' श्रीराधा-कृष्ण का यह युगल रूप ही इस संप्रदाय में परमाराध्य और परमोपास्य है। इनके प्रतीक सर्वेश्वर शालिग्राम हैं, जिनकी इस संप्रदाय में प्रमुख रूप से सेवा-पूजा की जाती है।

इस संप्रदाय की उपासना-भक्ति का आरंभ श्रीराधा-कृष्ण के जिस युगल स्वरूप के ध्यान के साथ किया जाता है, वह श्री निंवार्काचार्य जी के शब्दों में इस प्रकार है,—'जो स्वभावतः समस्त दोषों से रहित हैं, जिनमें समग्र कल्याणकारी गुणों का भंडार है, चतुर्व्यूह—१. वासुदेव, २. संकर्षण, ३. प्रद्युम्न और ४. अनिरुद्ध—जिनके अंग हैं, उन वरेण्य कमललोचन परब्रह्म श्रीकृष्ण का ध्यान मैं करता हूँ। उनके वामांग में जो प्रसन्नवदना वृषभानुनंदिनी जी विराजमान हैं, जो श्रीकृष्ण के अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणों से युक्त हैं, सहस्रों सखियाँ सदा जिनकी सेवा करती हैं और जो सकल अभीष्ट की देने वाली देवी हैं, उन श्रीराधा जी का मैं ध्यान करता हूँ[3]।' श्री निंवार्काचार्य जी का कथन है, जो साधक दैन्यादि गुणों से युक्त होकर इस प्रकार श्रीराधा-कृष्ण का चिंतन करते हैं, उनमें उनकी कृपा से प्रेम रूप परा भक्ति उत्पन्न होती है।

श्री हरिव्यास देव जी ने इस परा भक्ति की प्राप्ति के कतिपय साधन वतलाये हैं। उनके मतानुसार जो साधक अन्य देवी-देवताओं का आश्रय छोड़ कर एक मात्र श्रीराधा-कृष्ण की शरण में आता है, जो विधि-निषेध का परित्याग कर निष्काम भाव धारण करता है, जो झूठ-क्रोध-परनिंदा छोड़ कर सब जीवों पर करुणा करता है और किसी से भी कठोर वचन नहीं बोलता है, जो एक पल भी नष्ट किये विना सदैव अपने मन को माधुर्य रस में निमग्न रखता है, जो सत्गुरु के बतलाये हुए मार्ग पर चलता है, और उनमें तथा भगवान् में कोई अंतर नहीं मानता है, इन द्वादश लक्षणों से युक्त भक्त जन ही परा भक्ति रूप परम पद को प्राप्त करने में समर्थ होता है[4]।

---

(१) भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ २३८-२३९ देखिये। (२) श्री महावाणी, सिद्धांत सुख

(३) स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैक राशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम् कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदां विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम् देवीं सकलेष्टकामदाम्॥ (वेदांत कामधेनु)

(४) श्री महावाणी, सिद्धांत सुख

'सखी भाव' और 'नित्य विहार' की उपासना—भगवद्भक्ति के पूर्वोक्त साधन सभी वैष्णव संप्रदायों में सामान्य रूप से स्वीकृत रहे हैं। उनसे इस संप्रदाय की कोई विशेषता ज्ञात नहीं होती है। जो विशेपता सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल में इस संप्रदाय में दिखलाई दी, वह थी निंबार्कीय भक्ति-तत्त्व में 'सखी भाव' और 'नित्य विहार' की उपासना का समावेश। यद्यपि उक्त उपासना पद्धति की उद्भावना श्रीभट्ट जी के काल में ही हो गई थी, जिसके सूत्र उनकी 'युगल शतक' नामक रचना मिलते हैं; तथापि उसका समुचित विकास हरिव्यास देव जी के काल में हुआ था। हरिव्यास जी कृत 'महावाणी' में इस प्रकार की उपासना का अत्यंत विकसित एवं समुन्नत रूप दिखलाई देता है। उसके अनुसार इस संप्रदाय में 'सखी भाव' की आंतरिक साधना प्रचलित हुई और इसके सभी आचार्यों को राधा जी की सखी-सहचरी समझा जाने लगा। उनके सखीवाचक नामकरण की परंपरा चली; जैसे श्री निंबार्काचार्य जी को 'रंगदेवी जी', श्रीभट्ट जी को 'हितू जी' और हरिव्यास देव जी को 'हरिप्रिया जी' माना गया है। सखी भाव की मान्यता का आधार यह है कि श्रीराधा-कृष्ण की निकुंज लीला में राधा जी की सखी-सहचरियों का ही प्रवेशाधिकार है; अतः नित्य विहार की रसोपासना सखी भाव से ही की जा सकती है।

श्री हरिव्यास देव जी की मान्यता के अनुसार नित्य विहार की उपासना का जो महामृदुल, महामधुर और अत्यंत रहस्यपूर्ण स्वरूप है, उसका उल्लेख करते डा० नारायणदत्त शर्मा ने वतलाया है,—"नित्य विहार श्रीराधा-माधव की अनन्य आनंदमयी अलौकिक सुखपूर्ण सतत शाश्वत रति-क्रीडा है, जो नित्य वृंदावन धाम की दिव्य कंचनमय भूमि, विमल वृक्षों से आच्छादित, सुरंग पत्र-पुष्प-फल परिवेष्टित, कंकनाकार यमुना-कूलवर्तिनी सुरभित निकुंजों में अनवरत रूप से चलती रहती है। इसमे किसी प्रकार का वाह्य अथवा आंतरिक विक्षेप नहीं होता। यह सभी वेद-तंत्रों का मनोहर मंत्र है, अतः सहचरी वर्ग के आनंद-कल्याण का साधन है। सहचरी रूप जीवात्माएँ निकुंज रंध्रों से इस नित्य विहार का दर्शन करती रहती हैं। उनके कल्याण के लिए ही नित्य विहार का आयोजन है। नित्य विहार श्रीश्यामा-श्याम के अप्राकृत प्रेम का परिणाम है, जो काम से कोसों दूर है। तात्विक दृष्टि से श्रीराधा-माधव उस आदि अनादि, एकरस परब्रह्म स्वरूप के युगल विग्रह रूप हैं। नित्य विहार के लिए ही वे युगल स्वरूप धारण करते हैं, अन्यथा वे एक ही हैं। सहचरी वृंद भी उन्हीं परब्रह्म की अंशभूत हैं, परंतु प्राकृत-विकृति के कारण उनसे भिन्न प्रतीत होती हैं। प्रिया-प्रियतम के समस्त आनंद भोग सहचरी जन की प्रसन्नता के लिए हैं; अतः नित्य विहार निजी सुख-साधना के लिए नहीं, वरन् परात्मतृप्ति के लिए है। लौकिक रति में नायक अपना सुख चाहता है, और नायिका अपना, परंतु नित्य विहार की स्थिति सर्वथा भिन्न है। यहाँ विहार करते हैं श्रीराधा-माधव, और तृप्ति होती है सहचरी वर्ग की। नित्य विहार के चार अंग हैं,—१. परात्पर तत्त्व परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण, २. उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा, ३. जीवात्मा रूप सहचरी वर्ग और ४. नित्य वृंदावन धाम। नित्य विहार में श्रीश्यामा-श्याम का नित्य किशोर रूप ही ग्राह्य है। किशोरी जी का यह रूप उनकी अवस्था का परिचायक है, न कि उनके दाम्पत्य भाव का। यह नित्य विहार की उपासना निंबार्कीय भक्ति का प्रमुख तत्त्व है[१]।"

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १२८-१२९

निवार्क सम्प्रदाय के उपास्य श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप
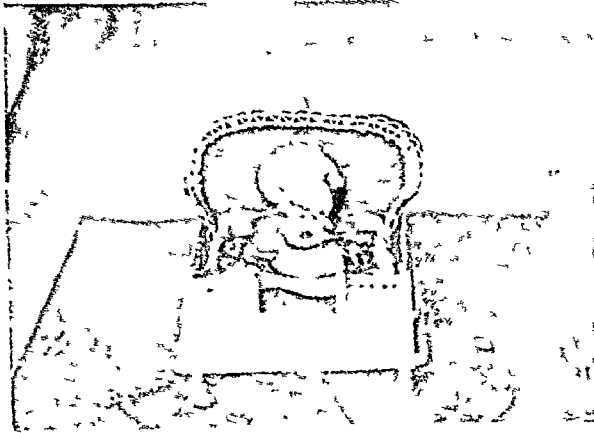
निवार्क सम्प्रदाय के पूजनीय श्री सर्वेश्वर शालग्राम
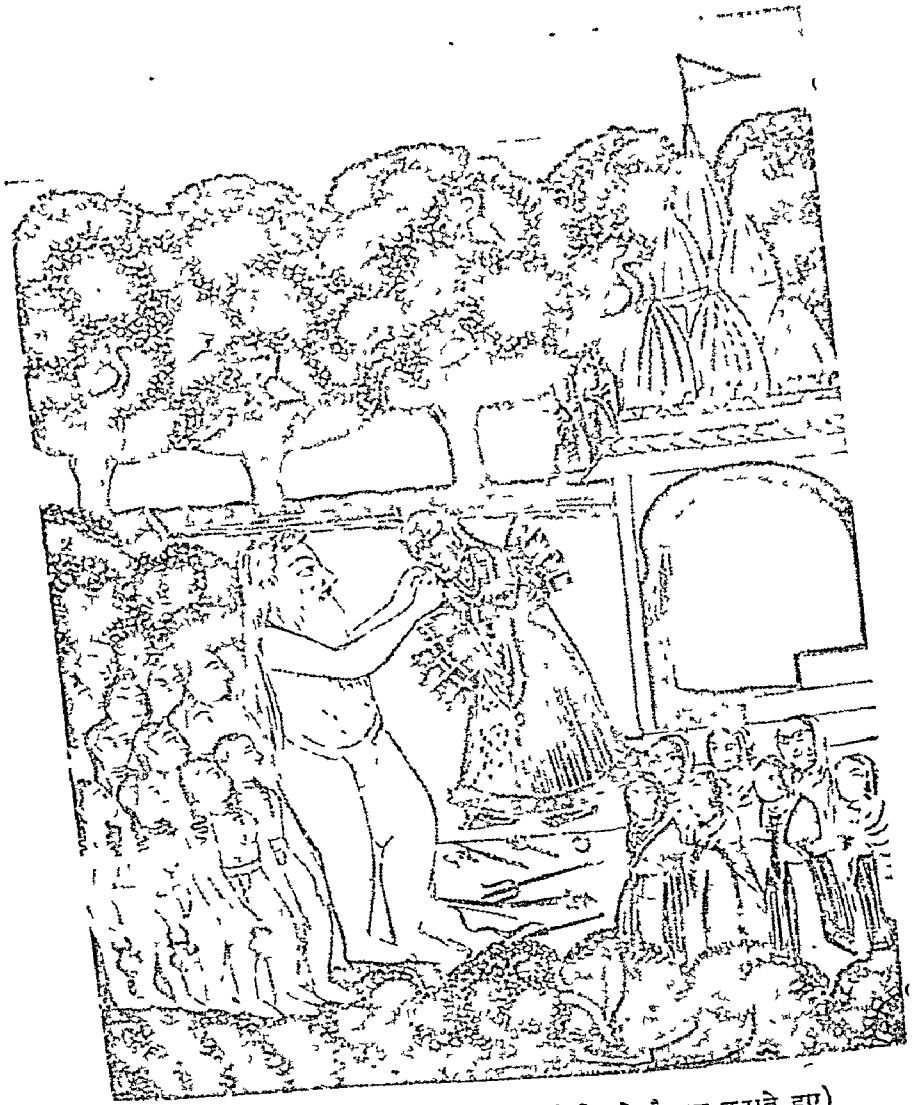
श्री हरिव्यास देव जी (शाक्तो की देवी को वैष्णव बनाते हुए)

श्री हरिव्यास देव जी (उपस्थिति काल सं. १५५० से सं. १६३० के लगभग)—

जीवन–वृत्तांत—श्री हरिव्यास देव जी का जन्म मथुरा में आदिगौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने श्रीभट्ट जी से दीक्षा ली थी, और उनके पश्चात् वे निंबार्क संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उन दिनों इस संप्रदाय का प्रधान केन्द्र मथुरा था, अतः आचार्य गद्दी पर आसीन होने के उपरांत वे अधिकतर मथुरा के ध्रुवक्षेत्र पर ही रहा करते थे। जव कभी संप्रदाय के प्रचारार्थ उन्हें ब्रज से बाहर जाना पड़ता था, तव उनके साथ शिष्य–सेवकों और विरक्त भक्तों का एक वड़ा दल रहता था।

उनके जीवन–वृत्तांत से संबंधित एक अनुश्रुति वड़ी प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख सर्वश्री नाभादास जी और प्रियादास जी ने किया है[१]। उससे ज्ञात होता है, एक बार वे धर्म–प्रचार के लिए हरियाना–पंजाव की ओर गये थे। उनके साथ विरक्त साधुओं की शिष्य-मंडली थी। जव वे चटथावल नामक गाँव में पहुँचे, तो वहाँ पर देवी के एक मंदिर में शाक्तों द्वारा वकरा की वलि दी जा रही थी। उससे हरिव्यास जी को वड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने अपने भजन–प्रताप और भक्ति–वल से देवी के गले में तुलसी-माला पहिना कर उसे 'वैष्णवी देवी' वना दिया[२]। उनके उपदेश से वहाँ के शाक्त गण निंवार्क संप्रदाय के अनुयायी हो गये और उन्होंने अपनी तामसी उपासना एवं हिंसा–वलि आदि को वंद कर दिया। उक्त घटना से हरियाना और उसके निकटवर्ती भू-भागों में वैष्णव धर्म का व्यापक प्रचार हो गया और वहाँ 'वैष्णवी देवी' की मान्यता होने लगी।

हरिव्यास देव जी निंबार्क संप्रदाय के वड़े प्रतापी धर्माचार्य और विख्यात भक्त-कवि हुए हैं; किंतु हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनका अपूर्ण और भ्रमात्मक वृत्तांत लिखा मिलता है। उनके जीवन-वृत्त के साथ श्री हरिराम जी व्यास नामक अन्य भक्त–कवि का वृत्तांत सम्मिलित कर दिया गया है, जो नाम-साम्य के भ्रम से हुआ जान पड़ता है।

उपस्थिति–काल—श्री हरिव्यास देव जी का निश्चित उपस्थिति काल अज्ञात है। निंवार्क संप्रदायी विद्वानों ने उनका 'प्रादुर्भाव सं. १३२० के लगभग' बतालाया है[३]; किंतु ऐतिहासिक अन्वेषण से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है। माधुर्य भक्ति और व्रजभाषा काव्य के विकास तथा निंवार्क संप्रदाय के विस्तार की दृष्टि से उनकी विद्यमानता १६ वीं शताव्दी से पहिले मानना संभव नहीं है। हमारे अनुमान से वे सं. १५५० से सं. १६३० के लगभग उपस्थित रहे होंगे। डा० नारायण दत्त शर्मा ने उनका उपस्थिति-काल सं. १५०० से १६०० तक माना है[४], जो पूर्णतया ठीक नहीं मालूम होता है। इस प्रकार वे सर्वश्री कुंभनदास, सूरदास, स्वामी हरिदास, हित हरिवंश तथा गो. विट्ठलनाथ के समकालीन और सम्राट अकवर के आरंभिक काल तक विद्यमान जान पड़ते हैं। उसी काल में माधुर्य भक्ति का विकास हुआ था और तत्कालीन सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक वातावरण में

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. ७७, कवित्त सं. ३३८–३३९

(२) इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख श्री भगवत मुदित जी ने राधावल्लभ संप्रदायी स्वामी चतुर्भुजदास जी के प्रसंग में भी किया है।

—रसिक अनन्य माल में 'श्री चतुर्भुजदास की परचयी' देखिये।

(३) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ सं. २३

(४) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण–भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४२

उन्हें अपने संप्रदाय का विस्तार करने की सुविधा प्राप्त हुई थी। यदि उनकी विद्यमानता उस काल से पहिले की मानी जावेगी, तो फिर मथुरामंडल के विषम धार्मिक वातावरण के कारण उनकी सांप्रदायिक उन्नति का रहस्य वतलाना संभव नहीं होगा।

ग्रंथ-रचना—श्री हरिव्यास देव जी ने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में ग्रंथ-रचना की है। संस्कृत भाषा में रचे हुए उनके कई छोटे ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनमें 'सिद्धांत रत्नांजलि' उल्लेखनीय है। यह श्री निंवार्काचार्य कृत 'दश श्लोकी' की संस्कृत टीका है। उनकी एक मात्र ब्रजभाषा रचना 'महावाणी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें उनकी नाम-छाप 'हरिप्रिया' मिलती है। यह एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें १. सेवा सुख, २. उत्साह सुख, ३. सुरति सुख, ४. सहज सुख और ५. सिद्धांत सुख नामक पाँच अध्याय हैं। इसकी रचना श्रीभट्ट जी कृत 'युगल शतक' की तरह दोहों सहित पदों में हुई है। यह निंवार्क संप्रदाय की एक सैद्धांतिक रचना है। इसमें इस संप्रदाय के भक्ति सिद्धांत और उपासना तत्त्व का कथन अत्यंत सरस शैली में किया गया है। कुछ विद्वानों ने 'महावाणी' को हरिव्यास देव जी की रचना मानने में संदेह किया है, और इसे रूपरसिक जी की कृति होने की संभावना व्यक्त की है[1]। इस संबंध में जो कई प्रवाद प्रचलित हैं, वे हमें निस्सार मालूम होते हैं। हमारे मतानुसार 'महावाणी' हरिव्यास देव जी की रचना है। यह वृंदावन से प्रकाशित हुई है।

देहावसान और महत्व—श्री हरिव्यास देव जी का देहावसान मथुरा में हुआ था, जहाँ नारद टीला पर उनकी समाधि सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्रीभट्ट जी की समाधियों के समीप है। वे निंवार्क संप्रदाय के बड़े प्रतापी और प्रभावशाली धर्माचार्य थे। उन्होंने इस संप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी। उनके अनेक शिष्य थे, जिनके कारण निंवार्क संप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था। उनसे पहिले इस संप्रदाय के किसी आचार्य ने मंदिर-मठादि नहीं बनवाये थे। उनके समय में ही निंवार्कीय मंदिर-मठों का बनना आरंभ हुआ था और सांप्रदायिक संगठन सुदृढ़ हुआ था। निंवार्क संप्रदाय में 'नित्य विहार' की रसोपासना का सूत्रपात तो श्रीभट्ट जी ने किया था, किंतु उसे विकसित रूप में रसिक भक्तों के लिए अनुभूतिमय बनाने का श्रेय हरिव्यास जी को है। उनके अनुपम महत्व के कारण ही उनके शिष्य-प्रशिष्यों को 'निंवार्कीय' के स्थान पर 'हरिव्यासी' कहा जाता है। निंवार्क संप्रदाय में उनका जन्मोत्सव कार्तिक कृ. १२ को मनाया जाता है।

हरिव्यास देव जी की शिष्य-परंपरा—

निंवार्कीय आचार्य श्री हरिव्यास देव जी के अनेक शिष्य थे, जिनमें १२ प्रधान थे। उनसे निंवार्क संप्रदाय के १२ द्वारे (उप संप्रदाय) चले हैं। वे प्रधान शिष्य सर्वश्री १. स्वभू जी, २. वोहित जी, ३. मदनगोपाल जी, ४. उद्धव जी (घमंडी जी), ५. बाहुवली जी, ६. परशुराम जी, ७. गोपाल जी, ८. हृषीकेश जी, ९. माधव जी, १०. केशव जी, ११. (लापर) गोपाल जी, और १२. मुकुंद जी थे। वे सब उत्तर भारतीय गौड़ ब्राह्मण थे। श्री हरिव्यास जी के अन्य शिष्यों में एक श्री रूपरसिक जी थे, जो दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे।

श्री हरिव्यास देव जी के उपर्युक्त प्रधान शिष्यों में से सर्वश्री स्वभूराम जी और परशुराम जी की परंपरा का अधिक विस्तार हुआ है। उनकी शिष्य-परंपरा में विरक्त और गृहस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। यहाँ हरिव्यास देव जी के कतिपय शिष्य-प्रशिष्यों का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा गया है।

---

(१) कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ५७१-५७३

श्री स्वभूराम जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के बारह प्रधान शिष्यों में प्रथम थे। उनका जन्म हरियाना राज्य के बूड़िया नामक ग्राम में हुआ था। यह स्थान जगाधरी के पास यमुना तट पर स्थित है। वे ब्राह्मण थे। ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म श्री हरिव्यास जी के आशीर्वाद से हुआ था, अतः उनके माता-पिता ने उन्हें बाल्यावस्था में ही श्री हरिव्यास जी से दीक्षा दिला दी थी। स्वभूराम जी ने अपने जन्म-स्थान में संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की थी। बाद में उन्होंने मथुरा के ध्रुव टीला पर श्री हरिव्यास जी के सत्संग में रहते हुए द्वैताद्वैत दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया और विविध धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया था।

वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने गुरु देव की सेवा में रहते थे। जब हरिव्यास जी वृद्ध हो गये, तब उन्होंने अपने उपास्य श्री सर्वेश्वर जी की सेवा देते हुए उन्हें अपना पट्ट शिष्य घोषित किया था। उनके जन्म स्थान के निकटवर्ती भू-भाग में उन दिनों नाथ पंथी कनफटा जोगियों का बड़ा प्राबल्य था। वे वैष्णवों को विविध प्रकार के कष्ट देकर उन्हें आतंकित किया करते थे। स्वयभूराम जी ने अपने भक्ति बल से नाथों को निस्तेज कर दिया था, जिससे प्रभावित होकर वे उनके अनुगामी हो गये थे। उन्होंने अपना शेष जीवन उसी भू-भाग में बिताया था और वहाँ पर निंबार्क संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उनका निवास स्थान 'श्री स्वभूराम जी की बनी' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके शिष्यों में कान्हर जी प्रमुख थे।

"श्री हरिव्यास देव जी के बारह शिष्यों में श्री स्वभूराम देव जी का बहुत ऊँचा स्थान है। परशुराम देव जी को छोड़ कर अन्य कोई शिष्य उनकी समता में नहीं ठहर सकता। उनकी शिष्य-परंपरा में उच्चकोटि के साधु पुरुष, तपस्वी महात्मा, प्रचारक, साहित्यकार, आचार्य और समाज-सेवी हुए हैं। निंबार्क संप्रदाय की कई प्रमुख गद्दियों पर उनकी परंपरा के ही विरक्त साधु अभी भी सुशोभित हैं। मथुरा जी के असिकुंडा घाट पर हनुमान जी का मंदिर और विश्राम घाट पर श्री राधाकांत जी का मंदिर; वृंदावन में ज्ञान-गूदड़ी, बिहारघाट, कैमारबन, पानीघाट में; बंगाल में वर्द्धमान और ऊखड़ा में; राजस्थान में माधोपुर में; दक्षिण में एलिचपुर में और काठियावाड़ में अनेक महत्वपूर्ण गद्दियों पर उनकी शाखा का ही अधिकार है। इससे स्वभूराम देव जी की शिष्य-परंपरा की व्यापकता और उनका प्रभाव लक्षित होता है[१]।"

स्वभूराम जी की शाखा का प्रधान स्थल बूड़िया ग्राम स्थित 'श्री स्वयभूराम जी की बनी' है। वहाँ पर उनकी समाधि भी है। निंबार्क संप्रदाय में उनका जन्मोत्सव कार्तिक शु. ८ (गोपाष्टमी) को मनाया जाता है। उनका उपस्थिति काल अनिश्चित है। ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने उनका देहावसान काल सं. १५४५ लिखा है[२], जो ऐतिहासिक संगति से ठीक नहीं है। डा० नारायणदत्त जी ने उसे एक शताब्दी पश्चात् सं. १६४५ बतलाया है[३], जो हमें भी प्रायः ठीक मालूम होता है। उनकी वाणी 'श्री सोभू सागर' नामक ग्रंथ में संकलित कही जाती है; किंतु वह ग्रंथ अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४१

(२) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ४४४

(३) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४२

श्री उद्धव (घमंडी) जी—वे श्री हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यों में चतुर्थ थे। उनका जन्म राजस्थान में टोडाभीम के निकट दूबरदू गाँव में हुआ था। उन्होंने बाल्यावस्था में ही श्री हरिव्यास जी से दीक्षा ली थी। उन्हें अपने आराध्य के अनुग्रह का बड़ा भरोसा था। वे कहा करते थे कि उन्हें उनके कृपा-बल का ही अभिमान (घमंड) है; इसीलिए वे भक्तों में 'घमंडी जी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे; यद्यपि उनका मूल नाम उद्धव जी था।

श्री नाभा जी ने उनका 'घमंडी' नाम से उल्लेख करते हुए वृंदावन-माधुरी के आस्वादक श्री भूगर्भ-जीवादि १३ भक्तों में उनकी गणना की है; और उन्हें ठाकुर श्री युगलकिशोर जी का सेवक बतलाते हुए कहा है,—'घमंडी जुगलकिसोर-भृत्य, भूगर्भ-जीव दृढ़ व्रत लियौ। वृंदाबन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियौ[1] ॥' श्री ध्रुवदास जी ने भी उन्हें वृंदावन-रस में निमग्न, श्री श्यामा-श्याम के गायक और वंशीवट पर निवास करने वाले भक्त जन कहा है,—'घमंडी रस में घुमड़ि रह्यौ, वृंदावन निज धाम। वंसीवट तट वास किय, गाये श्यामा-श्याम[2] ॥'

व्रज में रास के प्रचार करने वाले जो महात्मा हुए हैं, उनमें एक करहला गाँव निवासी घमंडी जी का नाम भी प्रसिद्ध है। निंबार्क संप्रदाय की मान्यता है कि वे श्री हरिव्यास जी के शिष्य उद्धव घमंडी जी ही थे, जो अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार व्रज में आकर करहला ग्राम में अपनी भक्ति-साधना करने लगे थे[3]। जब नाभा जी और ध्रुवदास जी जैसे समकालीन महात्माओं ने उन्हें वृंदावन का निवासी रस-सिद्ध महात्मा बतलाया है, तो समझा जा सकता है कि करहला निवासी रास-प्रचारक घमंडी जी कोई दूसरे भक्त जन थे[4]।

उनकी शाखा-संप्रदाय के मठ-देवालय हरियाना, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बंगाल, गुजरात आदि राज्यों के अनेक स्थानों में हैं। उनका सबसे पुराना स्थान हरियाना स्थित 'गोली' में कहा जाता है, तथा व्रज की कोर पर स्थित 'लीखी' नामक गाँव में उनकी चरण-पादुकाओं की सेवा बतलाई जाती है। वृंदावन स्थित उनके तीन मंदिरों का उल्लेख मिलता है। वे श्री मदनमोहन जी, श्री मुरलीमनोहर जी और श्री रासविहारी जी के थे[5]। इस समय वृंदावन में 'श्री ज्ञानी जी की बगीची' उन्हीं की शाखा-संप्रदाय के अंतर्गत है[6]। उनका उपस्थिति-काल १७ वीं शती का पूर्वार्ध है।

श्री परशुराम जी—वे हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यों में से छठे थे। उनका जन्म नारनौल के निकटवर्ती स्थान के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। अपने आरंभिक जीवन में उन्होंने अपने गुरु के साथ मथुरा के ध्रुवक्षेत्र में निवास किया था। अपनी उपासना, भक्ति और गुरु-सेवा के कारण वे युवावस्था में ही एक चमत्कारी महात्मा हो गये थे। उन दिनों राजस्थान में अजमेर के निकट एक मुसलमान तांत्रिक सलीमशाह फकीर का निवास था। उसे कुछ तामसी सिद्धि प्राप्त थी, जिससे वह पुष्करराज और द्वारकाधाम की यात्रा को जाने वाले वैष्णव भक्तों एवं साधुओं पर मनमाने अत्याचार किया करता था। उसके कारण तीर्थ-यात्रियों को बड़ा कष्ट होता था। कुछ

(१) श्री नाभा जी कृत 'भक्तमाल', छप्पय सं. ९४
(२) श्री ध्रुवदास जी कृत 'भक्त नामावली'
(३) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ २७
(४) देखिये, इस ग्रंथ का प्रथम खंड 'ब्रज संस्कृति की भूमिका', पृष्ठ १८१
(५) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५९६
(६) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ २८

श्री स्वभूराम जी (श्री सर्वेश्वर ज़ी की सेवा करते हुए)

श्री परशुराम देव जी

साधारणतया धर्म को पारलौकिक कल्याण का साधन माना जाता है; किंतु भारतीय मनीषियों ने इसका जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह पारलौकिक कल्याण के साथ ही साथ लौकिक सुख-समृद्धि का भी साधक है। इस देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक कणाद ने कहा है,—"जिससे इस जीवन में अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और उसके पश्चात् निःश्रेयस् (पारलौकिक कल्याण–मोक्ष) की सिद्धि हो, वही 'धर्म' है[1]।" इस प्रकार यथोचित रीति से धर्म का आचरण करने पर लौकिक सुख और पारलौकिक आनंद दोनों की ही प्राप्ति हो सकती है। भारतीय धर्म-साधना में जहाँ पारलौकिक कल्याण को प्रमुखता दी गई है, वहाँ लौकिक उन्नति की भी उपेक्षा नहीं की गई। इहलोक और परलोक के सुंदर सामंजस्य से भारतीय धर्म की उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

भारत के ऋषि-मुनियों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिन चार पदार्थों की नितांत आवश्यकता बतलाई है, वे हैं क्रमानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें वर्तमान युग के चिर इच्छित 'अर्थ' और 'काम' भी हैं; किंतु उन्हें प्राप्त करने के लिए धर्म का आश्रय लेना आवश्यक माना गया है। धर्मपूर्वक 'अर्थ' और 'काम' को उपलब्धि करने पर अंततः 'मोक्ष' के आनंद को भी प्राप्त किया जा सकता है। आजकल की भौतिक सभ्यता में सब लोग 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति में तो जी-जान से लगे हुए हैं; किंतु वे 'धर्म' और 'मोक्ष' की पूर्णरूप से उपेक्षा करते हैं।

ऐसी ही स्थिति महाभारत के काल में भी संसार की हुई थी। उस समय भौतिक सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। यद्यपि उस काल में धार्मिक उन्नति भी कम नहीं हुई थी, तथापि उसे भौतिक समृद्धि ने प्रभावहीन कर दिया था। उसकी चकाचौंध से अभिभूत होकर लोगों ने अर्थ और काम की सिद्धि के लिए धर्म की उपेक्षा करना आरंभ कर दिया था। उससे दुखी होकर महामुनि व्यास ने कहा था,—"मैं दोनों भुजाओं को ऊँचा कर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ, किंतु मेरी बात कोई नहीं सुनता है। धर्म से केवल मोक्ष की ही नहीं, अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है; तब भी न मालूम लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते[2]!" यदि उस समय के मदांध राजा और उनकी मूढ़ प्रजा ने महामुनि व्यास के कथन पर ध्यान दिया होता, तो महाभारत के युद्ध का सा भीषण विनाश न हो पाता। यदि अब भी उससे शिक्षा न ली गई, तो वर्तमान भौतिक सभ्यता का भी वैसा ही दुष्परिणाम होने वाला है।

विविध धर्मो की सार्थकता—भारतीय संस्कृति में 'धर्म' की जैसी व्यापक परिभाषा की गई है, उसके अनुसार धर्म एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। साधारणतया संसार में अनेक धर्मो की विद्यमानता मानी जाती है; किंतु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उनकी सार्थकता नहीं है। उन तथाकथित धर्मो को संप्रदाय, मत, मार्ग और पंथ कहा जा सकता है। उनकी स्थिति धर्म के साथ वैसी ही है, जैसी जल के साथ भँवर, तरंग और बुलबुलों की होती है। फिर भी जैसा लोक में प्रचलन है, हमने भी इस ग्रंथ में विविध धर्मो का नामोल्लेख किया है।

---

(१) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक, १–२)

(२) ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चिद् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ॥ (महाभारत)

यात्रियों ने मथुरा में श्री हरिव्यास जी से उक्त कष्ट के निवारण करने की प्रार्थना की थी। श्री हरि-व्यास जी ने अपने प्रिय शिष्य परशुराम जी को आदेश दिया कि वे वहाँ जाकर उक्त फ़कीर का मान-मर्दन करें।

परशुराम जी कुछ साधुओं के साथ वहाँ गये। उन्होंने उक्त फ़कीर की तांत्रिक सिद्धि को प्रभावहीन कर दिया था। फलतः वह फ़कीर पराजित होकर वहाँ से चला गया। वह स्थान उक्त फ़कीर के नाम पर 'सलीमाबाद' कहलाता था। परशुराम जी ने वहाँ स्थायी रूप से निवास कर उस क्षेत्र के तथा उसके निकटवर्ती जांगल प्रदेश के निवासियों को निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित कर उन्हें वैष्णव बना दिया। श्री नाभा जी ने परशुराम जी की प्रशंसा करते हुए कहा है,—"जंगली देस के लोग सब, परशुराम किये पारषद'[१]।" श्री हरिव्यास जी उनके उक्त कार्य से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के परंपरागत उपास्य श्री सर्वेश्वर शालग्राम की सेवा उन्हें सौंप दी थी। परशुराम जी का निवास स्थान होने के कारण सलीमाबाद को 'परशुरामपुरी' भी कहते हैं। वहाँ पर श्री राधा-माधव जी का प्रसिद्ध मंदिर है, और इस स्थान को निंबार्क संप्रदाय की सबसे प्रमुख गद्दी माना जाता है। इस गद्दी के आचार्य 'श्री जी' कहलाते हैं।

श्री परशुराम जी ने वृहत् वाणी साहित्य की रचना की थी, जो 'श्री परशुराम सागर' के नाम से उपलब्ध है। यह एक बड़ा ग्रंथ है, जिसमें २२०० के लगभग पद, दोहा, छप्पय आदि हैं। इसकी रचना राजस्थानी मिश्रित सरल व्रजभाषा में हुई है। इसमें व्रज लीला के साथ ही साथ ज्ञान, वैराग्य, उपदेशादि का कथन भी निर्गुणिया संतों की भाँति हुआ है। इसकी रचना में 'परसुराम', 'परसा' आदि की नाम-छाप मिलती है। यह ग्रंथ 'परशुराम द्वारा' से प्रकाशित हुआ है।

उनके एक पद में मीरांबाई का उल्लेख हुआ है[२]। इससे ज्ञात होता है कि वे मीरांबाई के समकालीन अथवा उनके परवर्ती थे। उनकी विद्यमानता का काल १७ वीं शती का पूर्वार्ध जान पड़ता है। पुष्कर क्षेत्र में श्री परशुराम जी की जो समाधि है, उसके शिलालेख के आधार पर श्री बलदेव जी उपाध्याय ने उन्हें गो. तुलसीदास जी का समकालीन बतलाया है[३]। डा० नारायण दत्त शर्मा ने उनका देहावसान-काल सं. १६८० के आस-पास का लिखा है[४]। यह निश्चित है कि वे दीर्घजीवी हुए थे।

श्री परशुराम जी की शाखा-गद्दियों और उनके शिष्यों की बहुत बड़ी संख्या है। राज-स्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के अनेक स्थानों में उनकी गद्दियाँ हैं, तथा उनके शिष्यों में राजा-महाराजाओं से लेकर सामान्य जन तक हैं। वृंदावन में ठाकुर श्री गिरिधारी जी महाराज का मंदिर इसी शाखा का है।

श्री (लापर) गोपाल जी—वे श्री हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यों में से ११वें थे। उनकी शाखा का प्रमुख स्थान हरियाना राज्य में रोहतक ज़िले का घुलेड़ा गाँव है। उनकी १३वीं पीढ़ी में ब्रह्मचारी श्री गिरिधारीशरण जी नामक एक चमत्कारी महात्मा हुए, जो व्रज में 'ब्रह्मचारी जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका जीवन-वृत्तांत आगे लिखा गया है।

---

(१) श्री नाभा जी कृत 'भक्तमाल', छप्पय सं. १३७
(२) चरणोदक करि पियौ हलाहल, जग जीवत न मरै।
ताकौ साखि प्रगट मीरां, जन जाकौं अजर जरै॥ (भक्तमाल, वृंदावन, पृष्ठ ७८३)
(३) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३३०
(४) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ५२

श्री मुकुंद जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के बारह प्रधान शिष्यों में अंतिम थे। उनका जन्म व्रज के किसी स्थान में माघ शु. १५ को हुआ था। वे बाल्यावस्था में ही श्री हरिव्यास देव जी के शिष्य हो गये थे। उसके उपरांत वे जीवन पर्यंत वैराग्य और नैष्ठिक व्रत का पालन करते हुए उपासना–भक्ति करते रहे थे। उनके प्रधान शिष्य व्रजभूषण जी थे, जो उनके उपरांत उनकी शाखा–गद्दी के महंत हुए थे। इस गद्दी के ७वें महंत रामदास जी थे। उन्होंने १६वीं शताब्दी में वृंदावन के विहार घाट पर 'टोपी वाली कुंज' का निर्माण कराया था। वे टोपी लगाया करते थे, अतः उनका स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस शाखा के महंतों की प्रसिद्धि साधु–सेवा, वैष्णव–भोज और कथा–कीर्तन आदि के लिए विशेष रूप से रही है। इस शाखा का प्रधान स्थान 'टोपी वाली कुंज' ही है।

श्री रूपरसिक जी—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, किंतु उनके पूर्वज पर्याप्त समय से उत्तर भारत में निवास करने लगे थे। रूपरसिक जी का जन्म उत्तर भारत में हुआ और उनकी शिक्षा आदि की व्यवस्था भी इसी भू-भाग में हुई थी। वे संस्कृत और व्रजभाषा-हिंदी के अच्छे विद्वान थे। उन्हें आरंभ से ही गृहस्थ जीवन से विरक्ति थी और वे अपने जन्म-स्थान में अपनी ३६ वर्ष की आयु तक उपासना, भक्ति, साधु-सेवा एवं धर्म-चर्चा के कार्यों में लगे रहे थे। उसके उपरांत वे सद्गुरु की खोज में भटकने लगे। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्री हरिव्यास जी की बड़ी महिमा सुनी थी, फलतः वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा की ओर चल पड़े। जब वे वहाँ पहुँचे, उससे पहिले ही हरिव्यास जी का देहावसान हो चुका था। किंतु उन्होंने उन दिवंगत महात्मा को ही अपना गुरु स्वीकार किया। निंबार्क संप्रदाय में वे हरिव्यास जी के ही शिष्य माने जाते हैं।

रूपरसिक जी व्रजभाषा के बड़े समर्थ भक्त-कवि थे। उनकी रचना उच्चकोटि की है। उसमें भावों की सरसता और भाषा का लालित्य दर्शनीय है। उनके तीन ग्रंथ 'वृहद् उत्सव मणिमाल', 'श्री हरिव्यास यशामृत' और 'श्री लीला विंशति' प्रकाशित हो चुके हैं। उनके अतिरिक्त उनकी 'नित्य विहार पदावली' नामक रचना अप्रकाशित है। कुछ विद्वानों का मत है, 'महावाणी' उन्हीं की रचना है, श्री हरिव्यास देव जी की नहीं[1]; किंतु उक्त कथन प्रामाणिक ज्ञात नहीं होता है।

उनकी विद्यमानता का काल विवादास्पद है। उनकी एक रचना 'श्री लीला विंशति' में उसकी पूर्ति का संवत् १५८७ दिया हुआ है, जिससे वे १६ वीं शती में विद्यमान माने जाते हैं। किंतु अन्य रचनाओं के अंतःसाक्ष्य वे परवर्ती कवि सिद्ध होते हैं। मिश्रबंधुओं ने उनका रचना-काल सं. १७६० के लगभग माना है[2]।

'स्वभूराम द्वारा' की आचार्य-परंपरा—

निंबार्क संप्रदाय के इस शाखा–संप्रदाय की परंपरा श्री हरिव्यास जी के प्रथम प्रधान शिष्य श्री स्वभूराम जी से चली है। इस 'द्वारा' का कार्य–क्षेत्र विशेष कर हरियाना–पंजाब रहा है। वहाँ इसकी प्रमुख गद्दियाँ तिरखूयश, वूड़िया आदि स्थानों में हैं। इस संप्रदाय के श्री चतुरचिंतामणि जी (नागा जी) ने व्रज के विभिन्न स्थानों में निंबार्कीय केन्द्रों की स्थापना की थी।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी–भाव, पृष्ठ ५७०–५७३

(२) मिश्रबंधु विनोद (द्वितीय भाग), पृष्ठ ५२६

श्री कान्हर जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के प्रशिष्य और श्री स्वभूराम जी के प्रधान शिष्य थे। नाभा जी ने उन्हें बूड़िया ग्राम का निवासी ब्राह्मण बतलाया है[1]। उनके गुरु स्वभूराम जी भी इसी ग्राम के रहने वाले थे। कान्हर जी परम कृष्ण-भक्त और साधु-सेवी महात्मा थे। अपने गुरु के आदेश से उन्होंने तिरखूयज्ञ में निंबार्क मठ की स्थापना की थी। उनका अधिकांश जीवन उसी स्थान में व्यतीत हुआ था। वे दीर्घजीवी हुए थे। उनके पाँच शिष्य थे,—१. परमानंद जी, २. मथुर जी, ३. नारायण जी, ४. रामगोपाल जी और ५. धर्मदेव जी। कान्हर जी के उपरांत उनके ज्येष्ठ शिष्य परमानंद जी तिरखूयज्ञ की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री नारायण जी—वे कान्हर जी के तीसरे शिष्य थे। 'उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेक मठ-मंदिरों की स्थापना की थी। उनके एक शाखा-शिष्य महात्मा गोपालदास जी (जन्म स. १८७२ विक्रमी) ने वृंदावन में निवास करते हुए निंबार्क-जयंती महोत्सव मनाना प्रारंभ किया था। यह उत्सव अब भी बीस दिनों तक चलता है। उनके प्रशिष्य श्री बालगोविंददास जी ने आचार्य-पंचायतन की स्थापना वृंदावन में एक भव्य मंदिर बनवा कर की थी। वृंदावन का प्रसिद्ध निंबार्क-कोट उनके ही द्वारा बनाया गया है। उनके एक शिष्य श्यामदामोदर दास जी के दूसरे शिष्य श्री आत्माराम जी ने पंजाब में मलेरकोटला में एक निंबार्कीय स्थान का निर्माण कराया था[2]।'

श्री चतुर चिंतामणि (नागा जी)—वे श्री कान्हर जी के प्रशिष्य और श्री परमानंद जी के प्रधान शिष्य थे। उनका जन्म ब्रज के पैंगाँव नामक स्थान के एक गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे बाल्यावस्था में ही विरक्त होकर अपने गाँव के समीप की 'कदमखंडी' में भगवान् श्रीकृष्ण का भजन–ध्यान किया करते थे। ब्रज–पर्यटन के वे बड़े प्रेमी थे और नियमित रूप से ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा करते थे। वे अपने समय में ब्रजमंडल के एक विख्यात महात्मा माने जाते थे, और ब्रजवासी गण उनके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। अंतिम काल में वे वृंदावन के विहार घाट पर 'कुंज' बनवा कर वहाँ निवास करने लगे थे। उनका देहावसान उसी स्थान पर मिती आश्विन कृ. ७ को हुआ था। वहाँ उनकी समाधि और चरण–चिह्न हैं। उनकी स्मृति में उनके जन्म स्थान पैंगाँव में आश्विन कृ. ७ को ब्रज–यात्रा के अवसर पर एक बड़ा उत्सव किया जाता है।

ब्रज के कई स्थानों में नागा जी के स्मारक स्वरूप देव-स्थान बने हुए हैं। गोवर्धन की परिक्रमा में गोविंदकुंड के पास एक मंदिर और समाधि है। वृंदावन के विहारघाट पर, मथुरा के वैरागपुरा में और बरसाने में मंदिर हैं। पैंगाँव के निकट 'नागा जी की कदमखंडी' और बरसाने के समीप 'नागा जी की गुफा' है। भरतपुर के क़िले में नागा जी के उपास्य ठाकुर श्री विहारी जी का मंदिर है; जिसे जाट राजा सूरजमल ने बनवाया था। उसी मंदिर में नागा जी की गूदड़ी और माला सुरक्षित हैं, जिनका प्रदर्शन आश्विन कृ. ७ को उनके पुण्य दिवस के अवसर पर किया जाता है।

वल्लभ संप्रदायी वार्ता में 'टोड़ का घना' में तपस्या करने वाले एक चतुरा नागा नामक भक्त जन का उल्लेख हुआ है। वार्ता में लिखा गया है, सं. १५५२ की श्रावण शु. ३ बुधवार को श्रीनाथ जी ने टोड़ के घने में पधार कर उन्हें दर्शन दिया था[3]। ज्योतिष गणना के अनुसार उक्त तिथि को

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. १६१

(२) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण–भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४५

(३) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १६–१७

बुधवार नहीं पड़ता है[1], अतः वह अप्रामाणिक जान पड़ती है। वैसे वल्लभ संप्रदाय में चतुरा नागा की अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है तथा टोड़ के घने और गोविंदकुंड पर उनके स्मृति-स्थल भी विद्यमान हैं। वार्ता में उल्लिखित चतुरा जी श्री वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे। उसके अनुसार जब चतुरा जी ४० वर्ष की आयु के थे, तब उनकी श्री वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई थी[2]। इस प्रकार वार्ता के चतुरा नागा निंबार्क संप्रदायाचार्य श्री चतुर चिंतामणि नागा जी के पूर्ववर्ती कोई दूसरे महात्मा ज्ञात होते हैं।

निंबार्क संप्रदाय में नागा जी की प्रसिद्धि ब्रज-प्रेमी, परम भक्त और भजनानंदी महात्मा के रूप में तो है; किंतु भक्त-कवि के रूप में नहीं है। ब्रज साहित्य का अनुसंधान करते हुए हमें अनेक भक्त-कवियों की रचनाओं के साथ ही साथ 'ब्रज-दूलह' की नाम-छाप के कुछ गेय पद भी मिले हैं। नागा जी की उपाधि भी 'ब्रज-दूलह' थी। यदि ये गेय पद उन्हीं के हैं, तब उन्हें संगीतज्ञ भक्त-कवि भी मानना होगा।

स्वभूराम जी की परंपरा—श्री स्वभूराम जी की गद्दी के आचार्यों की परंपरा उनके शिष्य कान्हर जी के द्वितीय शिष्य मधुर जी से चली है। मधुर जी के उपरांत श्याम जी और तदुपरांत क्रमशः सेवा जी, नरहरि जी, शुकदेव जी, गोपाल जी, गोपीनाथ जी, वसंतराम जी, पुरुषोत्तम जी, शुकदेव जी, उद्धव जी, गोपाल जी, गिरिधारी जी, नंदकिशोर जी, मनोहर जी इस गद्दी के आचार्य हुए थे। वर्तमान आचार्य श्री सर्वेश्वरशरण हैं[3]।

'परशुराम द्वारा' की आचार्य-परंपरा—

निंबार्क संप्रदाय के इस शाखा-संप्रदाय की परंपरा श्री हरिव्यास जी के छठे प्रधान शिष्य श्री परशुराम जी से चली है। इस 'द्वारा' का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से राजस्थान रहा है। इसकी प्रमुख गद्दी पुष्कर क्षेत्र के सलीमाबाद में है, जिसे 'परशुराम पुरी' भी कहते हैं। इस गद्दी के मंदिर में ही श्री निंबार्काचार्य जी के सेव्य श्री सर्वेश्वर शालग्राम जी विराजमान हैं, जिन्हें श्री परशुराम देव ने वहाँ प्रतिष्ठित किया था। उनके कारण इस गद्दी का बड़ा महत्व है। औरंगजेब के शासन-काल में जब निंबार्क संप्रदाय का प्रधान केन्द्र मथुरा का ध्रुवक्षेत्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया, और वहाँ के निंबार्कीय आचार्य अपने परिकर सहित मथुरामंडल को छोड़ कर अन्यत्र चले गये; तब 'परशुराम द्वारा' ही इस संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र हो गया था। इस गद्दी के आचार्य बड़े यशस्वी हुए हैं, और उन्होंने इस संप्रदाय की गौरव-वृद्धि मे बड़ा योग दिया है। यहाँ पर उनमें से कतिपय आचार्यों का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा जाता है।

श्री हरिवंश जी—वे श्री परशुराम जी के प्रधान शिष्य थे। अपने गुरुदेव के उपरांत वे सलीमाबाद की गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होंने उक्त गद्दी की सुव्यवस्था कर निंबार्क संप्रदाय का सुदृढ़ संगठन किया था। सं. १६८९ मे उन्होंने परशुराम जी की समाधि के समीप 'परशुराम द्वारा'

(१) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४२
(२) श्री आचार्य जी के बैठक-चरित्र, पृष्ठ १६३-१६५
(३) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ३६
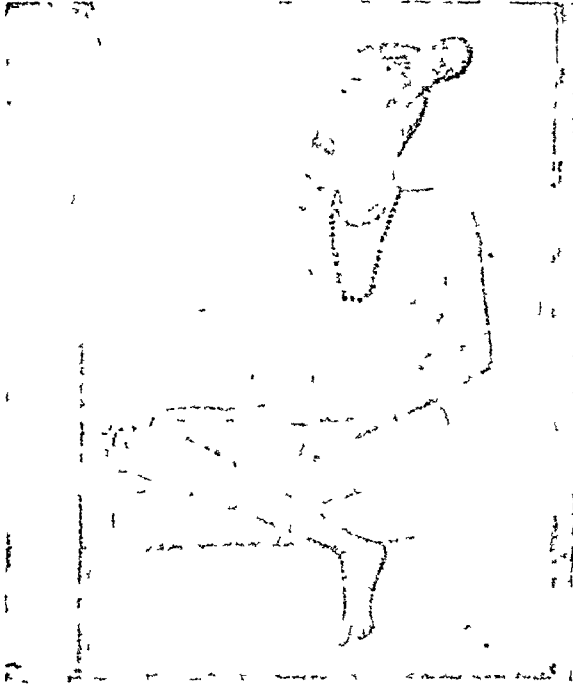
श्री चतुरचिंतामणि (नागा जी)

श्री तत्ववेत्ता जी

श्री वृंदावन देव जी (घनानंदादि रसिक भक्तों को उपदेश देते हुए)

का निर्माण कराया था। उससे ज्ञात होता है कि वे १७ वी शती के अंतिम दशक तक विद्यमान थे। परशुराम द्वारा के शिलालेख में लिखा है कि उसके निर्माण में किसी दामोदरदास के सेवक मथुरा निवासी रामदास ने योग दिया था। वृंदावन के विहार घाट पर श्री हरिवंश जी की समाधि और उनके चरण-चिह्न हैं। उनका पाटोत्सव मार्गशीर्ष कृ. ३ को मनाया जाता है।

श्री तत्त्ववेत्ता जी—उनका सर्वप्रथम परिचय ब्रह्मचारी विहारीशरण कृत 'निंवार्क माधुरी' में दिया गया था। उसमें उन्हें श्री हरिव्यास देव जी का शिष्य बतलाया गया है[1]। बाद में 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र में उनका जो जीवन-वृत्तांत प्रकाशित हुआ, उसमें ब्रह्मचारी जी के कथन का संशोधन करते हुए तत्त्ववेत्ता जी को हरिव्यास देव जी की अपेक्षा परशुराम जी का शिष्य सिद्ध किया गया है[2]। सर्वश्री पं० किशोरदास, बाबा हंसदास और डा० नारायणदत्त शर्मा ने भी इसका समर्थन किया है[3]। इस प्रकार तत्त्ववेत्ता जी के संबंध में जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वे राजस्थान में मारवाड़ के जयतारण नामक स्थान के निकटवर्ती एक गाँव में उत्पन्न हुए थे। वे दाधीच ब्राह्मण थे और उनका आरंभिक नाम टीकमदास था। बाद में अपने अनुपम ज्ञान-वैराग्य के कारण वे 'तत्त्ववेत्ता' कहलाने लगे और उसी नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उन्होने श्री परशुराम जी से दीक्षा प्राप्त की थी। उनके उपस्थिति-काल का अनुमान उनके देव-स्थान 'गोपाल-द्वारा' के निर्माण-काल से किया जा सकता है। उक्त द्वारा के शिला-लेख में उसका काल सं. १६६६ अंकित है। उससे समझा जाता है कि वे १७ वी शती के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। ऐसा अनुमान होता है,उनका जन्म १७ वी शती के आरंभ में और देहावसान उसके अंतिम चतुर्थांश में हुआ था।

वे अनेक तीर्थ-स्थलों की यात्रा कर अपने जन्म-स्थान में आकर रहने लगे थे। उनके भजन, भक्ति-भाव, तप, त्याग आदि गुणों की व्यापक प्रसिद्धि हो गई थी। उनके आशीर्वाद से अनेक व्यक्तियों को अभीष्ट फल प्राप्त होने लगा। यहाँ तक कि तत्कालीन जोधपुर नरेश भी उनके आशीर्वाद से लाभान्वित हुए थे। उन्होंने तत्त्ववेत्ता जी के हेतु जयतारण में 'गोपाल द्वारा' मंदिर का निर्माण कराया था, जिसकी प्रतिष्ठा सं. १६६६ की माघ शुक्ला १५ को हुई थी। उक्त 'गोपाल-द्वारा' में तत्ववेत्ता जी की प्रधान गद्दी स्थापित हुई, जिसके कारण जोधपुर और उसके निकटवर्ती स्थानों में निंवार्क संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ था। वे अपने अनुयायी भक्तों को पाँच बातों के पालन करने पर अधिक जोर देते हुए कहा करते थे,—

'तत्त्ववेत्ता' संसार में, पाँच बात है सार। हरिसेवा, गुरु भक्ति-रति, विद्या, तप, उपकार ॥

तत्त्ववेत्ता जी एक प्रभावशाली धर्माचार्य और चमत्कारी महात्मा होने के साथ ही साथ सुकवि भी थे। उनकी वाणी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है, जो प्रायः छप्पय छंद और राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में है। इसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि विषयों का गंभीरता पूर्वक कथन किया गया है। वह सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति-भावना के अनुकूल है।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ १२६

(२) सर्वेश्वर (पौष सं. २०१२), वर्ष ४ अंक २

(३) पं० किशोरदास कृत आचार्य परंपरा परिचय पृष्ठ ३१; बाबा हंसदास कृत निंबार्क प्रभा, पृष्ठ ६६ और डा० नारायणदत्त शर्मा का शोध प्रबंध निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ७० देखिये।

श्री नारायण देव जी—वे श्री हरिवंश जी के प्रधान शिष्य थे और अपने गुरु जी के पश्चात् 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। मंडन कवि कृत 'जयसाह सुजस प्रकास' ग्रंथ से ज्ञात होता है कि उन्होंने हरिवंश जी की स्मृति में व्रज के गोवर्धन स्थित गोविंदकुंड पर एक धार्मिक समारोह किया था। उसमें बहुसंख्यक भक्त गण उपस्थित हुए थे, जिनके स्वागत-सत्कार में प्रचुर व्यय हुआ था। उन्होंने राजस्थान के कई राजाओं से सन्मान प्राप्त किया था, जिनमें उदयपुर के महाराणा प्रमुख थे। वे उदयपुर में कई वर्ष तक रहे थे, और वहाँ पर ही सं. १७५४ में उनका देहावसान हुआ था। उनके चरण-चिह्न वहाँ विद्यमान हैं। उन्होंने निंवार्क संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था और कई मंदिर-मठों का निर्माण कराया था। उनका रचा हुआ संस्कृत काव्य 'आचार्य चरित्' उपलब्ध है।

उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें वृंदावनदास जी और हरिदास जी प्रमुख थे। वृंदावनदास जी उनके उपरांत 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। हरिदास जी ने उदयपुर में निंवार्कीय स्थानों का निर्माण कराया था। उन्होंने वहाँ ठाकुर नवनीतराय जी की प्रतिष्ठा की थी। उनके दो शिष्य थे,—ईश्वरीदास और प्रयागदास। वे उदयपुर के निंवार्कीय स्थान 'कुंड' और 'स्थल' की गद्दियों के महंत हुए थे। श्री नारायण देव जी के काल में मुगल सम्राट औरंगजेब ने व्रज में भीषण दमन चक्र चलाया था, जिससे वहाँ के अन्य वैष्णव संप्रदायों की भाँति निंवार्क संप्रदाय की भी बड़ी क्षति हुई थी।

औरंगजेबी शासन का कुप्रभाव—मुगल सम्राट औरंगजेव ने अपने पूर्वजों की धार्मिक सहिष्णुता के विरुद्ध मजहबी कट्टरता की नीति अपनायी थी। उसके शासन काल में साधारणतया सभी स्थानों में और विशेषतया व्रजमंडल में हिंदू धर्म के विविध संप्रदायों को बड़े संकट का सामना करना पड़ा था। उस समय अन्य धर्म-संप्रदायों की भाँति निंवार्क संप्रदाय की प्रगति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। जब औरंगजेव के आदेश से व्रज के प्राचीन देव-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, तब मथुरा स्थित ध्रुव क्षेत्र के निंवार्कीय मंदिर भी नष्ट कर दिये गये थे। उस समय वहाँ के निंवार्कीय आचार्य मथुरा छोड़ने को विवश हुए थे। उनमें से कुछ तो वृंदावन-गोवर्धन जैसे एकांत धार्मिक स्थलों में चले गये, किंतु अधिकतर हिंदू राजाओं के राज्यों में जाकर वस गये थे। उससे व्रज में इस संप्रदाय की उन्नति रुक गई थी, किंतु राजस्थान तथा हरियाना-पंजाब में यह संप्रदाय कुछ प्रगति करता रहा था। उस काल में व्रज में निंवार्क संप्रदाय का केन्द्र वृंदावन हो गया; किंतु इसका प्रधान केन्द्र राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र का 'परशुराम द्वारा' माना जाने लगा। श्री सर्वेश्वर शालग्राम जी के वहाँ प्रतिष्ठित होने से भी उक्त स्थान का महत्व बढ़ा था। उसके उपरांत 'परशुराम द्वारा' के आचार्यों ने ही निंवार्क संप्रदाय के प्रतिनिधि रूप में इसके प्रचार-प्रसार की उल्लेखनीय भूमिका प्रस्तुत की थी। इसमें वृंदावनदेव जी के आचार्यत्व-काल का बड़ा महत्त्व है।

श्री वृंदावन देव जी (आचार्यत्व-काल सं. १७५४ – सं. १७९७) —

जीवन-वृत्तांत—वे गौड़ ब्राह्मण थे, और राजस्थान के सराय सूरपुरा ग्राम में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने श्री नारायण देव जी से निंवार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी। निंवार्क-माधुरी'-कार ने उनका दीक्षा-काल सं. १७०० के लगभग वतलाया है[1], किंतु यह उनका जन्म-काल मालूम होता है। वे अपने गुरुदेव के पश्चात् सं. १७५४ में 'परशुराम द्वारा' के आचार्य हुए थे।

(१) निंवार्क माधुरी, पृष्ठ १४३.

राज सन्मान—'परशुराम द्वारा' की गद्दी का संबंध किशनगढ़, जोधपुर, उदयपुर के राजघरानों में तो पहिले से ही था; श्री वृंदावन देव जी ने आमेर के सवाई राजा जयसिंह से भी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इस प्रकार राजस्थान के कई राज्यों में उनका बड़ा सन्मान था। वहाँ के कई राजाओं ने और उनके घरानों की महिलाओं ने उनसे दीक्षा ली थी।

काव्य-रचना और संगीतज्ञता—वे एक प्रभावशाली धर्माचार्य और धार्मिक नेता होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के भक्त-कवि और संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने संस्कृत, राजस्थानी और व्रजभाषा में काव्य-रचना की है। उनके ग्रंथों में गीतामृत गंगा, दीक्षा मंगल और युगल परिवार चंद्रिका उपलब्ध हैं। 'गीतामृत गंगा' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसमें व्रजभाषा में रचे हुए उनके पदों का संकलन है। इसमें श्रीराधा-कृष्ण की निकुंज लीलाओं के साथ ही साथ व्रज लीलाओं का भी रसपूर्ण कथन हुआ है; जो उनके सुकवि होने का परिचायक है। उनकी संगीतज्ञता के संबंध में कहा जाता है कि उन्होंने घनानंद जी और सावंतसिंह उपनाम नागरीदास जी को संगीत की शिक्षा दी थी[1]।

शिष्य कवि और शिष्या कवयित्रियाँ—श्री वृंदावन देव जी की शिष्य-परंपरा में कई प्रसिद्ध कवि और कवयित्रियों के नाम मिलते हैं। उनमें सर्वश्री गोविंददेव जी, आनंदघन जी उपनाम 'घनानंद', रानी बांकावती जी और राजकुमारी सुंदरकुंवरि जी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री गोविंद देव जी सलीमाबाद की गद्दी के आचार्य और श्री वृंदावन देव जी के उत्तराधिकारी थे। आनंदघन जी उपनाम 'घनानंद' व्रजभाषा साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि थे। उनकी भक्तिपरक रचनाओं से अधिक उनके प्रेममार्गीय काव्य की प्रसिद्धि है। वे विरह-वेदना और प्रेम-पीड़ा के प्रतिनिधि-कवि हैं। उनका अस्तित्व-काल सं. १७३० से सं. १८१४ तक है। रानी बांकावती जी कृष्णगढ़ नरेश राजसिंह की दूसरी पत्नी और विख्यात भक्त-कवि राजा नागरीदास की विमाता थीं। वे भक्तहृदया महिला और जन्मजात कवयित्री थीं। उनका काव्योपनाम 'व्रजदासी' था। उनकी प्रसिद्ध रचना 'व्रजदासी भागवत' है, जो श्रीमद् भागवत का काव्यानुवाद है। राजकुमारी सुंदरिकुंवरि रानी बांकावती जी की पुत्री थी। उनका जन्म सं. १७९१ में हुआ था और ५ वर्ष की अबोधावस्था में उन्हें श्री वृंदावन देव जी से मंत्र-दीक्षा दिलाई गई थी। उनका विवाह राघवगढ़ के राजकुमार बलवंतसिंह खीची के साथ सं. १८२२ में हुआ था। उन्होंने प्रचुर परिणाम में काव्य-रचनाएँ की हैं, जो उनके उच्च कोटि के कवित्व की परिचायक हैं। उनकी १२ रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जो सं. १८१७ से सं. १८६२ तक के काल की हैं।

आचार्यत्व-काल और महत्व—श्री वृंदावन देव जी सं. १७५४ में 'परशुराम द्वारा' के आचार्य हुए थे और उनका देहावसान सं. १७९७ में हुआ था। इस प्रकार उनका आचार्यत्व-काल प्रायः ४४ वर्ष का है। उस दीर्घ काल में उन्होंने निंबार्क संप्रदाय की अभूतपूर्व गौरव-वृद्धि की थी। वे सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, हरिव्यास देव जी और परशुराम देव जी के पश्चात् इस संप्रदाय के सर्वाधिक प्रतापी एवं प्रतिष्ठित धर्माचार्य हुए हैं। उनके काल की कई महत्वपूर्ण बातों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे हैं,—१. आमेर के सवाई राजा जयसिंह का प्रोत्साहन और २. निंबार्कीय अखाड़ों का निर्माण। यहाँ पर उनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

---

(१) 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र के 'वृंदावनांक', पृष्ठ २२३ पर प्रकाशित चित्र देखिये।

राजा जयसिंह का प्रोत्साहन—मुगल शासन के अंतिम काल में समस्त ब्रजमंडल आमेर के सवाई राजा जयसिंह के प्रभाव-क्षेत्र में था। उस समय तक ब्रज के भक्ति संप्रदायों का प्रधान केन्द्र वृंदावन हो गया था। वही स्थान ब्रज में निंबार्क संप्रदाय का भी प्रमुख केन्द्र था। यह लिखा जा चुका है कि राजा जयसिंह वैष्णव धर्म के परंपरागत चतुः संप्रदायों के अतिरिक्त उस काल के नये भक्ति संप्रदायों को हिंदू समाज के सामूहिक हित के लिए अवांछनीय मानता था। उसके उक्त दृष्टिकोण के कारण ब्रज के कतिपय नये भक्ति संप्रदायों को पर्याप्त कठिनाई सहन करनी पड़ी थी; किंतु प्राचीन संप्रदाय होने के कारण वह निंबार्क संप्रदाय के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। उसने इस संप्रदाय को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। श्री वृंदावन देव जी की राजा जयसिंह से बड़ी घनिष्ठता हो गई थी और उनके राज्य में तथा वृंदावन सहित समस्त ब्रजमंडल में निंबार्क संप्रदाय का प्रभाव बढ़ गया था। जब राजा जयसिंह के धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ब्रज के नये भक्ति संप्रदायों ने कठिनाई का अनुभव किया, तब उससे बचने के लिए वे प्राचीन संप्रदायों से संबद्ध होने लगे थे। उस समय स्वामी हरिदास जी के अनुयायी विरक्त संतों का समुदाय निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत आ गया था। उससे इस संप्रदाय के महत्त्व की और भी वृद्धि हुई थी। यह अधिकतर राजा जयसिंह के प्रोत्साहन से ही संभव हुआ था।

निंबार्कीय अखाड़ों का निर्माण—वैसे तो ब्रज के वैष्णव संप्रदायों को आरंभ से ही विदेशी आक्रमणकारी एवं विधर्मी यवन शासकों से अपार कष्ट उठाना पड़ा है; किंतु १८वीं शती के पूर्वार्ध में औरंगजेबी अत्याचार ने उन्हें और भी अधिक संकट में डाल दिया था। उसके उपरांत वे १८वीं शती के उत्तरार्ध में शैव, शाक्त, स्मार्तादि अवैष्णव धर्म-संप्रदायों की उच्छृंखलता से भी त्रस्त हुए थे। वह स्थिति इसलिए और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण थी कि वे धर्म-संप्रदाय उसी विशाल हिंदू धर्म के अंग थे, जिसके कि वैष्णव संप्रदाय थे। उस नये संकट से त्राण पाने के लिए समस्त वैष्णव सप्रदायों ने पारस्परिक मतभेद और सांप्रदायिक संकीर्णता के विचारों की उपेक्षा कर 'अनी-अखाड़ों' के रूप में जिस सामूहिक सैनिक संगठन का उपक्रम किया था, उसकी चर्चा हम गत पृष्ठों में कर चुके हैं। हमने लिखा है, उसके संबंध की आरंभिक सभा सं. १७७० के लगभग वृंदावन में हुई थी[1]।

ऐसा जान पड़ता है, वृंदावन की उक्त सभा का निर्णय शीघ्र कार्यान्वित नहीं किया जा सका था। उसका कारण वैष्णव धर्म के रामोपासक और कृष्णोपासक संप्रदायों का अनी-अखाड़ों के संगठन से संबंधित कुछ बातों पर मतभेद था। उक्त मतभेद को दूर करने के लिए आमेर के सवाई राजा जयसिंह के संरक्षण में रामानंदी गद्दी के तत्कालीन आचार्य स्वामी बालानंद जी ने एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया था। वह सम्मेलन जयपुर के निकटवर्ती ब्रह्मपुरी नामक स्थान में हुआ था। वह स्थान बाद में गणेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उक्त सम्मेलन के आयोजन में स्वामी बालानंद जी के साथ 'परशुराम द्वारा' की निंबार्कीय गद्दी के तत्कालीन आचार्य वृंदावन देव जी ने भी बड़ा सहयोग किया था। 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र में इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि वृंदावन देव जी उक्त सभा के अध्यक्ष भी हुए थे[2]। किंतु जयपुर के राजकीय अभिलेखों के आधार पर डा० नारायणदत्त शर्मा का कथन है कि श्री वृंदावन देव जी उक्त सम्मेलन

(१) इस ग्रंथ के इस खंड का पृष्ठ २०९ देखिये।
(२) 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र (वृंदावन), वर्ष ४ अंक ८

१. वैदिक धर्म

संक्षिप्त परिचय—

नाम की सार्थकता—मनु ने कहा है,—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। सर्वज्ञानमयो हि सः[१]।' अर्थात्–वेद ही धर्म का मूल है और वह समस्त ज्ञान से युक्त है। भारतवर्ष के मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने चिरकालीन चिंतन, मनन और अनुभव से जिस परम सत्य का साक्षात्कार किया था, उसके उद्घोष की संज्ञा 'वेद' हुई। व्युत्पत्ति के अनुसार वेद का अर्थ है—'ज्ञान'। इस प्रकार जो चिरंतन ज्ञान प्राचीन ऋषियों द्वारा मंत्रों–ऋचाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया, उसी का नाम 'वेद' है और उसमें वर्णित आचार-विचार की संज्ञा 'वैदिक धर्म' है। वेद पर आधारित होने से ही भारत के उक्त प्राचीनतम धर्म को 'वैदिक धर्म' कहा गया है। श्रेष्ठतम मानवों की आदिम अनुभूति तथा अनादि काल से मान्य शाश्वत सत्य होने से इसे 'सनातन धर्म' भी कहते हैं।

संसार के अन्य तथाकथित धर्म तथा समस्त संप्रदाय किसी न किसी महापुरुष द्वारा प्रचलित किये गये हैं, किंतु वैदिक धर्म की यह विशेषता है कि इसके प्रचलनकर्ता का नाम नहीं बतलाया जा सकता। वस्तुतः इस धर्म का प्रवर्तक कोई विशिष्ट महापुरुष हुआ ही नहीं। भारत के मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने जिस परम सत्य का साक्षात्कार किया था, वह मंत्रों–ऋचाओं के रूप में पहिले गुरु–शिष्य परंपरा द्वारा एक-दूसरे से सुन कर कंठस्थ किया जाता था; इसीलिए उसकी 'श्रुति' संज्ञा हुई थी। कालांतर में उसे लिखित रूप प्रदान किया गया था।

वैदिक धर्म के दो प्रमुख अंग हैं, जिन्हें १. देव तत्व और २. यज्ञ तत्व कहा जाता है। वेद में इन दोनों को भी उनके व्यापक अर्थ में ही लिया गया है। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

देव तत्व—वैदिक ऋषियों ने परम सत्य के खंड रूप में जिन प्राकृतिक शक्तियों की महत्ता का अनुभव किया था; उन्हें अग्नि, इंद्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा आदि नाम दिये गये। उन सब को देवता समझा गया और उनके मानव रूपों की कल्पना की गई। ऋग्वेद में इंद्र, वरुण और सविता का अधिक मानवीकरण किया गया है; किंतु उनके मूल प्राकृतिक स्वरूप को भी नहीं भुलाया गया है।

वैदिक देव तत्व में ३३ देवता माने गये हैं, जिन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग आकाश के देवताओं का है; जिनमें सूर्य, वरुण, सविता द्यौस, उषा, विष्णु आदि हैं। द्वितीय वर्ग अंतरिक्ष के देवताओं का है; जिनमें इंद्र, वायु, रुद्र आदि हैं। तृतीय वर्ग पृथ्वी के देवताओं का है; जिनमें अग्नि, सोम आदि हैं। आकाशीय देवताओं में सूर्य का महत्व सर्वाधिक है। सविता और विष्णु भी सौर देवता ही हैं। वैदिक देव तत्व में विष्णु द्वितीय श्रेणी का देवता है, किंतु कालांतर में उसका बड़ा व्यापक महत्व हो गया था। अंतरिक्षीय देवताओं में इंद्र प्रमुख है, जिसे आर्यों का राष्ट्रीय देवता तथा बल और शक्ति का प्रतीक माना गया है। वह

[१] मनु०, २-६, २-७

अध्यक्ष न होकर इसी संबंध की दूसरी सभा के अध्यक्ष हुए थे[1]। वह सभा सं. १७९१ में पूर्वोक्त स्थल से २-३ कोस दूर 'निंबार्क स्थान' नामक स्थल पर हुई, वह स्थल अब 'नीम का थाना' कहलाता है, जो 'निंबार्क स्थान' का ही अपभ्रंश है।

जयपुर राज्य के उन दोनों धार्मिक समारोहों में श्री वृंदावन देव जी का पर्याप्त योग रहा था। उस काल में उनका महाराज जयसिंह और उनकी राजधानी से विशेष संबंध हो गया था और उन पर उनका बड़ा प्रभाव था। इस प्रकार महाराज जयसिंह, स्वामी बालानंद और श्री वृंदावन देव के सम्मिलित प्रयत्न से समस्त वैष्णव संप्रदायों के सामूहिक सैनिक संगठन के रूप में 'अनी-अखाड़ों' के निर्माण की समुचित व्यवस्था हो गई। रामोपासक और कृष्णोपासक संप्रदायों का उस संगठन की कुछ बातों के संबंध में जो मतभेद था, वह दोनों की सांप्रदायिक मान्यताओं का समन्वय करते हुए दूर कर दिया गया।

ऐसा कहा जाता है, उस सैनिक संगठन में सम्मिलित होने वाले विरक्त वैष्णव साधुओं को ५२ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं, जो चतुः संप्रदायों की मर्यादाओं और मान्यताओं के अनुकूल थीं। 'इन प्रतिज्ञाओं में १३ निंबार्क संप्रदाय की थीं; जैसे युगल तुलसी माला धारण करना, गोपीचंदन का तिलक लगाना, एकादशी में पैंतालीस घड़ी का मान अर्थात् 'कपालवेध' मानना, दंडवत् प्रणाम की विधि आदि[2]।' उस संगठन के अंतर्गत ३ 'अनी' और १८ 'अखाड़ों' का निर्माण हुआ। उनकी सुव्यवस्था और अनुशासन के लिए अनेक नियम बनाये गये[3], जिनका दृढ़ता पूर्वक पालन करना आवश्यक होता था। १८ अखाड़ों में रामोपासक और कृष्णोपासक संप्रदायों के भेद से ७ 'रामदल' के और ११ 'श्याम दल' के थे। 'श्याम दल' के अखाड़ों में निंबार्कीय साधुओं की संख्या सबसे अधिक थी और उनके कई स्वतंत्र अखाड़े भी थे। उन अखाड़ों के कारण उस काल में निंबार्क संप्रदाय का बड़ा हित-साधन हुआ था।

अनी-अखाड़ों की व्यवस्था के अनुसार 'निर्मोही अनी' के ९ अखाड़ों में ४ निंबार्कीय अखाड़े हैं,—१. हरिव्यासी महानिर्वाणी, २. हरिव्यासी संतोषी, ३. मालाधारी निर्मोही और ४. झाड़िया निर्मोही। 'निर्वाणी अनी' के ७ अखाड़ों में २ निंबार्कीय अखाड़े हैं,—१. हरिव्यासी निर्वाणी और २. हरिव्यासी खाकी। 'दिगंबरी अनी' के २ अखाड़ों में श्यामजी दिगंबर अखाड़े पर निंबार्कीय प्रभाव है। इस प्रकार तीनों 'अनी' के अठारह अखाड़ों में निंबार्कीय सर्वाधिक हैं।

निंबार्कीय अखाड़ों में 'मालाधारी अखाड़े' की अधिक प्रसिद्धि है। इस अखाड़े के संस्थापक जो महात्मा थे, वे बहुत सी मालाएँ पहिना करते थे, अतः उस अखाड़े का नाम 'मालाधारी का अखाड़ा' पड़ गया था। उक्त महात्मा की परंपरा में क्रमशः सर्वश्री खेमदास जी, मोतिया रामदास जी, गंगादास जी, बालकदास जी, हरिदास जी, सुंदरदास जी, रेवतीदास जी और जुगलदास जी हुए थे। जुगलदास जी ने सं. १८८८ में ठाकुर श्री पुलिनविहारी जी (परमार्थी जी के अखाड़े) की भूमि खरीद कर वृंदावन में एक विशाल मंदिर बनवाया था। उसमें ठाकुर श्री जुगलकिशोर जी की मूर्ति और निंबार्क भगवान की चरण पादुका की स्थापना हुई थी[4]।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ५५

(२) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ५६

(३) पं० छगनलाल शर्मा कृत 'अनी अखाड़ा और संप्रदाय' नामक पुस्तिका देखिये।

(४) वृंदावन के अखाड़े ('सर्वेश्वर' का वृंदावनांक, पृष्ठ ३४५)

श्री वृंदावन देव जी के उत्तराधिकारी —

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री वृंदावन देव जी का देहावसान सं. १७९७ में हो गया था। उनके शिष्यों में जयरामदास शेष नामक एक महाराष्ट्रीय विद्वान थे। सवाई राजा जयसिंह ने उन्हें अपनी राजधानी की निंबार्कीय गद्दी का अध्यक्ष नियुक्त किया और साथ ही उन्हें परशुराम द्वारा की प्रमुख गद्दी का आचार्य भी घोषित कर दिया था। किशनगढ़ और उदयपुर के राजाओं ने भी इसका समर्थन किया था। अभी तक इस गद्दी के आचार्य उत्तर भारतीय विरक्त गौड़ ब्राह्मण हुए थे; किंतु जयरामदास जी दाक्षिणात्य ब्राह्मण और कदाचित गृहस्थ थे, अतः उन्हे निंबार्कीय भक्तों ने आचार्य के रूप में स्वीकार नहीं किया। राजा जयसिंह की विद्यमानता में जयरामदास जी के विरोध करने का साहस किसी को नहीं हुआ था। किंतु सं. १८०० में जब राजा का देहावसान हो गया, तब निंबार्कीय भक्त समुदाय ने जयरामदास जी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उनके स्थान पर स्व० वृंदावन देव जी के दूसरे प्रमुख शिष्य गोविंददेव जी को आचार्य-गद्दी पर आसीन किया था। श्री जयरामदास शेष का सं. १७९७ से सं. १८०० तक का अधिकार-काल परशुराम द्वारा के इतिहास में सम्मिलित नहीं किया गया है[1]।

श्री गोविंददेव जी—वे परम भक्त, श्रेष्ठ विद्वान और सुकवि थे। वे सं. १८०० में श्री वृंदावन देव जी की गद्दी पर आसीन हुए थे और उनका देहांत सं. १८१४ में हुआ था[2]। इस प्रकार वे प्रायः १५ वर्ष तक निंबार्क संप्रदाय के आचार्य रहे थे। उस काल में किशनगढ़ का राजा बहादुरसिंह था, जो गोविंददेव जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखता था। निंबार्क संप्रदाय के भक्ति साहित्य में गोविंददेव, गोविंदशरण और रसिकगोविंद के नाम से अनेक काव्य-रचनाएँ मिलती हैं। इनमें रचयिताओं के नाम-साम्य के कारण प्रायः भ्रम हो जाता है। 'निंबार्क माधुरी' में भी उनके संबंध में भ्रमात्मक कथन हुआ है। उन तीनों में श्री गोविंददेव जी की काव्य-रचना 'जयति चतुर्दशी' के नाम से उपलब्ध है। श्री गोविंददेव जी के काल की एक ऐतिहासिक घटना अहमदशाह अब्दाली का ब्रज पर आक्रमण करना है; जिससे वहाँ निंबार्क संप्रदाय की बड़ी क्षति हुई थी।

अब्दाली के आक्रमण का दुष्परिणाम—सं. १८१३-१४ में अफगानिस्तान के पठान शासक अहमदशाह अब्दाली ने ब्रजमंडल पर भीषण आक्रमण किया था। उससे मथुरा-वृंदावन की बड़ी भारी क्षति हुई थी। अब्दाली के सैनिकों ने वहाँ के मंदिर-देवालयों को बुरी तरह लूटा और वहाँ निवास करने वाले भजनानंदी महात्माओं का क़त्ले-आम किया था। ऐसा उल्लेख मिलता है, ब्रज के वैष्णव अखाड़ों के नागा साधुओं ने गोकुल के निकट अब्दाली के सैनिकों का कड़ा प्रतिरोध किया था। उसमें अब्दाली के सैनिक और नागा साधु दोनों ही बड़ी संख्या में हताहत हुए थे[3]। वृंदावन के क़त्ले-आम में निंबार्क संप्रदाय के जिन भक्त जनों का संहार हुआ, उनमें सुप्रसिद्ध भक्त-कवि घनानंद जी भी थे। उससे ब्रज की निंबार्कीय भक्त-मंडली में हा-हाकार मच गया। इस प्रकार अब्दाली के आक्रमण के फलस्वरूप उस काल में इस संप्रदाय को फिर दुर्दिन देखने पड़े थे।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ६२

(२) 'सर्वेश्वर' का वृंदावनांक, पृष्ठ २२४

(३) इस ग्रंथ का 'ब्रज का इतिहास' नामक द्वितीय खंड, पृष्ठ ५१५ देखिये।

श्री गोविंदशरण जी—वे श्री गोविंददेव जी के शिष्य थे और उनके पश्चात् 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल सं. १८१४ से सं. १८४१ तक माना गया है[1]। आचार्य गद्दी पर बैठने से पहिले वे भरतपुर और जयपुर में रहे थे और वहाँ के राजाओं को उन्होंने भक्ति-भाव की ओर प्रेरित किया था। जयपुर में उन्होंने निंबार्कीय गद्दी की स्थापना की थी, और मंदिर बनवाया था। वह देव-स्थान 'श्री जी की मौरी' के नाम से प्रसिद्ध है। सलीमाबाद के परशुराम द्वारा में उन्होंने सं. १८२३ में ठाकुर श्री राधामाधव जी की प्रतिष्ठा की थी। इस प्रकार उन्होंने निंबार्क संप्रदाय की पर्याप्त उन्नति की थी। वे एक प्रभावशाली धर्माचार्य और गंभीर विद्वान होने के साथ ही साथ सुकवि भी थे। उनकी बहुसंख्यक सरस वाणी का संकलन परशुराम द्वारा में सुरक्षित है। अभी कुछ समय पहिले उनका एक ग्रंथ 'श्री हरि गुरु सुयश भाष्कर' उपलब्ध हुआ है।

श्री सर्वेश्वरशरण जी—उनका जन्म जयपुर राज्य के सराय सूरपुरा नामक गाँव के ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनका पूर्व नाम शालिग्राम था। उन्होंने श्री गोविंदशरण जी से निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी; तभी उनका नाम सर्वेश्वरशरण प्रसिद्ध हुआ था। वे गोविंदशरण जी के उपरांत परशुराम द्वारा की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल सं. १८४१ से सं. १८६९ तक का है। 'जयसाह सुजस प्रकास' के रचयिता मंडन कवि उनके समकालीन थे, और सुप्रसिद्ध कवि रसिकगोविंद उनके शिष्य थे। उन दोनों ने श्री सर्वेश्वरशरण जी का बड़ा गुण-गान किया है। मंडन कवि के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे श्रीमद् भागवत के मर्मज्ञ थे और उन्होंने उसके गूढार्थ को स्पष्ट करने वाले किसी टिप्पणी-ग्रंथ की रचना की थी[2]।

उनके आचार्यत्व-काल में जयपुर के राज-सिंहासन पर महाराज प्रतापसिंह आसीन थे। उनकी सर्वेश्वरशरण जी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। राजा के आग्रह से वे प्रायः जयपुर के निंबार्कीय स्थान में ही रहा करते थे। उन्हीं की प्रेरणा से उस काल में वहाँ वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों को राजकीय मान्यता प्राप्त हुई थी। उन्होंने साधु-संतों के सम्मानार्थ अनेक धार्मिक समारोह किये थे। उनका निवास अधिकतर सलीमाबाद और जयपुर रहा था; किंतु उनका मन वृंदावन में रमा करता था। अपने अंतिम काल में वे वृंदावन-वास करना चाहते थे। उसी निमित्त उन्होंने सं. १८६९ की ज्येष्ठ कृ. ६ को जयपुर से वृंदाबन की ओर प्रस्थान किया। जब वे वहाँ जा रहे थे, तब मार्ग में उनका देहावसान हो गया। उनकी छत्री प्रतापगढ़ के समीप बनी हुई है, जहाँ उनके चरण-चिह्न भी हैं। उनका पाटोत्सव पौष कृ. ६ को मनाया जाता है।

श्री सर्वेश्वरशरण जी के बहुसंख्यक शिष्यों में रसिकगोविंद जी ब्रजभाषा साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

रसिकगोविंद जी—वे जयपुर निवासी नाटाणी गोत्रीय खंडेलवाल वैश्य शालिग्राम जी के पुत्र और श्री सर्वेश्वरशरण जी के शिष्य थे। वे ब्रजभाषा के विख्यात कवि थे। उनका काव्य-काल सं. १८५० से १८९० तक माना गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनके ९ ग्रंथों का नामोल्लेख किया है; किंतु उनके और भी कई ग्रंथ हैं, जो विविध ग्रंथ-भंडारों में सुरक्षित हैं। उनकी रचनाएँ

---

(१) 'सर्वेश्वर' का वृंदावनांक, पृष्ठ २२४

(२) 'मंडन' सर्वेश्वरशरण, विधि यों कियो समर्थ।
कठिन-कठिन थल खोलिकैं, लिख्यो भागवत अर्थ॥ ('सर्वेश्वर' वृंदावनांक, पृष्ठ २२५)

भक्ति-काव्य की अपेक्षा रीति-काव्य की अधिक हैं। शुक्ल जी ने उन्हें रीति काल का प्रसिद्ध कवि एवं आचार्य माना है और उनके ग्रंथ 'रसिक गोविंदानंदघन' की बड़ी प्रशंसा की है[1]। कृष्ण-काव्य से संबंधित उनके दो छोटे ग्रंथ उल्लेखनीय हैं, जिनके नाम 'समय प्रबंध' और 'युगल रस माधुरी' हैं। इनमें 'युगल रस माधुरी' अत्यंत सरस रचना है। यह रोला छंद में है, और इसमें वृंदावन के भव्य रूप तथा राधा-कृष्ण के दिव्य विहार का रसपूर्ण कथन किया गया है।

श्री निंबार्कशरण जी—उनका नाम नंदकुमार था और वे श्री सर्वेश्वरशरण जी के शिष्य थे। अपने गुरुदेव के उपरांत वे निंबार्कशरण देव के नाम से 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल सं. १८७० से सं. १८९२ तक है। वे परम भक्त, विख्यात विद्वान और भागवत के प्रभावशाली वक्ता होने के साथ ही साथ स्वदेशाभिमानी वीर पुरुष भी थे। श्री गोविंदशरण जी के समय से ही भरतपुर के जाट राजाओं की निंबार्क संप्रदाय के प्रति श्रद्धा रही है। श्री निंबार्कशरण जी के काल में जब अंगरेजों ने भरतपुर पर आक्रमण किया, तब वे वैष्णव नागाओं की एक बड़ी जमात के साथ राजा की सहायता के लिए गये थे। उनके नेतृत्व में वीर वैष्णवों ने अंगरेजों से डट कर लोहा लिया था। बाद में अंगरेज शासकों ने निंबार्कशरण जी से बदला लेने के हेतु उन्हें गिरफ्तार कर आगरा के किले में बंदी किया था; किंतु कुछ प्रभावशाली हिंदू राजाओं के हस्तक्षेप करने से उन्हें बंधन मुक्त कर दिया गया[2]। किसी अन्य वैष्णव धर्माचार्य के जीवन-वृत्त में उस प्रकार की वीरोचित घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

श्री निंबार्कशरण जी ने जयपुर के राजघराने को भी बड़ा प्रभावित किया था। तत्कालीन जयपुर-नरेश जगतसिंह की भाटियानी रानी की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। उक्त रानी ने आमेर के मार्ग में एक विशाल मंदिर बनवा कर उसे सं. १८७८ में निंबार्कशरण जी की भेंट किया था। उसके अतिरिक्त उसने सं. १८८३ में वृंदावन में भी एक देवस्थान बनवाया था, जो 'श्री जी की बड़ी कुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। निंबार्कशरण जी का देहावसान सं. १८९२ की कार्तिक कृ. ५ को जयपुर में हुआ था[3]।

श्री निंबार्कशरण जी के उपरांत उनके शिष्य श्री ब्रजराजशरण जी 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे; किंतु उनका कुछ ही समय पश्चात् देहावसान हो गया था। उस समय स्व० श्री निंबार्कशरण जी के कृपा-पात्र श्री शुकसुधी नामक एक विद्वान महानुभाव को आचार्य बनाने की चेष्टा की गई थी; किंतु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उस काल में आचार्य गद्दी के लिए निंबार्क संप्रदायी भक्तों में मतभेद होकर गृह-कलह की सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उस अशांत वातावरण में श्री गोपीश्वरशरण जी को सं. १९०१ में आचार्य गद्दी पर आसीन किया गया। उसके कुछ समय पश्चात् वह गृह–कलह शांत हुआ था।

---

(१) हिंदी साहित्य का इतिहास (११वाँ संस्करण), पृष्ठ २९४–२९५

(२) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ६५, ११४

(३) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ६६–६७

४. राधावल्लभ संप्रदाय

नामकरण और विशेषता—ब्रज की समृद्ध धार्मिक परंपरा में इस भक्तिमार्गीय विशिष्ट मत का प्रचलन सुविख्यात रसिकाचार्य श्री हित हरिवंश जी ने किया था। ब्रज के लीला-धाम श्री वृंदावन की नित्य निकुंजों में सतत प्रेम-क्रीड़ारत श्रीराधा-कृष्ण के युगल स्वरूप को हित हरिवंश जी ने 'राधावल्लभ' नाम से अभिहित किया है। इसी नाम पर श्री हरिवंश जी का यह भक्ति-मार्गीय 'मत' अथवा उपासना 'मार्ग' धार्मिक जगत् में 'राधावल्लभ संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है।

'हित' शब्द की व्यंजना—इस 'मत', 'मार्ग' किंवा 'संप्रदाय' में श्रीराधा-कृष्ण के 'नित्य विहार' की मान्यता है, जो दिव्य युगल की चिरंतन प्रेम-लीला का प्रतीक है। इस प्रकार राधा-वल्लभ संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांत का मूलाधार प्रेम-तत्व है, जिसे श्री हरिवंश जी ने 'हित' शब्द से अभिव्यंजित किया है। इस संप्रदाय में 'हित' एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है, जो साधारणतया 'प्रेम' का समानार्थी है; किंतु विशेषतया यह अत्यंत व्यापक अर्थ का द्योतक है। इसकी अनंत परिधि में श्रीराधा-कृष्ण का दिव्य प्रेम 'हित' है, इस प्रेम की रसमयी क्रीड़ा नित्य विहार 'हित' है, इसके आधार प्रिया-प्रियतम 'हित' हैं, प्रिया जी की सखी-सहचरी 'हित' हैं, और उनका लीला-धाम वृंदावन भी 'हित' है। इस बहुविध प्रेम-तत्त्व के मूर्त्त रूप श्री हरिवंश जी माने गये हैं; अतः उनके नाम के साथ भी 'हित' शब्द लगाने की सांप्रदायिक प्रथा प्रचलित हुई है। श्री हरिवंश जी के पश्चात् उनके वंशज गोस्वामियों के नामों के साथ भी 'हित' शब्द लगाया जाने लगा। इस प्रकार इस संप्रदाय में 'हित' शब्द की बड़ी महिमा है, और साथ ही इसकी विपुल व्यंजना भी है।

श्रीराधा जी की प्रधानता—राधावल्लभ संप्रदाय के उपास्य तत्व 'निकुंज विहार' में यद्यपि श्रीकृष्ण और श्रीराधा का समान योग माना गया है; तथापि उनके प्रेम रस की निष्पत्ति के लिए रसेश्वरी श्रीराधा जी को प्रमुखता दी गई है। श्री निंबार्काचार्य जी ने भक्ति के क्षेत्र में जिस 'राधा-कृष्णोपासना' को प्रचलित किया था, उसी का यह अत्यंत विकसित और माधुर्य मंडित स्वरूप है। इसे हरिवंश जी ने श्रीराधा जी की प्रधानता की मान्यता के साथ प्रचलित किया था। नाभा जी ने इसके लिए हित जी की प्रशंसा करते हुए कहा है,—

'श्रीराधा-चरन प्रधान, हृदै अति सुदृढ़ उपासी। कुंज-केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी ॥'

श्रीराधा जी की प्रधानता विषयक हित हरिवंश जी का उक्त दृष्टिकोण उनके द्वारा प्रचलित राधावल्लभ संप्रदाय को सर्वश्री वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और निंबार्काचार्य जी के संप्रदायों से, जिनमें भी श्रीराधा जी का थोड़ा या बहुत महत्व स्वीकृत है, विशिष्टता प्रदान करता है। हित जी ने उक्त तीनों संप्रदायों की भाँति दार्शनिक सिद्धांत, साध्य-साधन तत्त्व और भक्तिमार्गीय विधि-निषेध की उपेक्षा कर निकुंज-विहार की रसोपासना को ही अपनी साधना का मूलमंत्र स्वीकार किया था। ब्रज की राधा-कृष्णोपासना को उनकी वह नई देन थी।

सांप्रदायिक अस्तित्व—हित हरिवंश जी की उस नई देन के कारण उनके द्वारा प्रचलित भक्ति और उपासना के मार्ग को एक विशिष्ट संप्रदाय का महत्व दिया गया है। हित हरिवंश जी के सखा और सहयोगी स्वामी हरिदास जी थे। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय के सदृश प्रेम-भक्ति का एक दूसरा मत प्रचलित किया था, जिसमें सखी भाव की उपासना को प्रमुखता दी गई थी। उनका मत भी विशिष्ट संप्रदाय माना गया। इस प्रकार उन दोनों सहयोगी महात्माओं द्वारा प्रचलित मतों

को उनकी विशिष्ट मान्यताओं के कारण किसी पूर्ववर्ती संप्रदाय के अंतर्गत न रख कर उन्हें स्वतंत्र संप्रदाय ही माना गया है। इन दोनों में भी क्या अंतर है, इसे श्री हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी के जीवन-वृत्त और उनकी उपासना-पद्धति के पर्यालोचन से भली भाँति समझा जा सकता है। हम पहिले हित हरिवंश जी का जीवन-वृत्तांत और राधावल्लभ संप्रदाय का विवरण प्रस्तुत करते हैं। उसके पश्चात् स्वामी हरिदास जी और उनके संप्रदाय के संबंध में लिखेंगे।

श्री हित हरिवंश जी (सं. १५५९ – सं. १६०९)—

जीवन–वृत्तांत—ब्रज के कितने ही धर्माचार्य, संत–महात्मा और कवि–गायकों की भाँति श्री हित हरिवंश जी का जीवन–वृत्तांत अज्ञात अथवा अस्पष्ट नहीं है। उनके समकालीन श्री हरिराम व्यास से लेकर आधुनिक काल तक के अनेक भक्त-कवियों की रचनाओं में उनका गुण-गान तथा उनकी जीवन–घटनाओं का उल्लेख मिलता है। जिन रचनाओं में उनके जीवन-वृत्तांत के अधिक सूत्र मिलते हैं, उनमें नाभा जी कृत 'भक्तमाल', भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल', उत्तमदास जी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र', जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त ध्रुवदास जी कृत 'भक्त–नामावली', रूपलाल गोस्वामी कृत 'हित चरित्र' चाचा वृंदावनदास कृत 'रसिक अनन्य परचावली', चंद्रलाल गोस्वामी कृत 'वृंदावन प्रकाश माला' और गोविंदअली कृत 'रसिक अनन्य गाथा' में हित हरिवंश जी के साथ ही साथ उनकी परंपरा के अन्य भक्तों की जीवनी का भी कथन किया गया है।

प्रमुख आधार-ग्रंथ—'रसिक अनन्यमाल' (सं. १७०५ के लगभग) के रचयिता भगवतमुदितजी चैतन्य संप्रदाय के अनुयायी थे; किंतु उन्होंने राधावल्लभीय भक्तों का सर्वप्रथम जीवन–वृत्तांत लिखा था। इस रचना में श्री हरिवंश जी का वृत्तांत न होकर उनके शिष्यों का है; किंतु उनके साथ हरिवंश जी की कतिपय जीवन–घटनाओं का भी उल्लेख हो गया है। उत्तमदास कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' (रचना–काल सं. १७४५ के लगभग) हित जी का सर्वप्रथम जीवन–वृत्तांत है, जो उनके देहावसान के प्रायः १३५ वर्ष पश्चात् लिखा गया था। उत्तमदास जी राधावल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने गो. कुंजलाल जी (जन्म सं. १६९६) से मंत्र–दीक्षा ली थी। उनके ग्रंथ में श्री हरिवंश जी की जीवनी के साथ ही साथ उनके प्रमुख शिष्यों का भी कुछ वृत्तांत लिखा गया है। इस प्रकार यह 'रसिक अनन्य माल' का पूरक ग्रंथ माना गया, और इसे उक्त रचना के साथ ही लिखा जाने लगा। इससे हिंदी के कतिपय विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि इस ग्रंथ के रचयिता भी भगवतमुदित ही हैं। इस ग्रंथ में सर्वप्रथम हित जी के जन्म-काल सं. १५५९ और उनके द्वारा श्री राधावल्लभ जी की सेवा-स्थापना का काल सं. १५९१ का उल्लेख किया गया है। किंतु इसमें यह नहीं लिखा गया कि हरिवंश जी कितने समय तक वृंदावन में रहे और उनका देहावसान किस संवत् में हुआ था। जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' छोटा ग्रंथ है, और यह उत्तमदास जी के ग्रंथ का पूरक है। इसमें हित जी के चरित्र का वह अंश भी है, जो उत्तमदास जी के ग्रंथ में नहीं है। इसी में सर्वप्रथम हित जी के वृंदावन-निवास का समय १८ वर्ष और उनका देहावसान-काल सं. १६०९ लिखा गया है। हित जी के आरंभिक तीनों पुत्रों के जन्म-संवत् और वंशजों के वृत्तांत भी सर्वप्रथम इसी में लिखे गये हैं। इस ग्रंथ की पूर्ति सं. १७६० की कार्तिक शु. १३ को मथुरा में हुई थी[१]।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य के आधार पर।

इस प्रकार श्री हित हरिवंश जी, उनके वंशज और शिष्य समुदाय के जीवन-वृत्तांत की जानकारी के लिए 'रसिक अनन्य माल', 'श्री हरिवंश चरित्र' और 'हित कुल शाखा' ये तीनों क्रमशः एक दूसरे के पूरक ग्रंथ हैं। इनके आधार पर ही श्री हित जी का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

कुल-परिवार और माता-पिता—श्री हरिवंश जी का जन्म देववन (देववंद, जिला सहारनपुर) के एक प्रतिष्ठित गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके ताऊजी केशवदास मिश्र एक चमत्कारी महात्मा थे। बाद में वे संन्यासी होकर श्री नृसिंहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। ऐसा कहा जाता है, उनके आशीर्वाद से ही हरिवंश जी का जन्म हुआ था। उनके पिता व्यास जी विख्यात राज-ज्योतिषी थे और उनकी माता तारा जी एक धार्मिक महिला थीं। 'व्यास' उनके पिता का नाम था या उपनाम, यह निश्चय पूर्वक ज्ञात नहीं होता है। कई विद्वानों ने इसे उपनाम मान कर श्री हरिवंश जी के पिता का नाम केशव मिश्र या राम मिश्र लिखा है, किंतु इन नामों का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। कुछ लेखकों ने भ्रम से हरिराम जी व्यास को ही हित जी का पिता लिख दिया है, क्यों कि 'व्यास' नाम से उन्हीं की सर्वाधिक प्रसिद्धि रही है। प्राचीन उल्लेखों में हित जी के पिता को 'व्यास' और उन्हें 'व्यास-नंदन' या 'व्यास-सुवन' ही लिखा मिलता है। इससे अनुमान होता है, श्री हरिवंश जी के पिता का नाम ही व्यास जी था, वह उपनाम नहीं था। उनकी अल्ल मिश्र थी। श्री व्यास मिश्र कश्यप गोत्र के यजुर्वेदी गौड़ ब्राह्मण और देववन के निवासी थे। वे बड़े प्रतिभाशाली विद्वान थे; राज-दरवारों में उन्हें यथेष्ट सन्मान प्राप्त हुआ था।

हित हरिवंश जी की विस्तृत जीवनी के प्रथम रचयिता उत्तमदास ने उनके पिता व्यास मिश्र को 'पृथ्वीपति' का ज्योतिषी और मनसबदार बतलाते हुए लिखा है कि वह सदैव उन्हें अपने साथ रखता था। व्यास जी के आश्रयदाता उक्त 'पृथ्वीपति' का नामोल्लेख नहीं मिलता है; किंतु समकालीन घटनाओं की संगति से वह सिकंदर लोदी ज्ञात होता है। इतिहास में सिकंदर लोदी को वेहद तास्सुवी और हिंदू विरोधी सुलतान लिखा गया है। उसने अपने मजहवी उन्माद से ब्रज में जो भीषण अत्याचार किये थे, उनका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। ऐसे धर्मांध शासक का व्यास मिश्र को सन्मानित कर उन्हें अपने साथ रखना आश्चर्यजनक कहा जावेगा। ऐसा जान पड़ता है, सिकंदर लोदी उनके ज्योतिष संवंधी ज्ञान से अत्यंत प्रभावित हुआ था और उनकी विद्या से लाभान्वित होने के लिए वह उन्हें आदर पूर्वक सदा अपने साथ रखता था।

जन्म-स्थान—एक वार सुलतान ब्रज के राजकीय दौरे पर गया था। उसके साथ सदा की भाँति व्यास मिश्र भी थे। उस वार ब्रज-यात्रा के उद्देश्य से मिश्र जी अपनी पत्नी तारा जी को भी अपने संग ले गये थे। उस समय तारा जी गर्भवती थीं, फिर भी ब्रज-यात्रा का लाभ प्राप्त करने के लिए वे सहर्ष अपने पतिदेव के साथ गई थीं। जिस समय शाही पड़ाव मथुरा से कुछ दूर आगरा मार्ग स्थित 'वाद' नामक गाँव में पड़ा हुआ था, उस समय तारा जी को अकस्मात प्रसव-पीड़ा होने लगी। शाही पड़ाव तो आगे वढ़ गया, किंतु मिश्र जी को अपनी पत्नी की तत्कालीन स्थिति के कारण 'वाद' गाँव में ही रुक जाना पड़ा। उसी स्थान पर श्री हरिवंश जी का जन्म हुआ था। कुछ लेखकों ने भ्रमवश उनका जन्म-स्थान देववन लिख दिया है, किंतु प्राचीन उल्लेखों में 'वाद' ही मिलता है। उसी स्थान पर प्रति वर्ष उनका जन्मोत्सव भी मनाया जाता है। राधावल्लभ संप्रदाय की सर्वमान्य 'सेवक-वाणी' में श्री हरिवंश जी का जन्म-स्थान 'वाद' ही लिखा गया है,—

'मथुरामंडल भूमि आपनी। जहाँ 'वाद' प्रगटे जग-धनी॥'

जन्म-काल—श्री हरिवंश जी का जन्म सं. १५५९ की वैशाख शुक्ला ११ सोमवार को अरुणोदय काल में हुआ था। इसका उल्लेख 'श्री हरिवंश चरित्र' और 'हित कुल शाखा' के अतिरिक्त राधावल्लभ संप्रदाय की प्राचीन वाणियों में भी मिलता है। इधर कुछ लोगों ने भ्रमवश अथवा किसी विशेष कारण से हित जी का जन्म-संवत् १५३० मानना आरंभ किया था, जिससे इस संबंध में विवाद चल पड़ा था[1]। अनेक विद्वानों ने दोनों संवतों की प्रामाणिकता की जाँच कर सं. १५५९ के पक्ष में ही अपना निर्णय दिया है। राधावल्लभ संप्रदाय पर अनुसंधान करने वाले डा० विजयेन्द्र स्नातक और इस संप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी भी इसी तिथि-संवत् को मानते हैं[2]। इस प्रकार श्री हरिवंश जी के जन्म-काल की निश्चित तिथि सं. १५५९ की वैशाख शु. ११ सोमवार ही है।

आरंभिक जीवन—श्री हरिवंश जी का जन्म तो ब्रज के 'बाद' नामक ग्राम में हुआ; किंतु उनका शैशव-बाल्य काल और आरंभिक जीवन देवबन में बीता था। उसी स्थान पर उनका यज्ञोपवीत हुआ, और वहीं पर उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता है, स्वयं श्रीराधा जी ने स्वप्न में हरिवंश जी को मंत्र-दीक्षा दी थी। इसीलिए इस संप्रदाय की गुरु-परंपरा में श्री हरिवंश जी से पूर्व श्रीराधा जी को ही आदि गुरु माना गया है। उन्होंने ब्रजभाषा और संस्कृत का गहन अध्ययन किया था और इन दोनों भाषाओं में काव्य-रचना करने में वे सफल हुए थे। उनकी संस्कृत रचना 'श्रीराधा-सुधानिधि' का अधिकांश भाग देवबन में ही रचा गया था। उनका प्रथम विवाह भी देवबन में रुक्मिणी जी से हुआ था, जिनसे उन्हें तीन पुत्र वनचंद्र जी (जन्म सं. १५८५), कृष्णचंद्र जी (जन्म सं. १५८७), गोपीनाथ जी (जन्म सं. १५८८) हुए, और एक पुत्री साहिबदे हुई थी।

श्री हरिवंश जी का आकर्षण आरंभ से ही भक्ति मार्ग की ओर हो गया था। उन्होंने देवबन में ठाकुर श्री रंगीलाल जी की मूर्ति प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा प्रचलित की थी। वे गृहस्थ होते हुए भी पारिवारिक जीवन के प्रति उदासीन से थे। अपनी ३२ वर्ष की आयु तक वे अपने गार्हस्थित कर्त्तव्यों का पालन करते रहे। उसके उपरांत उन्होंने अपने उपास्य के लीला-धाम में अपना शेष जीवन बिताने का निश्चय किया। फलतः वे घर-बार और कुटुंब-परिवार सबको छोड़ कर ब्रज-वास करने के लिए देवबन से चल दिये।

श्री राधावल्लभ जी की प्राप्ति और वृंदावन-आगमन—जब हरिवंश जी ब्रज की ओर जा रहे थे, तब मार्ग में 'चिड़थावल' नामक ग्राम में उन्हें रुकना पड़ा था। वहाँ आत्मदेव नामक एक ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। उस ब्राह्मण की कृष्णदासी तथा मनोहरीदासी नामक दो नवयुवती कन्याएँ थीं, और उसके पास श्री राधावल्लभ जी का सुंदर देव-विग्रह था। ऐसा कहा जाता है, श्रीराधा जी ने स्वप्न में उस ब्राह्मण को अपनी दोनों कन्याओं सहित श्री राधावल्लभ जी के देव-विग्रह को हरिवंश जी के अर्पित करने, और हरिवंश जी को उन्हें सहर्ष स्वीकार करने का आदेश दिया था! यद्यपि वे स्वेच्छापूर्वक अपने गृहस्थ जीवन से विरक्त हो कर आये थे; तथापि भगवद्-इच्छा वश उन्हें उन दोनों कन्याओं के साथ विवाह करना पड़ा।

---

(१) श्री गोपालप्रसाद शर्मा कृत 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका, पृष्ठ ८-९

(२) १. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ९२-९६
 २. श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ३०

कुछ समय तक चिड़थावल में रुकने के उपरांत वे वहाँ से चल कर ब्रज में आ गये। उनके साथ श्री राधावल्लभ जी का देव-विग्रह था और नवविवाहिता पत्नियाँ थीं। ब्रज में पहुँच कर उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण के लीला-धाम वृंदावन में स्थायी रूप से निवास करने का निश्चय किया। फलतः वहाँ के यमुना तटवर्ती 'मदनटेर' नामक एक ऊँचे स्थल पर उन्होंने अपना डेरा डाला। उनके वृंदावन-आगमन की तिथि सं. १५६० की फाल्गुनी एकादशी मानी जाती है।

वृंदावन की तत्कालीन स्थिति और उसके गौरव का सूत्रपात—जिस काल में श्री हरिवंश जी वृंदावन आये थे, उस समय ब्रज का यह पुरातन धार्मिक स्थल सघन वृक्षावली से आच्छादित था। वहाँ पर बस्ती प्रायः नहीं थी। उसके अधिकांश भाग में हिंसक जीवों और चोर-डाकुओं का भय था। वहाँ तस्करी वृत्ति के एक ज़िमीदार नरवाहन ने भी अपनी लूट-मार से बड़ा आतंक पैदा कर दिया था। उस काल में वृंदावन सहित समस्त ब्रजमंडल की जैसी अराजकतापूर्ण राजनैतिक, शोचनीय सामाजिक एवं अस्थिरतायुक्त धार्मिक स्थिति थी, उसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। फिर भी विभिन्न स्थानों के उत्साही भक्त जन ब्रज में आ कर यहाँ के विविध लीला-स्थलों में निवास करते थे, और सब प्रकार की असुविधाओं को सहन करते हुए भी वे अपनी भक्ति-भावना और साहित्य-सर्जना द्वारा ब्रज की गौरव-वृद्धि कर रहे थे। श्री हरिवंश जी ने भी आगत भक्तों की उस चिरकालीन परंपरा में योग दिया था; किंतु उनकी यह विशेषता थी कि वे ब्रज के अन्य स्थानों की अपेक्षा वृंदावन में जा कर रहे थे। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने श्री हरिवंश जी की जन्मकालीन परिस्थितियों का आकलन करते हुए लिखा है,—'राजनैतिक संघर्ष, सामाजिक अपकर्ष, धार्मिक विमर्श और साहित्यिक उत्कर्ष के संक्रांति काल में श्री हरिवंश जी का जन्म हुआ था[1]।' उनका यह निष्कर्ष श्री हरिवंश जी के वृंदावन-आगमन काल की परिस्थिति के लिए भी न्यूनाधिक रूप में ठीक कहा जा सकता है।

जैसा पहिले लिखा गया है, उस काल तक पुष्टिमार्गीय कई वरिष्ट भक्तों के अतिरिक्त गौड़ीय गोस्वामी सर्वश्री सनातन-रूप भी ब्रज में आ गये थे। किंतु उनका निवास वृंदावन की अपेक्षा मथुरा, गोवर्धन, गोकुल आदि अन्य लीला-स्थलों में रहा था। गौड़ीय गोस्वामी गण सर्वस्व त्यागी विरक्त भक्त थे और उनके पास तब तक कोई देव-विग्रह भी नहीं था। हरिदासी संप्रदाय के एक वर्ग की मान्यता है कि उस समय तक स्वामी हरिदास जी भी वृंदावन आ गये थे और उन्होंने निधुवन में श्री विहारी जी की सेवा प्रचलित कर दी थी। हमारे मतानुसार यह मान्यता प्रामाणिक ज्ञात नहीं होती है, जैसा कि हम आगे लिखेंगे। किंतु यदि स्वामी हरिदास जी का तब तक वृंदावन-आगमन मान भी लिया जावे, तब भी यह निश्चित है कि वे निधुवन के निर्जन स्थल में प्रायः अज्ञात रूप से अपनी एकाकी साधना में लीन थे। इस प्रकार वृंदावन के कतिपय एकांत स्थलों में चाहें कुछ संत-महात्मा विरक्तावस्था में भजन-ध्यान करते रहे हों; किंतु घर-गृहस्थी और ठाकुर-सेवा के साथ वहाँ स्थायी रूप से निवास करने वाले श्री हरिवंश जी ही पहिले महानुभाव थे। इससे समझा जा सकता है कि वृंदावन के प्राचीन गौरव और उसके धार्मिक महत्व की पुनर्स्थापना का सूत्रपात श्री हरिवंश जी के आगमन-काल से ही हुआ था।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ८६

वृंदावन-निवास और भक्ति-प्रचार—श्री हरिवंश जी ने वृंदावन पहुँचते ही श्री राधावल्लभ जी की सेवा के साथ ही साथ अपनी भक्ति-भावना के प्रसारण का भी समारंभ कर दिया था। वे सरस पदों की रचना और उनके मधुर गायन द्वारा अपनी विशिष्ट भक्ति-पद्धति का प्रचार करते थे। उस काल में भक्ति मार्ग में पदार्पण करने वाले अपने गार्हस्थिक जीवन से प्रायः विरक्त हो जाते थे। किंतु हरिवंश जी ने लोगों को बतलाया कि अपने इष्ट देव की उपासना-भक्ति के लिए गृहस्थी को छोड़ना आवश्यक नहीं है। वे स्वयं गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भक्ति-साधना करते थे और दूसरों को भी इसका उपदेश देते थे। उनके मोहक व्यक्तित्व, विशिष्ट भक्ति-सिद्धांत, सरस पद-गायन और श्री बिहारी जी की आकर्षक सेवा से ब्रजवासी गण बड़े प्रभावित हुए। अनेक व्यक्ति उनके सत्संग और उपदेश से लाभान्वित होकर उनसे भक्ति मार्ग की दीक्षा लेने लगे।

श्री हरिवंश जी के आरंभिक शिष्यों में नरवाहन का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वह वृंदावन के निकटवर्ती यमुना पार के भैंगाँव नामक स्थान का एक प्रभावशाली ज़िमींदार था। वह इस भू-भाग में आने वाले यात्रियों और व्यापारियों से कठोरता पूर्वक कर वसूल करता था। यदि कोई आपत्ति करता तो उसके साथ लूट-मार करने में भी उसे संकोच नहीं होता था। भगवतमुदित जी ने उसकी 'परचई' में बतलाया है कि उसकी दस्यु वृत्ति का इतना आतंक छाया हुआ था कि यहाँ के शासक भी उसका विरोध करने में भय मानते थे। वह इतना निर्भीक हो गया था कि दूर-दूर तक धावा मारता था और उसके लिए वह शाही अनुशासन की भी अवज्ञा करता था[१]!

जब नरवाहन ने श्री हरिवंश जी के आगमन और उनकी अद्भुत महिमा एवं अपूर्व लोकप्रियता का समाचार सुना, तो उसे बड़ा कौतूहल हुआ। वह एक दिन बड़ी उत्सुकता पूर्वक उनसे मिलने को चल दिया। जिस समय वह उनके डेरा पर पहुँचा, उस समय वे कतिपय श्रद्धालुओं को अपने भक्ति-मार्ग का मर्म समझा रहे थे। नरवाहन उनके दर्शन और उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी कठोर प्रकृति और दस्यु वृत्ति को छोड़ कर उनका शरणागत हो गया! वह उनके सत्संग और उपदेश से परम भक्त बन कर उनकी भक्ति और उपासना के प्रचार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। श्री हरिवंश जी भी उससे इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने अपनी भक्त-मंडली में उसे अग्रिम स्थान दिया था और उसके नाम से दो अत्यंत सरस पदों की रचना की थी। वे पद उनकी प्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' में संकलित हैं[२]। नरवाहन के शरणागत होने से वृंदावन का एक बड़ा संकट दूर हो गया। उससे श्री हरिवंश जी के प्रभाव में भी बड़ी वृद्धि हुई। अनेक व्यक्ति उनके सत्संग का लाभ उठाने के लिए वृंदावन में निवास करने लगे और धीरे-धीरे वहाँ बस्ती बसने लगी।

नरवाहन के अतिरिक्त नवलदास और पूरनदास भी हित हरिवंश जी के आरंभिक शिष्यों में से थे। उन दोनों भक्त जनों ने हित जी की भक्ति-भावना और रसोपासना के व्यापक प्रचार में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। वे हित जी के रसपूर्ण पदों का गायन करते हुए उनके भक्ति मार्ग का प्रसार करते थे। नवलदास ने बुंदेलखंड में प्रचार किया था। उसी के कारण श्री हरिराम व्यास हित जी के प्रति आकर्षित होकर वृंदावन आये थे। नवलदास की मंडली के कतिपय भक्तजन ही कदाचित गोंडवाना गये थे। उनसे प्रभावित होकर वहाँ के चतुर्भुजदास और दामोदरदास नामक श्रद्धालु भक्त जन राधावल्लभ संप्रदाय के अत्यंत निष्ठावान सेवक बने थे। बाद में दामोदरदास

---

(१) रसिक अनन्य माल में 'श्री नरवाहन जी की परचई'
(२) हित चौरासी, पद संख्या ११ और १२

आर्यों के शत्रु असुरों को युद्ध में पराजित कर उनके पुरों को नष्ट कर देता है, इसीलिए उसे 'पुरंदर' भी कहा गया है। उसे वर्षा का देवता समझा गया और वज्र उसका आयुध माना गया। कालांतर में उसका महत्व बहुत कम हो गया था। कृष्ण-काल में इंद्र को श्रीकृष्ण द्वारा पराजित दिखलाया गया है। पृथ्वी के देवताओं में अग्नि की प्रमुखता है। ऋग्वेद में जितने सूक्त अग्नि की स्तुति के हैं, उतने किसी भी अन्य देवता के नहीं हैं।

वैदिक ऋषियों ने प्राकृतिक शक्तियों के रूप में विविध देवताओं की कल्पना अवश्य की थी; किंतु अंततः उन्होंने घोषित किया कि समस्त देव तत्व का आधार कोई मूल तत्व है। वही समस्त देवताओं में व्याप्त है और उनके परे भी है। ऋग्वेद में कहा गया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'; उस 'एक' मूल तत्व को ही मनीषी 'अनेक' नामों से कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर के रूप में इस प्रकार किया गया है—

प्रश्न—कस्मै देवाय हविषा विधेम् ? (ऋग्वेद १०-१२१-५)

अर्थात्—हम किस देव की स्तुति और उपासना करें ?

उत्तर—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥ (ऋग्० १०-१२१-५)

अर्थात्—जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नरक लोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है और जो अंतरिक्ष लोक में भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड़ कर हम और किस देव की स्तुति और उपासना कर सकते हैं ! इससे हमको उसी महाशक्तिरूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए[1]।

अग्नि, आदित्य, वायु, चंद्र, शुक्र, प्रजापति आदि सभी देवता एक ही मूल तत्व की विभूतियाँ हैं। वह मूल तत्व समस्त विश्व में व्याप्त है और यह सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई है[2]। इस प्रकार आर्यों के देव तत्व में बहुदेववाद के साथ एकत्ववाद या एकेश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद का सुंदर समन्वय किया गया है। वेदोक्त 'पुरुषसूक्त' में जहाँ एकत्ववाद का प्रतिपादन है, वहाँ 'नासदीय सूक्त' में सर्वेश्वरवाद दिखलाई देता है।

यज्ञ तत्व—वैदिक धर्म का दूसरा प्रमुख अंग यज्ञ तत्व है। वेद में 'यज्ञ' का उल्लेख अत्यंत व्यापक अर्थ में किया गया है। मानव जीवन की ऐसी कोई महत्वपूर्ण क्रिया नहीं है, जिसे यज्ञ से सम्बद्ध न किया गया हो ! वस्तुतः यज्ञ ही वैदिक धर्म और संस्कृति का आधार है। "क्या देवों के साथ आत्मभाव, क्या दीर्घायुत्व, क्या संपत्ति सबकी साधना का एकमेव और अनुपम साधन था यज्ञ। विश्व इकाई जिसमें निहित है, उस परमात्मा के यज्ञ-रूप की कल्पना ऋग्वेद में विद्यमान है। यज्ञ ही उत्पत्ति का मूल है, विश्व का आधार है। पापों का नाश, शत्रुओं का संहार, विपत्तियों का निवारण, राक्षसों का विध्वंस, व्याधियों का परिहार सब यज्ञ से ही सम्पन्न होता है। क्या दीर्घायुत्व, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व सबका साधन यज्ञ ही माना गया है। वास्तव में वैदिकों के जीवन का सम्पूर्ण दर्शन यज्ञ में ही सुरक्षित है[3]।"

---

(१) भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ १९१

(२) यजुर्वेद, ३२-१, ३२-८

(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

गो० हित हरिवंश जी

श्री सेवक जी

तो 'सेवक जी' के नाम से ही राधावल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध हुए थे। पूरनदास ने सुदूर सिंध प्रदेश के ठट्ठा नगर में प्रचार कर वहाँ के शाही मनसबदार राजा परमानंद को प्रभावित किया था। इस प्रकार नवलदास और पूरनदास जैसे उत्साही प्रचारकों के प्रयास से राधावल्लभ संप्रदाय को सर्वश्री व्यास जी, सेवक जी और चतुर्भुजदास जी जैसे महात्मा प्राप्त हुए थे, जिन्होंने हित जी के भक्ति-प्रचार को बड़ी महत्वपूर्ण देन दी थी।

साधना-स्थलों का आयोजन—ऐसी अनुश्रुति है, नरवाहन ने हित हरिवंश जी को वृंदावन में पर्याप्त भूमि प्रदान कर वहाँ उनसे साधना-स्थल बनाने की प्रार्थना की थी। हित जी ने उसे स्वीकार कर ऐसे कई स्थलों का आयोजन किया था। उनकी जीवन-चर्या और उनके भक्ति-प्रचार तथा राधावल्लभ संप्रदाय के विकास से इन साधना-स्थलों का बड़ा घनिष्ट संबंध रहा है। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. 'सेवाकुंज'—श्री हित हरिवंश जी ने 'मदन टेर' वाले अपने आरंभिक डेरा से हट कर इस स्थल पर श्री राधावल्लभ जी को प्रतिष्ठित किया था; और यहाँ से ही उनकी सेवा का समारंभ किया था। कदाचित इसीलिए यह 'सेवाकुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। वे स्वयं भी इसी स्थान पर निवास करते थे। उन्होंने यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी का प्रथम पाटोत्सव सं. १५६१ की कार्तिक शु. १३ को किया था। इसी स्थल पर उन्होंने पाँच आरती और सात भोग वाली सेवा-प्रणाली प्रचलित की थी। यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी प्रायः अर्ध शताब्दी तक विराजमान रहे थे। जब अब्दुर्रहीम खानखाना के दीवान सुंदरदास भटनागर कायस्थ ने श्री वनचंद्र जी से आज्ञा प्राप्त कर 'मदन टेर' पर विशाल मंदिर बनवा दिया; तब श्री राधावल्लभ जी उसमें विराजे थे। उसके उपरांत यहाँ उनकी 'नाम-सेवा' होने लगी, जो अब भी है। इस स्थल पर सघन लता-गुल्लों की विपुलता है, जो वृंदावन की प्राचीन वनश्री का स्मरण दिलाती है। इसके मध्य में श्री जी का संगमरमर का मंदिर है। इसमें नाम-सेवापट्ट के अतिरिक्त एक प्राचीन चित्र भी है, जिसमें श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के चरणों का संवाहन करते हुए दिखाये गये हैं। मंदिर के निकट 'ललिता कुंड' नामक एक छोटा जलाशय है। यह समस्त वनखंड लाल पत्थर की पक्की चार-दीवारी से घिरा हुआ है। इसके संबंध में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि यहाँ अब भी अर्ध रात्रि में श्रीराधा-कृष्ण का दिव्य रास होता है। उसे चर्म-चक्षुओं से देखने का अधिकार किसी भी प्राणी को नहीं है। इसीलिए यहाँ रात्रि में नर-नारी तो क्या, पशु-पक्षी भी नहीं रह सकते हैं!

२. 'रासमंडल'—यह पुण्य स्थल प्राचीन चीरघाट और वर्तमान गोविंदघाट के निकट है। श्री हरिवंश जी ने इस स्थान पर रजनिर्मित रासमंडल बनवाया था, जहाँ वे अपने रसिक भक्तों के साथ रासलीला का सुखानुभव करते थे। श्री बनचंद्र के कृपापात्र भगवानदास स्वर्णकार ने सं. १६४१ में इसे पक्का बनवा दिया था। यह वृंदावन का सबसे पुराना रास-स्थल है। राधावल्लभ संप्रदाय के कई प्रसिद्ध भक्तों का इससे घनिष्ट संबंध रहा है। श्री हरिवंश जी की कृपा से छबीलदास जी को यहाँ दिव्य रास के दर्शन हुए थे और ध्रुवदास जी को वाणी प्राप्त हुई थी। इसके दाहिनी ओर के वट वृक्ष की छाया में सेवक जी का और बाईं ओर की लता-कुंज में ध्रुवदास जी का देहावसान हुआ था। इसके समीप नरवाहन जी के चरण-चिह्न हैं। यहाँ के मंदिर में नाम-सेवा होती है। इस समय यह स्थान राधावल्लभ संप्रदाय के नादवंशीय विरक्त साधुओं के अधिकार में है। यहाँ प्रायः रास होता रहता है। रासमंडल के पार्श्व में 'राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़ा' है, जहाँ श्री हितवल्लभ जी का मंदिर है और नादवंशीय अनेक दिवंगत महात्माओं के चरण-चिह्न हैं।

३. 'मानसरोवर'—यह तीर्थस्थल वृंदावन से दो मील दूर यमुना नदी के उस पार है। ऐसा कहा जाता है, श्री हरिवंश जी के समय में यह यमुना नदी के इसी ओर था। श्री हरिवंश जी यहाँ भजन-ध्यान किया करते थे। इस समय यहाँ श्री जी की नाम-सेवा और रासमंडल है। हितजी के वृंदावन-आगमन की स्मृति में यहाँ फाल्गुन कृ. ११ को मेला होता है।

४. 'वंशीवट'—श्रीकृष्ण के वंशी-वादन की जगह होने से यह वृंदावन का अत्यंत पवित्र स्थल माना जाता है। राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता के अनुसार इसका प्राकट्य श्री हित हरिवंश जी ने किया है। इस समय यह स्थान निंबार्क संप्रदायी भक्तों के अधिकार में है।

साहित्य-रचना—श्री हित हरिवंश जी के साहित्य में दो संस्कृत रचना, दो ब्रजभाषा रचना और दो पत्र उपलब्ध हैं। संस्कृत रचनाओं में पहली 'राधा सुधानिधि' है और दूसरी यमुनाष्टक। 'राधा सुधानिधि' २७० श्लोकों का एक स्तोत्र काव्य है। यह हित जी की आरंभिक रचना होते हुए भी अत्यंत भावपूर्ण है। इसमें श्रीराधा जी के प्रति अनन्यता प्रकट करते हुए उनकी वंदनात्मक प्रशस्ति की गई है। इस ग्रंथ की कई टीकाएँ हुई हैं, जो ब्रजभाषा और संस्कृत दोनों में हैं। संस्कृत गद्य में रची हुई इसकी एक टीका 'रसकुल्या' है, जो अठारह सहस्र श्लोक परिमाण की है! इतनी विशालकाय टीका शायद ही किसी संस्कृत ग्रंथ की हुई हो। इसे श्री हरिलाल व्यास ने सं. १८६० में रचा था। इसके रचयिता हरिलाल जी राधावल्लभीय आचार्य रूपलाल गोस्वामी के सुपुत्र किशोरीलाल गोस्वामी के शिष्य थे। हित जी की दूसरी संस्कृत रचना 'यमुनाष्टक' है, जो आठ श्लोकों का एक छोटा सा प्रशस्ति काव्य है। इसमें श्री यमुना जी की वंदना की गई है।

ब्रजभाषा रचनाओं में पहली 'हित चौरासी' है और दूसरी 'स्फुट वाणी'। 'हित चौरासी' में केवल ८४ पद हैं, किंतु संप्रदाय और साहित्य दोनों दृष्टियों से यह अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है। इसका सांप्रदायिक महत्व इसी से सिद्ध है कि यह राधावल्लभ संप्रदाय की मूल सैद्धांतिक रचना है। इसी के माध्यम से हरिवंश जी ने अपने भक्ति-तत्त्व और उपासना-पद्धति के वे सूत्र बतलाये हैं, जो आरंभ से ही भक्त जनों को राधावल्लभ संप्रदाय की ओर आकर्षित करते रहे हैं। व्यास जी, सेवक जी, चतुर्भुजदास जी जैसे महात्मा इसी के पदों को सुन कर हित जी के अनुगत हुए थे। राधावल्लभ संप्रदाय में श्रीराधा-कृष्ण के अनन्य-प्रेम, उनके नित्य निकुंज विहार, प्रेम में मिलन, मान और विरह की स्थिति तथा श्रीराधा-कृष्ण, सहचरी गण और वृंदावन के यथार्थ रूप की जो मान्यताएँ हैं, वे सब इस रचना में बीज रूप से सन्निहित हैं। इन्हीं को पल्लवित, पुष्पित और फलित करने के लिए राधावल्लभ संप्रदाय के अनेक विद्वानों ने टीका, टिप्पणी, वृत्ति और भाष्य के रूप में बहुसंख्यक रचनाएँ की हैं। सर्वश्री सेवक जी और ध्रुवदास जी का महत्वपूर्ण कृतित्व वस्तुतः 'हित चौरासी' का ही व्याख्यान है। इस छोटे से ग्रंथ की गद्य-पद्यात्मक २५-३० टीकाएँ कही जाती हैं। इनमें ४-५ तो बहुत प्रसिद्ध हैं। जिन थोड़े से ब्रजभाषा ग्रंथों की संस्कृत टीकाएँ हुई हैं, उनमे 'हित चौरासी' भी है। इन बातों से इसके अनुपम सांप्रदायिक महत्त्व का स्पष्टीकरण होता है।

'हित चौरासी' का साहित्यिक महत्व भी इसके सांप्रदायिक महत्व से कम नहीं है। यह श्रृंगार रस के मुक्तक पदों की गेय रचना है। इसमें भाषा, काव्य और संगीत की त्रिवेणी का अजस्र प्रवाह मिलता है। इसकी भाषा तत्सम-प्रधान है, जो संस्कृत की कोमल-कांत पदावली से परिपूर्ण है। इसका काव्य माधुर्य रस से ओतप्रोत है, और इसमें कर्ण-सुखद लय एवं नाद की संगीतात्मकता है। इन दुर्लभ गुणों के कारण इसके रचयिता श्री हित हरिवंश जी को ब्रजभाषा का

जयदेव कहा जाता है। हित जी शृंगार रस के कवि हैं, और उसके अंतर्गत भी उन्होंने अधिकतर श्रीराधा-कृष्ण के नित्य विहार की लीलाओं का ही कथन किया है। इस प्रकार उनका काव्य-क्षेत्र अत्यंत सीमित है; किंतु इसकी संकीर्ण परिधि में ही उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा का अद्भुत रीति से विस्तार किया है! उनके कथन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कुछ शब्दों के माध्यम से ही अपने आराध्य की मनोहर झाँकी प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार के सार्थक शब्द-चित्र उनकी स्वल्प रचना में अनेक है। हित जी ने केवल संभोग शृंगार का ही कथन किया है, वियोग की भावना उनके मत में अमान्य है। संभोग शृंगार के अंतर्गत 'सुरत' और 'सुरतांत' का भी कथन किया जाता है। इसके लिए सुरुचि और संयम की नितांत आवश्यकता होती है। इसके अभाव में रस-भंग होकर काव्य विकृत हो जाता है। हित जी ने 'सुरत' का वर्णन तो स्पष्टतया नहीं किया; किंतु उन्होंने 'सुरतांत' का पर्याप्त कथन किया है। वे अपने आराध्य के सुरतांत की छवि पर मुग्ध थे।

राधावल्लभ संप्रदाय में हित हरिवंश को श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार माना जाता है। इसकी सार्थकता उनकी माधुर्य भक्ति और मधुर काव्य के कारण स्पष्ट ही है। इसकी संगति में डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कथन उल्लेखनीय है,—'वंशी के अवतार श्री हित हरिवंश जी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वंशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदों के माध्यम से गूँजा कि उसमें वर्णित राधा नख से सिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मंजुल मूर्ति बन कर भक्त जन के लिए आराधना की विषय बन गई। हित हरिवंश जी की वाणी के स्पर्श से कलाओं का शृंगार पवित्र हो गया। भावों की मनोमुग्धकारी छटा से शृंगार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कांतिमय हो उठा और शृंगार का माधुर्य-मंडित रूप समस्त व्रज-मंडल में अनुकरण का विषय बन गया[1]।'

'हित चौरासी' में भाव-वस्तु का कोई व्यक्त क्रम नहीं है। श्री रूपलाल गोस्वामी ने समय-प्रबंध की दृष्टि से इसके पदों को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है। उनके वर्गीकरण के अनुसार इसमें सुरतांत समय अर्थात् मंगला के १६, शैया समय के १६, रास के १७, वन-विहार के ३, स्नान-शृंगार के ४, राजभोग (शैया विहार) के २, बसंत के २, होरी के २, फूलडोल फूलन का १, मलार के ४ और संभ्रम-मान के १३,—इस प्रकार ८४ पद हैं। किंतु डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार यह वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने उदाहरण देकर बतलाया है कि इसके कतिपय पदों की भावना इतनी संश्लिष्ट है कि उन्हें किसी एक वर्ग में निश्चित रूप से नहीं रखा जा सकता है[2]। ये पद वस्तुतः भाव-वस्तु के क्रम से न होकर गायन-क्रम के अनुसार हैं। इन्हें प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक के १४ राग-रागनियों में संकलित किया गया है। इस राग-क्रम के अनुसार इसमें विभास के ६, विलावल के ७, टोड़ी के ४, आसावरी के २, धनाश्री के ७, बसंत के २, देवगंधार के ७, सारंग के १६, मलार के ४, गौड़ का १, गौरी के ६, कल्याण के ६, कान्हरा के ९ और केदारा के ४,—इस प्रकार ८४ पद हैं। ऐसी अनुश्रुति है कि हित जी के देहावसान के पश्चात् उनकी रचनाओं का संकलन किया गया था। उनमें से लीला संबंधी ८४ पदों को 'हित चौरासी' के नाम से संकलित कर दिया गया और शेष पदों एवं छंदों को 'स्फुट वाणी' का नाम दिया गया।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ३२३
(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ३०६-३१०

'हित चौरासी' में ८४ पदों की संख्या कदाचित 'चौरासी' के सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही निश्चित की गई थी; क्यों कि उसमें जैसे पद हैं, वैसे ही कुछ पद स्फुट वाणी में भी मिलते हैं। राधावल्लभीय भक्त जन आरंभ से ही हित जी के पदों के गायन द्वारा अपनी भक्ति–साधना करने लगे थे, अतः इन्हें राग-क्रम के अनुसार संकलित करना उचित समझा गया। 'हित चौरासी' के अंत में इसकी फल-स्तुति भी लगी हुई मिलती है। इसके एक कवित्त में पदों की संख्या उनके रागों के साथ बतलाई गई है। इस फल-स्तुति का रचयिता कौन है, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। संभव है, हित जी के पदों का संकलयिता ही इस फल–स्तुति का रचयिता भी रहा हो।

हित हरिवंश जी की दूसरी ब्रजभाषा रचना 'स्फुट वाणी' कहलाती है। इसके नाम की सार्थकता स्पष्ट है, क्यों कि इसमें हित जी की प्रकीर्णक रचनाओं का संकलन किया गया है। इसमें पदों के साथ कई तरह के छंद भी हैं; और उनकी सम्मिलित संख्या २७ है। इस प्रकार इसमें १५ पद, ४ सवैया, २ छप्पय, २ कुंडलिया और ४ दोहा हैं। यह 'हित चौरासी' से भी छोटी रचना है; किंतु इसका सांप्रदायिक और साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है। 'हित चौरासी' के पद हित जी की भक्ति–भावना के हैं, जिनका सिद्धांत–प्रतिपादन से साक्षात् संबंध नहीं है; वैसे कुछ पदों को परोक्ष रूप से सिद्धात से भी संबंधित माना जाता है। किंतु 'स्फुट वाणी' में प्रत्यक्ष रूप से सिद्धांत-प्रतिपादन हुआ है। इसके दो कुंडलिया छंदों में चकई और सारस के उदाहरण से राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धांत की मीमांसा की गई है[1]। इसके ४ दोहों में से २ में राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धांत के मूल तत्वों का उल्लेख है[2], और ३ दोहों में श्रीराधा जी के प्रति अनन्य निष्ठा व्यक्त की गई है[3]। इस रचना की भाषा 'हित चौरासी' के सदृश ही परिष्कृत ब्रजभाषा है। इसका काव्य–महत्त्व, विशेषतया पदों का, 'हित चौरासी' के पदों के ही प्रायः समान है।

हित हरिवंश जी की रचनाओं में जिन दो पत्रों का समावेश किया जाता है, वे 'श्रीमुख पत्री' के नाम से उपलब्ध हैं। उन्हें हित जी ने अपने प्रिय शिष्य वीठलदास को लिखा था। इनसे अपने शिष्यों के प्रति उनकी सहज आत्मीयता का परिचय मिलता है। यह इनका सांप्रदायिक महत्त्व है। इसके साथ ही ब्रजभाषा गद्य के प्राचीन उदाहरण होने के कारण इनका साहित्यिक महत्त्व भी है।

हिंदी साहित्य के समीक्षकों को यह देख कर बड़ा कौतूहल होता है कि कविवर विहारीलाल ७०० दोहों की स्वल्प रचना के बल पर ही ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में माने जाते हैं। किंतु वे श्री हित हरिवंश जी की रचना पर और भी अधिक चकित हो सकते हैं; क्यों कि उसका परिमाण विहारीलाल की रचना का भी केवल पंचमांश ही है! इस अल्पकाय साहित्य ने भी हित जी को ब्रजभाषा के भक्त–कवियों की प्रथम पंक्ति में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

---

(१) १. चकई प्राण जु घट रहै, पिय विछुरंत निकज्ज ॥५॥
 २. सारस सर विछुरंत कौं, जो फल सहै शरीर ॥६॥

(२) सब सौं हित निष्काम मति, वृंदावन विश्राम।
 श्री राधावल्लभ लाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम॥
 तनहिं राखि सतसंग में, मनहिं प्रेम रस भेव।
 सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥

(३) रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अन फुटौ नैन।
 स्रवन फुटौ जो अन सुनौं, बिन राधा यश बैन॥

संतान—श्री हित हरिवंश जी के चार पुत्र हुए थे। उनमें से सर्वश्री बनचंद्र जी (जन्म सं. १५८५), कृष्णचंद्र जी (जन्म सं. १५८७) और गोपीनाथ जी (जन्म सं. १५८८) उनकी प्रथम पत्नी से थे, जिनका जन्म देवबन में उस समय हुआ था, जब हित जी वृंदावन नहीं आये थे। चौथे पुत्र मोहनचंद्र जी हित जी की दूसरी पत्नी मनोहरी जी से सं. १५९८ में वृंदावन में उत्पन्न हुए थे। उन चारों पुत्रों के अतिरिक्त उनकी पुत्री भी थी।

देहावसान और उत्तराधिकार—श्री हित हरिवंश जी ने १८ वर्ष तक व्रज-वास किया था। व्रज में भी उनका प्रमुख निवास-स्थल वृंदावन रहा था। उनकी एक बैठक व्रज के राधाकुंड नामक तीर्थ-स्थल में है। इससे अनुमान होता है कि वे कुछ काल तक वहाँ भी रहे थे। अंत में सं. १६०९ की आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को वृंदावन में उनका देहावसान हुआ था। उस समय उनकी आयु ५० वर्ष की थी। उनकी मृत्यु के समय ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचंद्र जी तथा अनेक कुटुंभी जन देवबन में थे। स्वामी हरिदास जी आदि वृंदावन के वरिष्ट महानुभावों ने उन्हें सूचना भेज कर बुलाया था। श्री बनचंद्र जी उस दुःखदायी समाचार को सुनते ही तत्काल वृंदावन को चल दिये, और वहाँ पहुँच कर उन्होंने आवश्यक धार्मिक कृत्य किये। उसके उपरांत उन्होंने अपने कुटुंभी जनों को भी देवबन से बुला लिया था। फिर श्री बनचंद्र जी अपने कुटुंभ-परिवार के साथ वृंदावन में ही रहने लगे थे।

श्री हित हरिवंश जी के देहावसान के पश्चात् उनके उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। उसके लिए वृंदावन के वरिष्ठ महानुभावों एवं राधावल्लभीय भक्त जनों ने श्री हित जी के ज्येष्ठ पुत्र को ही सर्वथा योग्य और उपयुक्त समझा था। फलतः श्री बनचंद्र जी राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य और श्री राधावल्लभ जी के प्रधान सेवाधिकारी नियुक्त हुए। जयकृष्ण जी ने लिखा है, श्री वनचंद्र जी सं. १६०९ की कार्तिक शु. १३ को आचार्य गद्दी पर आसीन हुए थे[1]।

सहयोगी महात्मा—श्री हित हरिवंश जी को अपनी प्रेम-भक्ति और नित्य विहार की रसोपासना को प्रसारित करने के लिए अपने आरंभिक शिष्यों के अतिरिक्त कतिपय समकालीन महात्माओं से भी बड़ा सहयोग मिला था। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री स्वामी हरिदास जी, हरिराम व्यास जी और प्रबोधानंद जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। चाचा वृंदावनदास ने वृंदावन निकुंज-विहार की भक्ति-भावना के प्रचार का श्रेय हित हरिवंश जी के साथ इन तीनों महात्माओं को भी सम्मिलित रूप में दिया है; किंतु उन्होंने हित जी को उन सबका मुकुटमणि बतलाया है[2]। चाचाजी राधावल्लभीय भक्त जन थे; अतः हित जी के प्रति उनकी ऐसी श्रद्धा व्यक्त करना स्वाभाविक था। फिर भी नित्य विहार की रसोपासना के आदि प्रेरक होने के कारण श्री हरिवंश जी का महत्व निश्चय ही बहुत अधिक है। यहाँ पर हित जी के सहयोगी उन तीनों महात्माओं की देन का उल्लेख उनके संक्षिप्त परिचय सहित किया जाता है।

---

(१) संवत् सोरह सै नव सही। कातिक सुदि तेरस दृढ़ गही॥
आसन पर बैठे गुरुराज। श्री बनचंद्र सुहृद सिरताज॥ (हितकुल शाखा, १२)

(२) सब के जु मुकटमणि व्यास-नंद। पुनि मुकुल सुमोखन कुल सु चंद॥
सुत आसुधीर मूरति आनंद। धनि भक्ति-थंभ परबोधानंद॥
इन मिलि जु भक्ति कीनों प्रचार। व्रज-वृंदाबन नित प्रति बिहार॥
—श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २१८

स्वामी हरिदास जी—वे ब्रज के महान् संत, रसिक भक्त, संगीतज्ञ-शिरोमणि और सुविख्यात धर्माचार्य थे। हित जी के वे समकालीन थे, और वृंदावन में उनके निकटतम सहयोगी एवं प्रिय सखा रहे थे। वे दीर्घायु हुए थे, अतः हित जी के देहावसान के पश्चात् भी पर्याप्त समय तक वृंदावन में विद्यमान थे। हित जी और स्वामी जी दोनों महात्माओं के पारस्परिक सहयोग और सम्मिलित प्रयत्न से ही ब्रज में प्रेम-भक्ति एवं रसोपासना का प्रचार-प्रसार हुआ था और उनके सर्वोत्तम साधन के रूप में रास के पुनरुद्धार की महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न हुई थी। हित जी गृहस्थ धर्माचार्य थे, तो स्वामी जी विरक्त महात्मा थे। हित जी रससिद्ध महाकवि थे, तो स्वामी जी महान् संगीताचार्य थे। उन दोनों महात्माओं की अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण ब्रज की प्रेम-भक्ति को बड़ा प्रशस्त रूप प्राप्त हुआ था। हित जी के देहावसान के उपरांत स्वामी हरिदास जी ही वृंदावन के रसिक भक्तों के सर्वोपरि नेता रहे थे। उन्होंने नित्य विहार की रसोपासना को सखी भाव से समन्वित कर प्रेम-भक्ति को बड़ा भव्य रूप प्रदान किया था। इसीलिए राधावल्लभियों से भिन्न उनके अनुगामियों का एक पृथक् संगठन बन गया था, जो हरिदासी अथवा सखी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके संबंध में हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

श्री हरिराम व्यास जी—उनका जन्म सं. १५६७ की मार्गशीर्ष कृ. ५ को बुंदेलखंड की राजधानी ओरछा के एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता समोखन शुक्ल ओरछा के राज-गुरु थे। हरिराम जी बड़े विद्वान और समस्त शास्त्रों के ज्ञाता थे। उनका आस्पद शुक्ल था; किंतु पुराण-वक्ता होने के कारण उन्हें 'व्यास' उपाधि प्राप्त हुई थी। वे अपने मूल नाम की अपेक्षा अपनी उपाधि 'व्यास' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए थे। वे गृहस्थ थे; उनके ३ पुत्र थे और १ पुत्री थी। वे प्रकांड विद्वान और प्रबल शास्त्रार्थी पंडित थे, किंतु हित जी के उपदेश से वे विद्वत्ता और पांडित्य के अभिमान छोड़ कर विनय और विनम्रता की मूर्ति बन गये थे। उन्होंने विनीत भाव से भक्ति, उपासना और साधु-सेवा करना अपने जीवन का प्रधान लक्ष बना लिया था। उनके द्वारा राधावल्लभीय भक्ति-साधना की बड़ी प्रगति हुई थी।

राधावल्लभ संप्रदाय में व्यास जी को हित हरिवंश जी का शिष्य माना जाता है; किंतु यह विषय विवादग्रस्त है। जहाँ तक नित्य विहार की रसोपासना का उपदेश प्राप्त करने की बात है, इस दृष्टि से व्यास जी निश्चय ही हित हरिवंश जी के शिष्य थे। इसके संबंध में कोई विवाद भी नहीं है। विवाद इस प्रश्न पर है कि व्यास जी श्री हित जी के दीक्षा-प्राप्त शिष्य थे या नहीं? भगवतमुदित जी ने लिखा है, जब व्यास जी वृंदावन में हित हरिवंश जी से मिले थे और उनसे एक उपदेशपूर्ण पद सुन कर अत्यंत प्रभावित हुए थे, तब उनकी प्रार्थना पर हित जी ने उन्हें मंत्र-दीक्षा दी थी[1]। इसके विरुद्ध श्री वासुदेव गोस्वामी का मत है, व्यास जी अपने पिता श्री समोखन शुक्ल से माध्व संप्रदाय की दीक्षा पहिले ही प्राप्त कर चुके थे, अतः वे हित जी के दीक्षा-प्राप्त शिष्य नहीं थे। वैसे उन्होंने अपनी भक्ति-भावना और नित्य विहार की रसोपासना को हित जी के उपदेश से ही सुदृढ़ किया था। उनके पथ-प्रदर्शन के कारण ही व्यास जी ने अपनी रचनाओं में उनके प्रति गुरु के समान ही श्रद्धा व्यक्त की है। इस प्रकार हित हरिवंश जी व्यास जी के दीक्षा-गुरु नहीं थे, बल्कि उनके सद्गुरु थे[2]।

---

(१) रसिक अनन्यमाल में 'श्री व्यास जी की परचई'
(२) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ५४-७४
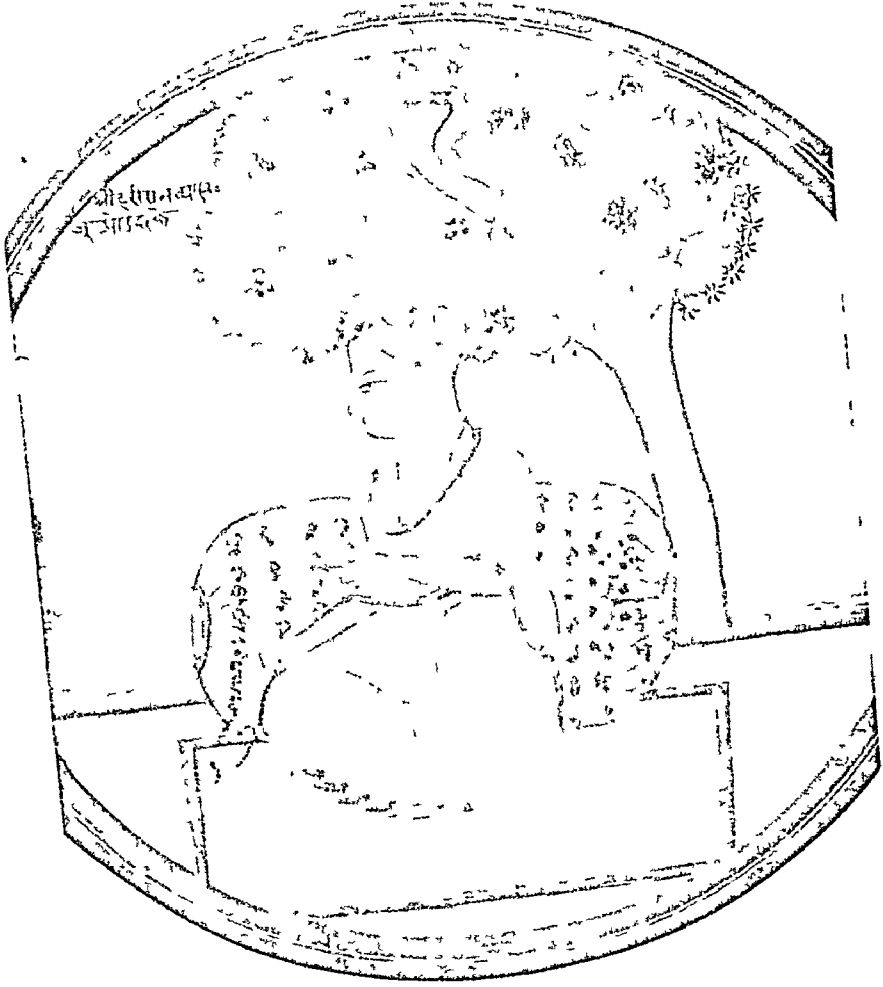
श्री हरिराम जी व्यास

वैदिक धर्म में जिन यज्ञों का विधान है, उनमें सोम, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अग्न्याधेय, गवामयन, अश्वमेध और राजसूय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यजुर्वेद संहिता में यज्ञ तत्व का विशद वर्णन है। ब्राह्मण ग्रंथों में उसका और भी अधिक विस्तार किया गया है। देव तत्व और यज्ञ तत्व का परस्पर घनिष्ट संबंध है। वैदिक धर्म में जिन प्राकृतिक शक्तियों को देव रूप प्रदान किया गया, उन्हीं के लिए यज्ञ तत्व का भी विधान हुआ था। वैदिक ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती थी और उन्हें संतुष्ट कर उनके द्वारा समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए यज्ञ किये जाते थे। ऋग्वेद में अनार्यो और दस्युओं को 'अयज्यवः या 'अयज्ञा' कहा गया है, क्यों कि वे वैदिक देवता और यज्ञ प्रथा को नहीं मानते थे।

वैदिक धर्म का विकास—वैदिक धर्म संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के रचना-क्रम से विकसित हुआ था। संहिता चार हैं, जो ऋक्, यजुः साम और अथर्व के नाम से प्रसिद्ध हैं। विद्वानों का मत है, आरंभ में केवल एक ही संहिता थी। कालांतर में उसे ऋक्, यजुः और साम के नाम से तीन भागों मे विभाजित कर दिया गया; जिनसे क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के रूप में 'वेदत्रयी' की प्रसिद्धि हुई। चौथे अथर्ववेद का रचना-काल बहुत बाद का माना जाता है। भागवत में लिखा है, मूल रूप में एक ही वेद था, जिसे महामुनि कृष्ण द्वैपायन ने यज्ञ की सुविधा के लिए चार भागों में विभाजित कर दिया था[1]। वेद का विभाग करने के कारण ही उन्हें 'वेद-व्यास' कहा गया है।

चारों वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्व का है। इसे संसार का आदिम धर्म ग्रंथ माना जाता है। इसमें वैदिक देवताओं की स्तुति के पद्यात्मक मंत्र हैं, जिन्हें ऋचाएँ कहते हैं। यजुर्वेद में यज्ञकांड से संबंधित गद्यात्मक मंत्र हैं। इसके दो भाग है, जिन्हें 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा जाता है। सामवेद में गीतात्मक मंत्र है, जिन्हें यज्ञों के समय सस्वर गाया जाता था। अथर्ववेद में लौकिक कार्यो की सिद्धि के मंत्र हैं। इसमें अन्य बातों के साथ ही साथ उच्चाटन–मोहन–मारण के मंत्र-तंत्र, रक्षा-सिद्धि संबंधी गुह्य साधनाएँ तथा राक्षस-पिशाच आदि भयानक शक्तियों का उल्लेख है, जो अन्य वेदों में नहीं मिलता है। इस वेद के अनेक विषय उन अनार्य आदिवासियों से संबंधित ज्ञात होते हैं, जिन्हें आर्यगण पहिले उपेक्षा पूर्वक 'व्रात्य' कहते थे। कालांतर में जब आर्यो ने उन्हें अपना लिया, तब उनकी गुह्य साधना भी वैदिक धर्म में सम्मिलित कर ली गई थी।

ब्राह्मण ग्रंथों में कर्मकांड और याज्ञिक विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन है। आरण्यकों में उपासना एवं ज्ञान के साथ ही साथ उस आध्यात्मिक विचारधारा का सूत्रपात दिखलाई देता है, जिसका पूर्ण विकास उपनिषदों में हुआ है। वैदिक संहिताओं में जिस परम तत्व की 'सत्' संज्ञा है, उसे उपनिषदों में 'ब्रह्म' कहा गया है। उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है। उनमें ब्रह्म, जीव, जगत्, प्रवृत्ति, निवृत्ति और मुक्ति आदि का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। वैदिक धर्म का पूर्व-कालिक रूप संहिताओं और ब्राह्मणों में तथा उत्तरकालिक रूप आरण्यकों और उपनिषदों में मिलता है। पूर्वकालिक रूप में कर्मकांड और यज्ञों की प्रधानता थी तथा उत्तरकालिक रूप में ज्ञान एवं अध्यात्म को प्रमुखता प्राप्त हुई थी।

---

(१) श्रीमद् भागवत, १।४। १६–२०

जब व्यास जी हित जी को अपना सद्गुरु मानते थे, तब उनसे दीक्षा लेने या न लेने की बात हमारी दृष्टि में कोई अर्थ नहीं रखती है। किंतु वैष्णव संप्रदायों में मंत्र-दीक्षा का बड़ा महत्व माना जाता है; उनमें मंत्र द्वारा दीक्षित शिष्य को ही वास्तविक शिष्य समझा जाता है; इसीलिए इस प्रश्न पर इतना विवाद है।

ऐसा जान पड़ता है, उक्त विवाद क़ाफ़ी पुराना है। भगवतमुदित जी ने भी इसका संकेत करते हुए कहा है कि व्यास जी के गुरु का निर्णय स्वयं उनकी वाणी से ही हो सकता है; कारण यह है, गुरु का माना शिष्य नहीं, वरन् शिष्य का माना हुआ गुरु होता है[1]। यदि व्यास जी की वाणी ही उनके गुरु की निर्णायक मानी जाय, तब उसमें हित हरिवंश जी से कहीं अधिक स्वामी हरिदास जी की प्रशंसा मिलती है। उन्होंने जहाँ हित जी को 'रसिकों के सुख का आधार' बतलाया है, वहाँ स्वामी जी के विषय में कहा है कि 'ऐसा रसिक भूमंडल और आकाश में न तो अभी तक हुआ है और न होगा ही[2]!' व्यास जी साधु-संतों के ऐसे भक्त थे कि वे उन सभी को अपना 'गुरुदेव' मानते थे[3]। ऐसी दशा में व्यास जी की वाणी से उनके गुरु का निर्णय होना संभव नहीं है।

व्यास जी की हित जी से प्रथम भेंट सं. १५९१ के कार्तिक मास में उस समय हुई थी, जब वे नवलदास वैरागी के साथ ओरछा से वृंदावन गये थे[4]। उस समय उन्होंने हित जी से उनकी विशिष्ट भक्ति-भावना का उपदेश ग्रहण किया और कुछ काल तक उनके सत्संग का लाभ भी प्राप्त किया था। फिर वे ओरछा वापिस चले गये थे। उसके उपरांत जब वे स्थायी रूप से वृंदावन-वास करने के लिए दोबारा आये थे, तब हित हरिवंश जी का देहावसान हो चुका था[5]। इस प्रकार व्यास जी ने हित हरिवंश जी के सत्संग का लाभ तो अल्प काल तक ही प्राप्त किया था; किंतु वे स्वामी हरिदास जी के सान्निध्य में पर्याप्त समय तक रहे थे। हित जी की अनुपस्थिति में स्वामी जी ही उनके सखा, सहयोगी और सद्गुरु सब-कुछ रहे थे। हित जी के उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचंद्र जी राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे। जिस समय व्यास जी दोबारा वृंदावन आये थे, उस समय वनचंद्र जी आचार्य-गद्दी पर विराजमान थे। व्यास जी के सुदीर्घ वृंदावन-निवास काल में वनचंद्र जी बड़े गौरव के साथ राधावल्लभ संप्रदाय का संचालन करते रहे थे। यदि व्यास जी

---

(१) श्री राधावल्लभ इष्ट, गुरु श्री हरिवंश सहाइ।
व्यास पदनि तें जानियौ, हौं कहा कहौं बनाइ॥
गुरु कौ मान्यौ शिष्य नहिं, शिष्य मानै गुरु सोइ।
पद-साखी करि व्यास नें, प्रगट करी रस भोइ॥ (रसिक अनन्य माल)

(२) १. हुतौ सुख रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिवंशहिं सरस रीति कौ, कापै चलि है भार॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृ. १९६)

२. अनन्य नृपति स्वामी हरिदास।
ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमंडल आकास॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १९३)

(३) आदि अंत अरु मध्य में, गहि रसकनि की रीति।
संत सबै गुरुदेव हैं, व्यासहिं यह परतीति॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ४०८)

(४) रसिक अनन्य माल में 'श्री व्यास जी की परचई'

(५) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ७२-७३

राधावल्लभ संप्रदाय के दीक्षा-प्राप्त शिष्य होते, तो वे स्वामी हरिदास जी से अधिक श्री वनचंद्र जी के सान्निध्य में रहते और उनकी महत्ता का बखान भी करते। किंतु वनचंद्र जी के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना का उल्लेख नहीं मिलता है, जब कि उन्होंने स्वामी हरिदास जी ही नहीं, वरन् उनके प्रशिष्य श्री विहारिनदास तक का गुण-गान किया है[1]। उन्होंने अपने पुत्र किशोरदास को श्री वनचंद्र जी की अपेक्षा स्वामी हरिदास जी से दीक्षा दिलवाई थी। राधावल्लभीय भक्त जन हित जी के उपास्य श्री राधावल्लभ जी के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते हैं, और किसी दूसरे देव-विग्रह को प्रायः महत्त्व नहीं देते हैं। किंतु व्यास जी ने श्री राधावल्लभ जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए भी सं. १६२० में ठाकुर श्री युगलकिशोर जी की प्रतिष्ठा की थी, और उनकी सेवा का प्रचलन किया था[2]। ये ऐसे तथ्य हैं, जो व्यास जी के राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षा-प्राप्त शिष्य होने की मान्यता के विरुद्ध पड़ते हैं। इनकी ओर श्री वासुदेव गोस्वामी तथा उनके जैसे विचार वाले विद्वानों का ध्यान अभी नहीं गया है।

हमारे मतानुसार व्यास जी संप्रदाय-निरपेक्ष महात्मा थे। उन्होंने निर्गुण-सगुण सभी मतों के संत-महात्माओं के प्रति समान रूप से श्रद्धा व्यक्त की है, और अपने समकालीन अनेक छोटे-बड़े भक्तों का विनीत भाव से गुण-गान किया है। व्यास जी अत्यंत दीर्घायु हुए थे। उनकी विद्यमानता में सर्वश्री हरिवंश जी, हरिदास जी और सनातन-रूप जी जैसे श्रद्धास्पद सहयोगियों का तथा उनके अनेक संगी-साथी भक्तों का देहावसान हुआ था। वे उनके वियोग में बड़े दुखी रहा करते थे। इस प्रकार के विरह सूचक कई पद उनकी वाणी में मिलते हैं, जिनमें उनकी मार्मिक मनोव्यथा व्यक्त हुई है[3]। व्यास जी का देहावसान सं. १६५५ के लगभग वृंदावन में हुआ था[4]। ओरछा-नरेश वीरसिंह देव ने सं. १६७५ में उनकी समाधि उस स्थल पर बनवाई थी, जिसे 'व्यास जी का घेरा' कहा जाता है। वहीं पर उनके उपास्य ठाकुर श्री युगलकिशोर जी का भव्य मंदिर भी बनाया गया था। उसे कदाचित औरंगजेब के शासन-काल में नष्ट कर दिया गया था। उसके उपरांत भक्त गण श्री युगलकिशोर जी के विग्रह को बुंदेलखंड के पन्ना राज्य में ले गये थे। वहाँ के एक मंदिर में वे अभी तक विराजमान हैं[5]।

श्री प्रबोधानंद जी—हित जी के समकालीन महात्माओं में प्रबोधानंद जी के नाम की पर्याप्त प्रसिद्धि है। उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत अनिश्चित है। किंतु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे राधा-कृष्ण की माधुर्योपासना के प्रति आकर्षित होकर उनके लीला-धाम वृंदावन में निवास करने के लिए किसी अन्य स्थान से आये थे। उनका वृंदावन-आगमन सं. १५६५ के लगभग माना जाता है[6]। वे विद्वान संन्यासी, रससिद्ध कवि और रसोपासक परम भक्त थे। वृंदावन के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी, जो उनके रचे हुए 'वृंदावन महिमामृत शतक' से स्पष्ट है। उनके 'चैतन्य चंद्रामृत' से उनका चैतन्य मतानुयायी होना ज्ञात होता है। 'भक्तमाल' के टीकाकार

---

(१) व्यास जी के सिद्धांत के पदों में 'साधु स्तुति के पद' (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १६५)
(२) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ८७ और ११६
(३) व्यास जी के सिद्धांत के पदों में 'साधु विरह के पद', (भक्त-कवि व्यास जी, पृ. १६६-१६८)
(४) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४०४
(५) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १०३, ८७
(६) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ११६

प्रियादास ने भी उन्हें श्री चैतन्य जी का प्रिय पार्षद बतलाया है[1]। चैतन्य मतानुयायी महात्मा होते हुए भी वे हित हरिवंश जी और उनके उपास्य श्री राधावल्लभ जी में अत्यंत श्रद्धा रखते थे। इसका उल्लेख उनके समकालीन और सहयोगी श्री व्यास जी ने भी किया है[2]। श्री भगवतमुदित जी ने उन्हें राधावल्लभीय भक्तों में सम्मिलित करते हुए बतलाया है कि उन्होंने रसिक अनन्य धर्म की परिपाटी को जान कर हित हरिवंश जी के मार्ग को ग्रहण किया था[3]। वे श्री राधावल्लभ जी के प्रति सुदृढ़ आस्था रखते हुए वृंदावन-वास करते थे। उन्होंने रसिक जनों के हृदयों को आनंद प्रदान करने के लिए नित्य विहार रस का वर्णन किया है[4]।

उपर्युक्त उल्लेखों के कारण उन्हें चैतन्य मतानुयायी अपनी ओर और राधावल्लभीय अपनी ओर खींचते हैं। इस खींचातानी ने सांप्रदायिक विवाद का रूप धारण कर आपस में बड़ी कटुता उत्पन्न कर दी है। इसके समाधान के लिए समन्वयवादी विद्वानों ने कहा कि प्रबोधानंद जी एक नहीं, दो महात्मा थे। एक प्रबोधानंद जी चैतन्य-मतानुयायी थे, जो 'चैतन्य चंद्रामृत' और 'संगीत माधव' जैसे काव्य ग्रंथों के रचयिता थे। दूसरे प्रबोधानंद जी राधावल्लभीय थे, जिन्होंने 'हरिवंशाष्टक स्तोत्र' और 'वृंदावन महितामृत शतक' की रचना की है[5]। किंतु इस बटवारे से भी उलझन मिटती नहीं है। कारण यह है कि 'संगीत माधव' में हित हरिवंश जी कृत 'राधा सुधानिधि' के दो श्लोक और कुछ पंक्तियाँ थोड़े परिवर्तन के साथ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार 'वृंदावन महिमामृत' के कुछ शतकों में चैतन्य-वंदना के श्लोक मिलते हैं।

आजकल के संकीर्ण संप्रदायवादी समझते है कि एक मत के अनुयायी को दूसरे मत के महात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट नहीं करनी चाहिए। यदि वह करता है, तो उसे निज मत को छोड़ कर दूसरे मत को ग्रहण करने वाला मानना होगा ! इस प्रकार की मान्यता वाले गौड़ीय लेखकों ने 'राधा सुधानिधि' को भी प्रबोधानंद जी की रचना बतलाना आरंभ किया है, और राधावल्लभीय लेखकों ने आवाज उठाई है कि 'वृंदावन महिमामृत शतक' में चैतन्य-वंदना के श्लोक बाद में बढ़ाये गये हैं। वास्तव में इस प्रकार के कथन सांप्रदायिक खींचातानी के कुपरिणाम हैं, जो वास्तविक तथ्य पर आधारित नहीं हैं। वस्तु स्थिति यह है कि 'राधा सुधानिधि' की प्राचीनतम प्रतियों से यह रचना हित जी की सिद्ध होती है, और 'वृंदावन महिमामृत शतक' की सर्वाधिक प्राचीन प्रतियों में भी चैतन्य-वंदना के श्लोक मिलते हैं। इसलिए प्रबोधानंद जी के ग्रंथों में प्राप्त कुछ राधावल्लभीय प्रभाव के कारण कोई कष्ट-कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। दो प्रबोधानंद मानने की बात तो और भी अग्राह्य है। कारण यह है कि एक ही समय में, एक ही स्थान में, एक से नाम के दो भक्त-कवियों द्वारा एक सी भाषा में, एक सा काव्य-कौशल प्रदर्शित करना कदापि संभव नही है।

---

(१) श्री प्रबोधानंद बड़े रसिक आनंदकंद, श्री चैतन्य जू के पारषद प्यारे हैं।

(२) प्रबोधानंद से कवि थोरे।
जिन राधावल्लभ की लीला रस में सब रस घोरे॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १६५)

(३) रसिक अनन्य धर्म परिपाटी। जानि गही हित जी की बाटी॥

(४) श्री राधावल्लभ की करि आस। सुदृढ़ भयो वृंदाबन-वास॥
नित विहार रस वर्णन कियो। रसिक जननि कौ सीच्यो हियो॥ (रसिक अनन्यमाल)

(५) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४४

हमारा मत है, चैतन्य चंद्रामृत, संगीत माधव और वृंदावन महिमामृत शतक इन तीनों ग्रंथों के रचयिता एक ही प्रबोधानंद थे । 'हरिवंशाष्टक' के संबंध में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि यह उनकी रचना है या नहीं । उनकी सांप्रदायिक मान्यता के संबंध में हमारा मत है, वे चैतन्य संप्रदायी थे । वृंदावन में निवास करने पर वे हित जी द्वारा प्रचारित रसोपासना के प्रति आकर्षित होकर उनके सहयोगी बन गये थे । हित जी के सत्संग का प्रभाव उनके संगीत माधव और वृंदावन महिमामृत शतकों में स्पष्टतया दिखलाई देता है । उसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे चैतन्य संप्रदाय को छोड़ कर राधावल्लभीय संप्रदाय में दीक्षित होते । उस समय के सभी भक्त महानुभाव उदार दृष्टिकोण के थे । वे अपने-अपने संप्रदायों के प्रति सुदृढ़ आस्था रखते हुए भी अन्य संप्रदायी महात्माओं के प्रति भी श्रद्धावान थे ।

प्रबोधानंद जी के ग्रंथों में भक्ति–भागीरथी के साथ काव्य-कलिंदजा का अपूर्व संगम हुआ है । इसीलिए वे भक्त जनों और काव्य–प्रेमियों दोनों वर्ग के सहृदय व्यक्तियों को समान रूप से प्रिय रहे हैं । उनकी रचनाओं में जैसा लालित्य और माधुर्य है, वैसा कम कवियों के कथन में मिलता है । वे वृंदावन में कालियदह नामक स्थल पर निवास करते थे । उनका देहावसान भी उसी स्थान पर हुआ था । वहाँ उनकी समाधि भी बनी हुई है ।

शिष्य समुदाय—श्री हित हरिवंश जी के बहुसंख्यक शिष्य थे । उनमें से कुछ प्रमुख शिष्यों के वृत्तांत भक्तमाल, रसिक अनन्य माल तथा राधावल्लभ संप्रदाय के विविध ग्रंथों में मिलते हैं। हमने हित जी के आरंभिक शिष्य नरवाहन जी, नवलदास जी और पूरनदास जी का उल्लेख गत पृष्ठों में किया है । हमने लिखा है, नवलदास जी और पूरनदास जी से हित जी के पदों को सुन कर व्यास जी तथा परमानंद जी वृंदावन आये थे और उन्होंने हित जी के उपदेश से अपनी भक्ति-भावना को सुदृढ़ किया था । परमानंद जी शाही मनसबदार और राजा की सन्मानित उपाधि प्राप्त थे । वे सिंध प्रदेश में ठट्ठा के प्रशासनिक अधिकारी थे; किंतु प्रेम–भक्ति के प्रति आकर्षण होने से सब-कुछ छोड़ कर वृंदावन आ गये थे । उन्होंने सं. १५९२ के भाद्रपद मास में हित जी से दीक्षा ली थी[1] । उसके उपरांत वे माधुर्य भक्ति और साधु-सेवा करते हुए स्थायी रूप से वृंदावन में रहे थे । भगवत-मुदित जी ने लिखा है, प्रबोधानंद जी जैसे वेदांती संन्यासी परमानंद जी की प्रेरणा से ही हित जी की प्रेम–भक्ति और रसोपासना को ग्रहण कर वृंदावन के अनन्य उपासी हुए थे[2] । बीठलदास श्री हित हरिवंश जी के अत्यंत कृपा-पात्र शिष्य थे । उनके लिए हित जी ने दो पत्र लिखे थे, जिनमें शिष्यों के प्रति उनकी सहज आत्मीयता की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है । हित जी के एक शिष्य मोहनदास कदाचित इन बीठलदास के छोटे भाई थे । वे दोनों भाई इतने गुरु–भक्त थे कि हित जी का देहावसान होने पर उन्होंने भी उनके वियोग में अपने प्राण छोड़ दिये थे !

छबीलदास और नाहरमल देवबन के निवासी थे । वे हित जी के आरंभिक जीवन में ही उनके अनुगत हो गये थे । छबीलदास तमोली थे । वे हित जी द्वारा देवबन में प्रतिष्ठित ठाकुर श्री रंगीलाल जी की सेवा के लिए बड़ी श्रद्धापूर्वक पान की ढोली अर्पित किया करते थे । जब हित जी देवबन से वृंदावन चले गये, तब वे भी उनके वियोग में व्याकुल होकर वृंदावन आये थे ।

---

(१) रसिक अनन्य माल में 'परमानंददास जी की परचई'
(२) वही ,, 'प्रबोधानंद जी की परचई'

हित जी ने उन्हें श्रीराधा–कृष्ण के दिव्य रास का दर्शन कराया था। वे उसका सुखानुभव करते हुए इतने अभिभूत हुए कि अपना शरीर छोड़ कर नित्य लीला में प्रवेश कर गये! नाहरमल कायस्थ जाति के संभ्रांत व्यक्ति थे। वे भी हित जी के दर्शनार्थ वृंदावन आये थे। उन्होंने देखा कि श्री राधावल्लभ जी की छोटी से छोटी सेवा भी हित जी स्वयं करते हैं; यहाँ तक कि रसोई के लिए ईंधन भी वे स्वयं ही वन से लाते हैं! नाहरमल जी ने उनका श्रम बचाने के लिए अपने व्यय से धीमर जाति के एक भृत्य की व्यवस्था करने का प्रस्ताव किया था। उसे सुन कर हित जी उनसे रुष्ट हो गये। उन्होंने कहा,—'तुम रजोगुण के व्यक्ति हो; मुझ से मेरे प्रभु की सेवा छुड़वाना चाहते हो। मैं तुम्हारा मुख भी नहीं देखना चाहता!' इस प्रकार प्रताड़ित होने पर नाहरमल जी ने तब तक अन्न–जल ग्रहण न करने का प्रण किया, जब तक कि हित जी पुनः उन पर प्रसन्न न हो जावें! उनकी उस कठोर प्रतिज्ञा से द्रवीभूत होकर हित जी उन पर पूर्ववत् कृपा करने लगे थे[1]। इन प्रमुख शिष्यों के अतिरिक्त हित जी के अंतरंग शिष्यों में उनके चार पार्षद-गंगा, गोविंदा, रंगा और मेघा के नाम भी मिलते हैं।

हित जी की महिला शिष्याओं में कर्मठीबाई और गंगाबाई–यमुनाबाई के नाम उल्लेखनीय हैं। कर्मठीबाई बाल–विधवा थी। दैव योग से उसके पति के पश्चात् उसके पिता का भी देहांत हो गया था। वह इस प्रकार अनाथ हो जाने से कठोर तपस्या द्वारा अपना शरीर सुखाने लगी। उसका वृद्ध ताऊ हरिदास श्री हित जी का भक्त था। उसने कर्मठीबाई को हित जी से मंत्र–दीक्षा दिला कर उसे भक्ति मार्ग में लगा दिया। उसके उपरांत कर्मठीबाई कथा–कीर्तन और भगवत-सेवा में अपना जीवन बिताने लगी। मथुरा का मुसलमान शासक उसके रूप पर मोहित हो गया था। वह अपने कुचक्र द्वारा उसे हथियाने की चेष्टा करने लगा, किंतु हित जी के कारण उसके सतीत्व की रक्षा हुई थी[2]। गंगाबाई और यमुनाबाई ब्रज के कामवन नामक स्थान की दो अनाथ बहिनें थीं। उन्हें मथुरा के एक गुणी गायक मनोहर ने पाल–पोष कर बड़ा किया था। उसने उन दोनों को गायन और नृत्य की भली भाँति शिक्षा दी थी। वह उनसे राज–दरबार में नृत्य कराने लगा, जिससे उसने पर्याप्त धनोपार्जन किया था। कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई और उसका समस्त धन गंगा–यमुना को प्राप्त हुआ। उस समय उन्हें नृत्य-गान के धंधे से विरक्ति हो गई, और वे अपना शेष जीवन भगवत्–भक्ति में बिताने का विचार करने लगीं। उसी समय हित जी के शिष्य परमानंद जी से मिलने का उन्हें सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनकी प्रेरणा से वृंदावन जा कर हित जी की शिष्या हो गईं। उन्होंने अपना समस्त धन भी हित जी को अर्पित करना चाहा, किंतु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। फिर वे हित जी के आदेशानुसार अपने धन को श्रीहरि और हरिभक्तों की सेवा में लगाने लगीं। इसके साथ ही उन्होंने अपनी नृत्य–गान की कलाओं को भी भगवत–सेवा के लिए ही समर्पित कर दिया था। उन सब बातों से उनकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई थी। मथुरा का मुसलमान शासक उनकी ओर कुदृष्टि से देखने लगा; किंतु हित जी के कारण उसकी दाल नहीं गली[3]। इस प्रकार हित हरिवंश जी की कृपा से वे दोनों बहिनें अपने जीवन को सार्थक करने में समर्थ हो सकी थीं।

---

(१) रसिक अनय माल में 'नाहरमल जी की परचई'
(२) वही ,, 'कर्मठीबाई जी की परचई'
(३) वही ,, 'गंगा–यमुनाबाई जी की परचई'

श्री सेवक जी—राधावल्लभ संप्रदाय में श्री दामोदरदास उपनाम 'सेवक जी' को भी श्री हित हरिवंश जी का शिष्य माना जाता है; यद्यपि वे हित जी के जीवन-काल में उनसे दीक्षा प्राप्त नहीं कर सके थे। श्री भगवतमुदित जी द्वारा लिखे हुए उनके वृत्तांत से ज्ञात होता है कि वे मध्यप्रदेश राज्यांतर्गत गोंडवाना के गढ़ा नामक स्थान के निवासी थे। उनके एक पड़ौसी मित्र चतुर्भुजदास थे। सेवक जी और चतुर्भुजदास जी दोनों ही ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और वे प्रगाढ़ विद्वान, हरिभक्ति-परायण एवं साधु-सेवी थे। उन्हें एक सुयोग्य गुरु की तलाश थी। एक बार हित जी की शिष्य-मंडली के कुछ रसिक भक्त गढ़ा गये थे। उन्होंने वहाँ पर हित जी के पदों द्वारा युगल-केलि का गायन किया था। उसे सुन कर सेवक जी और चतुर्भुजदास जी हित जी की ओर आकर्षित होकर उनसे मंत्र-दीक्षा लेने के लिए वृंदावन जाने का विचार करने लगे। किंतु इसी सोच-विचार में काफ़ी समय निकल गया और उधर वृंदावन में हित जी का देहावसान हो गया। जब उन दोनों को वह समाचार ज्ञात हुआ, तब वे हित जी के वियोग में बड़े दुखी हुए; यहाँ तक कि उनकी उन्मत्तों की सी दशा हो गई थी। उसके बाद उन्हें समाचार मिला कि हित जी के ज्येष्ठ पुत्र वनचंद्र जी राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए हैं, और वे अपने पिता के समान ही सुयोग्य हैं। चतुर्भुजदास जी ने सेवक जी से वृंदावन चल कर श्री वनचंद्र जी से दीक्षा लेने को कहा। इस पर उन्होंने उत्तर दिया,—'मैं श्री हरिवंश जी को अपना गुरु मान चुका हूँ; मैं तो उन्हीं से दीक्षा लूंगा, अन्यथा अपने प्राण छोड़ दूंगा !' उनकी उस अद्भुत हठ के कारण चतुर्भुजदास जी तो उन्हें छोड़ कर वृंदावन चले गये, और वहाँ श्री वनचंद्र जी के शिष्य हो गये। उधर सेवक जी अपने हठपूर्ण प्रण द्वारा जीवन की बाजी लगा कर बैठ गये ! राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता है, श्री हित हरिवंश जी ने स्वप्न में सेवक जी को मंत्र-दीक्षा देने के साथ ही साथ उन्हें प्रेम-भक्ति और रसोपासना का मर्म भी भली भाँति समझाया था ! उससे सेवक जी कृतार्थ हो गये, और उन्होंने अपने निवास-स्थल गढ़ा में ही हित जी के पदों के भाष्य रूप में अपनी सुप्रसिद्ध 'सेवक वाणी' की रचना की थी। ब्रज से सैकड़ों मील दूर ऐसी समृद्ध ब्रजभाषा में रचना करना उनके प्रौढ़ कवित्त्व का परिचायक है।

जब श्री वनचंद्र जी को सेवक जी की अलौकिक मंत्र-दीक्षा और उनकी महान् वाणी-रचना के विषय में ज्ञात हुआ, तो वे उनकी अनन्य श्रद्धा-भावना और अपूर्व महिमा से बड़े चमत्कृत हुए। उन्होंने अत्यंत आग्रह पूर्वक उन्हें वृंदावन आने का संदेश भेजा। इस पर सेवक जी अपने जीवन में प्रथम बार वृंदावन गये, और वहाँ श्री राधावल्लभ जी का दर्शन तथा वनचंद्र जी का सत्संग प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये। राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता है कि वृंदावन आ कर श्री सेवक जी इतने रस-विभोर हो गये कि वहाँ केवल दस दिन तक ही जीवित रह सके थे। उसके उपरांत वे रासमंडल के एक वृक्ष के नीचे प्रिया-प्रियतम की रस-क्रीड़ाओं की अनुभूति में अपना शरीर छोड़ कर निकुंज लीला में प्रवेश कर गये ! श्री वनचंद्र जी ने उनके सम्मान में यह नियम बना दिया कि 'हित चौरासी' और 'सेवक-वाणी' दोनों रचनाएँ साथ-साथ लिखी और पढ़ी जावें[1]। राधावल्लभ संप्रदाय में इस नियम का अब भी पालन किया जाता है। श्री सेवक जी की विद्यमानता के काल का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा अनुमान होता है, वे सं. १५७७ के लगभग उत्पन्न हुए थे और उनका देहावसान सं. १६१० में हुआ था।

---

(१) तब तें आज्ञा दई गुसाईं। पोथी दोऊ मिलो लिखाईं।
'चौरासी' अरु 'सेवक-बानी'। इक संग लिखत-पढ़त सुखदानी ॥
—रसिक अनन्य माल में 'श्री सेवक जी की परचई'

हित जी का व्यक्तित्व और महत्व—श्री हित हरिवंश जी का व्यक्तित्व अत्यंत आकर्षक और प्रभावपूर्ण था। भजन-ध्यान तथा उपासना-भक्ति से दैदीप्यमान उनकी तेजोमयी मुख-मुद्रा और उनके शालीनतापूर्ण मृदुल व्यवहार में कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी उनके समक्ष आते ही श्रद्धावनत हो जाता था ! नरवाहन जैसा दुर्दमनीय दस्युराज और हरिराम व्यास जैसे उद्भट शास्त्रार्थी विद्वान हित जी से भेंट करते ही अत्यंत विनीत भाव से उनके प्रति अनुरक्त हुए थे। उस काल के धर्माचार्य प्राय: विरक्त और प्रकांड पंडित होते थे। वे धर्म ग्रंथों के आलोड़न और शास्त्रार्थ द्वारा अन्य मतों का खंडन कर अपने मत का मंडन करते थे। किंतु हित हरिवंश जी गृहस्थ थे और शास्त्रार्थी पंडित भी नहीं थे; फिर भी प्रबोधानंद जी जैसे परमोच्च कोटि के विद्वान संन्यासी उनके श्रद्धालु भक्त हुए थे। हित जी ने शास्त्रार्थ, खंडन-मंडन एवं वाद-विवाद के बिना ही अपनी प्रेम-भक्ति का प्रचार किया था, और उसका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा था।

वे अपने मधुर स्वभाव, अपनी माधुर्य भाव की उपासना और अपनी सरस काव्यमयी एवं संगीतपूर्ण मधुर 'वाणी' के कारण माधुर्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। इसीलिए राधावल्लभ संप्रदाय में उन्हें श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार माना जाता है। उनकी अपने उपास्य के प्रति ऐसी अनुपम निष्ठा एवं सुदृढ़ आस्था थी कि उन्होंने किसी भी दूसरे अवतार अथवा देवी-देवता के आराधन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। जिस प्रकार मीराबाई 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई'— का गायन करती हुई किसी भी अन्य देवी-देवता की अपेक्षा एक मात्र श्री गिरिधर गोपाल के प्रति ही अनुरक्त हुई थी; उसी प्रकार हित जी ने भी 'मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौ तृन छिये' की घोषणा द्वारा श्रीराधा जी के प्रति ही अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की थी। यहाँ तक कि उन्होंने श्रीराधा जी के अतिरिक्त किसी अन्य देवी-देवता का कथन, दर्शन और श्रवण करने पर अपनी जिह्वा, अपने नेत्र और कर्णों के भी नष्ट हो जाने की कामना की थी,—'रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अन फुटौ नैन। स्रवन फुटौ जो अन सुनौं, बिन राधा जस बैन ॥', यह हित जी के अनन्य भाव की पराकाष्ठा थी !

हित हरिवंश जी के पूर्ववर्ती जितने भी धर्म-प्रवर्तक आचार्य हुए थे, उन सबने अपने-अपने मतों का समर्थन शास्त्रोक्त प्रमाणों से किया था और अपने सिद्धांत ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की थी। हित जी पहिले धर्माचार्य थे, जिन्होंने अपने मत के समर्थन में किसी शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी थी, और अपने भक्ति-सिद्धांत को सरस कवित्व के माध्यम से जन-भाषा में प्रकट किया था। उस काल की लोक प्रचलित ब्रजभाषा में कथित हित जी की 'वाणी' जहाँ राधावल्लभ संप्रदाय में वेद-शास्त्रों के समान प्रामाणिक मानी जाती है, वहाँ ब्रजभाषा साहित्य में भी उसका अनुपम काव्य-महत्व माना गया है।

हित जी के अद्भुत प्रभाव और अनुपम महत्व के कई कारण बतलाये जा सकते हैं। प्रथम कारण तो उनके द्वारा एक ऐसे भक्ति संप्रदाय का प्रचार करना था, जिसके लिए न तो घर-बार को छोड़ कर विरक्त होना अनिवार्य था और न कठोर व्रत-अनुष्ठान करने ही आवश्यक थे। दूसरा कारण उनके द्वारा नित्य विहार की माधुर्यमयी रसोपासना का प्रचलन करना था, जिसे उन्होंने वाद-विवाद और शास्त्रीय उलझन से रहित केवल शुद्ध प्रेम-तत्त्व पर आधारित किया था। तीसरा कारण अनेक देवी-देवताओं के स्थान पर सर्वोपरि परम तत्त्व रूप श्री राधावल्लभ जी के प्रति ही अनन्य निष्ठा का प्रचार करना था। चौथा कारण उस काल की लोकप्रिय ब्रजभाषा में कथित अत्यंत सरस और समर्थ गेय काव्य के माध्यम से अपनी उपासना-भक्ति के मत को प्रस्तुत करना था।

राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धांत और उपासना-पद्धति—

भक्ति–सिद्धांत—साधारणतया 'सिद्धांत' का अभिप्राय दार्शनिक विवेचन से होता है। इसमें ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के स्वरूप-निर्धारण द्वारा अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैतादि सिद्धांतों की स्थापना की जाती है, और उनकी संपुष्टि ब्रह्मसूत्रादि के भाष्य द्वारा होती है। इसी परंपरा का पालन करते हुए रामानुजाचार्य से वल्लभाचार्य तक प्रायः सभी वैष्णव संप्रदायाचार्यों ने अपने–अपने भक्ति–सिद्धांतों को किन्हीं विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांतों पर आधारित किया है। किंतु राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य श्री हित हरिवंश जी ने न तो दार्शनिक ऊहापोह द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धांत की स्थापना कर उसे ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वारा संपुष्ट करने की चेष्टा की, और न अपने भक्ति–सिद्धांत को किसी प्राचीन या नवीन दार्शनिक सिद्धांत से संबद्ध करने का ही प्रयास किया था। गौड़ीय संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना और ब्रह्मसूत्र–भाष्य की रचना नहीं की थी; किंतु उनके विद्वान पार्षद गौड़ीय गोस्वामियों ने इस संप्रदाय के समर्थन में गहन विवेचनात्मक शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया था, जिनमें दार्शनिक मीमांसा का भी अभाव नहीं था। किंतु श्री हित हरिवंश जी ने अपने संप्रदाय को शास्त्रीय जटिलताओं से भी मुक्त रखा था।

श्री हित हरिवंश जी ने अपने सांप्रदायिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है,—'सृष्टि का रचयिता कौन है, कौन इसे धारण करता है और कौन इसका संहार करता है,—इन निरर्थक बातों पर विचार करने के लिए हमें अवकाश नहीं है। हमारा प्रयोजन तो श्रीराधा–कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं वाली कुंज–वीथियों की उपासना करना है[1]।' उक्त प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त हित जी ने अपने संप्रदाय की उपासना–भक्ति के लिए 'प्रेम-तत्त्व' को स्वीकार किया था। यदि इसे दर्शन से समन्वित करना आवश्यक समझा जावे, तो इसे 'प्रेम दर्शन' कहा जा सकता है। राधावल्लभ संप्रदाय में इसे 'हित' का पारिभाषिक नाम दिया गया है। इस प्रकार यह 'प्रेम तत्व' किंवा 'हित तत्व' ही राधावल्लभ संप्रदाय का भक्ति–सिद्धांत है। इसकी रसपूर्ण विवेचना के लिए हित जी ने श्रीराधा–कृष्ण की निकुंज–लीलाओं के गायन रूप में अपनी सरस 'वाणी' का कथन किया है। यह 'वाणी' ही राधावल्लभ संप्रदाय की मूल सैद्धांतिक रचना मानी जाती है।

श्री हित हरिवंश जी ने अपने भक्ति–सिद्धांत की रूप–रेखा इस प्रकार बतलाई है,—

सबसौं हित, निष्काम मति, वृंदावन विश्राम। श्री राधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ॥१॥
तनहिं राखि सत्संग में, मनहिं प्रेमरस भेव। सुख चाहत 'हरिवंश हित', कृष्ण-कल्पतरु सेव[2] ॥२॥

दार्शनिकता से संबद्ध करने का प्रयास—श्री हित हरिवंश जी के सांप्रदायिक मन्तव्य और उनके भक्ति–सिद्धांत में दार्शनिक जटिलता न होते हुए भी कतिपय राधावल्लभीय विद्वानों ने इसे दार्शनिकता से संबद्ध करने का प्रयास किया है, और उसके लिए ब्रह्मसूत्रों के 'राधावल्लभीय भाष्य' भी प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार के प्रयत्न निश्चय ही इस संप्रदाय के आद्याचार्य की मूल भावना के विरुद्ध हैं। राधावल्लभ संप्रदाय में ब्रह्मसूत्रों के चार भाष्य होने की प्रसिद्धि है। उनमें से एक भाष्य श्री हित जी के पुत्र श्री कृष्णचंद्र गोस्वामी कृत कहा जाता है। अभी तक उसके केवल दो सूत्र हिंदी

---

(१) राधा सुधानिधि, २३५
(२) हित हरिवंश कृत 'स्फुट वाणी'

भाष्य सहित प्रकाश में आये हैं[1]। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस भाष्य को पूर्ण रूप में उपलब्ध होना संदिग्ध बतलाया है[2]। हमें भी कुछ ऐसा ही लगता है; कारण यह है कि यदि यह भाष्य होता, तो राजा जयसिंह की 'धर्म सभा' में-अवश्य उपस्थित किया जाता। गौड़ीय विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण के 'गोविंद भाष्य' द्वारा उस समय चैतन्य संप्रदायी भक्तों के गौरव की रक्षा हुई थी; किंतु राधावल्लभीय संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य उसके अभाव में बड़ी कठिनाई में पड़ गये थे। श्री रूपलाल गोस्वामी को तो वृंदावन ही छोड़ना पड़ा था।

वास्तविकता यह है कि १८वीं शती तक राधावल्लभ संप्रदाय में कोई ब्रह्मसूत्र भाष्य नहीं था। उसके बाद ही इन तथाकथित भाष्यों की रचना हुई और इस संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांत को दार्शनिकता का जामा पहिना कर उसे 'सिद्धाद्वैत' नाम से प्रचारित किया गया। इस प्रकार के प्रयत्नों में किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना का उद्देश्य नहीं था; वरन् वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों की परंपरा में राधावल्लभ संप्रदाय को स्थिर करने की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति थी।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस संबंध में विस्तार से विचार किया है। उनका मत है, न तो 'सिद्धाद्वैत' शब्द के अर्थ की संगति राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धांत से होती है, और न इस संप्रदाय को चतुः संप्रदाय की परंपरा में ही स्थिर किया जा सकता है। उन्होंने अपने विवेचन का निष्कर्ष बतलाते हुए कहा है,—'इस संप्रदाय में न तो दार्शनिक जटिलता है, और न भक्ति-सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रस-स्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धांत की नींव और रसोपासना का आधार है[3]।'

श्री ललिताचरण गोस्वामी ने भी प्रायः इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। उनका कथन है,—'श्री चैतन्य एवं श्री हित हरिवंश ने प्रेम-भक्ति को संपूर्ण वेदों का सार बतला कर उसको सब वेदांतवादों से परे घोषित किया एवं उसकी प्रतिष्ठा के लिए किसी वेदांतवाद की सहायता को अनावश्यक बतलाया।...श्री हित हरिवंश का जीवन भी शुद्ध प्रेममय एवं सर्वथा विवादशून्य था। विवाद के द्वारा दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा की जा सकती है, प्रेम-सिद्धांत की नहीं। इसके लिए तो केवल प्रेमपूर्ण मन, कर्म और वाणी की आवश्यकता है[4]।'

राधावल्लभीय भक्ति की कठिनता—राधावल्लभीय भक्ति की मूल रचना श्री हित हरिवंश जी की 'वाणी' है, जो 'हित चौरासी' और 'स्फुट वाणी' नामक दो छोटी पोथियों में सन्निहित है। इस 'वाणी' के स्वल्पाकार से और उसमें भी केवल दो दोहों में ही हित जी द्वारा अपने भक्ति-तत्व की रूप-रेखा बतलाये जाने से इसका परिज्ञान कठिन नहीं होना चाहिए। किंतु बात ऐसी नहीं है। राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व कहने-सुनने में चाहें कितना ही सीधा-सादा और सुगम जान पड़े; किंतु वास्तव में यह बड़ा गूढ़ है और इसे यथार्थ रूप में समझना बड़ा कठिन है। इसीलिए नाभा जी ने कहा है, गो. हरिवंश जी के भजन की रीति कोई विरला भाग्यवान ही जानता है,—'हरिवंश गुसाईं भजन की रीति, सकृत कोइ जानि है।'

---

(१) श्री सुदर्शन मासिक पत्र (माघ, सं. १९९३) प्रकाश ३, किरण १
(२) श्री राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १२८–१२९
(३) वही ,, ,, , पृष्ठ १२९
(४) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ६६–६८

हित जी के भक्ति–तत्त्व और उनकी भजनोपासना को स्पष्ट करने के लिए राधावल्लभ संप्रदाय के कई विशिष्ट भक्तों ने अपनी 'वाणी' का प्रणयन किया है। ऐसे भक्त महानुभावों में सर्वश्री दामोदरदास 'सेवक जी' और ध्रुवदास जी अग्रगण्य हैं। सेवक जी को हित जी की वाणी तथा उसमें सन्निहित राधावल्लभीय भक्ति–तत्त्व के प्रथम टिप्पणीकार और ध्रुवदास जी को उसका विशद भाष्यकार माना जाता है। वस्तुतः इन दोनों महानुभावों की रचनाओं को ही इस संप्रदाय में टीका, टिप्पणी और भाष्य का महत्त्व दिया गया है। जिन तथाकथित भाष्यों का पहिले उल्लेख किया गया है, वे व्यर्थ हैं।

राधावल्लभ संप्रदाय में सर्वश्री सेवक जी और ध्रुवदास जी की वाणी का पर्याप्त प्रचार है, जिससे राधावल्लभीय भक्त जन तो अपने संप्रदाय की भक्ति–उपासना से थोड़े-बहुत परिचित रहे हैं; किंतु बाहरी व्यक्तियों को इसकी बहुत कम जानकारी रही है। श्री ललिताचरण गोस्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि राधावल्लभ संप्रदाय के साधन सम्पन्न अनुयायियों को छोड़ कर अन्य लोगों को, चाहें वह इस संप्रदाय के अंदर हैं या बाहर, इसके संबंध में बहुत कम मालूम है[1]। इस गूढ़ता के दुर्ग में प्रवेश करने का प्रथम प्रयास संप्रदाय के बाहर के एक विशिष्ट विद्वान डा० विजयेन्द्र स्नातक ने किया है। उनकी परिश्रमसाध्य और विद्वत्तापूर्ण रचना 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे अपने अध्यवसाय में सफल हुए हैं। दूसरा प्रयास इस संप्रदाय के अंदर के ही एक अधिकारी विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी का है, जिनकी अधिकृत रचना 'श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य' है। इन दो विशिष्ट ग्रंथों के उपलब्ध हो जाने से अब राधावल्लभ संप्रदाय के भक्ति–सिद्धांत और उसकी उपासना–पद्धति की गूढ़ता बहुत-कुछ कम हो गई है, और इनका समझना कुछ सरल हो गया है।

भक्ति और प्रेमोपासना—राधावल्लभ संप्रदाय की भक्ति का आधार 'प्रेम तत्त्व' है, जिसे 'हित' की संज्ञा दी गई है। साधारणतया ब्रज के सभी धर्म–संप्रदायों में प्रेम का महत्व स्वीकृत है और इसे भक्ति–साधना का सर्वोत्तम साधन माना गया है; किंतु राधावल्लभ संप्रदाय में प्रेम का जो स्वरूप मान्य है, वह अन्य संप्रदायों से कहीं अधिक व्यापक और विलक्षण है। इस संप्रदाय के अनुसार 'प्रेम' किंवा 'हित' एक मात्र परात्पर तत्त्व है; और भगवान्, भक्ति एवं भक्त इसी के विविध नाम–रूप हैं। इस प्रकार समस्त विश्व इस प्रेम देवता का ही लीला-विलास है। 'प्रेम ही परमाराध्य भगवत्-तत्त्व है, और यही परम ज्ञान का प्रयोजक एवं ज्ञान-घन-स्वरूप है। प्रेम ही आत्मा है, क्यों कि श्रुति ने आत्मा को प्रियता का एक मात्र आस्पद बतलाया है। श्री हित हरिवंश को प्रेमस्वरूप श्रीराधा से प्रेम-मंत्र की दीक्षा मिली थी, अतः उनको प्रेम का दर्शन गुरु रूप में प्राप्त हुआ था। प्रेम-गुरु के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'हित' है, जो परम प्रेम के अंदर सहज रूप से स्थित अन्य को सुखी करने की वृत्ति का द्योतक है[2]।'

प्रेमोपासना में तत्सुख और एकत्व की भावना—'प्रेम प्रेमी की रागात्मिका वृत्ति का वह रूप है, जो उसे प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट करके उसके दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप आदि द्वारा प्रेमी को संतुष्ट और सुखी बनाता है। सांसारिक प्रेम में, प्रेम करने वाला प्रेमी अपनी वृत्तियों के परितोष

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ १३
(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ७७

वैदिक वाङ्मय—उपनिषद् काल तक वैदिक धर्म का विशद वाङ्मय प्रस्तुत हो गया था। उस समय उस सबको कंठस्थ करना अत्यंत कठिन प्रतीत होने लगा। उस कठिनाई को दूर करने के लिए सूत्र रूप में रचनाएँ करने की परंपरा प्रचलित हुई थी। उन रचनाओं को 'वेदांग' कहा गया है। वेदांगों के नाम १. शिक्षा, २. छंद, ३. निरुक्त, ४. व्याकरण, ५. ज्योतिष और ६. कल्प हैं। 'कल्प' नामक वेदांग के अंतर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म सूक्तों की रचना क्रमशः लाट्यायन, आश्वलायन और आपस्तम्ब आदि ऋषियों ने की थी। कालांतर में धर्म सूत्रों के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई थी, जिनमें मनु स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वैदिक धर्म के रथ को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए जिन दो चक्रों की व्यवस्था की गई, उन्हें 'आचार' और 'विचार' के नाम दिये जा सकते हैं। 'आचार' को व्यवस्थित रूप देने का प्रमुख श्रेय वेद, ब्राह्मण और वेदांग को है; जब कि 'विचार' के आधार-स्तंभ विशेष रूप से उपनिषद् हैं। उपनिषदों के 'विचार' का विस्तार 'दर्शन' में हुआ है। 'धर्म' के साथ 'दर्शन' का घनिष्ट संबंध है और वे दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दर्शन छै हैं, जिनके नाम १. सांख्य, २. योग, ३. वैशेषिक, ४. न्याय, ५. मीमांसा और ६. वेदांत हैं।

उपनिषदों का सार-तत्व भगवत्गीता है। दर्शनों में प्रमुख वेदांत है, जिसे 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है। वैदिक 'विचार'-धारा में अवगाहन करने के प्रमुख साधन उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र हैं, जिन्हें 'प्रस्थानत्रयी' कहा गया है। भारत के धार्मिक जीवन को जिन दो ग्रंथों ने बड़ा प्रभावित किया है, वे हैं वाल्मीकि कृत 'रामायण' और द्वैपायन व्यास कृत 'महाभारत'। रामायण इस देश का 'आदि काव्य' कहलाता है और महाभारत को 'पंचम वेद' कहा जाता है। इस समस्त वाङ्मय ने वैदिक धर्म को व्यवस्थित कर उसके विकास और विस्तार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

वैदिक जीवन-दर्शन—वैदिक धर्म ने प्राचीन आर्यों के लिए एक आदर्श जीवन-दर्शन का निर्माण किया था, जो यज्ञ अर्थात् कर्म प्रधान था। उसके द्वारा आर्य गण कर्म करते हुए अपने जीवन का उत्तरोत्तर विकास करते थे और उनका अंतिम लक्ष दिव्य ज्योतिर्मय लोक में अमृतत्व अर्थात् निःश्रेयस की प्राप्ति करना होता था। वे प्राकृतिक शक्तियों के रूप में विविध देवताओं की उपासना करते थे; किंतु उन सबमें व्याप्त एक मूल शक्ति अर्थात् परमतत्व की सत्ता में उनका विश्वास था। उपनिषद काल में उस मूल शक्ति रूप परमतत्व को 'ब्रह्म' कहा जाने लगा था।

आर्यों के सामाजिक जीवन में वर्ण और आश्रम का बड़ा महत्व था। समस्त आर्य समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से चार वर्णों में विभाजित था। वर्ण व्यवस्था जन्मप्रधान न होकर कर्मप्रधान थी और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके वर्ण के अनुसार कर्म करना अनिवार्य था। आयु के क्रम से प्रत्येक व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी। गृहस्थ आश्रम को बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता था, क्यों कि उसी के द्वारा समस्त धर्म-कर्मों का यथोचित निर्वाह करना संभव था। आर्यों का रहन-सहन सादा था और उनकी संस्कृति ग्रामप्रधान थी। उनकी जीविका का प्रमुख आधार कृषि और पशु-पालन था। वैदिक काल का जीवन सुखी, संतुष्ट, अभावरहित और उल्लासपूर्ण था। आर्यों में दुःख, निराशा और असंतोष की भावना नहीं थी। वेदों में ऐसे अनेक मंत्र हैं, जिनमें आर्यगण कर्म करते हुए सुख और आनंद से सौ वर्ष तक जीवित रह कर अंत में अमृतत्व की कामना करते हुए दिखलाई देते हैं।

के लिए ही प्रेम के संसार में प्रविष्ट होता है। स्व-सुख-सिद्धि ही सामान्यतः प्रेम का लक्ष्य भी माना जाता है, किंतु राधावल्लभीय प्रेम की परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव) अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष में ही आत्म समर्पण करते हैं। राधा की समस्त चेष्टाएँ माधव को रिझाने, प्रसन्न करने में हैं और माधव राधा के प्रमोद और आनंद की चेष्टा करते हैं। आत्म-विसर्जन के बाद ही दूसरे की तुष्टि संभव है; यही इस मत का प्रेम-संबंधी सिद्धांत है। इस सिद्धांत को श्री हित हरिवंश जी ने 'हित चौरासी' के प्रथम पद में ही स्पष्ट किया है[१]।'

हित जी के उक्त पद में श्रीराधा जी की उक्ति है। इसमें बतलाया है, मेरा प्रियतम जो कुछ भी करता है, उस सबसे मुझे आनंद प्राप्त होता है, और मेरे तन-मन-प्राण भी सदैव अपने प्रियतम की प्रसन्नता के हेतु ही अर्पित रहते हैं। अंत में हित जी ने श्रीराधा–कृष्ण को एक ही प्रेम-तत्व बतलाया है, जिसने रस-क्रीड़ा के हेतु दो रूप धारण किये हुए हैं। इसके लिए उन्होंने जल की तरंगों का उदाहरण देते हुए दोनों को एक-दूसरे से ओत-प्रोत और कभी अलग न होने वाला कहा है[२]।

हित हरिवंश जी के इस सिद्धांत वाची पद की भावना का कथन करते हुए सेवक जी ने कहा है,—राधा के बिना श्याम की स्थिति नहीं है, और श्याम के बिना राधा की नहीं है। इनमें क्षण भर के लिए भी अंतर नहीं होता है, क्यों कि ये एक प्राण दो देह हैं[३]।' इसी प्रकार ध्रुवदास जी ने भी कहा है,—'राधा-कृष्ण की एक प्रकार की रुचि, एक सी वय और एक सी प्रीति है। इनका शील-स्वभाव भी एक सा मृदुल है। इन्होंने रस-क्रीड़ा के हेतु दो देह धारण किये हुए हैं[४]।'

संयोग में भी वियोग की सी स्थिति—प्रेम की चरम परिणति या तो संयोग में होती है, या वियोग में। वैष्णव संप्रदायी प्रेमोपासक रसिक भक्तों ने प्रेम की पूर्णता किसी ने संयोग में मानी है, और किसी ने वियोग में। किंतु श्री हित हरिवंश जी ने प्रेम की इन दोनों स्थितियों को अपूर्ण बतलाया है। उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में सारस और चकई के दृष्टांत दिये हैं[५]। जीव-जगत् में सारस संयोग का प्रतीक है और चकई वियोग का। सारस युगल सदैव संयुक्त रहते हैं; यदि उनमें से किसी एक का वियोग होता है, तो दूसरा तत्काल प्राण त्याग देता है। उन्हें विरह–वेदना का

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १४७

(२) जोई-जोई प्यारौ करै सोइ मोहि भावै, भावै मोहि जोई-जोई, सोई-सोई करै प्यारे।
मोकौं तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में, प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे॥
मेरे तन-मन-प्रान हूँ तें प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्रान प्रीतम मो सौं हारे।
हित हरिवंश हंस–हंसिनी साँवल गौर, कहौ कौन करै जल–तरंगिनि न्यारे॥ (हि. चौ.)

(३) राधा संग विना नहीं श्याम। श्याम विना नहीं राधा नाम॥
छिन इक कबहुँ न अंतर होई। प्रान सु एक देह है दोई॥ (सेवक–वाणी)

(४) एक रंग–रुचि, एक वय, एकै भाँति सनेह।
एकै शील–सुभाव मृदु, रस के हित दो देह॥ (रति मंजरी)

(५) 'स्फुट वाणी' के दो कुंडलिया छंद देखिये—
१. सारस सर बिछुरंत कौं, जो पल सहै शरीर।६।
२. चकई प्राण जु घट रहैं, पिय बिछुरंत निकज्ज।५।

अनुभव ही नहीं होता है; अतः उनका संयोग अपूर्ण है। चकई प्रति रात्रि अपने प्रिय का वियोग सह कर भी जीवित रहती है, अतः उसका वियोग भी अपूर्ण है। इसलिए हित हरिवंश जी ने प्रेम की वह स्थिति सर्वोत्तम मानी है, जिसमें संयोग की तृप्ति और उल्लास के साथ वियोग की सी अतृप्ति और विकलता की भी अनुभूति हो !

इस प्रकार की स्थिति अत्यंत सूक्ष्म और तीव्र प्रेम में ही संभव है; और यही राधावल्लभीय प्रेम–भक्ति का आदर्श है। 'मिलन में भी विरह की इस मानसिक भावना की कल्पना का प्रयोजन यह है कि श्री हरिवंश जी के मत में नित्य मिलन की स्वीकृति होने के कारण कोई यह न समझ ले कि उनके प्रेमभाव में विरह-सदृश उद्वेग, उत्कर्ष, उल्लास, उद्दीपन और उत्साह कभी होता ही नहीं। प्रेम की नूतनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए सूक्ष्म विरह की अनोखी सृष्टि की गई है[1]।' प्रेम की ऐसी अद्भुत स्थिति की मान्यता किसी अन्य संप्रदाय में नहीं है, अतः यह राधावल्लभ संप्रदाय की विशेषता है।

उपासना और 'नित्य विहार' की मान्यता—व्रज के सभी प्रेमोपासक भक्ति–संप्रदायों में श्रीराधा–कृष्ण के 'नित्य विहार' किंवा उनकी 'निकुंज लीला' की मान्यता है। रसिक भक्तों की प्रेमोपासना का चरम लक्ष इसी के दिव्यानंद की प्राप्ति करना होता है। उनकी परम अभिलाषा रहती है कि वे नित्य निरंतर अपने आराध्य के नित्य विहार की निकुंज लीलाओं का अवलोकन कर दिव्य सुख की अनुभूति करते रहें। 'नित्य विहार' की मान्यता ने व्रज की प्रेमोपासना को अन्य उपासना-पद्धतियों से प्रथक् कर दिया है; किंतु इसकी परिकल्पना व्रज के भक्ति-संप्रदायों में भी समान रूप में नहीं की गई है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इसका संक्षिप्त परिचय देते हुए अपना मत प्रकट किया है कि 'नित्य विहार' को वास्तविक रूप में सबसे पहिले राधावल्लभ संप्रदाय में ही माना गया है। उनका कथन है,—

"साप्रदायिक दृष्टि से 'नित्य विहार' शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्त्विक व्यंजना का द्योतन कराने वाला है। उसे अनिर्वचनीय रस-दशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य निभृत निकुंज में प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) अविच्छिन्न भाव से—सतत, शाश्वत रति-क्रीड़ा मे सलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीड़ा बिना किसी वाह्य या आंतरिक अंतराय के अनवरत चलती रहती है। अपनी इस केलि-क्रीड़ा से वे दर्शक-सहचरी रूप जीवात्मा को—दर्शन मात्र से अमित आनंद प्रदान करते हैं। सहचरी इस केलि को निकुंज रंध्रों से देख कर ही अपनी कृतार्थता मानती है। इस निकुंज लीला में न तो निकुंजांतर गमन संभव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही। चैतन्य, निंबार्क और वल्लभ संप्रदाय के वर्णनों में मान, विरह, कोप तथा निकुजातर गमन का वर्णन होने से उसे एकात, विशुद्ध नित्य विहार नहीं कहा जा सकता।...जिस तात्त्विक अर्थ में आज नित्य विहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि में उनका मूलाधार श्री गोस्वामी हित हरिवंश जी के 'हित चौरासी' और 'राधा सुधानिधि' नामक दो ग्रंथ ही हैं। इन्होंने नित्य विहार को सबसे पहले सूक्ष्म भावना-परक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया[2]।" डा० स्नातक की स्थापना के संबंध मे मतभेद हो सकता है; किंतु इसमे दो मत नहीं हैं कि राधावल्लभ सप्रदाय की नित्य विहार सबंधी मान्यता बड़ी भव्य और विलक्षण है।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १३६
(२) वही „ „ , पृष्ठ २४० और २३६

श्री हित हरिवंश जी ने नित्य विहार की निकुंज लीलाओं का अत्यंत मनोयोग पूर्वक गायन किया है। उनका यह गेय कथन 'हित चौरासी' के अनेक उत्कृष्ट पदों में उपलब्ध है[1]। नित्य विहार की विविध लीलाओं में 'रास' सर्वोत्तम लीला है। इसके भी अनेक सरस पद 'हित चौरासी' में मिलते हैं[2]। श्री हित हरिवंश जी से प्रेरणा प्राप्त कर राधावल्लभ संप्रदाय के अनेक भक्त-कवियों ने 'नित्य विहार' का बड़ा मोहक वर्णन किया है। इस संप्रदाय के रसिक भक्तों की चिर आकांक्षा भी नित्यविहार के अवलोकन द्वारा शाश्वत सुख और दिव्यानंद प्राप्त करने की ही होती है; किंतु सेवक जी के कथनानुसार इसका सौभाग्य श्री हरिवंश जी की कृपा से ही प्राप्त होता है[3]। श्री ध्रुवदास जी ने अपनी कई रचनाओं में 'नित्य विहार' के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, और उसमें तल्लीन श्रीराधा-कृष्ण की रस-विभोर दशा का बड़ा मार्मिक कथन किया है[4]। राधावल्लभ संप्रदाय की इस सरस परिकल्पना को स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में और भी अधिक सूक्ष्म रूप प्रदान किया गया है। इसके संबंध में हम आगामी पृष्ठों में विस्तार से लिखेंगे।

'नित्य विहार' के विधायक तत्त्व—राधावल्लभीय भक्ति का चरम लक्ष जिस नित्य विहार की रसोपासना करना है, उसके तीन विधायक तत्व हैं,—१. श्रीराधा-कृष्ण, २. राधा जी की सखी-सहचरी और ३. श्रीवृंदावन। श्रीराधा-कृष्ण को तो सभी कृष्णोपासक भक्ति-संप्रदायों में परम तत्त्व माना गया है, किंतु 'नित्य विहार' की उपासना में सखी-सहचरी और वृंदावन को भी प्रमुख तत्त्व के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है। वास्तव में इन तीनों के समुच्चय से ही नित्य विहार के वास्तविक स्वरूप का निर्माण होता है। यहाँ पर इन तत्त्वों के संबंध में संक्षिप्त रूप में लिखा गया है।

१. श्रीराधा-कृष्ण—नित्य विहार का सर्वोपरि विधायक तत्त्व श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप है। कृष्ण-भक्ति के सभी संप्रदायों में प्रेमोपासना के लिए राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की मान्यता है; क्यों कि युगल के विना, केवल श्रीकृष्ण से अथवा श्रीराधा से प्रेम-रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती। किंतु राधावल्लभ संप्रदाय में युगल की मान्यता अन्य संप्रदायों से विलक्षण और भिन्न है। जहाँ अन्य संप्रदायों में राधा जी को श्रीकृष्ण की 'ह्लादिनी शक्ति', 'आराधिका', अथवा 'अनुरूप सौभगा' कहा गया है, वहाँ राधावल्लभ संप्रदाय में उन्हें 'कृष्णाराध्या' माना गया है। इस प्रकार जो श्रीराधा जी स्वयं श्रीकृष्ण की भी आराध्य हैं, वही इस संप्रदाय की इष्ट और साध्य है। राधा जी की प्रधानता लिए हुए युगल स्वरूप की यह मान्यता राधावल्लभ संप्रदाय की विशेषता है।

---

(१) हित चौरासी, पद सं. ७, १७, २७, ३१, ३२, ३३, ६६ आदि
(२) वही , पद सं. ११, १२, १६, २४, ३६, ६२, ६८ आदि
(३) निरखत नित्य विहार, पुलकित तन रोमावली। आनंद नैन सुढार, यह जु कृपा हरिवंश की॥
तृपित न मानत नैन, कुंज-रंध्र अवलोकि तिन। यह सुख कहत बनै न, यह जु कृपा हरिवंश की॥
(४) १. नित्य विहार अखंडित धारा। एक वैन रस मधुर विहारा॥ (प्रेमलता, २०)
२. छिन-छिन माँहि अचेत ह्वै, पल-पल माँहि सचेत।
नहिं जानत या रंग में गये कलप-जुग केत॥ (रंग विहार, छंद सं. २०)
३. नवल रंगीले लाल, रस में रसीले अति, छवि सों छवीले, दोऊ उर धुरि लागे हैं।
नैननि सों नैन कोर, मुख मुख रहे जोर, रुचि कौ न ओर-छोर, ऐसे अनुरागे हैं॥
परे रूप सिंधु मांझ, जानत न भोर सांझ, अंग-अंग मैन रंग, मोद-मद पागे हैं।
'हित ध्रुव' विलसत तृपित न होत कँहूँ, जद्यपि लड़ैती-लाल सब निशि जागे हैं॥ (स.मं.)

इस संप्रदाय में श्रीराधा जी की प्रधानता होने का एक बड़ा कारण यह है कि इसमें उन्हें इष्ट और गुरु दोनों का महत्त्व प्राप्त है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार स्वयं श्रीराधा जी ने हित हरिवंश जी को मंत्र-दीक्षा दी थी। अतएव इस संप्रदाय के गुरु-स्थान पर भी श्रीराधा जी प्रतिष्ठित हैं, इष्ट तो वे हैं ही। श्री हित हरिवंश जी ने राधा जी के इस द्विविध महत्त्व के कारण उनके प्रति अपनी अनुपम आस्था व्यक्त की है, और उसकी स्पष्ट घोषणा उन्होने शपथ पूर्वक एवं डंका बजा कर कर दी है। उनका कथन है,—'कोई चाहें किसी भी देवी-देवता की उपासना में मन लगावे, किंतु मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मेरे प्राणों की सर्वस्व तो एक मात्र श्रीराधा जी हैं। श्रीराधा जी के निकुंज-विहार की ऐसी अद्भुत महिमा है कि विविध अवतारों की आराधना का दृढ़ व्रत धारण करने वाले भक्त जन जब इस रस का आस्वादन करते हैं, तब वे भी उल्लसित होकर अपनी मर्यादा को छोड़ बैठते हैं[1]।'

किंतु श्रीराधा जी की इतनी प्रधानता होने का यह अभिप्राय नहीं है कि इस संप्रदाय मे श्रीकृष्ण को सर्वथा गौण माना गया है। इस संबंध में श्री ललिताचरण गोस्वामी का कथन है,—'हित हरिवंश सच्चे युगल उपासक हैं और युगल में समान रस की स्थिति मानते हैं। उनकी दृष्टि में श्रीराधा की प्रधानता का अर्थ श्रीकृष्ण की गौणता नहीं है। कारण यह है, 'युगल के मिले बिना, अकेले श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधा से रस की निष्पत्ति सभव नहीं है[2]।' सेवक जी ने इसीलिए कहा है,—'श्री हरिवंश जी की सांप्रदायिक रीति के अनुसार श्यामा–श्याम की एक साथ स्थिति ही है। वे एक प्राण दो देह के समान हैं। राधा कभी श्याम के संग बिना नहीं रहतीं, और श्याम कभी राधा के संग बिना नहीं रहते[3]।' इस प्रकार इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण भी श्रीराधा जी के साथ-साथ उपास्य और सेव्य तो हैं, किंतु उनकी उपासना-सेवा श्रीराधा जी के अनुषंग से ही की जाती है। राधावल्लभियों के लिए श्रीकृष्ण इसलिए उपास्य हैं कि वे उनकी परमोपास्या श्रीराधा जी के प्रियतम हैं। वैसे नित्य विहार की निकुंज लीला में श्रीकृष्ण सदैव श्रीराधा जी के कृपा-कटाक्ष की कामना करते रहते हैं!

२. सखी–सहचरी—नित्य विहार के द्वितीय विधायक तत्त्व के रूप में सखी-सहचरियों की स्थिति है। ये भी निकुंज लीला के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितने श्रीराधा-कृष्ण हैं; क्यों कि ये उनकी रस-क्रीड़ाओं की प्रेरक और सहायक होती हैं। इनके आध्यात्मिक रूप का विवेचन करते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने कहा है,—'सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ संप्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। प्रत्येक जीव शरीर धारण करके अपने को सांसारिक प्राणी

---

(१) रहौ कोऊ काहू मनहि दियै।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौं तृण छियैं ॥
जो अवतार कदंब भजत हैं, धरि दृढ़ व्रत जु हियै।
तेऊ उमँगि तजत मर्यादा, वन-विहार रस पियैं ॥ (स्फुट वाणी, पद सं. २०)

(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २१९

(३) श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा–श्याम एक संग गाऊँ ॥
छिन इक कबहुँ न अंतर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई ॥
राधा संग बिना नहीं श्याम। श्याम बिना नहिं राधा नाम ॥ (सेवक वाणी, ४-७)

के रूप में मानता है, किंतु वह अपने यथार्थ तात्विक रूप में सहचरी ही है। जब तक वह जीव रूप में अपने को मान कर इस लोक में लीन रहता है, तब तक भ्रम के जाल में भटकता रहता है। किंतु जब उसके ऊपर श्रीराधा की कृपा होती है, तब वह सहचरी रूप को प्राप्त हो कर लौकिक सुख-दुःख की अनुभूतियों से ऊपर उठ कर उस आनंद को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है, जो नित्य–विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है। सहचरी स्त्री–पुरुष–रूप लिंगभेद विवर्जित है। किसी भी जाति के साथ उसकी सीमित परिकल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार 'राधावल्लभ' परम अव्यक्त, अगोचर पुरुष अनिर्वचनीय है, वैसे ही सखी–सहचरी भी अनिर्वचनीय हैं[1]।'

राधावल्लभ संप्रदाय की सखी–सहचरी अन्य संप्रदायों की गोपियों से सर्वथा भिन्न हैं। गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति कांता भाव भी था; वे उनसे प्रेम–मिलन द्वारा स्वसुख की कामना भी करती थीं। किंतु इस संप्रदाय की सखी–सहचरियों में श्रीकृष्ण के प्रति कांता भाव लेश मात्र भी नहीं है। वे स्वसुख की अपेक्षा राधा–कृष्ण के सुख की कामना करती हैं, और उनकी प्रत्येक चेष्टा उन्हीं को सुखी करने के हेतु होती है। श्रीराधा–कृष्ण को 'नित्य विहार' में सतत् क्रीड़ा–रत देखने की उनकी एक मात्रा आकांक्षा रहती है। इसी में उन्हें परमानंद की अनुभूति होती है। उनका यह 'तत्सुख भाव' उन्हें 'स्वसुख' की आकांक्षा करने वाली गोपियों से पृथक् कर देता है। इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार श्रीराधा–कृष्ण का नित्य विहार सखी–सहचरियों द्वारा ही सम्पन्न होता है, और यह उन्हीं के सुख के लिए किया जाता है। ध्रुवदास जी ने कहा है,—

नित्य विहार नितहिं सिंगार। पल–पल पावत सुख को सार।
नित्य सखिन कै यही अहार। नित्य सुरति–रत करत बिहार।। (पद्यावली)

ये सखी–सहचरी संख्या में अनंत हैं। ध्रुवदास जी ने कहा है, रज के कणों, आकाश के तारों और बादल की बूंदों की चाहें गणना की जा सके, किंतु सखी–सहचरियों की संख्या बतलाना संभव नहीं है[2]। इनमें आठ सखियाँ प्रमुख हैं,— १. ललिता, २. विशाखा, ३. रंगदेवी, ४. चित्रा, ५. तुंगविद्या, ६. चंपकलता, ७. इंदुलेखा तथा ८. सुदेवी; और इनमें भी ललिता प्रधान है। आठों प्रमुख सखियों में से प्रत्येक के साथ आठ-आठ यूथेश्वरी सखियाँ होती हैं, जिनके अपने–अपने यूथों में अनंत सखियाँ सम्मिलित हैं।

३. श्रीवृंदावन—नित्य विहार का अन्यतम विधायक तत्त्व श्रीवृंदावन है। यह श्रीराधा–कृष्ण का नित्य निकुंज धाम है और उनके नित्य रास का दिव्य स्थल है; अतएव इसे नित्य विहार के प्रमुख तत्त्व होने का स्वाभाविक गौरव प्राप्त है। इसका यह महत्व कृष्णोपासना के सभी संप्रदायों को स्वीकृत रहा है। राधावल्लभ संप्रदाय में वृंदावन के प्रति बड़ी अनन्य भावना है; इसीलिए नित्य विहार रस को 'वृंदावन रस' भी कहा गया है।

स्कंद, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवतादि पुराणों में तथा गर्ग संहिता, ब्रह्म संहिता, नारद पंचरात्र, गोपालतापिनी उपनिषद् आदि वैष्णव ग्रंथों में वृंदावन का विविध रूपों में बड़ा विशद वर्णन मिलता है। श्री प्रबोधानंद जी कृत 'वृंदावन–महिमामृत' के विविध शतकों में वृंदावन का अत्यंत

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २१९

(२) रजकन, उडुगन, बूंदघन, आवत गिनती माँहि।
कहत जोइ थोरी सोई, सखियन संख्या नाँहि।। (सभा मंडल)

मनोहर कथन हुआ है। वृंदावन–महिमा का जैसा विशद यशोगान इन शतकों में मिलता है, वैसा शायद ही किसी अन्य ग्रंथ में हो। पद्म पुराण, पाताल खंड के द्वितीय अध्याय में वृंदाबन का माहात्म्य बतलाया गया है। उसी के आधार पर प्रायः सभी वैष्णव भक्ति संप्रदायों में वृंदाबन का स्वरूप निर्मित हुआ है। वह वृंदावन भावना-परक दिव्य वृंदावन है, जिसके अलौकिक वैभव का बड़ा विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। उसे शाश्वत और नित्य धाम माना गया है।

कृष्णोपासक संप्रदायों में वृंदावन के अनेक रूपों की भावना है, किंतु इसमें दो रूपों को प्रमुखता दी गई है। ये रूप हैं,—१. नित्य अर्थात् अव्यक्त वृंदावन और २. प्रकट अर्थात् व्यक्त वृंदावन। नित्य अर्थात् अव्यक्त वृंदावन उस गोलोक का सर्वोत्तम भाग है, जो वैकुंठ से श्रेष्ठ और उससे करोड़ों योजन ऊपर स्थित है ! प्रकट अर्थात् व्यक्त वृंदावन उसी गोलोक स्थित दिव्य वृंदावन का अवतरित रूप है। राधावल्लभ संप्रदाय में इस प्रकार का भेद–भाव नहीं माना गया है। इसकी मान्यता है कि यह व्यक्त अर्थात् प्रकट वृंदावन ही नित्य वृंदाबन है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अव्यक्त वृंदावन नहीं है। किंतु इसके यथार्थ रमणीक रूप का दर्शन उसी को होता है, जिस पर श्रीराधा जी कृपा करती हैं। श्री हित हरिवंश जी ने राधा–कृपा साध्य इस प्रकट वृंदावन को ही सर्वप्रथम प्रणाम किया है,—

'प्रथम यथामति प्रणमऊँ, वृंदावन अति रम्य। श्रीराधिका-कृपा विनु, सबके मननि अगम्य ॥'

ध्रुवदास जी ने भी वृंदावन के इसी रूप को मान्यता देते हुए कहा है,—'यह अनुपम वृंदावन इस जगतीतल पर प्रकट रूप में नित्य प्रकाशित है; किंतु माया के कारण वह आँख रहते हुए भी सबको दिखाई नहीं देता है। राधा जी का निज धाम वह दुर्लभ वृंदाबन उनकी कृपा के विना भला कौन पा सकता है,—

प्रगट जगत में जगमगै, वृंदा विपिन अनूप। नैन अछत दीसत नहीं, यह माया कौ रूप ॥
दुर्लभ दुर्घट सवनि तें, वृंदावन निज भौन। नवल राधिका कृपा विनु, कहिधौं पावै कौन ॥

राधावल्लभीय भक्त कवियों ने अपनी वाणियों में इसी प्रकट और व्यक्त वृंदावन का बड़ा मनोरम कथन किया है। भक्त–कवि व्यास जी ने इस व्यक्त वृंदावन की महिमा का विस्तृत वर्णन करते हुए इसके वृक्ष-वेल, लता-गुल्म, पशु-पक्षी सभी को अपने लिए उपास्य माना है। इस प्रकार राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता के कारण ही वर्तमान वृंदावन को यह अनुपम गौरव प्राप्त हुआ है।

सेवा–पद्धति—किसी भी धर्म–संप्रदाय की उपासना–भक्ति में सेवा-पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राधावल्लभीय सेवा–पद्धति अन्य वैष्णव संप्रदायों की सेवा-विधि से कुछ भिन्न और प्रायः स्वतंत्र है। 'इस संप्रदाय की सेवा में किसी अवसर पर भी वैदिक, तांत्रिक और पौराणिक मंत्रों का प्रयोग नहीं होता और शुद्ध तत्सुखमयी प्रीति के आधार पर ही सेवा के संपूर्ण कार्यों का निर्वाह होता है।' इसके साथ ही सेव्य स्वरूप के समक्ष न तो आँख वंद करके ध्यान किया जाता है, और न प्राणायाम–अंगन्यासादि कर्म ही किये जाते हैं। इस संप्रदाय की मान्यता है, 'प्रभु के समक्ष ध्यानादिक करने से उनमे सेव्य भाव तत्काल शिथिल हो जाता है और उनके प्रति ब्रह्म बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। शुद्ध प्रेम का प्रकाश केवल इष्ट देव की परिचर्या से होता है, अन्य किसी साधन से नहीं।' इस संप्रदाय की सेवा पद्धति में शालिग्राम जी की सेवा का भी विधान नहीं है, क्यों कि शालिग्राम शिला को शृंगारादि धारण नहीं कराया जा सकता। इस संप्रदाय में दो प्रकार की सेवा पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जो 'प्रकट सेवा' और 'भाव सेवा' कहलाती हैं।

प्रकट सेवा—यह सेवा श्रीराधा–कृष्ण के प्रकट स्वरूप (देव-विग्रह) की परिचर्या द्वारा की जाती है। इस संप्रदाय के प्रधान सेव्य स्वरूप श्री राधावल्लभ जी हैं, जिनके वाम पार्श्व में श्रीराधा जी का विग्रह न होकर उनकी 'गादी' है। गादी–सेवा इस संप्रदाय की विशेषता है। राधा जी के स्वरूप के स्थान पर 'श्रीराधा' नामांकित कनक-पत्र को वस्त्रालंकार से सुसज्जित कर आसन पर विराजमान किया जाता है। इसे श्रीराधा जी की गादी कहते हैं। राधावल्लभीय सेवा के दो प्रकार हैं,—१. नित्य सेवा और २. नैमित्तिक सेवा। नित्य सेवा प्रातःकाल की मंगला आरती से सायंकाल की शयन आरती तक एक सुनिश्चित और सुनियोजित क्रम से की जाती है। नैमित्तिक सेवा कुछ विशेष अवसरों पर विशिष्ट उत्सवों द्वारा होती है, इसीलिए इसे 'उत्सव सेवा' भी कहते हैं। इस संप्रदाय में ये दस प्रधान उत्सव मनाये जाते हैं,—१. फाग डोल, २. चंदन वसन, ३. भूलन, ४. शरदोत्सव, ५. दीपमालिका, ६. कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, ७. श्री राधावल्लभ जी का पाटोत्सव (कार्तिक शु. १३), ८. बन विहार, ९. खिचरी उत्सव और १०. वसंतोत्सव।

भाव-सेवा—यह सेवा किसी वाह्य उपादान के विना केवल मन के भावों द्वारा ही की जाती है। इसमें सेव्य स्वरूप, सेवा की सामग्री तथा सेवा का क्रम सब-कुछ भावनात्मक होते हैं, और इसे केवल 'ध्यान' द्वारा निष्पन्न किया जाता है। प्रगट सेवा की अपेक्षा भाव–सेवा अत्यंत कठिन है। इसे वही साधक भक्त कर सकते हैं, जिन्होंने दीर्घकालीन भजन-ध्यान द्वारा अपनी मानसिक वृत्तियों को एकाग्र कर लिया है। जिस प्रकार प्रकट सेवा मंगला आरती से शयन आरती तक की होती है, उसी प्रकार भाव–सेवा का भी क्रम है। 'दोनों सेवाओं में भेद यह है कि प्रकट सेवा स्थूल देश-काल से आबद्ध है, जब कि भाव सेवा में इस प्रकार का कोई बंधन नहीं है। भाव–सेवा में उन लीलाओं का भी समावेश हो जाता है, जिनका दर्शन प्रकट सेवा में संभव नहीं है।' भाव-सेवा में 'अष्टयाम' के भावनापूर्ण वाङ्मय से विशेष सहायता मिलती है। राधावल्लभीय भक्त–कवियों ने श्रीराधा–कृष्ण की अष्टकालीन लीलाओं का बड़ा रसपूर्ण कथन किया है। राधावल्लभीय साहित्य में अष्टयाम संबंधी रचनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें से किसी 'अष्टयाम का प्रेमपूर्ण मनोयोग द्वारा गायन कर लेने से भाव-सेवा सरस रीति से संपन्न हो जाती है। राधावल्लभीय उपासना–भक्ति की नींव तो प्रकट सेवा है, किंतु इसका संवर्धन भाव–सेवा में और इसका पूर्ण विकास नित्य विहार की उपासना में होता है[1]।

राधावल्लभीय भक्ति–उपासना की विशेषताएँ—श्री नाभा जी ने हित हरिवंश जी के चरित्र की सूक्ष्म मीमांसा करते हुए उनकी कुछ विशेषताओं का कथन किया है[2]। हित जी के चरित्र की वे विशेषताएँ राधावल्लभ संप्रदाय की भक्ति और उपासना की भी विशेषताएँ कही जा सकती हैं। उनमें से दो बातें प्रमुख हैं,—१. उपासना में श्रीराधा जी की प्रधानता तथा २. विधि-निषेध की स्वतंत्रता और अनन्य व्रत का पालन। श्रीराधा जी की प्रधानता के संबंध में पहिले लिखा जा चुका है। अब दूसरी विशेषता पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २८३–२८४ के आधार पर।

(२) श्रीराधा–चरन प्रधान, हृदै अति सुदृढ़ उपासी। कुंज-केलि दंपत्ति, तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी। विधि-निषेध नहिं दास, अनन्य उतकट व्रतधारी॥
व्यास–सुवन पथ अनुसरै, सोई भलै पहिचानि है।
हरिवंश गुसाईं भजन की, रीति सकृत कोउ जानि है॥ (भक्तमाल, सं. ९०)

विधि-निषेध की स्वतंत्रता और अनन्य व्रत का पालन—वैष्णव भक्ति के दो भेद हैं,— मर्यादा भक्ति और रस भक्ति। मर्यादा भक्ति में शास्त्रोक्त विधि-विधान का मानना अनिवार्य होता है, किंतु रस भक्ति में इनकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसका कारण यह है कि शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का पालन करने से शुद्ध प्रेम की हानि और रस की क्षति होती है। 'श्री हरिवंश जी ने जिस भक्ति का प्रतिपादन अपने संप्रदाय में किया, वह रस-भक्ति है; अतः शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का उस पर आरोप करना उन्हें उचित नहीं लगा। वैष्णव संप्रदायों में शास्त्र मर्यादा की अवहेलना किसी प्रकार भी संभव नहीं होती। छोटे-छोटे कर्मकांड के नियमों का पालन भी वहाँ अनिवार्य समझा जाता है, किंतु हरिवंश जी ने शास्त्रीय नियम न बना कर प्रेम-साधना के लिए राधा की वंदना को ही एक मात्र नियम ठहराया। विधि-निषेध को स्वीकार न करने में हरिवंश जी का प्रयोजन यही था कि बाह्याचारों में फँस कर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है, और हृदय कर्मकांड की कठोरता के कारण सरस तथा स्निग्ध नहीं रहता। स्नेह का अभाव हो जाने से राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति का आनंद-लाभ प्राप्त करने की उसमें क्षमता नहीं रहती। प्रेम की स्वच्छंद लीलाओं को यदि शास्त्र की शृंखला से जकड़ दिया जाय, तो उनमें चित्त को द्रवित करके अपने में रमाने की सहज-शक्ति का अभाव हो जाता है। जो प्रेम मार्ग को स्वीकार कर चुका, उसके लिए तप, जप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता भी क्या है[1] !'

श्री हरिवंश जी के आदर्श का पूर्णतया पालन करने वाले राधावल्लभीय भक्त जन वैष्णव भक्ति-भावना के पोषक होते हुए भी शास्त्रोक्त विधि-विधानों के प्रति उदासीन और रूढ़िजन्य विधि-निषेधों के विरोधी रहे हैं। विविध देवी-देवताओं की सेवा-पूजा, एकादशी व्रत, तीर्थाटन, तिलक-त्रिपुंड और कंठी-जनेऊ की अनिवार्यता, भक्तों में जाति-पाँत का भेद-भाव, ग्रह-कुग्रह का प्रभाव आदि बातें राधावल्लभ संप्रदाय में नहीं मानी गई हैं। इनके संबंध में जिन भक्तों ने अपने उद्गारों को बड़ी स्पष्टता और निर्भीकता से व्यक्त किया है, उनमें सर्वश्री व्यास जी, सेवक जी और ध्रुवदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरिराम जी व्यास ने विधि-निषेधों पर जैसा प्रबल प्रहार किया है, वैसा वैष्णव भक्तों में श्री विहारिनदास तथा संतों में श्री कबीरदास के अतिरिक्त अन्य भक्तों और संतों की रचनाओं में नहीं मिलता है। यहाँ पर व्यास जी के तत्संबंधी कुछ उद्धरण दिये जाते हैं,—

करैं व्रत एकादशी, हरि प्रताप तें दूरि। बाँधे जमपुर जाँयगे, मुख में परि है धूरि ॥
रसिक अनन्य कहाइ कैं, पूजैं गृह गन्नेस। 'व्यास' क्यों न तिनके सदन, यम गन करैं प्रवेस ॥
स्वान प्रसादहि छुइ गयौ, कौवा गयौ बिटारि। दोऊ पावन 'व्यास' कैं, कह भागौत विचारि ॥
'व्यास' जाति तजि भक्ति करि, कहत भागवत टेरि। जातहि भक्तिहि ना बनै, ज्यों केरा ढिग बेरि[2] ॥

श्री हित हरिवंश जी की उपासना-भक्ति के प्रथम व्याख्याता श्री सेवक जी ने समस्त विधि-निषेधों की उपेक्षा करते हुए अपनी अनन्यता के संबंध में कहा है,—

कर्म-धर्म कोउ करहु वेद विधि, कोउ बहुविधि देवतनि उपासी।
कोउ तीरथ-तप-ज्ञान-ध्यान-व्रत, अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी ॥
कोउ यम-नेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार कदंब उपासी।
तन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत, हम श्री हित हरिवंश उपासी ॥

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १६५
(२) व्यास-वाणी में 'सिद्धांत की साखी'

जाति-पाँति कुल-कर्म धर्म-व्रत, संसृति हेतु अविद्या नासी ।
सेवक रीति प्रतीत प्रीति हित, विधि-निषेध शृंखला विनासी ।।
अब जोई कही करैं हम सोई, आयुप लियैं चलैं निज दासी ।
मन-क्रम-वचन विशुद्ध सकल मत, हम श्री हित हरिवंश उपासी[1] ।।

राधावल्लभीय उपासना-भक्ति के विशद भाष्यकार श्री ध्रुवदास जी ने प्रेमोपासकों के लिए समस्त विधि-निषेधों को निरर्थक बतला कर अनन्यता पर जोर देते हुए कहा है,—

कह अचार-अपरस कहा, कह संयम-व्रत नेम । कहा भजन विधि सों किय्यौ, जो नहिं परस्यौ प्रेम ।
अपरस ज्ञान समान यम, भजन धर्म आचार । पाहन कबहुँ न होत मृदु, पर्‌यौ रहै जल-धार ।।
विधि-निषेध के बंद हैं, और धर्म मृग भानि । केहरि पुनि निरबंध है, भगवत धर्मंहि जानि ।।

व्रत-तप, निगम-नेम, यम-संयम, करहु कलेस कोटि किन भारी ।
इनमें पहुँच नाहि काहू की, परे रहत ज्यों द्वार भिखारी ।।
जोग-जज्ञ फल भेंट करत हैं, तीरथ सब कर लीने झारी ।
धर्म मोक्ष कोउ पूछत नाहीं, इन मग सिद्धिहिं कौन विचारी[2] ।।

श्री वनचंद्र जी (सं. १५८५ – सं. १६६५)—

जीवन-वृत्तांत—श्री वनचंद्र जी उपनाम वनमालीदास जी श्री हित हरिवंश जी के ज्येष्ठ पुत्र थे । उनका जन्म स. १५८५ की चैत्र कृ. ६ को देववन में हुआ था । उसी स्थान पर उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी और वहीं पर उनका आरंभिक जीवन भी बीता था । जिस समय हित जी का वृंदावन में देहावसान हुआ, उस समय वनचंद्र जी देववन में थे । वृंदावन के रसिक भक्तों ने उन्हें वहाँ से बुला कर हित जी का उत्तराधिकारी घोषित किया और राधावल्लभ संप्रदाय का आचार्य नियुक्त किया था । इससे ज्ञात होता है कि तब तक वे अपनी विद्वत्ता और सांप्रदायिक योग्यता के लिए धार्मिक जगत् में प्रसिद्ध हो चुके थे । वे सं. १६०९ की कार्तिक शु. १३ को वृंदावन में हितजी की गद्दी पर आसीन हुए थे, और अपने देहावसान-काल सं. १६६५ तक प्रायः ५५ वर्ष के सुदीर्घ काल तक राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य रहे थे । वे परम भक्त, सहृदय विद्वान, सुकवि और रसिक महात्मा थे । उन्होंने संस्कृत और व्रजभाषा दोनों का अच्छा अध्ययन किया था । उनकी सहृदयता और भक्त जनों के प्रति उनकी स्नेह-भावना का परिचय सेवक जी के वृत्तांत से मिलता है । जब उन्हें सेवक जी के अलौकिक रीति से हित जी के शिष्य होने और उनके द्वारा अनुपम वाणी-रचना किये जाने का समाचार मिला, तो वे उनसे मिलने को अधीर हो गये । उन्होंने बड़े आदरपूर्वक उनको वृंदावन बुलाया और उनके आगमन पर प्रसन्नता पूर्वक अपना समस्त भंडार निर्धन भक्तों को लुटा दिया ! उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी ।

साहित्य-रचना—वनचंद्र जी ने संस्कृत और व्रजभाषा दोनों में काव्य-रचना की है । संस्कृत में रचित उनकी तीन छोटी कृतियों का नामोल्लेख मिलता है । वे हैं,—१. राधाष्टोत्तरशत नाम, २. हरिवंशाष्टक और ३. प्रियानामावली । व्रजभाषा में रचे हुए उनके कतिपय पद उपलब्ध हैं; जिनका समृद्ध भाषा-शैली और सरस भक्ति-भावना प्रशंसनीय है । उनकी नाम-छाप 'वनमालीदास' है ।

---

(१) सेवक-वाणी, ८—१, २
(२). मन शिक्षा लीला और जीव दशा लीला

कुटुंभ-परिवार—श्री वनचंद्र जी के तीन छोटे भाई थे, और उनके तथा उनके भाइयों के अनेक पुत्र-पौत्रादि थे। इस प्रकार उनका भरा-पूरा कुटुंभ-परिवार था। यहाँ पर उनके परिवार के प्रमुख व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

श्री कृष्णचंद्र जी—वे गो. वनचंद्र जी के छोटे भाइयों में सबसे बड़े थे। उनका जन्म सं. १५८७ की माघ शु. ९ मंगलवार को देववन में हुआ था। वे संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रौढ़ विद्वान एवं सुकवि थे। उनकी १४ संस्कृत रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है,. जिनमें कर्णानंद, उप सुधानिधि, राधानुनय विनोद और आशाशत स्तव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसी अनुश्रुति है, उन्होंने ब्रह्मसूत्र के कुछ अंश का भाष्य भी रचा था। कर्णानंद उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसकी पूर्ति सं. १६३५ की कृष्णाष्टमी को हुई थी। यह एक सुंदर मुक्तक काव्य है। इसमें काव्य-सौन्दर्य के साथ ही साथ छंद-कौशल भी दर्शनीय है। इसकी संस्कृत टीका उन्होंने स्वयं की थी और ब्रजभाषा टीकाएँ बाद में गो. रसिकलाल और गो. चंद्रलाल द्वारा हुई थीं। उप सुधानिधि और आशाशत स्तव स्तोत्र काव्य हैं तथा राधानुनय विनोद मुक्तक काव्य है। उप सुधानिधि पर भी गो. चंद्रलाल की ब्रजभाषा टीका उपलब्ध है। ब्रजभाषा में कृष्णचंद्र जी का कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ। उनके कुछ स्फुट पद उपलब्ध हैं, जो सुंदर और भावपूर्ण हैं। इनमें उनकी नाम-छाप 'कृष्णदास' है।

श्री गोपीनाथ जी और श्री मोहनचंद्र जी—श्री गोपीनाथ जी कृष्णचंद्र जी से छोटे थे। उनका जन्म सं. १५८८ की फाल्गुन शु. १५ को देववन में हुआ था। वे दोनों श्री वनचंद्र जी सहित हित हरिवंश जी की प्रथम पत्नी रुक्मिणी जी से उत्पन्न हुए थे। मोहनचंद्र जी सबसे छोटे थे। उनका जन्म सं. १५९८ की कातिक शु. १० को हित जी की द्वितीय पत्नी मनोहरी जी से वृंदावन में हुआ था। श्री गोपीनाथ जी देववन में रह कर हित जी द्वारा प्रतिष्ठित ठाकुर श्री रंगीलाल जी की सेवा-पूजा करते थे। वे परम भक्त और प्रभावशाली धर्माचार्य थे। उन्होंने ब्रजभाषा में पद-रचना भी की थी। जब मोहनचंद्र जी १०-११ वर्ष के बालक थे, तभी उनके पिता श्री हरिवंश जी का देहावसान हो गया था। उनके तीनों बड़े भाइयों का उन पर बड़ा स्नेह था। श्री कृष्णचंद्र जी ने उनकी विशेष देख-भाल करते हुए अपने निरीक्षण में ही उन्हें पढ़ाया-लिखाया था। इससे वे भी बड़े विद्वान और भगवद्भक्त हुए थे। उनकी रचना में संस्कृत का 'राधाष्टक' है और ब्रजभाषा के पद हैं।

पुत्र-पौत्रादि—श्री वनचंद्र जी के चार पुत्र थे,—१. सुंदरवर जी (जन्म सं. १६०९), राधावल्लभदास जी (जन्म सं. १६१०), ब्रजभूषण जी (जन्म सं. १६११ की आश्विन शु. १५) और नागर वर जी। वे सभी बड़े योग्य और विद्वान थे। श्री वनचंद्र जी के पश्चात् सुंदरवर जी राधा-वल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे। कृष्णचंद्र जी के पुत्रों में एक वृंदावनदास जी थे, जो अपने पिता के सदृश प्रौढ़ विद्वान थे। उनके रचे हुए कई संस्कृत ग्रंथों का नामोल्लेख मिलता है, जिनमें से एक 'अध्वविनिर्णय नामक २१ श्लोकों का छोटा ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। श्री गोपीनाथ जी के पाँच पुत्र थे। श्री वनचंद्र जी और उनके भाइयों के पुत्रों के भी पुत्र थे। श्री वनचंद्र जी के उत्तराधिकारी सुंदरवर जी के ज्येष्ठ पुत्र दामोदरवर जी थे, जो उनके पश्चात् आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। दामोदरवर जी के पुत्रों में रासदास और विलासदास अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, और उनके वंशजों की वृहद् परंपरा चली है। रासदास जी बड़े होने के कारण इस संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनके तीन पुत्र थे,—कमलनयन जी, विहारीलाल जी और कुंजलाल जी। रासदास जी के पश्चात् कमल-नयन जी आचार्य-गद्दी पर विराजमान हुए थे। वे सभी अपने घर की परंपरा के अनुसार विद्वान और भक्त थे। इस प्रकार श्री वनचंद्र जी का कुटुंभ-परिवार सब प्रकार से सम्पन्न और यशस्वी हुआ है।

भारत में वैदिक आर्यों के समकालीन अनार्य भी थे, जिनकी प्रथक् संस्कृति थी। आर्यों की कुटुम्ब संस्था पितृप्रधान और अनार्यों की मातृप्रधान थी। अनार्यों में मातृ-पूजा प्रचुरता से प्रचलित थी। आर्यों की संस्कृति ग्रामप्रधान और अनार्यों की नगरप्रधान थी। अनार्य शिल्प कला में बड़े निष्णात थे और उन्होंने बड़े-बड़े नगरों का निर्माण किया था। आरंभ में आर्यों और अनार्यों में बड़ा संघर्ष हुआ, जिसका उल्लेख वेदों में 'देवासुर संग्राम' के रूप में मिलता है। कालांतर में आर्यों ने अनार्यों को पराजित कर दिया और अंततः उन्हें अपने समुदाय में मिला लिया था। उसके फल-स्वरूप आर्य संस्कृति और वैदिक धर्म में अनार्यों की रीति-रिवाज, पूजा-पद्धति और उनके देवी-देवताओं का समावेश हो गया था। इससे भारत की प्राचीन संस्कृति और वैदिक धर्म का बड़ा समुन्नत और विकसित रूप निर्मित हुआ था।

वैदिक धर्म के विकास में प्राचीन ब्रज का योग—

प्राचीन काल में ब्रज को 'शूरसेन' कहा जाता था। वैदिक धर्म के विकास में प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन जनपद ने कितना योग दिया, उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। वैदिक वाङ्मय में जिन नदियों के नाम मिलते है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसकी रचना ब्रह्मर्षि प्रदेश से लेकर ब्रह्मावर्त तक हुई होगी। इस प्रकार वैदिक धर्म का पूर्वकालिक रूप सिंधु नदी से लेकर सरस्वती-दृषद्वती नदियों तक और उत्तरकालिक रूप यमुना तटवर्ती शूरसेन तक के क्षेत्र में विकसित हुआ था।

शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों से ज्ञात होता है कि पंचाल और कुरु जनपदों के मनीषियों ने संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों को अंतिम रूप प्रदान किया था। उन प्रदेशों में वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का बड़ा प्रचार था और वहाँ के राजाओं ने अनेक यज्ञ किये थे। पंचाल के क्षत्रिय शासक प्रवाहण जैवलि से उस काल के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी ऋषि आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु ने आत्म विद्या का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था[1]। कुरु-पंचाल जनपदों के निकटवर्ती अरण्यों में निवास करने वाले तपोनिष्ठ ऋषि-मुनियों और राजर्षियों का उपनिषदों की रचना से घनिष्ट संबंध सिद्ध होता है। शूरसेन जनपद कुरु-पंचाल जनपदों का निकटस्थ प्रदेश था और वहाँ यमुना नदी के तट पर सदा से बड़े-बड़े अरण्यों एवं सघन वनों का अस्तित्व रहा है। इससे समझा जा सकता है कि वहाँ वैदिक धर्म के उत्तरकालीन रूप, विशेष कर उपनिषदों के आध्यात्मिक दर्शन का विकास हुआ होगा।

वाल्मीकि-रामायण (उत्तर काण्ड, सर्ग ६०–६१) से ज्ञात होता है, जिस काल में भगवान् रामचंद्र अयोध्या के राजा थे, उसी काल में प्राचीन ब्रज के मधुवन में एक अत्याचारी राजा लवणासुर का राज्य था। उस समय यमुना तट के निवासी कुछ तपोनिष्ठ ऋषिगण महर्षि च्यवन के नेतृत्व में लवण के अत्याचारों की शिकायत भगवान् रामचंद्र से करने के लिए अयोध्या गये थे। ये च्यवनादि महर्षिगण यमुना के तटवर्ती सघन वनों के आश्रमों में निवास करते हुए ब्रह्म का ध्यान-मनन करते थे। उनके द्वारा प्राचीन ब्रज प्रदेश में कुछ उपनिषदों की रचना होना भी संभव है; किंतु उसका कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है।

---

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ ६१

शिष्य समुदाय—श्री वनचंद्र जी और उनके भाइयों का विशाल शिष्य समुदाय था। उन शिष्यों में अनेक परम भक्त, प्रसिद्ध विद्वान और विख्यात भक्त-कवि हुए हैं। श्री वनचंद्र जी के बहुसंख्यक शिष्यों में सर्वश्री चतुर्भुजदास, वैष्णवदास, नागरीदास, भूठा स्वामी और कल्याण पुजारी प्रधान थे। श्री कृष्णचंद्र जी के शिष्यों में कन्हर स्वामी प्रमुख थे। श्री गोपीनाथ जी के शिष्यों में सर्वश्री सुंदरदास, ध्रुवदास और लालस्वामी, तथा प्रशिष्य दामोदर स्वामी अधिक प्रसिद्ध थे। यहाँ पर उनमें से कतिपय प्रमुख शिष्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

स्वामी चतुर्भुजदास—वे श्री वनचंद्र जी के आचार्य-गद्दी पर आसीन होने के कुछ समय पश्चात् ही उनके शिष्य हुए थे। इस प्रकार उनका जन्म-काल सं. १५८५ के लगभग माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'द्वादश यश' के 'धर्म विचार यश' की पूर्ति सं. १६८६ में हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि वे अत्यंत दीर्घजीवी हुए थे और उनका देहावसान सं. १६९० से पहिले नहीं हुआ होगा। वे वर्तमान मध्यप्रदेशांतर्गत गोंड प्रदेश के गढ़ा नामक स्थान में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे और श्री सेवक जी के पड़ोसी तथा मित्र थे। जैसा पहिले लिखा गया है, वे सेवक जी के सदृश प्रौढ विद्वान, परम भक्त और साधु-सेवी थे। हित जी की शिष्य मंडली के कुछ रसिक भक्तों की प्रेरणा से वे और सेवक जी दोनों ही हित जी से दीक्षा लेने के हेतु वृंदावन जाने के इच्छुक थे। उसी समय हित जी के देहावसान का समाचार सुन कर सेवक जी ने तो वृंदावन जाने का विचार स्थगित कर दिया; किंतु चतुर्भुजदास जी ने वहाँ पहुँच कर श्री वनचंद्र जी से दीक्षा ले ली थी। उनके दीक्षा-गुरु का नाम वनमालीदास लिखा मिलता है, जिन्हें कतिपय लेखकों ने वनचंद्र जी से भिन्न कोई अन्य धर्माचार्य समझा है। किंतु जैसा पहिले लिखा गया है, वनमालीदास श्री वनचंद्र जी का ही उपनाम था।

राधावल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारकों में चतुर्भुजदास जी का प्रमुख स्थान है। उन्होंने अपने गोंड प्रदेश में राधावल्लभीय उपासना-भक्ति का व्यापक प्रचार कर वहाँ अनन्य भक्तों की संख्या-वृद्धि की थी। नाभा जी ने उनकी प्रशस्ति में कहा है कि उन्होंने श्री हरिवंश जी के चरण-प्रताप से गोंड प्रदेश को तीर्थ-स्थान बना दिया था[1]। भगवतमुदित जी ने भी बतलाया है कि उन्होंने गोंड प्रदेश का उद्धार किया था। इसके साथ ही उन्होंने लिखा है कि चतुर्भुजदास जी ने वहाँ के एक गाँव में निवास करने वाले शाक्तों की हिंसामयी तामसी साधना को बंद करा कर उन्हें वैष्णव भक्ति की ओर प्रेरित किया था और उनकी आराध्या चंडी को वैष्णवी देवी बना दिया था[2]।

चतुर्भुजदास जी की ब्रजभाषा रचना 'द्वादश यश' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें १२ 'यश' (अध्याय) हैं, जिनके नाम १. शिक्षा सकल समाज यश, २. धर्म-विचार यश, ३. भक्ति-प्रताप यश, ४. संत-प्रताप यश, ५. शिक्षा-सार यश, ६. हितोपदेश यश, ७. पतित पावन यश, ८. मोहिनी यश, ९. अनन्य भजन यश, १०. श्रीराधा प्रताप यश, ११. मंगल सार यश और १२. विमुख मुख भंजन यश। साधारणतया इस रचना में प्रेम-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है; किंतु कतिपय स्थलों पर जैन, बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, क्षपणक, अनीश्वरवादी, मायावादी, शैव, शाक्त

---

(१) 'राधावल्लभ-भजन अनन्यता-वर्ग बढ़ायौ' और 'हरिवंश-चरन-बल चतुर्भुज गोंड देश तीरथ कियौ'। (भक्तमाल, छप्पय सं. १२३)

(२) रसिक अनन्य माल में 'श्री चतुर्भुजदास जी की परचई'

और निर्गुणवादी साधकों की निंदा भी की गई है। इस प्रकार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण ब्रज के बहुत कम भक्त-कवियों का रहा है। उनकी रचना की भाषा सरल और भक्ति-भावना गंभीर है। इसका प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है। चतुर्भुजदास जी की कविता में उनकी नाम-छाप 'मुरलीधर' है।

वैष्णवदास—श्री ध्रुवदास जी ने चतुर्भुजदास जी के साथ वैष्णवदास जी का नामोल्लेख करते हुए बतलाया है कि वे दोनों परम भागवत तथा सुदृढ़ भजनानंदी थे और उनकी 'वाणी' अत्यंत गंभीर थी। दोनों ने अपने-अपने प्रदेशों में भक्ति-प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया था[1]। इस प्रकार राधावल्लभ संप्रदाय के संवर्धन में वैष्णवदास जी का भी योग रहा है। श्री ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' में वैष्णवदास जी के इतिवृत्त के संबंध में कोई विशेष बात नहीं लिखी गई, किंतु 'वृहद् अनन्य रसिकावली' से ज्ञात होता है कि वे वर्तमान मध्यप्रदेश के भेलसा नामक स्थान के निवासी थे। चतुर्भुजदास जी की प्रेरणा से वे वृंदावन जा कर श्री बनचंद्र जी के शिष्य हुए थे। हित जी की वाणी तथा राधावल्लभीय भक्ति सिद्धांत के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी और उनके प्रचार में उन्होंने बड़ा योग दिया था। ब्रजभाषा में रची हुई उनकी वाणी भी उपलब्ध है।

नागरीदास—इस नाम के कई भक्त-कवि हुए हैं, जिनमें नेही नागरीदास, बड़े नागरीदास और राजा नागरीदास अधिक प्रसिद्ध हैं। नेही नागरीदास के नाम से इन नागरीदास जी की ख्याति है और काल-क्रम में इनका प्रथम स्थान है। इनका जन्म अनुमानतः सं. १५९० के लगभग हुआ था, और वे १७वीं शती के मध्य काल तक विद्यमान थे। इनका विस्तृत चरित्र भगवतमुदित जी ने लिखा है। उससे ज्ञात होता है, वे बुंदेलखंड प्रदेशांतर्गत बेरछा नामक स्थान के पँवार क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। आरंभ से ही वे भगद्भक्त और साधु-सेवी थे। एक बार स्वामी चतुर्भुजदास राधावल्लभीय साधुओं की जमात सहित इनके गाँव में गये थे। उनके साथ सत्संग और भक्ति-चर्चा करने पर नागरीदास जी प्रेमोपासना के प्रति आकृष्ट हो गये। वे घर-बार छोड़ कर विरक्त भाव से उनके साथ वृंदावन चले आये। उनके साथ उनकी भाभी भी आई थी। दोनों ने एक साथ श्री बनचंद्र जी से दीक्षा ली, और वे रसिक भक्तों के सत्संग में वृंदावन-वास करने लगे। वहाँ पर वे हित हरिवंश जी के पदों की भावना में इतने रस-विभोर रहा करते थे कि उन्हें भागवत की कथा भी अच्छी नहीं लगती थी। श्रीमद् भागवत के प्रति उनकी ऐसी अरुचि होने से वृंदावन के भक्त-समुदाय में उनके विरुद्ध प्रवाद होने लगा। उसके कारण वे वृंदावन छोड़ कर ब्रज के एकांत लीला-स्थल बरसाना चले गये। वहाँ के गहवर वन की पहाड़ी पर उन्होंने अपनी कुटी बनाई, जो आजकल 'मोर कुटी' के नाम से प्रसिद्ध है। बरसाना में उन्होंने रानी भागमती की सहायता से श्रीराधा जी का मंदिर भी बनवाया था। वे प्रति वर्ष राधाष्टमी पर श्रीराधा जी का जन्मोत्सव बड़े समारोह पूर्वक किया करते थे[2]।

उन्होंने ब्रजभाषा में 'वाणी'-रचना की है, जिसके ९३७ दोहे और ३३१ पद उपलब्ध हैं। इनमें 'सिद्धांत' और 'रस' दोनों विषयों का मार्मिक कथन हुआ है, जो भाव और कला दोनों दृष्टियों

---

(१) परम भागवत अति भए, भजन माँहि दृढ़ धीर। चतुर्भुज-वैष्णवदास की बानी अति गंभीर॥
सकल देश पावन कियो, भगवत जसहिं बढ़ाइ। जहाँ-तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लड़ाइ॥
—भक्त-नामावली, दोहा सं. ४८-४९

(२) रसिक अनन्य माल में 'श्री नागरीदास जी की परचई' के आधार पर।

से वड़ा उत्कृष्ट है। उनकी 'वाणी' का प्रधान उद्देश्य हित जी की रसोपासना को स्पष्ट करना है। उनसे पहिले श्री सेवक जी की वाणी में हित जी की रस-रीति और उपासना-पद्धति का निर्धारण किया गया था। उनके उपरांत इस संप्रदाय की रस-रीति को सुगठित वनाने का श्रेय जिस प्रकार ध्रुवदास जी को है, उसी प्रकार उपासना-पद्धति को सुव्यवस्थित वनाने का गौरव नागरीदास जी को प्राप्त है। नागरीदास जी राधावल्लभ संप्रदाय के उन प्रारंभिक रसिक महानुभावों में से हैं, जिन्होंने अपने चरित्र और वाणी द्वारा इस संप्रदाय की नींव को सुदृढ़ बनाया है[1]।'

नाभा जी की भाँति नागरीदास जी ने भी श्री हरिवंश जी के भक्ति-मार्ग को इतना कठिन वतलाया है कि उसका अनुसरण करना सवके लिए सुगम नहीं है। उन्होंने कहा है,—

खरोई कठिन है भजन ढिंग ढरिवौ।
तमकि सिंदूर मेलि माथे पै, साहस सिद्ध सती कौ सौ जरिवौ॥
रन के चाइ घाइल ज्यों घूमैं, मुरैं न गरूर सूर कौ सौ लरिवौ।
'नागरीदास' सुगम जिनि जानौ, श्री हरिवंश-पंथ पग धरिवौ॥

सुगम-सुगम सव कोउ कहैं, अगम भजन की घात। जौं लगि ठौर न परसि है, कहि आवत है वात॥
विषै-वासना जारिकैं, झारि उड़ावै खेह। मारग रसिक-नरेस के, तव ढिंग लागै देह[2]॥

कल्याण पुजारी—श्री वनचंद्र जी के शिष्यों में कल्याण पुजारी एक रसिक भक्त, साधु-सेवी, सुकवि और सेवा-परायण महात्मा हुए हैं। भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तांत में वतलाया है कि वे श्री राधावल्लभ जी के पुजारी थे और अहर्निश मंदिर में रह कर वड़ी भक्ति-भावना से सेवा-पूजा किया करते थे। ठाकुर जी के भोग को वे साधुओं को खिलाते थे और स्वयं उनकी जूठन से अपनी उदर-पूर्ति करते थे! उनका वह आचरण अनेक व्यक्तियों को मर्यादा-विरुद्ध ज्ञात हुआ और उसकी शिकायत श्री वनचंद्र जी के पौत्र दामोदरवर जी से की गई। उन्होंने अपने पितामह के कानों तक उस वात को पहुँचा दिया; किंतु वनचंद्र जी ने वालक पौत्र की वात पर ध्यान नहीं दिया। जब उस प्रवाद के संवंध में पुजारी जी को ज्ञात हुआ तो वे स्वयं श्री वनचंद्र जी की सेवा में उपस्थित हुए और अत्यंत उदास भाव से मंदिर की ताली उन्हें सोंप दी। ऐसी अनुश्रुति है, किसी अन्य पुजारी की सेवा को श्री राधावल्लभ जी ने स्वीकार नहीं किया था, अतः कल्याण जी को ही पुनः सेवा का कार्य सोंपा गया और वे अपनी पूर्व पद्धति के अनुसार उसे करते रहे थे। उनके निंदकों को फिर कुछ कहने का साहस नहीं हुआ था[3]। पुजारी जी का महत्त्व उनकी सेवा-भक्ति के साथ ही साथ उनकी 'वाणी' के कारण भी है। उनके रचे हुए प्रायः २०० पद-छंदादि मिलते हैं, जो अनन्य निष्ठा और काव्य-कौशल दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। उनकी विद्यमानता का काल सं. १६०० से सं. १६६० तक का ज्ञात होता है। सं. १६२० में उन्होंने श्री वनचंद्र जी से दीक्षा ली थी।

कन्हर स्वामी—श्री वनचंद्र जी के दूसरे भाई श्री कृष्णचंद्र जी के शिष्यों में कन्हर स्वामी एक विशिष्ट भक्त हुए हैं। श्री नाभा जी ने कन्हरदास नामक कई भक्तों का उल्लेख किया है, जिनमें से छप्पय सं. १७१ के कन्हरदास यही कन्हर स्वामी ज्ञात होते हैं। उक्त छप्पय में कन्हर

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४२१
(२) सं. १८७६ में लिपिबद्ध श्री सर्वसुखदास की प्रति से उद्धृत
(३) रसिक अनन्य माल में 'श्री कल्याण पुजारी जी की परचई'

स्वामी के इतिवृत्त से संबंधित कोई कथन नहीं किया गया; बल्कि लौकिक बातों से उनकी विरक्ति, संसार से तटस्थता, सब प्राणियों के प्रति समदृष्टि और उनके प्रिय भाषण की प्रशंसा की गई है[१]। श्री भगवतमुदित जी ने भी उनके द्वारा किसी को कठोर वचन न कहने और सबकी सब प्रकार की बातें सह लेने की प्रकृत्ति का उल्लेख किया है। इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि कन्हर स्वामी अत्यंत मृदु स्वभाव के बड़े सहनशील महात्मा थे। भगवतमुदित जी के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने हरिकृष्ण पुजारी के सहयोग से श्री राधावल्लभ जी के मंदिर में सेवा की थी। उसके एवज में वे प्रभु की कोई वस्तु नहीं लेते थे; यहाँ तक अपनी निजी वस्तु का भोग लगा कर उस प्रसाद को भी साधुओं के साथ ग्रहण करते थे। कल्याण पुजारी की तरह उन्हें भी संतों का उच्छिष्ट भोजन स्वीकार करने में कोई परहेज न था[२]। सांप्रदायिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वे गौड़ ब्राह्मण थे और कल्याण पुजारी के पश्चात् श्री राधावल्लभ जी के पुजारी हुए थे। उनके बाद से उनकी वंश-परंपरा के व्यक्ति ही श्री राधावल्लभ जी की सेवा-पूजा करते आ रहे हैं। उन्होंने वाणी-रचना भी की थी, जिसके कतिपय पद उपलब्ध हैं।

सुंदरदास—श्री वनचंद्र जी के तीसरे भाई गोपीनाथ जी के शिष्यों में कई बड़े प्रसिद्ध भक्त हुए हैं। उनमें भी सुंदरदास, ध्रुवदास और लालस्वामी ने राधावल्लभ संप्रदाय की प्रगति में बड़ा योग दिया है। भगवतमुदित जी ने इन तीनों का विशद वृत्तांत लिखा है। उनके लेखानुसार सुंदरदास कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए थे, और मुगल सम्राट अकबर के यशस्वी मंत्री अब्दुर्रहीम खानखाना के दीवान थे। रहीम और सम्राट अकबर दोनों उनका सन्मान करते थे। जब सुलतानी काल से प्रचलित गैर मुसलमानों के मंदिर-निर्माण संबंधी निषेधाज्ञा को सम्राट अकबर ने हटा दिया, तब वृंदावन के सेव्य स्वरूपों के सुंदर मंदिर बनवाने की चेष्टा उस काल के अनेक समृद्धिशाली भक्त जनों ने की थी। उस समय तक श्री राधावल्लभ जी सेवाकुंज में विराजमान थे, और श्री वनचंद्र जी उनके मुख्य सेवाधिकारी एवं राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य थे। जब कोई धनाढ्य व्यक्ति वनचंद्र जी के समक्ष श्री राधावल्लभ जी के मंदिर-निर्माण का प्रस्ताव लेकर आता था, तब वे यह कह कर उसे उदासीन कर देते थे कि मंदिर में ठाकुर जी की प्रतिष्ठा होने के उपरांत एक वर्ष के अंदर ही उसके निर्माता की मृत्यु हो जावेगी! यादव राजा गोपालसिंह और आमेर के राजा मानसिंह इसीलिए इच्छा रहते हुए भी श्री राधावल्लभ जी का मंदिर नहीं बनवा सके थे।

सुंदरदास राधावल्लभ संप्रदाय के सुदृढ़ अनुयायी थे और वे धार्मिक कार्यों में बड़ी उदारता पूर्वक धन लगाया करते थे। उन्हें श्री राधावल्लभ जी के मंदिर बनवाने की प्रबल आकांक्षा थी, और उनके स्वामी खानखाना ने भी उसके लिए उन्हें सब प्रकार की सहायता देने का आश्वासन दिया था। जब उन्होंने श्री वनचंद्र जी के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की, तब उन्हें भी वही उत्तर दिया गया। किंतु सुंदरदास उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए; बल्कि प्रभु-सेवा के निमित्त अपने नश्वर देह को छोड़ने के लिए उन्होंने अपना अहोभाग्य माना! फलत: वनचंद्र जी ने उन्हें मंदिर बनवाने की आज्ञा दे दी। सुंदरदास ने पूरी तैयारी के साथ उस स्थल पर मंदिर-निर्माण का

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. १७१

(२) रसिक अनन्यमाल में 'श्री कन्हर स्वामी जी की परचई'

कार्यारंभ किया, जहाँ हित हरिवंश जी ने वृंदावन आने पर सर्वप्रथम श्री राधावल्लभ जी को विराजमान किया था। तीन वर्ष की भारी मद्दत के बाद लाल पत्थर का वह विशाल और कलापूर्ण मंदिर 'मदनटेर' नामक स्थल पर बन कर तैयार हो गया।

मंदिर-निर्माण के उपलक्ष में बड़ा भारी उत्सव हुआ और शुभ मुहुर्त्त में श्री राधावल्लभ जी को नये मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया। सेवाकुंज में प्रायः अर्ध शताब्दी तक विराजमान रहने के उपरांत श्री राधावल्लभ जी उस समय विशाल मंदिर में विराजे थे। वहाँ पर पाँच आरती, सात भोग, नित्य और नैमित्तिक उत्सव तथा सामयिक कीर्तन द्वारा ठाकुर-सेवा होने लगी। कल्याण पुजारी सेवा के लिए नियुक्त किये गये। उनके पश्चात् कन्हर स्वामी और हरिकृष्ण जी श्री राधावल्लभ जी के पुजारी हुए थे। उस मंदिर के निर्माण का काल विवादास्पद है। एक मत के अनुसार उसका निर्माण सं. १६४१ में और दूसरे मतानुसार कुछ बाद में हुआ था। उस मंदिर में सुंदरदास की विद्यमानता में पूरे एक वर्ष तक विविध भाँति के उत्सव-समारोह होते रहे थे, जिनसे उन्हें अभूतपूर्व आनंद प्राप्त हुआ था। उसके उपरांत दैव योग से उनका देहावसान हो गया। श्री वनचंद्र जी ने उस श्रद्धालु भक्त की समाधि उक्त मंदिर के निकट ही बनवाई थी।

सुंदरदास द्वारा निर्मित वह मंदिर वृंदावन के प्राचीनतम मंदिरों में माना जाता है। उसके निर्माण-काल से लेकर औरंगजेबी शासन के आरंभिक काल तक उस मंदिर में श्री राधावल्लभ जी विराजमान रहे थे। सं. १७२६ में जब औरंगजेब के असहिष्णुतापूर्ण राज्यादेश के कारण ब्रज के मंदिर-देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, तब उस मंदिर को भी ध्वस्त किया गया था। उस समय श्री राधावल्लभ जी को वृंदावन से हटा कर कामबन में पहुँचा दिया गया, जहाँ वे सं. १८४२ तक विराजमान रहे थे। उसके उपरांत वृंदावन में नया मंदिर बना कर उन्हें पुनः प्रतिष्ठित किया गया। वह पुराना मंदिर जीर्णावस्था में अब भी विद्यमान है और नये मंदिर में ठाकुर-सेवा होती है।

ध्रुवदास—राधावल्लभीय भक्तों की वृहत् परंपरा में सांप्रदायिक महत्व की दृष्टि से सेवक जी के पश्चात् ध्रुवदास जी का ही सर्वोपरि स्थान माना गया है। राधावल्लभ संप्रदाय के अनेक भक्तों ने ध्रुवदास जी की महत्ता का कथन किया है, किंतु उनकी जीवनी का कुछ उल्लेख भगवतमुदित जी और गो. जतनलाल की रचनाओं में ही मिलता है। भगवतमुदित जी ने बतलाया है कि ध्रुवदास जी देवबन के कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए थे। उनका घराना परंपरा से राधावल्लभ संप्रदाय का अनुयायी रहा था। ऐसा उल्लेख मिलता है, बीठलदास जी ध्रुवदास के पितामह थे, जो श्री हित हरिवंश जी के प्रिय शिष्य थे। उनके पिता श्यामदास श्री गोपीनाथ जी के शिष्य थे। बीठलदास जी को जूनागढ़ राज्य का दीवान और श्यामदास को बिजनौर के राजा सोमदेव का प्रतिष्ठित राज कर्मचारी बतलाया गया है[१]। ध्रुवदास को बाल्यावस्था में ही श्री गोपीनाथ जी से मंत्र-दीक्षा दिलाई गई थी। घर के धार्मिक वातावरण और जन्मजात संस्कारों के कारण वे बचपन में ही भगवद्भक्त हो गये थे। यहाँ तक कि अपनी छोटी आयु में ही वे घर-बार छोड़ कर विरक्त भाव से वृंदावन आ गये, और फिर अंत काल तक यहीं पर रहे थे।

ध्रुवदास जी के जन्म और देहावसान का यथार्थ काल अज्ञात है। उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उनकी कुछ कृतियों में रचना-काल का उल्लेख मिलता है। ऐसी कृतियाँ सं. १६५० से सं. १६९८ तक की हैं। यद्यपि उन्हीं को निश्चय पूर्वक उनकी आरंभिक और अंतिम

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल

रचनाएँ नहीं माना जा सकता; तथापि वे उनके उपस्थिति-काल के निर्णय में सहायक हो सकती हैं। उनके आधार पर उनका जन्म सं. १६३० से कुछ पूर्व का और देहावसान सं. १७०० के कुछ बाद का ज्ञात होता है। प्रियादास ने उनका जन्म-संवत् १६२२ लिखा है[1]। यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया, फिर भी वह प्रायः ठीक ही मालूम होता है। इन कृतियों के आधार पर ध्रुवदास का वृंदावन आने का काल सं. १६४० के लगभग और रचना-काल सं. १६४० से सं. १७०० तक का माना जा सकता है।

भगवतमुदित जी ने लिखा है, ध्रुवदास जी जैसे ही वृंदावन आये, वे यमुना तटवर्ती रमणीक निकुंजों को देख कर आनंद-विभोर हो गये। वे उन कुंजों की युगल-केलि का रसानुभव करने लगे। उनकी बड़ी इच्छा होती थी कि उस दिव्य रस का वर्णन अपनी वाणी द्वारा करें; किंतु हृदय की अनुभूति किसी भी प्रकार वचनों द्वारा व्यक्त ही नहीं हो पाती थी! उसके कारण वे दुखी होकर हित जी द्वारा निर्मित रासमंडल पर आ पड़े, और उन्होंने खाना-पीना भी छोड़ दिया। सांप्रदायिक मान्यता है कि श्रीराधा जी ने उनकी दीन दशा पर द्रवित होकर उन्हें वाणी का वरदान दिया था। उसके फल स्वरूप उनमें अद्भुत रचना-सामर्थ्य का उदय हुआ और वे सरलता पूर्वक अनुपम वाणी-रचना करने लगे। उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ाओं से संबंधित विशद वाणी-साहित्य का सृजन किया है[2]। उनकी छोटी-बड़ी रचनाएँ ४२ हैं, जो 'ब्यालीस लीला' के नाम से संकलित मिलती हैं, और इसी नाम से प्रकाशित भी हुई हैं। वैसे उनकी सभी रचनाएँ 'लीला' की परिभाषा के अंतर्गत नही आती हैं, किंतु वे आरंभ से ही इसी नाम से प्रसिद्ध रही हैं।

ध्रुवदास जी की इन तथाकथित ४२ लीलाओ के अतिरिक्त उनके १०३ पद भी उपलब्ध हैं। सभी रचनाएँ ब्रजभाषा मे हैं, और काव्यात्मक हैं; केवल एक रचना 'सिद्धांत विचार लीला' ब्रज-भाषा गद्य में है। कुछ रचनाओं में निर्माण काल का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ पर उन सभी रचनाओं की नामावली प्रस्तुत है,—

१. जीव दशा लीला, २. वैद्यक ज्ञान लीला, ३. मन शिक्षा लीला, ४. रसानंद लीला (१६५०) ५. ख्याल हुलास लीला, ६. भक्त-नामावली लीला, ७. वृहद् वामन पुराण की भाषा लीला, ८. सिद्धांत विचार लीला (गद्य वार्ता), ९. प्रीति चौवनी लीला, १०. आनंदाष्टक लीला, ११. भजनाष्टक लीला, १२. भजन कुंडलिया लीला, १३. भजन सत लीला, १४. भजन श्रृंगार सत लीला, १५. मन श्रृंगार लीला, १६. हित श्रृंगार लीला, १७. प्रेमावली लीला (सं. १६७१),

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३२८

(२) तब श्री वृंदावन में आये। जमुना-कुंज निरखि सरसाये ॥
निसि-दिन जुगल-केलि उर माहीं। बानी करि कछु बरन्यौ चाहैं ॥
देख्यौ चाहै इक टक रहैं। उर आवै सो मुख नहिं कहैं ॥
खान-पान तजि मंडल पर्‌यौ। देख्यौ गुन बरन्यौ, हठ कर्‌यौ ॥
दिन द्वै गये तीसरो आयौ। तब राधे कौ हिय अकुलायौ ॥
बानी भई जु चाहत कियौ। उठि सो वर तोकौं सब दियौ ॥
केलि रहसि दंपति की बरनी। कही जु रसिक अनन्यनि करनी ॥
नव-नव लीला हिय में भासी। ते रसिकनि हित सबै प्रकासी ॥

—रसिक अनन्यमाल में 'श्री ध्रुवदास जी की परचई'

१८. रस मुक्तावली लीला, १९. रस हीरावली लीला, २०. रस रत्नावली लीला, २१. सभामंडल लीला, (सं. १६८१), २२. प्रिया जी की नामावली लीला, २३. श्री वृंदावन सत लीला (सं. १६८६), २४. सुखमंजरी लीला, २५. रतिमंजरी लीला, २६. नेहमंजरी लीला, २७. बन विहार लीला, २८. रंग विहार लीला, २९. रस विहार लीला, ३०. रंग हुलास लीला, ३१. रंग विनोद लीला, ३२. आनंद दसा विनोद लीला, ३३. रहस्य लता लीला, ३४. आनंद लता लीला, ३५. अनुराग लता लीला, ३६. प्रेम दसा लीला, ३७. रहस्य मंजरी लीला, (सं. १६९८), ३८. ब्रज लीला, ३९. जुगल ध्यान लीला, ४०. नृत्य विलास लीला, ४१. मान लीला और ४२. दान लीला। इनके अतिरिक्त पदावली।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त मिश्रबंधुओं ने छतरपुर के पुस्तकालय में 'ध्रुवदास की वाणी' नामक एक अन्य कृति के होने का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है,—'वाणी में ब्रजभाषा द्वारा शृंगार रस के सवैया, कवित्त इत्यादि तथा अन्य छंदों में श्रीकृष्ण चंद्र की लीलाओं के वर्णन ३०० पृष्ठ फुलस्केप साइज पर बड़े ही सरस तथा मधुर किये गये हैं[1]।' ध्रुवदास जी की पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध ४२ रचनाओं के साथ ही साथ इतने विशद आकार में किसी स्वतंत्र कृति के होने की बहुत कम संभावना है। ऐसा मालूम होता है, इसमें उनकी अन्य रचनाओं के विशिष्ट छंदों का संकलन किया गया है। अब से प्रायः १३ वर्ष पूर्व श्री महीपाल सिंह ने टीकमगढ़ से दिनांक १६–१०–५४ को हमें एक पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने ध्रुवदास जी की एक अन्य रचना 'गुरु प्रणाली' की सूचना दी थी। उन्होंने उक्त रचना को सं. १८१५ में लिपिबद्ध एक प्रति में ध्रुवदास जी की कतिपय कृतियों के साथ संकलित देखा था। उनके लिखे अनुसार इसके आरंभ में राधावल्लभ संप्रदाय की गुरु-परंपरा का उल्लेख है। फिर श्री राधावल्लभ जी की प्रतिष्ठा और उनकी सेवा के महत्व तथा हित जी की वाणी पर कुछ प्रकाश डाला गया है। अंत में श्रीराधा-कृष्ण और गोपियों के नख-शिख, उनकी दिनचर्या और रास-विलास इत्यादि का वर्णन है। यह रचना २५ पन्नों में पूर्ण हुई है। इसे सेवाराम नामक किसी भक्त जन ने लिपिबद्ध कर सं. १८१५ की श्रावण शु. २ को पूरी की थी। हमारे मतानुसार यह ध्रुवदास जी की प्रामाणिक रचना नहीं है। कारण यह है, उनकी रचनाएँ आरंभ से व्यालीस की संख्या में ही राधावल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध रही हैं, अतः उनके अतिरिक्त किसी अन्य रचना की प्रामाणिकता संदिग्ध है। वैसे सर्वश्री अतिवल्लभ, गुलाबलाल, कृष्णदास भावुक आदि ने 'गुरु प्रणाली' संबंधी रचनाएँ की थीं। संभव है, उक्त प्रति में उनमें से ही कोई हो।

ध्रुवदास जी की रचनाएँ संप्रदाय और साहित्य दोनों दृष्टियों से बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनका सांप्रदायिक महत्त्व इसलिए है कि इनमें हित जी के भक्ति-सिद्धांत और उनकी उपासना-पद्धति का सांगोपांग विशद विवेचन हुआ है। राधावल्लभ संप्रदाय के 'सैद्धांतिक दृष्टिकोण को हृदयंगम करने के लिए उनकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गंभीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस संप्रदाय में उन्हें छोड़ कर किसी और ने नहीं किया। जटिल और दुर्बोध तत्त्वों को समझाने के लिए उन्होंने वचनिका (गद्य वार्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नों को उसमें बड़ी सरल तथा सुबोध शैली से सुलझाया है। ध्रुवदास जी की वाणी राधावल्लभ संप्रदाय के सिद्धांतों का

(१) मिश्रबंधु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९९

उद्‌घाटन करने वाली सबसे समर्थ और व्यापक वाणी है। परवर्ती महानुभावों ने उनकी वाणी के अनुशीलन द्वारा ही सैद्धांतिक मर्म को हृदयंगम किया है। हित हरिवंश जी के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप में ध्रुवदास जी का स्थान मूर्धा पर है[१]।'

ध्रुवदास जी की रचनाओं का साहित्यिक महत्त्व भी अत्यधिक है। 'शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य-गुण और भाषा का प्रवाह यह बतलाता है कि उन्होंने साहित्य शास्त्र का विधिवत् पारायण किया था। काव्य–रूढ़ियों का भी उनकी वाणी में निर्वाह है। नायिका-भेद, नख-शिख, सवैया, अरिल्ल, कुंडलिया और गेय पद–रचना पर उनका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है। माधुर्य भक्ति की तल्लीनता और रस-व्यंजक पदावली की रोचकता तथा छंद, भाषा और शैली-वैविध्य आदि गुणों के कारण उन्हें भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियों की शृंखला जोड़ने वाला रससिद्ध कवि माना जावेगा[२]।'

उनकी रचनाओं में इतिहास की दृष्टि से 'भक्त–नामावली' और शैली की दृष्टि से 'सिद्धांत विचार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भक्त–नामावली' में मध्य काल के ७८ भक्तों के नाम, धाम और उनकी विशिष्टता का उल्लेख किया गया है। इसमें राधावल्लभ संप्रदाय के विशिष्ट भक्तों के साथ ही साथ उस काल के अन्य प्रसिद्ध महानुभावों का भी संक्षिप्त विवरण है, जो अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। यह रचना नाभा जी कृत 'भक्तमाल' के बाद की और प्रियादास कृत 'भक्तमाल-टीका' से पूर्व की है, अतः इसका रचना–काल सं. १७३५ से कुछ पहिले का सिद्ध होता है। 'सिद्धांत विचार' ब्रजभाषा गद्य की रचना है। इसमें अब से प्रायः तीन शताब्दी पूर्व के गद्य का रूप दिखलाई देता है। इसकी भाषा के सहज प्रवाह से समझा जा सकता है कि उस काल में ब्रजभाषा की समर्थ गद्य शैली प्रचलित थी।

ध्रुवदास जी वृंदावन में बनविहार के परिक्रमा-मार्ग स्थित राजघाट की एक कुटी में निवास करते थे। उनका देहावसान 'रासमंडल' की उसी लता–कुंज में हुआ था, जहाँ उन्हें श्रीराधा जी की कृपा से वाणी का वरदान मिला था।

लाल स्वामी—ध्रुवदास जी ने लाल स्वामी का उल्लेख करते हुए केवल इतना बतलाया है कि वे भजनानंदी महात्मा और सुंदर वाणीकार थे[३]। भगवतमुदित जी ने उनका कुछ अधिक वृत्तांत लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि लालदास ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे; किंतु उनका स्वभाव और रहन-सहन क्षत्रिय सदृश था। वे किसी मनसबदार सामंत के नौकर थे। उन्हें शिकारादि हीन कर्म करने से कोई परहेज़ नहीं था। एक बार वे संयोगवश देवबन गये थे। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय श्री रंगीलाल जी के मंदिर में शृंगार की झाँकी हो रही थी, और वहाँ मृदंग-झाँझादि बाजे बज रहे थे। नगर के नर-नारी ठाकुर जी के दर्शनार्थ मंदिर की ओर दौड़े जा रहे थे। लालदास भी कौतूहल वश मंदिर में चले गये। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय हित जी के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथ जी बड़े भक्ति–भाव से ठाकुर जी की आरती कर रहे थे। भगवत्–कृपा से लालदास उससे बड़े प्रभावित हुए और वे देह–गेह की सुधि–बुधि भूल कर एकाग्र भाव से ठाकुर जी को निहारते रहे। उनके संगी–साथियों ने उन्हें सचेत कर घर चलने को कहा, किंतु उन्होंने उनके

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ४३१ और ४७४
(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ४७४
(३) भक्त–नामावली, दोहा सं. ५३–५४

कथन पर ध्यान नहीं दिया। जब गोपीनाथ जी ठाकुर–सेवा से निवृत्त हुए, तब लालदास ने उनके चरण पकड़ लिये और उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की। उनकी श्रद्धा और भक्ति–भावना को देख कर गोपीनाथ जी ने उन्हें मंत्र–दीक्षा दी और हित जी की उपासना-पद्धति का मर्म समझाया[1]।

उसके उपरांत लालदास सबसे ममता-मोह छोड़ कर सच्चे साधु बन गये। उनके स्वभाव में अद्भुत परिवर्तन हो गया और वे बड़े भक्ति–भाव से ठाकुर रंगीलाल जी, गुरु गोपीनाथ जी तथा तथा संत-महात्माओं की सेवा करने लगे। इस प्रकार की रहन–सहन के कारण उनकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई और अनेक श्रद्धालु जन उनके भक्त और शिष्य होने लगे। वे लालदास से 'लालस्वामी' कहलाने लगे। उनके शिष्यों में कई प्रसिद्ध भक्त हुए हैं, जिनमें दामोदर स्वामी का नाम उल्लेखनीय है।

लालस्वामी ने भक्ति–काव्य की सुंदर रचना की है, जिसमें भाषा और भाव का लालित्य दर्शनीय है। इस दृष्टि से उनके कवित्त–सवैया रीति कालीन कवियों की प्रौढ़ रचनाओं के समकक्ष रखे जा सकते हैं। उन्होंने अपने एक छप्पय में श्री बनचंद्र जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री सुंदरवर के 'तिलक' होने का उल्लेख किया है। श्री सुंदरवर जी सं. १६६६ में राधावल्लभ संप्रदाय की आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। उसके आधार पर गो. ललिताचरण जी लालस्वामी का रचना-काल सं. १६३० से सं. १६७५ तक का मानते हैं[2]।

दामोदर स्वामी—वे कीरतपुर के निवासी थे और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके घर में पंडिताई का काम होता था। वे स्वयं भी बड़े विद्वान और श्रीमद् भागवत के अच्छे वक्ता थे। लालस्वामी के सत्संग से वे प्रेम-भक्ति की ओर आकर्षित हो कर उनके शिष्य हो गये थे। बाद में वे अपने घर-बार को छोड़ कर वृंदावन आ गये और उन्होंने अपना शेष जीवन श्री राधावल्लभ जी की सेवा-उपासना में लगा दिया। वे सच्चे साधु, परम भक्त और उच्च कोटि के महात्मा थे। भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तांत में बतलाया है कि राधावल्लभ संप्रदाय की निकुंजोपासना के प्रति सुदृढ़ आस्था रखते हुए भी वे श्री यमुना जी के बड़े भक्त और श्रीमद् भागवत के बड़े प्रेमी थे। वे प्रति दिन अत्यंत श्रद्धा पूर्वक तुलसी-चंदन-मालादि से यमुना जी की पूजा किया करते थे, और श्रीमद् भागवत की दस प्रतियाँ उन्होंने अपने हाथ से लिख कर गुरु जनों एवं विद्वानों को भेंट की थीं[3]।

उनके प्रदेश के प्रेमी जन उन्हें जो भेंट भेजते थे, उसे वे अपने सेव्य स्वरूप के उत्सव-समारोहों में लगा देते थे। उनके घर में उत्सवों का आयोजन इतने विशद रूप में होता था कि ब्रजवासी गण उन्हें बड़ा धनाढ्य व्यक्ति मानने लगे थे। इसीलिए उनके यहाँ कई बार चोरी भी हुई थी। लोगों ने एक बार चोर को पकड़ लिया और उसे इतना पीटा कि वह मर गया! उससे वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने उस झंझट का कारण द्रव्य को समझ कर भेंटादि लेना और किसी भी प्रकार का संग्रह करना बिलकुल छोड़ दिया। अपने सेव्य स्वरूप को भी उन्होंने अन्यत्र पधरा दिया और आप 'नाम-सेवा' करने लगे। यहाँ तक कि वे रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओं का परित्याग कर दौना-पत्तल एवं मिट्टी के बर्तनों को ही उपयोग में लाते थे और बन में निवास करते थे। भगवत-मुदित जी ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है,—

---

(१) रसिक अनन्यमाल में 'श्री लालस्वामी की परचई'

(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४३१

(३) रसिक अनन्यमाल में 'श्री दामोदर स्वामी की परचई'

संग्रह करौं न यह प्रभु इच्छा। चोर मर्यो में पाई शिक्षा ।।
संग्रह लखि सब कोऊ आवैं। अपराध लगैं, ब्रजजन दुख पावैं ।।
सेव्य स्वरूप अनत पधराई। रही नाम-सेवा जु सदाई ।।
दौना-पातर ब्रज-रज भाजन। लखि वन सेवन लगे विराजन ।। (र. अ. मा.)

वे सर्वस्व त्यागी महात्मा और रसिक भक्त होने के साथ ही साथ अच्छे वाणीकार भी थे। उनकी वाणी की २५ रचनाओं का नामोल्लेख 'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में हुआ है। उनमें से श्री गुरु प्रताप, नेम बत्तीसी, भक्ति भेद सिद्धांत, साखी, सिद्धांत पदावली, वर्षोत्सव, रहस विलास, अष्टयाम पदावली, रास पंचाध्यायी और मध्याक्षरी उल्लेखनीय हैं। इनमें 'रस' और 'सिद्धांत' दोनों विषयों का परिमार्जित एवं मुहावरेदार भाषा में कथन किया गया है। 'भक्ति भेद सिद्धांत' ब्रजभाषा गद्य की एक छोटी सी रचना है; किंतु इसकी गद्य-शैली प्रशंसनीय है। 'रास पंचाध्यायी' में श्रीमद् भागवत के रास संबंधी पाँचों अध्यायों का दोहा-चौपाई छंदों में अविकल अनुवाद है। इसी का संक्षिप्त कथन उन्होंने कवित्तों में भी किया है। 'मध्याक्षरी' में चित्र-काव्य है, जो राधा-वल्लभ संप्रदाय में इस विषय की कदाचित एक मात्र रचना है। 'नेम बत्तीसी' में उसका रचना-काल सं. १६८७ दिया गया है। उसके आधार पर श्री ललिताचरण जी ने दामोदर स्वामी का रचना-काल सं. १६७० से सं. १७०० तक का माना है[1]।

सांप्रदायिक संगठन—श्री हित हरिवंश जी ने प्रेम-भक्ति और रसोपासना के जिस भक्ति-मार्गीय 'मत' का प्रचलन किया था, उसे उनके काल में ही अनेक श्रद्धालु जनों और रसिक भक्तों ने अपनी साधना के लिए स्वीकार कर लिया था। उनमें से कतिपय महानुभावों का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। इस प्रकार हित जी के जीवन-काल में ही उनके अनुगामी भक्तों का एक परिकर बन गया था, जो बाद में 'राधावल्लभ संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नाभा जी ने हित जी के भक्तिमार्गीय मत की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहा है,—"व्यास-सुवन 'पथ' अनुसरैं, सोई भलैं पहिचानि है। हरिवंश गुसाईं भजन की 'रीति' सकृत कोइ जानि है।।" इस कथन में जो 'पथ' और 'रीति' शब्द आये हैं, उनसे हित हरिवंश जी के 'संप्रदाय' का ही संकेत मिलता है। इस प्रकार हित जी ने राधावल्लभ संप्रदाय का प्रवर्त्तन तो किया था, किंतु उसका सुदृढ़ सांप्रदायिक संगठन वनचंद्र जी के काल में हुआ था।

श्री हित हरिवंश जी के काल में ब्रज का धार्मिक वातावरण अधिक अनुकूल नहीं था; किंतु वे अपने अद्भुत प्रभाव से समकालीन परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना कर एक नये धार्मिक संप्रदाय की स्थापना करने में सफल हुए थे। यह उनके अलौकिक महत्त्व की बहुत बड़ी बात थी। श्री वनचंद्र जी का संपूर्ण आचार्यत्व-काल मुगल सम्राट अकबर के सुदीर्घ शासन-काल में बीता था। सम्राट की उदार धार्मिक नीति के कारण वनचंद्र जी को बड़ा अनुकूल वातावरण मिला था। उससे लाभान्वित होकर उन्होंने इस संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया। हित हरिवंश जी के कई सहयोगी भक्त और उनके वरिष्ट शिष्य श्री वनचंद्र जी के काल में थे। श्री व्यास जी प्रचुर काल तक विद्यमान रहे थे। स्वयं वनचंद्र जी और उनके भाइयों के भी कई प्रसिद्ध शिष्य-सेवक उस काल में उपस्थित थे। उन सबके कारण राधावल्लभ संप्रदाय की पर्याप्त प्रगति हुई थी। श्री हरिवंश जी के मानस शिष्य

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४६३

'रामायण'—कर्त्ता महर्षि वाल्मीकि जी

'महाभारत'—रचयिता महामुनि द्वैपायन व्यास जी

सेवक जी श्री वनचंद्र जी के आरंभिक काल में थे, और हित जी के छोटे पुत्र श्री गोपीनाथ जी के वरिष्ठ शिष्य ध्रुवदास जी श्री वनचंद्र जी के उत्तर काल में थे। उन दोनों महात्माओं की रचनाओं में हित जी के भक्ति-सिद्धांत और उनकी उपासना-पद्धति का जो विशद व्याख्यान हुआ है, उससे उस काल में राधावल्लभ संप्रदाय की उन्नति में बड़ा योग मिला था। वनचंद्र जी से आज्ञा प्राप्त कर सुंदरदास जी ने श्री राधावल्लभ जी का प्राचीन मंदिर बनवाया था, और भगवानदास स्वर्णकार ने 'रासमंडल' का नव निर्माण कराया था। उन सब के कारण श्री वनचंद्र जी के काल में राधावल्लभ संप्रदाय व्रज का एक सुदृढ़ भक्ति-संप्रदाय बन गया था।

हित जी के वंशज और उनके शिष्य समुदाय की परंपरा—

'विंदु परिवार' और 'नाद परिवार'—श्री हित हरिवंश जी के वंशजों और उनके बहुसंख्यक शिष्यों द्वारा जिस राधावल्लभ संप्रदाय का संगठन हुआ, उसके दो विशिष्ट अंग माने गये हैं। ये दोनों अंग 'विंदु परिवार' और 'नाद परिवार' के पारिभाषिक नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें हित जी के समस्त वंशज विंदु परिवार के कहलाते हैं, और उनकी शिष्य-परंपरा को नाद परिवार का कहा जाता है। हित जी के वंशज प्रायः गृहस्थ हैं और वे 'गोस्वामी' कहे जाते हैं। इस संप्रदाय की शिष्य-परंपरा में जो विरक्त साधु होते हैं, उन्हें 'स्वामी' कहा जाता है। राधावल्लभ संप्रदाय के इन दोनों अंगों किंवा परिवारों में सदा से सुप्रसिद्ध धर्माचार्य, विशिष्ट विद्वान, रसिक भक्त, भजनानंदी महात्मा, विख्यात वाणीकार, रससिद्ध कवि और कुशल कलाकार होते रहे हैं। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय को समृद्ध करने के साथ ही साथ व्रज संस्कृति के समस्त अंगों को भी अपनी बहुमूल्य देन दी है। इस संप्रदाय के प्रचार में नाद परिवार के स्वामियों का योग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री हित जी के शिष्य नवलदास जी, पूरनदास जी और उनके पुत्रों के शिष्य चतुर्भुजदास जी, वैष्णवदास जी, झूठा स्वामी आदि से सांप्रदायिक प्रचारकों की जो परंपरा चली, वह आगे और भी समृद्ध होती गई थी।

पुण्य स्थलों का विभाजन—राधावल्लभ संप्रदाय के इन दोनों वर्गों का सांप्रदायिक दृष्टि से समान महत्व माना गया है। इसीलिए इस संप्रदाय के पुण्य स्थल भी दोनों में समान रूप से विभाजित किये गये हैं। इस संप्रदाय के छह प्रमुख पुण्य स्थल हैं,—१. देववन में ठाकुर श्री रंगीलाल जी का मंदिर, २. वृंदावन में श्री राधावल्लभ जी का मंदिर, ३. वृंदावनस्थ सेवा कुंज, ४. रास-मंडल और ५. मानसरोवर तथा ६. वाद (जिला मथुरा) स्थित श्री हित हरिवंश जी का जन्म-स्थान। इनमें से आरंभिक तीन स्थल विंदु परिवार के गोस्वामियों के आधिपत्य में हैं और अंतिम तीन स्थलों पर नाद परिवार के विरक्त स्वामियों का अधिकार है।

पारिवारिक परंपरा—श्री हित हरिवंश जी के चारों पुत्रों और उनके पुत्र, पौत्र तथा वंशजों का एक बड़ा परिवार है, जिसके कई सुप्रसिद्ध घराने हैं। इन घरानों में श्री वनचंद्र जी और उनके भाइयों के पश्चात् जो प्रसिद्ध गोस्वामी हुए हैं; उनमें सर्वश्री सुंदरवर जी, राधावल्लभदास जी, व्रजभूषण जी, नागरवर जी, वृंदावनदास जी, दामोदरवर जी, हरिप्रसाद जी, रासदास जी, विलासदास जी, किशोरीलाल जी, कमलनयन जी, विहारीलाल जी, कुंजलाल जी, श्यामलाल जी, व्रजलाल जी, राधालाल जी, हरिलाल जी, सुखलाल जी, उदयलाल जी, सुंदरलाल जी, अनूपलाल जी, गोविंदलाल जी, रूपलाल जी, गुलाबलाल जी, किशोरीलाल जी, रसिकानंद जी, चतुरशिरोमणि लाल जी, दयासिंधु जी, कृपासिंधु जी, जतनलाल जी, जीवनलाल जी और बेटी वंश के चंद्रलाल जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस संप्रदाय का नाद परिवार और भी बड़ा है। श्री हित जी और उनके पुत्रों के शिष्य-समुदाय के पश्चात् इस परंपरा में जो प्रसिद्ध महानुभाव हुए हैं, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं,– सर्वश्री हरिदास तूंवर, गोविंददास जी, त्रिलोक स्वामी, रसिकदास जी, श्यामशाह तूंवर, प्राणनाथ जी, मोहनदास जी, माधुरीदास जी, संतदास जी, मोहनमत्त, लोकनाथ जी, अतिवल्लभ जी, बावरी सखी, सहचरि सुख, अनन्य अली, प्रेमदास जी, बालकृष्ण जी, चंद्रसखी, दयासखी, चाचा वृंदावनदास, प्रियादास जी, रतनदास जी, हरिलाल व्यास और भोलानाथ जी आदि।

दोनों परिवारों के बहुसंख्यक महानुभावों में से कुछ का संक्षिप्त वृत्तांत यहाँ दिया जाता है।

श्री सुंदरवर जी—वे श्री वनचंद्र जी के सबसे बड़े पुत्र थे। उनका जन्म सं. १६०६ की आश्विन शु. १५ को हुआ था और वे सं. १६६६ में राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य एवं श्री राधावल्लभ जी के मंदिर के अधिकारी हुए थे। अपने यशस्वी पितामह और पिता के पद-चिह्नों पर चलते हुए उन्होंने संप्रदाय की उन्नति में पर्याप्त योग दिया था। उनके छोटे भाई सर्वश्री राधावल्लभदास जी, व्रजभूषण जी तथा नागरवर जी अपने घर की परंपरा के अनुसार बड़े विद्वान और सुयोग्य धर्माचार्य हुए थे। सुंदरवर जी का देहावसान सं. १६९० में हुआ था। उनकी कोई रचना प्रसिद्ध नहीं है।

कुटुंभ-परिवार—श्री सुंदरवर जी के छोटे भाई श्री राधावल्लभदास जी का जन्म सं. १६१० की कार्तिक शु. १५ को हुआ था। वे प्रायः मानसरोवर पर भजन-ध्यान किया करते थे। वहाँ पर ही उनकी बैठक है, जो श्री हित हरिवंश जी की बैठक के पास है। उन्होंने ग्रंथ-रचना भी की थी। उनके ग्रंथों के नाम रसतरंगिणी, संप्रदाय प्रश्नोत्तर निरूपण और पद्यावली लता कहे जाते हैं[1]। श्री सुंदरवर जी के सबसे छोटे भाई सर्वश्री व्रजभूषण जी और नागरवर जी थे। व्रजभूषण जी का जन्म सं. १६११ में और नागरवर जी का सं. १६१२ में हुआ था। श्री व्रजभूषण जी अधिकतर सेवाकुंज में निवास करते थे। वे वहाँ पर मानसी सेवा और भजन-ध्यान में लीन रहते थे। उनके द्वारा 'हित चौरासी' की टीका किये जाने की प्रसिद्धि है। श्री नागरवर जी बड़े भजनानंदी महात्मा थे। उन सब की विशद वंश-परंपराएँ हैं, और उनके कितने ही घराने हैं। वे सब श्री राधावल्लभ जी के गोस्वामी कहलाते हैं।

शिष्य समुदाय—श्री सुंदरवर जी के शिष्यों में सर्वश्री जयदेव ब्राह्मण, लक्ष्मीदास, ऊधौदास, वीरभाई और केशवराय का नामोल्लेख मिलता है। श्री राधावल्लभ जी के सात शिष्यों के नाम मिलते है, जिनमें से त्रिलोक स्वामी और हरिनाथ स्वामी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। त्रिलोक स्वामी मथुरा के निकटवर्ती लोहवन गाँव के निवासी थे। उन्होंने साधुओं की जमात के साथ कई प्रदेशों में राधावल्लभ संप्रदाय का प्रचार किया था। उनके रचे हुए कुछ पद भी मिलते हैं। उन्हें मानसरोवर का सुप्रसिद्ध लीला-स्थल प्राप्त हुआ था और रासमंडल के राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़ा-पर उन्होंने ठाकुर श्री हित वल्लभ जी की प्रतिष्ठा की थी। उनकी परंपरा के साधुओं का मानसरोवर पर अधिकार रहा है। हरिनाथ स्वामी का घराना राधावल्लभ संप्रदाय का अनुयायी और रासमंडली का संचालक था। उनके पिता किशोरीदास जी श्री हित हरिवंश के छोटे पौत्र व्रजभूषण जी के शिष्य थे और उन्होने रासमंडली का संगठन किया था। हरिनाथ जी बचपन से ही रास के प्रेमी थे। अपने पिता के पश्चात् उन्होंने रासमंडली का कुशलता पूर्वक संचालन किया था।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १०६

नागरवर जी के शिष्यों में हरिदास तूंवर और उनके भाई गोविंददास प्रसिद्ध थे। उनका उल्लेख ध्रुवदास जी और भगवतमुदित जी ने भी किया है। भगवतमुदित जी ने हरिदास तूंवर के विषय में लिखा है कि उन्होंने वृंदावन में युगलघाट का निर्माण करा कर वहाँ श्री युगलकिशोर जी का शिखरदार मंदिर वनवाया था[1]। युगलघाट वृंदावन का सवसे पुराना घाट कहा जाता है और श्री युगलकिशोर जी का मंदिर इस समय गौड़ीय भक्तों के अधिकार में है। गोविंददास की रुचि ठाकुर-सेवा में अधिक थी। वे नाना प्रकार के उत्सव करते थे, और उनमें वंशी, वीणा, मृदंगादि वाद्यों का स्वयं विधिपूर्वक वादन किया करते थे।

श्री दामोदरवर जी (सं. १६३४ – सं. १७१४)—

जीवन-वृत्तांत—राधावल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्यों में श्री दामोदरवर जी की गणना की जाती है। वे श्री सुंदरवर जी के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनके पश्चात् राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनका जन्म सं. १६३४ की आषाढ़ी पूर्णिमा को हुआ था, और वे सं. १६६० में आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। वे प्रकांड विद्वान, परम भक्त और भगवत्-सेवा परायण महानुभाव थे। उनके एक शिष्य प्राणनाथ कृत 'प्रश्नोत्तरी' में उनके जीवन-वृत्त और कुछ उपदेशों का संकलन है। इसका उल्लेख उक्त रचना के अंतिम दोहा में इस प्रकार हुआ है,—'श्री दामोदरवर चरित, जिहिं-जिहिं को उपदेस। प्राननाथ कछु सुनि लिख्यौ, निज मन के आदेस।' प्राणनाथ की दूसरी रचना 'हस्तामलक' भी दामोदरवर जी द्वारा वोल कर लिखाई गई थी; इसका उल्लेख भी उक्त रचना में हुआ है। भगवतमुदित जी ने श्री दामोदरवर जी को श्री हित हरिवंश जी की 'विजय-मूर्ति' और 'रसिक सभा के मुकुटमणि' वतलाते हुए उनके शिष्य-प्रशिष्यों की समृद्ध परंपरा का उल्लेख किया है[2]। दामोदरवर जी की धार्मिक महत्ता के कारण उन्हें हित हरिवंश जी का अवतार माना जाता है। वे रास के बड़े प्रेमी और प्रोत्साहनकर्त्ता थे। उन्होंने अपने शिष्य मोहनदास से एक रास-मंडली का संगठन कराया था। वह मंडली उनके रास-स्थल पर रासलीला किया करती थी। उन्होंने सं. १७१४ की भाद्रपद शु. १३ को उत्तराधिकार-पत्र लिखा था, जिसमें यह व्यवस्था भी की गई थी कि उनके उपरांत वहाँ सदैव नियमित रूप से रास होता रहे[3]। उनके रचे हुए कुछ पद भी मिलते हैं। उनका देहावसान सं. १७१४ में हुआ था।

शिष्य-समुदाय—जैसा भगवतमुदित जी ने लिखा है, श्री दामोदरवर जी के अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे। उनमें से प्रायः वीस शिष्यों का नामोल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' में किया गया है। उनमें सर्वश्री रसिकदास, द्वारकादास, पुष्करदास, श्यामशाह तूंवर, मोहनदास, माधुरीदास, प्राणनाथ और संतदास अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। आरंभ के पाँच शिष्यों का वृत्तांत तो भगवतमुदित जी ने भी लिखा है। दामोदरवर जी द्वारा राधावल्लभ संप्रदाय की जो उन्नति हुई थी, उसमें उनके शिष्य-समुदाय का भी वड़ा योग-दान रहा था। यहाँ पर उनमें से कतिपय शिष्यों का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा जाता है।

---

(१) रसिक अनन्यमाल में 'श्री हरिदास तूंवर की परचई'

(२) विजै-मूर्ति हरिवंश की, हैं प्रपौत्र रसकंद। रसिक सभा के मुकुटमणि, श्री दामोदरचंद ॥
तिनके शिष्य-प्रशिष्य वहु, रसिक अनन्य प्रसिद्ध। कछुक कहौं संक्षेप सौं, उनके गुन तौ वृद्ध ॥

(३) व्रजभारती, मार्गशीर्ष सं. २०१६, पृष्ठ ५७

रसिकदास जी—भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तांत में बतलाया है, वे वैराट नामक स्थान के निवासी थे और कायस्थ कुल मे उत्पन्न हुए थे। गृहस्थी से उदासीन होकर वे वृंदावन आकर श्री दामोदरवर जी के शिष्य हो गये थे। वहाँ पर वे श्री हित हरिवंश जी के पदों की मानसी भावना में सदैव रसविभोर रहा करते थे[1]। उन्हें रास से भी बड़ा प्रेम था। उनका उपस्थिति-काल सं. १६५० से सं. १७०० तक माना जाता है।

पुष्करदास—वे काठले में निवास करने वाले एक धनाढ्य वैश्य थे। उन्होंने दामोदरवर जी से दीक्षा लेकर अपने द्रव्य को भगवत्-सेवा में लगाया था। वे श्री जी के वस्त्राभूपण और उत्सवादि में बड़ी उदारता पूर्वक धन-व्यय किया करते थे। उन्होंने नंदगाँव-बरसाना स्थित देव-स्वरूपों के साज-श्रृंगारादि में भी अपने धन का उपयोग किया था।

श्यामशाह तूंवर—वे तूंवर क्षत्रिय थे और घर-गृहस्थी एवं बाल-बच्चे वाले थे। भक्ति मार्ग की ओर आकर्षित होने पर वे अपनी स्त्री सहित वृंदावन आ गये थे, और वहाँ पर उन्होंने दामोदरवर जी से दीक्षा ली थी। वे बड़े गुरु-भक्त थे। उन्होंने पद-रचना भी की थी। उनकी एक रचना 'भान ज्योनार' है, जिसमें वृषभानु जी के निवास-स्थान पर नंदराय जी द्वारा बरात ले जाने पर उसकी ज्योनार का बड़ा रोचक कथन किया गया है।

मोहनदास और माधुरीदास—वे दोनों पिता-पुत्र थे। भगवतमुदित जी ने उनकी रसज्ञता, इष्टाराधना और गुरु-भक्ति का सामान्य कथन करने के अतिरिक्त उनका कोई विशेष वृत्तांत नहीं लिखा है। गोविंदअली कृत 'रसिक अनन्य गाथा' से ज्ञात होता है, मोहनदास कामवन के ब्राह्मण थे। श्री दामोदरवर जी की प्रेरणा से उन्होंने एक रासमंडली का संगठन किया था, जिसमें उनका रूपवान पुत्र माधुरीदास प्रिया जी का स्वरूप बनता था। मोहनदास की मंडली वृंदावन में श्री दामोदरवर जी के समक्ष रास किया करती थी। उसके द्वारा रास के आरंभिक प्रचार में बड़ा योग मिला था। मोहनदास के उपरांत उसके पुत्र माधुरीदास ने उक्त मंडली का संचालन किया था। चाचा वृंदावन-दास कृत 'रसिक अनन्य परचावली' में भी उन दोनों की रास संबंधी देन का उल्लेख किया गया है[2]।

प्राणनाथ—वे जुझौतिया ब्राह्मण थे। उनका जन्म बुंदेलखंड के पन्ना राज्यांर्गत उचेहरा गाँव में हुआ था। वे वहाँ के एक वैश्य परिवार की नौकरी करते थे; और मन ही मन अपने स्वामी की पुत्री पर आसक्त थे। एक बार वे उस वैश्य परिवार के साथ वृंदावन आये थे। वहाँ श्री दामोदरवर जी का उपदेश सुन कर उनकी वासनामयी लौकिक आसक्ति शुद्ध भगवत्-प्रेम में परिवर्तित हो गई और वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन में रहने लगे। उन्होंने दामोदर-वर जी से मंत्र-दीक्षा लेकर हित मार्गीय उपासना-भक्ति का बड़ी निष्ठापूर्वक पालन किया था[3]। उनकी 'प्रश्नोत्तरी' और 'हस्तामलक' नामक रचनाएँ राधावल्लभ संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। 'प्रश्नोत्तरी' में उन्होंने अपने गुरु श्री दामोदरवर जी का चरित्र स्वयं उनके मुख से सुन कर प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है। यह गद्य-पद्यात्मक ग्रंथ है, और इस संप्रदाय के चरित्र-साहित्य की अनुपम रचना है। 'हस्तामलक' में दामोदरवर जी से सुने हुए उनके उपदेशों का संकलन है। इसका उल्लेख ग्रंथ के आरंभ में ही इस प्रकार किया गया है,—'श्री गुसाईं दामोदर जी पूर्ण जुगल प्रेमानंद प्रकाशक रूप

---

(१) रसिक अनन्यमाल में 'रसिकदास जी की परचई'

(२) रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परंपरा (ब्रजभारती, मार्गशीर्ष सं. २०१६)

(३) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३७१

प्रगट हैं। उनके मुख सुने ता मधि जु सुधि रहे सु लिखि राख्यौ है।' यह गद्यात्मक ग्रंथ है और इसमें राधावल्लभीय भक्ति-पद्धति तथा प्रेमोपासना के विवेचन के साथ ही साथ 'हित चौरासी' के कुछ कठिन पदों की भावना का भी स्पष्टीकरण किया गया है। इसके कारण जहाँ सांप्रदायिक दृष्टि से इसकी उपादेयता है, वहाँ ब्रजभाषा गद्य की प्राचीन रचना होने के कारण इसका साहित्यिक महत्व भी है। इन दो रचनाओं के अतिरिक्त प्राणनाथ जी के रचे हुए कुछ पद भी मिलते हैं। उनका उपस्थिति काल सं. १६५० से सं. १७२० तक माना जा सकता है।

संतदास—वे भी श्री दामोदरवर जी के शिष्य थे। उन्हें मैनपुरी का निवासी और ब्राह्मण कुलोत्पन्न बतलाया गया है[1]। वे भगवद्भक्त और साधु-सेवी महात्मा थे। श्री राधा सुधानिधि की ब्रजभाषा टीका और वृहद् अष्टयाम नामक उनकी दो रचनाएँ कही जाती हैं[2]।

अधिकार का विभाजन—

दो आचार्यों की परंपरा—श्री दामोदरवर जी के काल तक हितवंशीय गोस्वामियों के ज्येष्ठ घराने का बड़ा पुत्र ही राधावल्लभ संप्रदाय का आचार्य और श्री राधावल्लभ जी के मंदिर का प्रधान सेवाधिकारी होता रहा था। उनके उपरांत उनके दोनों पुत्र रासदास जी और विलासदास जी में आचार्यत्व और अधिकार का विभाजन हो गया था। उसके कारण उन दोनों के वंशजों का सांप्रदायिक दृष्टि से समान महत्त्व माना जाने लगा। इसके संबंध में राधावल्लभ संप्रदाय में एक अनुश्रुति प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है, श्री दामोदरवर जी की पत्नी के पर्याप्त काल तक कोई संतान नहीं हुई थी। उससे चिंतित होकर श्री सुंदरवर जी ने दामोदरवर जी का दूसरा विवाह करने का विचार किया। उन्होंने जो कन्या पसंद की थी, उसके पिता ने यह शर्त रखी कि उनकी पुत्री से उत्पन्न पुत्र ही संप्रदाय का आचार्य और सेवाधिकारी होगा। श्री सुंदरवर जी ने वह शर्त मान ली, और श्री दामोदरवर जी का दूसरा विवाह हो गया। दैवयोग से उनकी दोनों पत्नियाँ एक साथ गर्भवती हुईं और दोनों के प्रायः साथ-साथ ही पुत्र उत्पन्न हुए। बड़ी पत्नी का पुत्र कुछ दिन पहिले उत्पन्न हुआ था और छोटी पत्नी का कुछ दिन बाद। बड़ी के पुत्र का नाम रासदास और छोटी के पुत्र का नाम विलासदास रखा गया। दोनों की साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा हुई थी और दोनों ही बड़े विद्वान एवं प्रतिभाशाली धर्मवेत्ता हुए थे।

जब श्री दामोदरवर जी को अपने अंत काल का आभास हुआ, तब उन्हें अपने उत्तराधिकारी की चिंता होने लगी। घर की परंपरा के अनुसार बड़े पुत्र रासदास जी अधिकारी थे; किंतु पूर्व निश्चय के अनुसार विलासदास जी का अधिकार क़ायम होता था। उस उलझन को सुलझाने के लिए श्री दामोदरवर जी ने गद्दी के आचार्यत्व और सेवा के अधिकार का विभाजन अपने दोनों पुत्रों में कर दिया। फलतः दोनों घरानों के बड़े पुत्रों को समान रूप से आचार्य और सेवा-अधिकारी माना जाने लगा। इसके कारण राधावल्लभ संप्रदाय में दो आचार्य और सेवा-अधिकारी होने लगे। दोनों के लिए ठाकुर-सेवा के दिन निश्चित कर दिये गये और वे अपने-अपने ओसरे से संप्रदाय का संचालन तथा ठाकुर-सेवा की व्यवस्था करने लगे। ऐसी भी अनुश्रुति है कि वास्तविक विभाजन सर्वश्री रासदास जी और विलासदास जी के काल में नहीं हुआ; बल्कि बाद में हुआ था। कुछ भी हो, विभाजन की वह व्यवस्था राधावल्लभ संप्रदाय में अब भी प्रचलित है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३७४
(२) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ १६

श्री रासदास जी—वे श्री दामोदरवर जी की बड़ी पत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म स. १६६५ की भाद्रपद शु. ८ को हुआ था और वे अपने पिता जी के उपरांत सं. १७१४ में आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। वे रसिक भक्त और विद्वान धर्माचार्य थे। उनका निवास वृंदावन की अपेक्षा बरसाना में अधिक रहता था। ऐसा कहा जाता है, वहाँ का लीला-स्थल 'रासगढ़' उनके नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ है। उनके तीन पुत्र थे,—कमलनयन जी, बिहारीलाल जी और कुंजलाल जी। श्री रासदास जी का देहावसान सं. १७२२ के लगभग हुआ था। उनके उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री कमलनयन जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री विलासदास जी—वे श्री दामोदरवर जी की छोटी पत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १६६५ में श्री रासदास जी के जन्म से कुछ दिन पश्चात् हुआ था। वे श्री रासदास जी के समान ही इस संप्रदाय के आचार्य माने गये, और विभाजित सेवा के अधिकारी हुए। वे भी बड़े योग्य धर्माचार्य थे। उनकी रची हुई पदावली बतलाई जाती है। उनके ६ पुत्र हुए थे, जिनमें श्री श्याम-लाल जी ज्येष्ठ थे। श्यामलाल जी के छोटे भाइयों में सर्वश्री रसिकलाल जी और गोविंदलाल जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। श्री विलासदास जी का देहावसान सं. १७२५ में संभवतः बरसाना में हुआ था। वहाँ का लीला-स्थल 'विलासगढ़' उनके नाम पर प्रसिद्ध हुआ माना जाता है। वहाँ पर उनकी समाधि भी बनी हुई है।

शिष्य-समुदाय—श्री रासदास जी के तीन शिष्यों के नाम मिलते हैं, जिनमें मोहन मत्त और शंकर शर्मा प्रमुख थे। मोहन जी पंजाब के निवासी थे। वे रासदास जी के शिष्य होकर वृंदावन में ही रहने लगे थे। श्री राधावल्लभ जी की सेवा-भावना में वे सदैव मत्त रहा करते थे; जिसके कारण वे मोहन मत्त के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनकी एक रचना मांझ छंद में है, जो 'मोहन मत्त जी की मांझ' कहलाती है। इसकी भाषा पंजाबी मिश्रित ब्रजभाषा है और रचना-शैली ओजपूर्ण है। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'हुलास मोहनी' और 'केलि कल्लोल' कही जाती हैं। शंकर शर्मा ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। उनकी रचनाओं के नाम अलंकार शंकर, राधिका मुख वर्णन, हरिवंश वंश-प्रशस्ति, हरिवंश हंस नाटक और सद्वृत्त मुक्तावली बतलाये जाते हैं।

श्री विलासदास जी के शिष्यों में दो प्रमुख थे,—लोकनाथ जी और युगलदास जी। लोकनाथ जी पटना के रहने वाले एक विद्वान ब्राह्मण थे। वे वृंदावन आकर विलासदास जी के शिष्य हुए थे और प्रिया-प्रियतम की भक्ति-भावना में तल्लीन रहा करते थे। उन्होंने हित चौरासी की टीका तथा 'राधा भक्ति मंजूषा' एवं 'उत्सव प्रकाश' नामक दो ग्रंथों की रचना की है। युगलदास जी विरक्त महात्मा थे। उन्होने भी हित चौरासी की टीका की थी[1]।

श्री कमलनयन जी (सं. १६९२ – सं. १७५४) —

जीवन-वृत्तांत—वे गो. श्री रासदास जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके यथार्थ जन्म-काल का निश्चय नहीं होता है। सांप्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार उनका जन्म सं. १६९२ में हुआ था और वे सं. १७२५ के लगभग आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। उनकी गणना राधावल्लभ संप्रदाय के अत्यंत प्रसिद्ध आचार्यों में की जाती है। उनके अनेक शिष्य हुए थे और उन्होंने भावपूर्ण पद-रचना भी की थी। उनकी रचनाओं में अष्टयाम और वर्षोत्सव की अधिक प्रसिद्धि है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ सं. ३८८, ४१३, ४१४

श्री कमलनयन जी के काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना औरंगजेब की मजहवी तानाशाही के फलस्वरूप श्री राधावल्लभ जी का स्थानांतरण और उनके मंदिर का ध्वंश होना है। उनका देहावसान सं. १७५४ हुआ था। उनका कोई पुत्र नहीं था; अतः उन्होंने अपने भतीजे व्रजलाल जी को गोद ले लिया था। श्री व्रजलाल जी ही उनके पश्चात् उनकी गद्दी के आचार्य हुए थे।

श्री राधावल्लभ जी का स्थानांतरण और मंदिर का ध्वंश—श्री कमलनयन जी जिस समय राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हुए थे, उस समय मुगल सम्राट औरंगजेब की मजहवी तानाशाही का दमन-चक्र व्रज में बड़ी तीव्र गति से चल रहा था, और उसके संकट की काली छाया उनके संपूर्ण आचार्यत्व-काल पर छाई रही थी। वह बड़ा कठिन समय था; किंतु श्री कमलनयन जी ने बड़े धैर्य और साहस के साथ उसका सामना किया था। सं. १७२६ में औरंगजेब के राजकीय आदेश द्वारा व्रज के मंदिर-देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा था। उस समय यहाँ की प्रायः सभी प्रसिद्ध देव-मूर्तियाँ गुप्त रूप से हटा दी गईं थीं और उन्हें सुरक्षित स्थानों में पहुँचा दिया गया था। उसी संकट काल में श्री राधावल्लभ जी के स्वरूप को भी मंदिर से हटाया गया था। उसके उपरांत राजकीय कर्मचारियों ने मंदिर पर आक्रमण कर उसके कुछ भाग को नष्ट कर दिया था। ऐसी अनुश्रुति है, उस आक्रमण में राधावल्लभ संप्रदाय के सात प्रमुख भक्त मारे गये थे। वह दुर्घटना सं. १७२६ में अथवा उसके तत्काल पश्चात् हुई थी।

सांप्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ जी को वृंदावन के मंदिर से हटा कर कामवन पहुँचाया गया था और वहाँ के मंदिर में उन्हें सं. १७३९ में विराजमान किया गया था। उनके स्थानांतरण से संबंधित संपूर्ण तथ्यों का भली भाँति उल्लेख नहीं मिलता है। उसके कारण यह ज्ञात नहीं होता है कि सं. १७२६ से सं. १७३९ तक के काल में श्री राधावल्लभ जी कहाँ रहे थे। उन्हें गुप्त रीति से वृंदावन में ही रखा गया था, अथवा तत्काल कामवन पहुँचाया गया था और वहाँ स्थान की व्यवस्था एवं अनुकूल परिस्थिति होने पर ही उन्हें सं. १७३९ में मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया था। उस काल के राधावल्लभीय गोस्वामियों में से कौन-कौन श्री राधावल्लभ जी के साथ कामवन गये थे और वहाँ रहे थे। श्री कमलनयन जी और उनके समकालीन विलासवंशीय आचार्य श्यामलाल जी और उनके भाई-भतीजों ने उस समय किस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन किया था और उसके लिए उन्हें क्या-क्या कष्ट झेलने पड़े थे। उन सब बातों का विशद विवरण उपलब्ध नहीं है। सांप्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ जी प्रायः १०३ वर्ष तक कामवन में विराजे थे। उसके उपरांत उन्हें वहाँ से वृंदावन ला कर सं. १८४२ में नये मंदिर में प्रतिष्ठित किया गया था।

कुटुंब-परिवार—श्री कमलनयन जी के दो छोटे भाई थे,—श्री विहारीलाल जी और श्री कुंजलाल जी। उनका जन्म क्रमशः सं. १६९४ और सं. १६९६ के लगभग हुआ था। कमलनयन जी के कोई पुत्र नहीं था, किंतु विहारीलाल जी के तीन और कुंजलाल जी के सात पुत्र थे। विहारीलाल जी के पुत्रों के नाम क्रमशः मोहनलाल जी, व्रजलाल जी और चतुरलाल जी थे। श्री कमलनयन जी ने अपने भतीजे व्रजलाल जी को गोद लिया था, जो उनके पश्चात् आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। कमलनयन जी के चाचा श्री विलासदास जी के पुत्रों में श्यामलाल जी सबसे बड़े थे। उनसे छोटे सर्वश्री रसिकलाल जी और गोविंदलाल जी थे। श्री वनचंद्र जी के कनिष्ट पुत्र श्री नागरवर जी के प्रपौत्र श्री धीरधर जी भी उस समय विद्यमान थे। वे सब कमलनयन जी के समकालीन थे और सभी विद्वान धर्माचार्य थे। कुंजलाल जी के पुत्र हरिलाल जी ने पद-रचना

की थी । रसिकलाल जी की हित चौरासी की टीका प्रसिद्ध है, जिसकी रचना सं. १७३४ में हुई थी। उसके अतिरिक्त उन्होंने करुणानंद और गीत गोविंद की टीका तथा पदावली की रचना भी की थी। गोविंदलाल जी कृत भावना शत, समय विचार और पदावली आदि रचनाओं का उल्लेख मिलता है।

शिष्य समुदाय—'राधावल्लभ भक्तमाल' में श्री कमलनयन जी के अनेक शिष्यों का नामोल्लेख हुआ है । उनमें सर्वश्री कृष्ण अलि, अतिवल्लभ, वल्लभदास, बावरी सखी, सहचरि सुख और हित अनूप के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं । श्री कमलनयन जी के छोटे भाई गो. कुंजलाल जी के शिष्यों में युगलदास जी, हरजीमल खत्री और उत्तमदास जी तथा गोविंदलाल जी के शिष्यों में अनन्य अली जी के नाम उल्लेखनीय हैं । श्री नागरवर जी के प्रपौत्र और कमलनयन जी के समकालीन गो. धीरधर जी थे । उनके शिष्य रसिकदास जी इस संप्रदाय के एक विशिष्ट भक्त-कवि हुए हैं । उन राधावल्लभीय भक्तों के अतिरिक्त गौड़ीय भक्त-कवि भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' की रचना भी श्री कमलनयन जी के काल में ही हुई थी । यहाँ पर उन भक्त जनों का कुछ परिचय दिया जाता है ।

कृष्ण अलि जी—वे सारस्वत ब्राह्मण थे और गान, वाद्य एवं नृत्य कलाओं में बड़े प्रवीण थे। कमलनयन जी से मंत्र-दीक्षा लेने के उपरांत वे श्री राधावल्लभ जी के मंदिर की 'समाज' में गायन-वादन किया करते थे । वे सखी भाव में रहते थे और उनका देहांत रासमंडल पर रास में नृत्य करते समय हुआ था ।

अतिवल्लभ जी—वे दाक्षिणात्य थे और पहिले शैव धर्मावलंबी थे । बाद में वे वृंदावन आकर कमलनयन जी के शिष्य हो गये थे । उनकी ७ रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है, जिनमें समय प्रबंध, हित पद्धति, हित वंशावली और गुरु प्रणाली उल्लेखनीय हैं ।

वल्लभदास जी—वे ब्रजवासी थे । उन्होंने साधुओं के साथ भ्रमण करते हुए राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था । उनके द्वारा रचित और संगृहीत ८२ रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है[1] । उससे ज्ञात होता है कि वड़े विद्वान और रससिद्ध वाणीकार थे ।

बावरी सखी जी—वे सारस्वत ब्राह्मण थे। नागरीदास जी कृत 'पद प्रसंग माला' में उनका मूल नाम तुलाराम लिखा गया है । वे सखी भाव में प्रेमोन्मत्त रहते थे; इसीलिए 'बावरी सखी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे । सेवाकुंज में बुहारी देने और ब्रजवासियों के घरों में से मधूकरी माँग कर खाने का उनका नियम था । वे प्रायः बरसाना जा कर वहाँ के गह्वर वन में रसविभोर होकर घूमा करते थे । उन्होंने पद-रचना भी की है, जो अत्यंत सरस है ।

सहचरि सुख जी—वे पंजाबी ब्राह्मण थे और वृंदावन आकर श्री कमलनयन जी के शिष्य हो गये थे । वे काव्य-रचना तो पहिले से ही करते थे; किंतु वृंदावन में निवास करने पर वे राधा-वल्लभीय रस-पद्धति के भी अच्छे ज्ञाता हो गये थे । उससे उनकी रचना अत्यंत सरस और भावपूर्ण हुई है । गो. ललिताचरण जी ने उनके भक्ति-काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है,—'उन्होंने मूर्त्त उपास्य भाव का अमूर्त्त रूपों द्वारा वर्णन किया है । उनके पद अनेक सुंदर लाक्षणिक प्रयोगों से मंडित हैं । ब्रजभाषा साहित्य में वे लक्षणा का विशद प्रयोग करने वाले घनानंद जी से कुछ पहिले के कवि हैं । उनका सौन्दर्य-बोध अत्यंत सूक्ष्म और तीव्र है । उनकी वाणी सौन्दर्य के भार से मानो इठलाती हुई चलती है ! उनकी भाषा समृद्ध और वेगशालिनी है[2] । उनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, किंतु उनके अनेक सुंदर पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं ।

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३९४
(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४६७

हित अनूप जी—वे बदायूं ज़िला के सहसवान नामक स्थान के निवासी थे; किंतु किशोरावस्था में ही अपने घर वालों के साथ वृंदावन आकर बस गये थे। उन्होंने आचार्य कमलनयन जी से मंत्र–दीक्षा ली थी। वे रससिद्ध कवि थे। उनकी एक रचना 'माधुर्य विलास' उपलब्ध है, जिसे गो. ललिताचरण जी ने देखा है। उनके मतानुसार यह राधावल्लभीय साहित्य की एक अनूठी रचना है। इसमें माधुर्य-विलास का नये प्रकार से विवेचन किया गया है। अनूप जी इसके पूर्वार्ध की रचना ही कर सके थे कि उनका देहांत हो गया। बाद में उनके मित्र बंशीधर जी ने उसके उत्तरार्ध की रचना कर सं. १७७४ में ग्रंथ की पूर्ति की थी। किंतु इसका उत्तरार्ध पूर्वार्ध की भाँति महत्त्वपूर्ण नहीं बन पाया है[1]। इसकी रचना दोहा–चौपाई छंदों में हुई है। इस ग्रंथ के आधार पर हित अनूप जी का जन्म–काल सं. १७१० के लगभग और देहावसान–काल सं. १७७० के लगभग माना जा सकता है।

युगलदास जी—उनका पिता नरवरगढ़ का निवासी एक सनाढ्य ब्राह्मण था। वह बाद में वृंदावन आ गया था, और श्री जी के मंदिर की जल–सेवा का कार्य करता था। युगलदास बाल्यावस्था से ही वृंदावन में रहे थे, और उन्होंने गो. कुंजलाल जी से मंत्र–दीक्षा ली थी। वे बचपन में किसी रासमंडली में सखी का स्वरूप बना करते थे; जिससे उन्हें सखी–भाव के प्रति आसक्ति हो गई थी। उन्होंने विवाह नहीं किया, और वे जीवन पर्यन्त सखी–भाव से ही उपासना–भक्ति करते रहे थे। उनका देहावसान सेवा–कुंज में हुआ था[2]।

हरजीमल खत्री—वे दिल्ली निवासी अरोड़ा खत्री थे। बाद में वे मथुरा में रहने लगे थे। उन्होंने गो. कुंजलाल जी से राधावल्लभ संप्रदाय की दीक्षा ली थी। अपने द्रव्य से उन्होंने श्रीजी का शृंगार एवं चाँदी का हिंडोला बनवाया था, और अठखंभा की मरम्मत कराई थी। अंत में वे बरसाना चले गये थे, और वहाँ के विलासगढ़ की एक कुटी में रह कर भक्ति-साधना किया करते थे। उन्होंने वहाँ श्री विलासदास जी की समाधि भी बनवाई थी।

रसिकदास जी—राधावल्लभ संप्रदाय में रसिकदास नामक कई भक्त जन हुए हैं, जिनमें श्री दामोदरवर जी के शिष्य एक रसिकदास का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यह रसिकदास श्री नागरवर जी के प्रपौत्र गो. धीरधर जी के शिष्य थे। श्री धीरधर जी का समय सं. १६७० से सं. १७६० तक का है। प्रायः वही काल रसिकदास जी का ज्ञात होता है, जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओं से भी होती है। उनकी जिन कृतियों में रचना–काल का उल्लेख हुआ है, वे सं. १७४३ से सं. १७५३ तक की हैं। चाचा वृंदावनदास जी ने उनका परिचय देते हुए बतलाया है कि वे भेलसा के निवासी थे। बाद में वे वृंदावन आकर गो. धीरधर जी के शिष्य हुए थे।

रसिकदास जी ने प्रचुर साहित्य–रचना की थी, जिसके कारण उनकी गणना राधावल्लभ संप्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त–कवियों में की जाती है। श्री किशोरीशरण 'अलि' ने उनकी ३१ रचनाओं का नामोल्लेख किया है[3]। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने उनकी २२ रचनाओं के नाम लिखे हैं और

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४७७

(२) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४१६

(३) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ २३

छंद-सख्या सहित उनके विपय का संक्षिप्त परिचय दिया है[1]। उससे ज्ञात होता है कि रसिकदास जी
संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि थे। उन्होंने श्रीराधा—कृष्ण की प्रेम-लीलाओं
का बड़ा विशद वर्णन किया है, जो रीतिकालीन काव्य के सदृश होते हुए भी भक्ति-भावना से ओत-
प्रोत है। उन्होंने शब्दों की तोड़-मरोड़ अधिक की है; फिर भी उसके कारण उनके काव्य-सौष्ठव में
कमी नहीं आई है।

अनन्य अली जी—वे राधावल्लभ संप्रदाय के एक समर्थ भक्त-कवि थे। उन्होंने अपनी
गद्य रचना 'स्वप्न विलास' में १५ स्वप्न-प्रसंगों के माध्यम से अपना जीवन-वृत्तांत स्वयं लिखा है।
उससे ज्ञात होता है कि वे ब्रजमंडल से दूर किसी स्थान के निवासी थे। 'राधावल्लभ भक्तमाल' में
उनका जन्म-स्थान चदोसी और जन्म-काल सं. १७०२ बतलाते हुए उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण लिखा
गया है[2]। किंतु 'स्वप्न विलास' के अंतसाक्ष्य से उनका जन्म—संवत् १७४० सिद्ध होता है। उनके
घर में वणिक-वृत्ति थी, जिससे वे ब्राह्मण की अपेक्षा वैश्य जान पड़ते हैं।

'स्वप्न विलास' के अनुसार उनका पूर्व नाम भगवानदास था। उनका घराना राधावल्लभ
संप्रदाय का अनुयायी था, और उनके ज्येष्ठ भ्राता बड़े विद्वान और रसिक भक्त थे। उन्हें बाल्यावस्था
में ही गो. गोविंदलाल जी से मंत्र-दीक्षा दिलाई गई थी। जिस समय उनकी आयु २० वर्ष की थी,
तभी उनके भाई का देहावसान हो गया था। उस समय उन्हें वृंदावन जाने की प्रेरणा हुई, और वे अपने
गुरु श्री गोविंदलाल जी के साथ सं. १७५९ की ज्येष्ठ कृ. २ को वृंदावन आ गये। जिस समय वे
वृंदावन आये थे, उस समय श्री राधावल्लभ जी का स्वरूप वृंदावन में न होकर कामवन के अजान-
गढ़ में था। वहाँ जाकर ही उन्होंने उनके दर्शन किये थे। उसके उपरांत वे मृत्यु पर्यंत व्रज में ही
रहे थे। उन्होने अविवाहित रह कर विरक्त जीवन व्यतीत किया था। वे जीवन पर्यंत भक्ति-साधना
और वाणी-रचना करते रहे थे। उनका निवास वृंदावन में ध्रुवदास जी की कुटी के समीप था।

उन्होंने विपुल वाणी-साहित्य की रचना की है। 'राधावल्लभ भक्तमाल' में उनकी ६५ और
'राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में उनकी ७६ रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है। डा० विजयेन्द्र
स्नातक ने उनकी ७९ रचनाओं के नाम और पद-संख्या का उल्लेख करते हुए उनके समस्त पदों की
संख्या ६००० के लगभग अनुमानित की है[3]। इससे उनके साहित्य की विशालता का बोध हो
सकता है। उनकी रचना का उद्देश्य श्री राधा—कृष्ण की प्रेम—लीलाओं का विविध भाँति से कथन
करना है, जिसे उन्होंने 'रस' और 'सिद्धात' दोनों के दृष्टिकोण से बड़े विशद रूप में सम्पन्न किया है।
उनकी समस्त रचनाएँ पद्यात्मक हैं; केवल एक 'स्वप्न विलास' गद्यात्मक है। ब्रजभाषा गद्य की
प्राय: ढाई सौ वर्ष पुरानी रचना होने के कारण इसका साहित्यिक महत्व भी है। सांप्रदायिक दृष्टि
से तो उनकी सभी रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं।

अनन्य अली जी की जिन कृतियों में रचना-काल का उल्लेख मिलता है, वे सं. १७५९ से
सं. १७९० तक की हैं। इससे उनका अंत-काल सं. १८०० के लगभग माना जा सकता है। उनका
देहावसान वृंदावन में हुआ था।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ५०१
(२) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४६०
(३) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ४९७

भगवतमुदित जी—वे चैतन्य संप्रदाय के अनुयायी थे; किंतु श्री हित हरिवंश जी में उनकी बड़ी श्रद्धा थी, और राधावल्लभ संप्रदाय की रसोपासना के प्रति वे अत्यंत आस्थावान थे। उन्होंने श्री प्रबोधानंद जी कृत 'वृंदावन शतक' की ब्रजभाषा टीका की है। उसके अंत में अपना परिचय देते हुए उन्होंने बतलाया है, वे आगरा निवासी भक्तवर माधवमुदित जी के पुत्र और वृंदावनस्थ ठाकुर श्री गोविंददेव जी के सेवाधिकारी हरिदास जी के शिष्य थे। प्रियादास कृत भक्तमाल-टीका में उन्हें आगरा के सूबेदार शुजाउलमुल्क का दीवान बतलाया गया है। इस प्रकार अपने आरंभिक जीवन में वे उच्च पदस्थ राजकीय कर्मचारी थे; किंतु तभी से वे साधु-संतों और ब्रजवासी भक्तों की धनादि से उदारता पूर्वक सेवा किया करते थे। वे उच्च कोटि के महात्मा, रसिक भक्त और सुकवि थे। उनकी रचनाओं के आधार पर उनका जन्म-काल सं. १६५० के लगभग अनुमानित होता है, और वे प्राय: सं. १७२० तक विद्यमान जान पड़ते हैं[1]।

वे 'रसिक अनन्यमाल' नामक सुप्रसिद्ध चरित-ग्रंथ के रचयिता थे। उक्त रचना से पहिले नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और ध्रुवदास जी कृत 'भक्त-नामावली' में अन्य भक्त जनों के साथ ही साथ कुछ राधावल्लभीय भक्तों का भी संक्षिप्त वृत्तांत लिखा गया था। किंतु भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' में केवल राधावल्लभीय भक्तों का ही उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह इस संप्रदाय के भक्तों का सर्वप्रथम चरित्र-ग्रंथ है। इसमें राधावल्लभ संप्रदाय के ३६ विशिष्ट भक्तों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो पर्याप्त खोजपूर्ण भी है। इसकी रचना सं. १७१४ के कुछ समय पश्चात् और सं. १७२० से पहिले होने का अनुमान है[2]। भगवतमुदित जी से प्रेरणा प्राप्त कर राधावल्लभीय भक्तों ने जो अपने संप्रदाय से संबंधित चरित-ग्रंथों की रचना आरंभ की थी। ऐसे भक्तों में उत्तमदास जी का नाम सबसे पहिले आता है।

उत्तमदास जी—वे श्री कमलनयन जी के कनिष्ट भ्राता श्री कुंजलाल जी के शिष्य थे। उनका महत्त्व उनकी विशिष्ट रचना 'अनन्यमाल' के कारण है। ऐसा जान पड़ता है, इसकी प्रेरणा उन्हें भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' से हुई थी। भगवतमुदित जी की कृति में राधावल्लभ संप्रदाय के प्रसिद्ध भक्तों का चरित्र तो है; किंतु इसमें इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हित हरिवंश जी का जीवन-वृत्त नहीं है। उस अभाव की पूर्ति का प्रारंभिक प्रयास उत्तमदास जी ने किया था। उन्होंने 'अनन्यमाल' की रचना कर उसमें सर्व प्रथम श्री हित हरिवंश जी के जीवन-वृत्तांत को लिखा है; फिर उनके प्रधान शिष्यों का संक्षिप्त वर्णन कर भगवतमुदित जी द्वारा उल्लिखित भक्तों की नामावली दी है। इस प्रकार इसका आरंभिक भाग तो भगवतमुदित जी के ग्रंथ का पूरक है; किंतु इसका शेषांश उसकी अनुक्रमणिका मात्र है।

इस ग्रंथ की रचना होने पर उस काल के लिपिक इसे भगवतमुदित जी रचित 'रसिक अनन्यमाल' के आरंभ में लिखने लगे थे। उससे उनकी हस्त प्रतियाँ राधावल्लभीय भक्त जनों के पठन-पाठन के लिए बड़ी उपयोगी हो गई थीं; किंतु उनसे यह भ्रांति भी होने लगी कि श्री हरिवंश-चरित्र की रचना भी भगवतमुदित जी ने ही की है। उत्तमदास जी की रचना के स्वरूप और उसके 'अनन्यमाल' नाम से उस प्रकार की भ्रांति होना स्वाभाविक था। उसका यह परिणाम हुआ

(१) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ २०७—२०८

(२) रसिक अनन्यमाल की प्रस्तावना, पृष्ठ २२

कि हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उत्तमदास जी का नाम नहीं मिलता है, और उनकी उस महत्त्वपूर्ण रचना का श्रेय भगवतमुदित जी को दिया गया है। कुछ शोधक विद्वानों द्वारा अब यही उस भ्रम का निवारण हो सका है; किंतु उसके अनुसार इतिहास का संशोधन नहीं हुआ है।

उत्तमदास जी ने श्री हित हरिवंश जी के जीवन-वृत्त की उन घटनाओं का कथन किया है, जो तत्कालीन भक्त जनों में परंपरा से प्रचलित थी। इनका उल्लेख उन्होंने 'अनन्यमाल' के आरंभ में ही कर दिया है। इस प्रकार इसे हित हरिवंश जी के जीवन-वृत्त का सर्व प्रथम प्रामाणिक संकलन माना जा सकता है। इसमें हित जी के जन्म, देववन-निवास, सेवा-स्थापन और वृंदावन-वास का उल्लेख हुआ है। यद्यपि यह वर्णन संक्षिप्त ही है, तथापि इसका बड़ा महत्त्व है। गोस्वामी ललिताचरण जी के अनुमान के अनुसार 'अनन्यमाल' की रचना सं. १७४०-४५ के लगभग हुई थी[1]।

कमलनयन जी के परवर्ती 'विंदु' और 'नाद' परिवारों के कुछ महानुभाव—

श्री ब्रजलाल जी—वे श्री कमलनयन जी के पश्चात् राम वंश की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका जन्म सं. १७१५ के लगभग हुआ और वे सं. १७५४ के लगभग आचार्य-गद्दी पर विराजे थे। वे बड़े भक्त और विद्वान धर्माचार्य थे। प्रेमोपासना और मानसी सेवा में वे सदैव लीन रहा करते थे। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में ग्रंथ-रचना की है। उनके संस्कृत ग्रंथ मन प्रबोध, सेवा विचार, हृदराम काव्य, प्रबोध चंद्रोदय नाटक और प्रेमचंद्रोदय नाटक बतलाये जाते हैं। उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ अष्टयाम और वर्षोत्सव पदावली हैं। उनके दो पुत्र और अनेक शिष्य थे। पुत्रों के नाम सर्वश्री अनूपलाल जी और सुंदरलाल जी थे।

श्री सुखलाल जी—वे श्री विलासदास जी के पौत्र तथा श्री श्यामलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र थे और अपने पिता के पश्चात् विलास वंश की गद्दी के आचार्य हुए थे। वे श्री ब्रजलाल जी के समकालीन और उन्हीं के समान प्रसिद्ध धर्माचार्य थे। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों का अच्छा अध्ययन किया था और दोनों में रचना की थी। 'हरिवंशाष्टक' की उन्होंने संस्कृत में और 'हित चौरासी' की ब्रजभाषा में टीका की थी। उनके अतिरिक्त उनकी भावामृत, रास पंचाध्यायी और पदावली आदि रचनाएँ भी हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री नवनीतलाल जी थे, जो उनके पश्चात् उनकी गद्दी के आचार्य हुए थे। उनके अनेक शिष्य थे।

श्री उदयलाल जी—वे सर्वश्री ब्रजलाल जी और सुखलाल जी के कुटुंबी और उनके समकालीन गोस्वामी थे। उनका जन्म श्री हित हरिवंश जी के कनिष्ट पुत्र श्री ब्रजभूषण जी के वंश में हुआ था। उनका जन्म-काल सं. १७०० के लगभग है। वे भी उस काल के एक विद्वान धर्माचार्य थे।

श्री हरिलाल जी—वे गो. श्री कुंजलाल जी के छोटे पुत्र और आचार्य ब्रजलाल जी के चचेरे भाई थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता राधालाल जी थे। श्री हरिलाल जी का उपस्थिति-काल अनुमानतः सं. १७१७ से सं. १७८० तक है। वे परम भक्त, सुंदर वाणीकार और बड़े योग्य धर्माचार्य थे। यद्यपि उनका संबंध रामवंश और विलासवंश के अधिकार प्राप्त एवं गद्दीस्थ ज्येष्ठ घरों से नहीं था; तथापि उनकी प्रसिद्धि उक्त घरानों के अधिकारी आचार्यों से किसी प्रकार कम नहीं थी। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध गो. रूपलाल जी थे। उनके समय से तो उनका घराना ही राधा-वल्लभीय गोस्वामियों के सभी घरों में प्रमुख हो गया था।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २४

शिष्य समुदाय—पूर्वोक्त आचार्यों और गोस्वामियों के बहुसंख्यक शिष्य थे, जिनमें से अनेक बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। आचार्य ब्रजलाल जी के शिष्यों में भोरी अली जी, नवल सखी जी और चतुर सखी जी के नाम उल्लेखनीय हैं। आचार्य सुखलाल जी के शिष्यो में रसिक गोपाल जी और साहिबलाल जी की प्रसिद्धि है। श्री हरिलाल जी के शिष्यों में स्वामी बालकृष्ण जी, बालकृष्ण-तुलाराम जी, दया सखी जी, जगन्नाथ जी बरसानिया और प्रशिष्यों में चंदसखी जी बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। राधावल्लभीय साहित्य में उन सब का उल्लेख मिलता है। उन प्रसिद्ध भक्तों के अतिरिक्त 'हित कुल शाखा' के रचयिता जयकृष्ण जी भी उसी काल में हुए थे। यहाँ पर उन सब का संक्षिप्त परिचय लिखा जाता है।

भोरी अलि जी—उनका मूल नाम भगवतीप्रसाद था। वे अमृतसर के निवासी थे और आरंभ से ही अच्छे वादक एवं ख्याल के गायक रहे थे। वे अपने मामा से मिलने ब्रज में आये थे, और यहाँ पर श्री ब्रजलाल जी के शिष्य हो गये थे। उन्होने इनका नाम भोरी सखी रखा था। वे वृंदाबन और बरसाना में रहने के उपरांत श्री हित जी के जन्म-स्थान बाद गाँव में रहने लगे थे। वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। उनके रचे हुए पद 'भोरी अलि' के नाम से उपलब्ध हैं।

नवल सखी जी—वे ब्रज के करहला गाँव के निवासी एक सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका मूल नाम नवलकिशोर था। श्री ब्रजलाल जी से मंत्र-दीक्षा लेकर वे नवल सखी कहलाने लगे थे। उन्हें रास से बड़ा प्रेम था, और वे स्वयं भी श्री जी के मंदिर में नृत्य किया करते थे। उनका निवास सेवाकुंज के समीप था। अंतिम दिनों में वे बरसाना चले गये थे। वहाँ उनका निवास श्री नागरीदास जी की मोरकुटी और गहवर वन की लता-कुंजों में रहा था। उनके रचे हुए कुछ पद मिलते हैं।

चतुर सखी जी—वे हरियाना में जगाधरी के निकट धर्मपुरा के एक सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका पूर्व नाम चतुरलाल था। एक बार जगन्नाथ जी जाते हुए वे वृंदावन में ठहरे हुए थे। वहाँ रात्रि में उन्हें रासलीला देखने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उसके रस में ऐसे विभोर हुए कि तीर्थ-यात्रा का विचार छोड़ कर ब्रज-वास करने लगे। उन्होंने श्री ब्रजलाल जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। उन्होंने चतुर सखी के नाम से अनेक पदों की रचना की है। उनकी कुंज होडल में है, जो 'चतुर सखी की कुंज' कहलाती है[1]।

रसिकगोपाल जी—वे ब्रज के किसी गाँव मे रहने वाले एक क्षत्रिय थे। पूर्व संस्कार वश उनके हृदय में भक्ति-भावना का उदय हुआ और वे वृंदावन आ कर आचार्य सुखलाल जी के शिष्य हो गये थे। उमके उपरांत वे वृंदावन, नंदगाँव, बरसाना आदि लीला-स्थलों में प्रेमोन्मत्त होकर घूमा करते थे और ब्रजवासियों के घरों से माँगी हुई मधूकरी से अपना जीवन-यापन करते थे। उन्होंने पद-रचना भी की है।

साहिवलाल जी—वे दिल्ली निवासी अग्रवाल वैश्य थे और आरंभ से ही बड़े धार्मिक एवं भगवद्भक्त रहे थे। वहाँ के मुसलमान उनकी भक्ति-भावना में प्रायः विघ्न उपस्थित कर देते थे। उसके कारण वे दिल्ली छोड़ कर वृंदावन आ गये और गो. सुखलाल जी के शिष्य हो गये। उन्होंने अपना शेष जीवन भक्ति-भावना पूर्वक ब्रज में ही बिताया था। वे बड़े चमत्कारी महात्मा थे[2]।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४२५, ४२६, ४२८

(२) वही ,, , पृष्ठ ४६२-४६४

स्वामी बालकृष्ण जी—उत्तरी भारत के विख्यात लोक-कवि चंदसखी जी की रचनाओं मे उल्लिखित 'चंदसखी भज बालकृष्ण छवि' के कारण 'बालकृष्ण' नाम की जितनी प्रसिद्धि हुई है, उनके परिचय के संबंध में उतनी ही भ्रांति भी है। साधारणतया मीराबाई जी के इष्ट देव 'गिरिधर गोपाल' की भाँति 'बालकृष्ण' को भी चंदसखी जी का आराध्य ठाकुर माना जाता है। लोक मे व्याप्त इस भ्रम का अंशतः निवारण 'राधावल्लभ भक्तमाल' में किया गया है। उसमें लिखा है,—चंदसखी जी के पदों में उनकी नाम-छाप के साथ जिन 'बालकृष्ण' का उल्लेख हुआ है, वे हित कुल के 'गोस्वामी बालकृष्ण लाल जी' थे। उन्होंने गृहस्थाश्रम का अधिक पालन नहीं किया और गृह का परित्याग कर वे रासमंडल स्थित राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़ा पर निवास करने लगे थे। वे स्वयं नागा हुए थे और उन्होंने नागाओं की जमात के साथ देशाटन करते हुए हित-धर्म का बड़ा प्रचार किया था। चंदसखी जी उनके ही शिष्य थे[1]।

हमने चंदसखी जी के संबंध में व्यापक अनुसंधान कर 'राधावल्लभ भक्तमाल' के उक्त कथन का संशोधन किया और बालकृष्ण जी एवं चंदसखी जी के यथार्थ जीवन-वृत्त पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला था। हमने सिद्ध किया कि बालकृष्ण जी हित-कुलोत्पन्न 'गोस्वामी बालकृष्ण लाल जी' नहीं थे, बल्कि नाद कुल के एक विरक्त महात्मा 'स्वामी बालकृष्ण जी' थे[2]। चाचा वृंदावनदास जी ने उनका परिचय देते हुए बतलाया है, बालकृष्ण स्वामी एक रसिक भक्त और विरक्त साधु थे। उन्होंने गो. हरिलाल जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। वे रासमंडल पर निवास करते थे, और उन्होंने रासमंडली के साथ देशाटन करते हुए राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था[3]। वे आचार्य ब्रजलाल जी, आचार्य सुखलाल जी और गो. उदयलाल जी के समकालीन थे।

बालकृष्ण-तुलाराम जी— 'राधावल्लभ भक्तमाल' में जहाँ स्वामी बालकृष्ण जी का भ्रमात्मक कथन हुआ है, वहाँ बालकृष्ण-तुलाराम जी का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उसमें एक तुलाराम पंडित का संक्षिप्त परिचय मिलता है। उसके अनुसार वे तुलाराम जी गौड़ ब्राह्मण थे, और उन्होंने आचार्य सुखलाल जी से मंत्र-दीक्षा ली थी[4]। चाचा वृंदावनदास जी ने बालकृष्ण-तुलाराम जी को शमशेर नगर के निवासी और गो. हरिलाल जी के शिष्य बतलाया है। उन्होंने कहा है, वे जीवन पर्यंत युगल-केलि का सुखानुभव करने वाले भजनानंदी महात्मा थे। वे रास के बड़े प्रेमी एवं प्रचारक थे और उन्होंने श्री हरिवंश जी के यश का गायन किया है[5]।

चाचा जी के पूर्वोक्त कथन से यह स्पष्ट नहीं होता है कि बालकृष्ण-तुलाराम जी एक ही महात्मा थे, अथवा दो। उन्होंने बसंत संबंधी 'प्रबंध' में स्वामी तुलाराम का पृथक् कथन किया है[6]। उससे ऐसा अनुमान होता है, कदाचित बालकृष्ण जी और तुलाराम जी दो महात्मा थे। श्री किशोरी शरण 'अलि' ने उन दोनों के सगे भाई होने की संभावना व्यक्त की है। उनका अनुमान है, उनमें से

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १६०-१६१

(२) देखिये हमारे ग्रंथ, १. चंदसखी के भजन और लोक गीत, २. चंदसखी की जीवनी और पदावली तथा ३. चंदसखी का जीवन और साहित्य।

(३) बसंत संबंधी 'चतुर्थ प्रबंध', पद सं. ५१ और 'रसिक अनन्य परिचावली' छप्पय सं. १८१

(४) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४६८

(५) रसिक अनन्य परिचावली, छप्पय सं. १९८

(६) चतुर्थ प्रबंध, सं. ५२४

एक 'बालकृष्ण' पूर्वोक्त स्वामी बालकृष्ण जी थे और 'तुलाराम' बावरी सखी उपनाम के भक्त जन थे[1]। यह संभव है, वे एक के बजाय दो महात्मा हों और कदाचित सगे भाई भी हों; किंतु उनमें से बालकृष्ण को पूर्वोक्त स्वामी बालकृष्ण से और तुलाराम को बावरी सखी से मिलाना ठीक नहीं मालूम होता है। कारण यह है, यदि बालकृष्ण और स्वामी बालकृष्ण एक ही होते, तो चाचा वृंदावनदास जी उनका दो छंदों में पृथक्-पृथक् कथन न करते। बावरी सखी जी का नाम आचार्य कमलनयन जी के शिष्यों में मिलता है, जब कि यह तुलाराम हरिलाल जी के शिष्य बतलाये गये हैं।

दयासखी जी—'राधावल्लभ भक्तमाल' के अनुसार वे पटियाला के निकटवर्ती किसी गाँव के निवासी एक जाट थे। उनका नाम दयाराम था। भगवत्-कृपा से उन्हें एक बार वृंदावन आने का सुयोग मिला था। यहाँ आने पर वे श्री हरिलाल जी का उपदेश सुन कर उनके शिष्य हो गये थे। उसके उपरांत वे वृंदावन में ही रहने लगे और उन्होंने अपना शेष जीवन भगवद्भक्ति एवं गुरु-सेवा में लगा दिया था। वे सखी भाव और मानसी सेवा में अहर्निश मग्न रहते थे। श्री हरिलाल जी के सत्संग से वे पद-रचना भी करने लगे थे। उनकी पदावली उपलब्ध है, जिसमें उनकी नाम-छाप 'दयासखी' मिलती है।

जगन्नाथ बरसानिया—वे व्रज के लीला-स्थल बरसाना के निवासी लावणिया बौहरे थे। गो. हरिलाल जी बरसाना में चातुर्मास्य किया करते थे। वहीं पर जगन्नाथ जी ने उनसे मंत्र-दीक्षा ली थी। वे बड़े भजनानंदी भक्त थे। उन्होंने बरसाना में राधावल्लभीय मंदिर भी बनवाया था[2]।

चंदसखी जी—उनके संबंध में बड़ा अज्ञान और भ्रम रहा है। उनका निश्चित जीवन-वृत्त प्रायः अज्ञात था और उनके व्यक्तित्व के संबंध में यह सामान्य धारणा थी कि वे मीराबाई की भाँति कोई भक्त-कवयित्री थीं। हमने तत्संबंधी अनुसंधान कर जो प्रचुर सामग्री उपलब्ध की, उसकी समीक्षा करने के अनंतर उनके जीवन-वृत्तांत की रूप-रेखा भी प्रस्तुत की थी। यद्यपि उसे अभी पूरी तरह प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, तथापि उससे चंदसखी जी के जीवन का कुछ स्पष्ट सा चित्र बन गया है। उससे ज्ञात होता है कि चंदसखी कोई महिला कवयित्री न होकर पुरुष कवि थे। वे भक्ति-मार्ग को ग्रहण करने के उपरांत सखी-भाव की उपासना करने लगे थे, जिसके कारण उनकी प्रसिद्धि सखी वाची उपनाम से हो गई थी[3]।

वे सुप्रसिद्ध भक्त-कवि श्री हरिराम जी व्यास के वंशज श्री गोपीकांत के तीसरे पुत्र थे। उनका नाम चंद्र था और उनके सबसे बड़े भाई का नाम विजय था। बाद में वे चंदसखी के नाम से और उनके भाई विजयसखी के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनका जन्म सं. १७०० के लगभग ओरछा में हुआ था। अपने आरंभिक जीवन में वे ओरछा के निकटवर्ती मोठ थाना के थानेदार थे। पूर्व संस्कार और घर की परंपरा के कारण आरंभ से ही उनके हृदय में भक्ति-भावना का अंकुर विद्यमान था, जो समय आने पर पल्लवित और पुष्पित होने लगा। फलतः वे अपने जन्म-स्थान, कुटुंब-परिवार और राजकीय पद को छोड़ कर विरक्त भाव से वृंदावन चले गये। वहाँ पर राधावल्लभ संप्रदाय के विरक्त महात्मा बालकृष्ण स्वामी से दीक्षा लेकर वृंदावन-वास

---

(१) रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परंपरा (व्रजभारती, मार्गशीर्ष सं. २०१६)

(२) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४४१ और ४२१

(३) देखिये, हमारे चंदसखी संबंधी विविध लेख और ग्रंथ

करने लगे । वे भक्ति संबंधी पदों की रचना में प्रवृत्त हुए, और उनमें उन्होंने अपने नाम की छाप के साथ अपने गुरु बालकृष्ण का नाम भी दिया । राधावल्लभीय गोस्वामियों में उनकी श्रद्धा उदयलाल जी और अपने परम गुरु श्री हरिलाल के प्रति अधिक थी, अतः कतिपय पदों में उन्होंने उन दोनों का नाम भी दिया है । उन दिनों राधावल्लभ संप्रदाय के प्रचारार्थ अनेक उत्साही भक्त जन देशाटन किया करते थे । बालकृष्ण स्वामी स्वयं रास मंडली के साथ भ्रमण करते हुए प्रचार करते थे । उन्होंने चंदसखी को भी धर्म–प्रचार करने का आदेश दिया था । निदान वे राधावल्लभ संप्रदाय की भक्त–मंडली के साथ देशाटन करने को चल दिये । उन्होने राजस्थान, बुंदेलखंड, मालवा आदि के अनेक राज्यों में भ्रमण कर भक्ति–भावना का व्यापक प्रचार किया था । उन यात्राओं में उन्होंने रास का प्रचार किया और उसमें गायन करने के लिए भक्तिपूर्ण पदों के अतिरिक्त अनेक भजनों एवं लोक-गीतों की भी रचना की । उनके साथ की भक्त–मंडली उन भजनों और लोक–गीतों के गायन द्वारा जनता में भक्ति का संचार करती थीं । उनके रचे हुए भजन और गीत इतने लोकप्रिय हुए कि वे जन–साधारण में बड़ी रुचि पूर्वक गाये जाने लगे । उनकी भक्ति–भावना और सरस रचनाओं की ओर जन साधारण के साथ ही साथ अनेक राजा गण भी आकर्षित हुए थे । उन्होंने वृंदावन के केशीघाट पर एक विशाल कुंज बनवाई थी, जो उनके नाम से 'चंदसखी की कुंज' कहलाती है । उनका एक मंदिर ओरछा मे भी है ।

जिस समय आमेर–नरेश जयसिंह के कारण राधावल्लभीय भक्त जनों को वृंदावन छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था, उस समय चंदसखी जी भी अपनी अत्यंत वृद्धावस्था में वृंदावन से ओरछा चले गये थे । वहाँ का तत्कालीन राजा उदोतसिंह उनका परम भक्त था । उसने आग्रह पूर्वक उन्हें अपने यहाँ रखा था और उनके आदर–सत्कार तथा सेवा-सुश्रुषा की समुचित व्यवस्था की थी । ऐसा अनुमान होता है, चंदसखी जी सं. १७८२ के लगभग ओरछा जा कर रहे थे । उन्होंने वहाँ ७–८ वर्ष तक निवास किया था । अंत में सं. १७९० के लगभग अपनी ९० वर्ष की आयु में, आषाढ़ शु. ११ को उनका देहावसान संभवतः उसी स्थान में हुआ था ।

चंदसखी जी के अनेक शिष्य थे । उनमें रसिकदास उपनाम रसिकसखी प्रमुख थे, जो बाद में उनके उत्तराधिकारी हुए थे । उनके शिष्यों के भी अनेक शिष्य थे । उनमें रसिकसखी के शिष्य वल्लभसखी का नाम उल्लेखनीय हैं । उन शिष्य–प्रशिष्यों के कारण चंदसखी का पूरा थोक ही बन गया था, जो राधावल्लभीय विरक्त भक्तों में अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है । चंदसखी के शिष्य–प्रशिष्यों ने भक्ति संबंधी अनेक पदों की भी रचना है, जिनसे राधावल्लभीय साहित्य की समृद्धि में समुचित योग मिला है । जब वैष्णव–अवैष्णव संघर्ष के फलस्वरूप वैष्णवों के अनी–अखाड़ों का निर्माण हुआ, तब राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़े में चंदसखी के थोक का महत्वपूर्ण स्थान निश्चित किया गया था । इस अखाड़े की एक बैठक वृंदावन में और दूसरी जयपुर राज्यांतर्गत 'नीम के थाना' में है । चंदसखी के थोक के नागाओ ने वैष्णव धर्म की रक्षा करने में प्रशंसनीय कार्य किया है[1]।

जयकृष्ण जी—उनके नाम की प्रसिद्धि उनकी रचना 'हित कुल शाखा' के कारण है । यद्यपि यह बड़ा ग्रंथ नही है; तथापि इसमें श्री हरिवंश जी के चरित्र और उनके कुल का क्रमबद्ध कथन होने से इसका सांप्रदायिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बड़ा है । इसमें हित जी के पुत्रों की निश्चित जन्म–तिथियाँ, हित जी के वृंदावन-वास की निश्चित अवधि और उनके देहावसान का

(१) लेखक कृत 'चंदसखी का जीवन और साहित्य', पृष्ठ २३–३६

निश्चित काल आदि बातें सर्व प्रथम स्पष्ट रूप से लिखी गई हैं। इस ग्रंथ की पूर्ति सं. १७६० की कार्तिक शु. १३ को मथुरा में हुई थी। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ समय प्रबंध, वृंदावन वर्णन और पदावली भी हैं। इनसे ज्ञात होता है, इनके रचयिता जयकृष्ण जी सर्वश्री गो. व्रजलालजी, सुखलाल जी और हरिलाल जी आदि के समकालीन थे।

श्री रूपलाल जी (सं. १७३८ – सं. १८०१)—

जीवन-वृत्तांत—श्री रूपलाल जी गो. हरिलाल जी के छोटे पुत्र थे। उनका जन्म सं. १७३८ की वैशाख कृ. ७ को वृंदावन में हुआ था। राधावल्लभीय सर्वाधिक प्रसिद्ध गोस्वामियों में वे अन्यतम थे। उनके सुविख्यात शिष्य चाचा वृंदावनदास ने उनका विस्तृत जीवन-वृत्तांत अपनी रचना 'हित रूप चरित्र वेली' में लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि वे जन्मजात कवि, रसिक भक्त, प्रगाढ़ विद्वान और राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यताओं पर अविचल रहने वाले दृढ़ निश्चयी धर्माचार्य थे। अपनी सुदृढ़ मान्यताओं के परिपालन और राधावल्लभ संप्रदाय के गौरव की रक्षा के लिए उन्हें अपने काल के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्याधिकारी सवाई राजा जयसिंह से बड़ा संघर्ष करना पड़ा था। उसके कारण उन्हें वृंदावन से निष्कासित होकर प्राय: २० वर्ष तक विभिन्न स्थानों में भटकना पड़ा था; किंतु वे अपनी टेक से लेश मात्र भी नहीं डिगे थे! उनका देहावसान सं. १८०१ में हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे और उन्होंने बहुसंख्यक ग्रंथों की रचना की थी।

ग्रंथ-रचना—'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में श्री रूपलाल जी की ८३ रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है। उनमें सर्वस्व सिद्धांत भाषा सार, आचार्य गुरु सिद्धांत, सिद्धांत के पद, समय प्रबंध, विजय चौरासी नामक दो पद-संग्रह, श्री हित प्राकट्य, वर्षोत्सव, रस रत्नाकर, सांझी, सर्व तत्व सिद्धांत, श्री राधावल्लभीय संप्रदाय निर्णय, प्रेम वैचित्री लीला, वन लीला, निकुंज केलि लीला और पंचाध्यायी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उक्त रचनाओं से ज्ञात होता है कि श्री रूपलाल जी के काल में राधावल्लभ संप्रदाय में मान्य निकुंज-लीला की अनन्य निष्ठा के साथ ही साथ व्रजलीला की भावना भी प्रचलित हो गई थी। इसका एक अच्छा उदाहरण उनकी 'सांझी' नामक रचना है। उनके सुयोग्य शिष्य चाचा वृंदावनदास की रचनाओं में उक्त भावना का अधिक विकास दिखलाई देता है। रूपलाल जी की भाषा सरल और शब्दावली सुंदर है। उनकी रचनाओं द्वारा 'रस' और 'सिद्धांत' दोनों का समुचित संवर्धन हुआ है।

कुटुंब-परिवार—श्री रूपलाल जी के बड़े भाई श्री मुकुंदलाल जी थे। वे रूपलाल जी के बाद तक जीवित रहे थे और उनका निधन उस क़त्ले-आम में हुआ था, जो अहमदशाह अब्दाली के वृंदावन-आक्रमण काल में उसके क्रूर सैनिकों द्वारा किया गया था। उसमें वृंदावन के अनेक सुप्रसिद्ध भक्त जन मारे गये थे! रूपलाल जी के पुत्र किशोरीलाल जी थे। वे अपने पिता की भाँति ही यशस्वी हुए थे। उनके कुटुंबियों में रासवंश के ज्येष्ठ घराने में अनूपलाल जी और सुंदरलाल जी तथा विलासवंश में नवनीतलाल जी थे। श्री व्रजभूषण जी के सुयोग्य वंशज गो. उदयलाल जी के चचेरे भाई जतनलाल जी और गुलाबलाल जी थे। जतनलाल जी की प्रसिद्ध रचना 'रसिक अनन्य सार' है, जो जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' के बाद की चरित्रात्मक कृति है। वे सब गोस्वामी गण श्री रूपलाल जी के समकालीन थे। उनमें गुलाबलाल जी ने सवाई राजा जयसिंह से संघर्ष करने में श्री रूपलाल जी को सहयोग दिया था, और अपनी विद्वत्ता तथा सांप्रदायिक निष्ठा के लिए उस काल में अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। यहाँ पर उनकी देन का कुछ उल्लेख किया जाता है।

श्री गुलाबलाल जी—वे श्री हित हरिवंश जी के पौत्र श्री व्रजभूषण जी की चौथी पीढ़ी में हुए थे। श्री गिरिधर लाल जी के वे पुत्र थे, और जतनलाल जी के छोटे भाई थे। राधावल्लभ संप्रदाय के तत्कालीन गोस्वामियों में सांप्रदायिक निष्ठा और साहित्य-रचना की दृष्टि से श्री रूपलाल के पश्चात् उनका स्थान है। महाराज जयसिंह से संघर्ष करने के कारण उन्हें भी वृंदावन छोड़ कर इटावा आदि स्थानों में भटकना पड़ा था। उनके दो पुत्र थे,—भक्तिलाल जी और नित्यलाल जी। उनके महत्त्व का कारण उनकी रचनाएँ भी हैं।

ग्रंथ-रचना—'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में श्री गुलाबलाल जी की ३७ रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है। उनमें से अनन्य सभा मंडल, गुरु प्रताप, यमुना प्रताप, वृंदावन प्रताप, गुरु प्रणाली, लाड़िली वर्णन, श्याम वर्णन, जुगल वर्णन, वर्षोत्सव, चौबीस पत्री, पत्री सेवकन कूँ, सनेह सिद्धांत, सिद्धांत सुख, पंचाध्यायी, हिंडोला, इतिहास नारद कौ, इतिहास वेदन कौ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ जहाँ 'रस' और 'सिद्धांत' से संबंधित हैं, वहाँ पत्र-साहित्य और इतिहास विषयक भी हैं। इनमें 'चौबीस पत्री' और 'पत्री सेवकन कूँ' नामक रचनाएँ राधा-वल्लभीय पत्र-साहित्य की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। गुरु प्रणाली, इतिहास नारद कौ और इतिहास वेदन कौ नामक रचनाएँ इतिहासपरक हैं।

सवाई राजा जयसिंह से संघर्ष—श्री रूपलाल जी के काल की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना उनका आमेर के सवाई राजा जयसिंह से संघर्ष करना है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सं. १७७७ से प्रायः सं. १८०० तक वृंदावन सहित समस्त व्रज प्रदेश, राजा जयसिंह के प्रशासन और प्रभाव-क्षेत्र में रहा था। उक्त राजा स्मार्त्त हिंदू धर्म का सुदृढ़ समर्थक, वेद-शास्त्र के विधि-विधानों का परम पोषक और प्राचीन परंपराओं का प्रबल पक्षपाती था। वह वैष्णव धर्म के परंपरागत चतुः संप्रदायों के अतिरिक्त उस काल के नये भक्ति-संप्रदायों के स्वतंत्र अस्तित्त्व को, और विशेषतया प्राचीन मान्यताओं के प्रति उनकी क्रांतिकारी भावना को, हिंदू-हित के लिए हानि-कर समझता था। राधावल्लभ संप्रदाय में वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों की मर्यादाओं का कोई बंधन नहीं है; और संध्या, तर्पण, तीर्थ, व्रत, श्राद्धादि के साथ ही साथ शास्त्रोक्त विधि-निषेधों की भी इसमें अवज्ञा की गई है। राजा जयसिंह के लिए वे सब बातें सहन करना संभव नहीं था। फलतः उसने राधावल्लभियों को आदेश दिया कि वे या तो चतुः संप्रदायों में से किसी एक के साथ अपने को संबद्ध करें; या परंपरा-विरोधी अपनी मान्यताओं की प्रामाणिकता सिद्ध करें। इसके निमित्त सं. १७८० में आयोजित एक धर्म-संमेलन में उपस्थित होने के लिए उन्हें अपने प्रतिनिधि भेजने को भी कहा गया।

उस काल में गो. रूपलाल जी राधावल्लभ संप्रदाय में सर्वाधिक वरिष्ठ विद्वान और सर्वमान्य प्रवक्ता माने जाते थे; अतः उनसे ही उस संबंध में आवश्यक कार्यवाही करने को कहा गया था। उन्होंने निर्भय होकर राजा से कहला भेजा कि वे अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं में से किसी को किसी भी दशा में छोड़ने को तैयार नहीं हैं। वे न तो चतुः संप्रदायों में से किसी के साथ संबद्ध होना चाहते हैं, और न अपनी मान्यताओं की प्रामाणिकता सिद्ध करने को धर्म-संमेलन में उपस्थित होना ही आवश्यक समझते हैं। रूपलाल जी के उक्त उत्तर से राजा का रुष्ट होना स्वाभाविक था। उसने उनके और उनके जैसे विचार रखने वाले अन्य राधावल्लभियों के विरुद्ध कठोर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के लिए अपने कर्मचारियों को भेज दिया! उस संकट से बचने के लिए कुछ भक्त जनों ने राजा से समझौता कर लिया था; किंतु गो. रूपलाल जी और 'बिंदु' तथा 'नाद' परिवारों के

कुछ विशिष्ट महानुभाव अपनी टेक पर अडिग बने रहे। फलतः वे अपने कुटुंब और परिकर के साथ वृंदावन छोड़ने को बाध्य हुए थे। श्री रूपलाल जी के अतिरिक्त जिन अन्य महानुभावों ने उस काल में वृंदावन से निष्कासन किया था, उनमें 'बिंदु' परिवार के गोस्वामी गुलाबलाल जी और 'नाद' परिवार के श्री चंदसखी जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री गुलाबलाल जी तब इटावा चले गये थे, और चंदसखी जी ओरछा के राजा उदोतसिंह के संरक्षण में रहे थे।

श्री रूपलाल जी को अपने निष्कासन-काल में जो कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी थी, उनका कुछ उल्लेख चाचा वृंदावनदास कृत 'हित रूप चरित्र वेली' (रचना-काल सं. १८२०) में किया गया है। उसमें लिखा है, सं. १७८० के लगते ही राजा जयसिंह ने जो संकट उपस्थित किया, उसके कारण श्री रूपलाल जी अपने कुटुंब सहित वृंदावन छोड़ने को विवश हुए थे। वे गुप्त रूप से कई स्थानों में घूमते हुए इंद्रप्रस्थ (दिल्ली) पहुँचे, और वहाँ अपने कुटुंब के साथ रहने लगे। किंतु राजा ने अपनी हठ के कारण वहाँ भी उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया ! उसके दूत बराबर उनका पीछा करते रहे। उन्होंने साम-दाम-भेद द्वारा उन्हें राजा के मतानुकूल बनाने की बड़ी चेष्टा की थी; किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। तब राजा ने उन्हें दंड देने के लिए अपने सैनिक भेजे; किंतु प्रभु की कृपा से उनका बाल भी बांका नहीं हुआ[1] !

सं. १७९४ में उनकी वृद्धा माता कृष्णकुँवरि जी इंद्रप्रस्थ में बड़ी बीमार हो गई थीं। जब उनकी दशा बहुत बिगड़ गई, तब कुटुंब-परिवार के सभी व्यक्ति उनके निकट बैठ गये थे। उस समय रूपलाल जी के ज्येष्ठ भ्राता श्री मुकुंदलाल जी ने उनसे क्षुब्ध होकर कहा,—'तुमने राजा से बिगाड़ कर सबका वृंदावन-निवास भी छुड़वा दिया। अब माता जी को अंत समय में भी वृंदावन प्राप्त नहीं होगा !' उस पर रूपलाल जी बड़े दुखी हुए और उन्होंने माता जी को उसी समय वृंदावन ले जाने का निश्चय किया, चाहें उसके लिए उन्हें कितना ही संकट उठाना पड़े ! निदान सब लोग मरणासन्न माता जी को लेकर वृंदावन की ओर चल पड़े। मार्ग में जब-जब उन्हें कुछ होश होता था, तब-तब वे पूछ लेती थीं कि वृंदावन अभी कितनी दूर है। वे वृंदावन प्राप्त करने की अभिलाषा से ही अपने प्राणों को धारण किये रही थी। जैसे ही उन्हें वृंदावन की सीमा के आने की सूचना मिली, वैसे ही उन्होंने अपने प्राण छोड़ दिये ! उनकी दाह-क्रिया 'धीर समीर' के निकट यमुना तट पर हुई थी।

श्री रूपलाल जी के वृंदावन-आगमन का समाचार बड़ी तीव्र गति से सर्वत्र फैल गया था। उससे उन्हें राजकीय संकट का आभास हुआ। उसके कारण वे पुनः वृंदावन से चले गये और विभिन्न स्थानों में निवास करते रहे थे। सं. १७९६ में दिल्ली पर नादिरशाह का भीषण आक्रमण हुआ था। उस समय श्री रूपलाल जी कदाचित वहीं पर थे। चाचा वृंदावनदास ने लिखा है, उस आक्रमण के कारण दिल्ली में भारी भगदड़ मच गई थी, और समस्त प्रदेश भय से कंपायमान हो

---

(१) लैकें जू कुटुंब संग इंद्रप्रस्थ वास कियौ, तहाँ हूँ न चैन लैन देहि, नृप लगी जकी।
कबहू सिखावै सैना, कबहू ठुकावै सैना, कबहू लगावै दूत द्वारा ह्वै तकातकी।।
कबहू दिखावै लोभ, कबहू बढावै छोभ, उपजावै आपुस में भेद जु बकाबकी।
'वृंदावन' हित रूप प्रभु ही नें राख्यौ धर्म, छल-बल करि-करि वाकी बुद्धि ना थकी।।
—हित रूप चरित्र वेली, छंद २९०

गया था[1]। उस काल में रूपलाल जी बरसाना आ गये थे। वे ३-४ वर्ष तक फिर भटकते रहे थे। सं. १८०० में राजा जयसिंह की मृत्यु हो गई थी। उसके उत्तराधिकारी राजा ईश्वरीसिंह ने रूपलाल जी से अपना विरोध ही समाप्त नहीं किया, वरन् उनका बड़ा आदर-सत्कार भी किया था। उस समय वे सन्मान पूर्वक वृंदावन वापिस आ गये थे। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय के गौरव की रक्षा के लिए जो बलिदान किया, उससे उनकी प्रतिष्ठा चौगुनी बढ़ गई थी। वे कुछ महीनों तक ही वृंदावन में रह सके थे कि सं. १८०१ मे उनका देहांत हो गया। उनके उत्तर जीवन के प्राय: २० वर्ष उस संघर्ष के कारण निष्कासन में बीते थे। उस दीर्घ काल में उन्हें बड़े कष्ट सहन करने पड़े थे; किंतु उनकी किसी रचना में उनके लिए किसी प्रकार का आक्रोश अथवा दुर्भाव व्यक्त नहीं किया गया है! यह उनकी सहज क्षमा-वृत्ति और सहनशीलता का सूचक है।

शिष्य-समुदाय—श्री रूपलाल जी के अनेक शिष्य थे, जिनमें चाचा वृंदावनदास जी प्रमुख थे। उनके अतिरिक्त केलिदास, सेवासखी और प्रेमदास के नामों की भी अच्छी प्रसिद्धि है। यहाँ पर उनका कुछ वृत्तांत लिखा जाता है।

चाचा वृंदावनदास जी—उनके जन्म का निश्चित संवत् अज्ञात है; किंतु उनकी रचनाओं के आधार पर उसका अनुमान किया जा सकता है, और उसके प्राय: ठीक ही होने की संभावना है। उनकी जिन कृतियों में रचना-काल का उल्लेख मिलता है, वे सं. १७९५ से सं. १८४४ तक की हैं। सं. १८३५-३६ में रचित 'आर्त्तपत्रिका' आदि रचनाओं के अंत:साक्ष्य से उनकी वृद्धावस्था का संकेत मिलता है; जिससे वे उस समय ७० वर्ष से कम की आयु के ज्ञात नहीं होते हैं। उसके आधार पर यह अनुमान होता है कि उनका जन्म सं. १७६५ के लगभग हुआ होगा।

उनका निश्चित जन्म-स्थान कौन सा है, इसका भी उल्लेख नहीं मिलता है; किंतु 'आर्त-पत्रिका' के अंत:साक्ष्य से वह ब्रजमंडल का कोई स्थान ज्ञात होता है। उन्होंने ब्रज के वियोग में व्यथित होकर कहा था,—"जन्म से सेई जु ब्रज-रज, अब हियौ अकुलाइ"। इस प्रकार वे पूरे ब्रजवासी थे। वे ब्रजमंडल के किसी स्थान में जन्मे थे, उनका अधिकांश जीवन ब्रज के विविध स्थानों में बीता था और ब्रज में ही उनका देहावसान हुआ था। 'मिश्रबंधु विनोद' और 'ब्रज माधुरी सार' में उनका निवास-स्थान पुष्कर क्षेत्र लिखा गया है, किंतु वह उनका स्थायी निवास-स्थल नहीं था। जब ब्रज में मुसलमानों का अधिक उपद्रव होने लगा था, तब वे कुछ समय के लिए राजा नागरीदास के अनुज बहादुरसिंह के पास चले गये थे। उनके आश्रय में रहते हुए ही उन्होंने कृष्णगढ़ और पुष्कर में निवास किया था। वहाँ रहने पर वे सदैव ब्रज-वृंदावन को जाने के लिए उत्सुक रहा करते थे। जैसे ही परिस्थिति अनुकूल हुई, वे पुन: ब्रज में वापिस आ गये, और अंतिम काल तक वहाँ ही रहे थे।

वे किस जाति के थे, इसका भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है; किंतु उनकी रचनाओं से उनके ब्राह्मण होने का संकेत मिलता है। 'ब्रज-माधुरी-सार' में उन्हें गौड़ ब्राह्मण बतलाया गया है, किंतु इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ऐसा जान पड़ता है, वे अपनी बाल्यावस्था से ही अपने माता-पिता के साथ वृंदावन में निवास करते थे। उनकी शिक्षा वृंदावन में हुई थी, और वहीं पर उन्होंने श्री रूपलाल जी से राधावल्लभ संप्रदाय की दीक्षा ली थी।

---

(१) सत्रहसै छ्यानवे (१७९६), यवन पच्छिम तें आयौ।
दिल्ली भाजरि पड़ी, अधिक भय देश कँपायौ॥ (हित रूप चरित्र वेली)

२. नारायणीय धर्म

संक्षिप्त परिचय—

वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया—वैदिक धर्म में यज्ञ-प्रधान कर्मकांड का विशेष महत्व माना गया है। पूर्व वैदिक काल अर्थात् संहिता-ब्राह्मण युग में आर्यगण इंद्रादि अनेक देवों की उपासना करते थे, और उन्हें संतुष्ट कर उनके द्वारा विविध कामनाओं की पूर्ति किये जाने लिए वे यज्ञ किया करते थे। उस काल में आर्यों का प्रधान देवता इंद्र था, जो साधारणतया समस्त सृष्टि का और विशेष रूप से अंतरिक्ष का स्वामी माना जाता था। आर्यों का विश्वास था, जब इंद्र प्रसन्न होते हैं, तभी वे विपुल वर्षा करते हैं, जिससे लोगों को खाद्यान्न तथा सुख-समृद्धि के साधन उपलब्ध होते है और पशुओं को चारा प्राप्त होता है। बाद में आर्यों की यह धारणा बन गई थी कि इंद्र से भी श्रेष्ठ कोई अन्य परतत्व है, जो समस्त देवताओं को अनुशासित और सृष्टि के समस्त कार्यों को संचालित करता है।

उत्तर वैदिक काल अर्थात् आरण्यक-उपनिषद् युग में ब्रह्म-चिंतन रूपी ज्ञानमार्ग की ओर आर्यों का अधिक झुकाव हो गया था; किंतु उस समय भी यज्ञजन्य कर्ममार्ग के प्रचलन में कोई अंतर नहीं आया था। उस काल में यज्ञ-प्रधान कर्ममार्ग और चिंतन-प्रधान ज्ञानमार्ग की दोनों धार्मिक प्रवृत्तियाँ समानांतर रूप में प्रचलित थीं। आरंभ में यज्ञों का सीधा-सादा स्वरूप था और उन्हें सभी आर्यजन नित्य एवं नैमित्तिक रूप में किया करते थे। ब्राह्मण काल में यज्ञों को इतना विशद, जटिल और व्ययसाध्य बना दिया था कि वे जन साधारण की शक्ति और सामर्थ्य से बाहर हो गये थे। उस समय राजा-महाराजा और अत्यंत समृद्धिशाली व्यक्ति ही यज्ञ करने में समर्थ होते थे। फिर उस काल के यज्ञों में इतना पशु-संहार किया जाता था कि उसके कारण भी जनता की उनके प्रति अरुचि होने लगी थी। वेदकालीन उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया में एक धार्मिक क्रांति हुई, जिसके फलस्वरूप उस नई विचार-धारा का उदय हुआ, जिसने वेदोक्त यज्ञ पद्धति और वैदिक देव तत्व के प्रचलित रूप में परिवर्तन कर दिया था। उस विचार-धारा का परिणाम **'नारायणीय धर्म'** का प्रादुर्भाव था।

नाम और स्वरूप—यद्यपि नारायणीय धर्म का प्रादुर्भाव वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया में हुआ था, तथापि वह वेद विरोधी नहीं था। उसे वैदिक धर्म का एक संशोधित रूप कहा जा सकता है। उसके आदि प्रचारक नारायण ऋषि थे, इसीलिए उसे 'नारायणीय धर्म' कहा गया है। उस धर्म के स्वरूप-ज्ञान के दो प्रमुख आधार हैं,—१. ऋग्वेद का 'पुरुष सूक्त' और २. महाभारत का 'नारायणीयोपाख्यान'। ऋग्वेदोक्त 'पुरुष सूक्त' इसके तत्व-दर्शन की प्रथम अभिव्यक्ति है, जब कि महाभारतीय 'नारायणीय खंड' इसके धर्माचार का अंतिम आख्यान है।

प्राकट्य और परंपरा—इस धर्म के द्वारा वैदिक काल में ही उस तथ्य का प्राकट्य किया गया कि इंद्रादि देवताओं सहित समस्त सृष्टि का संचालक जो परतत्व है, वह 'पुरुष' के रूप में सबका स्वामी है। वही समस्त विश्व के आदि-अंत का कारण है, और वही उपासकों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करता है। उस धर्म में इंद्रादि देवों के स्थान पर 'पुरुष' स्वरूप परमात्मा की नर और नारायण के रूप में उपासना की जाती थी। उस धर्म के आचार-विधान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

वे आरंभ से ही विरक्त थे अथवा वाद में हो गये थे, इसका निश्चय नहीं होता है। उनकी प्रवृत्ति प्रारंभ से ही भक्ति मार्ग की ओर थी। श्री हित हरिवंश जी में उनकी अपार श्रद्धा थी, वे अपने गुरु श्री रूपलाल जी का वड़ा आदर करते थे। उनकी रचनाओं में उन दोनों की स्तुति के अनेक छंद और पद मिलते हैं। वे इतने गुरु-भक्त थे कि उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने नाम की छाप में अपने गुरु का भी नाम दिया है। राधावल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी वालक उन्हें आदर पूर्वक 'चाचा जी' कहा करते थे। उसके कारण और लोग भी उन्हें 'चाचा जी' कहने लगे थे। वे चाचा वृंदावनदास के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

चाचा जी के जीवन का एक मात्र उद्देश्य श्रीराधा–कृष्ण की लीलाओं का भक्तिपूर्ण कथन करना था; जिसे उन्होंने नाना प्रकार से विविध रूपों में अपनी वहुसंख्यक रचनाओं द्वारा किया है। उन्होंने इतने विशाल साहित्य की रचना की है कि यदि वह उपलब्ध न होता, तो सहसा उस पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता था। उनके रचे हुए छोटे-वड़े ग्रंथों की संख्या २०० के लगभग वतलाई जाती है! उनमें से अधिकांश वृंदावन के ग्रंथ भंडारों में सुरक्षित हैं। इनमें 'अष्टक-पच्चीसी' जैसी छोटी रचनाओं के साथ ही साथ 'सागर' जैसे वड़े ग्रंथ भी हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में उनकी थोड़ी ही रचनाओं का उल्लेख मिलता है; और उनमें से भी वहुत थोड़ी अभी प्रकाशित हुई हैं।

ऐसी अनुश्रुति है कि वे लिख कर काव्य-रचना नहीं करते थे। साधारण वोलचाल की भाँति उनके मुख से काव्य-धारा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता था! उनके साथी भक्त गण उनकी वाणी को निरंतर लिखा करते थे। उनके लिपिकों में केलिदास नामक एक भक्त जन अधिक प्रसिद्ध हैं। वृंदावनदास जी की जितनी रचनाएँ इस समय प्राप्त हैं, उनमें से अधिकांश केलिदास की लिखी हुई ही हैं। धारावाहिक रूप में निरंतर काव्य-निर्माण करने के कारण उनकी कतिपय रचनाएँ साधारण कोटि की भी हुई हैं, किंतु अनेक रचनाओं में प्रौढ़ता प्रचुर परिमाण में दिखलाई देती है। उनका काव्य भक्ति–भाव से ओत-प्रोत है, जिसके वर्णन में उनकी सहज प्रतिभा निखर उठी है। उनकी अनेक रचनाओं में श्रीराधा-कृष्ण के दिव्य दाम्पत्य रूप की मनोहर झांकी मिलती है, जिसे उन्होंने श्री हरिवंश जी की कृपा का प्रसाद वतलाया है,—

श्री हरिवंश प्रसाद तें, उपज्यो हिये विचार। अक्षर–रतन सु राग-गुन गुह्यो अलौकिक हार।।
श्री हरिवंश–कृपा सुहृत, रच्यो प्रवंध अनूप। पद-पद प्रति, अक्षरनि प्रति, झलकति दंपति-रूप।।

उनकी रचनाओं में सवसे वड़े ग्रंथ 'सागर' हैं, जिनकी संख्या ७ वतलाई जाती है! इनमें से दो 'लाड़ सागर' और 'व्रज प्रेमानंद सागर' वृंदावन में उपलब्ध हैं। 'लाड़ सागर' में श्रीराधा–कृष्ण की वाल-लीलाएँ, विशेप कर उनके विवाह का अत्यंत विशद कथन हुआ है। जिस प्रकार सूरदास जी ने श्री कृष्ण के वाल-चरित्र का विस्तृत वर्णन किया है, उसी प्रकार वृंदावनदास जी के इस ग्रंथ में राधाजी की वाल-लीलाओं का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। राधाजी के वाल-विनोद का वर्णन कर उन्होंने श्री कृष्ण के साथ उनकी सगाई, विवाह और गौना का ऐसा सांगोपांग कथन किया है कि लोक में प्रचलित तत्संवंधी विधि-विधान और नेग-टेलों में से कोई भी वात नहीं छूटने पाई है! इस विशद ग्रंथ के कई प्रसंग पृथक्-पृथक् रचनाओं के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। 'सागर' के पश्चात् ५ 'पदावली', १४ 'अष्टयाम', २ 'माँझ', १६ 'पच्चीसी-वत्तीसी', २४ और १८ 'छद्म', २० 'अष्टक', ६० 'वेलि', १० 'इतिहास' एवं 'चरित्र' की रचनाएँ तथा वहुसंख्यक अन्य ग्रंथ हैं। इन पद्यात्मक ग्रंथों के अतिरिक्त उनका एक गद्य ग्रंथ 'स्वप्न विलास' भी है।

उन्होंने जितने साहित्य का निर्माण किया है, उतना शायद ही किसी भाषा के किसी कवि ने रचा हो ! ब्रजभाषा साहित्य के मुकुटमणि सूरदास जी के समस्त पदों की संख्या लाख–सवालाख बतलाई जाती है, यद्यपि उनमें से १० हज़ार पद भी अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। किंतु चाचा वृंदावनदास जी का समस्त साहित्य चार लाख पद-परिमाण का कहा जाता है, जिसका बहुत बड़ा भाग तो वृंदावन में उपलब्ध ही है ! वस्तुतः चार लाख पद-परिमाण की बात तो अनुश्रुति मात्र है; किंतु उन्होंने लाख–सवालाख पद–परिमाण की रचना अवश्य की थी; और उसे उनके लिपिक केलिदास ने लिखा था। उसका उल्लेख 'श्री नाम सेवा' में इस प्रकार हुआ है,—

श्री राधावल्लभ श्री हरिवंस। गुरु हित रूप जगत परसंस ॥
हित वृंदावन तिनकौ भृत्य। बानी सवालक्ष तिन कृत्य ॥
केलिदास पुस्तक लिख हाथ। जोरी पद सेवैं रहि साथ[1] ॥

चाचा जी का समस्त साहित्य एक विस्तृत वन के समान है। उसमें राधा-कृष्ण की दिव्य केलि-क्रीड़ाओं के अनेक सुवासित पुष्प युक्त उपवन हैं, और लोक-जीवन से संबंधित स्वाभाविक रचनाओं के अन्य तरु-लता युक्त कुंज भी हैं। उसमें ऐतिहासिक उल्लेखों के हरित तृण युक्त सुरम्य मैदान हैं; और विनय, वैराग्य एवं सिद्धांत विषयक मार्मिक कथनों के छोटे-बड़े नद-नाले भी हैं। इस प्रकार उनका साहित्य विविध विषयों से विभूषित और नाना रूप-रंगों से सुशोभित है, जिसमें सर्वत्र उनकी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है।

उन्होंने जहाँ 'सिद्धांत' की चर्चा की है, वहाँ राधावल्लभीय गूढ़ भक्ति-तत्त्व के मर्म का उद्घाटन कर दिया है; जहाँ 'रस' का कथन किया है, वहाँ निकुंजलीला-रस को मूर्तिमान कर दिया है; जहाँ इतिहास और चरित्र का प्रसंग आया है, वहाँ उसे भी प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है। जब पांडित्य-प्रदर्शन करने की इच्छा हुई, तो इतनी जटिल रचना कर डाली, जिसने पंडितों की बुद्धि को भी चकरा दिया ! जब लोक-साहित्य निर्माण की उमंग उठी; तो ख्याल, रसिया और गारियों का समाँ बाँध दिया। लोकोक्तियों और कहावतों के वर्णन की धुन उठी, तो उनके भी कई ग्रंथ रच डाले। हास्य-विनोद की लहर आई, तो तदनुसार कई रोचक रचनाएँ कथ डालीं ! इस प्रकार भक्ति-साहित्य की सीमाओं का उन्होंने अपने ढंग से बहुत विस्तार किया है। उनके काव्य की यह विशेषता है कि विविध विषयों की रचनाएँ होते हुए भी उन्हें सदैव भक्ति से ही संबंधित रखा गया है। इस प्रकार वे धारावाहिक रूप में अहर्निश काव्य-रचना करते हुए भी अपने मूल उद्देश्य से कभी विचलित नहीं हुए हैं। उनका भक्ति-काव्य ब्रजभाषा साहित्य का शृंगार है।

ऐसी प्रसिद्धि है, चाचा वृंदावनदास जी दीर्घजीवी हुए थे। उनके द्वारा रचित प्रचुर साहित्य को देखते हुए उनका अधिक आयु तक जीवित रहना सर्वथा संभव ज्ञात होता है। उनकी जिन कृतियों में रचना-काल का उल्लेख मिलता है, उनमें अंतिम 'सेवक जस विरदावली' सं. १८४४ की है। उसके आधार पर उनके देहावसान का काल सं. १८५० के लगभग अनुमानित होता है। उस समय उनकी आयु ८०-८५ वर्ष के लगभग थी।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ५१६

केलिदास जी—उनके जीवन-वृत्तांत का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। प्रियादास जी ने उन्हें बुंदेलखंड स्थित चँदेली ग्राम का जुझौतिया ब्राह्मण बतलाया है। इसके अतिरिक्त उनके माता-पिता, घर-बार आदि के विषय में उन्होंने कुछ नहीं लिखा[१]। सांप्रदायिक साहित्य में उनके संबंध में जो कुछ उल्लेख मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वे किशोरावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे। वहाँ आ कर वे राधावल्लभीय रसोपासना और चाचा वृंदावनदास जी की रचनाओं को निरतर लिपिबद्ध करने मे प्रवृत्त हुए थे,—

'लघु वय में ही मोह त्याग, वृंदावन परसे। श्रीवृंदावन-दास्य पाइ, रस-भावक सरसे॥
गुरु-पद-भक्ति गरिष्ट, द्रवत हिय मिष्ट सु बोलैं। बानी लिखित अखंड निरालस, सीस न डोलै[२]॥

केलिदास जी की प्रसिद्धि का एक मात्र कारण उनका चाचा वृंदावनदास जी का लिखिया होना है। वे एक विरक्त भक्त थे; किंतु उन्होंने अपनी भक्ति-साधना का प्रमुख अंग चाचा जी के विपुल भक्ति-साहित्य के लेखन-कार्य को ही बना लिया था। जैसा पहिले लिखा गया है, चाचा जी के मुख से 'वाणी' का अजस्र प्रवाह निसृत होता रहता था। उसे लिखने के लिए एक ऐसे श्रद्धालु भक्त की आवश्यकता थी, जो छाया की तरह निरंतर उनके साथ बना रहे। यह कार्य केलिदास जी ने बड़े मनोयोग पूर्वक किया था। वे वृंदावन आते ही चाचा जी के सत्संग में रहे थे और उन्ही से मंत्र-दीक्षा भी लेना चाहते थे। किंतु चाचा जी ने अपने गुरु श्री रूपलाल जी से उन्हें दीक्षा दिलाई थी। फिर भी वे चाचा जी में ही गुरु सदृश श्रद्धा रखते थे।

वे चाचा वृंदावनदास के लिपिक, भृत्य, सहकारी और सचिव सब-कुछ थे। जब चाचा जी को रचना करने की स्फूर्ति होती, तभी वे उन्हें सावधान करते हुए कहते,—'केलिदास, वाणी आई!' और केलिदास जी तत्काल दवात-क़लम-काग़ज सँभाल कर लिखने को तैयार हो जाते थे। जैसी तीव्र गति से चाचा जी बोलते थे, वैसी ही द्रुत गति से वे लिखते जाते थे। जिस प्रकार व्यास जी के लिए गणेश जी आवश्यक थे, उसी प्रकार चाचा जी को केलिदास अनिवार्य थे। इसमें कोई संदेह नहीं; यदि केलिदास जी न होते, तो आज चाचा जी का इतना अधिक साहित्य भी उपलब्ध न होता। उनके अभाव में चाचा जी का अधिकांश साहित्य अनसुना एवं बेलिखा ही रह गया होता; और फलतः वह सदा के लिए लुप्त हो जाता!

केलिदास जी ने एक बड़े महत्त्व का कार्य यह भी किया है कि उन्होंने चाचा जी की जिन रचनाओं को लिखा है, उन पर लिपि-काल का उल्लेख कर दिया है; जो वस्तुतः उनका रचना-काल ही है। उसके कारण चाचा जी की अनेक कृतियों का कालानुसार क्रमबद्ध ब्योरा उपलब्ध हो जाता है। यह उन दोनों के जीवन-क्रम को जानने के लिए भी बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। चाचाजी की कृतियों को लिखने के साथ ही साथ उन्होंने स्वयं कुछ पद-रचना भी की थी। श्री किशोरीशरण 'अलि' ने उनकी 'पदावली व्याहुलौ' नामक रचना और हित चौरासी की टीका का उल्लेख किया है[३]। केलिदास चाचाजी के इतने भक्त थे कि उनका देहांत होने पर उन्होंने भी अपना शरीर छोड़ दिया था! इस प्रकार उनकी विद्यमानता का काल सं. १७६० से सं. १८५० तक का अनुमानित होता है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४३१
(२) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ५१६
(३) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ ६५-६६

सेवासखी जी—'राधावल्लभ भक्तमाल' के अनुसार वे गोरखपुर के निवासी थे और वृंदावन आ कर श्री रूपलाल जी के शिष्य हुए थे। उन्होंने साधुओं की जमात के साथ राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उन्हें अपने शिष्य-सेवकों से जो धन प्राप्त हुआ, उससे उन्होंने बरसाना में मंदिर बनवाया था। वे वहाँ पर राधाष्टमी को बड़ा उत्सव किया करते थे। उनकी कुंज वृंदावन में सेवाकुंज की परिक्रमा में बतलाई जाती है। उन्होंने वाणी-रचना भी की थी।

प्रेमदास जी—उनके जीवन-वृत्तांत के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं होता है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' की टीका है; जिसके मंगलाचरण के एक दोहा से उनके गुरु श्री रूपलाल जी जान पड़ते हैं। इस टीका की पूर्ति सं. १७६१ में हुई थी। उसमें लिखा मिलता है कि किन्हीं सुंदरदास की प्रेरणा से उन्होंने उक्त टीका की रचना की थी। उससे पहिले हित चौरासी की अनेक टीकाएँ हो चुकी थीं; किंतु प्रेमदास जी की यह टीका अधिक महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती टीकाएँ प्रायः पद्यात्मक हैं, किंतु यह टीका 'वचनिका' अर्थात् ब्रजभाषा गद्य में की गई है। इसका कारण बतलाते हुए उन्होंने कहा है,—कवितावद्ध टीका करने से उसे समझने में विलंब होता है; अतः शीघ्रता से समझाने के विचार से इसे गद्य में लिखा गया है,—'कीजै तिलक कवित्त बँध, समुझत होइ अबार। तातें वचननि में कहौं, लीजै सब विचार।' किंतु गद्यात्मक टीका होने पर भी इसे सुगमता से समझना सभव नहीं है। इसमें 'हित चौरासी' के पदों की एक-एक पंक्ति के भाव का इतना विद्वत्तापूर्ण और विशद विवेचन किया गया है कि यह रचना कुछ दुर्बोध हो गई है। 'हित चौरासी' की यह सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाओं मे से है।

उक्त टीका के अतिरिक्त प्रेमदास जी की अन्य रचनाएँ भी हैं, जो संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों में हैं। उनकी संस्कृत रचनाएँ 'श्री हित नाम रत्नमणि माला' और 'सामवेदोपनिषद' कही जाती हैं तथा ब्रजभाषा रचनाएँ पदावली, ब्याहुलौ, हित जन्म बधाई और रस सार संग्रह हैं[1]। उनका निधन सं. १८१३ में अहमदशाह अब्दाली द्वारा ब्रज में कराये गये क़त्ल-आम में हुआ था!

कृष्णदास जी भावुक—'हित चौरासी' की प्रेमदास कृत टीका में कृष्णदास जी का उल्लेख करते हुए कहा गया है,—'जै-जै श्री कृष्णदास जू, हैं मम प्राण धन। श्री वैयासिक चरण कमल पर अलि मगन॥' जब प्रेमदास जी जैसे प्रगाढ़ विद्वान और हित-वाणी के मर्मज्ञ मनीषी ने उनका इस प्रकार आदरपूर्ण शब्दों में स्मरण किया है; तब वे निश्चय ही उस काल के बड़े सम्मान्य महानुभाव होंगे। वे प्रेमदास जी के समकालीन, किंतु प्रतिष्ठा में उनसे बढ़े हुए और आयु में अधिक ज्ञात होते हैं।

गो. ललिताचरण जी ने कृष्णदास जी भावुक को गो. विनोदवल्लभ जी का शिष्य और उच्च कोटि का रसिक संत एवं सुकवि बतलाया है[2]। गो. विनोदवल्लभ जी श्री हित हरिवंश जी के द्वितीय पुत्र श्री राधावल्लभ जी की वंश-परंपरा में गो. बुद्धिवल्लभ जी के पुत्र थे। कृष्णदास जी की रचनाओं के नाम हित जी की जन्म-बधाई और उत्सवों के पद, वृंदावनाष्टक तथा श्री हरिवंशाष्टक लिखे गये हैं और उनका रचना-काल १८वीं शती के मध्य से लेकर उसके अंत तक का माना गया है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त उनके एक ग्रंथ 'गुरु प्रणाली' का भी नामोल्लेख मिलता है।

---

(१) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ ४५

(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४८०

श्री किशोरीलाल जी (सं. १७७७ से सं. १८४५ के लगभग)—

जीवन–वृत्तांत—श्री किशोरीलाल जी सुविख्यात गोस्वामी श्री रूपलाल जी के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १७७७ की आश्विन कृ. ८ को वृंदावन में हुआ था। वे अपने यशस्वी पिता के समान विद्वान, प्रतापी और प्रसिद्ध हुए थे। सवाई राजा जयसिंह जैसे शक्तिशाली राज्याधिकारी से दीर्घ काल तक संघर्ष करने के कारण गो. रूपलाल जी ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, उसका पूरा लाभ श्री किशोरीलाल जी को प्राप्त हुआ था। फलतः दिल्ली का मुगल सम्राट और जयपुर–ग्वालियर के राजा गण उनका बड़ा आदर–सन्मान करने लगे थे। मुगल सम्राट शाह आलम ने उन्हें फ़रमान प्रदान किया था और जयपुर के तत्कालीन सवाई राजा प्रतापसिंह एवं ग्वालियर के सिंधिया सरदार ने उन्हें जागीर में कई गाँव दिये थे। उन सबके कारण श्री किशोरीलाल जी अपने जीवन-काल में प्रभूत संपत्ति, प्रचुर प्रतिष्ठा और अतुलनीय यश के अधिकारी हो गये थे।

वृंदावन की जनता में वे बड़े लोकप्रिय हुए थे, और वहाँ के जन–समाज पर उनका बड़ा प्रभाव था। स्थानीय लोगों के झगड़े–टंटों को वे निष्पक्ष भाव से निवटा देते थे और उनके निर्णय को आदर पूर्वक मान लिया जाता था। अपनी समृद्धि, प्रतिष्ठा और राजकीय सन्मान के कारण वे 'सरकार' कहे जाने लगे थे। उनकी वह उपाधि उनके वंशजों में अभी तक प्रचलित है। उनके द्वारा राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ था। फलतः गुजरात आदि कई प्रदेशों के विभिन्न स्थानों में उनके अनेक शिष्य हुए थे। उनके गुजराती शिष्य सेठ लल्लूभाई भगवानदास आदि ने उनके निजी सेव्य स्वरूप श्री राधाकांत जी का मंदिर और हवेली–वाटिका आदि का वृंदावन में निर्माण कराया था, जिन पर उनके वंशजों का अधिकार है। उन्ही शिष्यों ने वृंदावन में श्री राधावल्लभजी का नया मंदिर बनवाया था। गो. किशोरीलाल जी प्रतिष्ठित विद्वान और प्रभावशाली धर्माचार्य होने के साथ ही साथ वाणीकार भी थे। उनकी वाणी में अष्टयाम और पदावली आदि रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनका देहावसान सं. १८४५ के लगभग हुआ था।

कुटुंभ–परिवार—श्री किशोरीलाल जी के दो पुत्र थे,—सर्वश्री हितलाल जी और रसिकानंदलाल जी। उनके कुटुंभियों में उनके ताऊ श्री मुकुंदलाल जी और उनके पुत्र श्री घनश्याम लाल जी थे। जैसा पहिले लिखा गया है, श्री मुकुंदलाल जी का निधन गो. रूपलाल जी के पश्चात् सं. १८१३ में अहमदशाह अब्दाली द्वारा वृंदावन में किये गये क़त्ले–आम में हुआ था। उसमें उनके साथ और भी अनेक भक्त जन मारे गये थे। रासवंशीय ज्येष्ठ घराने के गो. चंद्रलाल जी, विलास-वंशीय अधिकारी घराने के गो. रमणलाल जी और श्री गोपीनाथ जी के वंशज गो. जोरीलाल जी श्री किशोरीलाल जी के अन्य कुटुंभी थे। गो. जोरीलाल की व्रजभाषा रचनाएँ समय प्रबंध (रचना-काल सं. १८३५) और पदावली हैं। उनके समकालीन गोस्वामियों में बेटी वंश के श्री चंद्रलाल जी एक प्रख्यात विद्वान और वाणीकार हुए हैं। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

गो. चंद्रलाल जी—वे श्री वनचंद्र जी की बेटी किशोरी जी के वंशज और श्री गोवर्धन-नाथ जी के पुत्र थे। उनके जन्म और देहावसान का निश्चित काल अज्ञात है। उनकी दो कृतियों में रचना–काल का उल्लेख मिलता है, और वे सं. १८२४ और सं. १८३५ की हैं। उनके आधार पर वे प्रायः सं. १७९० से सं. १८६० तक के काल में विद्यमान जान पड़ते हैं। वे संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान और व्रजभाषा के उच्च कोटि के रचनाकार थे। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय के कई सुप्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों का व्रजभाषा काव्य में भावानुवाद किया था। उनकी प्रायः सभी रचनाएँ कवित्त–

सवैया छंदों में हैं। 'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' में उनकी २८ रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है। इनमें करुणानंद, उप सुधानिधि, यमुनाष्टक, वृंदावन शतक आदि संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ और अभिलाष बत्तीसी, समय पच्चीसी, भावना पच्चीसी, हृदय सर्वस्व, अष्टयाम, वृंदावन प्रकाश माला, भागवत सार पच्चीसी आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'हित चौरासी' की टीका भी की थी। उनकी तीन कृतियाँ वृंदावन प्रकाश माला, उप सुधानिधि की टीका और भागवत सार पच्चीसी क्रमशः सं. १८२४, सं. १८३५ और सं. १८५४ में पूरी हुई थीं। 'भागवत सार पच्चीसी' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उसकी रचना जयपुर के सवाई राजा प्रतापसिंह के कहने से हुई थी।

शिष्य-समुदाय—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. किशोरीलाल जी के बहुसंख्यक शिष्य थे; जिनमें से अनेक समृद्धिशाली, उदार दानी और विद्वान थे। उनके विद्वान शिष्यों में हरिलाल जी व्यास और समकालीन गो. घनश्यामलाल जी के शिष्यों में लाड़िलीदास जी तथा गो. चंद्रलाल जी के शिष्यों में प्रियादास जी एवं गो. दयानिधि जी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं, अतः उनका कुछ संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

हरिलाल जी व्यास—वे बूँदी के निकटवर्ती कड़ी नामक गाँव के एक विद्वान ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं. १७९० में हुआ था। उन्हें 'राधा-सुधानिधि' के अध्ययन का सुयोग प्राप्त हुआ, और वे निकुंजोपासना के अनुरागी होकर वृंदावन आ गये थे। वहाँ पर वे युगलदास जी के सत्संग में रहे थे। उन्हीं के परामर्श से उन्होंने गो. किशोरीलाल जी से दीक्षा ली थी[1]। उसके उपरांत वे स्थायी रूप से वृंदावन में निवास कर प्रेमोपासना और ग्रंथ-रचना करने लगे थे। संस्कृत के वे प्रगाढ़ विद्वान और ब्रजभाषा के अच्छे जानकार थे। उन्होंने 'राधा-सुधानिधि' का गहन अध्ययन कर उस पर कई टीकाएँ लिखी थीं। उनकी सुप्रसिद्ध टीका 'रसकुल्या' है, जो सं. १८३५ में पूर्ण हुई थी। यह अत्यंत वृहत्काय टीका है और इसके आरंभ में एक विशद प्रस्तावना भी है, जिसमें कुछ शंकाओं का समाधान किया गया है। इसी ग्रंथ पर उनकी एक संक्षिप्त टीका 'लघु व्याख्या' के नाम से भी उपलब्ध है। 'राधा-सुधानिधि' पर इतना विस्तृत विवेचन और किसी विद्वान ने नहीं किया है। इन टीकाओं के अतिरिक्त श्री कृष्णचंद्र गोस्वामी कृत अष्टपदियों पर उन्होंने संस्कृत में विवृत्ति भी लिखी थी। ब्रजभाषा में उन्होंने 'सेवक-वाणी' पर सर्व प्रथम टीका की थी। यह गद्यात्मक टीका है, जिसकी रचना सं. १८३० के लगभग हुई थी। इन प्रसिद्ध टीका-ग्रंथों के अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी बतलाई जाती हैं।

लाड़िलीदास जी—वे गो. घनश्यामलाल जी के शिष्य थे और १९वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। वे बड़े विद्वान और वाणीकार थे। उनकी रचनाओं में सुधर्मबोधिनी, प्रश्नोत्तरी, पदावली और कामबन विलास उल्लेखनीय हैं। 'सुधर्मबोधिनी' राधावल्लभ संप्रदाय की एक सैद्धांतिक रचना है, जिसका आधार सेवक वाणी है। उसकी पूर्ति सं. १८४२ में हुई थी। 'कामवन विलास' में ब्रज के प्राचीन लीला-स्थल कामवन की धार्मिक महत्ता का उल्लेख है। श्री राधावल्लभ जी के कामवन में विराजमान होने के काल की कतिपय घटनाएँ भी उसमें लिखी गई हैं। उस काल में श्री राधावल्लभ जी की सेवा का क्या प्रबंध था और उसमें किन-किन गोस्वामियों ने योग दिया था, उक्त ऐतिहासिक बातों का भी इसमें कुछ संकेत मिलता है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४८६

प्रियादास जी (रीवाँ वाले)—वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान और भक्ति शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने श्री मद्भागवत के आधार पर कई प्रौढ़ भक्ति ग्रंथों की रचना संस्कृत भाषा में की थी। उनके ग्रंथ वेदांत सार (सं. १८६४), श्रुति तात्पर्यामृत (सं. १८७०), भक्ति प्रभा (सं. १८७१), सुसिद्धांतोत्तम् और वैष्णव सिद्धांत हैं। इनमें से आरंभिक चार ग्रंथों पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण टीका भी लिखी है। ब्रह्मसूत्र का राधावल्लभीय भाष्य भी उनके द्वारा रचा हुआ कहा जाता है। ब्रजभाषा में उनकी एक रचना 'पद-रत्नावली' का उल्लेख मिलता है। वे वेटी वंश के गो. चंद्रलाल जी के शिष्य थे और उनकी विद्यमानता का काल १९ वीं शती का उत्तरार्ध है।

गो. दयानिधि—वे गो. चंद्रलाल जी के शिष्य और संभवतः उनके कुटुंबी भी थे। उनकी कई रचनाओं की हस्त प्रतियाँ वृंदावन में श्री राधाचरण जी के पुस्तकालय में हैं। उनमें से एक उनके कवित्तों का संकलन और दूसरी अन्योक्ति पच्चीसी उल्लेखनीय है। वे धर्म-गुरु होने के साथ ही साथ अपने समय के विख्यात काव्य-गुरु भी थे। उनके काव्य-शिष्यों से ग्वाल जी, हरिदेव जी आदि कई प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

श्री राधावल्लभ जी का वृंदावन-पुनरागमन—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, औरंगजेब के दमन-चक्र के कारण श्री राधावल्लभ जी को उनके वृंदावन वाले प्राचीन मंदिर से हटा कर कामवन पहुँचा दिया गया था। सं. १७२६ से सं. १८४१ तक उनकी सेवा-पूजा कामवन में ही होती रही थी। राधावल्लभीय भक्त जनों का सदा से आग्रह रहा था कि उन्हें पुनः वृंदावन में ला कर प्रतिष्ठित किया जावे। श्री किशोरीलाल जी के गुजराती शिष्य सेठ लल्लूभाई ने उनका नया मंदिर भी बनवाना आरंभ कर दिया था। सं. १८४१ की ज्येष्ठ शु. ८ को कामवन में मुसलमान आक्रमणकारियों ने वड़ा उपद्रव किया; जिसके कारण श्री राधावल्लभ जी को वृंदावन वापिस ले जाने की शीघ्रता की गई थी। फलतः आश्विन शु. २ को उन्हें वृंदावन लाया गया; किंतु तव तक नया मंदिर पूरा बन कर तैयार नहीं हुआ था। ऐसी अनुश्रुति है, उस समय उन्हें श्री गदाधर भट्ट जी के सेव्य स्वरूप के साथ रखा गया था। सं. १८४२ में नया मंदिर बन गया था; तब उक्त मंदिर में उन्हें प्रतिष्ठित किया गया था। आजकल भी वे इसी नये मंदिर में विराजमान हैं।

श्री किशोरीलाल जी के उत्तराधिकारी—

सर्वश्री हितलाल जी और रसिकानंदलाल जी—वे गोस्वामी श्री किशोरीलाल जी के पुत्र थे। उनमें से हितलाल जी बड़े थे और रसिकानंदलाल जी छोटे थे। हितलाल जी के कोई पुत्र नहीं था, और रसिकानंदलाल जी के दयासिंधु जी एवं कृपासिंधु जी नामक दो पुत्र थे। हितलाल जी ने कृपासिंधु जी को गोद ले लिया था। उसके उपरांत दोनों भाइयों ने सं. १८४९ में पैतृक सपत्ति, मंदिर, हवेली, वाटिका आदि का बटवारा कर लिया था। उससे उन दोनों के घरानों की दो पृथक् परंपराएँ प्रचलित हुईं, जिन्हें 'वड़ी सरकार' और 'छोटी सरकार' कहा जाता है। राधावल्लभीय गोस्वामियों में ये दोनों घराने अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके वंशजों और शिष्यों में भी अनेक प्रसिद्ध महानुभाव हुए हैं। श्री रसिकानंदलाल जी के एक शिष्य प्रियादास जी थे और उनकी शिष्या आनंदीवाई जी थीं। उन दोनों का कुछ संक्षिप्त वृत्तांत यहाँ दिया जाता है।

प्रियादास जी (दनकौर वाले)—वे राधावल्लभ संप्रदाय के अन्य प्रियादासों से भिन्न भक्त जन और दनकौर के निवासी थे। उनकी रचनाओं में 'सेवक चरित्र' की वड़ी प्रसिद्धि है। यह

गद्य-पद्यात्मक ग्रंथ है और इसकी रचना सं. १८४१ में हुई थी। इसी में सेवक जी की जन्म-तिथि श्रावण शु. ३ का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। इसके गद्य में १६ वीं शती की सुव्यवस्थित भाषा-शैली का उदाहरण मिलता है।

आनंदीवाई जी—वे एक धार्मिक महिला थीं। उन्होंने ठाकुर-सेवा और साधु-सेवा में अपना समस्त जीवन लगाया था। उनकी वाणी-रचना भी उपलब्ध है, जिसमें 'निजु भाव विचार' नामक समय-प्रबंध की पूर्ति सं. १८४० हुई थी। गोस्वामी ललिताचरण जी ने उनकी महत्ता का मूल्यांकन करते हुए लिखा है,—'साहित्यिक दृष्टि से इनकी वाणी का अधिक महत्व नहीं है, किंतु उसमें प्रत्यक्ष अनुभव का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। आनंदीवाई जी से पूर्व हित प्रभु की शिष्या गंगाबाई और यमुनाबाई ने भी वाणी-रचना की थीं, किंतु वे अब प्राप्त नहीं हैं। इस दृष्टि से उनकी वाणी का महत्व बढ़ जाता है[1]।'

सर्वश्री दयासिंधु जी और कृपासिंधु जी—वे गो. श्री रसिकानंदलाल जी के पुत्र थे। उनमें से कृपासिंधु जी को गो. श्री हितलाल जी ने गोद ले लिया था; अतः वे 'बड़ी सरकार' की गद्दी के अधिकारी हुए थे। उन्हें सर्वश्री रूपलाल जी और किशोरीलाल जी के निजी सेव्य स्वरूप ठाकुर श्री राधाकांत जी की सेवा और पैतृक बटवारा से हवेली एवं वाटिका प्राप्त हुई थीं। दयासिंधु जी 'छोटी सरकार' की गद्दी के अधिकारी रहे थे। उन्हें बटवारा से पैतृक मंदिर प्राप्त प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने ठाकुर श्री राधाविहारी जी को प्रतिष्ठित किया था।

सर्वश्री दयासिंधु जी और कृपासिंधु जी अपने पूर्वजों की परंपरा के अनुसार बड़े यशस्वी एवं प्रतापी हुए थे। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय की धार्मिक और साहित्यिक प्रगति में बड़ा योग दिया था। उन दोनों के रचे हुए उत्सव संबंधी पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं। उन्होंने 'छोटी सरकार' और 'बड़ी सरकार' की सांप्रदायिक गद्दियों का संचालन बड़ी योग्यता पूर्वक किया था। उनकी वंश-परंपरा और शिष्य-परंपरा में अनेक धार्मिक एवं साहित्यिक महानुभाव हुए हैं।

राधावल्लभ संप्रदाय द्वारा व्रज की सांस्कृतिक प्रगति—

'बिंदु'-परिवार और 'नाद-परिवार का योग-दान—श्री हित हरिवंश जी के 'बिंदु'-परिवार के रास वंश, उसकी दोनों शाखाएँ 'बड़ी सरकार'-'छोटी सरकार' और विलास वंश से संबंधित गोस्वामी गण के साथ ही साथ 'नाद'-परिवार के विरक्त स्वामी समुदाय का राधावल्लभ संप्रदाय की उन्नति में समान महत्व रहा है। उन सब के सम्मिलित प्रयत्न से ही यह व्रज का एक सुव्यवस्थित संप्रदाय बन सका है। इसके द्वारा व्रज की धार्मिक प्रगति से भी अधिक इसकी सांस्कृतिक समृद्धि में योग मिला है। राधावल्लभ संप्रदाय का वाणी साहित्य व्रज की साहित्यिक निधि का एक बहुत बड़ा भंडार है।

राधावल्लभ संप्रदाय में वाणी-रचना को भी भक्ति-साधना का ही अंग माना गया है। इसलिए प्रायः सभी भक्त जनों ने यथासाध्य कुछ न कुछ रचना करने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं में से कुछ काव्य की दृष्टि से साधारण कोटि की हैं; किंतु भक्ति-भावना की दृष्टि से वे भी महत्वपूर्ण हैं। समय की गति से बहुत सी रचनाएँ लुप्त हो गई हैं, और होती जा रही हैं; फिर भी वे प्रचुर परिणाम में अब भी उपलब्ध हैं।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ५२५

५. हरिदास संप्रदाय

नामकरण और इसकी सार्थकता—व्रजमंडल के महान् संत, रसिक भक्त और संगीताचार्य स्वामी हरिदास जी ने व्रज के लीला-धाम वृंदावन में श्रीराधा-कृष्ण की प्रेमा भक्ति और रसोपासना के जिस विशिष्ट 'मत' अथवा 'मार्ग' का प्रचलन किया था, वह उनके नाम पर 'हरिदास संप्रदाय' कहा जाता है। इस भक्ति-मत किंवा उपासना-मार्ग में परात्पर प्रेम तत्त्व रूप श्रीश्यामा-कुंजविहारी के 'नित्य विहार' की मान्यता है। उसके अनुसार नित्य निकुंज में प्रवेश करने एवं नित्य विहार के सुखानुभव करने का अधिकार केवल श्रीराधा जी की सखियों को है; अतः उपासक भक्त जन भी सखी भाव से ही उस दिव्य प्रेम लीला रस की अनुभूति द्वारा अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं। उक्त मान्यता के कारण यह प्रेमा भक्ति और रसोपासना का मार्ग 'सखी संप्रदाय' भी कहलाता है।

किसी भी धार्मिक संप्रदाय की विशिष्टता अधिकतर उसके दार्शनिक सिद्धांत पर आधारित होती है, और उसकी उपासना-भक्ति भी प्रायः उक्त सिद्धांत के अनुकूल ही होती है। किंतु स्वामी हरिदास जी के इस 'सखी संप्रदाय' में दार्शनिक सिद्धांत की उपेक्षा की गई है, और इसे शुद्ध प्रेमा भक्ति एवं रसोपासना पर आधारित किया गया है। वैसे स्वामी जी के रचे हुए १८ ध्रुपद 'अष्टादश सिद्धांत के पद' कहे जाते हैं; किंतु उनमें किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिपादन का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता है। उनमें भगवान् की महत्ता और जीव की विवशता सूचक भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि की सामान्य बातों का ही कथन किया गया है। हित हरिवंश जी की उपासना प्रणाली की भाँति स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रचलित उपासना-पद्धति को भी एक 'संप्रदाय' की अपेक्षा 'मत' या 'मार्ग' कहना अधिक सार्थक है। किंतु जिस प्रकार हित जी की उपासना-प्रणाली को स्पष्ट करने के लिए उसे एक विशिष्ट संप्रदाय के नाम से अभिहित किया गया है; उसी प्रकार स्वामी जी की उपासना-पद्धति और उसके सखी भाव की विशिष्टता का बोध कराने के लिए इसे 'हरिदास संप्रदाय' अथवा 'सखी संप्रदाय' कहा जाता है।

सांप्रदायिक विशेषता—यह संप्रदाय सखी भाव की विशुद्ध प्रेमोपासना को लेकर चला है। इसमें प्रेम रस को सर्वोपरि तत्त्व मान कर उसे 'श्रीश्यामा-कुंजविहारी' के नाम से विज्ञापित किया गया है। इस संप्रदाय की मान्यता है कि यह परात्पर प्रेम तत्त्व 'एक' होते हुए भी 'युगल स्वरूप' धारण कर अपनी दिव्य निकुंजों में 'नित्य विहार' रत रहता है। उसकी अंगस्वरूपा सखियाँ उस चिरंतन क्रीड़ा में योग देती हुई दिव्य लीला-रस का सुखानुभव करती रहती हैं। भक्ति मार्ग में अग्रसर होने वाला साधक अपने उद्देश्य में तभी सफल हो सकता है, जब वह संसार के समस्त विषयों से विरक्त होकर उन सखियों के भाव से ही प्रेमोपासना करे। भक्ति के क्षेत्र में यह स्वामी हरिदास जी की महान् देन थी। अपनी विशेषता के कारण ही स्वामी जी के इस उपासना-भक्ति के मार्ग को एक विशिष्ट संप्रदाय कहा गया है।

श्री हित हरिवंश जी द्वारा प्रचलित 'राधावल्लभ संप्रदाय' भी रसोपासक संप्रदाय है। श्री निंबार्काचार्य जी ने भक्ति के क्षेत्र में जिस 'राधा-कृष्णोपासना' को प्रचलित किया था, उसी का अत्यंत विकसित और सूक्ष्म स्वरूप वृंदावन के इन दोनों रसिक संप्रदायों में स्वीकृत हुआ है। श्री हित हरिवंश जी की भाँति स्वामी हरिदास का उपासना मार्ग भी किसी पूर्ववर्ती भक्ति संप्रदाय

के अंतर्गत न होकर स्वतंत्र रूप मे विकसित हुआ है। इसीलिए श्री विहारिनदास जी ने स्वामी जी की वंदना करते हुए उन्हें गुरुओं का भी गुरु बतलाया है,—'गुरुन को गुरु श्री हरिदास आसुधीर को।' स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनके संप्रदाय में जितने आचार्य हुए, उन्होंने स्वामी जी से ही अपनी गुरु-परंपरा का आरंभ किया है।

स्वामी हरिदास जी (प्रायः १६वीं शती के मध्य से १७वी शती के मध्य तक)—

जीवन-वृत्तांत की उलझन—स्वामी हरिदास जी का प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत उपलब्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि न तो उनकी रचनाओ में उनके जीवन-वृत्त से संबंधित कोई उल्लेख मिलता है, और न उनके समकालीन भक्तों, शिष्यों एवं इतिहासकारों ने ही उस पर कुछ प्रकाश डाला है। स्वामी जी मुगल सम्राट अकबर के काल में विद्यमान थे। उनकी सम्राट से भेंट होने की किंवदंती बड़ी प्रसिद्ध है। उसके अतिरिक्त अकबरी दरबार के विख्यात गायक तानसेन को भी स्वामी जी का शिष्य बतलाया जाता है। अकबर कालीन अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के विस्तृत विवरण 'आईन-अकबरी' और 'अकबरनामा' जैसे तत्कालीन फ़ारसी ग्रंथों में मिलते हैं; किंतु स्वामी हरिदास जी के संबंध में उनमें भी कोई उल्लेख नहीं है।

स्वामी जी की प्रामाणिक जीवनी के अभाव में उनसे संबंधित अनेक किंवदंतियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई हैं। उनसे उनके चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व और अलौकिक प्रभाव का परिचय तो मिलता है; किंतु उनके जीवन-वृत्त की विश्वसनीय बातों का बोध नहीं होता है। वैसे तो प्रायः सभी प्राचीन और मध्यकालीन महापुरुषों के जीवन-वृत्त अस्पष्ट होने से विवादग्रस्त हैं, तथापि स्वामी हरिदास जी की जीवनी विषयक जैसी उलझन है, वैसी बहुत कम महात्माओं के संबंध में मिलती है। इसका कारण उपलब्ध सामग्री विषयक शुद्ध साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मतभेद ही नहीं, वरन् सांप्रदायिक विवाद भी है; जिसने पारस्परिक विद्वेष का रूप धारण कर लिया है। इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि उस जगत्‌वन्द्य महात्मा का महान् व्यक्तित्व व्यर्थ के वाक्-जंजाल में उलझ गया है!

इस समय स्वामी हरिदास जी के जन्म-काल, जन्म-स्थान, कुल, जाति, गुरु और संप्रदाय के संबंध में स्पष्टतया दो मत हैं; जो उनके अनुगामियों के दो वर्गों की मान्यताओं पर आधारित हैं। उन दोनों के समर्थन में जो परस्पर विरोधी तर्क उपस्थित किये गये हैं, उनके कारण तत्वान्वेषी निष्पक्ष विचारकों के लिए भी किसी निभ्रांत मत पर पहुँचना कठिन हो गया है। यही कारण है, 'मिश्रबंधु विनोद' से लेकर अब तक लिखे हुए हिंदी साहित्य के प्रायः सभी इतिहास ग्रंथों में स्वामी हरिदास जी का अत्यंत अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जीवन-वृत्त मिलता है! उनके भक्ति तत्त्व और उपासना मार्ग तथा उनकी रचनाओं के संबंध में भी उनमें यथार्थ कथन नहीं किया गया है।

सर्वश्री मिश्रबंधु और शुक्ल जी दोनों के इतिहास ग्रंथों में यह हास्यास्पद कथन मिलता है कि स्वामी जी पहिले वृंदावन में रहे थे, किंतु बाद में वे निधुबन में चले गये थे[1]। गोया निधुबन भी मधुबन—कामवन की तरह वृंदावन से पृथक् कोई स्थान है; जब कि यह वृंदावन का ही एक विशिष्ट स्थल है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है, हरिदासी संप्रदाय के सिद्धांत चैतन्य संप्रदाय से

(१) १. सर्वश्री मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु विनोद' (प्रथम संस्करण), प्रथम भाग, पृष्ठ ३०३

२. श्री रामचंद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (संशोधित संस्करण), पृष्ठ १६१

बात यह थी कि उसमें वेदों के हिंसाप्रधान 'विधि-यज्ञ' के स्थान पर हिंसारहित 'द्रव्य-यज्ञ' करने की व्यवस्था थी। उस धर्म का आदि उपदेश बदरिकाश्रम में तपस्या करने वाले नर-नारायण ऋषियों ने नारद जी को दिया था। उन्हीं की प्रेरणा से नारद जी ने 'श्वेतद्वीप' जा कर वहाँ भगवान् विष्णु के दिव्य दर्शन प्राप्त किये थे। उस धर्म की परंपरा सूर्य से मानी गई और उसमें सूर्य के रूप में विष्णु की उपासना की जाती थी। वेदों में सूर्य और विष्णु को समानार्थक माना गया है।

नारायणीय धर्म की अहिंसा-भावना के समर्थन में महाभारत-शांति पर्व (अध्याय ३३५) के अंतर्गत एक प्राचीन राजा उपरिचर का उपाख्यान दिया गया है। वह राजा नारायणीय धर्म का अनुयायी था। उसने जो यज्ञ किये थे, उनमें पशुओं की अपेक्षा तिल-यवादि हिंसारहित वस्तुओं का उपयोग किया गया था। यहाँ तक जिन अश्वमेधादि यज्ञों में आवश्यक रूप से पशु-बलि का विधान था, उनमें भी राजा उपरिचर ने हिंसा नहीं होने दी थी। उक्त उपाख्यान में बतलाया गया है कि राजा उपरिचर के समय में नारायणीय धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ, किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् वह संसार से लुप्तप्राय हो गया था।

श्रीकृष्ण द्वारा नारायणीय धर्म की पुनःप्रतिष्ठा—

धार्मिक क्रांति और उसकी प्रेरणा—नारायणीय धर्म के लुप्तप्राय हो जाने पर वैदिक धर्म की प्राचीन धारा पूर्ववत् प्रवाहित होने लगी थी। उत्तर वैदिक काल के अनंतर जब श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ, तब वैदिक धर्म अपनी सम्पूर्ण भली-बुरी प्रवृत्तियों के साथ प्रचलित था। उस समय भी आर्यों का प्रधान देवता इंद्र था और उसकी संतुष्टि के लिए आडंबरपूर्ण यज्ञ किये जाते थे। श्रीकृष्ण ने अपने अन्य अद्भुत कार्यों के साथ ही साथ एक प्रबल धार्मिक क्रांति भी की थी, जिसके फलस्वरूप वैदिक धर्म के प्रचलित रूप में परिवर्तन हो गया था। उन्होंने अपने बाल्य काल में ही इंद्र की अवहेलना कर उसके निमित्त किये जाने वाले यज्ञ के स्थान पर गोवर्धन-पूजा प्रचलित कर दी थी। इस प्रकार उन्होंने यज्ञों की पशु-हिंसा के विरोध में गो-पालन और गो-संवर्धन रूपी पशु-रक्षा का प्रचार किया था। श्रीकृष्ण की जीवन घटनाओं और कृष्णकालीन धर्म का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत है, किंतु उसमें उक्त महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है। कारण यह है, उसमें श्रीकृष्ण के बाल्य जीवन की अपेक्षा उनके उत्तर जीवन की घटनाएँ ही वर्णित हैं। किंतु महाभारत के परिशिष्ट हरिवंश में तथा विष्णु पुराणादि प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

जैसा पहिले लिखा गया है, ब्राह्मण काल में वैदिक यज्ञ पद्धति को अत्यंत विशद, जटिल और व्ययसाध्य बना दिया गया था। श्रीकृष्ण के काल में यज्ञों का करना बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं के लिए भी कठिन हो गया था। महाभारत से ज्ञात होता है, जब पांडवों ने राजसूय यज्ञ करने का विचार किया, तब उसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करने में उन्हें बड़ी कठिनाई हुई थी। श्रीकृष्ण ने यज्ञों के उस आडंबर को कम करने और उनमें की जाने वाली पशु-हिंसा को रोकने के लिए उनके रूप में ही परिवर्तन करने का प्रचार किया था। उन्होंने यज्ञ की नयी परिभाषा करते हुए बतलाया कि सर्वोत्तम यज्ञ वह है, जिसमें किसी जीव की हिंसा न हो और जिससे परोपकार किया जा सके। यज्ञ की वास्तविक दक्षिणा धन-संपत्ति नहीं है; बल्कि तप, दान, अहिंसा और सत्य है। श्रीकृष्ण को उस मन्तव्य की प्रेरणा अपने गुरु आंगिरस (महर्षि अंगिरा के पुत्र) घोर ऋषि से प्राप्त हुई थी।

बहुत मिलते हैं[1]। यह कथन भी ठीक नहीं है। स्वामी जी की प्रेमा भक्ति और उनकी सखी भाव की रसोपासना में इतनी विलक्षणता है कि उन्हें किसी अन्य संप्रदाय के भक्ति तत्व अथवा दार्शनिक सिद्धांत से संबद्ध करना वस्तु स्थिति के अनुकूल नहीं है। उनकी रचनाओं को भी 'ऊबड़-खाबड़' कहा गया है और उनमें मधुरता, कोमलता एवं शब्द-चातुर्य की कमी बतलाई गई है[2]। संगीत और साहित्य के कतिपय विद्वानों ने स्वामी हरिदास तथा हरिदास डागुर को एक ही व्यक्ति माना है और उन्होंने स्वामी जी रचनाओं के साथ डागुर की रचनाओं को मिला दिया है[3]। वास्तविकता यह है, न तो स्वामी जी की रचनाओं में मधुरता, कोमलता तथा शब्द-चातुर्य की कमी है, और न स्वामी हरिदास एवं हरिदास डागुर एक ही थे। हम आगामी पृष्ठों में इन सब भ्रमात्मक बातों का समाधान करने की चेष्टा करेंगे।

स्वामी जी संबंधी दो मान्यताएँ—स्वामी हरिदास जी के संबंध में जो अनिश्चय और भ्रम का वातावरण बना हुआ है, उसका एक बड़ा कारण यह है कि उनके अनुयायियों में भी आपस में मतैक्य नहीं है! उनमें जो मान्यताएँ प्रचलित है, उनसे स्वामी जी के निश्चित जीवन-वृत्त के उद्घाटन की अपेक्षा भ्रम का ही अधिक प्रसार हुआ है। इस समय स्वामी हरिदास जी के समस्त अनुयायी प्रायः दो विशिष्ट वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग वृंदावन के टट्टी संस्थान से संबंधित विरक्त संत और उनकी शिष्य-परंपरा का है। दूसरा वर्ग श्री बिहारी जी के मंदिर के पुजारी गृहस्थ गोस्वामी गण और उनके अनुगामियों का है। गोस्वामी गण अपने को स्वामी हरिदास जी का वंशज बतलाते हैं। उनका यह दावा विरक्त संतों की शिष्य-परंपरा को स्वीकार नहीं है। यही दोनों वर्गों के मतभेद और उससे उत्पन्न विवाद का मूल कारण है। इस पारस्परिक मतभेद जन्य विवाद के फलस्वरूप स्वामी जी के जीवन-वृत्तांत से संबंधित स्पष्टतया दो मान्यताएँ चल पड़ी है, जिनका सामंजस्य करना एक बड़ी समस्या बनी हुई है।

विरक्त शिष्यों के मत का आधार अब से प्रायः दो शताब्दी पूर्व निर्मित 'निज मत सिद्धांत' नामक ग्रंथ है, जिसके रचयिता श्री किशोरदास नामक एक विरक्त संत थे। इसी ग्रंथ के आधार पर श्री सहचरिशरण कृत 'गुरु प्रणालिका', 'आचार्योत्सव सूचना' और 'ललित प्रकाश' में भी विरक्त शिष्यों की मान्यता के अनुकूल कथन किये गये हैं। गोस्वामी गण की मान्यता का प्रमुख आधार 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' नामक एक प्राचीन फ़ारसी ग्रंथ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त विविध भक्तमालादि अन्य आधार ग्रंथ भी हैं, किंतु वे परवर्ती काल के हैं।

दोनों मतों में मान्य स्वामी जी के जीवन-वृत्तांत का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—

	विरक्त शिष्य-परंपरा में मान्य	गृहस्थ गोस्वामी-परंपरा में मान्य
१. जन्म-काल	सं. १५३७ भाद्रपद शु. ८, बुधवार	सं. १५६६ पौष शु. १३, भृगुवार
२. जन्म-स्थान	राजपुर (वृंदावन)	हरिदासपुर (अलीगढ़)
३. जाति	सनाढ्य ब्राह्मण	सारस्वत ब्राह्मण

(१) डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृ.सं.), पृष्ठ ६०७
(२) १. श्री रामचंद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (संशोधित संस्करण), पृष्ठ १६१
२. डा. रामकुमार वर्मा कृत 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृ.सं. पृष्ठ) ५९०
(३) संगीतज्ञ कवियों की हिंदी रचनाएँ, पृष्ठ ५१–५६

४. माता	चित्रादेवी	गंगादेवी
५. पिता	गंगाधर जी (सनाढ्य ब्राह्मण)	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)
६. भाई	...	जगन्नाथ जी, गोविंद जी
७. गुरु	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)
८. संप्रदाय	निंबार्क	विष्णुस्वामी
९. दीक्षा-तिथि	...	भाद्रपद शु ८
१०. वृंदावन-आगमन	सं. १५६२ (२५ वर्ष की आयु में)	सं. १५९४ (२५ वर्ष की आयु में)
११. श्री विहारी जी के प्राकट्य की तिथि	मार्गशीर्ष शु. ५ (सं. १५६७)	मार्गशीर्ष शु. ५ (सं. १६०० के पश्चात्)
१२. देहावसान-काल	सं. १६३२ आश्विन शु. १५ (९५ वर्ष की आयु में)	सं. १६६४ आश्विन शु. १५ (९५ वर्ष की आयु में)

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि स्वामी जी के अनुयायी दोनों वर्गों की मान्यताओं में अंतर होते हुए भी कुछ बातों में समानता है, और कुछ बातों में थोड़ा ही भेद है। जैसे स्वामी जी का २५ वर्ष की आयु में वृंदावन-आगमन और ९५ वर्ष की आयु में उनका देहावसान दोनों में समान रूप से माना जाता है। श्री विहारी जी के प्राकट्य की तिथि मार्गशीर्ष शु. ५ (विहार पंचमी) और स्वामी के देहावसान की तिथि आश्विन शु. १५ (शरद पूर्णिमा) भी दोनों में समान रूप से मान्य है। इनके अतिरिक्त श्री आशुधीर जी का सारस्वत ब्राह्मण होना और उनसे स्वामी हरिदास जी का घनिष्ट संबंध होना दोनों ही मतों में स्वीकृत है। इसमें थोड़ा भेद यह है कि विरक्त शिष्य-परंपरा के अनुसार जहाँ श्री आशुधीर जी स्वामी जी के गुरु थे, वहाँ गोस्वामियों के मतानुसार वे स्वामी जी के पिता और गुरु दोनों ही थे। वैसे विरक्त संतों में भी गुरु को पिता सदृश ही समझा जाता है। भाद्रपद शु. ८ (राधाष्टमी) जहाँ विरक्त शिष्यों के मतानुसार स्वामी जी की जन्म-तिथि है, वहाँ गोस्वामियों के मतानुसार दीक्षा-प्राप्ति की तिथि। वैष्णव संप्रदायों में दीक्षा-प्राप्ति की तिथि ही एक प्रकार से जन्म-तिथि भी मानी जाती है, क्यों कि उसी दिन संप्रदाय में शिष्य का आविर्भाव होता है। यही कारण है, दोनों ही परंपराओं में स्वामी जी का जन्मोत्सव भाद्रपद शु. ८ को ही मनाया जाता है। दोनों मान्यताओं में सामान्य मतभेद स्वामी जी के जन्म-काल एवं जन्म-स्थान के विषय में है, और विशेष मतभेद उनकी जाति एवं संप्रदाय के संबंध में है।

दोनों मान्यताओं के आधार और उनकी समीक्षा—विरक्त शिष्यों की मान्यता का प्रमुख स्रोत 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ है। उसी के आधार पर श्री सहचरिशरण कृत 'गुरु प्रणालिका', 'आचार्योत्सव सूचना' और 'ललित प्रकाश' में तथा बाद में ब्रह्मचारी विहारीशरण द्वारा संपादित 'निंबार्क माधुरी' में तद्विषयक कथन किये गये है। सर्वश्री किशोरदास जी तथा सहचरिशरण जी १९वीं शती के भक्त-कवि थे और विहारीशरण जी आधुनिक काल के लेखक हैं। इससे सिद्ध होता है कि विरक्त शिष्यों की मान्यता का आधार अधिक पुराना नहीं है। इन ग्रंथों में तिथि-संवत् की भी भूलें हैं, जिनके कारण वे इतिहास की कोटि में नहीं आते हैं। फिर भी इनमें स्वामी हरिदास जी और उनकी विरक्त शिष्य-परंपरा के संतों से संबंधित जैसी प्रचुर सामग्री मिलती है, वैसी किसी अन्य स्रोत से उपलब्ध नहीं होती है। हमें श्री किशोरदास जी का निश्चय ही बड़ा कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने सर्व प्रथम स्वामी जी और उनकी शिष्य-परंपरा का इतना विस्तृत विवरण

लिखा है। यदि वह उपलब्ध न होता, तो आज स्वामी जी के संबंध में कुछ भी जानना संभव नहीं था। चूंकि वह विवरण स्वामी जी के प्रायः ढाई सौ वर्ष बाद का है, अतः उसमें कुछ भूलें रह जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

गोस्वामियों की मान्यता के समर्थन में 'मिराते सिकंदीर व मिराते अकबरी' नामक एक प्राचीन फ़ारसी ग्रंथ का नामोल्लेख किया गया है। श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने इस संबंध में लिखा है,—'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' इस ग्रंथ का कुछ भाग वि. सं. १५२६ में लिखा गया था और शेष भाग सम्राट अकबर के समय में पूरा हुआ था। इसमें विस्तार से तत्कालीन इतिहास का वर्णन हुआ है। यह कई जिल्दों में है। इसमें श्री हरिदास जी तथा उनके जन्म-सवत, जन्म-स्थान, जाति, पिता आदि का वर्णन ग्रंथ की छटवीं जिल्द में पाया जाता है। कोई कारण नहीं कि इस ग्रंथ को प्रामाणिक न माना जाय। इस ग्रंथ के अनुसार स्वामी जी का जन्म पौष शु. १३ भृगुवार सं. १५६९ में हुआ था। ऐतिहासिक घटनाओं का विवेचन करने से भी यह काल ठीक जान पड़ता है[1]।'

निश्चय ही यह बहुत बड़ा प्रमाण है, जो गोस्वामी वर्ग की मान्यता को अकाट्य सिद्ध करता है। किंतु इसमें कठिनाई यह है कि उक्त 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' ग्रंथ इस समय कदाचित मिलता नहीं है। श्री 'चक्र' जी ने अपना कथन उक्त ग्रंथ को स्वयं देख कर लिखा है; अथवा किसी से सुन कर, यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। गोस्वामियों की मान्यता का समर्थन करने वाले जितने सज्जन हमें मिले हैं, उनमें से किसी ने उक्त ग्रंथ को नहीं देखा है। फ़जलुल्ला फ़रीदी कृत 'मिराते सिकंदरी' का अंगरेजी अनुवाद उपलब्ध है, जो एक ही जिल्द में प्रकाशित हुआ है। इसमें स्वामी हरिदास जी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया है। ऐसी स्थिति में उस तथाकथित 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' ग्रंथ के नाम से प्रचारित स्वामी जी के वृत्तांत को सर्वथा प्रामाणिक मानना संभव नहीं है। स्वामी जी २५ वर्ष की आयु में वृंदावन आये, और वहाँ पर ७० वर्ष तक निवास करने के उपरांत ९५ वर्ष की आयु में उनका देहांत हुआ था,—यह मान्यता 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ के अनुसार विरक्त शिष्यों की है[2]। यदि गोस्वामियों की तद्विषयक मान्यता का आधार भी उक्त ग्रंथ ही है, तब उनके द्वारा उसकी अन्य बातें स्वीकार न करने का औचित्य नहीं माना जायगा।

स्वामी हरिदास जी से संबंधित दोनों प्रचलित मान्यताओं और उनके आधारों की भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि उनमें न्यूनाधिक रूप में कई हरिदासों की जीवन-घटनाओं का संमिश्रण हो गया है। मध्य कालीन भक्तों में हरिदास नाम के अनेक महात्मा हुए हैं। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' में ७, ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' में ४ और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ३ हरिदासों के उल्लेख मिलते हैं। उनमें से कई स्वामी हरिदास जी के समय में विद्यमान भी थे, और कई बाद में हुए थे। स्वामी जी की शिष्य-परंपरा में भी कई हरिदास हुए हैं। उनमें से एक के विषय में नवनीत जी ने लिखा है,—'श्री स्वामी हरिदास के शिष्य भये हरिदास। सुमिरन कर हरिदास कौ, होय गये हरिदास[3] ॥'

---

(१) श्री केलिमाल में प्रकाशित 'स्वामी जी का जीवन चरित्र', पृष्ठ २०

(२) गृह में वर्ष पचीस बिताये। फिर वैराग-त्याग उपजाये ॥
सत्तर वर्ष कीन्ह बन-वासा। गुप्त भाव कीन्हौ परकासा ॥ (नि.म. सिद्धांत, मध्य खंड)

(३) हरिदास वंशानुचरित, पृष्ठ १८

पूर्वोक्त सभी हरिदासो की जीवन–घटनाएँ कालांतर में आपस में इतनी घुल-मिल गई थीं कि उन्हें प्रत्येक हरिदास से संबंधित रखना कठिन हो गया। स्वामी हरिदास जी उन सभी हरिदासों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए, अतः उनके जीवन–वृत्तांत में अन्य हरिदासों की कतिपय बातें भी स्वतः संमिश्रित हो जाने की संभवाना हो सकती है। ऐसा और भी अनेक प्राचीन तथा मध्य कालीन महापुरुषों के जीवन–वृत्तांतों के साथ हुआ है। हरिदास, कृष्णदास, रामदास, सूरदास आदि नाम भक्त जनों को अधिक प्रिय रहे है; अतः उक्त नामों के अनेक भक्त जन समय-समय पर होते रहे हैं, और उनके जीवन–वृत्तांत भी आपस में मिलते रहे हैं।

स्वामी हरिदास जी संबधी दोनों प्रचलित मान्यताओं की त्रुटि और उनके आधारभूत ग्रंथों की अनुपलब्धि के साथ ही साथ कई हरिदासों के जीवन–वृत्तांतों के घोल-मेल ने उनकी प्रामाणिक जीवनी के प्रश्न को बड़ा जटिल बना दिया है! ऐसी दशा में किसी एक मान्यता को सर्वथा प्रामाणिक मान कर स्वीकार करना, और दूसरी को एकदम अप्रामाणिक कह कर अस्वीकार कर देना किसी भी तटस्थ विचारक के लिए कदापि उचित नहीं है। अच्छा यह होगा कि जो विवाद-रहित बातें हैं, उन्हें स्वीकार किया जावे और विवादग्रस्त बातों के संबंध में अनुसंधान पूर्वक निर्णय किया जावे।

स्वामी हरिदास जी से संबंधित दो शोध–प्रबंध प्रस्तुत हुए हैं। एक है, 'स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य', तथा दूसरा है, 'कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव।' इनके कर्त्ता क्रमशः डा० गोपालदत्त शर्मा और डा० शरणबिहारी गोस्वामी हैं। इन प्रबंधों में स्वामी जी के संप्रदाय, साहित्य और उनकी उपासना–पद्धति पर बड़े सुलझे ढंग से प्रकाश डाला गया है। जहाँ तक स्वामी जी के जीवन-वृत्तांत का संबंध है, दोनों शोधक विद्वानों ने पूर्वोक्त प्रचलित मान्यताओं मे से प्रायः एक-एक के प्रति ही अपना आग्रह प्रकट किया है। इससे कई समस्याएँ उलझी रह गई है। फिर भी उनके अनुसंधान से कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आये हैं, जो उक्त जटिल समस्याओं के समाधान के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। हम उन पर विचार करते हुए स्वामी जी के जीवन-वृत्तांत की कुछ समस्याओं का उल्लेख करेंगे।

उपस्थिति–काल—स्वामी हरिदास जी के उपस्थिति–काल के संबंध में विभिन्न मत मिलते हैं[1]। इनमें से विरक्त शिष्य–परंपरा के श्री किशोरदास जी का मत सर्वाधिक प्रसिद्ध है, और उपलब्ध उल्लेखों में यही सबसे पुराना है; यद्यपि यह स्वामी जी के प्रायः ढाईसौ वर्ष बाद का है। इसी परंपरा के श्री सहचरिशरण जी ने भी बाद में किशोरदास जी के मत का समर्थन किया है। उन दोनों विरक्त संतों ने स्वामी जी का उपस्थिति–काल सं. १५३७ से सं. १६३२ तक का माना है। उनके मतानुसार स्वामी जी का जन्म सं. १५३७ की भाद्रपद शु. ८ बुधवार को हुआ था। वे २५ वर्ष की आयु तक अपने घर पर रहे थे और उसके उपरांत वे विरक्त होकर सं. १५६२ में वृंदावन आ गये थे। उन्होंने वहाँ के निधुवन में सं. १५६७ की मार्गशीर्ष शु ५ को श्री बिहारी जी का प्राकट्य किया था। वे ७० वर्ष तक वृंदावन में रहे थे और उनका देहावसान वहाँ ९५ वर्ष की आयु में सं. १६३२ की आश्विन शु. १५ को हुआ था[2]। इस प्रकार का तिथि-संवत् सहित विशद

(१) कृष्ण–भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४३६

(२) 'निज मत सिद्धांत' का मध्य खंड तथा 'गुरु–प्रणालिका' और आचार्योत्सव–सूचना'

वर्णन सर्वश्री किशोरदास और सहचरिशरण ने किस आधार पर किया, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा अनुमान होता है, उनके मत का आधार परंपरा से प्रचलित अनुश्रुतियाँ होंगी। वे अनुश्रुतियाँ वस्तु-स्थिति के कहाँ तक अनुकूल थीं, और स्वामी जी के ढाईसौ वर्ष पश्चात् उनके आधार पर लिखा हुआ मत कहाँ तक प्रामाणिक है, इसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

उक्त मत के विरुद्ध गोस्वामी-परंपरा में स्वामी जी से संबंधित जो मान्यता है, उसका समर्थन करते हुए श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने लिखा है कि 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' नामक फ़ारसी ग्रंथ के अनुसार स्वामी जी का जन्म सं. १५६६ की पौष शु. १३ भृगुवार को हुआ था। उनके लेखानुसार उक्त ग्रंथ का कुछ भाग सं. १५२६ में लिखा गया और शेष भाग सम्राट अकबर के समय में पूरा हुआ था[1]। इस प्रकार स्वामी जी के जन्म-काल का यह अत्यंत प्राचीन और समकालीन प्रमाण माना जा सकता है। किंतु आज तक किसी ने यह नहीं बतालाया कि उन्होंने उक्त ग्रंथ स्वयं देखा है, और उसमें उन्हें स्वामी जी के जन्म-काल का वह उल्लेख मिला है। ऐसा मालूम होता है, चक्र जी ने किसी से सुन कर ही उसे लिखा है। ऐसी दशा में उसे प्रामाणिक मानने के लिए उसका समर्थन अन्य सूत्रों से होना आवश्यक है।

स्वामी हरिदास जी से संबंधित जो दो शोध प्रबंध प्रस्तुत हुए हैं, उनमें से एक के कर्त्ता डा० गोपालदत्त शर्मा ने विरक्त शिष्य-परंपरा में मान्य स्वामी जी के उपस्थिति-काल (सं. १५३७-सं. १६३२) का समर्थन किया है। दूसरे शोध-कर्त्ता डा० शरणविहारी गोस्वामी, यद्यपि गोस्वामी-परंपरा की मान्यता के समर्थक हैं; तथापि उन्होंने स्वामी जी का उपस्थित-काल सं. १५३५ से सं. १६३५ तक का अनुमानित किया है। इस प्रकार दोनों विद्वानों के शोध का निष्कर्ष कुछ अन्य बातों में भिन्न होते हुए भी स्वामी जी के उपस्थिति-काल के संबंध में प्रायः समान है। ऐसी स्थिति में श्री किशोरदास के मत को स्वीकार करना उचित है। फिर भी स्वामी जी के जन्म और देहांत के काल की अपेक्षा उनके वृंदावन-आगमन के काल को स्वीकार करना कठिन मालूम होता है।

श्री किशोरदास के उल्लेखानुसार स्वामी जी अपनी २५ वर्ष की आयु में विरक्त होकर वृंदावन आये थे। वे सं. १५६२ से वहाँ रहे थे और सं. १५६७ में उन्होंने श्री बिहारी जी का प्राकट्य कर उनकी सेवा का प्रचलन किया था। यह वह काल है, जब वृंदावन सघन वृक्षावली से आच्छादित था। उसका अधिकांश भाग तब बीहड़ बन था और वह हिंसक पशुओं तथा नरवाहन जैसे दस्युओं के आतंक के कारण निवास योग्य नहीं बन सका था। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उसके कुछ ही समय पश्चात् सं. १५६८ में अपने दो अनुचर सर्वश्री लोकनाथ और भूगर्भ को वृंदावन का अनुसंधान करने को भेजा था। वे दोनों भक्त जन कुछ काल तक उस बीहड़ बन में भटकते रहे, और अंत में असफल होकर वापिस चले गये थे। ऐसी स्थिति में स्वामी जी का उस काल में वहाँ निवास करने और श्री बिहारी जी की सेवा को प्रचलित करने की बात कुछ संदेह उत्पन्न करती है।

वृंदावन-वास की वह कठिन स्थिति हित हरिवंश जी के आगमन-काल सं. १५९० तक रही थी। हित जी ने ही सर्वप्रथम नरवाहन को प्रभावित कर दस्युओं के आतंक से वृंदावन को मुक्त किया था। उसके उपरांत उन्होंने श्री राधावल्लभ जी की सेवा प्रचलित कर और अपने परिकर सहित वहाँ निवास कर वृंदावन को भक्त जनों के रहने योग्य बनाया था। वहाँ पर

---

(१) केलिदास में प्रकाशित 'स्वामी जी का जीवन चरित्र', पृष्ठ २०

मंदिर-देवालय और सर्व साधारण के आवास-गृह तो बहुत बाद में बनाये गये थे। श्री हित हरिवंश जी से पहिले पुष्टिमार्गीय भक्त जन सर्वश्री सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास ब्रज में आये थे; किंतु उन्होंने गोवर्धन में निवास किया था। कुंभनदास तो वहाँ पैदा ही हुए थे। वृंदावन के बसने से पहिले गोवर्धन ही भक्त जनों के आकर्षण का केन्द्र था। पुष्टिमार्गीय भक्त महानुभावों के बाद में, किंतु हित हरिवंश जी से पहिले गौड़ीय गोस्वामी सर्वश्री सनातन, रूपादि वृंदावन में निवास करने के लिए आये थे। किंतु वे भी पहिले मथुरा, गोकुल, राधाकुंड आदि स्थानों में रहे थे; बाद में उन्होंने वृंदावन में निवास किया था। ऐसी स्थिति में स्वामी हरिदास का उन सभी भक्त जनों से पहिले सं. १५६२ में ही वृंदावन में स्थायी रूप से निवास करने की बात असंगत सी मालूम होती है।

स्वामी जी सर्वस्व त्यागी विरक्त संत थे। संभव है, वे उस काल में भी बीहड़ वृंदावन के किसी निर्जन स्थल में एकाकी उपासना और संगीत-साधना करते रहे हों। किंतु श्री बिहारी जी की सेवा के लिए तो परिकर की आवश्यकता थी, जिसके लिए समुचित सुविधा तत्कालीन वृंदावन में नहीं थी। फिर वह काल सिकंदर लोदी की मजहबी तानाशाही का था, जिसके कारण ब्रज में मूर्ति-पूजा करना असंभव सा हो गया था। गोवर्धन में उस काल में श्रीनाथ जी की सेवा अवश्य प्रचलित हुई थी; किंतु राजकीय उत्पीड़न के कारण उस देव स्वरूप को प्रायः 'टोड़ का घना' और गांठोली जैसे निर्जन वनों में छिपाना पड़ता था। सिकंदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् सं. १५७६ में ही श्रीनाथ जी को निरापद रूप से गिरिराज के मंदिर में विराजमान किया जा सका था। वृंदावन में सबसे पहिले श्री हित हरिवंश जी ने सं. १५९१ में श्री राधावल्लभ जी की सेवा प्रचलित की थी। उसके पश्चात् सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियों द्वारा सं. १५९१-९२ में श्री मदनमोहन जी और श्री गोविंददेव जी की सेवा प्रचलित हुई थी। श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी और श्री जीव गोस्वामी ने सं. १५९९ में क्रमशः श्री राधारमण जी और श्री राधादामोदर जी की सेवा का प्रचलन किया था। यह सब ठाकुर-सेवा वृंदावन में सं. १५९० के पश्चात् ही संभव हुई थी। ऐसी स्थिति में स्वामी हरिदास जी द्वारा सं. १५६७ में ही श्री बिहारी जी के प्राकट्य होने की बात संदेहास्पद है।

इस संदेह का निवारण तब हो सकता है, जब स्वामी जी का वृंदावन-आगमन काल सं. १५९० के पश्चात् का माना जावे। यह तब संभव है; जब या तो २५ की बजाय ५५ वर्ष की आयु में स्वामी जी का वृंदावन आगमन माना जावे, या गोस्वामी-परंपरा के अनुसार उनका जन्म-संवत् १५६९ माना जावे। ऐतिहासिक घटनाओं की संगति से स्वामी जी के जन्म और वृंदावन-आगमन के सं. १५६९ और सं. १५९४ ठीक बैठते हैं, किंतु ९५ वर्ष की आयु में उनका देहावसान मानना तब संभव नहीं होगा; क्यों कि सं. १६६४ तक उनके जीवित रहने का प्रमाण किसी भी सूत्र से प्राप्त नहीं होता है। वे निश्चय ही उससे बहुत पहिले ही इस धरा-धाम को छोड़ चुके थे।

हम गोस्वामी-परंपरा में मान्य मत के पूर्णतया समर्थक नहीं हैं; फिर भी हमें स्वामी जी के जन्म, वृंदावन-आगमन और श्री बिहारी जी के प्राकट्य काल के क्रमशः संवत् १५६९, १५९४ और १६०० ही उचित ज्ञात होते हैं। यदि 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' ग्रंथ का तत्संबंधी उल्लेख उपलब्ध हो जाता है, तब तो उक्त संवतों की पुष्टि हो ही जावेगी; किंतु यदि वह ग्रंथ अथवा उसके समर्थन में कोई अन्य प्राचीन प्रमाण प्राप्त नहीं होता, तब भी ऐतिहासिक घटनाओं की संगति से वे संवत् ही ठीक माने जावेंगे। जहाँ तक स्वामी जी के देहावसान-काल का संबंध है, वह श्री किशोरदास जी द्वारा उल्लिखित सं. १६३७ ही ठीक बैठता है।

स्वामी हरिदास जी

वंश-परंपरा और जाति—स्वामी जी ने न तो स्वयं अपनी वंश-परंपरा एवं जाति के संबंध में कुछ बतलाया है, और न उनके समकालीन किसी व्यक्ति ने ही इस संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ लिखा है। उनके समकालीन श्री हरिराम जी व्यास ने 'आसू कौ', सर्वश्री विहारिनदास जी ने 'आसधीर कौ' तथा नाभा जी ने 'आसुधीर-उद्योतकर' शब्दों द्वारा श्री आशुधीर जी से स्वामी हरिदास का घनिष्ट संबंध बतलाया है[1]। यह संबंध किस प्रकार का था,—पिता-पुत्र का, गुरु-शिष्य का, अथवा दोनों तरह का,—यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता है। जिन उल्लेखों में इस संबंध का स्पष्ट कथन है, वे सब प्रायः १९ वीं शती अथवा उसके बाद के हैं,—अर्थात् स्वामी जी से कम से कम दो शताब्दी बाद के। फलतः उन्हें निर्भांत नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में आशुधीर जी स्वामी जी के पिता थे या गुरु, अथवा दोनों थे; इसे सप्रमाण बतलाना संभव नहीं है।

डा० गोपालदत्त शर्मा ने मथुरा के तन्नू चौबे के पुत्र चौते चौबे की एक सनद के लेख को उद्धृत करते हुए लिखा है,—"चौबे जादों तिनके बेटा चिंतामन लालमन तिन पै हमारे बड़ेन को लिख्यो निकस्यो सं. १६०५ (१६०८) कौ स्वामी आसधीर जी के पुत्र स्वामी हरिदास जी, स्वामी जगन्नाथ जी, स्वामी गोविंददास जी इनके हाथ कौ देखि कैं अब हमन यह नयो कागद लिपि दीनो। वह कागद पुरानौ जीरन होइ गयौ हो याते अब नयो लिपि दीनों कि हमारे प्रोहित मौजी···हशी व इनकूं जो हमारौ होय सो माने जाइ। सं. १८६३ मिति भादौं सुदी रोज दपपत गुलाब के सुवन के कहे लिख्यौ सुभमस्तु[2]।"

इस पर डा० शरणविहारी गोस्वामी का कथन है,—"इस सनद पर जिन गोस्वामियों के हस्ताक्षर हैं, उनमें से कई के हस्ताक्षर अन्य प्राचीन सनदों में भी मिलते हैं, और वे समान हैं। यह एक प्रामाणिक साक्ष्य है, जो सं. १६०५ या १६०८ में स्वामी आसधीर जी, स्वामी हरिदास जी आदि के हाथ का कागज था, उसी को देख कर अगली पीढ़ी ने उसे नवीन किया। इसी प्रकार का एक लेख सं. १६२४ का उज्जैन के पंडे के यहाँ है।" डा० गोस्वामी ने उक्त लेख का फोटो भी अपने शोध-प्रबंध में छपवाया है[3]।

यदि उक्त सनद और लेख को प्रामाणिक माना जावे, तब श्री आशुधीर जी स्वामी जी के पिता सिद्ध होते हैं। श्री गंगाधर जी को स्वामी जी का पिता बतलाने वाला कोई भी उल्लेख श्री किशोरदास से पहिले का उपलब्ध नहीं हुआ है। स्वामी जी की जन्म-बधाई का गायन गोस्वामी-परंपरा और विरक्त शिष्य-परंपरा दोनों के देवस्थानों में होता है। इनमें से पहली परंपरा की बधाइयों में श्री आशुधीर जी का नामोल्लेख मिलता है; किंतु दूसरी परंपरा की बधाइयों में कदाचित श्री गंगाधर जी के नाम का उल्लेख नहीं होता है।

आशुधीर जी से पहिले की परंपरा बतलाने वाली जो नामावलियाँ दोनों मान्यताओं में प्रचलित हैं, उनका कोई विश्वसनीय आधार नहीं है। इस प्रकार स्वामी जी के पूर्वजों के प्रामाणिक

---

(१) १. आसू कौ हरिदास रसिक, हरिवंश न मोहि बिसारौ। (व्यास-वाणी)
२. गुरुनि कौ गुरु, श्री हरिदास आसधीर कौ। (श्री विहारिनदास के सिद्धांत के पद, सं. १)
३. आसुधीर-उद्योतकर, रसिक छाप हरिदास की। (भक्तमाल, छप्पय सं. ९१)

(२) स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृष्ठ ७३

(३) कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४१८ और पृष्ठ ४३७

नाम बतलाना संभव नहीं है। जहाँ तक वंशजों का संबंध है, स्वामी जी का कोई निजी वंश नहीं चला; क्यों कि वे विरक्त और निस्संतान थे। यदि विरक्त होने से पहिले उनकी कोई संतान हुई हो, तो उसकी वंश-परंपरा समाप्त हुई जान पड़ती है। इस समय श्री विहारीजी के मंदिर के जो गोस्वामी गण स्वामी जी के वंशज होने का दावा करते हैं, वे जगन्नाथ जी की वंश-परंपरा में हैं। स्वामी जी के विरक्त शिष्यों की परंपरा में जगन्नाथ जी को श्री विहारी जी का पुजारी माना गया है; जब कि गोस्वामी परंपरा में उन्हें पुजारी के साथ ही साथ स्वामी जी का छोटा भाई भी माना जाता है। मथुरा के तन्नू-चीते चौबे की जिस सनद का पहिले उल्लेख किया गया है, उसमें स्वामी जी के दो भाई जगन्नाथ जी और गोविंददास जी का नामोल्लेख है। यदि उस सनद को प्रामाणिक माना जा सके, तब जगन्नाथ जी को स्वामी जी का छोटा भाई और इस नाते श्री विहारी जी के गोस्वामियों को स्वामी जी का वंशज भी माना जा सकता है।

यदि सर्वश्री आशुधीर जी और जगन्नाथ जी स्वामी जी के क्रमशः पिता और छोटे भाई सिद्ध हो जाते हैं, तब स्वामी जी की जाति भी सारस्वत मानी जावेगी; क्यों कि उन-दोनों का सारस्वत ब्राह्मण होना निर्विवाद है। विरक्त शिष्य-परंपरा में स्वामी जी को सनाढ्य ब्राह्मण माना जाता है। यह मत इसलिए भी अमान्य हो सकता है कि स्वामी जी जैसे विख्यात महापुरुष को अपना पूर्वज बतला कर गौरवान्वित होने वाला कोई सनाढ्य परिवार अभी तक प्रकाश में नहीं आया है; जब कि श्री विहारी जी के गोस्वामी सारस्वत ब्राह्मणों के अनेक परिवार प्रचुर काल से अपने को उनका वंशज बतलाते रहे है।

जन्म-स्थान—स्वामी जी के जन्म-स्थान के रूप में विरक्त शिष्य-परंपरा के अनुसार राजपुर, और गृहस्थ गोस्वामी-परंपरा के अनुसार हरिदासपुर का नाम लिया जाता है। राजपुर वृंदावन के समीप का एक छोटा सा गाँव है, जहाँ न तो स्वामी जी के जन्म-स्थान होने की कोई अनुश्रुति प्रचलित है, और न उनका कोई स्मृति-चिन्ह ही है। हरिदासपुर अलीगढ़ के निकट का एक गांव है, जिसे पहिले कोल कहा जाता था। श्री आशुधीर जी को वहाँ का निवासी बतलाया गया है। वहाँ स्वामी जी के जन्म लेने और उनके नाम पर उक्त गाँव को हरिदासपुर कहे जाने की अनुश्रुति प्रचलित है। ऐसी स्थिति में राजपुर की अपेक्षा हरिदासपुर को ही स्वामी जी का जन्म-स्थान मानना उचित है।

पैतृक संप्रदाय—स्वामी जी के पैतृक संप्रदाय के संबंध में दो मत प्रचलित हैं; और इन्हीं पर उनके अनुयायियों के दोनों वर्गों की मान्यताओं में विशेष बल दिया गया है। इसी प्रश्न को लेकर उक्त दोनों वर्गों में सर्वाधिक मतभेद और विवाद है। इस जटिल विवाद का निर्णय श्री आशुधीर जी के संप्रदाय के आधार पर करने की चेष्टा की गई है। इस संबंध में विरक्त शिष्यों की मान्यता है कि आशुधीर जी परंपरा से निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्हीं से स्वामी जी ने निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी और वे सदैव इसी संप्रदाय के अनुयायी रहे थे। गोस्वामी वर्ग की मान्यता है कि आशुधीर जी और स्वामी जी विष्णुस्वामी संप्रदाय से संबंधित रहे थे।

विरक्त शिष्यों की मान्यता के समर्थन में श्री निंबार्काचार्य जी से लेकर श्री आशुधीर जी तक की क्रमबद्ध गुरु-परंपरा प्रस्तुत की गई है। इसमें श्री निंबार्काचार्य जी की शिष्य-परंपरा की १३ वीं पीढ़ी में श्री देवाचार्य जी का नामोल्लेख हुआ है। उक्त देवाचार्य जी के दो शिष्य बतलाये गये हैं,—१. श्री सुंदर भट्ट जी और २. श्री व्रजभूषण जी। सुंदर भट्ट जी की शिष्य-परंपरा की

घोर ऋषि और नारायणीय धर्म—आंगिरस घोर का उल्लेख ऋग्वेद के 'कौपीतकि ब्राह्मण', कृष्ण यजुर्वेद की शाखा 'काठक संहिता' और 'छांदोग्य उपनिषद' में हुआ है। 'छांदोग्य उपनिषद्' (३–१७) में आंगिरस घोर द्वारा उनके शिष्य 'देवकीपुत्र' को उपदेश दिये जाने का उल्लेख है, जिसमें अहिंसा धर्म की व्याख्या की गई है। वह 'देवकीपुत्र' वृष्णिवंशीय श्रीकृष्ण ही थे। छांदोग्य उपनिषद में लिखा गया है, घोर आंगिरस से शिक्षा प्राप्त कर देवकीपुत्र (कृष्ण) 'अपिपास' हो गये[1]—अर्थात् उन्हें कुछ और जानने की तृषा नहीं रही थी। घोर द्वारा प्राप्त ज्ञान को श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को बतलाया था, जिसका व्यवस्थित रूप भगवत् गीता में मिलता है।

कौपीतकि ब्राह्मण (३०–६) में घोर ऋषि को सूर्योपासक बतलाया गया है। उनकी शिक्षा से लाभान्वित होकर श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है कि प्राचीन काल में जो ज्ञान सूर्य को दिया गया था, वह बहुत काल से लुप्तप्राय हो गया था। उसी पुरातन ज्ञान को उन्होंने अर्जुन को बतलाया था[2]। महाभारत के नारायणीय खंड में उल्लिखित नारायणीय धर्म की परंपरा भी सूर्य से मानी गई है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि घोर ऋषि प्राचीन नारायणीय धर्म के अनुयायी थे, और उसी की शिक्षा उन्होंने देवकीपुत्र कृष्ण को दी, तथा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी। इस प्रकार गीतोपदेश और श्रीकृष्ण के धार्मिक आंदोलन नारायणीय धर्म की परंपरा में ही हुए थे। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म में क्रांतिकारी परिवर्तन कर प्राचीन नारायणीय धर्म को अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार परिष्कृत रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया था।

श्रीकृष्ण का धर्म-तत्व—कृष्ण काल में यज्ञ-प्रधान कर्म (प्रवृत्ति) मार्ग और चिंतन-प्रधान ज्ञान (निवृत्ति) मार्ग की दो समानांतर धाराएँ पूरे वेग से प्रवाहित हो रही थीं। श्रीकृष्ण ने गीता के उपदेश द्वारा उनका संगम करते हुए बतलाया कि मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए, क्यों कि कर्म करना उसका सहज स्वाभाविक धर्म है। वह चाहे तब भी बिना कर्म किये क्षण भर भी नहीं रह सकता है; किंतु मनुष्य जो कर्म करे, उसे लोक-संग्रह के लिए कर्तव्य मान कर करे; और साथ ही साथ उसे अनासक्त भाव से अर्थात् वासनारहित होकर करे। वासनारहित निष्काम कर्म ही 'यज्ञ' है और वह आध्यात्मिक साधन में बाधक नहीं होता। इस बात को गीता में कई बार कई प्रकार से कहा गया है।

श्रीकृष्ण का कथन है, सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय को समान समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए। सिद्धि–असिद्धि में समान बुद्धि रख कर प्रत्येक व्यक्ति को अनासक्त भाव से ही कर्म करना उचित है। कर्म के फल की चाह न कर प्रत्येक मानव को उसे अपना कर्तव्य समझना चाहिए। वह जो कुछ भी कर्म करे, उसे भगवान् को अर्पण कर दे। इस प्रकार कैसा भी कर्म किया जाय, उसके करने वाले को कोई पाप नहीं होगा। उन्होंने कहा है, निष्काम कर्म करना कोई कठिन बात नहीं है, उसे कोई भी श्रद्धालु व्यक्ति सुगमता से कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना निजी कर्म करना ही उचित है, चाहे वह अधिक लाभकारी न दीखता हो।

---

(१) तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वोवाच। अपिपास एव स बभूव॥
—छांदोग्य उपनिषद् (अ० ३, खंड १७)

(२) भगवद् गीता (अध्याय ४, श्लोक १–३)

१६वीं पीढ़ी में श्री हरिव्यास देव जी हुए, जिनका शिष्य-समुदाय निंवार्क संप्रदाय के अंतर्गत 'हरिव्यासी' कहलाया। व्रजभूषण जी की शिष्य-परंपरा की ४६वीं पीढ़ी में श्री आशुधीर जी हुए, जिनके शिष्य स्वामी हरिदास जी थे[१]। श्री निंवार्काचार्य जी से लेकर आशुधीर जी तक की लंबी शिष्य-परंपरा हमारे मतानुसार संदिग्ध है। फिर भी श्री आशुधीर जी के निंवार्कीय होने में संदेह की कम गुंजायश है।

गोस्वामियों की मान्यता के समर्थन में अभी तक कोई भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया है, जो प्राचीन और विश्वसनीय हो। स्वामी हरिदास जी के तथाकथित भ्राता श्री जगन्नाथ के प्रपौत्र श्री कृष्णराय जी के समय की एक गुरु-परंपरा श्री रामदेव जी द्वारा सं. १६८० में निर्मित बतलाई जाती है। कहते है, उसमें श्री विष्णुस्वामी से लेकर श्री कृष्णराय तक के आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है[२]। वह 'गुरु-परंपरा' अभी तक प्रकाश में नहीं आई है, और न उसकी प्रामाणिकता के संबंध में ही कुछ बतलाया गया है। व्रज के वैष्णव संप्रदायों में कई गुरु-परंपराएँ ऐसी प्रचलित हैं, जिनका कोई प्राचीन आधार नहीं है और जो बाद में सांप्रदायिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए कल्पित कर ली गई हैं। संभवतः वह तथाकथित 'गुरु-परंपरा' भी उसी कोटि की है। डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने अपने शोध-प्रबंध के परिशिष्ट में विविध संप्रदायों की गुरु-परंपराएँ दी हैं। उन्होंने हरिदास संप्रदाय की गुरु-परंपरा विष्णुस्वामी से आरंभ न कर आशुधीर जी से की है[३]। वे पूर्वोक्त गुरु-परंपरा की प्रामाणिकता के पक्ष में नहीं मालूम होते; क्यों कि उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया है,—'आशुधीर जी या स्वामी जी के पूर्ववर्ती संप्रदाय के संबंध में जानने के लिए कोई बहुत स्पष्ट सामग्री हमारे पास नहीं है[४]।' नाभा जी के एक छप्पय में विष्णुस्वामी संप्रदाय के भक्त जन सर्वश्री ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ के नामों के साथ 'आचारज हरिदास' का उल्लेख हुआ है[५]। उसे डा० गोस्वामी ने 'स्वामी हरिदास जी के लिए भी संकेत' मानते हुए लिखा है,—'संभव है कि उनका संबंध विष्णुस्वामी की किसी उच्छिन्न परंपरा से रहा हो।' उन्होंने श्री विहारिनदास जी की एक साखी को देकर उसमें आये हुए 'शिव' शब्द से विष्णुस्वामी के रुद्र संप्रदाय का साक्ष्य समझ कर अपना मत व्यक्त किया है,—'संभव है, आशुधीर जी या स्वामी जी पहिले विष्णुस्वामी संप्रदाय से संबंधित हों[६]।

डा० गोस्वामी के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि आशुधीर जी और स्वामी जी को विष्णु स्वामी संप्रदाय का सिद्ध करने के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किसी 'संकेत' या 'संभावना' से इस विवादग्रस्त समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता है।

---

(१) १. निंवार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ३९-४०
 २. कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ७५७-७६२

(२) श्री स्वामी हरिदास अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ११५

(३) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ७५६

(४) वही ,, ,, , पृष्ठ ४३५

(५) भक्तमाल, छप्पय सं. ४८

(६) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४३६

निष्कर्ष यह है, श्री आशुधीर जी निंबार्कीय थे; और स्वामी हरिदास जी को भी उनकी बाल्यावस्था में संभवतः इसी संप्रदाय की दीक्षा दी गई थी। किंतु जब वे विरक्त होकर वृंदावन आ गये; तब संप्रदायवाद के बंधन से मुक्त हो गये थे। उन्होंने 'नित्य विहार' और 'सखी भाव' की जो रसोपासना प्रचलित की थी, वह किसी भी पूर्ववर्ती संप्रदाय से संबद्ध न हो कर सर्वथा स्वतंत्र थी। उसे संप्रदाय निरपेक्ष भी कहा जा सकता है। डा० शरणविहारी यद्यपि गोस्वामी-मान्यता के समर्थक हैं, तथापि उन्होंने स्वामी जी के संप्रदाय को विष्णुस्वामी से संबद्ध न मान कर अपने आप में 'पूर्ण स्वतंत्र' बतलाया है[1]।

स्वामी जी के रहन-सहन, आचार-विचार, वाणी-साहित्य और उनके प्राचीन चित्रों में चित्रित उनकी आकृति एवं वेष-भूषा से भी उनका किसी संप्रदाय विशेष से संबद्ध होना सिद्ध नहीं होता है। उनके किसी चित्र में निंबार्कीय और किसी में विष्णुस्वामी संप्रदाय का तिलक मिलता है; जिनसे उक्त संप्रदायों के कतिपय अनुयायियों ने स्वामी जी को अपने-अपने संप्रदायों से संबंधित बतलाया है! स्वामी जी के चित्रों में वे तिलक उस काल में चित्रित किये हुए जान पड़ते हैं, जब उनके अनुयायियों में सांप्रदायिक मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया था। हमारा अनुमान है, स्वामी जी के मूल चित्रों में किसी प्रकार का तिलक नहीं होगा।

तानसेन का शिष्यत्व—स्वामी जी के जीवन-वृत्तांत की अनेक अनुश्रुतियों में तानसेन के शिष्यत्व की बात बहुत प्रसिद्ध है; किंतु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। तानसेन के कई पदों में उसके आश्रयदाता राजा रामचंद्र और सम्राट अकबर का नामोल्लेख हुआ है; किंतु स्वामी जी को उसका संगीत-गुरु सिद्ध करने वाला कोई प्रामाणिक ध्रुपद उपलब्ध नहीं है[2]। उस काल का ऐसा कोई लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं है, जिससे इस अनुश्रुति की सत्यता सिद्ध की जा सके। स्वामी जी सर्वस्व त्यागी विरक्त भक्त थे। उनके लिए संगीत साध्य नहीं, वरन् उपासना का साधन मात्र था; जब कि तानसेन एक संगीतजीवी दरबारी गायक था। ऐसी दशा में स्वामी जी ने उसे शिष्य किया हो, यह संभव ज्ञात नहीं होता है। हरिदासी संप्रदाय में गुरु-शिष्य का जो अर्थ होता है, उसके कारण भी तानसेन को स्वामी जी का शिष्य मानना संभव नहीं है। स्वामी जी के संप्रदाय में एक मात्र श्री बिहारी जी ही उपास्य माने जाते हैं, जब कि तानसेन की रचनाओं में विविध देवी-देवताओं और पीर-पैगंबरों की स्तुतियाँ मिलती है। उनमें न तो स्वामी जी की वाणी का प्रभाव दिखाई देता है और न उनकी उपासना-भक्ति की झलक ही मिलती है। इस स्थिति में तानसेन को स्वामी जी का शिष्य बतलाना अप्रामाणिक माना जा सकता है। फिर भी यह किंवदंती वैष्णव संप्रदायों और संगीत मंडलियों में इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इसे एक दम कपोल कल्पित भी नहीं कहा जा सकता है।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४३६

(२) गायकों की मंडली में ऐसे दो-एक ध्रुपद प्रचलित हैं, जिनमें तानसेन द्वारा किसी हरिदास को अपना गुरु स्वीकार किया गया है; किंतु उनकी अटपटी शब्द-योजना के कारण उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

—देखिये, लेखक कृत 'स्वामी हरिदास जी', पृष्ठ २७
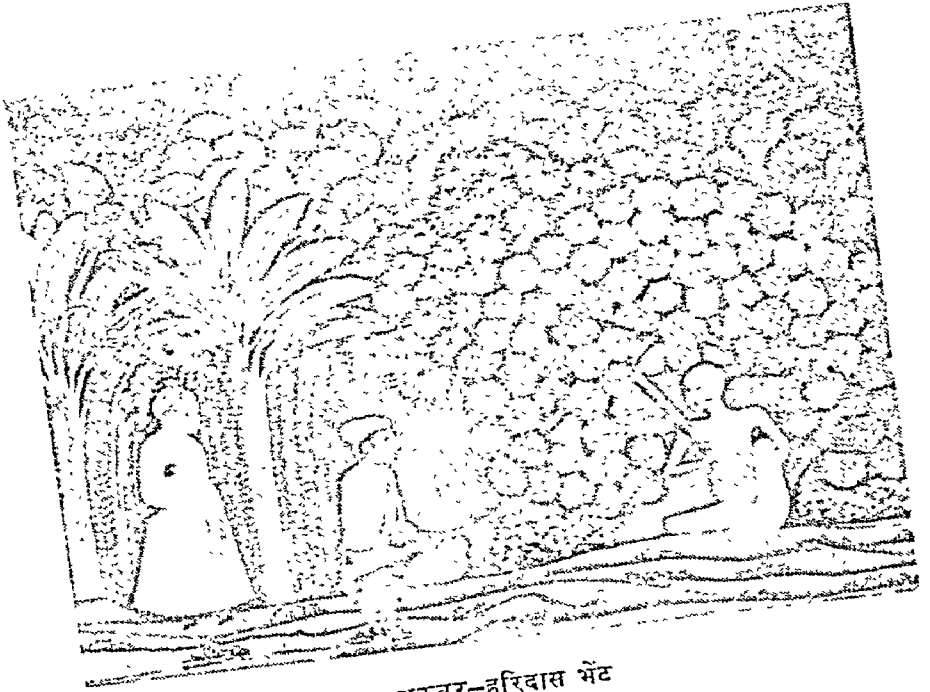
अकबर-हरिदास भेंट

यह किंवदंती कब से प्रचलित है, इसके यथार्थ काल का निर्णय करना तो संभव नहीं है; किंतु इसका दो शताब्दी से अधिक पुराना उल्लेख उपलब्ध है। राजा सामंतसिंह उपनाम नागरीदास जी द्वारा सं. १८०० में रचित 'पद प्रसंग माला' में उक्त प्रसंग का इस प्रकर कथन हुआ है,—"एक समैं अकबर पातसाह तानसैन सौं बूझी जु तैं कौन सों गायवौ सीख्यौ; कोऊ तोऊ तैं अधिक गावैं है ? तब वानैं कही जु मैं कौन गनती में हूं ! श्री वृंदावन में हरिदास जी नाम वैष्णव हैं, तिनकौ गायवे कौ हौं शिष्य हूं। यह सुनि पातशाह तानसैन के संग जलधरी लै श्री वृंदावन स्वामी जी पै आयो।"

राजा नागरीदास ने किसी परंपरागत अनुश्रुति के आधार पर ही उक्त कथन किया होगा, अतः यह किंवदंती काफी पुरानी मालूम होती है। ऐसा ज्ञात होता है, चाहें तानसेन स्वामी जी का विधिवत् शिष्य न हुआ हो, किंतु उसने संगीत में किसी समय उनसे कुछ प्राप्त अवश्य किया था।

यह घटना किस काल की हो सकती है, इसके संबंध में आचार्य वृहस्पति का कथन है,—'हमें ऐसा लगता है कि सन् १५१८ (सं. १५७५) में ग्वालियर का क़िला विक्रमाजीत के हाथ से निकल जाने के पश्चात् तानसेन वृंदावन में आकर कुछ दिनों के लिए श्री स्वामी जी के चरणों में बैठा हो; परंतु उसके दरबारी संस्कारों ने उसे वहाँ अधिक न टिकने दिया हो[1]।'

सम्राट अकबर से भेंट—स्वामी जी के जीवन की अन्य प्रसिद्ध किंवदंती सम्राट अकबर की उनसे भेंट होने से संबंधित है। ऐसा कहा जाता है, तानसेन द्वारा स्वामी हरिदास के अद्भुत संगीत की प्रशंसा सुन कर सम्राट अकबर को उनसे मिलने की प्रबल उत्कंठा हुई थी। स्वामी जी की गायन कला उनके उपास्य श्रीश्यामा-कुंजबिहारी जी के लिए ही अर्पित थी। वे किसी भी दशा में किसी राजा-महाराजा को अपना गायन सुनाना पसंद नहीं करते थे। कहते हैं, अपनी उत्सुकता की पूर्ति के लिए सम्राट अकबर छद्म वेश में तानसेन के साथ वृंदावन गये थे। वहाँ पर उन्हें स्वामी जी के गायन सुनने का सुयोग प्राप्त हुआ, और वे उसके माधुर्य पर मुग्ध हो गये। इसी का संकेत करते हुए नाभा जी ने कहा है,—'नृपति द्वार ठाड़े रहें, दरसन आसा जास की[2]।'

अब से दो शताब्दी पूर्व रचित 'पद प्रसंग माला' में भक्तवर राजा नागरीदास ने इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है,—'पहलैं तानसैन गायौ। विनती करी महाराज, कछु आप हू बोलियै। तब श्री हरिदास जी अलापचारी करी मलार राग की। चैत वैशाख कौ महीना हतौ। तब ताही वेर घटा घुमड़ि आई। मोर बोलनि लागे। तब नयौ बनाइ विष्न पद गायौ। तब ताही वेर वर्षा होन लागी। सो वह पद,—'ऐसी रितु सदा-सर्वदा जो रहै, बोलत मोरनि[3]।' यहाँ यह उल्लेखनीय है, स्वामी जी द्वारा गाये हुए उक्त पद को नागरीदास जी ने 'विष्णुपद' कहा है, यद्यपि स्वामी जी की रचनाओं को साधारणतः 'ध्रुपद' कहा जाता है।

अकबर-हरिदास भेंट का उल्लेख किसी समकालीन इतिहासकार ने नहीं किया है। इसका लिखित विवरण सर्व प्रथम राजा नागरीदास कृत 'पद प्रसंग माला' में और फिर किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' में मिलता है। वृंदावन के देवालयों और विविध स्थानों के संग्रहालयों में ऐसे कुछ चित्र मिलते हैं, जिनमें उक्त घटना का चित्रण किया गया है; किंतु वे १९ वीं शती से पहिले के

(१) 'संगीत' मासिक पत्र (फरवरी, १९५९) का 'हरिदास अंक', पृष्ठ ११

(२) भक्तमाल, छप्पय सं. ९१

(३) यह पद 'केलिमाल' सं. ८९ का है।

नहीं हैं। ब्रज के लोक-जीवन में और स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय में इस घटना की बहुत पुराने समय से प्रसिद्धि चली आ रही है; अतः समकालीन ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्रामाणिकता में संदेह करना ठीक नहीं है।

उस महत्वपूर्ण घटना के यथार्थ काल का निश्चय नहीं होता है; किंतु सामयिक घटनाओं की संगति से उसका अनुमान किया जा सकता है। तानसेन सं. १६१६-२० में अकबरी दरबार में गया था। सम्राट अकबर सं. १६३२ तक संत-महात्माओं से अधिक मिला करते थे। इस प्रकार इस घटना का काल सं. १६२० से १६३२ के बीच का ही हो सकता है।

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है, तानसेन से सूरदास का एक पद सुन कर सम्राट अकबर महात्मा सूरदास से मिले थे, और उनके गायन से अत्यंत प्रभावित हुए थे[1]। अकबर-सूरदास भेंट का भी निश्चित काल ज्ञात नहीं होता, किंतु हमने सिद्ध किया है कि उक्त भेंट सं. १६२३ में मथुरा में हुई थी[2]। सं. १६२३ में सम्राट अकबर का मथुरा-वृंदावन आना भी प्रमाणित है, अतः यह सर्वथा संभव है कि उसी समय वे स्वामी हरिदास जी से भी वृंदावन में मिले हों। श्री ग्राउस ने इस घटना का काल सं. १६३० अनुमानित किया है[3]; और 'मथुरा गजेटियर' में इसे सं. १६२७ लिखा गया है[4]।

पद-रचना—स्वामी जी रससिद्ध भक्त-कवि थे। उन्होंने शृंगार-भक्ति के गेय पदों की रचना की है, जो संगीत की ध्रुपद शैली में गायन करने योग्य हैं। उनके प्रामाणिक ध्रुपद १२८ माने जाते हैं। इनमें से १८ 'सिद्धांत के पद' और १०८ या ११० 'केलिमाल' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सिद्धांत के पदों में किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के निरूपण का प्रयास नहीं किया गया है; वरन् उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की सामान्य बातों का कथन हुआ है। 'केलिमाल' में स्वामी जी के उपास्य श्री श्यामा-कुंजविहारी के 'नित्य विहार' का शृंगार-भक्तिपूर्ण सरस वर्णन है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उनके नाम से कुछ पद और भी मिलते हैं, किंतु उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

स्वामी जी रचनाओं में 'केलिमाल' का प्रचार बहुत कम रहा है; क्यों कि इसे अनधिकारी व्यक्तियों से बचाने के लिए सदैव अप्रकाशित रखने का प्रयास किया गया है। उनके 'सिद्धांत के पद' अपेक्षा कृत अधिक प्रचलित रहे हैं, और वही हिंदी के साहित्यकारों को प्रायः उपलब्ध हुए हैं। इनकी भाषा विषय के अनुरूप कुछ 'साधुक्कड़ी' है, जिसके कारण वे पद कतिपय साहित्यकारों को 'ऊबड़-खाबड़' ज्ञात होते हैं। किंतु 'केलिमाल' के संबंध में यह बात नहीं है। स्वामी जी की समस्त रचना के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसे 'ऊबड़-खाबड़' बतला कर वास्तव में उनके साथ न्याय नहीं किया गया है। स्वामी जी की प्रामाणिक रचनाएँ विशेषतया 'केलिमाल' के पद, न तो 'ऊबड़-खाबड़' हैं, और न उनमें मधुरता एवं कोमलता की कमी है। फिर भी उनकी समस्त वचनावली में एक प्रकार का बांकापन है, जो अन्य भक्त कवियों से उन्हें विशिष्टता प्रदान करता है। यह विशिष्टता उनके व्यक्तित्व में भी है, उनके संगीत में भी है, और सबसे अधिक उनकी भक्ति तथा उपासना में है!

---

(१) अष्टसखान की वार्ता, पृष्ठ ११५

(२) लेखक कृत 'अष्टछाप परिचय', पृष्ठ १२८, १३६; और 'सूर निर्णय', पृष्ठ ६१

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय संस्करण)

(४) गजेटियर आफ़ मथुरा, पृष्ठ १२१

'केलिमाल' में स्वामी जी कृत अनेक उत्कृष्ट ध्रुपद पद मिलते हैं। इनमें भाव-सौंदर्य के साथ ही साथ भाषा की कोमलता और मधुरता भी है। दिव्य शृंगार रस से तो ये ओतप्रोत हैं। इनमें सर्वत्र स्वाभाविकता है,—कृत्रिमता और बनावट तो ढूंढ़ने पर भी इनमें नहीं मिलती है। इन्हें पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है कि उनकी रचना स्वामी जी ने स्वानुभूति से की है। अपने उपास्य स्वरूप का दिन-रात चिंतन और ध्यान करते हुए वे रसमग्न हो जाते थे; तब उन्हें श्री श्यामा-कुंजविहारी की लीलाओं का जो अनुभव होता था, उसी का गायन उन्होंने 'केलिमाल' के ध्रुपदों द्वारा किया है।

'केलिमाल' में श्यामा-श्याम की नाना प्रकार की केलि-क्रीड़ाओं का कथन होने से इसके नाम की सार्थकता स्वयं सिद्ध है। इसमें स्वामी जी ने अपने उपास्य युगल स्वरूप के दिव्य शृंगार का ऐसा रसपूर्ण वर्णन किया है कि वह सहृदय रसिक जनों को दिव्यानंद प्रदान करने में अनुपम है। इसके पदों की महत्ता और दिव्य मादकता का कथन करते हुए किसी कवि ने कहा है,—

महा मही रस के फल, फलित भए कल्पद्रुम, ऐसे श्री स्वामी हरिदास जू के पद हैं।
जिनमें न वकुल-वीज लीला औ महातम के, वर विहार माधुरी के सार कों जो सद हैं।।
दंपति आसक्तताई प्रगट करत छिन-छिन, नव रस सिंगार आदि कीने सब रद हैं।
पीवैं जो रसिक तिन्हें और न सुहात कछु, दंपति बस करिवे कों मादक विहद हैं।।

स्वामी जी की पद-रचना का क्षेत्र अत्यंत सीमित है। श्री श्यामा-कुंजविहारी के 'नित्य विहार' के उपासक होने के कारण उन्होंने शृंगार रस का, और उसके भी केवल संयोग पक्ष का ही कथन किया है,—वियोग को उन्होंने छूआ तक नहीं। संयोग या संभोग के भी उन्होंने कुछ विशिष्ट अंग ही लिये हैं। श्रीश्यामा-कुंजविहारी के युगल स्वरूप, उनकी आसक्ति, सुरति-निवेदन, मान-मनावन, केलि-क्रीड़ा, झूलन और नृत्य के रसपूर्ण कथन की ओर ही उनकी रुचि रही है। ऋतुओं में उन्होंने बसंत और पावस को अधिक पसंद किया है। डोल-झूलन और नृत्य के साथ गायन-वादन का वर्णन उनकी संगीत विषयक अभिरुचि का परिचायक है।

स्वामी जी के संप्रदाय में उनकी समस्त रचना—सिद्धांत के पद और केलिमाल को बड़ा महत्त्व दिया गया है। यह हरिदास संप्रदाय की सैद्धांतिक 'वाणी' है, और इसके अनुयायियों में इसे वेद-शास्त्र से भी अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

रचनाओं की टीका—स्वामी जी की रचनाओं की कई टीकाएँ उपलब्ध हैं। 'सिद्धांत के पद' की दो विशद टीकाएँ हैं, जिनके रचयिता सर्वश्री अमोलकराम जी और ललिताप्रसाद जी थे। दोनों टीकाएँ आधुनिक काल की हैं, किंतु शैली प्राचीन पद्धति के अनुसार व्याख्यात्मक है। ये दोनों टीकाएँ छप चुकी हैं। 'केलिमाल' की सबसे प्राचीन टीका श्री नागरीदास कृत है, जो विक्रम की १७ वीं शती में रची गई थी। इसे टीका तो क्या, भाष्य कहना उचित होगा। इसमें पदाभास और फल सहित समस्त पदों की शृंगार रस पूर्ण विवेचनात्मक व्याख्या की गई है। बीच-बीच में अन्य महात्माओं के उद्धरणों से विवेचन को पुष्ट किया है। दूसरी टीका श्री पीतांबरदास कृत १८वीं शती की है। तीसरी टीका श्री ललितमोहिनीदास के कृपापात्र महंत राधाशरण कृत 'वस्तुदर्शिनी' है, जो १६ वीं शती में निर्मित हुई थी। इन टीकाओं में पदों के गूढ़ भावों की व्याख्या करने का जितना प्रयास किया गया है, उतना उनके सरल और सुबोध अर्थ करने का नहीं। इससे साधारण पाठकों के लिए ये कुछ दुर्बोध होने के कारण अधिक उपयोगी नहीं हैं। ये सभी टीकाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं। इनके आधार पर सरल गद्य में एक सुबोध टीका का प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है।

संगीत-साधना—स्वामी हरिदास जी महान् संगीत-शास्त्री और विख्यात गायनाचार्य थे। उनकी गणना ब्रज के संगीत की सुप्रसिद्ध ध्रुपद-धमार शैली के निर्माताओं और उन्नायकों में की जाती है। ध्रुपद की गायकी के आविष्कार और उसके आरंभिक प्रचार का श्रेय ग्वालियर के कलाप्रिय राजा मानसिंह तोमर को दिया जाता है। अबुलफ़ज़ल कृत 'आईने अकबरी' और फक़ीरुल्ला कृत 'राग दर्पण' से ज्ञात होता है कि राजा मानसिंह ने अपने विख्यात गायकों की सहायता से ध्रुपद शैली का व्यापक प्रचार किया था। मानसिंह और उसके सहकारियों ने ध्रुपद का कलेवर तो खड़ा कर दिया था; किंतु वे भारतीय मान्यता के अनुसार उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके थे। शुद्ध भारतीय संगीत की आत्मा सात्विकता पूर्ण धार्मिक भावना है, जिसके बिना वह निर्जीव और निष्प्राण है। स्वामी हरिदास जी ने अपनी भक्ति-साधना और रसोपासना से ध्रुपद की गायन शैली को नव जीवन प्रदान कर उसे प्राणवान बना दिया था।

भारतीय मान्यता के अनुसार संगीत कला का मूल उद्देश्य लौकिक लाभ अथवा मनोविनोद न होकर पारलौकिक उन्नति और ईश्वरोपासना है। मानसिंह तोमर के काल से ही ध्रुपद की गायकी राज-दरबारों के मनोरंजन की वस्तु हो गई थी। सम्राट अकबर के काल में तो उसका वही रूप प्रधान बन गया था। उस समय अकबर के दरबार में विश्व विख्यात संगीतज्ञ थे, और तानसेन उनका मुखिया था। उन सब ने ध्रुपद की गायकी के सामंती स्वरूप को पुष्ट करने के लिए उसमें कुछ ऐसे विदेशी तत्वों का भी समावेश कर दिया था, जो भारतीय मान्यता के विरुद्ध थे। स्वामी हरिदास जी को संगीत का वह रूप पसंद नहीं था। उन्होंने अपनी दीर्घकालीन साधना से उस काल के संगीत को सामंती मनोविनोद के निम्न धरातल से उठा कर उसे उपासना के उच्च मंच पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। उनकी चेष्टा उसे विदेशी तत्वों से परिष्कृत कर शुद्ध भारतीय स्वरूप प्रदान करने की थी। उसमें ब्रज के अन्य प्रसिद्ध संगीताचार्य एवं विख्यात गायक—सर्वश्री गोविंदस्वामी, कुंभनदास, सूरदास, परमानंददास आदि भी सहायक हुए थे।

ब्रज के वे भक्त-गायक अपनी संगीतज्ञता और गायन-कुशलता में अकबरी दरबार के संगीतज्ञों से किसी प्रकार कम नहीं थे। सम्राट अकबर ने उन्हें अपने दरबार में लाने की अनेक चेष्टाएँ कीं, नाना प्रकार के प्रलोभन दिये; किंतु वे त्यागी महात्मा राज-दरबार की छाया से भी दूर भागते थे! यदि वे चाहते तो सम्राट अकबर उनके लिए अपार संपत्ति और सांसारिक सुख-सुविधा के समस्त साधन सुलभ कर सकते थे; किंतु वे तो किसी राजा-महाराजा का मुख तक नहीं देखना चाहते थे! वे रूखी-सूखी खाकर अपने इष्टदेव की भक्ति में ही तल्लीन रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके संगीत का रसास्वादन कोई लौकिक पुरुष, चाहें वह सम्राट ही क्यों न हो, नहीं कर सकता था। वे निर्गुणिया संतों की भाँति जन-हित के लिए और कतिपय त्यागी भक्तों की भाँति स्वान्तः सुख के लिए भी नहीं गाते थे। उनका गायन तो अपने इष्टदेव को रिझाने के लिए होता था; ताकि वे किसी प्रकार उसकी महती कृपा की तनिक सी कोर ही प्राप्त कर सकें,—'नैंक कृपा की कोर लहौं, तो उमँगि-उमँगि जस गाऊँ। नेह भरी नव नागरि के, रस-भावन कों दुलराऊँ ॥'

किंवदंती के अनुसार अकबरी दरबार का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ तानसेन स्वामी हरिदास जी का शिष्य था, और उसी के द्वारा सम्राट अकबर स्वामी जी की ओर आकर्षित हुए थे। कहते हैं, जब शाहंशाह अकबर अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्वामी हरिदास को अपने दरबार में गायन करने के नहीं बुला सके, तब वे छद्म वेश में तानसेन के साथ स्वयं स्वामी जी के समक्ष उपस्थित हुए थे!

वहाँ तानसेन ने जाने या वे जाने जिस प्रकार का गायन किया, उसे शुद्ध रूप में उपस्थित करने के लिए स्वामी हरिदास को भी गाना पड़ा था। जो संगीत उनके 'स्वामी श्यामा-कुंजविहारी' के लिए समर्पित था, उसकी दिव्य छटा सम्राट को अनायास ही मिल गई, और वे उसका रसास्वादन कर धन्य हो गये ! यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि तानसेन ने ध्रुपद की गायकी में प्राचीन परंपरा के विरुद्ध नये प्रयोग किये थे। उसके फलस्वरूप उसने पुराने रागों के स्थान पर नये रागों को भी जन्म दिया था। उसने स्वामी जी के समक्ष जो गायन किया था, वह ध्रुपद की उसी विकृत शैली का हो सकता है, जिसका परिष्कार करना स्वामी जी अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते थे। इसीलिए उन्हें इच्छा न रहते हुए भी गाना पड़ा था।

सामान्यतः संगीत से गान कला का अभिप्राय समझा जाता है, किंतु वस्तुतः उसके अंतर्गत वाद्य कला और नृत्य कला भी हैं। इन तीनों कलाओं के समुच्चय का नाम ही संगीत है। स्वामी हरिदास जी इन तीनों कलाओं में पारगत थे, और उन्होंने उनके संवर्धन का सफल प्रयास किया था। स्वामी जी की रचनाओं में गायन, वादन और नृत्य से संबंधित अनेक पारिभाषिक शब्द, वाद्य यंत्रों के नाम और उनके बोल तथा नृत्य की अनेक मुद्राओं और तालों के संकेत मिलते हैं। इनसे उनके अपार संगीत-ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। भारतीय संगीत का समग्र रूप व्रज का रास है, जिसके आरंभिक प्रचारकों में स्वामी जी का प्रमुख स्थान माना जाता है। व्रज में रास की अत्यंत प्राचीन परंपरा रही है; किंतु ऐसा जान पड़ता है कि वह स्वामी हरिदास जी से बहुत पहिले ही लुप्तप्राय हो गई थी। व्रज के भक्ति संप्रदायों के विविध महात्माओं ने रास को भक्ति-प्रचार का अत्यंत प्रभावशाली साधन समझ कर उसे नवीन रूप मे पुनः प्रचलित किया था। स्वामी जी एक महान् संगीताचार्य होने के कारण उसके पुनर्प्रचलन में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सके थे।

स्वामी जी और हरिदास डागुर—संगीत के क्षेत्र में स्वामी हरिदास जी के साथ ही साथ हरिदास डागुर का नाम भी प्रसिद्ध है। सामान्यतः संगीतज्ञों और साहित्यकारों की धारणा है कि वे दोनों पृथक्-पृथक् न होकर एक ही थे,—स्वामी जी ही डागुर थे। किंतु यह धारणा निराधार और भ्रममूलक थे। हरिदास डागुर स्वामी जी से भिन्न दूसरे संगीताचार्य थे, और वे उनसे परवर्ती थे। हरिदास डागुर ध्रुपद की 'डागुरी बानी' के प्रचारक थे, जिसका स्वामी हरिदास जी की संगीत शैली से कोई संबंध नहीं है। दोनों की रचनाएँ भी भाषा, भाव, विषय और नाम-छाप की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं। स्वामी हरिदास की रचनाओं में जहाँ उनके उपास्य श्री श्यामा-कुंजविहारी की नित्य विहार लीलाओं का गायन हुआ है, वहाँ हरिदास डागुर की रचनाओं में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति, नादगढ़ के विचित्र रूपक और साधारण नायिकाओं का कथन मिलता है[1]।

श्री बिहारी जी का प्राकट्य—स्वामी जी सिद्ध कोटि के महात्मा थे। वे मानसी साधना द्वारा अपने उपास्य श्रीश्यामा-कुंजविहारी के 'नित्य विहार' का दिव्य दर्शन किया करते थे। उपासना और भक्ति-साधना की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त करने के कारण उन्हें अपने लिए किसी 'देव-विग्रह' की आवश्यकता न थी; किंतु भक्त जनों की सुविधा के लिए उन्होंने सं. १६०० के लगभग मार्गशीर्ष शु. ५ को बिहारी जी की प्रतिमा का प्राकट्य कर उनकी सेवा प्रचलित की थी। वह शुभ तिथि 'विहार पंचमी' के नाम से प्रसिद्ध है। निधुवन का वह पावन स्थल, जहाँ से श्री बिहारी जी का प्राकट्य हुआ था, श्रद्धालु भक्तों के लिए सदा से दर्शनीय और वंदनीय रहा है।

---

(१) देखिये, हमारा ग्रंथ 'स्वामी हरिदास जी', पृष्ठ ३२-३७

जीवन-घटनाओं की समीक्षा का निष्कर्ष और जीवनी की रूप-रेखा—स्वामी हरिदास जी का जन्म १६ वीं शती के प्रायः मध्य काल, संभवतः सं. १५६९ में, हरिदासपुर नामक स्थान में हुआ था। वे कदाचित सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके गुरु और संभवतः पिता भी श्री आशुधीर जी थे, जो निंवार्क संप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने स्वामी जी को उनकी किशोरावस्था में जिस संप्रदाय की दीक्षा दी थी, वह संभवतः निंवार्क संप्रदाय था। स्वामी जी आरंभ से ही भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त थे और वे घर–वार से प्रायः उदासीन रहते थे। श्री आशुधीर जी की कृपा से उन्होंने भक्ति–साधना का अच्छा अभ्यास कर लिया था, और वे विविध विद्याओं एवं कलाओं में, विशेषतया संगीत में पारंगत हो गये थे। अपनी धार्मिक प्रवृत्ति एवं वैराग्य वृत्ति के कारण उन्हें घर में रहना अरुचिकर ज्ञात होने लगा, और वे युवावस्था में ही सब कुछ परित्याग कर विरक्त भाव से वृंदावन आ गये थे। उन्होंने वहाँ के निधुवन नामक एकांत एवं रमणीक स्थल में प्रचुर काल तक निवास किया था। वहाँ रहते हुए उन्होंने संगीत–साधना, प्रेमा भक्ति और रसोपासना में अपना समस्त जीवन लगा दिया था। उनके सहयोगी भक्त महानुभावों में सर्वश्री हित हरिवंश जी, हरिराम व्यास जी और प्रबोधानंद जी प्रमुख थे।

स्वामी जी रसोपासक और रसिकाचार्य होते हुए भी परम विरक्त थे। करुवा, कोपीन और कंथा के अतिरिक्त वे सांसारिक सुख–सुविधा की किसी वस्तु का स्पर्श तक नहीं करते थे। वे अपने उपास्य श्रीश्यामा–कुंजबिहारी के भोग के लिए नाना प्रकार के उत्तम व्यंजनों की व्यवस्था करते, और फिर उन्हें वृंदावन के मोर–वंदर तथा कछुए–मछली आदि को खिला देते थे। आप स्वयं कुछ चनों के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करते थे ! उनके दर्शन के लिए अनेक धनी–मानी व्यक्ति आया करते थे, जो उनकी आज्ञानुसार सब प्रकार से सेवा करने को उत्सुक रहते थे; किंतु वे किसी से किसी प्रकार की वांछा नहीं करते थे। वे परात्पर प्रेम-तत्व रूप श्रीश्यामा-कुंज-बिहारी के 'नित्य विहार' की रसोपासना में तल्लीन रहते थे। उनकी भक्ति वैराग्यमूलक थी। वे मानसी साधना में सखी भाव की रसानुभूति करते हुए अपने आराध्य की नित्यनिकुंज–लीलाओं का दिव्य दर्शन किया करते थे।

वे रससिद्ध कवि, महान् संगीत-शास्त्री और विख्यात गायनाचार्य थे। उन्होंने शृंगार-भक्ति के गेय पदों की रचना की है, जिन्हें वे ध्रुपद की शैली में बड़े सुंदर ढंग से गाते थे। उनके वे ध्रुपद 'सिद्धांत के पद' और 'केलिमाल' के नाम से संकलित मिलते हैं। स्वामी जी ब्रज के संगीत की सुप्रसिद्ध ध्रुपद–धमार शैली के प्रतिष्ठाताओं में से थे। कहते हैं, उस काल के विख्यात संगीतज्ञ और अकवरी दरवार के सर्वश्रेष्ठ गायक तानसेन ने उनसे संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। तत्कालीन मुगल सम्राट अकवर उनके संगीत की ख्याति सुन कर स्वयं निधुवन में जा कर उनसे मिले थे और उनके अलौकिक गायन से बड़े प्रभावित हुए थे। कुछ लोग ध्रुपद के एक अन्य गायक हरिदास डागुर को स्वामी जी से अभिन्न मानते हैं; किंतु वे दोनों भिन्न–भिन्न संगीताचार्य थे।

स्वामी हरिदास जी की प्रसिद्धि एक महान् संगीताचार्य और भक्त–कवि के रूप में है। उन्होंने ब्रज के संगीत और साहित्य को निश्चय ही अपनी विशिष्ट देन दी है। फिर भी उनका प्रमुख लक्ष्य संगीत और साहित्य नहीं था। उनके यशस्वी जीवन का परम उद्देश्य श्रीश्यामा–कुंजविहारी के 'नित्य विहार' की रसोपासना का प्रसार करना था, जिसे उन्होंने संगीत और साहित्य के माध्यम से किया था। इस प्रकार अपनी उपासना और भक्ति को रसिकतापूर्ण कलात्मकता का कलेवर प्रदान

दूसरों के लाभप्रद दीखने वाले कर्म की अपेक्षा अपना निजी कर्म ही अंततः उसके लिए श्रेयस्कर होगा। श्रीकृष्ण के धर्म का महत्व इसलिए अधिक माना गया कि उसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय कर उसे सामाजिक जीवन के अनुकूल बना दिया गया है।

गीता में वर्णित श्रीकृष्ण के धर्म-तत्व को उपनिषदों का सार, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र कहा गया है। इसीलिए गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में "श्रीमद् भगवत् गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे" लिखा मिलता है। गीता के माहात्म्य में भी बतलाया गया है, श्रीकृष्ण रूप ग्वाले ने उपनिषद् रूपी गायों का दोहन कर उनके दुग्ध रूप गीता-ज्ञान को अर्जुन रूप बछड़े को पिलाया था। उस महान् ज्ञानामृत से अन्य सुधी जन भी तृप्त हो सकते हैं[1]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के धर्म-तत्व को भगवत् गीता ने सबके लिए सुलभ कर दिया है।

कृष्णकालीन धर्म का आकर ग्रंथ—महाभारत कृष्णकालीन धर्म का प्रधान आकर ग्रंथ है, जिसका एक अंश भगवत् गीता है। वैसे इसमें कौरव-पांडवों की कथा है, जिसके एक पात्र स्वयं कृष्ण भी थे; किंतु वास्तव में इसमें प्रमुख रूप से कृष्ण की महत्ता का ही कथन किया गया है। इसीलिए इसके आदि पर्व में कहा गया है—"भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः" अर्थात् इसमें सनातन भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) की कीर्ति का कथन हुआ है। महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं, जो श्रीकृष्ण के समकालीन थे। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि व्यास जी ने इसकी रचना भारतीय युद्ध और श्रीकृष्ण के तिरोधान होने के पश्चात् की थी। इस प्रकार महाभारत कृष्ण काल के तत्काल पश्चात् की रचना है; किंतु जिस रूप में यह आजकल उपलब्ध है, उसे अनेक विद्वानों ने बहुत बाद की रचना माना है। विंटरनित्स के मतानुसार उसका निर्माण विक्रमपूर्व पंचम शती से लेकर विक्रमपश्चात् चौथी शती तक के किसी काल में हुआ था। महाभारत के अंतःसाक्ष्य से भी विदित होता है कि इसमें व्यास जी के साथ उनके शिष्य-प्रशिष्यों का कृतित्व भी सम्मिलित है। फिर भी कृष्णकालीन धर्म का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत ही है।

उपास्य देव और नाम का परिवर्तन—श्रीकृष्ण द्वारा की गई धार्मिक क्रांति और उनके धर्मोपदेश का उद्देश्य प्राचीन नारायणीय धर्म को ही परिष्कृत रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना था; किंतु उसके फलस्वरूप जिस नवीन धर्म का उदय हुआ, उसके उपास्य देव के रूप और उक्त धर्म के नाम में अंतर हो गया था। नारायणीय धर्म के उपास्य देव 'नारायण' थे, किंतु उस नवीन धर्म में 'वासुदेव' की उपासना प्रचलित हुई। इसी प्रकार उस धर्म का नाम भी 'नारायणीय धर्म' की अपेक्षा 'सात्वत' अथवा 'पंचरात्र' और बाद में 'भागवत' धर्म प्रसिद्ध हुआ था।

'वासुदेव' नारायण से भिन्न कोई अन्य देवता नहीं थे; बल्कि उन्हीं के एक रूप थे, जिसकी प्रसिद्धि उस नाम से हुई थी। "पंचरात्र के अनुसार एक ही देवता नारायण के तीन पहलू हैं—'वासुदेव' (विभु सर्वव्यापी), 'परमात्मा' (सब आत्माओं में महान्) और 'भगवान्' (सृष्टिकर्ता)। दूसरे शब्दों में एक ही देवता नारायण इन तीन उपाधियों से समय-समय पर कार्य करते हैं। इनमें सबसे अधिक पूजित उपाधि है,—'वासुदेव'[2]।" श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिष्ठित धर्म में नारायण की उपासना 'वासुदेवोपासना' के रूप में प्रचलित हुई और उसका केन्द्र कृष्ण का लीला-धाम शूरसेन हुआ।

(१) सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनंदनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(२) असमिया वैष्णव धर्म का क्रम विकास (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ७०, अंक ४), पृष्ठ ३

कर उन्होंने रसिक भक्तों के लिए एक विशिष्ट भक्ति मार्ग का प्रकटीकरण किया था। स्वामी जी के भक्ति मार्ग में उन्हें ललिता सखी का अवतार माना जाता है। स्वामी जी की उपासना सखी भाव की थी, और उनकी भक्ति वैराग्यमूलक माधुर्य भाव की। इस प्रकार उनकी उपासना और भक्ति में चरम सीमा की रसिकता होते हुए भी वैराग्य की प्रधानता है। राग और विराग का यह अद्भुत समन्वय स्वामी जी के भक्ति मार्ग की विलक्षणता है। उनका 'नित्य विहार' तत्व इसीलिए अन्य वैष्णव संप्रदायों के 'भक्ति' तत्व से विलक्षण कहा गया है। स्वामी हरिदास जी के भक्ति मार्ग को 'हरिदास संप्रदाय' अथवा 'सखी संप्रदाय' कहा जाता है।

स्वामी जी मानसी साधना द्वारा अपने उपास्य श्री श्यामा-कुंजविहारी जी की नित्यनिकुंज-लीला का दिव्य दर्शन करते थे; अतः उन्हें अपने लिए किसी देव-विग्रह की आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उन्होंने अपने अनुयायी रसिक भक्तों की सुविधा के लिए निधुवन के एक विशिष्ट स्थल से श्री विहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था। वे अपने अंतिम समय—१७ वीं शती के प्रायः मध्य काल तक निधुवन में ही भक्ति-साधना करते रहे थे। उनका देहावसान भी उसी स्थल पर हुआ था; जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। वर्तमान काल में निधुवन पहले जैसा रमणीक तो नहीं रहा; किंतु स्वामी जी का स्मृति-स्थल होने के कारण इसे वृंदावन का एक विख्यात दर्शनीय स्थान माना जाता है।

स्वामी जी का व्यक्तित्व और महत्त्व—स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व ब्रज के अन्य धर्माचार्यों से विलक्षण और निराला था। वे परम रसिक भक्त होते हुए भी सर्वोच्च श्रेणी के विरक्त संत थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में राग और विराग का अद्भुत समन्वय हुआ था। वे सर्वश्री निंबार्क, वल्लभ, चैतन्य एवं गौड़ीय गोस्वामियों के सदृश विद्वान और हित हरिवंश के समान परमोच्च कोटि के भक्त-कवि नहीं थे; किंतु उनकी उपासना-भक्ति, उनका तप-त्याग और प्रभाव किसी से कम नहीं था। उनकी एक विशेषता यह भी कि वे महान् संगीतशास्त्री और अपने काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध रससिद्ध गायक थे। उनके चरित्र की उस रसिकता, विरक्ति और कलात्मकता के संगम से उनके व्यक्तित्व के साथ उनका उपासना मार्ग इतना आकर्षक हो गया था कि उस काल के अनेक राजा-महाराजा, संत-भक्त, कवि-कलाकार सभी उनकी ओर आकर्षित हुए थे। उनमें से बहुत से उनके अनुगत होकर अनन्य उपासक भी बन गये थे।

स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व और उनके विशिष्ट उपासना मार्ग की छाप उनके समकालीन तथा परवर्ती भक्त महानुभावों पर इतनी गहरी लगी थी कि उन्होने मुक्त कंठ से उनके महत्त्व का गुण-गान किया है। स्वामी जी के समकालीन और सहयोगी महात्मा हरिराम जी व्यास ने तो यहाँ तक कहा है कि उनसे समान रसिक पृथ्वी पर और आकाश में न अब तक हुआ है, और न आगे ही होगा,—'ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमंडल आकास !'

व्यास जी के कथन का समर्थन करते हुए स्वामी जी की परंपरा के विरक्त संतों ने भी उनके महत्त्व का गायन करते हुए कहा है,—

रसिकन के रस दैन कौं, प्रगटे रसिकानंद।
आगे भये न होंगे, अद्भुत आनँदकंद॥ (पीतांबरदास)
व्यास रसिक रसिकन कहै, एक रसिक हरिदास।
दूजो रसिक न देखियै, भुवमंडल-आकास॥ (ललितकिशोरी दास)

स्वामी जी का भक्ति-तत्व और उनकी उपासना-पद्धति—

भक्ति-तत्व में 'सिद्धांत' की निरर्थकता—स्वामी हरिदास जी के भक्ति-तत्त्व का बोध उनकी रचनाओं से होता है। उक्त रचनाओं में से १८ ध्रुपद 'सिद्धांत के पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें स्वामी जी ने किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत का निरूपण नहीं किया है; वरन् श्रद्धालु जनों को भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए अपने अनुभव की सीधी-सादी उपदेशप्रद बातें ही बतलाई हैं। स्वामी जी रसोपासक रसिक भक्त थे। उन्होंने अपनी उपासना-भक्ति को किसी दार्शनिक सिद्धांत की जटिलता तथा मतवाद के विवाद में नहीं उलझाया है। वे दार्शनिक सिद्धांत तो क्या, उपासना-भक्ति में गृहीत सेवा संबंधी विधि-निषेध तक को जंजाल मानते थे! इसीलिए ध्रुवदास जी ने उनकी विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहा है,—'सेवा हू में दूर किय, विधि-निषेध जंजार!' भला, जिस महात्मा ने अपनी भक्ति-उपासना को सामान्य विधि-निषेध के बंधनों तक से मुक्त कर उसे रसिकता के राजमार्ग पर निर्बाध गति से विचरण करने के लिए छोड़ दिया हो, वह किसी जटिल दार्शनिक सिद्धांत के पचड़े में क्यों पड़ेगा?

यहाँ पर हम स्वामी जी कृत तथाकथित 'सिद्धांत' के अष्टादश पदों में से उनके उपदेशों को उद्धृत करते हैं,—

१. भगवान् की इच्छा से ही सब कुछ होता है। वह जिस प्रकार चाहता है, जीव को रखता है। जीव अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता, क्यों कि वह पिंजड़ा के पक्षी की तरह माया-जाल में फँसा हुआ है।

२. जीव पर-वश है। उसे अपनी विवशता और सांसारिक प्रपंचों की नश्वरता समझ कर भगवान् की भक्ति करनी चाहिए।

३. भगवान् की भक्ति से अधिक और कोई सुख नहीं है। अनेक बार मन उसकी ओर न लग कर इधर-उधर भटकता है, किंतु उसे वश में रखना आवश्यक है। श्री बिहारी जी ही समस्त सुखों के दाता हैं।

४. मनुष्य-जीवन का परम कर्त्तव्य हरि-भक्ति है। मानव को सदैव हरि-भजन करना चाहिए, और धन की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए। धन तो मृत्यु के समान है।

५. भक्त बिगाड़ने वाला है, अपराधी है; और भगवान् सुधारने वाले हैं, कृपालु हैं। भगवान् अपने भक्तों को होड़ लगा कर सुधारते है।

६. जीव को इधर-उधर न भटक कर एकाग्रता पूर्वक भगवान् का चिंतन-मनन करना चाहिए। भगवान् की इच्छा से अनहोनी बात भी संभव हो जाती है।

७. भगवान् से प्रेम करना चाहिए, और साधुओं की संगति करनी चाहिए। इससे अंतःकरण के सब पाप दूर हो जाते हैं। भगवत् प्रेम सच्चा है, और सांसारिक प्रेम झूठा।

८. भगवान् की इच्छा से ही समस्त ब्रह्मांड का संचालन होता है।

९. संसार-सागर में पड़े हुए जीव लोभ और मोह के जाल में फँसे हुए हैं। भगवान् की कृपा से ही वे इससे मुक्ति पा सकते हैं।

१०. आलस्य छोड़ कर हरि-भजन करना चाहिए। मृत्यु किसी भी समय आ सकती है। उसके आते ही समस्त सांसारिक वैभव पड़ा रह जावेगा।

११. संसार के प्रति आसक्त होकर मानव-जन्म को व्यर्थ गँवाना उचित नहीं है। हरि-भक्ति में ही जीवन का अमरत्त्व है।

१२. अकिंचन और एकाग्र भाव से हरि-भक्ति करनी चाहिए। गाय की वत्स के प्रति, मृगी की शावक के प्रति और गूजरी की दुग्ध-पात्र के प्रति जैसी आसक्ति होती है, वैसी ही अनन्यता पूर्वक श्रीश्यामा-कुंजविहारी से प्रीति करनी चाहिए।

१३. समस्त प्रपंच प्रभु का खेल है, और यह तीर्थ के संमेलन जैसा अस्थायी है।

१४. भगवान् की माया से निर्मित यह संसार स्वप्न के समान भूठा है।

१५. सांसारिक प्रीति मिथ्या है, हरि-भक्ति ही सत्य है।

१६. सांसारिक जीवों की भाँति आस्तिक वैष्णवों को अपना कर्तव्य नहीं भूलना चाहिए। उन्हें अनन्यतापूर्वक हरि-भजन करते रहना उचित है।

१७. क्षण-भंगुर जीवन को व्यर्थ न खो कर उसे हरि-भजन में लगाना चाहिए।

१८. भगवत्-प्रेम अथाह समुद्र के समान है। वह पाखंड पूर्वक पार नहीं किया जा सकता है।

'इच्छाद्वैत' नाम की विफलता—उपर्युक्त उपदेशों में से कतिपय खोजियों ने स्वामी जी के दार्शनिक सिद्धांत के सूत्र भी खोज निकाले हैं; और उन्होंने उक्त सिद्धांत को 'इच्छाद्वैत' नाम से प्रचारित करने की चेष्टा की है। स्वामी जी के विरक्त शिष्यों की परंपरा में सर्वश्री बिहारिनदास जी और भगवतरसिक जी हरिदास संप्रदाय के भक्ति-तत्व और उपासना-पद्धति के विशद व्याख्याकार हुए हैं। उनमें से श्री बिहारिनदास की वाणी में संकेत से और श्री भगवतरसिक जी की वाणी में स्पष्ट रूप से 'इच्छाद्वैत' शब्द का उल्लेख हुआ है। उसे स्वामी जी के दार्शनिक सिद्धांत के खोजियों ने अपने मत का आधार बना लिया है। किंतु सर्वश्री बिहारिनदास जी और भगवतरसिक जी ने इस सबंध में 'ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है' का सिद्धांत स्थापित कर द्वैताद्वैत—विशिष्टाद्वैतादि दार्शनिक सिद्धांतों की स्पष्टतया अवमानता की है। उनका कथन है,—

'इच्छा' एक, अनेक पुनि, पुनि अनेक में एक।
बिहारिनदास संशय नहीं, याकौ नाम विवेक॥ (श्री बिहारिनदास)
नाँहीं द्वैताद्वैत हम, नहीं विशिष्टाद्वैत।
बँध्यो नहीं मतवाद में, ईश्वर 'इच्छाद्वैत'॥ (श्री भगवतरसिक)

इस प्रकार स्वामी जी के भक्ति-तत्त्व को 'इच्छाद्वैत' अथवा किसी अन्य दार्शनिक सिद्धांत से संबद्ध बतलाना उचित नहीं है। हमने गत पृष्ठों में श्री हित हरिवंश जी द्वारा प्रवर्तित 'राधावल्लभ संप्रदाय' के भक्ति-सिद्धांत और उपासना-पद्धति का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उन्हें भी किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत से संबद्ध नहीं किया जा सकता। राधावल्लभ संप्रदाय की भाँति हरिदास संप्रदाय भी प्रेमा भक्ति और रसोपासना को लेकर चला है, अतः यह भी हित जी के संप्रदाय की भाँति वेदांत के किसी विशिष्ट सिद्धांत का आश्रित नहीं है। जिन कतिपय हरिदासियों ने इसके भक्ति-तत्त्व को 'इच्छाद्वैत' के नाम से प्रचारित करने की चेष्टा की है, वे कुछ राधावल्लभियों की भाँति अपने संप्रदाय को भी चतुः संप्रदाय की परंपरा में स्थिर करने की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के वशीभूत थे। इतिहास से सिद्ध है, उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सका। यदि स्वामी हरिदास के भक्ति-तत्त्व को किसी दर्शन से संबद्ध किया जा सकता है, तो वह रस दर्शन है। उसे वेदांत के किसी तथाकथित 'सिद्धांत' से संबद्ध करना निरर्थक है।

रसोपासना में 'नित्य विहार' की मान्यता—वैसे तो ब्रज के सभी भक्ति संप्रदायों की उपासना–पद्धतियों में 'रस' को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है; तथापि राधावल्लभ संप्रदाय की भाँति हरिदास संप्रदाय की उपासना-भक्ति तो रस तत्त्व पर ही आधारित है। धार्मिक क्षेत्र में 'रस' की जो इतनी महत्ता है, उसका मूलाधार उपनिषद् है। 'तैत्तिरीयोपनिषद् (२-७) में परब्रह्म को 'रस' की संज्ञा देते हुए कहा गया है, वह रस रूप है और रस को उपलब्ध कर आनंदित होता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का उल्लेख है, रस रूप परब्रह्म रस की उपलब्धि के लिए अपने को दो रूपों में विभाजित कर लेता है, और तब वह अपने आप में क्रीड़ा रत होकर आनंद-लाभ करता है। कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायाचार्यों ने परात्पर तत्त्व के उस उभय रूप को 'श्रीराधा–कृष्ण' के नाम से अपनी उपासना–भक्ति का आधार बनाया है, और उसकी रस-क्रीड़ा को 'नित्यनिकुंज लीला' अथवा 'नित्य विहार' की संज्ञा दी है। इस प्रकार सामान्य रूप से 'नित्य विहार' की मान्यता ब्रज के सभी कृष्णोपासक सम्प्रदायों में है; किंतु विशेष रूप में इसे राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदास संप्रदाय मे स्वीकार किया गया है।

राधावल्लभीय और हरिदासी मान्यताओं का अंतर—यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, जब राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदास संप्रदाय दोनों ही रसोपासक हैं, और उन दोनों की ही उपासना में 'नित्य विहार' को प्रमुख स्थान प्राप्त है; तब उनकी मान्यताओं में कुछ अंतर है, या नहीं? इसका सीधा सा उत्तर यह दिया जा सकता है कि अंतर तो अवश्य होगा, तभी तो दोनों संप्रदायों का पृथक् अस्तित्व रहा है। कतिपय व्यक्तियों ने उस अंतर को जान कर भी सांप्रदायिक दुराग्रह से, और कुछ ने न जान कर भ्रम से हरिदास संप्रदाय को राधावल्लभ संप्रदाय के अंतर्गत लिख दिया है!

सांप्रदायिक दुराग्रह का एक पुराना उदाहरण श्री अनन्यअली कृत 'चरण प्रताप लीला' का वह उल्लेख है, जिसमे स्वामी हरिदास जी द्वारा हित हरिवंश जी की शरण में जाने और उनसे मंत्र-दीक्षा प्राप्त कर श्री बिहारी जी की सेवा और रसोपासना को प्रचलित करने का कथन किया गया है[1]! इस प्रकार के निराधार उल्लेख क्वचित ही मिलते हैं; और वे सांप्रदायिक खींचातानी के कुपरिणाम हैं। अनन्यअली जी राधावल्लभीय आचार्य श्री कमलनयन जी के शिष्य और एक समर्थ भक्त–कवि थे। वे प्राय: सं. १८०० तक विद्यमान थे। यह वह काल है, जब वृंदावन के कई भक्ति संप्रदायों में पारस्परिक विद्वेष इतना बढ़ गया था कि जिसके कारण उनके ग्रंथों में प्रक्षिप्त अंश बढ़ाये जाने लगे थे, और भक्तों के चित्रों में तिलकों का परिवर्तन किया जाने लगा था।

भ्रमात्मक कथन के अनेक उदाहरण आधुनिक काल के उन लेखकों की रचनाओं में मिलते है, जिन्होंने ब्रज के भक्ति संप्रदायों का गहन अध्ययन किये बिना ही उनके विवरण लिखे हैं। बेजानकार लेखकों की बात जाने दीजिये; भक्ति संप्रदायों के विशेषज्ञ विद्वान डा० हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी ने

---

(१) श्री स्वामी हरिदास रसीले। वृंदावन में आहि बसीले॥
श्री हितजू के सरनै आये। श्रवनहिं में वर मंत्र सुनाये॥
कुंजबिहारी सिर पधराये। विधि–निषेध जंजाल छुड़ाये॥
भये सु अति दृढ़ रसिक उपासी। श्री जू नाम धर्‌यो हरिदासी॥
—चरण प्रताप लीला, पद सं. ५० (राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ४६३)

कुछ पहिले 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (पृष्ठ ५४) में स्वामी हरिदास के सखी संप्रदाय को राधावल्लभ संप्रदाय का एक उपसंप्रदाय लिख दिया था; किंतु बाद में उनके ग्रंथ 'हिंदी साहित्य' (पृष्ठ १९६) में उस भूल को सुधार दिया गया[1]।

व्रज के भक्ति संप्रदायों के विशेषज्ञ आधुनिक विद्वानों में डा० विजयेन्द्र स्नातक का उच्च स्थान है। 'राधावल्लभ संप्रदाय' का तो उन्होंने गहन अध्ययन कर उस पर शोध-प्रबंध भी प्रस्तुत किया है, जो उनके तलस्पर्शी गंभीर ज्ञान का परिचायक है। उन्होंने राधावल्लभ संप्रदाय की 'नित्य विहार' संबंधी मान्यता पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है,—'जिस तात्त्विक अर्थ में आज नित्य विहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि में उसका मूलाधार श्री हित हरिवंश जी के 'हित चौरासी' और 'राधा सुधानिधि' नामक दो ग्रंथ ही हैं। उन्होंने नित्य विहार को सबसे पहिले सूक्ष्म भावनापरक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया।' इसके साथ ही डा० स्नातक ने स्वामी हरिदास जी की 'नित्य विहार' संबंधी मान्यता पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा है,— 'हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि स्वामी हरिदास जी ने विशुद्ध कोटि का नित्य विहार गाया है[2]। इस प्रकार डा० स्नातक ने सर्वश्री हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी दोनों को नित्य विहार के सर्वश्रेष्ठ गायक कहा है, किंतु उसके मूलाधार हित जी के ग्रंथ माने हैं। इस तरह प्रकारांतर से उनके मतानुसार स्वामी जी के नित्य विहार की मान्यता पर हित जी की प्रेरणा और उनका प्रभाव बतलाया गया है। हित जी तथा स्वामी जी दोनों सहयोगी महात्मा थे, और वे पर्याप्त समय तक साथ-साथ भक्ति-साधना करते रहे थे, जिससे उनकी सांप्रदायिक मान्यताओं पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। हित जी को नित्य विहार के मूल गायक होने का श्रेय दिया जा सकता है; और साथ ही यह भी माना जा सकता है कि हित जी की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी जी ने नित्य विहार का गायन किया हो। पर उन दोनों महात्माओं की तत्संबंधी मान्यताओं में एक दम समानता है, या कुछ अंतर भी है; इसका समाधान डा० स्नातक ने नहीं किया है। शायद वे उनमें अंतर मानते भी नहीं है। किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा, यदि उनमें अंतर न होता, तो राधावल्लभ संप्रदाय से हरिदास संप्रदाय का पृथक् अस्तित्व भी न हुआ होता, और उसकी दीर्घकालीन समृद्ध परंपरा भी स्थिर नहीं रह पाती। हमारे मतानुसार उन दोनों महात्माओं की नित्य विहार संबंधी मान्यता में अवश्य अंतर है, जिस पर हमें यहाँ प्रकाश डालना है।

जैसा पहिले लिखा गया है, व्रज के सभी भक्ति संप्रदायों की उपासना में रस-तत्व, निकुंज-लीला और नित्य विहार का महत्त्व स्वीकृत है; किंतु उनके स्वरूप के संबंध में उनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं। राधावल्लभ संप्रदाय में श्री वृंदावन धाम की 'नित्यनिकुंज लीला' की उपासना है, और उसी को उक्त संप्रदाय में नित्य विहार कहा गया है। हित हरिवंश जी की विद्यमानता में स्वामी हरिदास जी भी संभवतः नित्य विहार के उसी रूप के उपासक रहे हों; किंतु बाद में उन्होंने उसे अधिक समुन्नत और सूक्ष्म रूप प्रदान कर उसी को अपनी उपासना का प्रमुख अंग बनाया था। यह इतिहास प्रसिद्ध बात है, हित हरिवंश जी के देहावसान के उपरांत स्वामी हरिदास जी पर्याप्त काल

(१) कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४९

(२) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २३९

तक विद्यमान रहे थे। उस समय वृंदावन के रसिक भक्त जनों का उन्होंने नेतृत्व किया था, और श्री विहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य कर अपनी रसोपासना के विकसित रूप में 'नित्य विहार' की मान्यता प्रचलित की थी।

व्रज के विख्यात भक्त-कवि सदा से स्वामी जी की 'नित्य विहार' संबंधी मान्यता के प्रशंसक रहे हैं, और उसे हित हरिवंश जी की तत्संबंधी मान्यता से विशिष्टता प्रदान करते रहे हैं। भक्तवर हरिराम जी व्यास हित जी और स्वामी जी दोनों के प्रचुर काल तक सहयोगी थे, और उनके देहावसान के बाद तक जीवित रहे थे। वे उनके वियोग में बड़े दुखी रहा करते थे। उन्होंने उनकी विशेषताओं का बखान करते हुए कहा है,—"हित हरिवंश जी के बिना अब 'रस-रीति' के प्रचार का भार कौन सँभालेगा, तथा 'वृंदावन की सहज माधुरी' का विशद वर्णन कौन कर सकेगा? और स्वामी हरिदास जी के बिना अब 'नित्य विहार' का गायन कौन करेगा[1]?" राधावल्लभ संप्रदाय के विख्यात महात्मा ध्रुवदास जी ने 'भक्त-नामावली' के आरंभ में श्री हित हरिवंश जी की वंदना की है, और उनके द्वारा रसोपासना के प्राकट्य का उल्लेख किया है; किंतु 'नित्य विहार' के गायन का श्रेय उन्होंने अनन्य रसिक स्वामी हरिदास को ही दिया है[2]। भक्तवर रूपसखी ने इस संबंध में और भी स्पष्ट कथन किया है। उन्होंने वृंदावन के रसोपासक सुप्रसिद्ध महानुभावों की मान्यताओं का अंतर बतलाते हुए कहा है,—गौड़ीय महात्मा रूप-सनातन जी ने व्रज-लीलाओं का वर्णन किया है, और हित हरिवंश जी ने वृंदावन की नित्यनिकुंज-लीलाओं का; किंतु स्वामी हरिदास जी की प्रशंसा 'नित्य विहार' की उपासना के कारण की जाती है,—

'रूप-सनातन व्रज कह्यौ, वृंदावन हरिवंश। नित्य विहार उपास में, श्री हरिदास प्रशंस।'

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, 'नित्य विहार' के विधायक तत्व श्रीराधा-कृष्ण, सखी-सहचरी और श्रीवृंदावन हैं। इनमें उपासना की दृष्टि से सखी या सहचरी का अधिक महत्व है; क्यों कि उसी भाव से 'नित्य विहार' की रसोपासना में सफलता मिलती है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने तो यहाँ तक कहा है,—'सखी भाव की कल्पना के बिना नित्य विहार का स्वरूप खड़ा करना कठिन है।' और 'सखी भाव की उपासना को अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय भक्तप्रवर स्वामी हरिदास जी को है[3]।' इस प्रकार 'सखी भाव' की चरमोत्कर्षता के कारण हरिदास संप्रदाय में 'नित्य विहार' का जैसा भव्य रूप निर्मित हुआ, वैसा राधावल्लभ संप्रदाय में नहीं हो पाया है। यही दोनों की मान्यताओं का अंतर है। इसमें मुख्य कारण 'सखी भाव' की उपासना का तारतम्य है। अब इस पर यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डाला जाता है।

---

(१) बिन हरिवंशहिं सरस रीति कौ, कापै चलि है भार?
श्री वृंदावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार? ××
बिहारहिं स्वामी बिन को गावै? (साधु-विरह के पद स. २४–२६)

(२) निगम ब्रह्म परसत नहीं, सो 'रस' सबतें दूरि।
कियो प्रगट हरिवंश जी, रसिकनि जीवन-मूरि ॥ २ ॥
रसिक अनन्य हरिदास जू, गायौ 'नित्य विहार।
सेवा हू में दूर किय, विधि-निषेध जंजार ॥१२॥ (भक्त नामावली)

(३) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव की 'भूमिका', पृष्ठ १५–१८

भक्ति-उपासना में 'सखी भाव'—व्रज के कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों में श्रीकृष्ण-लीला के सहायक तत्त्व के रूप में गोपी और सखी-सहचरी की मान्यता है। कृष्ण-लीला की नित्य और नैमित्तिक अथवा अप्रकट और प्रकट दो प्रकार की भाव-भूमियाँ मानी गई हैं। इन्हीं को अगोचर और गोचर भी कहा जाता है। नित्य, अप्रकट अथवा अगोचर लीला गोलोक किंवा दिव्य वृंदावन की नित्यनिकुंजों में सतत् होती रहती है। यह श्रीकृष्ण की चिरंतन लीला है। नैमित्तिक, प्रकट अथवा गोचर लीला व्रज में होती है। यह श्रीकृष्ण के अवतार काल की लीला हैं। सामान्यतः गोपी, सखी, सहचरी आदि को समानार्थक समझा जाता है; किंतु जब व्रज के भक्ति संप्रदायों में कृष्ण-लीला से संबंधित विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हो गईं और भक्ति-उपासना के क्षेत्र में उनकी विविध व्याख्याएँ की जाने लगी; तब गोपी और सखी-सहचरी के भी पृथक्-पृथक् अर्थ किये गये। उस समय श्रीकृष्ण की व्रज-लीला का संबंध गोपियों से माना जाने लगा, और गोलोक किंवा दिव्य वृंदावन की नित्यनिकुंज लीला को सखी-सहचरियों से संबंधित समझा जाने लगा।

वल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय और निंबार्क संप्रदाय में सामान्यतः व्रज-लीला और उससे संबंधित गोपियो की मान्यता है। चैतन्य संप्रदाय में अंतरंग विशिष्ट गोपियों को सहचरी कहा जाता है; किंतु मूलतः दोनों में कोई खास अंतर नहीं है। राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदास संप्रदाय, जो रसोपासक संप्रदाय है, श्रीकृष्ण की 'नित्यनिकुंज' लीला' अथवा 'नित्य विहार' की उपासना करते है, और उसकी सिद्धि के लिए उनकी मान्यता सखियों की है। उनके मतानुसार भक्त गण सखी भाव से उपासना करने पर ही 'नित्यनिकुंज लीला' अथवा 'नित्य विहार' के शाश्वत्त सुख की रसानुभूति कर सकते हैं। इस प्रकार राधावल्लभ संप्रदाय और हरिदास संप्रदाय के 'सखी भाव' में मूलतः समानता है। किंतु हित हरिवंश जी के देहावसान के पश्चात् स्वामी हरिदास जी ने सखी भाव का अधिक विकास किया था। उन्होंने उक्त भावना को और भी सूक्ष्म धरातल पर अवस्थित कर उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया, जिसके कारण उनका सखी भाव राधावल्लभ संप्रदाय के सखी भाव से अधिक सूक्ष्म और उत्कृष्ट हो गया है। स्वामी हरिदास जी को उनके संप्रदाय में श्रीराधा जी की प्रधान सखी ललिता जी का अवतार माना जाता है। इस दृष्टि से भी उनके संप्रदाय को ही 'सखी भाव' का वास्तविक प्रतिनिधि होने का अधिकारी माना जाने लगा।

'सखी भाव' और 'गोपी भाव' का अंतर—तात्त्विक दृष्टि से सखी भाव और गोपी भाव में बड़ा अंतर है। सखियों के गोपियों की भाँति न तो अनेक नाम-रूप हैं, और न उनकी विविध कोटियाँ हैं। अधिकांश सखियाँ राधा-कृष्ण की व्रज-लीलाओं मे उनकी सहायिका मात्र होती हैं, और वे तटस्थ भाव से उक्त लीलाओं का सुखानुभव करती रहती हैं। किंतु गोपियों में से कुछ की श्रीकृष्ण से अंग-संग करने की भी अभिलाषा होती है। इस प्रकार उनमें स्वकीया और परकीया की स्थिति होने से राधा के प्रति सपत्नी भाव भी होता है। चंद्रावलि नामक गोप-कन्या की वैसी ही स्थिति मानी गई है। फिर गोपी भाव में संयोग और वियोग दोनों हैं, जिनके कारण गोपियों के साथ राधा जी को भी संमिलन-सुख के अतिरिक्त विरह-वेदना की भी अनुभूति होती है। सखी भाव में यह सब नहीं होता है। सखियों में स्वकीया-परकीया, सपत्नी आदि का भेद-भाव नहीं है; और न उनमें संयोग-वियोग की उभयावस्था है। सखियाँ श्रीकृष्ण से किसी प्रकार का अंग-संग नहीं चाहतीं। वे तटस्थ और निस्संग भाव से श्रीराधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं के केवल अवलोकन द्वारा ही आनंद प्राप्त करती हैं। उनमें किसी प्रकार की वासना नहीं है, ईर्ष्या-द्वेष नहीं है, और न लेश मात्र स्पर्धा-

प्रतिद्वंदिता ही है । वे 'स्वसुख' की किंचित् भी कामना न कर सदैव 'तत्सुख' की भावना से ही अपने को समर्पित किये रहती हैं । इस प्रकार सखी भाव आत्मोत्सर्ग, समर्पण और वासना रहित शुद्ध प्रेम की उपासना का मार्ग है । डा० शरणविहारी गोस्वामी गोपी तत्व और सखी तत्व के अंतर की समस्त बातों का निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं,—'गोपी तत्व जहाँ श्रीकृष्ण की अवतार-लीला की पृष्ठ-भूमि में दर्शन, अध्यात्म और विधि-विधान से समन्वित, जन्म-कर्म से युक्त तत्व का साकार रूप है, वहाँ सखी भाव की दृष्टि से सखियाँ इन सब क्षेत्रों से पृथक् केवल मात्र प्रिया-प्रियतम की रासलीला की अंगभूत, लीला-सहकारिणी, लीला-विस्तारिणी, लीला-आस्वादिनी, लीला-स्वरूपा हैं। इसलिये सखी तत्व की संपूर्ण व्याख्या नित्य विहार के एक अंग के रूप में ही की जा सकती है[1] ।'

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, राधावल्लभ संप्रदाय की नित्य विहार संबंधी मान्यता के आधार श्री हित हरिवंश जी के ग्रंथ 'राधा-सुधानिधि' एवं 'हित चौरासी' हैं, और डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार वही उक्त मान्यता के मूलाधार हैं । किंतु डा० शरणविहारी गोस्वामी ने इन ग्रंथों के उदाहरण देकर बतलाया है कि इनकी पृष्ठभूमि नित्यनिकुंज धाम की न होकर स्पष्ट रूप से ब्रज की है, और हित जी के राधा-कृष्ण ब्रज के राधा-कृष्ण से किसी रूप में भिन्न नहीं हैं । फलतः हित हरिवंश जी द्वारा प्रचारित सखी भाव एक प्रकार का गोपी भाव ही है । गोपियों के संबंध में हित जी का विवरण स्वकीयात्व की अपेक्षा उनके परकीयात्व का ही समर्थन करता ज्ञात होता है । 'हित चौरासी' के पद सं. ६३ में वर्णित शरद रास मे गोपियों द्वारा अपने पति-बंधु आदि को छोड़ कर आने की बात कही गई है । यह विषय भागवत के अनुसार है और परकीयात्व का समर्थक है ।' अंत में उन्होंने लिखा है,—'राधावल्लभ संप्रदाय की संपूर्ण विचार-धारा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि उसमें एक विशेष क्रम-विकास हुआ है । क्रमशः गोपी-तत्त्व से उन्मुख होते हुए इस संप्रदाय के रसिक सखी-तत्त्व पर पहुँचे हैं, और अंत में पुनः सप्रदाय के साहित्य में गोपी-तत्व और सखी-तत्व का समन्वय दिखलाई पड़ता है[2] ।'

भक्ति-उपासना का स्वरूप और उसकी विशिष्टता—हरिदास संप्रदाय की भक्ति एवं उपासना का स्वरूप स्वामी हरिदास जी की रचनाओं में बिखरे उनके तत्संबंधी सूत्रों के आधार पर निर्मित हुआ है, और उनकी रूप-रेखा इस संप्रदाय के विख्यात महात्मा सर्वश्री विहारिनदास जी तथा भगवतरसिक जी ने प्रस्तुत की है । इस संप्रदाय में प्रेमा भक्ति और रसोपासना का अत्यंत समुन्नत रूप दिखलाई देता है । इसमें प्रेम की तुलना में समस्त नियम, जप-तप, व्रत-संयम और विधि-निषेध की उपेक्षा की गई है । श्री विहारिनदास जी ने कहा है,—'अरे भैया ! जब मन मे प्रेम का उदय हो जाता है, तब किसी प्रकार का नियम नहीं टिक पाता । समस्त जप, संयम, नियम, विधि, निषेध, व्रतादि की आवश्यकता तो तभी तक है, जब तक हृदय को प्रेम का स्पर्श प्राप्त नहीं होता है । प्रेम के सुख का तनिक भी आस्वाद मिलने पर देह के समस्त सुख विसर जाते हैं । उस स्थिति में संयम-नियमादि का पालन करो तो जैसा, न करो तो जैसा,—कोई अंतर नहीं पड़ता[3] ।'

---

(१) कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ १६३
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ १८०—१८६
(३) मन प्रेम, तो नेम रहै न भैया ।
जप-संजम-नेम निषेध-विधिहि—व्रत तौ लगि, सो परस्यौ न हिया ।।
पुनि पावत ही सुख-स्वाद कछू, विसरे सुख देह, किया न किया ।। (ह.र.मा पृ. १०६)

उन्होंने 'विधि-निषेध' की निस्सारता बतलाते हुए रसिक भक्तों से कहा है,—'तुम विधि-निषेध के परिपालनार्थ क्यों पचि मर रहे हो ! जानते नहीं, इससे प्रेम-भक्ति में अंतर पड़ता है। जब मन, वचन और कर्म में प्रेम भाव का उदय हो जाता है; तब लोक और वेद के समस्त विधि-निषेध विसर जाते हैं। जो प्रेम-रस के रसिक हैं, वे न तो स्वर्ग की आशा करते हैं, और न नर्क के त्रास से ही डरते हैं[1]।' उन्होंने प्रेम भक्ति में जनेऊ, जाति, गायत्री, संध्या, तर्पण को भी व्यर्थ कहते हुए केवल माला, मंत्र और भजन की आवश्यकता बतलाई है[2]। इनके साथ ही उन्होंने तीर्थ-यात्रा और श्राद्ध-कर्म को भी अनावश्यक बतलाया है[3]। उक्त क्रांतिकारी मान्यताओं के कारण हरिदास संप्रदाय को वेद-विरोधी नहीं समझना चाहिए। श्री बिहारिनदास जी के मतानुसार इस संप्रदाय की सभी मान्यताएँ वेद-विरोधी न होकर वेदानुरोधी ही हैं। उन्होंने आक्षेप करने वालों को डाटते हुए कहा है,—'हमने तो वही किया है, जो वेदों में कहा गया है; उसमें से केवल लोक की बातों को हमने अनन्य रस की तुलना में छोड़ दिया है[4]।'

श्री बिहारिनदास ने बतलाया है,—'स्वामी हरिदास जी के मतानुसार श्री कुंजबिहारी जी ही सर्वोपरि परम तत्त्व हैं। वे सब अवतारों के अवतारी हैं, और सबके स्वामी हैं; जब कि अन्य अवतार उनके अंश—कला मात्र हैं। उनका विरद बड़ा विलक्षण है, और वे इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लीलाएँ करते हैं। वे लक्ष्मीपति श्रीविष्णु और ब्रजपति श्रीकृष्ण को भी दुर्लभ हैं ! उनसे बड़ा अधिकारी कोई भी नहीं है[5]।' भगवत्तरसिक जी ने इस विषय का तात्त्विक विवेचन करते हुए समस्त विश्व के ७ आवरण बतलाये हैं; और अंतिम आवरण को श्री राधारमण जी की केलि—क्रीड़ा से मंडित कहा है। उन्होंने उक्त आवरणों का क्रमबद्ध कथन करते हुए बतलाया है,—'प्रथम आवरण महत्तम प्रकृति का है, जहाँ ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश है। उसके ऊपर द्वितीय आवरण उस परब्रह्म का है, जो करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशवान है। तृतीय आवरण वैकुंठवासी लक्ष्मी—नारायण का है, और चतुर्थ आवरण गोपुर-निवासी राम का है। पाँचवा आवरण ब्रज के

---

(१) विधि-निषेध कों क्यों पचि मरैं। प्रेम भक्ति में अंतर परैं ॥
मन-वच-क्रम जो उपजै भाव। तौ लोक-वेद सब विसरि जाव ॥
स्वर्ग-नर्क की आस न त्रास। जे रस रसिक 'बिहारिनदास' ॥ (ह.र.सा. पृष्ठ १३५)

(२) भक्ति में कहा जनेऊ—जाति।
गायत्री, संध्या, तर्पन तजि, भजि माला—मंत्र सजाति ॥ (ह. र. सा. पृष्ठ १६९)

(३) स्वामी हरिदास-रस-सागर, पृष्ठ ११३

(४) वेदनि कह्यौ सो हम कियौ, लोगन कौ मत छाँटि।
श्री बिहारीदास अनन्य रस जस, कहत सभा में डाटि ॥ (ह. र. स. पृष्ठ ७१)

(५) श्री कुंजबिहारी सर्वसु—सार। × ×
अंस—कला सब अवतारनि कौं, अवतारी भरतार ॥१४६॥
बांके बिरदनि विदित बिहारी।
इछ्या विग्रह धरि लीला-वपु, सब अवतारनि पर अवतारी ॥
लछमीपति ब्रजपति कौं दुरलभ, इनतें कौन बड़ौ अधिकारी ॥२८॥
—हरिदास रस सागर, पृष्ठ १८०—१०५

गोप–गोपी और नंदादिक का है, और छटवाँ आवरण लीला रस से ओतप्रोत सखी समाज का है। सबके ऊपर अंतिम और सातवाँ आवरण उन केलि–क्रीड़ारत रसिकराज श्री राधारमण जी का है, जो सबके स्वामी हैं और सबके गुरु हैं[1] ।'

हरिदास संप्रदाय की भक्ति–उपासना का प्रमुख आधार 'नित्य विहार' में सतत् क्रीड़ा-रत श्रीश्यामा–कुंजविहारी की युगल जोड़ी है। स्वामी जी ने इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है,—'यह घन–दामिनि के समान एक दूसरे से अभिन्न, सहज, स्वाभाविक और चिरंतन है। यह जोड़ी पहिले भी थी, अब भी है, और आगे भी रहेगी[2] । इनके नित्य विहार में पल भर का भी व्यवधान नहीं होता है। व्यवधान की कल्पना भी असंगत है ! जहाँ नित्य विहार है, वहाँ चिरंतन रस का अखंड साम्राज्य है। यह नित्य विहार निपट एकाकी है; केवल अंतरंगा सखियों का इसमें प्रवेश माना गया है। किंतु रस की चरमावस्था होने पर कभी–कभी इसमें सखियों की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। तब श्रीश्यामा–कुंजविहारी स्वयं ही एक-दूसरे के सखा और सखी होते हैं। वे दोनों सब से पृथक् होकर स्वयं खेलते हैं, स्वयं ही रूठते हैं, और स्वयं ही एक दूसरे को मना भी लेते हैं[3] !

श्री श्यामा–कुजविहारी का यह नित्य विहार किसी देव-पितर को तो क्या, लक्ष्मीपति विष्णु के लिए भी दुर्लभ है ! इसमें राम और कृष्ण का प्रवेश भी नहीं हो सकता है ! वैकुंठवासी लक्ष्मी-नारायण और ब्रजवासी राधा-कृष्ण इसमें प्रवेश पाने के लिए ललचाते हैं। विहारिनदास जी का कथन है,—

'विहारिनदास' विहार कों, लछिमीपति ललचाँहि। देव-पितर लीएँ फिरें, ह्याँ राम-कृष्न न समाँहि ॥
याही तें दुर्लभता सबकों, लछिमीपति ललचात। जद्यपि राधा-कृष्ण बसत ब्रज, बिनु विहार बिललात ॥

नित्य विहार के लिए लक्ष्मी-नारायण ललचावें और इसमें राम का प्रवेश न हो, यह बात तो सब की समझ में आ सकती है; किंतु इसमें कृष्ण का भी प्रवेश न हो और राधा-कृष्ण भी इसके लिए ललचावें, बिलबिलावें–इसका रहस्य इस संप्रदाय के परम रसिक भक्त जन ही समझ सकते हैं। औरों के लिए तो यह बड़ी विलक्षण बात मालूम होगी। यही विलक्षणता स्वामी हरिदास जी की भक्ति-उपासना की विशिष्टता है !

हरिदासी भक्ति की कठिनता—अपनी इस विलक्षणता किंवा विशिष्टता के ही कारण स्वामी हरिदास जी की प्रेमा भक्ति और रसोपासना इतनी कठिन है कि इन्हें ग्रहण करना सब के वश की बात नहीं है। श्री विहारिनदास ने सामान्य भक्तों को चेतावनी देते हुए कहा है,—'यह 'प्रेम'

---

(१) प्रथम महातम प्रकृति, ज्ञान-रवि तहाँ प्रकासैं। दूजैं ब्रह्म प्रकास, कोटि सूरज सम भासैं ॥
तीजैं पंकजनाभि–रमा वैकुंठ निवासी। चौथे दसरथ-सुवन राम, गोपुर के वासी ॥
पाँचै ब्रज के गोप, नंद आदिक सब गोपी। छटयें सखी-समाज, करैं लीला-रस ओपी ॥
'भगवत' सतयै आवरन,करहिं केलि रावारवन। सर्वोपरि सर्वस-गुरु, रसिकराय मंगल-भवन ॥

(२) १. (माई री) सहज जोरी प्रगट भई जु, रंग की गौर–स्याम घन–दामिनि जैसें।
प्रथमहु हुती, अब हू, आगें हू रहि है, न टरि है तैसें ॥ (केलिमाल पद सं. १)
२. जोरी विचित्र बनाई री माई, काहू के मन हरन कों।
ज्यों घन-दामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाँहिन और बरन कों ॥ (केलिमाल, पद ४)

(३) १. अबकैं बसंत न्यारेई खेलें, काहू सों न मिलि खेलें, तेरी सौं। (केलिमाल, पद सं. ६५)
२. प्यारीजू ! हम तुम दोऊ एक कुंज के सखा, रूठै क्यों बनै ? (केलिमाल, पद सं. ८६)

३. सात्वत – पंचरात्र धर्म

संक्षिप्त परिचय—

नाम और परंपरा—श्रीकृष्ण ने अपने समय में प्रचलित वैदिक धर्म के रूप में परिष्कार कर जिस क्रांतिकारी धर्म का उपदेश दिया था, उसे पहिले उनके परिकर गोप-ग्वालों, यादवों और पांडवों ने अंगीकार किया। कालांतर में उसका अन्य वर्गो और क्षेत्रों में भी विस्तार हुआ था। उसका आरंभिक केन्द्र श्रीकृष्ण का लीला–धाम शूरसेन जनपद था, जहाँ के निवासी यादव क्षत्रियों की सत्वत शाखा में उसका विशेष प्रचार हुआ था। सत्वत यादव श्रीकृष्ण के सजातीय समुदाय और उनके परिकर के थे, अतः अपने कुल के अद्वितीय महापुरुष के प्रति उनकी श्रद्धा होना स्वाभाविक था। फलतः सत्वतों के नाम पर उस धर्म को भी 'सात्वत धर्म' कहा जाने लगा और उसकी धार्मिक विधि को 'सात्वत पद्धति' नाम प्राप्त हुआ। महाभारत में लिखा है, कलियुग के आरंभ में संकर्षण ने वासुदेव की पूजा सात्वत पद्धति से की थी[1]। इस धर्म के कई नाम प्रसिद्ध हुए थे, जिनमें एक नाम 'पंचरात्र' भी था। महाभारत काल में जो पाँच धार्मिक मत विशेष रूप से प्रचलित थे, उनमें 'पंचरात्र' का भी नामोल्लेख मिलता है[2]। उस धर्म का बड़ा प्रचार हुआ और उसकी परंपरा दीर्घ काल तक चलती रही थी।

इस धर्म का 'पंचरात्र' नाम क्यों प्रसिद्ध हुआ, इसके विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। "कहते है, नारायण ने अपने पाँच शिष्यों को एक–एक कर पाँच रात्रियों तक पाँच प्रकार,—१. ज्ञानकांड, २. साधना पद्धति, ३. विग्रह विवेचन, ४. अर्चा विधान तथा ५. आचार कांड का उपदेश दिया था। इसी से उसे 'पंचरात्र' कहा गया[3]।" इस धर्म का एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'नारद पांचरात्र' है, जिसे उत्तर मध्यकाल की रचना माना जाता है। उसमें इसके नाम का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है,—"रात्र शब्द का अर्थ होता है 'ज्ञान' और वह पाँच प्रकार का है—'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम्। परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पाँच विषयों का निरूपण करने से इस तंत्र का नाम पंचरात्र पड़ा है[4]।" इस धर्म के प्राचीन ग्रंथ अहिर्बुध्न्य संहिता में भी 'नारद पंचरात्र' से प्रायः मिलता हुआ मत ही व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाँच विशिष्ट प्रकार के धार्मिक ज्ञान को मान्यता के कारण उस धर्म का 'पंचरात्र' नाम प्रसिद्ध हुआ था।

'पंचरात्र' का सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' (१३–६–१) में हुआ है, जहाँ उसे एक यज्ञ विशेष कहा गया है। इस नाम के एक उपनिषद होने की भी मान्यता है; किंतु इसका जो थोड़ा–बहुत विवरण उपलब्ध है, वह (शांतिपर्व) के 'नारायणीयोपाख्यान' में ही मिलता है। महाभारत के 'खिल' (परिशिष्ट) 'हरिवंश' में पंचरात्र का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, किंतु उसके

---

(१) महाभारत (भीष्म पर्व, ६०७–३८, ४१)

(२) सांख्यम् योगः पांचरात्रम् वेदाः पाशुपतम् तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय ३४६)

(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ७०, अंक ४) पृष्ठ ३

(४) नारद पांचरात्र (१–४४, ४५, ५२)

और 'रस' की पद्धति बड़ी कठिन है। इसे भली भाँति समझ-बूझ कर ही ग्रहण करनी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि चकोर का तो भक्षण है, किंतु औरों के लिए वह अभक्ष्य है; उसी प्रकार स्वामी जी की भक्ति-उपासना परम साधक रसिक भक्त ही ग्रहण कर सकते हैं[१]। इसी बात को श्री भगवत-रसिक ने और भी स्पष्टता से कहा है। उनका कथन है,—'अन्य संप्रदायों की नवधा भक्ति और वेदोक्त ज्ञान तो गंगा जल के समान है, जिसे कोई भी भक्त जन सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकता है। किंतु ललिता सखी रूप स्वामी हरिदास जी का उपासना-तत्त्व सिंहनी के दूध के समान है, जो या तो संस्कार प्राप्त सिंह-शावक के उदर में पच सकता है, या स्वर्ण पात्र के समान परम रसिक महानुभावों द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त औरों के लिए यह अहितकर सिद्ध हो सकता है[२]।' स्वामी जी के उपासना-तत्त्व की मूलाधार उनकी रस-रीति विविध प्रकार के व्यक्तियों को किस तरह विभिन्न फल प्रदान कर सकती है, इसे श्री भगवतरसिक जी ने स्वाति नक्षत्र के जल का उदाहरण देकर समझाया है। उन्होंने कहा है,—'यह रस-रीति स्वाति के दिव्य जल के समान है। जिस प्रकार वह जल रूप-गुण में एक समान होते हुए भी केला, कमल, पपीहा और सीपी को अल-अलग ढंग से फल देता है; उसी प्रकार इस रस-रीति का प्रभाव भी विषयी, ज्ञानी, भक्त और उपासक के लिए अलग-अलग समझना चाहिए। एक ही तरह का बीज विविध प्रकार की भूमि में पड़ने पर अलग-अलग तरह से उपजता है[३]।

सप्त सोपानों की व्यवस्था—स्वामी जी की भक्ति-उपासना की कठिनता को कुछ सुगम करने के लिए श्री भगवतरसिक जी ने सप्त सोपानों का कथन किया है। उनके मतानुसार इन पर क्रमशः अग्रसर होने से श्रद्धालु रसिक भक्तों को आवश्यक सफलता प्राप्त हो सकती है। उन्होंने कहा है,—'प्रथम सोपान भक्तों के मुख से श्रीमद् भागवत का श्रवण करना है। दूसरा व्यासोक्त नवधा भक्ति की आराधना करना है। तीसरा दक्ष और सर्वज्ञ किसी रसिक महानुभाव को समझ-बूझ कर गुरु बनाना है। चौथा विरक्त भाव से वृंदावन-वास करना है। पाँचवाँ अपनी देह के सुख-दुःखों को सर्वथा भुला देना है। छटवाँ रास की भावना को अंगीकार करना है। इन छै सोपानों को जो रसिक भक्त पार कर लेता है, वही स्वामी हरिदास जी की रस-रीति के अनुसार उपासना-भक्ति कर सकता है[४]।'

---

(१) कठिन प्रीति रस रीति है, समुझि गहो मन माँहि।
इक चकोर पावक चुगै, सर्बहिन कौ भख नाँहि॥ (ह. र. सा. पृष्ठ ६८)

(२) संप्रदाय नवधा भगति—वेद, सुरसरी नीर। ललिता सखी उपासना, ज्यों सिंहिन कौ छीर॥
ज्यों सिंहिन कौ छीर, रहे कुंदन के वासन। कै बच्चा के पेट, और घट करै बिनासन॥

(३) यह रस-रीति प्रिया-प्रीतम की, दिव्य स्वाति-जल जैसे।
विषयी, ज्ञानी, भक्त, उपासक, प्रापत सबकों कैसे॥
कदली, कमल, पपीहा, सीपी, पात्र-भेद गुन तैसे।
'भगवत' बीज-विषमता नाँहीं, भूमि भाग्य-फल ऐसे॥

(४) प्रथम सुनै भागौत, भक्त मुख भगवत बानी। द्वितिय अरावै भक्ति, व्यास नव भाँति बखानी॥
तृतीय करै गुरु समुझि, दक्ष सर्वज्ञ रसीलौ। चौथे होय विरक्त, बसै बनराज जसीलौ॥
पाँचें भूलै देह निज, छटै भावना रास की। सातै पावै रीति-रस, श्री स्वामी हरिदास की॥
—भगवतरसिक जी की वाणी

स्वामी जी की सांप्रदायिक परंपरा—

हरिदास संप्रदाय का संगठन—स्वामी हरिदास जी के जीवन-काल में ही उनके प्रति श्रद्धा रखने वाले रसिक भक्तों और संगीतज्ञों का एक वृहत् समुदाय बन गया था। किंतु स्वामी जी की विद्यमानता में ही वह समुदाय एक संप्रदाय के रूप में भी संगठित हो गया हो, इसमें बड़ा संदेह है। उनकी विरक्ति-प्रधान एकाकी जीवन-चर्या और विशिष्ट भक्ति-उपासना को देखते हुए यह संभव नहीं मालूम होता कि उन्होंने हित हरिवंश जी की भाँति अपने भक्ति-मार्ग को प्रचलित करने का स्वयं कोई प्रयास किया हो। गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है, हित जी की विद्यमानता में ही उनके आरंभिक शिष्य उनकी उपासना-भक्ति का संदेश विविध प्रदेशों में ले गये थे, जिससे प्रभावित होकर वहाँ के अनेक भक्त जन वृंदावन आ कर उनके शिष्य हुए थे। किंतु स्वामी जी के आरंभिक शिष्यों ने भी इस प्रकार का प्रयास किया हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

ऐसा ज्ञात होता है, स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् ही उनकी उपासना-भक्ति का समुचित प्रचार हुआ था, और तभी उनके अनुगामियों ने गुरु-शिष्य की परंपरा प्रचलित कर अपने को एक संप्रदाय के रूप में संगठित किया था। हमारे अनुमान से स्वामी जी के सांप्रदायिक संगठन का आरंभ तो श्री विहारिनदास जी के काल में ही हो गया था; किंतु उसका सुव्यवस्थित रूप बहुत बाद में श्री भगवतरसिक जी के काल में बना था। सच्चे अर्थ में श्री भगवतरसिक जी को ही 'हरिदास संप्रदाय' का नियामक और व्यवस्थापक मानना चाहिए। उनकी रचनाओं से ही इस के वास्तविक संप्रदायिक रूप का निर्माण हुआ था। उन्होंने स्वामी जी के उपासना मार्ग को किसी प्राचीन संप्रदाय के अंतर्गत न मान कर स्वतंत्र स्वीकार किया; और इसे 'सखी संप्रदाय' के नाम से प्रचारित किया था। इसके भक्ति-तत्त्व को भी उन्होंने किसी प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत से संबद्ध न मान कर इसमें ईश्वर-इच्छा को ही प्रधान माना, और इसके लिए 'इच्छाद्वैत' नाम का सुझाव दिया था[1]। इस संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांत के रूप में 'इच्छाद्वैत' नाम का प्रचलन तो नहीं हो सका; किंतु इसका 'सखी संप्रदाय' नाम प्रचलित हो गया था। 'हरिदास संप्रदाय' को 'सखी संप्रदाय' भी कहा जाने लगा।

संप्रदाय की रूप-रेखा—भगवतरसिक जी ने इस संप्रदाय की रूप-रेखा भी निर्मित की थी। उसके अनुसार इसका सांप्रदायिक स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया गया,—आचार्य— ललिता सखी (स्वामी हरिदास), छाप— रसिक, उपासना— नित्य किशोर, मंत्र— युगल मंत्र, प्रमाण ग्रंथ— रसिकों की वाणी, धाम— श्रीवृंदावन, और इष्ट— श्रीराधा जी[2]।

'टट्टी संप्रदाय' का भ्रमात्मक नाम—हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में यह भ्रमात्मक उल्लेख मिलता है कि स्वामी हरिदास जी 'टट्टी संप्रदाय' के संस्थापक थे[3]। वस्तुतः इस नाम का कोई संप्रदाय न होकर एक भक्ति संस्थान है। इसकी स्थापना स्वामी हरिदास जी ने नहीं की थी,

---

(१) 'भगवत' नित्य विहार, परौ सबहीं कों परदा। रहैं निरंतर पास, रसिकवर 'सखी संप्रदा'॥
नाँहीं द्वैताद्वैत हम, नहीं विशिष्टाद्वैत। बँध्यौ नहीं मत-वाद में, ईश्वर 'इच्छाद्वैत'॥

(२) आचरज 'ललितासखी', 'रसिक' हमारी छाप। 'नित्यकिसोर' उपासना, 'जुगलमंत्र' कौ जाप॥
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद 'रसिकन की बानी'। 'श्रीवृंदावन' धाम, इष्ट 'स्यामा' महारानी॥

(३) मिश्रबंधु विनोद, प्र. भा., पृ. ३०२; श्री शुक्ल जी कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. १६१

वरन् उनके प्रायः दो शताब्दी पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा के एक विरक्त संत ललितकिशोरीदास जी ने की थी। वह महात्मा अपनी वैराग्य-वृत्ति के कारण यमुना पुलिन के एक खुले हुए निर्जन स्थल पर अपनी साधना करते थे। भक्त जनों ने उक्त स्थल को बांस की टट्टियों से घेर दिया था; जिनके कारण वह 'टट्टी संस्थान' कहा जाने लगा। उस संस्थान की प्रसिद्धि ललितकिशोरीदास जी के शिष्य ललितमोहिनीदास जी के समय में हुई थी; अतः इसे 'मोहिनीदास जी की टट्टी' भी कहते हैं।

शिष्य-समुदाय—ऐसा कहा जाता है, स्वामी हरिदास जी के अनेक शिष्य हुए थे; जिनमें से बहुतों के नाम इस संप्रदाय के ग्रंथों में मिलते हैं। किंतु जिस प्रकार स्वामी जी द्वारा अपने उपासना मार्ग को स्वयं प्रसारित करने की बात संदिग्ध है, उसी प्रकार उनके द्वारा शिष्य-सेवक किये जाने की बात भी संदेह उत्पन्न करती है। श्री हरिराम जी व्यास स्वामी जी के समकालीन और सहयोगी महात्मा थे। उन्होंने स्वामी जी की प्रशस्ति में कहा है, वे सब के साथ समान रूप से प्रेम-व्यवहार करते थे, उन्होंने किसी को अपना खास अनुचर नहीं बनाया था,—'प्रीति-रीति कीन्हीं सब ही सों, किये न खास खवास।' इस समकालीन उल्लेख के कारण स्वामी जी द्वारा शिष्य-सेवक बनाये जाने की बात प्रामाणिक ज्ञात नहीं होती। फिर भी उनके द्वारा शिष्य किये जाने की परंपरागत अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनके अनुसार इस संप्रदाय के परवर्ती ग्रंथों में उल्लेख भी किये गये हैं।

श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ में स्वामी जी के अनेक शिष्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उक्त शिष्यों में श्री विट्ठलविपुल जी प्रथम बतलाये गये हैं। उनके अतिरिक्त स्वामी जी के शिष्यों में आठ और प्रमुख थे। उनके नाम सर्वश्री १. दयालदास, २. मनोहरदास, ३. मधुकरदास, ४. गोविंददास, ५. केशवदास, ६. श्री अनन्य, ७. मोहनदास, और ८. बलदाऊदास लिखे गये हैं। उनके साथ ही श्री हरिराम जी व्यास के पुत्र किशोरदास जी और विख्यात संगीतज्ञ तानसेन को भी स्वामी जी के शिष्य कहा जाता है। 'निज मत सिद्धांत' में उल्लिखित इन तथाकथित शिष्यों के विवरण कहाँ तक प्रामाणिक हैं, यह बतलाना संभव नहीं है।

स्वामी हरिदास जी के एक शिष्य किशोरदास जी श्री हरिराम जी व्यास के छोटे पुत्र थे। राजा नागरीदास कृत 'पद प्रसंग माला' में उनका संक्षिप्त वृत्तांत और उनके द्वारा रचा हुआ रास का एक पद दिया हुआ है। तानसेन के संबंध में गत पृष्ठों में विस्तार से लिखा जा चुका है। श्री विट्ठलविपुल जी को स्वामी जी का वरिष्ट शिष्य और उनका उत्तराधिकारी माना गया है। उनसे इस संप्रदाय के सुप्रसिद्ध अष्टाचार्यों की परंपरा प्रचलित हुई थी।

हरिदास संप्रदाय के दो वर्ग—स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के समस्त अनुयायी दो वर्गों में विभाजित हैं, जिनकी पृथक्-पृथक् गद्दियाँ हैं। एक वर्ग स्वामी जी के प्रधान शिष्य विट्ठलविपुल जी की शिष्य-परंपरा के अनुगामियों का है, और दूसरा वर्ग स्वामी जी द्वारा प्रगटित श्री बिहारी जी के पुजारी जगन्नाथ जी के वंशजों के परिकर का है। श्री विट्ठलविपुल जी की परंपरा के संत गण अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विरक्त जीवन व्यतीत करते हैं, और श्री जगन्नाथ जी के वंशज गृहस्थ होते हैं। श्री विट्ठलविपुल जी की गद्दी के अधिकारी इस संप्रदाय के 'आचार्य' कहलाते हैं, और उनके विरक्त शिष्यों को 'स्वामी' कहा जाता है। श्री जगन्नाथ जी के वंशज 'श्री बिहारी जी के गोस्वामी' कहलाते हैं, और इन्हें 'गोस्वामी' कहा जाता है। वे परंपरा से श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा करते आ रहे हैं।

इस संप्रदाय का यह वर्ग-भेद आरंभ में नहीं था; वरन् बाद में हो गया था। आरंभ में तो स्वामी जी के शिष्य गण और श्री बिहारी जी पुजारी गण 'निधुवन' में एक साथ रहते हुए अपनी भक्ति-उपासना और सेवा-पूजा किया करते थे। श्री बिहारी जी का देव-विग्रह भी उनके साथ निधुवन में ही विराजमान था। कालांतर में श्री बिहारी जी की सेवा, निधुवन के अधिकार और अन्य कई बातों पर दोनों में मतभेद हो गया था। उस मतभेद के उग्र हो जाने पर दोनों में इतना मनोमालिन्य बढ़ गया कि यह संप्रदाय दो परस्पर विरोधी वर्गों में विभाजित हो गया था।

वर्ग-भेद का कारण और उसका परिणाम—हरिदास संप्रदाय के दोनों वर्गों के मनोमालिन्य के कई कारण थे। श्री बिहारी जी की सेवा और निधुवन के अधिकार के साथ ही साथ एक बड़ा कारण श्री बिहारी जी के पुजारियों की वंश-परंपरा से संबंधित विवाद भी था। उक्त पुजारी गण अपने पूर्वज श्री जगन्नाथ जी को स्वामी हरिदास जी का अनुज मानते थे। इस प्रकार वे स्वामी जी के वंशज होने का दावा करते थे। उनका वह दावा श्री विट्ठलविपुल जी की शिष्य-परंपरा के विरक्त साधुओं को मान्य नहीं था। उक्त मतभेद ने दोनों वर्गों में इतना मनोमालिन्य पैदा कर दिया था कि उसके फलस्वरूप उनमें झगड़े भी होने लगे थे!

पारस्परिक झगड़ों से तंग आने के कारण विट्ठलविपुल जी की परंपरा के तत्कालीन आचार्य ललितकिशोरीदास जी निधुवन से हट कर यमुना किनारे के खुले मैदान में बांस की टट्टियों से रहने लगे थे। तभी से श्री स्वामी जी की विरक्त गद्दी के रूप में 'टट्टी संस्थान' की ख्याति हुई। जगन्नाथ जी के गृहस्थ वंशजों के अधिकार में निधुवन रहा आया और श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा पर तो उनका पहिले से ही अधिकार था। यह वह समय था, जब दिल्ली का मुगल सम्राट मुहम्मदशाह (सं. १७७६ – सं. १८०५) शक्तिहीन होकर आमेर के सवाई राजा जयसिंह के बाहु-बल पर निर्भर हो गया था। जयसिंह मुगल दरबार की ओर से आगरा का सूबेदार नियुक्त हुआ और उसके प्रशासन में वृंदावन सहित समस्त ब्रज प्रदेश आ गया। उसने वैष्णव धर्म के परंपरागत चतुः संप्रदाय की मर्यादा को स्थिर रखने के लिए वृंदावन के स्वतंत्र भक्तिमार्गीय मतों को राजकीय मान्यता नहीं दी थी। उस काल के हरिदासी और राधावल्लभीय आचार्यों को उसने आदेश दिया कि वे चतुः संप्रदायों में से किसी एक के साथ अपना संबंध स्थापित करें। उसी समय से 'टट्टी संस्थान' के विरक्त संतों की शिष्य-परंपरा निंबार्क संप्रदाय से संबद्ध हो गई, और गृहस्थ गोस्वामियों के परिकर विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत हो गये। इसके परिणाम स्वरूप हरिदास संप्रदाय दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले वर्गों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया!

श्री जगन्नाथ जी और उनके वंशज—स्वामी हरिदास जी ने श्री बिहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था; जिनकी सेवा श्री जगन्नाथ जी को प्राप्त हुई थी। जगन्नाथ जी सारस्वत ब्राह्मण थे, और गृहस्थ थे। उनकी वंश-परंपरा के गोस्वामियों की मान्यता है कि वे श्री आशुधीर जी द्वितीय पुत्र और स्वामी हरिदास जी के छोटे भाई थे। स्वामी जी के वृंदावन-आगमन के कुछ समय पश्चात् ही वे उनके पास आ गये थे, और उनके साथ निधुवन में निवास करते थे। स्वामी जी ने अपने उपास्य श्री बिहारी जी की सेवा का दायित्व उन्हें सौंप दिया था। विरक्त शिष्यों की मान्यता है कि जगन्नाथ जी स्वामी जी के अनुज नहीं थे; और श्री बिहारी जी की सेवा भी उन्हें स्वामी जी के उपरांत बिहारिनदास जी के काल में दी गई थी। जगन्नाथ जी का देहावसान वृंदावन में हुआ था। उनकी समाधि निधुवन में स्वामी जी की समाधि के पास बनी हुई है।

श्री स्वामी हरिदास जी के उपास्य—
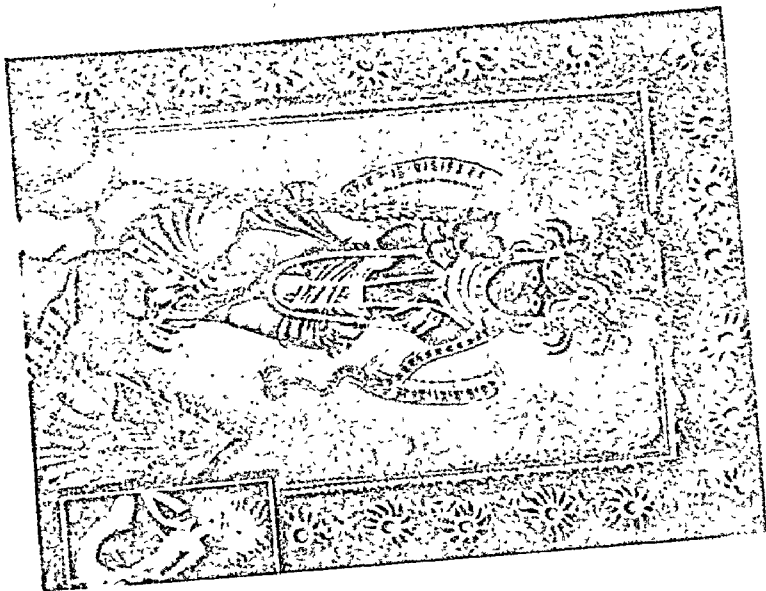
श्री बिहारी जी

श्री बिहारी जी का रंगमहल (निधिवन)

श्री विट्ठलविपुल जी
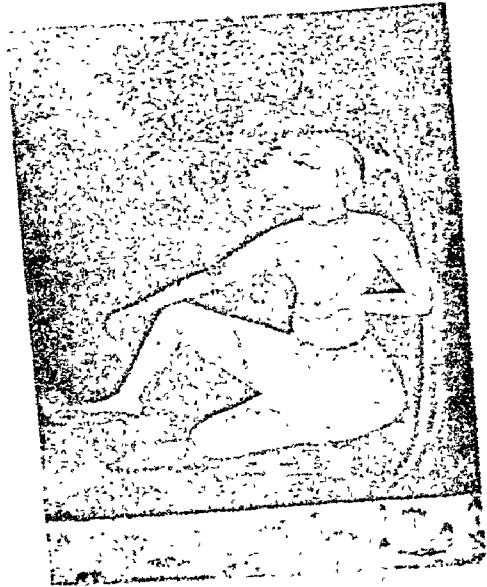
श्री विहारिनदास जी

श्री जगन्नाथ जी के तीन पुत्र हुए थे,—'सर्वश्री गोपीनाथ जी, मेघश्याम जी और मुरारीदास जी। उनमें सर्वश्री मेघश्याम जी और मुरारीदास जी के वंशजों के अनेक परिवार प्रचुर काल से वृंदाबन में निवास करते रहे है। उनके अधिकार में परंपरा से श्री बिहारी जी की सेवा है; और वे 'श्री विहारी जी के गोस्वामी' कहलाते हैं। उनके आधिपत्य में श्री स्वामी जी का निवास-स्थल 'निधुबन' और श्री विहारी जी का मंदिर है। गोस्वामियों में अनेक ठाकुर-सेवा परायण भक्त जन, विद्वान और व्रजभाषा के वाणीकार हुए हैं। उनकी प्रसिद्धि इतनी नहीं हुई, जितनी विट्ठलविपुल जी की विरक्त परंपरा के अष्टाचार्यो और उनके शिष्य-प्रशिष्यों की है।

हरिदास संप्रदाय के अष्टाचार्य—स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा में जो विरक्त संत हुए हैं, उनमें से आरंभ के प्रमुख आठ इस संप्रदाय के 'अष्टाचार्य' कहलाते हैं। उन्होंने अपनी भक्ति-साधना, रसोपासना, वैराग्य-वृत्ति और विद्वत्ता से स्वामी जी के भक्ति-मार्ग की पर्याप्त प्रगति की थी। वे सब रसिक भक्त और परम विरक्त होने के साथ ही साथ विख्यात वाणीकार भी थे। उनका रचा हुआ प्रचुर वाणी साहित्य उपलब्ध है, जो व्रजभाषा भक्ति काव्य की अमूल्य निधि है।

उन आचार्यो के जीवन-वृत्तांत का प्रधान आकर ग्रंथ श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' है। इसी ग्रंथ के आधार पर श्री सहचरिशरण जी कृत 'ललित प्रकाश' में और श्री विहारी-शरण द्वारा संपादित 'श्री निंवार्क माधुरी' में अष्टाचार्यो का विवरण लिखा गया है। हम इन्ही ग्रंथों के आधार पर उक्त आचार्यो का संक्षिप्त वृत्तांत लिखते हैं।

१. श्री विट्ठलविपुल जी (प्रायः १६वीं शती के मध्य से १७वीं शती के मध्य तक)—

जीवन-वृत्तांत—स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनके संप्रदाय में जो 'अष्टाचार्य' हुए है, उनमें श्री विट्ठलविपुल जी प्रथम आचार्य माने जाते हैं। उनके जन्म और देहावसान काल के संबंध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती है। इतना निश्चय है, वे स्वामी जी के समकालीन थे और उनके पश्चात् केवल कुछ दिनों तक ही जीवित रहे थे। 'निज मत सिद्धांत' के अनुसार वे स्वामी जी के ममेरे भाई और आयु में उनसे पाँच वर्ष बड़े थे। स्वामी जी के वृंदावन-आगमन के पश्चात् वे भी उनके पास आ गये थे। उन्होंने स्वामी जी से अगहन शु. ५ को मंत्र-दीक्षा प्राप्त की थी, और वे उनके प्रथम शिष्य थे[1]। गोस्वामियों की मान्यता के अनुसार वे स्वामी जी के भतीजे और उनके कनिष्ठ भ्राता श्री गोविंद जी के पुत्र थे।

श्री विपुल जी स्वामी जी के शिष्यों में सबसे प्रमुख और सर्वाधिक योग्य थे। वे परम विरक्त और रससिद्ध महात्मा थे। अपनी रसोपासना और सरस 'वाणी' के कारण वे 'रस सागर' कहे जाते थे। स्वामी जी के पश्चात् उन्हें उनका उत्तराधिकारी बनाया गया था, और वे उनके संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने गये। उनके विषय में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि स्वामी जी के देहांत के अनंतर उन्होंने अपने नेत्रों से इसलिए पट्टी बाँध ली थी, कि जिन आँखों से स्वामी जी का दिव्य स्वरूप देखा है, उनसे अब और किसी को नहीं देखना है। एक बार रास में उन्हें नेत्र खोलने को विवश होना पड़ा, किंतु उन्होंने तत्काल अपना शरीर त्याग दिया था! इसका उल्लेख प्रियादास जी ने भी किया है[2]।

---

(१) निज मत सिद्धांत, मध्य खंड, पृष्ठ ५६
(२) भक्तमाल की 'भक्ति रस बोधिनी' टीका, कवित्त सं. ३७७

विपुल जी की रसोपासना की संपुष्टि स्वामी जी के सत्संग में हुई थी, अतः वे श्रीश्यामा-कुंजविहारी जी के दिव्य केलि-रस के वास्तविक अधिकारी थे। उनकी वाणी के रूप में केवल ४० पद प्राप्त हैं। यह स्वल्प रचना भी ब्रजभाषा भक्ति साहित्य की निधि है। इसमें सखी भाव से प्रिया-प्रियतम के 'नित्य विहार' का सुंदर कथन किया गया है। 'निज मत सिद्धांत' के अनुसार वे शतायु हुए थे। उन्होंने तीस वर्ष तक घर मे और सत्तर वर्ष तक वृंदावन में निवास किया था। वे अगहन शु. ५ को श्री स्वामी जी के चरणाश्रित, और कार्तिक कृ. ७ को निकुंज-वासी हुए थे[1]। 'निज मत सिद्धांत' में उनके जन्म, वृंदावन-आगमन और देहावसान के जो संवत् दिये गये हैं, वे ठीक नहीं हैं। उनकी समाधि 'निधुवन' में बनी हुई है। उनके उपरांत श्री विहारिनदास जी को उनका उत्तराधिकारी बनाया गया था।

२. श्री विहारिनदास जी (उपस्थिति काल १७वीं शती)—

जीवन-वृत्तांत—वे श्री विट्ठलविपुल जी के पश्चात् हरिदास संप्रदाय के आचार्य हुए थे। विपुल जी तो केवल कुछ दिनों तक ही आचार्य रहे थे, अतः श्री विहारिनदास जी ही वस्तुतः इस सप्रदाय के प्रथम आचार्य थे। स्वामी हरिदास जी और श्री विट्ठलविपुल जी का काल अनिश्चित होने से श्री विहारिनदास जी के यथार्थ काल के निश्चय करने मे भी बाधा उपस्थित होती है। 'निज मत सिद्धात' के अनुसार उनके जन्म और देहावसान के संवत् क्रमशः १५६१ और १६५६ हैं; किंतु वे ठीक नहीं हैं। उनका जन्म १६वी शती के अंत में श्रावण शु. ३ को दिल्ली में हुआ था, और वे सं. १६७० के लगभग निकुंज-वासी हुए थे।

'निज मत सिद्धांत' के अनुसार श्री विहारिनदास का पिता मित्रसेन दिल्ली का निवासी था, और सूरजध्वज ब्राह्मण था। वह सम्राट अकबर का उच्च पदाधिकारी था। उसके कोई पुत्र नहीं होता था। स्वामी हरिदास जी के आशीर्वाद से उसे पुत्र हुआ, और स्वामी जी ने ही उसका नाम विहारिनदास रखा था। मित्रसेन का देहावसान होने पर सम्राट ने विहारिनदास को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया था; किंतु वे वैराग्य-प्रिय होने के कारण अपने पद पर न रह सके, और राजकीय सेवा छोड़ कर वृंदावन चले आये। यहाँ आकर उन्होंने श्री विट्ठलविपुल जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। वे ३३ वर्ष की आयु तक घर में और उसके उपरात ६५ वर्ष तक वृंदावन मे रहे थे[2]। उनका देहावसान भी वृंदावन में ही हुआ था। उनकी समाधि निधुवन में बनी हुई है।

व्यक्तित्त्व और महत्त्व—श्री विहारिनदास जी परम विरक्त, रसिक भक्त और अत्यंत तेजस्वी महात्मा थे। उनकी प्रकृत्ति में फक्कड़पन के साथ निर्भयता और एक प्रकार की 'ऐड़' थी; जो उन्हें ब्रज के अन्य भक्त जनों से विशिष्टता प्रदान करती है। वे स्वामी जी द्वारा प्रचलित सखी भाव की भक्ति एवं नित्य विहार संबंधी रसोपासना के महान् ज्ञाता और प्रथम व्याख्याता थे। उनका विशाल वाणी साहित्य स्वामी जी की वाणी का विशद व्याख्यान माना जाता है।

वे दीर्घ काल तक हरिदास संप्रदाय के आचार्य रह कर रसिक भक्तों का मार्ग-प्रदर्शन करते रहे थे। उन्होने अपनी अनुपम भक्ति-भावना, उच्च कोटि की रसोपासना, अपूर्व वैराग्य-वृत्ति और विशाल वाणी-रचना द्वारा इस सप्रदाय की बड़ी उन्नति की थी। वे अपने संप्रदाय में 'गुरुदेव'

---

(१) निज मत सिद्धांत, अवसान खंड, पृष्ठ ३
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ १०३

की आदरणीय उपाधि से प्रसिद्ध हैं। उनकी महत्ता की प्रशंसा जिन अनेक भक्तों ने की है, उनमें हरिदास संप्रदाय के अतिरिक्त अन्य संप्रदायों के विशिष्ट महानुभाव भी हैं। उनके समकालीन भक्तों में सर्वश्री हरिराम जी व्यास और ध्रुवदास जी उनके बड़े प्रशंसक थे[१]।

वाणी-रचना—उन्होंने 'रस' और 'सिद्धांत' के साथ ही साथ नीति, उपदेश और शिक्षा संबंधी प्रचुर रचना की है। उनके रचे हुए प्रायः ७०० साखी के दोहे, ३०० सिद्धांत के पद और १२५ चौबोला है, तथा २५० के लगभग शृंगार रस के पद हैं। इस प्रकार हरिदासी आचार्यों में उनकी रचना का परिमाण सबसे अधिक है। उन्होंने शृंगार रस की रचनाओं में वहाँ नित्य विहार की दिव्य केलि-क्रीड़ाओं का सरस गायन किया है, वहाँ साखी के दोहों और सिद्धांत के पदों आदि में ज्ञान, वैराग्य, नीति और उपदेश के मार्मिक एवं सारगर्भित कथन किये हैं।

उनकी साखी और सिद्धांत की रचनाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि उनमें संत-साहित्य की सी तेजस्विता के दर्शन होते हैं। उनकी कुछ रचनाओं में कबीरदास का सा फक्कड़पन और फटकार भी है। उन्होंने शाक्तों की बड़े कटु शब्दों में निंदा की है[२]। इसके साथ ही उन्होंने अनन्य भक्ति में बाधक श्राद्ध कर्म और तीर्थ यात्रा की तथा लोभी कथावाचकों एवं ढोंगी पंडितों की भी तीव्र आलोचना की है[३]। अपनी इन विशेषताओं में श्री विहारिनदास जी और हरिराम जी व्यास ब्रजभाषा के सैकड़ों भक्त-कवियों में बिलकुल बेजोड़ है। विहारिनदास जी की रचनाओं का महत्व सांप्रदायिक होने के साथ ही साथ साहित्यिक भी है।

३. श्री नागरीदास जी (उपस्थिति काल १७वीं शती)—

जीवन-वृत्तांत—ब्रज के विख्यात भक्तों में नागरीदास नाम के कई महात्मा हुए हैं। उनमें नेही नागरीदास, बड़े नागरीदास और राजा नागरीदास अधिक प्रसिद्ध हैं। नेही नागरीदास जी राधा-वल्लभ संप्रदाय के रसिक भक्त थे, जिनका वृत्तांत गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है। बड़े नागरीदास जी हरिदास संप्रदाय के यही महानुभाव थे। वे अपने संप्रदाय के अन्य महात्मा सरसदास जी के बड़े भाई थे, अतः 'बड़े नागरीदास' के नाम से अपने समय में ही प्रसिद्ध हो गये थे। वे और नेही नागरीदास जी समकालीन थे। राजा नागरीदास उन दोनों के परवर्ती भक्त-कवि थे।

'निज मत सिद्धांत' के अनुसार यह नागरीदास तथा इनके छोटे भाई सरसदास राज्यमंत्री कमलापति के पुत्र थे और जाति के गौड़ ब्राह्मण थे। नागरीदास जी का जन्म सं. १६०० की माघ शु. ५ को हुआ था। वे २२ वर्ष की आयु में अपने जन्म-स्थान से वृंदावन आये थे, और ४८ वर्ष

---

(१) १. साँची प्रीति विहारिनदासैं।
कै करुआ, कै कुंज-कामरी, कै धर श्री स्वामी हरिदासैं॥
महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै, गावत रस जस जगत उदासैं॥ (व्यास जी)
२. मत्त भयौ रस-माधुरी, करी न दूजी बात।
विनु विहार निजु एक रस, और न कछू सुहात॥ (ध्रुवदास जी)
(२) साकत संग न जाइयै, जो सोने कौ होय। साकत सूद्र-मच्लेछ सौं, बुरौ न कहिये कोय॥
(३) १. है गयौ सब संसार सराधी। ये गये कूर कुरुक्षेत्र नहान। गया जु गया, सु गयाई गया।
२. भीख कों और कथा बहुतेरी। पांडे पढ़ि-पढ़ाय, बकि-बहके। (सिद्धांत के पद)

तक यहाँ रहे थे। इस प्रकार ७० वर्ष की आयु में सं. १६७० की वैशाख शु. ६ को उनका देहांत हुआ था[1]। अनुसंधान से सिद्ध हुआ है कि नागरीदास जी से संबंधित ये तिथि-संवत् पूरी तरह ठीक नहीं हैं; इनमे कुछ वर्षों का अंतर है।

नागरीदास जी के पिता एक श्रद्धालु भक्त थे। वे हरिदासी महात्माओं के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनके दोनों पुत्र भी आरंभ से ही भक्ति मार्ग की ओर आकर्षित हो गये थे। वे घर-गृहस्थी के झंझट से मुक्त हो कर विरक्त भाव से ब्रज-वास करना चाहते थे। उनके माता-पिता ने भी उनकी उस इच्छा में कोई बाधा नहीं डाली थी। फलतः नागरीदास जी और बाद में उनके छोटे भाई सरसदास जी वृंदावन आ गये थे। वे हरिदासी महात्माओं के सत्संग में रहने लगे थे।

नागरीदास जी की रचना के अंतःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे सर्वश्री विट्ठलविपुल जी और बिहारिनदास जी के साथ बहुत दिनों तक रहे थे[2]। उससे सिद्ध होता है कि वे स्वामी हरिदास जी की विद्यमानता में ही वृंदावन आ गये थे; क्यों कि श्री विट्ठलविपुल जी का देहावसान श्री स्वामी जी के निकुंज-गमन के कुछ ही दिन पश्चात् हो गया था। इस प्रकार वे स्वामी जी, विपुल जी और बिहारिनदास जी तीनों के सत्संग में रहे थे; किंतु उन्होंने मंत्र-दीक्षा बिहारिनदास जी से ली थी। वे श्री बिहारिनदास जी के उत्तराधिकारी थे; किंतु उनके कुछ समय पश्चात् ही वे निकुंज-वासी हो गये थे। फलतः उनके छोटे भाई सरसदास जी इस संप्रदाय के आचार्य हुए थे।

वाणी-रचना और शिष्य गण—नागरीदास जी ने दोहा, सवैया आदि छंदों में रचना की है, जो परिमाण में अधिक नहीं है। उनके २० साखी के दोहे और ७० शृंगार के पद मिलते हैं, जो सिद्धांत और सरसता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, और इसमें बड़ा प्रवाह है। 'वाणी' के अतिरिक्त उन्होंने स्वामी हरिदास जी कृत 'केलिमाल' की विस्तृत टीका भी की हे। नागरीदास जी के शिष्यों में कृष्णदास जी और नवलदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

कृष्णदास जी—वे एक रसिक भक्त जन थे। उनकी एक रचना 'गुरु मंगल' है, जिसमें सर्वश्री स्वामी हरिदास जी, बिहारिनदास जी और नागरीदास जी का गुण-गान किया गया है। इसे 'स्वामी हरिदास-रस-सागर' ग्रंथ में प्रकाशित किया गया है।

नवलदास जी—ऐसा कहा जाता है, वे श्री नागरीदास जी के भतीजे थे। वे भी सर्वश्री नागरीदास जी और सरसदास जी की तरह घर-बार छोड़ कर विरक्तावस्था में वृंदाबन आ गये थे। वे अनन्य भाव से प्रिया-प्रियतम की उपासना करते हुए उनके 'नित्य विहार' रस में सदैव मग्न रहा करते थे। उन्होंने नागरीदास जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। उनके निवास और भजन की रमणीक स्थली बरसाने की मोरकुटी कही जाती है। 'निज मत सिद्धांत' में उनकी जन्म-तिथि सं. १६१६ की अगहन शु. ५ लिखी गई है[3], जो ठीक नहीं है। उनकी संक्षिप्त 'वाणी' 'स्वामी हरिदास-रस-सागर' में प्रकाशित की गई है। इसमें उनकी नाम-छाप 'नवल सखी' मिलती है।

---

(१) निज मत सिद्धांत, अवसान खंड, पृष्ठ ६४-६५

(२) विपुल-बिहारिनदास कौ, मैं पूरौ पायौ संग।
'नागरीदास' फूलत सदा, देखि दुहनि कौ रंग॥

—कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४८६

(३) निज मत सिद्धांत, अवसान खंड, पृष्ठ ६५

एक प्रसंग गरुड़ की स्तुति में 'चतुर्मूर्ति' शब्द आया है। हरिवंश की नीलकंठी टीका में चतुर्मूर्ति का अभिप्राय वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध बतलाया है, जो पंचरात्र के सुप्रसिद्ध 'चतुर्व्यूह' का समानार्थक माना जा सकता है। "ब्रह्मपुराण (१६२), विष्णु पुराण (५-१८-५८), कूर्म पुराण (४१-६५), भागवत पुराण (१०-४०-२१) और पद्म पुराण (उत्तर २७३।३१३-३१४) में पंचरात्र और चतुर्व्यूह का उल्लेख है। 'कूर्म पुराण' में पंचरात्र विकसित रूप में वर्णित है[1]।"

प्रचलन और प्रचार—पंचरात्र धर्म के प्रचारकों में नारद और शांडिल्य के नाम अधिक प्रसिद्ध है। नारद के नाम से प्रचलित ग्रंथ 'नारद पांचरात्र' चाहें परवर्ती काल की रचना है, किंतु वे दोनों ऋषि इस धर्म के आरंभिक प्रचारक अवश्य थे। "ऐसा कहा जाता है कि शांडिल्य ऋषि ने चार वेदों में परम श्रेयस् न पाकर पंचरात्र का आश्रय ग्रहण कर परम तृप्ति प्राप्त की थी। 'शांडिल्य संहिता' नामक पांचरात्र संहिता का उल्लेख बहुत प्राचीन ग्रंथों में मिलता है[2]।"

पंचरात्र धर्म की परंपरा में उसकी एक सजातीय साधन पद्धति 'वैखानस' नाम से प्रसिद्ध रही है। एक ही धर्म की वे दोनों पद्धतियाँ आरंभ में ही प्रचलित होगई थीं और उनका शताब्दियों तक साथ-साथ प्रचार होता रहा था। वैसे दोनों की प्रथक्–प्रथक् संहिताएँ है और उनके मानने वालों में कभी मतैक्य और कभी मतभेद भी होता रहा है। उन दोनों के प्रचलन और स्वरूप के संबंध में श्री कुबेरनाथ राय का मत है,—"बौद्धावतार के पूर्व वैखानस आगम का ही प्राधान्य था। पर बौद्ध धर्म के उदय के बाद वह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित हो गया था। उसमें चिंतन एवं ज्ञान-कांड अत्यंत अल्प था, कर्मकांड एवं विधि-निषेध का ही अधिक प्राधान्य था। पांचरात्र आगम जिसमें कई संहिताएँ अंतर्भुक्त थी, ज्ञानकांड प्रधान है[3]।" वैखानस पद्धति का प्रचार दक्षिण में १२वीं शती तक पर्याप्त रूप में था। श्री रामानुजाचार्य के समय में वैष्णव मंदिरों में वैखानस पद्धति अधिक प्रचलित थी। उन्होंने उसके स्थान पर पांचरात्र पद्धति का प्रचलन कराया था।

आरंभ में वैदिक धर्म के अनुयायियों ने 'पंचरात्र' को अवैदिक बतला कर उसका विरोध किया था। इसीलिए कई स्मृतियों में उसकी निंदा की गई है। वैदिकों के मतानुसार सांख्य, योग, पाशुपत आदि की भाँति पाँचरात्र भी एक अवैदिक सिद्धांत था। 'कूर्म पुराण' में पाशुपत, शाक्त, भैरव, कापालिक आदि मतों के साथ पांचरात्र को भी निंदनीय बतलाया गया है। जब वेद विरोधी जैन और बौद्ध धर्मों का व्यापक प्रचार हो गया और उनके कारण सभी वैदिक मत–मतांतरों को क्षति पहुँचने लगी, तब संगठित रूप से उनका सामना करने के लिए वैदिकों और पौराणिकों ने पंचरात्रियों से मेल कर लिया था। उसके फलस्वरूप विष्णु पुराण, भागवत, नारदीय, पाद्म और वाराह आदि पुराणों में पंचरात्र के अनुकूल कथन मिलता है। पांचरात्र मत की यह विशेषता थी कि उसके अनुगामी वैदिक विधान के प्रति आस्था रखते हुए भी अहिंसात्मक यज्ञों को मान्यता देते थे। साधारणतया अहिंसा सिद्धांत जैन और बौद्ध धर्मों की देन माना जाता है; किंतु अब अनेक विद्वान मानते हैं कि उक्त धर्मों ने उसे नारायणीय किंवा सात्वत–पांचरात्र मतों से ग्रहण किया था।

---

(१) हरिवंश का सांस्कृतिक विवेचन, पृष्ठ १३०
(२) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८४
(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ७०, अंक ४) पृष्ठ २

४. श्री सरसदास जी (उपस्थिति-काल १७वीं शती के प्रायः अंत तक)—

जीवन-वृत्तांत—वे पूर्वोक्त महात्मा नागरीदास जी के छोटे भाई और राज्य मंत्री कमलापति के छोटे पुत्र थे। वे नागरीदास जी की भाँति ही श्री विहारिनदास जी के शिष्य हुए थे, और उनके पश्चात् हरिदास संप्रदाय के आचार्य बनाये गये थे। श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' और सहचरिशरण कृत 'आचार्योत्सव सूचना' के अनुसार उनका जन्म सं. १६११ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ था। वे ३० वर्ष तक घर पर रह कर ४२ वर्ष तक वृंदावन में रहे थे। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु में सं. १६८३ की श्रावण शु. १५ को उनका देहावसान हो गया था। ये तिथि-संवत् कहाँ तक प्रामाणिक हैं; यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। सरसदास जी श्री विहारिनदास जी के पश्चात् कई वर्ष तक विद्यमान रहे थे। हरिदास संप्रदाय के आचार्यों में उनका नाम अपने विनम्र स्वभाव और सत्संग-परायण होने के कारण प्रसिद्ध है। वे परम भक्त, श्रीश्यामा-कुंजविहारी जी के अनन्य उपासक तथा संतों एवं रसिक जनों के सर्वस्व थे।

वे सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होंने अपने उत्तराधिकारी नरहरिदास का नाम बिना पूर्व परिचय के ही घोषित कर दिया था! उनका भविष्य कथन अंत में सत्य सिद्ध हुआ था। उनकी वाणी में कवित्त, सवैया और पद मिलते हैं, जो परिमाण में नागरीदास जी से भी कम हैं; किंतु उनमें सरसता की कमी नहीं है। उनकी भाषा में ब्रज के साथ ही साथ अन्य क्षेत्रों की बोलियों तथा फारसी के भी कुछ शब्द मिलते हैं, जिनसे उनकी बहुभाषाभिज्ञता तथा विद्वता प्रकट होती है। उनके देहावसान के उपरांत नरहरिदास जी इस संप्रदाय के आचार्य हुए थे।

५. श्री नरहरिदास जी (सं. १६४० – सं. १७४१)—

जीवन-वृत्तांत—उनका चमत्कारपूर्ण जीवन-वृत्त 'निज मत सिद्धांत' में लिखा गया है। उससे ज्ञात होता है, नरहरिदास जी बुंदेलखंड के गूढ़ो नामक ग्राम में रहने वाले एक हरिभक्त ब्राह्मण विष्णुदास के पुत्र थे। उनमें बचपन से ही दैवी गुणों का प्रकाश होने लगा था। उनके द्वारा अनेक चमत्कारिक कार्य किये जाने की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। वे अपने दैवी गुण और साधु-सेवा के कारण बुंदेलखंड में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। ३५ वर्ष की आयु होने पर वे घर-बार छोड़ कर विरक्तावस्था में ब्रज-वास करने को चल दिये। यहाँ पर उन्होंने हरिदास संप्रदाय के आचार्य सरसदास जी से दीक्षा ली थी। फिर वे स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे। सरसदास जी का देहावसान होने पर उन्हें इस संप्रदाय का आचार्य बनाया गया था। 'निज मत सिद्धांत' के अनुसार उनका जन्म सं. १६४० की ज्येष्ठ कृ. २ को हुआ था। वे ३५ वर्ष तक घर पर और ६६ वर्ष तक वृंदावन में रहे थे। इस प्रकार १०१ वर्ष की दीर्घायु होने पर उनका देहावसान सं. १७४१ की पौष शु. ७ को वृंदावन में हुआ था[1]।

औरंगजेबी दमन—नरहरिदास जी के अंतिम काल में औरंगजेब की दमन नीति का ब्रज पर क्रूर प्रहार हुआ था। उसके फलस्वरूप मथुरा-वृंदावन-गोवर्धन आदि विविध स्थानों के मंदिर-देवालय नष्ट किये गये थे, और हिंदुओं को सताया गया था। उस समय यहाँ के अनेक भक्त जन अपने उपास्य देव के विग्रहों के साथ ब्रज से हट कर अन्यत्र चले गये थे। हरिदास संप्रदाय के

---

(१) निज मत सिद्धांत, अवसान खंड, पृष्ठ १२०

आचार्य वृंदावन की सीमा को छोड़ कर कहीं नहीं जाते थे; किंतु उस संकट काल में नरहरिदास जी ने विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया था। उस समय श्री विहारी जी के स्वरूप की किस प्रकार रक्षा की गई, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

वाणी-रचना—नरहरिदास जी की कुछ वाणी उपलब्ध है, जो अन्य हरिदासी आचार्यों के रचना-परिमाण की तुलना में सबसे कम है। इसके केवल कुछ पद और दोहा ही मिलते हैं। उनके नाम से संस्कृत में रचित एक 'गुरु-परंपरा' कही जाती है; जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

६. श्री रसिकदास जी (सं. १६६२ – सं. १७५८)

जीवन-वृत्तांत—वे आचार्य नरहरिदास जी के शिष्य थे, और उनके निकुंज-वास के अनंतर हरिदास संप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनके आरंभिक जीवन का प्रामाणिक विवरण नहीं मिलता है। हिंदी साहित्य के कतिपय इतिहास ग्रंथों मे उनके जीवन-वृत्तांत को राधावल्लभीय रसिकदास जी के जीवन-वृत्त से मिला दिया गया है, जिसके कारण और भी भ्रम उत्पन्न हो गया है। हरिदासी विद्वानों के मतानुसार उनका जन्म सं. १६६२ में हुआ था। वे सं. १७४१ में आचार्य हुए थे, और सं. १७५८ में उन्होंने निकुंज-वास किया था[1]। वे अत्यंत क्रियाशील एवं युगदर्शी महात्मा थे, और समयानुसार प्राचीन परंपराओं में परिवर्तन करने के पक्षपाती थे। उनकी वह प्रवृत्ति उनके आचार्य होने के वहुत पहिले से ही प्रकट होने लगी थी; जिसे उनके गुरु जी ने पसंद नही किया था। संभवतः उनकी क्रांतिकारी मनोवृत्ति के कारण ही आचार्य नरहरिदास जी ने उन्हें अपनी शिष्य-मंडली से पृथक् कर दिया था; और वे अपमानित होकर वृंदावन छोड़ने को भी विवश हुए थे। किंतु उनकी गुरु-भक्ति यथावत् वनी रही थी। वे जहाँ भी गये, वहाँ से ही विविध उपायों द्वारा अनन्य भाव से गुरु-सेवा करते रहे थे। उनकी अपूर्व निष्ठा के कारण गुरु जी को उन्हें अपनाना पड़ा, और वे पुनः वृंदावन आकर उनके सत्संग में रहने लगे थे। नरहरिदास जी के उपरांत उन्हें हरिदास संप्रदाय का आचार्य वनाया गया था।

सांप्रदायिक विवाद—जिस समय वे आचार्य हुए थे, उस समय व्रज के सभी भक्ति-संप्रदायों की वड़ी शोचनीय अवस्था थी। एक ओर औरंगजेब की दमन-नीति के कारण उनकी धार्मिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी; तो दूसरी ओर उनमें आंतरिक कलह और पारस्परिक मनोमालिन्य भी वढ़ गया था। उसी काल में हरिदासी विरक्त संतों और श्री विहारी जी के पुजारी गोस्वामियों के आंतरिक विवाद का सूत्रपात हुआ था। उसके कारण विरक्त संत निधुवन को छोड़ने लगे थे। रसिकदास जी भी उस समय निधुवन से हट गये थे। वे कुछ काल तक कालियदह पर रहे; वाद में उन्होंने श्री रसिकविहारी जी की प्रतिष्ठा कर पृथक् गद्दी की स्थापना की थी।

उसी काल में हरिदासी संतों और राधावल्लभीय गोस्वामियों में भी मनोमालिन्य हो गया था। उसके कारण दोनों के सांप्रदायिक साहित्य में ऐसे उल्लेख किये जाने लगे और सांप्रदायिक चित्रों का इस प्रकार से चित्रण किया जाने लगा कि उससे एक संप्रदाय की दूसरे संप्रदाय से महत्ता जान पड़ती थी! उस प्रकार की साप्रदायिक विकृति उस समय के दूषित वातावरण के कारण उत्पन्न हुई थी; और वाद में वह और भी वढ़ गई थी।

---

(१) निवार्क माधुरी, पृष्ठ ३१३

श्री रसिकबिहारी जी के मंदिर का निर्माण और गद्दी की स्थापना—आचार्य रसिकदास जी ने वृंदावन में एक मंदिर का निर्माण कराया था, और उसमें अपने उपास्य श्री रसिकबिहारी जी को प्रतिष्ठित किया था। वह हरिदास संप्रदाय का प्रथम मंदिर था; क्यों कि स्वामी जी के उपास्य श्री बिहारी जी का तब तक कोई खास मंदिर–देवालय नहीं बनाया गया था। रसिकदास जी ने मंदिर–निर्माण के साथ ही साथ पृथक् गद्दी की भी स्थापना की थी। वह हरिदास संप्रदाय के विरक्त संतों की प्रथम स्वतंत्र गद्दी थी। उसके बाद रसिकदास जी के शिष्यों ने दो अन्य गद्दियाँ भी स्थापित की थीं।

श्री रसिकबिहारी जी के स्वरूप के संबंध में वृंदावन निवासी गोपाल कवि का कथन है कि उनका प्राकट्य भी श्री बिहारी जी की भाँति निधुवन से ही हुआ था[1]। किंतु यह भक्तों की भावना मात्र है! रसिकदास जी ने जो मंदिर बनवाया था, वह श्री रसिकबिहारी जी का पुराना मंदिर था। कुछ काल पश्चात् उसे मुसलमान आक्रमणकारियों ने ध्वस्त कर दिया था। उस समय हरिदासी भक्त जनों ने श्री रसिकबिहारी जी के स्वरूप को वृंदावन से हटा दिया; और सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें उदयपुर–डूंगरपुर आदि राज्यों में रखा था। बाद में जब वृंदावन में उनका नया मंदिर बन गया, तब उन्हें डूंगरपुर से लाकर उसमें प्रतिष्ठित किया गया था।

साहित्य–रचना—श्री रसिकदास जी ने अपने संप्रदाय के पूर्वाचार्यों की भाँति वाणी–रचना भी की थी। उनके रचे हुए 'रस' और 'सिद्धांत' के पद-दोहे अष्टाचार्यों की वाणी में संकलित मिलते हैं, जो बड़े मार्मिक हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने ग्रंथ–रचना भी की थी। हरिदासी आचार्यों में वे प्रथम ग्रंथकार थे। उनके ग्रंथों के नाम १. गुरु-मंगल, २. बाल-लीला, ३. भक्ति-सिद्धांत-मणि, ४. पूजा विलास, ५. बाराह संहिता, ६. रसार्णव पटल, ७. कुंज-कौतुक और ८. रस-सार हैं। इनके अतिरिक्त उनकी एक संस्कृत रचना 'गुरु–परंपरा' भी है, जो डा० शरणबिहारी गोस्वामी के मतानुसार प्रक्षिप्त है[2]।

इन ग्रंथों के वर्ण्य विषय के संबंध में डा० गोपालदत्त शर्मा का मत है,—'स्वामी रसिकदास जी ने अपनी पूर्व परंपरा से चले आते विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों को भी अपनी वाणी में स्थान दिया। इनमें से कुछ संप्रदाय में चली आती उपासना–पद्धति के विरुद्ध भी थीं[3]।' उन्होंने हरिदासी मान्यता के विशुद्ध 'सखी भाव' के अतिरिक्त 'व्रज भाव' का भी कथन किया है। इन सब बातों से उनकी क्रांतिकारी प्रकृति का परिचय मिलता है।

शिष्य समुदाय—श्री रसिकदास जी के बहुसंख्यक शिष्य थे। सांप्रदायिक उल्लेखों में उनके शिष्यों की संख्या ५२ बतलाई गई है। उनमें से सर्वश्री १. ललितकिशोरीदास जी, पीतांबरदास जी, ३. गोविंददास जी, ४. रूपसखी जी, ५. चरणदास जी और ६. बनी–ठनी जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री ललितकिशोरीदास जी प्रधान शिष्य थे। उन्हें हरिदास संप्रदाय का सातवाँ आचार्य माना जाता है। उनका वृत्तांत आगे लिखा गया है। अन्य प्रमुख शिष्यों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

---

(१) वृंदावन धामानुरागावली में 'श्री रसिकबिहारी जी के मंदिर का प्रसंग'

(२) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४६३ और ४३३

(३) स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृष्ठ ४०५

श्री पीतांबरदास जी—उनका जन्म सं. १७३४ के लगभग नारनौल के निकटवर्ती सांभापुर नामक गांव के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनका पूर्वनाम प्रयागदास था, किंतु विरक्त होने पर वे पीतांबरदास के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। अपनी युवावस्था में ही वे विरक्त हो गये थे, और साधु-संतों के सत्संग में रह कर कठोर साधना करते रहे थे। उन्होंने कई सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, और लोगों को बड़े चमत्कार दिखलाये थे। कहते हैं, उन्होने एक बार अजमेर जा कर वहाँ के मुल्लाओं को अपनी सिद्धि से चकित कर दिया था[1]। अंत में विविध स्थानों में घूमते-फिरते हुए वे वृंदाबन आये थे। यहाँ उन्हे श्री रसिकदास जी के सत्संग का सुयोग प्राप्त हुआ। वे उनके शिष्य हो गये, और गुरु जी के आदेशानुसार वे सिद्धियों तथा चमत्कारों को भुला कर अहर्निश रसोपासना में तल्लीन रहने लगे। रसिकदास जी के उपरांत वे श्री रसिकविहारी जी के मंदिर के अधिकारी और उनकी गद्दी के प्रथम महंत हुए थे। उनके शिष्यों में 'निज मत सिद्धांत'—कार श्री किशोरदास का नाम अधिक प्रसिद्ध है। पीतांवरदास जी ने प्रचुर परिमाण में वाणी-रचना की है। उनकी प्रमुख रचनाएँ १. समय प्रबंध, २. सिद्धांत के पद, ३. सिद्धांत की साखी, ४. शृंगार रस के पद, ५. आचार्यों की बधाई तथा ६. केलिमाल की पद्यबद्ध टीका आदि हैं।

श्री गोविंददास जी—वे एक विरक्त महात्मा और रसिक भक्त थे। उन्होंने आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य ठाकुर श्री गोरीलाल जी का मंदिर बनवा कर हरिदास संप्रदाय के विरक्त शिष्यों की एक अन्य गद्दी की स्थापना की थी।

रूपसखी जी—वे एक रसिक भक्त थे, और सखीवाची 'रूपसखी' के उपनाम से प्रसिद्ध थे। उनका मूल नाम और जीवन-वृत्तांत अज्ञात है। उनकी रचना के अंतःसाक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे आचार्य रसिकदास जी के शिष्य थे। उन्होंने पर्याप्त वाणी-रचना की है; जो अत्यंत सरस और भावपूर्ण है। इसकी एक हस्त लिखित प्रति सं. १८०६ की उपलब्ध है। इसे श्री राधामोहनदास गुप्त ने 'श्री रूप सखी की वाणी' के नाम से वृंदावन से प्रकाशित किया है। इसमें 'सिद्धांत' के १२० पद, ८८ साखी के दोहे, और 'रस' के ८१२ पद, ६६ दोहे एवं ७८ कवित्तादि है।

चरणदास जी—उनका जीवन-वृत्तांत भी अज्ञात है। उनकी रचना के अंतःसाक्ष्य से ही विदित हुआ है कि वे श्री रसिकदास जी के शिष्य थे। उनके रचे हुए चार ग्रंथों का नामोल्लेख मिलता है। वे हैं,—१. शिक्षा प्रकाश, २. भक्ति माला, ३. रहस्य दर्पण और ४. रहस्य चंद्रिका। इनमें से अंतिम दोनों ग्रंथों का रचना-काल क्रमशः सं. १८१२ और सं. १८१८ है। उनकी साधना सखी भाव की थी और उनको 'कविता प्रवाहपूर्ण तथा सुंदर है[2]।'

बनी-ठनी जी—यह भक्तहृदया महिला भक्तवर राजा नागरीदास की दासी थी, और उनके साथ ही वृंदावन में निवास करने आई थी। यहाँ पर उसने आचार्य रसिकदास जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। उसका देहावसान सं. १८२२ की आषाढ़ शु. १५ को वृंदावन में हुआ था, जहाँ उसकी समाधि-छत्री बनी हुई है। उसने 'रसिक विहारी' की नाम-छाप से रचना की है, जिसमें ब्रजभाषा के साथ राजस्थानी के भी कुछ शब्द मिले हुए हैं।

---

(१) निबार्क माधुरी, पृष्ठ २६७-२६६

(२) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ५०५

७. श्री ललितकिशोरीदास जी (सं. १७३३ – सं. १८२३)—

जीवन–वृत्तांत—वे आचार्य रसिकदास जी के प्रधान शिष्य थे, और उनके उपरांत हरिदास संप्रदाय के आचार्य बनाये गये थे। श्री सहचरिशरण जी के मतानुसार उनका जन्म सं. १७३३ में भदावर राज्य के एक ग्राम में हुआ था। वे माथुर ब्राह्मण थे, और उनका आरंभिक नाम गंगाराम था। युवावस्था में ही उनके चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। वे घर–वार छोड़ कर सत्संग करते हुए भ्रमण करने लगे। अंत में वृंदावन पहुँच कर श्री रसिकदास जी के शिष्य हुए थे। तव उनका नाम ललितकिशोरीदास रखा गया। वे स्वामी हरिदास जी के आदर्श पर केवल कोपीन, कंथा एवं करुआ का उपयोग करते थे और अत्यंत विरक्त भाव से रहते हुए रसोपासना एवं वाणी–रचना में तल्लीन रहा करते थे। उन्होंने सं. १८२३ में निकुंज–प्रवेश किया था। उनके शिष्यों में प्रधान श्री ललितमोहिनीदास जी थे, जो उनके पश्चात् हरिदास संप्रदाय के आचार्य हुए थे।

वाणी–रचना—श्री ललितकिशोरीदास जी ने प्रचुर वाणी–साहित्य की रचना की है। इसका परिमाण श्री विहारिनदास जी के वाद अष्टाचार्यों में सवसे अधिक है। यह रचना अधिकतर दोहा छंद में हुई है; किंतु इसमें सोरठा, चौपाई, अरिल्ल आदि छंद तथा पद भी मिलते हैं। इसे हरिदास संप्रदाय के 'अष्टाचार्यों की वाणी' में संकलित किया गया है। इसमें उनके द्वारा रचित 'सिद्धांत' के १२०० दोहे, १३० पद और 'रस' के १४७ पद, ५० चौपाइयाँ तथा 'वधाई' के २५ पद हैं। इन्हें 'स्वामी हरिदास रस सागर' में वृंदावन से प्रकाशित किया गया है।

श्री ललितकिशोरीदास ने जहाँ 'रस' की रचना में विशुद्ध सखी भाव से 'नित्य विहार' का माधुर्यपूर्ण कथन किया है, वहाँ 'सिद्धांत' की रचना में उन्होंने उत्कृष्ट भक्ति–भावना से संवंधित मार्मिक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। शुद्ध प्रेम में संयोग–वियोग का सर्वथा अभाव वतलाते हुए उन्होंने प्रिया–प्रियतम की चिरंतन केलि–क्रीड़ा में नित्य नवीनता की वात कही है[1]। उन्होंने भक्ति का ढोंग रचने वाले भावना शून्य तथाकथित भक्तों की, और विवादप्रिय एवं खंडनात्मक प्रवृत्ति के असहिष्णु पंडितमानी व्यक्तियों की तीव्र आलोचना की है[2]। इस संवंध में ललितकिशोरीदास जी की उक्तियाँ अपने पूर्ववर्ती आचार्य विहारिनदास जी के कथन से वहुत-कुछ मिलती हुई हैं।

---

(१) १. विछुरन-मिलन जहाँ रहै, सुद्ध प्रेम नहिं होय।
मिलत-मिलत हू चाह अति, सुद्ध प्रेम है सोय॥
२. नित्य सरद नित तीज है, नित होरी सु वसंत।
नित्य केलि छिन-छिन नई, जाके सुखहिं न अंत॥

(२) १. पेटन कों भटकत फिरें, धरें भक्ति को स्वांग।
हरि–गुरु कों लाजत निलज, विन संतोष अभाग॥
भक्ति–भाव विन वानी कहै। कर्कश लागै, हिय कों दहै॥
विना सुहाग सिंगारहिं करै। काके पियहिं अंक में भरै॥
२. पंडित वाद वहोत तू करै। औरे खंडित नेंक न डरै॥
सील-सुभाव नाँहि जिय धरै। वादहिं जन्म नर्क में परै॥
सव पढ़िवेकौ तत्व विचार। हरि कौ भजन परम सुख-सार॥
निश्चय करि यह जिय निरधार। नाना संशै भरम निवार॥

टट्टी संस्थान की स्थापना—जब श्री बिहारी जी के गोस्वामियों से मनोमालिन्य होने पर आचार्य रसिकदास जी निधुवन से हट गये थे; तब उनके शिष्यों को भी उस पुनीत स्थल से नाता तोड़ना पड़ा था। श्री ललितकिशोरीदास पहले तो अपने गुरु श्री रसिकदास जी के साथ उनकी सेवा में रहते थे; किंतु बाद में कदाचित उनके क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील विचारों से असहमत होने के कारण वे अलग रहने लगे थे। उन्होंने अपने गुरु के उत्तराधिकारी के रूप में श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी का महंत बनना भी स्वीकार नहीं किया था। वे अपने समान विचार वाले कतिपय विरक्त संतों के साथ यमुना पुलिन की बालुकामयी भूमि के एकांत स्थल पर चले गये थे। वह स्थान एकदम खुला हुआ और अरक्षित था; इसलिए कतिपय श्रद्धालु भक्तों ने उसे चारों ओर से बांस की टट्टियों से घेर दिया था। टट्टियों के उस घेरे में ही श्री ललितकिशोरीदास जी अपने सहयोगी विरक्त संतों एवं रसिक भक्तों के साथ स्वामी हरिदास जी के आदर्श का अक्षरशः पालन करते हुए अपनी 'सखी भाव' की साधना और 'नित्य विहार' की रसोपासना करने लगे। कालांतर में वह स्थल ही 'टट्टी संस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उसकी विशेष ख्याति श्री ललितकिशोरीदास जी के उत्तराधिकारी श्री ललितमोहिनीदास जी के काल में हुई थी।

विरक्त संतों की विविध गद्दियाँ—जैसा पहिले लिखा गया है, हरिदास संप्रदाय के विरक्त संतों की प्रथम स्वतंत्र गद्दी आचार्य रसिकदास जी ने 'श्री रसिकबिहारी जी संस्थान' के रूप में स्थापित की थी। रसिकदास जी के उपरांत उसकी तीन शाखाएँ हो गई थीं, और उनकी गद्दियों के अध्यक्ष श्री रसिकदास जी के तीन वरिष्ट शिष्य हुए थे। श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी के महंत पीतांबरदास जी हुए। 'टट्टी संस्थान' की गद्दी के संस्थापक श्री ललितकिशोरीदास जी थे, और उसके महंत उनके शिष्य श्री ललितमोहिनीदास जी हुए थे। श्री रसिकदास जी के एक अन्य शिष्य गोविंददास जी ने ठाकुर श्री गोरीलाल जी की तीसरी गद्दी की स्थापना की थी। विरक्त शिष्यों की इन तीनों गद्दियों की गुरु-शिष्य के क्रम से पृथक्-पृथक् परंपराएँ चली हैं। किंतु इनमें 'टट्टी संस्थान' की अधिक प्रसिद्धि है, और उसी को हरिदास संप्रदाय के विरक्त शिष्य वर्ग का प्रधान केन्द्र माना जाता है।

सांप्रदायिक विभाजन—श्री ललितकिशोरीदास जी के आचार्यत्व-काल की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना हरिदासी विरक्त संतों द्वारा निंबार्क संप्रदाय को स्वीकार करना है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, हरिदास संप्रदाय ने वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायों से पृथक् अपना स्वतंत्र विकास किया था। किंतु आमेर नरेश जयसिंह के दबाव के कारण इस संप्रदाय को उस समय अपना स्वतंत्र अस्तित्व क़ायम रखना असंभव हो गया था। फलतः विरक्त संतों ने अपने समुदाय को निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत घोषित किया था। उस काल में श्री बिहारी जी के पुजारी गृहस्थ गोस्वामियों का विरक्त संतों से गहरा मतभेद और मनोमालिन्य था। इसलिए विरक्त समुदाय की उस घोषणा की प्रतिक्रिया में गृहस्थ गोस्वामियों ने अपने समुदाय को विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत मानना आरंभ कर दिया। इस प्रकार श्री ललितकिशोरीदास जी के उत्तर काल में हरिदास संप्रदाय के दोनों प्रधान वर्गों का जो सांप्रदायिक विभाजन हुआ था, वह अभी तक विद्यमान है।

हरिदास संप्रदाय के विरक्त शिष्य समुदाय को निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत लाने में श्री पीतांबरदास जी के सुयोग्य शिष्य किशोरदास जी का विशेष उत्साह और प्रयत्न रहा था, अतः उनका कुछ विशेष वृत्तांत यहाँ लिखा जाता है।

श्री किशोरदास—उनका जन्म जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी आमेर में हुआ था। उनके पिता का नाम घासीराम और माता का नाम खेमादेवी था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके जन्म और देहावसान के यथार्थ तिथि–संवत् उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'निज मत सिद्धांत' (अवसान खंड, पृष्ठ १५८) में लिखा है कि उन्हें सं. १७९१ की वैशाख शु. ३ को मंत्र–दीक्षा दी गई थी[1]। उनके कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे अपनी किशोरावस्था में ही दीक्षित हुए थे। इस अंतःसाक्ष्य से उनका जन्म–काल सं. १७७०–७५ के लगभग अनुमानित होता है। आचार्य ललितकिशोरदास जी के गुरुभाई श्री पीतांवरदास जी उनके गुरु थे।

किशोरदास जी ने देश के अनेक तीर्थ स्थलों एवं धार्मिक स्थानों का पर्याप्त पर्यटन किया था, जिससे उनका ज्ञान वड़ा विस्तृत था। वे शोधक विद्वान, उत्साही तथा कर्मठ संप्रदाय-प्रचारक, कल्पनाशील ग्रंथकर्त्ता, उपासना–भक्ति के मर्मज्ञ और एक समर्थ भक्त–कवि थे। उनका रचा हुआ विशाल साहित्य उपलब्ध है। हरिदासी विरक्त संतों में उनका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही वड़े निराले हैं। उनकी विद्यमानता प्रायः सं. १८३०–४० तक अनुमानित होती है।

निज मत सिद्धांत—किशोरदास जी की प्रसिद्धि का प्रमुख आधार उनकी 'निज मत सिद्धांत' नामक रचना है। यह हरिदासी परंपरा का विशाल संदर्भ ग्रंथ और उसका विशद इतिहास है। इसके कल्पनाशील सुविस्तृत परिवेश के कारण इसे इतिहास की अपेक्षा एक प्रकार का पुराण कहना अधिक उपयुक्त होगा। इससे पहिले स्वामी हरिदास जी और उनकी परंपरा के आचार्यों का क्रमवद्ध विवरण लिखित रूप में उपलब्ध नहीं था। किशोरदास जी ने परंपरागत अनुश्रुतियों और संप्रदाय में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर इसे सर्वप्रथम उक्त ग्रंथ में विशद रूप से लिखा है। इसके साथ ही इसमें हरिदासी संप्रदाय को निवार्क संप्रदाय की परंपरा से संवद्ध करने का प्रथम वार प्रयास किया गया है। इस ग्रंथ में श्री निवार्काचार्य जी से लेकर उनकी शिष्य-परंपरा के द्वादश आचार्यों का, और फिर श्री देवाचार्य जी से लेकर स्वामी हरिदास जी और उनकी शिष्य-परंपरा के अष्टाचार्यों का विस्तृत विवरण तिथि–संवत् सहित दिया गया है। वीच-वीच में सांप्रदायिक सिद्धांत, उपासना, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपदेश आदि की अनेक वातें भी लिखी गई हैं।

जिस समय इस ग्रंथ की रचना हो रही थी, उस समय हरिदास संप्रदाय के दोनों वर्गों में वड़ा विवाद था; और पारस्परिक मतभेद तथा राजा जयसिंह के दवाव के कारण विरक्त संतों ने निवार्क संप्रदाय को स्वीकार कर लिया था। उस सामयिक वातावरण का प्रभाव इस ग्रंथ में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसकी रचना में लेखक का निवार्क संप्रदाय के प्रति नया जोश, और उसके प्रचार का प्रवल आग्रह भी दिखलाई देता है।

यह ग्रंथ रचना–शैली की दृष्टि से सुव्यवस्थित और शृंखलावद्ध नहीं है। इसमें कई स्थानों पर पुनरावृत्ति और पूर्वापर क्रम–विरोध भी है। इसमें जो तिथि–संवत् दिये गये हैं, वे भी प्रायः आनुमानिक जान पड़ते हैं। इन दोषों के कारण इस ग्रंथ की कटु आलोचना भी हुई है। फिर भी हरिदास संप्रदाय से संवंधित प्रचुर सामग्री और दुर्लभ सूचनाओं के कारण इसका महत्व निर्विवाद है। इसकी समस्त सामग्री को जुटाने और सूचनाओं को एकत्र करने में किशोरदास जी को निस्संदेह वड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। यदि यह ग्रंथ न होता, तो आज स्वामी जी और उनकी परंपरा के संवंध में अनेक वातें लुप्त हो गई होतीं।

---

(१) सत्रादस इक्यानवे, संवत्सर सुख दीन। वैसाखी तृतीया सुकल, मोहि शिष्य कर लीन॥

इस ग्रंथ के चार खंड हैं, और इसकी रचना अधिकतर दोहा–चौपाई छंदों में हुई है। बीच-बीच में कुछ अन्य छंदों का भी प्रयोग किया गया है। इसमें रचना–काल का उल्लेख नहीं है। श्री वासुदेव गोस्वामी के मतानुसार इसकी रचना सं. १८२० के लगभग अनुमानित की गई है[1]। इस ग्रंथ का प्रकाशन अब से प्रायः ५० वर्ष पहिले हुआ था; किंतु इधर कई वर्षों से यह अत्यंत दुष्प्राप्य हो गया है। इसे संशोधित और सुसंपादित रूप में समुचित पाद–टिप्पणियों के साथ पुनः प्रकाशित करना आवश्यक है।

वाणी–रचना—यदि किशोरदास जी ने केवल 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ ही रचा होता, तब भी उनका नाम हरिदासी भक्तों में चिर स्मरणीय रहता; किंतु उन्होंने प्रचुर वाणी साहित्य की भी रचना की है। 'निज मत सिद्धांत' का अन्य प्रकार से चाहें कितना ही महत्त्व हो; किंतु इसमें वह सखी भाव की भक्ति और नित्य विहार की रसोपासना दिखलाई नहीं देती, जो हरिदासी रसिक भक्तों की निजी विशेषता है। किंतु इस वाणी साहित्य में वह विशिष्टता भी उभर आई है।

किशोरदास जी की 'वाणी' में उनकी सिद्धांत और रस संबंधी रचनाएँ हैं। 'सिद्धांत' की रचनाओं में १. सिद्धांत सरोवर, २. सिद्धांत सार संग्रह, ३. अद्भुत आनंद सत, ४. उपदेश आनंद सत और ५. स्फुट कवित्त–सवैया हैं। श्री विश्वेश्वरशरण जी ने इनका संपादन कर इन्हें 'सिद्धांत-रत्नाकर' नामक ग्रंथ में संकलित किया है। 'रस' संबंधी रचनाओं में १. प्रेमानंद पच्चीसी, २. श्री वृंदाविपिन विलास, ३. नेह तरंग, ४. वर्षोत्सव और ५. आचार्योत्सव हैं। इन्हें श्री राधा-मोहनदास गुप्त ने संपादित रूप में 'श्री किशोरदास जी की वाणी' नामक ग्रंथ में संकलित किया है। इनके अतिरिक्त उनकी दो छोटी रचनाएँ 'श्री आशुधीर जू कौ चरित्र' तथा 'श्री विहारिनदास जू कौ चरित्र' भी हैं। इन समस्त रचनाओं की हस्त प्रतियाँ स्वयं किशोरदास जी की लिखी हुई कही जाती हैं; अतः लिपि और भाषा की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। ये सभी ग्रंथ दो जिल्दों में श्री निंबार्क शोध मंडल, वृंदावन द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। यह ऐसी उपलब्धि है; जो हरिदास संप्रदाय एवं ब्रजभाषा भक्ति साहित्य दोनों के लिए गौरवपूर्ण है।

८. श्री ललितमोहिनीदास जी (सं. १७८० – सं. १८५८)

जीवन-वृत्तांत—वे आचार्य ललितकिशोरीदास जी के प्रधान शिष्य थे, और उनके उपरांत हरिदास संप्रदाय के आचार्य एवं 'टट्टी संस्थान' के महंत हुए थे। उन्हें सुप्रसिद्ध महात्मा हरिराम जी व्यास का वंशज कहा जाता है। 'ललित प्रकाश' के अनुसार उनका जन्म सं. १७८० में बुंदेलखंड के ओरछा नगर में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे, और श्री ललित-किशोरीदास जी से दीक्षा लेकर हरिदासी मान्यता के अनुसार उपासना–भक्ति करने लगे थे। सं. १८२३ में जब उनके गुरुदेव का निकुंज–प्रवेश हुआ, तब वे उनके उत्तराधिकारी के रूप में आचार्य–गद्दी पर आसीन हुए थे। उनकी भक्ति-भावना, वैराग्य–वृत्ति और सेवा-परायणता की बड़ी प्रसिद्धि थी। बड़े–बड़े राजा–रईस और सेठ–साहूकार उनके दर्शन तथा सत्संग के लिए लालायित रहते थे। कहते हैं, पंजाब–केसरी रणजीतसिंह और मराठा वीर महादजी सिंधिया भी उनके भक्तों में थे। उनका निकुंज-प्रवेश सं. १८५८ में हुआ था। वे हरिदासी अष्टाचार्यों मे अंतिम माने जाते है। उन्होंने कुछ वाणी–रचना भी की थी, जो अष्टाचार्यों की वाणी के साथ संकलित मिलती है।

---

(१) भक्त–कवि व्यास जी (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ३३

'टट्टी संस्थान' की उन्नति और उसका सांप्रदायिक स्वरूप—श्री ललितकिशोरीदास जी ने जिस 'टट्टी संस्थान' की स्थापना की थी, उसकी समुचित व्यवस्था और उन्नति का श्रेय ललितमोहिनीदास जी को है। इसीलिए इस संस्थान को 'मोहिनीदास जी की टट्टी' भी कहते हैं। उन्होंने श्री मोहिनीविहारी जी के स्वरूप की प्रतिष्ठा कर उनकी सेवा-पूजा का भी समुचित प्रबंध किया था। श्री ललितकिशोरीदास जी के समय से हरिदास संप्रदाय के विरक्त संत निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत अवश्य हो गये थे; किंतु वे उक्त संप्रदाय की सभी मान्यताओं को पूर्णतया अंगीकार नहीं कर सके थे। ललितमोहिनीदास जी ने उपासना–भक्ति, आचार-विचार, वेश-भूषा और तिलकादि सांप्रदायिक बातों में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ निश्चित की थीं; जिनसे 'टट्टी संस्थान' निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत रहते हुए भी अपना पृथक् महत्त्व क़ायम रख सका है।

शिष्य–समुदाय—श्री ललितमोहिनीदास जी के अनेक शिष्य थे, जिनका उल्लेख श्री सहचरिशरण कृत 'ललित प्रकाश' में हुआ है। उन शिष्यों में सर्वश्री भगवतरसिक जी और चतुरदास जी प्रमुख थे। श्री ललितमोहिनीदास जी के उपरांत भगवतरसिक जी से 'टट्टी संस्थान' का महंत बनने के लिए कहा गया था; किंतु उपासना–भक्ति और भजन–ध्यान में अहर्निश लगे रहने के कारण उन्होंने उक्त पद को स्वीकार नहीं किया। फलतः श्री चतुरदास जी उक्त संस्थान के महंत बनाये गये थे। हरिदासी संतों की परंपरा में श्री भगवतरसिक जी एक विशिष्ट महात्मा हुए हैं, अतः उनका कुछ विशेष वृत्तांत यहाँ लिखा जाता है।

श्री भगवतरसिक जी—वे हरिदास संप्रदाय के अष्टम आचार्य श्री ललितमोहिनीदास जी के शिष्य तथा सुप्रसिद्ध रसिक भक्त और विख्यात वाणीकार थे। उनके जन्म–संवत्, जन्म-स्थान तथा जीवन-वृत का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। श्री वियोगी हरि जी के मतानुसार वे सं. १७९५ के लगभग उत्पन्न हुए थे[१]। श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' के उपरांत श्री सहचरिशरण कृत 'ललित प्रकाश' में हरिदासी रसिक भक्तों और संत–महात्माओं का विस्तृत कथन किया गया है; किंतु उसमें भी भगवतरसिक जी के संबंध में कुछ नहीं लिखा गया। गोपाल कवि कृत 'वृंदावन धामानुरागावली' से ऐसा संकेत मिलता है कि वे छत्रपुर के निवासी थे, और हरिदासी महात्माओं की भक्ति–साधना एवं वाणी–रचना से प्रभावित होकर उनके सत्संग से लाभान्वित होने के लिए वृंदावन आ गये थे[२]। यहाँ आने पर वे श्री ललितमोहिनीदास जी के शिष्य हुए, और उत्कट वैराग्य धारण कर भक्ति–साधना में तल्लीन रहने लगे।

वे परम विरक्त, अनन्य भक्त और रसोपासक महात्मा थे। सखी भाव से प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार की रसानुभूति करना उनके जीवन का चरम लक्ष था। वे सब प्रकार के प्रपंचों से दूर रह कर अपने इस लक्ष की पूर्ति में ही दिन-रात लगे रहते थे; इसीलिए उन्होंने 'टट्टी संस्थान' का महंत होना भी स्वीकार नहीं किया था।

वाणी-रचना और हरिदासी उपासना का विवेचन—श्री भगवतरसिक जी की महत्ता का आधार और प्रसिद्धि का कारण उनकी महत्वपूर्ण 'वाणी' है। इसमें हरिदासी मान्यता के अनुसार सखी भाव की भक्ति और नित्यविहार की रसोपासना का विशद विवेचनात्मक कथन किया गया है।

---

(१) ब्रज माधुरी सार, पृष्ठ २१९

(२) वृंदावन धामानुरागावली में 'टट्टी स्थान का वर्णन'

स्वामी जी के भक्ति-तत्त्व और उनकी उपासना-पद्धति के प्रथम व्याख्याता विहारिनदास थे। उनके उपरांत श्री भगवतरसिक जी ने ही स्वामी जी के मत का विशद रूप से स्पष्टीकरण किया है। उन्हीं के प्रयास से स्वामी जी का उपासना मार्ग एक सुव्यवस्थित 'संप्रदाय' का स्वरूप धारण कर सका था। उनसे पहिले विरक्त संतों ने निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत और गृहस्थ गोस्वामियों ने विष्णुस्वामी संप्रदाय के अंतर्गत अपने-अपने वर्गो की स्थिति निश्चित की थी। ऐसा मालूम होता है, वह प्रयास सर्व सम्मत नहीं हो सका था। उसकी प्रबल प्रतिक्रिया श्री भगवतरसिक जी की वाणी में मिलती है। उन्होंने हरिदासी परंपरा को किसी भी प्राचीन संप्रदाय के अंतर्गत न मान कर स्वतंत्र स्वीकार किया है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्होंने इस संबंध में ईश्वर-इच्छा को प्रधान मान कर इसके सिद्धांत को 'इच्छाद्वैत' और इस संप्रदाय को 'सखी संप्रदाय' बतलाया है। इस प्रकार सांप्रदायिक वर्ग-भेद में उलझे हुए हरिदासी मत को स्वामी जी की मूल भावना के अनुसार नियमित और व्यवस्थित करने का श्रेय भगवतरसिक जी को दिया जा सकता है।

श्री भगवतरसिक जी की वाणी परिमाण में अधिक नहीं है; किंतु संप्रदाय के साथ ही साथ भाषा और साहित्य की दृष्टि से यह बड़ी महत्वपूर्ण है। उनकी कई छोटी-छोटी रचनाएं मिलती हैं, जिनके नाम १. अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ पूर्वार्घ, २. उत्तरार्घ, ३. नित्यविहारी जुगल ध्यान, ४. अनन्य रसिकाभरण ग्रंथ, ५. निर्विरोध मनरंजन ग्रंथ और ६. होरी-धमार हैं। इनमें विविध छंदों और पदों द्वारा हरिदास संप्रदाय की मान्यता के अनुसार 'सिद्धांत' और 'रस' का अधिकारपूर्ण कथन किया गया है। ये रचनाएँ 'श्री भगवतरसिक की वाणी' के नाम से अब से प्राय: ५०-६० वर्ष पहिले टट्टी संस्थान की प्रेरणा से प्रकाशित की गई थीं; किंतु इधर कई वर्षों से वे दुष्प्राप्य थीं। इन्हें श्री राधामोहनदास गुप्त ने टट्टी संस्थान के संरक्षण में पुन: प्रकाशित किया है।

देहावसान और शिष्य गण—श्री भगवतरसिक जी के शिष्य विहारीवल्लभ जी ने अपने गुरु का बड़ा गुणानुवाद किया है। उनके कथन से भगवतरसिक जी के इत्तिवृत्त पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उन्होंने बतलाया है, एक बार श्री भगवतरसिक जी तीर्थ-यात्रा और गंगा-स्नान के विचार से प्रयाग गये थे। उनके साथ अनेक संत-महात्मा और रसिक भक्त भी थे। उन्होंने कुछ काल तक तीर्थराज में निवास किया था। अंत में उसी पुण्य स्थल पर उनका पंचभूतात्मक शरीर छूटा था[१]। उनका देहावसान सं. १८६०-६५ के लगभग अनुमानित होता है। उनके शिष्यों में श्री विहारीवल्लभ का नाम उल्लेखनीय है।

श्री विहारीवल्लभ—उनकी रचना के अंत:साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे कालिंजर गढ़ नामक स्थान के निवासी थे, और ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। पूर्व संस्कार वश उनके चित्त में वैराग्य जागृत हो गया था; अत: वे घर-कुटुंब को छोड़ कर अपनी पत्नी सहित वृंदावन आ गये थे। यहाँ पर उन्होंने श्री भगवतरसिक जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। वे बड़े श्रद्धालु भक्त थे। उन्होंने कुछ 'वाणी' की रचना भी की है, जिसमें 'रस'-कथन और गुरु-यश-वर्णन की प्रधानता है। उनकी

(१) १. एक समय महाराज, मनोरथ किय सुरसरि कर।
चले संग सब संत, और रस-रंग रसिकवर ॥३०॥
२. तीरथराज प्रयाग महँ, पंचीकृत तन तजि दियो।
कहत देव 'जय' शब्द,सब, भगवत सम नहिं भव वियो ॥३३॥ (श्री विहारीवल्लभ की वाणी)

उपास्य देव—इस धर्म के प्रमुख उपास्य देव भगवान् वासुदेव हैं। वासुदेव का अभिप्राय है, 'सर्वव्यापक देव'। वह देव, जिनका सर्वत्र वास है अथवा जिनमें समस्त विश्व का निवास है, उन्हें इस धर्म में वासुदेव कहा गया है। श्रीमद् भागवत का उल्लेख है, विशुद्ध सत्व गुण का नाम 'वसुदेव' है और उस तत्व से जिसकी प्राप्ति होती है, उसे 'वासुदेव' कहा जाता है[1]। वासुदेव को नारायण के साथ ही साथ विष्णु से भी अभिन्न माना गया है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दशम प्रपाठक में विष्णु गायत्री है। उसमें विष्णु की एकता 'नारायण' और 'वासुदेव' से करते हुए कहा गया है—"नारायण विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।" नारायण उपनिषद में भी विष्णु को वासुदेव कहा गया है[2]। वही वासुदेव षड्गुणों से युक्त होने के कारण 'भगवत्' अथवा 'भगवान्' भी कहे जाते हैं[3]। 'अहिर्बुध्न्य संहिता (२-२४) के अनुसार भगवान् वासुदेव ही परम दैवत् और परम तत्व है। वही ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित परम पुरुष हैं। वही अनादि-अनंत परब्रह्म है। वही अक्षय, अव्यय, नाम-रूप के द्वारा अभेद्य, वाक्य-मन के अगोचर हैं। वे सर्वशक्तिमान्, षड्गुण सम्पन्न, अमर, अजर और ध्रुव है। वही विष्णु हैं, वही निरंजन है, वही परमात्मा है और वही भगवान् हैं[4]।

चतुर्व्यूह—सात्वत-पांचरात्र धर्म की उपासना में चतुर्व्यूह को विशेष महत्व दिया गया है। व्यूह सिद्धांत इस धर्म की जिस विशिष्ट मान्यता पर आधारित है, उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। भारत के प्राचीन वैयाकरण पाणिनि (समय प्रायः विक्रमपूर्व ५वीं शती) का एक सूत्र 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' है[5]। उससे ज्ञात होता है, प्राचीन काल में वासुदेव की भक्ति करने वालों को 'वासुदेवक' और अर्जुन की भक्ति करने वालों को 'अर्जुनक' कहा जाता था। उस काल के धर्मों की एक विशेषता यह थी कि उनके उपास्य देवता अथवा उनके प्रवर्तक महापुरुष के स्वरूप का विकास उनके परिकर के साथ हुआ था। जैसे जैन धर्म में प्रमुख पंच तीर्थंकरो की और बौद्ध धर्म में सप्त मानुषी बुद्धों की कल्पना थी, वैसे ही इस धर्म में वासुदेव कृष्ण के साथ उनके परिकर की मान्यता भी प्रचलित हुई थी।

कृष्णोपासकों ने उक्त मान्यता के दो विकल्प रखे थे,—एक तो कृष्ण के साथ उनके अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी, जो नर-नारायण की सह-पूजा के रूप में प्रसिद्ध हुई, और जिसे 'नारायणीय धर्म' कहा गया। उसका विस्तृत वर्णन महाभारत के शांति पर्व में मिलता है। "अर्जुन और वासुदेव का ही नामांतर नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ कि एक ही शक्ति नर और नारायण दो रूपों में अभिव्यक्त होती है—नारायणः नरश्चैव सत्वमेकं द्विधाकृतम्' (उद्योग पर्व, ४८।२०)। दूसरा विकल्प वासुदेव कृष्ण के साथ उनके परिवार – संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की पूजा थी, जो 'चतुर्व्यूह' या 'पंचरात्र' के नाम से

---

(१) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ १५३
(२) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ६८
(३) श्रीमद् भागवत (४-३-२३)
(४) राधा का क्रम विकास, पृष्ठ २४
(५) अष्टाध्यायी (४-३-९८)

'वाणी' की जो छोटी-छोटी रचनाएँ है, उनके नाम १. श्री सखी सुख सार सिद्धांत, २. होरी-धमारि, ३. प्रशंसा, ४. श्री भगवतरसिक अनन्य नाम प्रताप, ५. श्री भगवतरसिक नाम प्रभाव और ६. श्री भगवद्भक्त नामावली हैं। इन्हें श्री राधामोहनदास गुप्त ने संपादित कर श्री निंबार्क शोध मंडल, वृंदावन द्वारा प्रकाशित कराया है। श्री बिहारीवल्लभ जी का उपस्थिति काल १६ वीं शती के प्रायः अंतिम चतुर्थांश तक जान पड़ता है।

टट्टी संस्थान की परंपरा—

श्री चतुरदास जी—वे अष्टम आचार्य ललितमोहिनीदास जी के शिष्य थे, और उनके उपरांत सं. १८५८ की भाद्रपद शु. ६ को इस संस्थान के महंत हुए थे। वे प्रायः एक वर्ष तक ही जीवित रहे थे। तत्पश्चात् उनके शिष्य ठाकुरदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री ठाकुरदास जी—वे श्री चतुरदास जी के पश्चात् सं. १८५९ की माघ शु. ५ को इस संस्थान के महंत हुए थे। उनका देहावसान सं. १८६८ में हुआ था। उनके पश्चात् उनके शिष्य राधाशरण जी संस्थान के महंत बने थे। उनके एक अन्य शिष्य शीतलदास जी बड़े प्रतिभाशाली भक्त-कवि हुए हैं।

शीतलदास जी—उनके जीवन-वृत्तांत और निश्चित काल के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता है। उनके गुरु ठाकुरदास जी के आचार्यत्व-काल के आधार पर उनकी विद्यमानता १९ वीं शती के प्रायः अंत तक जान पड़ती है। वे हरिदासी महात्माओं में अपने ढंग के निराले भक्त-कवि थे। व्रजभाषा, संस्कृत और फ़ारसी के वे अच्छे विद्वान थे। उनकी गुलज़ार चमन, आनंद चमन और विहार चमन नामक रचनाएँ बड़ी प्रसिद्ध हैं, जिनमें उनके निरालेपन की छटा दिखलाई देती है। इन रचनाओं की भाषा व्रज मिश्रित खड़ी बोली है, किंतु इसमें संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर तो ये रचनाएँ उर्दू शायरी जैसी हो गई हैं। उनकी व्यंजनात्मक शैली से कुछ लोग इनकी भावना को लौकिक प्रेम के अर्थ में भी घसीटते हैं!

इन रचनाओं में 'लालबिहारी' का नाम प्रायः आता है, जिसके प्रति शीतलदास जी की उत्कट आसक्ति की भावना व्यक्त हुई है। कुछ लोगों की कल्पना है कि 'लालबिहारी' कोई सुंदर बालक था, जिस पर वे बड़े अनुरक्त थे! इस प्रकार का कथन सर्वथा भ्रमपूर्ण और मिथ्या है। वास्तव में यह नाम हरिदास संप्रदाय के उपास्य स्वरूप श्री बिहारी जी का है, और शीतलदास जी की रचनाओं में उनके प्रति अलौकिक प्रेम की व्यंजना हुई है। श्री मिश्रबंधुओं ने उनके काव्य की प्रशंसा करते हुए कहा है,—'सीतल के चमन वास्तव में भाषा-साहित्य के अपूर्व रत्न हैं। इनकी पूरी रचना में एक छंद भी शिथिल या नीरस नहीं है, और वह बड़ी ही जोरदार एवं चित्ताकर्षिणी है। इनकी रचना में स्वच्छंद उमंग, उपमा, रूपक और अनूठेपन की ख़ूब बहार है, और ख़यालात की बुलंद परवाजी तथा बारीकियाँ अच्छी हैं[1]।'

श्री राधाशरण जी—वे श्री ठाकुरदास जी के पश्चात् सं. १८६८ की ज्येष्ठ शु. ३ को संस्थान के महंत हुए थे, और सं. १८७८ तक विद्यमान रहे थे। उन्होंने केलिमाल पर 'वस्तुदर्शिनी' टीका तथा कुछ पदों की रचना की है। उनके शिष्यों में सहचरिशरण उपनाम सखीशरण जी प्रधान थे, जो उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

---

(१) मिश्रबंधु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६३३-३४

श्री सहचरिशरण जी—वे सखीशरण जी के नाम से भी प्रसिद्ध थे। उनका जन्म सं. १८३० में हुआ था, और वे सं. १८४१ में टट्टी संस्थान के महंत श्री राधाशरण जी के शिष्य हुए थे। अपने गुरु के पश्चात् वे सं. १८७८ में उक्त संस्थान के महंत बनाये गये थे। उनके गुरु-भाई मथुरा के गोकुलचंद्र चतुर्वेदी थे। उन्होंने 'टट्टी संस्थान' में राधाष्टमी के दिन 'समाज' और मेला का आयोजन कराया था, जो अभी तक प्रचलित है। इस मेले में मथुरा के बहुत से चतुर्वेदी आते हैं। सहचरिशरण जी का देहावसान सं. १८६४ में हुआ था। वे परम भक्त होने के साथ ही साथ सुंदर कवि भी थे। उनकी ग्रंथ रचना प्रसिद्ध है।

ग्रंथ-रचना—श्री सहचरिशरण जी द्वारा रचित ग्रंथ ललित प्रकाश, सरस मंजावली, गुरु प्रणालिका, आचार्योत्सव सूचनिका, नख-शिख ध्यान और वचनिका सिद्धांत हैं। इनमें से 'ललित प्रकाश' में स्वामी हरिदास जी से लेकर टट्टी संस्थान के महंत ललितमोहिनदास जी तक के चरित्रों का कथन किया गया है। इसका आधार श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ है, और उसी के सदृश इसमें सांप्रदायिकता और प्रचार का अति आग्रह दिखलाई देता है। इस ग्रंथ के दो खंड हैं, और इसकी रचना विविध छंदों में हुई है। 'सरस मंजावली' में १४० मांज या मांझ नामक छंद हैं। इसका काव्य-सौन्दर्य अनुपम है। इसमें शीतलदास जी की शैली का अनुकरण किया गया है। इसकी भाषा ब्रज मिश्रित खड़ी बोली है, जिसमें संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का भी प्रचुरता से समावेश हुआ है। कहीं-कहीं पर पंजाबी भाषा के शब्द भी मिलते हैं। श्री वियोगीहरि ने 'सरस मंजावली' की प्रशंसा में कहा है,—"इसकी रचना बड़ी उच्च कोटि की है। काव्य-चमत्कार के साथ ही इसमें प्रेम-माधुरी और रस-वारुणी की एक निराली छटा और मादकता है। इसकी भाषा भी अनूठे ढंग की है। कोई-कोई छंद तो 'तीर, तलवार और तमंचा' का काम करता है[१]।" 'गुरु प्रणालिका' और 'आचार्योत्सव सूचनिका' सांप्रदायिक रचनाएँ हैं। इनमें से पहिली में निंबार्क संप्रदाय की मान्यता के अनुसार हंस भगवान् से लेकर ललितमोहिनीदास जी तक की गुरु-परंपरा का परिचयात्मक कथन किया गया है। दूसरी में स्वामी हरिदास जी से लेकर ललितमोहिनीदास जी तक हरिदासी आचार्यों का तिथि-संवत् सहित उल्लेख किया गया है। इन दोनों रचनाओं की मूल सामग्री प्रायः किशोरदास जी कृत 'निज मत सिद्धांत' पर ही आधारित है। इस प्रकार किशोरदास जी के अतिरिक्त सहचरिशरण जी के ग्रंथ हरिदास संप्रदाय के इतिवृत्तात्मक कथन के लिए सहायक सिद्ध होते हैं।

टट्टी संस्थान के परवर्ती महंत—श्री सहचरिशरण जी के पश्चात् टट्टी संस्थान के महंतों में क्रमशः सर्वश्री राधाप्रसाद जी, भगवानदास जी, रणछोरदास जी, राधारमणदास जी और राधाचरणदास जी हुए हैं।

श्री रसिकविहारी जी की गद्दी की परंपरा—

श्री पीतांबरदास जी और उनके शिष्य-प्रशिष्य—जैसा पहिले लिखा गया है, इस गद्दी की स्थापना हरिदास संप्रदाय के छटे आचार्य रसिकदास जी ने की थी। उनके उपरांत उनके शिष्य पीतांबरदास जी इस के महंत हुए थे। पीतांबरदास जी और उनके सुप्रसिद्ध शिष्य किशोरदास का वृत्तांत गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है। पीतांबरदास जी के पश्चात् उनके शिष्य हरिदेवशरण जी इस संस्थान की महंत गद्दी पर आसीन हुए थे।

---

(१) ब्रज माधुरी सार, पृष्ठ २४६

श्री हरिदेवशरण जी के पश्चात् इस गद्दी के जो महंत हुए हैं, उनके नाम क्रमशः सर्वश्री गोबर्धनशरण जी, कृष्णशरण जी, नरोत्तमशरण जी, निंबार्कशरण जी, जगन्नाथशरण जी, ललितशरण जी, गंगाशरण जी, लाड़िलीशरण जी और राधाशरण जी हैं। इनमें गोवर्धनशरण जी और नरोत्तमशरण जी अधिक प्रसिद्ध हुए है।

श्री गोवर्धनशरण जी—इस गद्दी के महंतों में श्री पीतांबरदास जी के पश्चात् गोवर्धनशरण जी एक विख्यात महात्मा हुए हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, आचार्य रसिकदास जी ने अपने उपास्य श्री रसिकविहारी जी का वृंदावन में जो मंदिर वनवाया था, उसे मुसलमान आक्रमणकारियों ने ध्वस्त कर दिया था। उस संकट काल में श्री रसिकविहारी जी के स्वरूप को वृंदावन से हटा कर उदयपुर–डूंगरपुर आदि स्थानों में रखा गया था। महंत गोवर्धनशरण जी ने सं. १८१२ में श्री रसिकविहारी जी का नया मंदिर वनवाया, और उनके विग्रह को डूंगरपुर से ला कर उसमें प्रतिष्ठित किया था।

श्री नरोत्तमशरण जी—वे श्री गोवर्धनशरण जी के प्रशिष्य और कृष्णशरण जी के शिष्य थे। उनके समय में वृंदावन में गोपालराय नामक एक प्रसिद्ध कवि हुआ था। उसने उनकी प्रेरणा से वृंदावन के प्रसिद्ध मंदिर–देवालय, देवविग्रह और संत–महंतादि का एक परिचयात्मक ग्रंथ 'श्री वृंदावन धामानुरागावली' के नाम से लिखा था; जिसकी पूर्ति सं. १९०० में हुई थी। यह ग्रंथ उस काल के वृंदावन की धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वड़ा उपयोगी है। इसे अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है। इसमें उल्लिखित रसिकविहारी जी के वर्णन से ज्ञात होता है कि नरोत्तमदास जी ने अपने पूर्ववर्ती छै महंत सर्वश्री नरहरिदास जी, रसिकदास जी, पीतांवरदास जी, हरिदेवशरण जी, गोवर्धनशरण जी और कृष्णशरण जी की समाधियाँ श्री रसिकविहारी जी के नये मंदिर में वनवाई थीं।

श्री गोरीलाल जी की गद्दी की परंपरा—

श्री गोविंददास जी और उनके शिष्य-प्रशिष्य—जैसा पहिले लिखा गया है, इस गद्दी की स्थापना हरिदास संप्रदाय के छटे आचार्य रसिकदास जी के एक शिष्य गोविंददास जी ने की थी। इसके मंदिर में आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य श्री गोरीलाल जी का देव-विग्रह प्रतिष्ठित है। श्री गोविंददास जी के पश्चात् इस गद्दी के जो महंत हुए हैं, उनके नाम क्रमशः सर्वश्री मथुरादास जी, प्रेमदास जी, जयदेवदास जी, श्यामचरणदास जी, हरनामदास जी, गोपीवल्लभ जी, वलरामदास जी, गुलावदास जी, हरिकृष्णदास जी, दामोदरदास जी और बालकदास जी हैं।

श्री बिहारी जी के गोस्वामियों की परंपरा—

श्री बिहारी जी की सेवा और जगन्नाथ जी के वंशज—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री जगन्नाथ जी को स्वामी हरिदास जी के सेव्य स्वरूप श्री विहारी जी की सेवा प्राप्त हुई थी, जो उनके उपरांत उनके वंशजों के अधिकार में परंपरा से रही है। जगन्नाथ जी के वंशज 'श्री विहारी जी के गोस्वामी' कहलाते हैं, और वे प्रायः गृहस्थ होते हैं; जब कि स्वामी जी की शिष्य-परंपरा की जिन तीन गद्दियों का अभी उल्लेख किया गया है, उनके महंत गण विरक्त साधु होते हैं। श्री जगन्नाथ जी के वंशजों की महत्ता अधिकतर उनके द्वारा की गई श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा पर निर्भर रही है; तथापि उनमें से कतिपय गोस्वामियों की ख्याति उनकी भक्ति-भावना, विद्वता और रचना के कारण भी हुई है।

श्री जगन्नाथ जी के द्वितीय पुत्र मेघश्याम जी के वंश में गोस्वामी वंशीधर जी, वैन जी और नवनागरीदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। गो. वंशीधर जी ठाकुर-सेवा-परायण भक्त जन और सुकवि थे। गोस्वामी वैन जी भी अच्छे कवि थे। उनका रचना–काल सं. १८८० के लगभग है। गो. नवनागरीदास जी संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध भक्त-कवि थे। उनका संस्कृत ग्रंथ 'प्रभावती परिणय' है, और उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ संगीतबिंदु, अन्योक्तिबिंदु एवं रसबिंदु हैं[१]।

श्री जगन्नाथ जी के तृतीय पुत्र मुरारीदास जी के वंश में माधव जी, गोपालनाथ जी और रूपानंद जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। गो. माधव जी संस्कृत के बड़े विद्वान और श्रीमद् भागवत के अच्छे वक्ता थे। उनका संस्कृत ग्रंथ 'माधव विलास' है। उन्होंने पंजाब में हरिदास संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। गो. गोपालनाथ जी संस्कृत के प्रकांड विद्वान और कवि थे। उनकी रचनाएँ श्री आचार्याष्टक, श्री ललिता शतकम्, श्री हरिदास यश बिंदु और निधुवन प्रभा हैं। गो. रूपानंद जी से पहिले श्री विहारी जी के स्वरूप को वृंदावन से हटा कर करौली ले जाया गया था। उनकी चेष्टा से उन्हें पुनः वृंदावन में प्रतिष्ठित किया गया था। उस प्रसंग में जो लड़ाई-झगड़ा हुआ, उसी में उनका देहावसान भी हुआ था। उनकी समाधि वृंदावन में रेल के स्टेशन के पास बतलाई जाती है[२]।

हरिदास संप्रदाय द्वारा ब्रज की सांस्कृतिक प्रगति—

विरक्त शिष्यों और गोस्वामियों का योग-दान—स्वामी हरिदास जी के उपरांत उनकी विरक्त शिष्य–परंपरा के रसिक भक्तों ने इस संप्रदाय की उपासना–भक्ति की उन्नति के साथ ही साथ अपनी विख्यात वाणी-रचना द्वारा ब्रज की धार्मिक एवं साहित्यिक प्रगति में भी पर्याप्त योग दिया था। राधावल्लभ संप्रदाय की भाँति हरिदास संप्रदाय की 'वाणी' भी उसके भक्त जनों की उपासना–भक्ति का एक प्रमुख साधन रही है; इसीलिए उन्होंने बड़ी श्रद्धा पूर्वक इसकी रचना की है। यह 'वाणी' ब्रज के भक्ति साहित्य की मूल्यवान निधि है। स्वामी जी ने ब्रज के संगीत को जो महान् देन दी थी, उसकी परंपरा 'रास' और 'समाज' के प्रचलन द्वारा कुछ हद तक क़ायम रखने की चेष्टा की गई है। जहाँ तक गोस्वामी-परंपरा की देन का संबंध है, वह विरक्त शिष्यों की तुलना में नगण्यप्राय है। यदि राधावल्लभ संप्रदाय के दोनों वर्ग—'बिंदु'-परिवार और 'नाद'-परिवार की भाँति हरिदास संप्रदाय के इन दोनों वर्गों का भी समान योग रहा होता, तो इस संप्रदाय द्वारा ब्रज की और भी अधिक सांस्कृतिक उन्नति की जा सकती थी।

दोनों वर्गों के मनोमालिन्य से प्रगति में कमी—हरिदास संप्रदाय के इन दोनों वर्गों की असंतुलित देन से भी अधिक उनके पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण ब्रज की सांस्कृतिक प्रगति में अपेक्षित योग नहीं दिया जा सका है। उनके अवांछनीय द्वेष से उनकी शक्ति और क्षमता की जैसी क्षति हुई है, वह बडी शोचनीय है। यदि वह न हुई होती, तो यह संप्रदाय ब्रज की सांस्कृतिक प्रगति के लिए और भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता था। इस संप्रदाय की यह ऐसी कमी है, जिसे दूर करना परमावश्यक है।

(१) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ५०७–५१०
(२) श्री स्वामी हरिदास अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ १०२

अन्य धर्म-संप्रदाय

राधा-कृष्णोपासना का प्रभाव—विगत पृष्ठों में इस काल के जिन पाँच राधा-कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों का उल्लेख किया गया है, उनसे पहिले व्रज में अन्य धर्म-संप्रदायों का व्यापक प्रचलन था। व्रज की धर्मोपासना 'कर्म', 'ज्ञान' एवं 'भक्ति' मार्गों की त्रिवेणी का संगम रही है; और वे सभी धर्म-संप्रदाय उन्हीं मार्गों में से किसी का अनुसरण करते रहे हैं। उन्होंने विगत काल में व्रज की धार्मिक प्रगति में पर्याप्त योग दिया था; किंतु विवेच्य काल के आरंभ होते ही उनमें कुछ ऐसी विकृतियाँ आ गई थीं कि वे श्रद्धालु जनता का हित करने की अपेक्षा अहित ही कर रहे थे। जनता उनसे पीछा छुड़ाना चाहती थी। उसी समय व्रज में वैष्णव धर्म के अंतर्गत राधा-कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों का प्रचार होने लगा था। उक्त संप्रदायों की प्रेम भक्ति और रसोपासना ने अन्य धर्म-संप्रदायों की उपासना-पद्धतियों को उसी प्रकार निस्तेज कर दिया था, जिस प्रकार अरुणोदय से तारा गण की आभा फीकी पड़ जाती है! विगत पृष्ठों में वर्णित राधा-कृष्णोपासक वे पाँचों भक्ति संप्रदाय ही विवेच्य काल में व्रज की धार्मिक प्रगति के प्रधान आधार रहे हैं। उनकी तुलना में अन्य प्राचीन और नवीन धर्म-संप्रदायों की देन का अधिक महत्त्व नहीं है। इस काल में उन पाँचों संप्रदायों में जैसे महान् धर्माचार्य और उनके अनुगामी विशिष्ट भक्त महानुभाव हुए, वैसे अन्य धर्म-संप्रदायों में नहीं हो सके थे। असल में वह युग ही राधा-कृष्णोपासना के प्रचार और उसके चरम उत्कर्ष का था। उसके प्रचंड प्रताप से प्रभावित होकर अन्य धर्म-संप्रदाय सहसा हतप्रभ हो गये थे।

राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों का अन्य धर्म-संप्रदायों के प्रति दृष्टिकोण—इस काल के राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों का दृष्टिकोण अपने समकालीन अन्य धर्म-संप्रदायों के प्रति कैसा रहा था, इस पर विचार करना आवश्यक है। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्य धर्म-संप्रदायों को अपदस्थ करने का कोई खास प्रयत्न नहीं किया था। वे धर्म-संप्रदाय अपनी निजी कमी और युग के प्रभाव के कारण ही अपना स्थान नहीं बना पाये थे; यद्यपि मुगल शासन के अनुकूल राजनैतिक वातावरण में सभी को अपनी उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त हुआ था। इस काल में उन पाँचों संप्रदायों में सैकड़ों महान् धर्माचार्य और विशिष्ट भक्त जन हुए थे; किंतु उनमें से बहुत थोड़ों ने ही अन्य धर्म-संप्रदायों के विरुद्ध कोई कार्य किया था; अथवा कुछ कहा-सुना था। अधिकांश धर्माचार्य एवं भक्त जन तो अपनी उपासना-भक्ति और उनके साधन स्वरूप साहित्य-संगीतादि में तल्लीन रहने वाले समदर्शी महात्मा थे। उन्हें किसी अन्य धर्म-संप्रदाय को क़ायम रखने या हटाने अथवा उसकी निंदा-स्तुति करने में कोई अभिरुचि नहीं थी।

राधा-कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों के जिन कतिपय महात्माओं ने अपने समकालीन अन्य धर्म-संप्रदायों के विरुद्ध कोई खास प्रयत्न किया था, उनमें सर्वप्रथम नाम पुष्टि संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी का आता है। वे उन विकृत उपासना मार्गों में व्याप्त पाखंडवाद से बड़े क्षुब्ध थे। उन्होंने उनके दुराचारी धर्माध्यक्षों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्हें एक मात्र श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश दिया था[१]। श्री वल्लभाचार्य जी के कारण उन विकृत धर्म-संप्रदायों का जनता में बहुत कम प्रभाव रह गया था; और राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों के प्रचार-प्रसार की समुचित भूमिका निर्मित हो गई थी।

---

(१) सर्व मार्गेषु नष्टेषु, कलौ च खल धर्मणि।
पाखंड प्रचुरे लोके, कृष्ण एव गतिर्मम।। (कृष्णाश्रय स्तोत्र)

श्री वल्लभाचार्य जी के पश्चात् निंबार्क संप्रदायाचार्य श्री हरिव्यास जी और उनके प्रतापी शिष्य श्री परशुराम जी, भक्तप्रवर हरिराम व्यास जी, हरिदास संप्रदायाचार्य श्री बिहारिनदास जी, राधावल्लभीय महात्मा चतुर्भुजदास जी तथा पुष्टि संप्रदाय के गोस्वामी गोकुलनाथ जी के नाम आते हैं। उन्होंने अधिकतर शाक्त धर्मावलंवियों की हिंसामयी कुत्सित साधना का विरोध किया था। गो. गोकुलनाथ जी ने निर्गुणिया संत जदरूप की वैष्णव विरोधी कार्यवाही को समाप्त कराया था; जिससे उस काल मे ब्रज के सभी भक्ति संप्रदायों के गौरव की रक्षा हुई थी। गो. गोकुलनाथ जी से पहिले पुष्टि संप्रदाय के महात्मा सूरदास ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना से सगुण भक्ति को श्रेष्ठ वतलाया था[1]; और नंददास ने ज्ञान एवं योग मार्गो की अपेक्षा प्रेम भक्ति का प्रतिपादन किया था[2]। इन सब के होते हुए भी इस काल में सर्वाधिक विरोध शाक्त धर्म की वीभत्स साधना का किया गया था। उसमें संत कवीर के तीव्र स्वर के साथ ही साथ ब्रज के पूर्वोक्त भक्त जनों ने भी अपना स्वर मिलाया था। इस संबंध में हम आगे शाक्त धर्म के विवरण में कुछ विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

ब्रज के राधा-कृष्णोपासक भक्त जनों में स्वामी चतुर्भुजदास जी ही ऐसे महात्मा हुए हैं, जिन्होंने शाक्त धर्मावलंवियों की कुत्सित साधना को वंद कराने के साथ ही साथ अपनी 'वाणी' में भक्ति मार्ग के विरोधी अन्य सभी धर्म-संप्रदायों के सामूहिक विरोध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने ज्ञानमार्गीय संन्यास तथा सांख्य एवं योग मार्गो की साधना को व्यर्थ वतलाते हुए हरि-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उनका कथन है, उक्त मार्गों के साधकों को सीमित काल तक अपनी सिद्धियों का सुख भोग कर अंत में अधोगामी होना पड़ता है। इसीलिए हरि-भक्त गण स्वप्न में भी उनकी वांछा नहीं करते, चाहें उन्हें पशु-पक्षी का ही जन्म धारण करना पड़े[3]! चतुर्भुजदास जी ने कहा है,—चार्वाक, क्षपणक, जैन, मायावादी, शैव, कालमुख, अनीश्वरवादी, पाशुपत, सांख्यिक, वौद्ध, नैयायिक-तार्किकादि विविध धर्म-संप्रदायों के अनुयायी गण भक्ति से विमुख होने के कारण यमपुर जावेंगे; जब कि नवधा भक्ति में से किसी एक के भी पालन करने वालों के समस्त अमंगल नष्ट हो जाते हैं[4]। राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों एवं उनके अनुगामी भक्तों का अन्य धर्म-संप्रदायों के प्रति दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के उपरांत हम उनकी स्थिति पर क्रमशः प्रकाश डालते हैं।

---

(१) रूप-रेख-गुण-जाति-जुगति विनु, निरालंब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम विचारहि, तातें 'सूर' सगुण लीला-पद गावै॥ (सूरदास)

(२) कौन ब्रह्म की जोति, ज्ञान कासौं कहे ऊधौ? हमरे सुंदरश्याम, प्रेम कौ मारग सूधौ॥
ताहि वतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि भावै। (नंददास)

(३) पुनि संन्यासी भयौ क्रम-नासी, शिखा सु सूत्र बिहाये जू।
सत्यलोक लगि ऊरध गति सों, ते सायुज्यहि पावै जू॥
तत्त्वातत्त्व विवेक विचारैं, सांख्य-जोग धर्म धावै जू।
वहुत काल सेवैं सिद्धिनि सुख, पुनि अध ही धसि आवै जू॥
ताहि भक्त सुपनें नहिं जांचत, वरु तिर्यक तन धरई जू। (धर्म-विचार यश)

(४) चारवाक, छपनक, जैनो अरु मायावादी जेते जू।
शैवो, काल, अनीश्वरवादी, पाशुपतादिक तेते जू॥
सांख्य, बौध अरु न्याय-तर्क मत, चलत ते जम वास पठाये जू। ××
नवधा मध्य एक मनमाने, सकल अमंगल नासत जू॥ (धर्म-विचार यश)

जैन धर्म

कृष्ण-भक्ति का प्रभाव—इस काल में ब्रज में कृष्ण-भक्ति का जो विशाल रस-सागर उमड़ा था, उसके कारण यहाँ के अन्य धर्म-संप्रदायों के छोटे-बड़े नद-नालों को अपना अस्तित्व क़ायम रखना कठिन हो गया था। यहाँ का जैन धर्म भी उससे बड़ा प्रभावित हुआ था। किंतु एक अत्यंत प्राचीन और सुव्यवस्थित धर्म होने के कारण उसका अस्तित्व तो समाप्त नहीं हुआ; पर उसके स्वरूप में परिवर्तन होने लगा था। जैन धर्म के ६३ शलाका पुरुषों में से ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव भी माने गये हैं। ९ वासुदेवों को नारायण भी कहा जाता है। जैन मान्यता के अनुसार वासुदेव अपने प्रतिद्वंदी प्रतिवासुदेवों का संहार कर तीन खंडों के स्वामी होते हैं। श्रीकृष्ण नवम वासुदेव अथवा नारायण थे, और वे तीन खंडों के अधिपति थे। इसके साथ ही वे २२वें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ जी के भाई थे। उस काल की व्यापक कृष्णोपासना का जैन धर्म पर यह प्रभाव पड़ा कि उसके अनुयायी गण भगवान् ऋषभनाथ तथा महावीर जैसे प्रधान तीर्थंकरों की अपेक्षा नेमिनाथ जी की अधिक उपासना-पूजा करने लगे थे। मथुरामंडल में निर्मित तत्कालीन जैन मूर्तियों में अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा नेमिनाथ जी की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं।

नेमिनाथ जी के कारण वासुदेव कृष्ण के प्रति भी उस काल के जैनियों की श्रद्धा-भावना बढ़ गई थी, और नेमिनाथ जी के भतीजे तथा कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के प्रति भी उनका अधिक आकर्षण हो गया था। नेमिनाथ जी अपनी बाला पत्नी राजमती को विवाह के समय ही छोड़ कर तपस्या करने चले गये थे, और वह बेचारी जीवन पर्यन्त उनके वियोग की दारुण व्यथा सहन करती रही थी। इस प्रकार उसका चरित्र राधा से भी अधिक करुणापूर्ण था। राधा जी को तो कुछ काल तक श्रीकृष्ण के साथ बाल-विनोद एवं केलि-क्रीड़ा करने का सुख मिला भी था; किंतु राजमती जी ने नेमिनाथ जी का केवल दर्शन मात्र ही किया था। कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार से प्रभावित होकर उस काल के जैन कवियों ने नेमिनाथ-राजमती के साथ ही साथ कृष्ण और प्रद्युम्न से संबंधित अनेक प्रबंध काव्यों की रचना की थी, जिनमें शांत और शृंगार रसों की मिश्रित धारा बहाई गई थी। ये रचनाएँ संस्कृत और पुरानी हिंदी मिश्रित ब्रजभाषा में हैं।

कृष्ण-भक्ति के वातावरण में रचित ग्रंथ—श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के संबंध में जैन मान्यता का सर्वप्रथम ब्रजभाषा ग्रंथ सधारु अग्रवाल कृत 'प्रद्युम्न चरित' है। यह एक सुंदर प्रबंध काव्य है। 'ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन' होने के साथ ही साथ यह हिंदी जैन ग्रंथ के रूप में भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। जहाँ ब्रजमंडल के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि ब्रजभाषा-हिंदी की यह आदि कालीन रचना उसके प्रमुख नगर आगरा में लिखी गई थी, वहाँ जैन धर्मावलंबी भी यह गर्व कर सकते हैं कि उनके एक कवि द्वारा हिंदी के इस आदि कालीन ग्रंथ की रचना हुई है। 'प्रद्युम्न चरित' का रचना-काल सं. १४११ माना गया है[१]; किंतु श्री हरिशंकर शर्मा ने उसकी रचना सं. १३११ में भी होना संभव बतलाया है[२]। सधारु कृत 'प्रद्युम्न चरित' के पश्चात् जो हिंदी जैन रचनाएँ प्रकाश में आईं, उनमें से अधिकतर मुगल सम्राट अकबर के शासन काल की, अथवा उसके बाद की हैं। उनमें भी अधिकांश अकबर की राजधानी आगरा अथवा उसके निकटवर्ती स्थानों में रची गई थीं।

---

(१) हिंदी अनुशीलन (वर्ष ९, अंक १-४)
(२) हिंदुस्तानी (भाग १९, अंक ४, पृष्ठ ९५)

१६वीं शती की संस्कृत रचनाओं में सोमकीर्ति कृत 'प्रद्युम्न चरित्' तथा ब्रजभाषा-हिंदी की रचनाओं में ब्रह्म जिनदास कृत 'हरिवंश पुराण' और यशोधर कृत 'बलभद्र रास' उल्लेखनीय हैं। १७वीं शती में जैन धर्म पर कृष्ण भक्ति का प्रभाव और भी बढ़ गया था; जिसके कारण प्रद्युम्न चरित् अत्यधिक संख्या में रचे गये थे। इस शताब्दी में सर्वश्री रविसागर, शुभचंद्र, रतनचंद, वादिचंद, मल्लिभूषण, श्रीभूषण आदि जैन विद्वानों ने संस्कृत में प्रद्युम्न चरित् की रचना की थी। हिंदी में सर्वश्री कमलेश्वर और जिनचंद्र सूरि ने 'प्रद्युम्न चोपई' तथा ब्रह्म रायमल्ल एवं ज्ञानसागर ने 'प्रद्युम्न रासो' की रचना की थी। इसी शताब्दी में हिंदी में रचित शालिवाहन कृत 'हरिवंश पुराण' और रूपचंद्र कृत 'नेमिनाथ रासो' पर कृष्ण-भक्ति के वातावरण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओं के नाम श्री महावीर कोटिया के लेख 'जैन साहित्य में कृष्ण-चरित्र-काव्यों की परंपरा' में बतलाये गये हैं[1]।

सुलतानी काल में जैन धर्म की स्थिति—उस काल में ब्रजमंडल के बहुत से जैनी अपने परंपरागत धर्म को छोड़ कर वैष्णव धर्म के विविध संप्रदायों के अनुयायी होने लगे थे। 'भक्तमाल' और 'वार्ता' आदि ग्रंथों में ऐसे अनेक जैनियों के नाम मिलते हैं। इस प्रकार के जैनियों में अग्रवाल वैश्यों की संख्या अधिक थी। उनके आचार–विचार और खान–पान वैष्णवों के अधिक अनुकूल थे, अतः उन पर उक्त धर्म–संप्रदायों का अधिक प्रभाव पड़ा था। ब्रजमंडल के अतिरिक्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात, जहाँ जैन धर्म का अधिक प्रचार था, उस काल में कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। इस प्रकार कृष्ण–भक्ति की प्रगति से उस काल में जैनियों की संख्या काफी कम हो गई थी। धर्म-परिवर्तन की उक्त प्रक्रिया में किसी प्रकार के बल का प्रयोग अथवा अनैतिक उपायों का अवलंबन नहीं किया गया था। जो कुछ हुआ, वह केवल धार्मिक प्रेरणा से हुआ, और वह भी स्वेच्छा से एवं शांतिपूर्वक हुआ था।

जैन धर्म की उस परिवर्तित परिस्थिति में ब्रजमंडल के जैन स्तूप, मंदिर, देवालय आदि उपेक्षित अवस्था में जीर्ण–शीर्ण होने लगे थे। फिर तत्कालीन दिल्ली के सुलतान अपने मजहबी तास्सुब के कारण बार–बार आक्रमण कर उन्हें क्षति पहुँचाया करते थे। सेठ समराशाह जैसे धनी व्यक्ति समय-समय पर उनकी मरम्मत कराते थे; किंतु बार-बार वे क्षतिग्रस्त कर दिये जाते थे! इस प्रकार मुगल सम्राट अकबर के शासन काल से पहिले मथुरा तीर्थ का महत्व जैन धर्म की दृष्टि से कम हो गया था, और वहाँ के जैन देव-स्थानों की स्थिति शोचनीय हो गई थी।

मुगल सम्राट अकबर के काल की स्थिति—दिल्ली के सुलतानों के पश्चात् मथुरामंडल पर मुगल सम्राट अकबर का शासनाधिकार हुआ था। उसकी राजधानी ब्रजमंडल के प्रमुख नगर आगरा में थी, अतः राजकीय रीति-नीति का इस भू-भाग पर प्रभाव पड़ना उचित ही था। सौभाग्य से सम्राट अकबर की धार्मिक नीति बड़ी उदार थी। उसके कारण ब्रज के अन्य धर्मावलंबियों के साथ ही साथ जैनी भी प्रचुरता से लाभान्वित हुए थे। उससे पहिले ग्वालियर और आगरा जिले का बटेश्वर (प्राचीन शोरिपुर) जैन धर्म के केन्द्र थे। अकबर के काल में आगरा नगर इस धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। ग्वालियर और बटेश्वर का तो पहिले से ही सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व था; किंतु आगरा राजनैतिक कारण से जैन केन्द्र बना था। ब्रजमंडल के जैन धर्मावलंबियों

---

(१) साहित्य संदेश (अक्टूबर, १९६१)

में अधिक संख्या व्यापारी वैश्यों की थी। उनमें सबसे अधिक अग्रवाल, फिर खंडेलवाल–ओसवाल आदि थे। मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा नगर उस काल में व्यापार–वाणिज्य का भी बड़ा केन्द्र था; इसलिए वणिक् वृत्ति के जैनियों का वहाँ बड़ी संख्या में एकत्र होना स्वाभाविक था।

मुगल सम्राट अकबर ने जब अपनी उदार धार्मिक नीति की घोषणा की, और उसके फलस्वरूप ब्रजमंडल में वैष्णव धर्म के नये मंदिर-देवालय बनने लगे तथा पुरानों का जीर्णोद्धार होने लगा, तब जैन धर्मावलंबियों में भी नवीन आशा और उत्साह का संचार हुआ था। उस काल में गुजरात के विख्यात श्वेतांबराचार्य हीरविजय सूरि से सम्राट अकबर बड़े प्रभावित हुए थे। सम्राट ने उन्हें बड़े आदरपूर्वक फतेहपुर सीकरी बुलाया था, और वे प्रायः उनके धर्मोपदेश सुना करते थे। इस कारण मथुरा–आगरा आदि समस्त ब्रज प्रदेश में बसे हुए जैनियों में आत्म गौरव का भाव जागृत हो गया था। वे लोग अपने मंदिर-देवालयों के नव निर्माण अथवा जीर्णोद्धार के लिए भी तब प्रयत्नशील हुए थे।

आचार्य हीर विजय सूरि जी स्वयं मथुरा पधारे थे। उनकी यात्रा का वर्णन 'हीर सौभाग्य काव्य' के १४ वें सर्ग में हुआ था। उसमें लिखा है, सूरि जी ने मथुरा में बिहार कर वहाँ पार्श्वनाथ और जम्बूस्वामी के स्थलों तथा ५२७ स्तूपों की यात्रा की थी। सूरि जी के कुछ काल पश्चात् सं. १६४८ में कवि दयाकुशल ने जैन तीर्थों की यात्रा कर 'तीर्थमाला' की रचना की थी। उसके ४०वें पद्य में उसने मथुरा–यात्रा करने और वहाँ के ५०० मनोहर स्तूपों तथा गौतम और जम्बू-स्वामी की प्रतिमाओं के दर्शन कर अपने उल्लास का इस प्रकार कथन किया है,—

मथुरा देखिउ मन उल्लसइ। मनोहर थुंम जिहां पांचसइं॥
गौतम जंबू प्रभवो साम। जिनवर प्रतिमा ठामोठाम[1]॥

ग्रंथकार और ग्रंथ–रचना—जैसा पहिले लिखा गया है, कृष्णोपासक संप्रदायों के कारण जैन धर्म की स्थिति उसके प्राचीन केन्द्र मथुरा में कमजोर पड़ गई थी, किंतु उसी काल में ग्वालियर तथा बटेश्वर में और कालांतर में आगरा में उसकी स्थिति अच्छी हो गई थी। उस समय आगरा और उसके निकटवर्ती स्थानों के अनेक जैन विद्वानों ने ब्रजभाषा-हिंदी में बहुसख्यक ग्रंथ-रचना की थी। जैन धर्म और साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री नाथूराम प्रेमी कृत 'हिंदी जैन साहित्य का इतिहास' और श्री कामताप्रसाद जैन कृत 'हिंदी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' नामक ग्रंथों में तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा 'ब्रजभारती' (वर्ष १४, अंक ४) में प्रकाशित लेख में जैन ग्रंथकारों और उनके ग्रंथों का विशद वर्णन किया गया है। हम उक्त विद्वानों के आधार पर ही तत्कालीन ग्रंथकारों का उल्लेख करेंगे।

उस काल में आगरा जैनियों का प्रमुख साहित्यिक केन्द्र बन गया था। इसका उल्लेख करते हुए डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है,—'आगरा १६वी से लेकर १८वी शती तक उत्तरापथ की जैन जाति का प्रधान साहित्यिक केन्द्र बना रहा। अनेक प्रसिद्ध विद्वानों एवं कवियों ने सैकड़ों ग्रंथों की रचना उक्त स्थान तथा निकटवर्ती प्रदेश में रह कर की थी, जिसके द्वारा उन्होंने प्रायः शांत रस प्रधान आध्यात्मिक कविता का स्रोत प्रवाहित किया था[2]।'

---

(१) ब्रज भारती (वर्ष ११, अंक २)
(२) वही (वर्ष १४, अंक ४)

इस काल में जैनाचार्य हीर विजय सूरि के शिष्य मुनि हेम विजय जी ने दो ग्रंथ संस्कृत में और कुछ स्फुट छंद ब्रजभाषा–हिंदी में रचे थे। मुनि जी अंधे होते हुए भी जैन धर्म के अच्छे विद्वान और संस्कृत एवं ब्रजभाषा के सुकवि थे। उनके रचे हुए छंद नेमिनाथ-राजमती की कथा से संबंधित हैं। वे शांत मिश्रित शृंगार रस के हैं, और मुनि जी की काव्य-प्रतिभा के परिचायक हैं। मुनि कल्याणकीर्ति ने अपनी रचना में कृष्ण के विरह में राधा की उक्ति के समान ही नेमिनाथ जी के विरह में व्याकुल राजमती की मनोदशा का करुण कथन किया है। मुनि जी का रचना-काल सं. १६३० के लगभग है। उसी काल में आगरा निवासी पांडे जिनदास भट्टारक ने साहू टोडर की प्रेरणा से 'जम्बू चरित्र' की रचना की थी। उसके अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ 'ज्ञान सूर्योदय' और 'जोगी रासा' हैं। जिनदास जी का रचना-काल सं. १६४२ है।

साहू टोडर और राज्यमंत्री कर्मचंद—मुगल सम्राट अकबर के शासन काल में वे दोनों प्रतिष्ठित जैन भक्त मथुरा तीर्थ की यात्रा करने को आये थे। साहू टोडर भटानिया (जि. कोल–वर्तमान अलीगढ़) के निवासी गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन पासा साहु का पुत्र था। वह अकबरी शासन का एक प्रतिष्ठित राजपुरुष होने के साथ ही साथ धनाढ्य सेठ भी था। उसने प्रचुर धन लगा कर मथुरामंडल के भग्न जैन स्तूपों और मंदिरों के जीर्णोद्धार का प्रशंसनीय कार्य किया था। वह धार्मिक कार्य सं. १६३० की ज्येष्ठ शु. १२ बुधवार को सम्पन्न हुआ था। उसी समय उसने चतुर्विध संघ को आमंत्रित कर मथुरा में एक जैन समारोह का भी आयोजन किया था।

वैष्णव धर्म के कुछ कृष्णोपासक संप्रदायों में यह किंवदंती प्रचलित है कि सम्राट अकबर के राजस्व एवं वित्त मंत्री राजा टोडरमल ने ब्रज में अनेक देवालयों का जीर्णोद्धार कराया था और वहाँ के प्राचीन लीला-स्थलों पर उसने रासमंडल बनवाये थे[1]। राजा टोडरमल एक धर्मप्राण आस्तिक हिंदू था और वह नियमित रूप से सेवा–पूजा करने के लिए भी प्रसिद्ध था। फिर भी उसके द्वारा ब्रजमंडल में हिंदू देवालयों के जीर्णोद्धार किये जाने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। ऐसा मालूम होता है, साहू टोडर और राजा टोडरमल के नाम्य-साम्य और उनकी समकालीनता के कारण वह भ्रमात्मक किंवदंती प्रचलित हुई है। साहू टोडर द्वारा मथुरामंडल के जैन तीर्थ-स्थलों का पुनरुद्धार किया जाना जैन इतिहास से सिद्ध है। संभव है, उसने उदारता पूर्वक कुछ हिंदू देवालयों का भी जीर्णोद्धार कराया हो।

साहू टोडर ने तीर्थ-पुनरुद्धार के साथ ही साथ मथुरा के चौरासी क्षेत्र पर तपस्या कर निर्वाण प्राप्त करने वाले कैवल्यज्ञानी जम्बूस्वामी के चरित्र ग्रंथों की रचना का भी प्रबंध किया था। फलतः उसकी प्रेरणा से संस्कृत और ब्रजभाषा-हिंदी में जम्बूस्वामी चरित्र उस काल में लिखे गये थे। संस्कृत 'जम्बूस्वामी चरित्र' का निर्माण उस समय के विख्यात जैन विद्वान पांडे राजमल्ल ने सं. १६३२ की चैत्र कृ. ८ को और ब्रजभाषा छंदोबद्ध ग्रंथ की रचना पूर्वोक्त विद्वान पांडे जिनदास ने सं. १६४२ में की थी। ब्रज के तत्कालीन जैन पंडितों में राजमल्ल पांडे अत्यंत प्रसिद्ध थे। वे जैन सिद्धांत और आचार शास्त्र के भारी विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी तीनों भाषाओं में रचनाएँ की थीं। वे काष्ठासंघ आम्नाय में से थे और माथुरगच्छ से संबंधित थे। पांडे जिनदास आगरा निवासी ब्रह्मचारी संतीदास के पुत्र थे। उनकी तीन ब्रजभाषा-हिंदी की

(१) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदावनांक', पृष्ठ २६२

प्रचलित हुई थी। उसके अनुसार पहिले तो वासुदेव और संकर्षण का जुड़वाँ रूप लोक में प्रसिद्ध हुआ। इसी में आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से 'चतुर्व्यूह' का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पंचवृष्णि वीरों की कल्पना पूर्ण हुई, जो पंचरात्र धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण था[1]।"

भगवान् अपनी शक्ति से जिस सृष्टि का सृजन करते हैं, वह दो प्रकार की मानी गई है,— १. शुद्ध सृष्टि और २. शुद्धेतर सृष्टि। शुद्ध सृष्टि में चार क्रम – परिणतियों की अवस्था या स्तर दिखलाई पड़ते हैं, यही पंचरात्र का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह तत्व है। एक-एक व्यूह को हम भगवान् का एक-एक प्रकाश-स्तर कह सकते हैं। यह प्रकाश पहिले दीप से दूसरे दीप, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे दीप को जलाने से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है[2]। चतुर्व्यूह के नाम क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं। लाक्षणिक रूप में ये नाम वृष्णि वंश के कृष्ण और उनके पारिवारिक जनों के हैं; किंतु पांचरात्र मत में उन्हें विशिष्ट दार्शनिक रूप प्रदान किया गया है।

'अहिर्बुध्न्य संहिता' का वचन है कि परमतत्व परवासुदेव के अंश रूप में व्यूह वासुदेव का आविर्भाव होता है। वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध नामक व्यूहों की उत्पत्ति हुई है। वासुदेव व्यूह षड्गुण युक्त भगवान् हैं। उनके छहों गुण उनसे उत्पन्न तीनों व्यूहों में विभाजित रूप में प्रकट होते है। जैसे संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज गुणों का प्रकाश होता है। दार्शनिक दृष्टि से संकर्षण जीव तत्व के, प्रद्युम्न मन या बुद्धि तत्व के और अनिरुद्ध अहंकार तत्व के अधिष्ठाता देवता माने गये हैं।

"संकर्षण से ही समग्र विश्व प्रकट होता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि संकर्षण की देह में समग्र विश्व तिलकालक वत् बीजभूत होकर एक क्षुद्र अंश में विद्यमान रहता है। संकर्षण अनंत भुवन समूह के आधार बलदेव के स्वरूप हैं। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्य योग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते हैं। समष्टि पुरुष, मूल प्रकृति और सूक्ष्म काल का प्रकाश इस व्यूह से ही होता है। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत्, स्थूल काल और मिश्र सृष्टि का उद्भव होता है। अनिरुद्ध अपनी शक्ति से संपूर्ण ब्रह्मांडों तथा तदनंतर्गत विषयों का नियंत्रण करते हैं[3]।"

ग्रंथ—पंचरात्र धर्म के मूल ग्रंथ 'संहिता' अथवा 'तंत्र' कहलाते हैं, जिनका एक प्रसिद्ध नाम 'आगम' भी है। ये ग्रंथ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। 'कपिंजल संहिता' के उल्लेखानुसार पांचरात्र संहिताओं की संख्या दोसौ से भी अधिक है। उनके निर्माण का आरंभ महाभारत की रचना के पश्चात् हुआ था और वे मध्यकाल तक निर्मित होती रही थीं। डा० श्रेडर के मतानुसार कुछ संहिताएँ विक्रम संवत् से पूर्व भी विद्यमान थीं; किंतु अधिकांश की रचना चौथी शती से आठवीं शती तक के काल में हुई थी।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३५२–३५३

(२) पाद्मतंत्र (१–२–२१)

(३) भारतीय धर्म और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८७

रचनाओं में से 'जम्बू चरित्र' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कर्मचंद्र बीकानेर नरेश रायसिंह (शासन-काल सं. १६२८—सं. १६६८) का राज्यमंत्री था। उसने भी मथुरा तीर्थ की यात्रा कर यहाँ के कुछ चैत्यों का जीर्णोद्धार कराया था। उसका उल्लेख 'मंत्रीश्वर कर्मचंद्र वंशोत्कीर्तन' काव्य में हुआ है[1]।

उपर्युक्त समस्त उल्लेख श्वेतांबर साहित्य के हैं, दिगंबर साहित्य में अन्य उल्लेख भी मिल सकते है। जैन साहित्य में मथुरा-यात्रा के कथन मुगल सम्राट अकबर के काल से बाद के नहीं मिलते हैं। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कृष्णोपासना के व्यापक प्रचार से मथुरा के जैन तीर्थ का महत्व कम हो गया था और फिर औरंगजेब के शासन-काल में हिंदू मंदिरों के साथ जैन मंदिर-स्तूपों को भी नष्ट कर दिया गया था। इसलिए मथुरा तीर्थ की यात्रा का आकर्षण ही समाप्त हो गया था।

जहाँगीर और शाहजहाँ के काल की स्थिति—मुगल सम्राट अकबर के पुत्र जहाँगीर और पौत्र शाहजहाँ के शासन काल में व्रज में प्राय: धार्मिक सहिष्णुता और शांति रही थी। उस काल में जैन धर्म भी सामान्य स्थिति में रहा था। जहाँगीर के शासन-काल मे आगरा में निवास करने वाले एक जैन विद्वान पं० बनारसीदास ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाता है।

पं० बनारसीदास, उनका मत और ग्रंथ—बनारसीदास जौनपुर निवासी श्रीमाल जातीय जैन जौहरी खरगसेन के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १६४३ की माघ शु. ११ को हुआ, और उनका अधिकांश जीवन आगरा में व्यतीत हुआ था। वे गृहस्थ होते हुए भी जैन दर्शन और अध्यात्म के अच्छे ज्ञाता, सुप्रसिद्ध साहित्यकार और क्रांतिकारी विद्वान थे। उन्होंने जैन धर्म के अंतर्गत एक आध्यात्मिक पंथ की स्थापना की, और अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनकी रचनाएँ सं. १६९८ तक की मिलती हैं। उस काल के पश्चात् वे कब तक जीवित रहे थे, इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

उन्होने दिगंबर संप्रदाय के तत्कालीन चैत्यवासी भट्टारको की अवैध प्रवृत्तियों के विरोध में विधि मार्ग जैसे एक स्वतंत्र पंथ की स्थापना सं. १६८० के लगभग आगरा में की थी। उस पंथ को पहिले 'अध्यात्मी पंथ' अथवा 'बनारसी मत' कहा जाता था, और वही बाद में 'तेरह पंथ' के नाम प्रसिद्ध हुआ था। उस सुधारवादी मत के कारण उस काल के दिगंबर संप्रदायी चैत्यवासी भट्टारकों की प्रतिष्ठा में काफ़ी कमी हुई थी। उस 'मत' के प्रचार में उन्हें जिन विद्वान साथियों ने बड़ा सहयोग दिया था, उनमें ५ प्रमुख थे। उनके नाम पं० रूपचंद, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदास, कुँवरपाल और धर्मदास मिलते हैं[2]। वे सब विद्वत् जन अहर्निश आध्यात्म-चिंतन और साहित्य-रचना में रत रहते थे। उनके कारण उस काल में आगरा में आत्मज्ञान और अध्यात्म के प्रसार में बड़ा योग मिला था। कदाचित उसी से जैन-जगत् में यह लोकोक्ति प्रचलित हुई थी,—'आत्मज्ञानी आगरै, पंडित बीकानेर।' बनारसीदास का देहावसान होने के अनंतर कुँवरपाल ने उनके अध्यात्मी पंथ के संचालन का भार सँभाला था।

पं० बनारसीदास हिंदी के जैन ग्रंथकारों में सर्वोपरि माने जाते हैं। उनकी ख्याति उनकी धार्मिक विद्वता से भी अधिक उनकी ग्रंथ-रचना के कारण है। अपने आरंभिक जीवन में उन्होंने

---

(१) व्रज भारती (वर्ष ११, अंक २)

(२) समय सार नाटक भाषा

कुसंग में पड़ कर वासनापूर्ण शृंगारिक रचना की थी; किंतु वे शीघ्र ही सँभल गये थे। तब उन्होंने उक्त रचनाओं को नदी में फेंक कर नष्ट कर दिया था। फिर वे आध्यात्मिक रचना करने लगे थे। उस कार्य में भी उनके उक्त सहयोगी मित्र उनके साथ थे। 'सूक्त मुक्तावली' का पद्यानुवाद बनारसीदास ने कुँवरपाल के सहयोग से किया था। उनके एक साथी-भक्त जगजीवन जी थे। उन्होंने बनारसीदास की ६० स्फुट रचनाओं का संकलन 'बनारसी विलास' के नाम से सं. १७०१ में किया था। उनकी रचनाओं में 'नाटक समय सार' और 'अर्ध कथानक' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'नाटक समय सार' अध्यात्म और वेदांत की एक महत्वपूर्ण रचना है। इसका प्रचार श्वेतांबर और दिगंबर दोनों संप्रदायों में है। 'वास्तव में यह कोई नाटक नहीं है, वरन् ब्रजभाषा छंदों में निबद्ध संसारी जीव की लोक-लीला का दिग्दर्शक एक काव्य है। विश्व के रंगमंच पर जीवात्मा की नाट्य लीला का चित्रण करने के कारण इसे नाटक नाम दे दिया गया है[1]।' इस रचना के आधार कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रंथ 'समय सार' और उस पर अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत व्याख्यान नामक ग्रंथ हैं; किंतु यह एक स्वतंत्र एवं मौलिक कृति सी जान पड़ती है। इसकी पूर्ति सं. १६९३ में आगरा में हुई थी। 'अर्ध कथानक' उनका आत्म चरित् है, जो उनके जीवन के अर्ध भाग से संबंधित है। यह भी अपने विषय की महत्वपूर्ण रचना है। इसकी पूर्ति सं. १६९८ में हुई थी। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'बनारसी नाम माला' और 'बनारसी विलास' हैं। प्रथम ग्रंथ एक पद्यात्मक कोश है, जिसकी रचना सं. १६७० में जौनपुर में हुई थी। इस प्रकार यह उनकी आरंभिक कृतियों में से है। ये सब ग्रंथ पद्यात्मक हैं। इनके अतिरिक्त उनकी एक गद्य रचना 'परमार्थ वचनिका' भी है। यह जैन साहित्य की आरंभिक हिंदी गद्य रचनाओं में से है, अतः इसका भी अपना महत्व है।

समकालीन ग्रंथकार और उनके ग्रंथ—जैसा पहिले लिखा गया है, पं० बनारसीदास के साथी मित्रों में पाँच मुख्य थे,—१. पं० रूपचंद, २. चतुर्भुजदास वैरागी, ३. भगवतीदास, ४. कुँवरपाल और ५. धर्मदास। उन सब ने ग्रंथ-रचना की थी। उनमें से रूपचंद जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वान थे। उनका रचा हुआ 'मंगल गीत प्रबंध' प्रसिद्ध है। भगवतीदास एक दूसरे प्रसिद्ध जैन कवि भैया भगवतीदास से भिन्न और उनके पूर्ववर्ती थे। वे अग्रवाल जातीय दिगंबर जैन थे। उनका जन्म-स्थान फर्रुखाबाद जिला का एक गाँव था, किंतु वे आगरा में आकर बनारसीदास की आध्यात्मिक मंडली में सम्मिलित हो गये थे। उन्होंने अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ की थीं, जिनमें 'सज्ञानी ढमाल', 'योगी रासा' और 'खिचड़ी रास' उल्लेखनीय हैं। कुँवरपाल का कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है, किंतु बनारसीदास के साथ सम्मिलित रूप से रचित 'सूक्ति मुक्तावली' में उनके छंद मिलते हैं। धर्मदास की एक गद्य रचना है, जो पूज्यपाद कृत 'इष्टोपदेश' का अनुवाद है। 'बनारसी विलास' के संकलनकर्त्ता जगजीवन भी बनारसीदास के एक साथी भक्त थे। वे आगरा निवासी धनिक सिंघई अभयराज अग्रवाल के पुत्र और मुगल सरदार जफरखाँ के दीवान थे। उन्होंने 'नाटक समय सार' की एक टीका बनाई थी, और बनारसीदास की मृत्यु के उपरांत उनकी आध्यात्मिक गोष्ठी को चालू रखने में सहयोग दिया था[2]। वे कवि भी थे, किंतु उनका कोई स्वतंत्र काव्य ग्रंथ नहीं मिला है।

---

(१) ब्रज भारती, (वर्ष १४, अंक ४, पृष्ठ १८)
(२) वही , (वर्ष १४, अंक ४, पृष्ठ १९)

उस काल में और भी अनेक जैन विद्वानों ने जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ग्रंथ-रचना की थी। उनमें से कुछ का नामोल्लेख उनकी रचनाओं के साथ किया जाता है। परिमल्ल ग्वालियर निवासी बरहिया जैन थे। वे बाद में आगरा आकर बस गये थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'श्रीपाल चरित्र' को सं. १६५१ में आगरा में ही पूर्ण किया था। वे एक अच्छे कवि थे। नंद मथुरा ज़िला गोसना गाँव के निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। वे भी आगरा जाकर बस गये थे। उन्होंने जहाँगीर के शासन काल में अपने दो ग्रंथ 'सुदर्शन चरित्र' (सं. १६६३) और 'यशोधरा चरित्र' (सं. १६७०) की रचना की थी। वे भी एक अच्छे कवि थे। ब्रह्मगुलाल पद्मावती पुरवाल दिगंबर जैन थे, और बाद में मुनि हो गये थे। वे चंदवार (फ़ीरोजाबाद, ज़िला आगरा) के निकटवर्ती टापू नामक गांव के निवासी थे। उनके रचे हुए दो ग्रंथ 'समोशरण चउपइ' और 'कृपण जगावन कथा' उपलब्ध हैं। दूसरा ग्रंथ जैनियों की मूर्ति-पूजा और मुनियों के आहार-दान की पुष्टि में रचा गया था। उसकी रचना सं. १६७१ में हुई थी। उनका जीवन चरित्र छत्रपति कवि ने सं. १९३४ में लिखा था। शालिवाहन भदावर क्षेत्रीय कंचनपुर नामक स्थान के निवासी थे। उन्होंने जिनसेन कृत सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हरिवंश पुराण' का पद्यात्मक अनुवाद किया था। उसकी रचना सं. १६९५ में आगरा से हुई थी। पांडे हेमराज आगरा के रहने वाले गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। वे बनारसीदास के साथी पूर्वोक्त पांडे रूपचंद के शिष्य थे। वे उच्चकोटि के विद्वान, सुकवि एवं विख्यात गद्य लेखक थे। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत के अनेक ग्रंथों की गद्यात्मक टीका रूप में 'वचनिकाएँ' लिखी हैं। उनकी उपलब्ध गद्य रचनाओं के नाम १. प्रवचनसार (सं. १७०९), २. पंचास्तिकाय तथा समय सार भाषा टीका, ३. गोमट्टसार जीव-कांड एवं कर्मकांड भाषा टीका (सं. १७२४) तथा ४. नयचक्र वचनिका (सं. १७२६) हैं। उनके अतिरिक्त 'सितपट चौरासी बोल' और 'भाषा भक्तामर' नामक पद्य रचनाएँ भी हैं। उनके संबंध में डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है,—'ये ही ऐसे सर्वप्रथम जैन पंडित थे, जिन्होंने संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद, वचनिकाएँ आदि हिंदी गद्य में लिखने की परिपाटी को व्यवस्थित रूप से चालू किया। अपने जीवन में लगभग एक सहस्र पृष्ठों से अधिक हिंदी गद्य की उन्होंने रचना की थी। उनकी पुत्री जैनुलदे भी एक उच्च शिक्षा प्राप्त विदुषी महिला थी[१]।'

औरंगजेबी काल और उसके बाद की स्थिति—मुगल सम्राट औरंगजेब की धार्मिक नीति अपने पूर्वजों की नीति से सर्वथा भिन्न थी। उसके शासन काल में धार्मिक सहिष्णुता के स्थान पर मुस्लिम धर्मान्धता का बोलबाला था। उस समय ब्रजमंडल के प्रायः समस्त विख्यात हिंदू मंदिरों और देव-स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। उसी काल में यहाँ के जैन मंदिर और स्तूप भी नष्ट किये गये होंगे; यद्यपि इतिहास में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। औरंगजेब के शासन-काल के पश्चात् ब्रज में जैन देवालयों और मंदिरों की संख्या अत्यंत सीमित रह गई थी और वे भी अत्यंत जीर्ण अवस्था में शताब्दियों तक पड़े रहे थे। उस काल में जैन धर्म की स्थिति अत्यंत शिथिल और प्रभावशून्य हो गई थी। मथुरा के दो प्रसिद्ध जैन केन्द्र कंकाली टीला और चौरासी में से कंकाली टीला तो पहिले ही वीरान हो गया था; फिर चौरासी का सिद्ध क्षेत्र भी महत्वशून्य हो गया। बटेश्वर और आगरा केन्द्रों की भी तब प्रतिष्ठा भंग हो गई थी।

---

(२) ब्रज भारती (वर्ष १४, अंक ४, पृष्ठ २१)

तत्कालीन ग्रंथ-रचना—इस काल में जैन धर्म की स्थिति कमजोर हो जाने पर भी उसके विद्वानों द्वारा पर्याप्त ग्रंथ-रचना होती रही थी। ब्रज में निवास करने वाले कवियों ने इस काल में लौकिक शृंगारप्रधान रचनाएँ अधिक की हैं, जिनके कारण इसे 'रीति काल' कहा गया है। किंतु जैन ग्रंथकारों ने तत्कालीन प्रवृत्ति को नहीं अपनाया था। वे लौकिक शृंगार का तिरस्कार करते हुए प्रायः आध्यात्मिक रचना ही करते रहे थे। पं० बनारसीदास ने लौकिक शृंगार की रचना करने वाले कवियों की भर्त्सना करते हुए लिखा था,—

> मांस की ग्रंथिन कुच कंचन-कलस कहें, कहें मुख चंद जो सलेषमा कौ घरु है।
> हाड़ के दशन आहि हीरा-मोती कहें ताहि, मांस के अधर ओठ कहें बिंबफरु है॥
> हाड़-खंभ भुजा कहें कौल-नाल काम जुधा, हाड़ ही के थंभा जंघा कहें रंभातरु है।
> यों ही झूठी जुगति बनावें औ कहावें कवि, एते पै कहें हमें शारदा कौ वरु है!॥

इस काल के ग्रंथकारों में भैया भगवतीदास अधिक प्रसिद्ध हैं। वे आगरा निवासी कटारिया गोत्रीय ओसवाल जैन साहूलाल के पुत्र थे। कविवर बनारसीदास के सदृश वे गृहस्थ होते हुए भी उच्च कोटि के आध्यात्मिक विद्वान और सुकवि थे। 'भैया' उनका काव्योपनाम था। वे प्राकृत, संस्कृत और ब्रजभाषा–हिंदी के साथ ही साथ उर्दू, फारसी, गुजराती, मारवाड़ी, बंगला आदि भाषाओं के भी ज्ञाता थे। उनका रचना-काल सं. १७३१ से १७५५ तक है। उनकी छोटी-बड़ी ६७ रचनाओं का संग्रह 'ब्रह्म विलास' नामक ग्रंथ में सं. १७५५ में किया था। इस संग्रह की रचनाओं में 'चेतन कर्म चरित्र' (सं. १७३२), 'पुण्य पच्चीसिका' (सं. १७३३), 'उपदेश पच्चीसी' (सं. १७४१), 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'सुवा बत्तीसी' (सं. १७५३). 'स्वान बत्तीसी', वैराग्य पच्चीसी' परमात्म शतक' आदि चित्ताकर्षक और महत्वपूर्ण हैं। लौकिक शृंगार की रचना करने वाले तत्कालीन कवियों की उन्होंने बनारसीदास की भाँति ही निंदा की है। रीति काव्य के आचार्य केशवदास को उनकी प्रसिद्ध रचना 'कविप्रिया' के लिए उलाहना देते हुए उन्होंने कहा है,—

> बड़ी नीति लघु रीति करत है, वाय सरत बदबोय भरी।
> फोड़ा आदि फुगगुनी मंडित, सकल देह मनु रोग-दरी॥
> शोणित-हाड़-मांस मय मूरति, ता पर रीझत घरी-घरी।
> ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी!॥

आगरा निवासी खंडेलवाल जैन कवि भूधर (रचना-काल सं. १७७० के लगभग) ने भी शृंगारी कवियों की निंदा करते हुए लिखा है,—

> राग उदय जग अंध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गँवाई।
> सीख बिना नर सीखत है, विषयानि के सेवन की सुघराई॥
> ता पर और रचै रस–काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
> अंध असूझनि की अँखियान मे झोंकत हैं रज, राम दुहाई!॥

इस काल के अन्य जैन रचयिता और उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं,—आनंदघन श्वेतांबर जैन महात्मा थे, जो ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध शृंगारी कवि आनंदघन अथवा घनानंद से भिन्न थे। उनका समय सं. १७३५ के लगभग है। वे हिंदी और गुजराती दोनों के कवि थे। उनकी हिंदी रचना 'आनंदघन बहत्तरी' उपलब्ध है, जिसमें ज्ञान-वैराग्य के ७१ पद हैं। विनोदीलाल सहजादिपुर निवासी

गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन दरगाहमल्ल के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १६८० में हुआ था, और उन्होंने दीर्घायु प्राप्त की थी। वे अपने नाम के अनुरूप विनोदी स्वभाव के थे। उनकी दो रचनाएँ 'भक्तामर चरित्र' (सं. १७४७) और 'श्रीपाल विनोद' (सं. १७५०) उल्लेखनीय हैं। बुलाकीदास आगरा निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन साहु नंदलाल और विदुषी महिला जैनुलदे उपनाम जैनी के पुत्र थे। इस प्रकार वे पूर्वोक्त पांडे हेमराज के दौहित्र थे। बाद में वे दिल्ली जाकर रहने लगे थे; जहाँ उन्होंने अपनी माता की प्रेरणा से सं. १७५४ में 'पांडव पुराण' (भारत भाषा) की रचना की थी। द्यानतराय आगरा निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन श्यामदास के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १७३३ में और देहावसान सं. १७८१ के पश्चात् किसी समय हुआ था। जैन विद्वानों की सत्संग–गोष्ठी (शैली) से उनमें धार्मिक भावना का उदय हुआ था। उनकी रचनाएँ सरल, स्वाभाविक और अनुभवपूर्ण हैं, जिनका संकलन उन्होंने स्वयं सं. १७८० में 'धर्म विलास' के नाम से किया था। उस ग्रंथ को 'द्यानत विलास' भी कहते हैं। भुनकलाल एटा जिला के निवासी थे, किंतु बाद में वे आगरा के निकटवर्ती शकूराबाद (शिकोहाबाद) चले गये थे। वहाँ के सेठ अतिसुखराम की इच्छानुसार उन्होंने सं. १८४३ में 'नेमिनाथ के कवित्त' नामक रचना की थी। उसे उन्होंने 'ख्याल' की तत्कालीन लोक-काव्य शैली में रचा था। उनकी कविता का एक अंश प्रस्तुत है,—

नेमिनाथ को हाथ पकरि कैं, खड़ी भईं भावज सारी। ओढ़ें चीर तीर सरवर के तहाँ खड़ी हैं जदुनारी।।
बहुत विनय धरि हाथ जोरि करि, मधुरे स्वर गावैं गारी।।

गद्य रचना—जैन विद्वानों ने ब्रजभाषा–हिंदी में अनेक गद्य ग्रंथों की भी रचना की है। हिंदी गद्य–शैली के विकास की दृष्टि से इन ग्रंथों का बड़ा महत्व है। गद्य ग्रंथों की रचना पंडित बनारसीदास के काल से कुछ पहिले ही होने लगी थी[1]; किंतु अधिक प्रचलन उन्हीं के काल से हुआ है। बनारसीदास कृत गद्य ग्रंथ 'परमार्थ वचनिका' और उनके साथी धर्मदास कृत 'इष्टोपदेश' का अनुवाद तथा जगजीवन कृत 'नाटक समय सार' की टीका का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उनके परवर्ती पांडे हेमराज कृत गद्यात्मक टीका ग्रंथों का भी उल्लेख हो चुका है। इस काल के गद्यकारों में पं० दौलतराम और पं० टोडरमल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पं दौलतराम जयपुर राज्य के बसवा ग्राम निवासी खंडेलवाल वैश्य और एक प्रतिष्ठित राज कर्मचारी थे। सं. १७७५ के लगभग वे कुछ समय तक आगरा आकर रहे थे। वहाँ जैन विद्वानों के सत्संग से उन्हें धार्मिक ग्रंथ–रचना करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। फिर वे प्रायः ५०–५५ वर्ष तक निरंतर साहित्य–निर्माण करते रहे थे। उन्होंने लगभग एक दर्जन गद्य ग्रंथों की रचना की है। उनके ग्रंथों मे आदि पुराण, पद्म पुराण और हरिवंश पुराण की वचनिकाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। ये तीनों बड़े-बड़े गद्य ग्रंथ हैं। इनका अनुवाद करने में उन्हें कई वर्ष तक घोर परिश्रम करना पड़ा था। उनमें से पद्म पुराण की पूर्ति सं. १८२३ में, आदि पुराण की सं. १८२४ में और हरिवंश पुराण की सं. १८२९ में हुई थी। इनकी भाषा बहुत सरल है, किंतु उस पर राजस्थानी का प्रभाव है। "योगीन्द्रदेव कृत 'परमात्म प्रकाश' की और 'श्रीपाल चरित्र' की वचनिका भी उन्होंने बनाई थी। पं. टोडरमल जी 'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' की भाषा टीका अधूरी छोड़ गये थे। वह भी उन्होने पूरी की थी।" उनका रचना-काल प्रायः सं. १७७० से १८१९ तक है।

---

(१) हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५

पं. टोडरमल जी जयपुर निवासी खंडेलवाल दिगंवर जैन थे। वे एक क्रांतिकारी विद्वान, विख्यात तत्ववेत्ता और प्रसिद्ध लेखक थे। उनका जन्म सं. १७९३ के लगभग और देहावसान सं. १८२५ के लगभग हुआ था। इस प्रकार वे केवल ३२ वर्ष तक जीवित रहे थे; किंतु उसी अल्पायु में उन्होंने महान् कार्य कर दिखाया था। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ नेमिचंद्र स्वामी के प्राकृत 'गोम्मट सार' की वचनिका है, जिसकी श्लोक संख्या ४५ हजार के लगभग है। उस विशाल ग्रंथ की पूर्ति सं. १८१८ में हुई थी। उन्होंने प्राकृत ग्रंथ 'त्रैलोक्य सार' और गुणभद्र स्वामी कृत संस्कृत 'आत्मानुशासन' के गद्यानुवाद रूप वचनिकाएँ भी लिखी थीं। उनके असामयिक निधन के कारण दो अन्य ग्रंथ 'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' की वचनिका और 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' अधूरे रह गये थे। उनमें से प्रथम ग्रंथ की पूर्ति पं० दौलतराम ने सं. १८२७ में की थी। दूसरा ग्रंथ अधूरा होते हुए भी बड़ा महत्वपूर्ण है; क्यों कि जैन धर्म के हिंदी साहित्य की यही एक मात्र स्वतंत्र सैद्धांतिक रचना है, जब कि अन्य तात्त्विक ग्रंथ प्राकृत अथवा संस्कृत के अनुवाद हैं।

श्री दौलतराम और टोडरमल के अतिरिक्त इस काल के और भी कई गद्यकार थे। देवदत्त भदावर क्षेत्रीय अटेर निवासी ब्राह्मण थे। उन्होंने बटेश्वर के भट्टारकों की प्रेरणा से गुणभद्राचार्य कृत संस्कृत उत्तर पुराण के आधार पर विविध तीर्थंकरों से संबंधित पुराणों की रचना हिंदी मे की थी। उनकी अंतिम रचना संस्कृत काव्य 'स्वर्णाचल माहात्म्य' है, जिसे उन्होंने सं. १८४५ में रचा था। भूधर मिश्र शाहगंज आगरा के रहने वाले ब्राह्मण थे। प्रेमी जी ने लिखा है,--'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' नामक जैन ग्रंथ में अहिंसा तत्व की मीमांसा पढ़ने से आपको जैन धर्म पर भक्ति हो गई थी। फिर उन्होंने उक्त ग्रंथ की एक विशद भाषा टीका बनाई, जिसकी पूर्ति सं. १८७१ में हुई थी।' नंदराम आगरा निवासी अग्रवाल जैन थे। उन्होंने सं. १९०४ में योगीन्द्र देव कृत 'योगसार' नामक ग्रंथ की भाषा गद्य वचनिका लिखी थी[1]।'

शैव-शाक्त धर्म

कृष्ण-भक्ति की प्रतिक्रिया—शैव धर्म के उपास्य भगवान् शिव और शाक्त धर्म की उपास्या भगवती शक्ति के पारस्परिक संबंध तथा उन दोनों धर्मों की उपासना-भक्ति एवं तांत्रिक साधना में बहुत कुछ समानता होने के कारण वे आरंभ से ही एक-दूसरे के सहयोगी रहे हैं। जब से वैष्णव धर्म के विविध संप्रदायों का अधिक प्रचार हुआ है, तब से उन्होंने प्रायः सम्मिलित रूप में उनका विरोध भी किया है। किंतु इस काल में जब कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार हो गया, तब उन पर इसकी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण ब्रज के शैव धर्म के रूप में बड़ा परिवर्तन हो गया था। उसमें वामाचार की उग्र तांत्रिक साधना समाप्त हो गई थी; किंतु दक्षिणाचार की सौम्य साधना चलती रही, जिसका वैष्णव संहिताओं की तांत्रिक उपासना से अधिक विरोध नहीं था। दोनों धर्मों के विद्वान भी तब समन्वय का प्रयास करने लगे थे। किंतु शाक्त धर्म के साधक तब भी वामाचार की कुत्सित एवं हिंसामयी तांत्रिक साधना करते रहे थे। उसके कारण शाक्त और वैष्णव दोनों धर्मों के अंतर की खाई और भी चौड़ी हो गई थी। फलतः इस काल के सभी अवैष्णव संप्रदायों में शाक्त धर्म का ही कृष्णोपासक संप्रदायों द्वारा अधिक विरोध किया गया था।

(१) हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१, ५२, ७१ और ७६

शैव धर्म की तत्कालीन स्थिति—इस काल में वैष्णव और शैव धर्मों के भेद-भाव को कम करने और उनमें यथासंभव समन्वय करने का जो प्रयास किया गया था; वह उत्तरोत्तर बढ़ता रहा था। उस प्रकार का प्रयास करने वाले महात्माओं में गोस्वामी तुलसीदास प्रमुख थे। उन्होंने अपने अमर ग्रंथ 'रामचरित मानस' में भगवान् राम के मुख से कहलवाया है,—'शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ वास ॥' इस तरह उन्होंने रामोपासक भक्तों के लिए शिव के प्रति श्रद्धा रखना भी एक प्रकार से आवश्यक बतलाया था। ब्रज के कृष्णोपासक भक्तों ने शिव-भक्ति की वैसी आवश्यकता तो नहीं समझी थी; किंतु उन्होंने भगवान् शिव को 'परम भागवत' मान लिया था। उसके कारण ब्रजमंडल में शिव की उपासना-पूजा किसी न किसी रूप में निर्विरोध चलती रही थी। राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों के मानने वाले अनन्य भक्तों और परम रसिकों में तो नहीं; किंतु साधारण जनता में कृष्णोपासना के साथ ही साथ शिव की उपासना-पूजा भी होती रही थी।

ब्रज के तत्कालीन शैव केन्द्र—पौराणिक मान्यता के अनुसार मथुरा के रक्षक चार क्षेत्रपाल शिव हैं। वे उत्तर में गोकर्णेश्वर, दक्षिण में रंगेश्वर, पश्चिम में भूतेश्वर और पूर्व में पिप्पलेश्वर के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। ये शैव स्थान काफ़ी पुराने हैं; किंतु उनके मंदिरों और उनमें प्रतिष्ठित शैव मूर्तियों को समय-समय पर विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा क्षतिग्रस्त किया जाता रहा है। मुगल काल की धार्मिक सहिष्णुता से जब ब्रज में सभी धर्म-संप्रदायों के मंदिर बनवाये जाने लगे; तब मथुरा के इन प्राचीन शैव केन्द्रों में भी नये शिवालय बनवाये गये थे, और उनमें नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थीं। भूतेश्वर और गोकर्णेश्वर के शैव मठों में अनेक शैव साधु निवास करते थे। उन स्थानों में जो समाधियाँ बनी हुई हैं, वे उन्हीं साधुओं की हैं। रंगेश्वर की मूर्ति पर जो पीतल का कलेवर है, वह संभवतः इसी काल में किसी समय चढ़ाया गया था। मथुरा के प्राचीन शैव स्थानों में एक शिवताल भी है। उसका जीर्णोद्धार बनारस के राजा पटनीमल ने सं. १८६४ में कराया था।

मथुरा के अतिरिक्त ब्रज के अन्य लीला-स्थलों में भी अनेक शैव केन्द्र थे। उनमें वृंदाबन में गोपेश्वर तथा बनखंडी महादेव, गोवर्धन में चक्रेश्वर, कामवन में कामेश्वर और नंदगाँव में नंदीश्वर के शैव स्थान अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। आगरा जिला के प्राचीन स्थान शौरिपुर (बटेश्वर) में बटेश्वरनाथ के शैव स्थल की भी अधिक ख्याति रही है। ब्रजमंडल के इन सब शैव केन्द्रों की इस काल में बराबर मान्यता बनी रही थी।

शाक्त धर्म की तत्कालीन स्थिति—ब्रजमंडल में शक्तिवाद किसी न किसी रूप में सभी कालों में प्रचलित था; किंतु इसका अधिक प्रचार सदा से भारत के पूर्वी भाग, विशेषतया गौड़ (प्राचीन बंगाल) और कामरूप (प्राचीन असम) प्रदेशों में रहा है। विवेच्य काल में जब ब्रजमंडल में वैष्णव धर्म के विविध संप्रदाय, विशेष कर राधा-कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों का प्रचलन हो गया, तब भी पूर्वी प्रदेशों में अवैष्णव धर्म-संप्रदायों का ही अधिक प्रचार था। वल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि उस काल में प्रयाग से काशी तक के गाँवों में सर्वत्र देवी की पूजा होती थी। वहाँ वैष्णव धर्म के देवताओं को कोई नहीं पूजता था[1]। श्री वल्लभाचार्य

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता (अग्रवाल प्रेस, मथुरा), पृष्ठ ३७२

ने अनेक स्थानों पर शाक्तों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्हें कृष्ण–भक्ति की दीक्षा दी थी। इसी प्रकार निंबार्क संप्रदाय के आचार्य हरिव्यास जी और राधावल्लभीय महात्मा चतुर्भुजदास जी ने भी विविध स्थानों के शाक्तों की हिंसामयी उपासना को बंद करा कर उन्हें राधा-कृष्णोपासना की ओर प्रेरित किया था।

कालांतर में जहाँ-जहाँ वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक संप्रदायों का प्रचार हुआ, वहाँ-वहाँ अन्य धर्म–संप्रदायों की लोकप्रियता कम हो गई थी। उन धर्म–संप्रदायों में भी शाक्त धर्म के प्रचार में अधिक कमी आई थी। ब्रजमंडल में तो शाक्त धर्म को अपना अस्तित्व क़ायम रखना भी कठिन हो गया था। उसका कारण शाक्तों के वामाचार की हिंसामयी कुत्सित साधना थी; जिसका निर्गुणिया संतों और कृष्णोपासक भक्तों ने सम्मिलित रूप से विरोध किया था। संत कबीरदास ने शाक्तों की अत्यंत कटु शब्दों में निंदा की थी। गत पृष्ठों में हम उनके संबंध में लिख चुके हैं। यहाँ पर हम राधा–कृष्णोपासक भक्तों के तत्संबंधी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालेंगे।

भक्तों द्वारा शाक्तों की कटु आलोचना और उसका परिणाम—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ब्रज के तत्कालीन राधा–कृष्णोपासक भक्त जन अपनी उपासना–भक्ति में तल्लीन रहने वाले समदर्शी महात्मा थे। वे किसी अन्य धर्म–संप्रदाय की निंदा–स्तुति करने में कोई रुचि नहीं रखते थे। किंतु ऐसा ज्ञात होता है, विवेच्य काल में शाक्त धर्म के वाममार्गियों की कुत्सित साधना मद्य, मांस और व्यभिचार के स्वच्छंद प्रयोग के कारण इतनी विकृत हो गई थी कि उससे जनता में दुराचार फैलने लगा था। उस काल के राधा–कृष्णोपासक भक्त जन उससे बड़े क्षुब्ध थे, और वे शाक्तों की विकृत साधना एवं उनके दूषित आचार–विचारों की समालोचना करने को बाध्य हुए थे। उन भक्त जनों में भी राधावल्लभीय महात्मा सेवक जी, हरिदास संप्रदाय के आचार्य विहारिनदासजी और भक्तप्रवर हरिराम जी व्यास ने शाक्तों की बड़े कटु शब्दों में आलोचना की है।

राधावल्लभीय महात्मा दामोदरदास उपनाम सेवक जी की सुप्रसिद्ध रचना 'सेवक वाणी' के दो प्रकरणों में शाक्तों की निंदा की गई है। उन्होंने श्री हित हरिवंश जी के अनुगामियों को सावधान करते हुए कहा है कि वे शाक्तों के संग मे अपने दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ नष्ट न करें। उनके मतानुसार शाक्तों के संग में रहना अग्नि की ज्वाला से जलते रहना जैसा है; जब कि साधु–संतों का सत्संग शीतलता प्रदान करता है[1]।

हरिदास संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य विहारिनदास जी कृत 'सिद्धांत की साखी' के दोहों में शाक्तों की अत्यंत कटु शब्दों मे निंदा की गई है। उन्होने कहा है, शाक्तों का संग कदापि नहीं करना चाहिए, चाहें वे कितने ही बड़े संभ्रांत और श्रेष्ठ विद्वान ही क्यों न हो। उनका तो यहाँ तक कहना है, शाक्त के घर का आतिथ्य भूल कर भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, चाहें विपत्ति पड़ने पर

---

(१) श्री हरिवंश वचन्न प्रमानिकैं, साकत संग सबैं जु विसारत।
संसृति मांझ 'धरचाइ कै पायो जु, मानुप देह वृथा कत डारत ! × ×
साकत संग अगन्नि लपट्ट, लपट्ट जरन्त क्यों संगत कीजै।
साधु सुबुद्धि समान सुसंतनि, जानिकैं सीतल संगत कीजै ॥ (सेवक-वाणी १४–१५)

स्वान का मांस भी खाना पड़े[1] ! वृंदावन के सुप्रसिद्ध महात्मा और ब्रजभाषा के विख्यात भक्त-कवि हरिराम जी व्यास कृत 'सिद्धांत की साखी' में शाक्तों की बड़े कटु शब्दों में और अत्यंत विस्तार के साथ निंदा की गई है। उनका कहना है, पत्नी के शाक्त मतानुगामिनी होने से पति को निश्चय ही नरक में वास करना पड़ता है। ऐसी स्त्री को छोड़ कर वेश्या से भी विवाह करना अच्छा है ! शाक्त पुत्र की अपेक्षा तो हरि का नाम जपने वाली कन्या ही अच्छी है। हरि-भक्त का पुत्र यदि शाक्त हो, तो उसे किसी दूसरे का पुत्र समझना चाहिये ! उन्होंने कहा है, शाक्त भाई-बंधु शत्रु के समान हैं; उन्हें छोड़ देना चाहिए। उनकी संगति से नरक में वास करना पड़ता है। शाक्त सगे-संबंधी यदि इंद्र-कुबेर के समान भी हों, तब भी उनसे नहीं मिलना चाहिए ! उनका कथन है, शाक्तों के गाँव में जाने से तो मार्ग में ही पड़ा रहना अच्छा है। शाक्तों का बनाया हुआ भोजन वैष्णव भक्त के लिए अखाद्य है। शाक्त ब्राह्मण से चांडाल भी अच्छा है। भक्त जन के लिए शाक्त से मिलने की अपेक्षा सिंह से भेंट कर मर जाना श्रेयष्कर है ! व्यास जी शाक्तों के अनाचारों के कारण उनसे इतने रुष्ट थे कि उन्होंने उनको शूकर-कूकर की उपमा दी है, और उनका मुंह काला करने तक को कहा है[2] !

ब्रज के विविध संप्रदायों के आचार्यों और भक्त जनों द्वारा शाक्तों की ऐसी कटु आलोचना किये जाने का यह परिणाम हुआ कि ब्रजमंडल में शाक्त धर्म का प्रचार बहुत कम हो गया था, और उसकी वाममार्गीय कुत्सित उपासना तो प्राय: समाप्त ही हो गई थी। वैसे दक्षिणाचार की शक्ति-साधना और लोक की देवी-पूजा किसी न किसी रूप में चलती रही थी। ऐसे देवी-पूजकों ने उस काल में ब्रज के कई स्थानों में देवी के कुछ मंदिर भी बनवाये थे।

---

(१) साकत संग न जाइयै, जो सौने कौ होय। साधक सिद्धनि को गनें, किते गये गथ खोय ।।
साकत संग न जाइयें, जौरु बड़ौ विद्वांस। सींचत अरंड करेंडुवा, होय न भलौ गवांस ।।
साकत के घर पाहुनौ, भूलि भक्त जिन जाहु। 'बिहारीदास' बिपतौ भली, मांस स्वान कौ खाहु ।।
—सिद्धांत की साखी, दोहा सं. ५०-५२

(२) साकत नारि जु घर में राखै, निश्चै नरक निवासी।
जिहिं घर साधु न आवत कबहूँ, गुरु-गोविंद मिलासी ।।
साकत स्त्री छाँड़ियै, वेश्या करियै नारि। हरि-दासी जो ह्वै रहै, कुलहिं न आवै गारि ।।
नाम जपत कन्या भली, साकत भलौ न पूत। छेरी के गल गलथना, जामैं दूध न मूत ।।
होइ भक्त कें साकत, जान्यों अन्य काहु को पूत। ब्रह्मा कें नारद, व्यास के विदुर, सुक अवधूत ।।
साकत भैया सत्रु सम, वेगहिं तजियै 'व्यास'। जो वाकी संगति करै, करिहै नरक निवास ।।
साकत सगौ न भेटियै, इंद्र-कुबेर समान। सुंदर गनिका गुन भरी, परसत तनु की हानि ।।
साकत सगौ न भेटियै, 'व्यास' सु कंठ लगाय। परमारथ लै जाहिगौ, रहै पाप लपटाय ।।
'व्यास' डगर में परि रहै, सुनि साकत कौ गाँव। मनसा-वाचा-कर्मना, पाप महा जो जाव ।।
'व्यास' बिगूचे जे गए साकत-राधौ खाय। जीवत बिष्टा स्वान कौ, मरै नरक में जाय ।।
'व्यास' बाघ भुज भेटियै, सहियै जिय की हानि। साकत भक्त न भेटियै, पाछलियै पहिचानि ।।
साकत, सूकर, कूकरा, इनकी मति है एक। कोटि जतन परबोधियै, तऊ न छाँड़ै टेक ।।
करि मन, साकत कौ मुँह कारौ।
साकत मोहि न देख्यौ भावै, कहा बूढ़ौ कहा बारौ ।। ('व्यास वाणी' में सिद्धांत की साखी)

रामानंदी संप्रदाय

स्वामी कीलदास जी (सं. १५८१ – सं. १६६१)—

जीवन-वृत्तांत—वे स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में स्वामी कृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे। गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि स्वामी रामानंद जी के प्रधान शिष्य स्वामी अनंतानंद और उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी का मथुरामंडल से घनिष्ठ संबंध था। उनके पश्चात् स्वामी कीलदास के काल में तो मथुरा रामानंदी संप्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र ही बन गया था।

मथुरा के प्रयागघाट स्थित गलताकुंज के अध्यक्ष परांकुशाचार्य जी ने स्वामी कीलदास के संबंध में एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित की थी। इसमें लिखा गया है,—'स्वामी कीलदास जी का जन्म सं. १५८१ की आषाढ़ शु. १५ को राजस्थान में बांदीकुई स्टेशन के पास बड़ियाल नामक ग्राम के पारीख ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके जन्म का नाम 'सुखराम', पिता का नाम सुमेरुदेव और माता का नाम गंगाबाई था। जब वे ८ वर्ष के थे, तब उनके पिता ने उनका उपनयन संस्कार करा कर उन्हें स्वामी अनंतानंद के संस्कृत विद्यालय में विद्याध्यन करने के लिए मथुरा भेज दिया था। मथुरा में ही उन्होंने कृष्णदास पयहारी जी से दीक्षा ली थी। आरंभ में उनकी बुद्धि कुंठित थी, जिसे तीव्र करने के लिए उनके गुरु जी ने मंत्रमयी खदिर कील से उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मंत्र लिखा था! उस दिन से उनका नाम सुखराम की अपेक्षा 'कीलदास' प्रसिद्ध हो गया था[1]।'

'रामरसिकावली' मे उनके संबंध में भिन्न विवरण मिलता है। उसके अनुसार वे गुजरात के एक खत्री कुल में उत्पन्न हुए। विरक्त हो जाने के उपरांत वे एक बार दिल्ली गये थे।' जिस समय वे वहाँ समाधि-अवस्था में ध्यान-मग्न होकर एक शिला पर बैठे हुए थे, उसी समय सुलतान की सवारी निकल रही थी। उन्हें जड़वत् निश्चेष्ट बैठा हुआ देख कर किसी दुष्ट ने उनके मस्तक मे लोहे की कील ठोक दी थी। किंतु उससे उन्हें कोई पीड़ा नहीं हुई, और वह कील स्वतः मस्तक में ही गल गई थी! तभी से उनका नाम कीलदास हो गया था[2]। इस किंवदंती की अपेक्षा कील से बीजमंत्र लिखने का पूर्वोक्त कथन अधिक बुद्धिगम्य मालूम होता है। कारण कुछ भी रहा हो, किंतु वे अपने मूल नाम की अपेक्षा कीलदास के नाम से ही प्रसिद्ध हुए थे।

वे कृष्णदास पयहारी के प्रधान शिष्य थे। अपने गुरुदेव के देहावसान के पश्चात् वे जयपुर स्थित गलताश्रम के आचार्य बनाये गये थे, किंतु अतिशय त्याग-वृत्ति और एकात-प्रियता के कारण वे वहाँ बहुत कम रहते थे। उन्होंने आश्रम का प्रबंध छोटे कृष्णदास जी को सौंप दिया था। वे प्रायः मथुरा में रहते थे और यमुनातट के निकटवर्ती एक गुफा में भक्ति-साधना किया करते थे। नाभा जी ने उनके संबंध में कहा है,—वे दिन-रात भगवान् रामचंद्र के भजन-ध्यान में मग्न रहते थे। सांसारिक वासना और अहं को जीत कर उन्होंने भजनानंद प्राप्त किया था। सांख्य, योग और भक्ति का प्रौढ़ ज्ञान उन्हें हस्तामलक सदृश सुलभ था। उन्होने भीष्म पितामह की भाँति मृत्यु को वशीभूत कर लिया था[3]।

---

(१) सिद्ध योगी श्री कीलदास, पृष्ठ १–२

(२) भक्तमाल–राम रसिकावली, पृष्ठ ५७३–५७५

(३) भक्तमाल, छप्पय सं. ४०

प्राचीन व्रज और सात्वत - पंचरात्र धर्म—

उद्गम स्थान और आरंभिक प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, श्रीकृष्ण द्वारा प्रचलित धर्म को सर्वप्रथम उनके परिकर गोप-ग्वालों, यादवों तथा पांडवों ने अंगीकार किया था, और उसका अधिक प्रचार शूरसेन निवासी यादवों की सत्वत शाखा में हुआ था। सत्वत यादवों में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण ही उस धर्म को पहिले 'सात्वत-धर्म' कहा गया और बाद में उसे 'पंचरात्र धर्म' कहा जाने लगा था। इस धर्म का उद्गम स्थान प्राचीन व्रजमंडल अर्थात् शूरसेन प्रदेश था और वहीं पर उसका आरंभिक प्रचार भी हुआ था। इस प्रकार यह धर्म अपने उदय-काल से ही व्रज से संबंधित रहा है।

श्रीकृष्ण की महत्ता और वासुदेव से उनकी अभिन्नता—सात्वत-पंचरात्र धर्म में जिन भगवान् वासुदेव की उपासना प्रचलित हुई थी, वे नारायण अथवा विष्णु से अभिन्न और उन्हीं के अपर नाम से विख्यात थे। जब श्रीकृष्ण के महान् गुणों के कारण उन्हें अलौकिक महापुरुष ही नहीं, वरन् नारायण-विष्णु के अवतार और भगवान् वासुदेव से अभिन्न माना जाने लगा, तब सात्वत-पंचरात्र धर्म में स्वयं उन्हीं की उपासना होने लगी थी। इस धर्म के उपास्य भगवान् वासुदेव के रूप में श्रीकृष्ण की उपासना होने का कारण उनके अलौकिक गुणों के साथ ही साथ उनकी अतिशय लोकप्रियता भी थी।

श्रीकृष्ण के महान् गुणों का प्राकट्य और उनकी अपूर्व लोकप्रियता का आरंभ उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। जब वे व्रज की ग्रामीण गोप-बस्ती में रहते थे, तब उनके अद्भुत गुणों के कारण वहाँ के गोप, गोपी और गोप-बालक उनके पीछे बावले बने फिरते थे! जब वे व्रज से मथुरा चले गये, तब कंस जैसे पराक्रमी राजा का वध करने से उन्हें वहाँ के यादवों ने अपना नेता मान लिया था। मथुरा से द्वारका जाने पर जब उनके राज्य और वैभव का अधिक विस्तार हुआ, तब उनके प्रशंसकों और भक्तों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। उस समय के अनेक विशिष्ट व्यक्ति उन्हें भगवान् का अवतार मानने लगे थे।

महाभारत के सभापर्व से ज्ञात होता है, उस काल के बड़े-बड़े राजाओं, विद्वानों और वृद्ध-जनों की सभा में जब अग्रपूजा के लिए सर्वोपरि आसन देने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तब भीष्म पितामह जैसे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध महानुभाव ने श्रीकृष्ण के नाम का ही प्रस्ताव किया था। उसके समर्थन में उन्होने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया, जिसमें श्रीकृष्ण के अलौकिक गुणों का कथन करते हुए उन्हें 'अर्च्यतम्' और 'पुरुषोत्तम' बतलाया था। उन्होंने कहा,—वेद, वेदांग, विज्ञान और बल में कृष्ण से बढ़कर इस लोक में और कौन है? ब्राह्मण की विद्या-बुद्धि और ज्ञान तथा क्षत्रिय के बल-पौरुष का उनमें जैसा समन्वय हुआ है, उसके कारण उन्हीं की अग्रपूजा होनी चाहिए। भीष्म पितामह के अतिरिक्त महामुनि व्यास भी श्रीकृष्ण में पूज्य भाव रखते थे। जब अर्जुन का मोह दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे गीता-उपदेश दिया था, तब तो उनकी गणना अपने काल के सर्वश्रेष्ठ धर्मवेत्ताओं में होने लगी थी।

इस प्रकार महाभारत काल में जब श्रीकृष्ण का अलौकिक महत्व स्थापित हो गया, तब उन्हें भगवान् वासुदेव से अभिन्न माना जाने लगा। वसुदेव के पुत्र होने के कारण वे वैसे भी वासुदेव कहलाते थे। फिर भी उस काल के कुछ महत्वाकांक्षी राजाओं ने 'वासुदेव' कहे जाने के लिए श्रीकृष्ण से प्रतिद्वंदिता की थी। महाभारत में उन राजाओं के नाम और उनकी [illegible]

वे परम तपस्वी और सिद्ध योगी थे। मथुरा में यमुना के प्रयागघाट के समीपवर्ती जिस गुफा में रह कर वे भजन, ध्यान और तप किया करते थे; उसी के निकट उनका मठ था। मथुरा का वह स्थल अभी तक 'कीलमठ' के नाम से प्रसिद्ध है, और उनकी वह गुफा भी अद्यावधि विद्यमान है। कीलमठ के समीप का एक मोहल्ला 'रामजीद्वारा' कहलाता है, जहाँ भगवान् रामचंद्र का एक प्राचीन मंदिर है। राम नवमी के दिन वहाँ पर बड़ा भारी मेला लगता है। प्रयागघाट पर 'गलताकुंज' है, और उसके निकट यमुना का दूसरा घाट 'रामघाट' के नाम से प्रसिद्ध है। इन सब से ज्ञात होता है कि स्वामी कीलदास के कारण उस काल में मथुरा रामानंदी संप्रदाय का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था।

मुगल सम्राट अकबर के प्रधान सेनापति आमेर-नरेश मानसिंह कीलदास के परम भक्त कहे जाते हैं। जब वे आगरा में रहते थे, तब प्रायः उनके दर्शनार्थ मथुरा आया करते थे। कीलदास का देहावसान सं. १६६१ को माघ शु. १२ को मथुरा में ही हुआ था। मथुरा गलताकुंज की गुरु-परंपरा स्वामी कीलदास से मानी जाती है। श्री परांकुशाचार्य के लेखानुसार वे कीलदास के पश्चात् गलता-गद्दी के १३ वें आचार्य थे।

समकालीन रामानंदी भक्त और उनकी गद्दियाँ—रामानंदी गुरु-परंपरा से ज्ञात होता है कि स्वामी कृष्णदास जी पयहारी के कीलदास सहित २४ शिष्य थे। स्वामी कीलदास जी के उन गुरु-भाइयों में स्वामी अग्रदास, नारायणदास, सूरजदास और कल्याणदास का ब्रज से घनिष्ट संबंध सिद्ध होता है। ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' के दोहा सं. ८२ में जिन 'सूरज' और 'कल्यान' का नामोल्लेख हुआ है, वे हमारे मतानुसार पूर्वोक्त रामानंदी भक्त जन ही थे। ध्रुवदास के कथन से ज्ञात होता है कि वे दोनों 'बड़ाई' छोड़ कर ब्रज के संकेत नामक स्थान में भजन-ध्यान किया करते थे[१]। हमारा अनुमान है, उनमें से सूरज या सूरदास मुगल सम्राट अकबर के दरबारी गायक थे, और कल्याणदास भी कोई उच्च पदाधिकारी थे। बाद में वे दोनों विरक्त होकर पयहारी जी के शिष्य हो गये थे। उनका साधना-स्थल ब्रज का संकेत नामक स्थान था। उनमें से सूरजदास को पहिले अष्टछापी सूरदास समझा जाता था, और बाद में सूरदास मदनमोहन माना जाता रहा; किंतु हमने सिद्ध किया है कि वे उन दोनों से भिन्न तीसरे सूरजदास थे, जो रामानंदी संप्रदाय के वैरागी भक्त थे। पहिले वे संकेत में निवास करते थे, किंतु बाद में बनारस जा कर रहने लगे थे। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही अकबरी दरबार के मीरमुंशी अबुलफजल ने सं. १६४२ में पत्र लिखकर उनसे अकबर के 'दीन इलाही' को स्वीकार करने का आग्रह किया था[२]।

मनोहरपुरा की गद्दी—मथुरा नगर के मनोहरपुरा मोहल्ला में, जहाँ अब श्री दीर्घविष्णु जी का मंदिर है, पहिले एक रामानंदी गद्दी थी; जो परवर्ती सुलतानों और सूरियों के शासन काल में विद्यमान थी। सं. १६०६ में उस गद्दी के महंत द्वारकादास नामक कोई रामानंदी संत थे; जो स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में चौथी पीढ़ी में हुए थे। इसका उल्लेख उक्त द्वारकादास के एक शिष्य सासदास कृत 'भगति भावती' नामक रचना में हुआ है[३]। इसमे द्वारकादास जी की गुरु-परंपरा इस प्रकार बतलाई गई है,—'द्वारकादास के गुरु गयेशानंद, गयेशानंद के गुरु अनंतानंद और

---

(१) सेयो नीकी भाँति सों, श्री संकेत स्थान। रह्यो बड़ाई छाँड़िकें, 'सूरज' 'द्विज कल्यान'॥
(२) देखिये हमारा लेख,—'बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास' (ब्रज भारती, वर्ष १३, अंक २)
(३) देखिये श्री अगरचंद नाहटा का लेख,—'मथुरा में रचित तीन हिंदी ग्रंथ (,, वर्ष १३, अंक ३)

अनंतानंद के गुरु रामानंद।' इस गुरु-परंपरा के अनुसार गयेशानंद श्री पयहारी कृष्णदास के गुरु-भाई थे, जिनका नामोल्लेख नाभा जी ने भी अनंतानंद जी के शिष्यों में किया है[1]। नाभा जी ने भक्तवर द्वारकादास जी के संबंध में बतलाया है कि भगवान् रामचंद्र के चरणों में उनका सच्चा अनुराग था। उन्होने पुत्र-कलत्र, धन-धाम से उदासीन होकर सांसारिक मोह-ममता का परित्याग किया था। वे कीलदास जी की कृपा से भजन में प्रवृत्त होकर अज्ञान-अविद्या का नाश करने में समर्थ हुए थे। अंत में उन्होंने अष्टांग योग द्वारा अपने नश्वर शरीर को छोड़ा था[2]। नाभा जी के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि द्वारकादास जी गयेशानंद जी के शिष्य होते हुए भी कीलदास जी से भी लाभान्वित हुए थे। उन दोनों वैरागी भक्तों का एक ही काल में मथुरा में निवास होने से वैसा होना स्वाभाविक ही था।

रामानंदी संप्रदाय की उस गद्दी की परंपरा सं. १६०६ के पश्चात् कब तक रही थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। ऐसा मालूम होता है, मुगल सम्राट अकबर के काल से लेकर शाहजहाँ तक उस गद्दी की परंपरा अक्षुण्ण रही थी। उसके पश्चात् औरंगजेब के शासन काल में उक्त गद्दी का देव-स्थान नष्ट हो गया था; किंतु उसका धार्मिक महत्व फिर भी बना रहा था। इस समय वहाँ श्री दीर्घविष्णु जी का मंदिर है, किंतु उसका रामानंदी संप्रदाय से कोई संबंध नहीं है।

गो० तुलसीदास का ब्रज से संबंध—गो० तुलसीदास हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के साथ ही साथ रामानंदी भक्तों में भी सर्वोपरि थे। उन्हें स्वामी रामानंद की शिष्य-परंपरा में नरहरिदास अथवा नरहर्यानंद का शिष्य माना जाता है। स्वामी रामानंद जी राम-भक्ति की प्रधानता स्थापित करने वाले रामावत संप्रदाय के प्रवर्त्तक अवश्य थे; किंतु घर-घर में राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करने और जन-जन में रामोपासना की भावना को जागृत करने का श्रेय गो. तुलसीदास जी को है। उनकी अमर रचना 'रामचरित मानस' द्वारा राम-भक्ति का जैसा व्यापक प्रचार हुआ है, वैसा किसी भी अन्य साधन से नही हुआ।

गोस्वामी जी की अधिकाश रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं, और एक 'श्री कृष्ण गीतावली' कृष्ण-भक्ति का भी उत्कृष्ट काव्य है। इन रचनाओं के अतिरिक्त उनका ब्रज से कोई खास संबंध नहीं माना जाता। उनका जन्म-स्थान राजापुर कहा जाता है, और वे जीवन पर्यंत चित्रकूट, अयोध्या और वाराणसी जैसे ब्रज से दूरस्थ स्थानों में ही रहे थे। वल्लभ संप्रदाय के वार्ता साहित्य में ब्रज के विख्यात भक्त-कवि नंददास को तुलसीदास का छोटा भाई बतलाया गया है[3]। इसके साथ ही वार्ता का उल्लेख है, जब नंददास से मिलने के लिए तुलसीदास ब्रज में आये थे, तब वे वहाँ की भक्ति-भावना से बड़े प्रभावित हुए थे[4]। वार्ता के उक्त कथन से गो. तुलसीदास का ब्रज से कुछ संबंध स्थापित होता है; किंतु जब से सोरों की महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश मे आई है, तब से यह संबंध और भी बढ़ गया है। इस सामग्री से जहाँ वार्ता के कथन की पुष्टि हुई है, वहाँ इससे तुलसीदास और नंददास के शृंखलाबद्ध जीवन-वृत्त पर भी प्रकाश पड़ता है।

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. ३७
(२) वही , छप्पय सं. १८२
(३) नंददास की वार्ता, प्रसंग १ (दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खंड, पृष्ठ २५६)
(४) वही , प्रसंग ४ (वही , ,, , पृष्ठ २७१-२७४)

वार्ता साहित्य और सोरों सामग्री—हिंदी साहित्य के अधिकांश विद्वानों ने इन दोनों को अप्रामाणिक मान कर इनकी उपेक्षा की है ! इधर २५–३० वर्षों में अनेक विद्वानों ने वार्ता साहित्य और सोरों सामग्री के पक्ष में युक्ति और प्रमाण के साथ इतना अधिक लिखा है कि अब इनकी उपेक्षा करना संभव नहीं है। जहाँ साम्प्रदायिक और साहित्यिक विद्वानों ने वार्ता साहित्य की असंदिग्धता सिद्ध की है; वहाँ सोरों और कासगंज के सर्वश्री गोविंदवल्लभ भट्ट, रामदत्त भारद्वाज, भद्रदत्त शर्मा और वेदव्रत शर्मा जैसे शोधक विद्वानों ने सोरों सामग्री को बड़ी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अब वार्ता साहित्य और सोरों सामग्री दोनों को संदिग्ध अथवा अप्रामाणिक मानने का कोई कारण नहीं रहा। ऐसी स्थिति में उनका नंददास और तुलसीदास विषयक कथन भी स्वीकार करने योग्य है।

सोरों सामग्री के अनुसार गो. तुलसीदास का जन्म सं. १५६८ की श्रावण शु. ७ शुक्रवार को शूकरक्षेत्र (सोरों या सोरम, ज़िला एटा) में हुआ था[१]। वे नंददास के ताऊ के पुत्र अर्थात् भाई थे, आयु में उनसे बड़े थे। उन दोनों ने वहाँ के नरहरिदास से शिक्षा प्राप्त की थी[२]। सोरों व्रजभाषा-क्षेत्र का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल है, और उसका व्रजमंडल से परंपरागत संबंध रहा है। उक्त स्थान में जन्म लेने, वहीं पर अपना आरंभिक जीवन व्यतीत करने और वहीं के एक रामानंदी विद्वान से विद्याध्यन करने, फिर अपनी अधिकांश रचनाएँ वहीं की व्रजभाषा में लिखने से गो. तुलसीदास का व्रज से घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाता है।

वार्ता साहित्य में नंददास से मिलने के लिए गो. तुलसीदास के व्रज में आने का जो उल्लेख मिलता है, उसकी पुष्टि सोरों सामग्री से भी होती है। सं. १७०० के लगभग लिपिबद्ध 'श्री गोकुलनाथ जी के वचनामृत का संग्रह' नामक एक वार्ता पोथी के आधार पर हमने गो. तुलसीदास के व्रज में आने का आनुमानिक काल सं. १६२६ लिखा था[३]। सोरों सामग्री में उनके व्रज में आने का निश्चित काल सं. १६२८, माघ शु. ५ मंगलवार बतलाया गया है[४]। इसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। वार्ता साहित्य और सोरों सामग्री दोनों से ही ज्ञात होता है कि व्रज में आने पर गो. तुलसीदास अपने भाई नंददास से मिलने गोवर्धन गये, और वहाँ से गोकुल गये थे। वे महात्मा सूरदास और गो. विट्ठलनाथ जी से मिल कर बड़े प्रभावित हुए थे।

कतिपय किंवदंतियाँ और उनकी प्रामाणिकता—गो. तुलसीदास की व्रज-यात्रा से संबंधित कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। इनमें सांप्रदायिक दृष्टिकोण से गो. तुलसीदास की अनन्य राम-भक्ति का कथन किया जाता है। उनमें से एक किंवदंती से ज्ञात होता है, जब गो. तुलसीदास व्रज में आये थे, तब उन्होंने यहाँ पर कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार देखा था। वे यह देख कर चकित रह गये कि यहाँ पर चैतन्य प्राणी ही नहीं, वरन् जड़ वृक्ष-वनस्पति आदि भी कृष्ण के रंग में रँगे हुए है ! तभी उनके मुख से अकस्मात निकल पड़ा था,—'क्या इस व्रजभूमि में राम से कुछ वैर है कि उनका

---

(१) अविनाशराय ब्रह्मभट्ट द्वारा सं. १६७७ में लिखित 'तुलसी प्रकाश' के दोहे सं. २५–२६

(२) नंददास के पुत्र द्वारा सं. १६७० में लिखित 'श्री शूकरक्षेत्र माहात्म्य' के दोहे सं. २-३-४, और 'तुलसी प्रकाश' के छंद सं. ४५, दोहा सं. ५८–५९

(३) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १२९ और ३०३–३०४ तथा सूर-निर्णय, पृष्ठ ९४

(४) तुलसी-प्रकाश, दोहा सं. १३२–१३३

नाम तक लेने वाला यहाँ कोई नहीं मिलता है[1] !' दूसरी किंवदंती से ज्ञात होता है, जब गोस्वामी
तुलसीदास गोवर्धन के मंदिर में गये, तब वे श्रीनाथजी के दर्शन कर अत्यंत प्रसन्न हुए थे। फिर भी
अपने उपास्य भगवान् राम की अनन्य भक्ति के कारण वे श्रीनाथ जी के सन्मुख नतमस्तक नहीं
हुए थे। उन्होंने श्रीनाथ जी से प्रार्थना की,—'भगवन् ! मुझे तो आप राम के रूप में ही दर्शन दें।
कहते हैं, भक्त की टेक रखने के लिए श्रीनाथ जी ने उन्हें धनुर्धारी राम के रूप में दर्शन दिया और
तभी तुलसीदास ने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया था[2] !

ये दोनों किंवदंतियाँ कट्टर रामोपासक संप्रदायवादियों द्वारा प्रचलित की हुई जान पड़ती हैं।
इनमें सत्य लेश मात्र भी नहीं है। कारण यह है, न तो व्रज में कभी भगवान् राम से वैर रहा और
न गो. तुलसीदास कभी इतने कट्टर संप्रदायवादी रहे कि वे अपनी राम-भक्ति के लिए कृष्ण की
इतनी उपेक्षा करते ! व्रज में सदा से कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार रहा है, किंतु यहाँ पर राम-
भक्तों का भी कभी अभाव नहीं हुआ। गो. तुलसीदास के व्रज में आने से पहिले ही रामानंदी भक्त
जन यहाँ पर रामोपासना करते थे। गो. तुलसीदास ने भी 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में भगवान् कृष्ण
का जैसा गुण-गान किया है, वैसा सूरदास के अतिरिक्त कोई अन्य कृष्णोपासक कवि भी नहीं
कर सका है।

व्रज का प्रभाव—गो. तुलसीदास ने व्रज-यात्रा के पश्चात् ही अपने प्रायः सभी महत्वपूर्ण
ग्रंथों की रचना की थी; अतः उन पर व्रज के भक्ति-भाव और धार्मिक वातावरण का प्रभाव पड़ना
स्वाभाविक था। वह प्रभाव 'गीतावली' और 'श्रीकृष्ण गीतावली' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता
है। गोस्वामी जी को मर्यादामार्गीय दास्य भक्ति मान्य थी, किंतु डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने उनकी
अनेक रचनाओं में से माधुर्य भक्ति और रसिक भावना के सूत्र भी एकत्र किये हैं[3] । इसे निश्चय ही
व्रज का प्रभाव कहा जा सकता है। हम आगे लिखेंगे कि रामोपासना में माधुर्य भक्ति और रसिक
भावना का विकास व्रज की भक्ति-भावना के कारण ही हुआ था।

सम्राट अकबर की राम-भक्ति—मथुरामंडल में रामोपासना का बढ़ता हुआ प्रभाव
उस काल में आगरा भी पहुँचा था, जहाँ मुगल सम्राट अकबर की राजधानी थी। उससे सम्राट
और उनके दरबारी भी आकर्षित हुए थे। अकबर के सेनानायक आमेर-नरेश मानसिंह अपने राज्य
की गलता-गद्दी के कारण रामानंदी संप्रदाय से पहिले से ही प्रभावित थे। स्वामी कीलदास और
स्वामी अग्रदास के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना का उल्लेख मिलता है। सम्राट अकबर ने शासन
सँभालते ही व्रज की धार्मिक भावना को स्वीकार किया था, और वहाँ के धर्माचार्यों एवं भक्तों के
प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी। अपने अंतिम काल में उनका आकर्षण रामोपासना के प्रति भी हो गया
था। इसका प्रमाण उनके द्वारा प्रचारित 'रामसीय' भाँति की स्वर्ण एवं रजत मुद्राएँ हैं। सोने और
चाँदी की उन मुद्राओं के एक ओर राम और सीता की आकृति अंकित की गई है, और दूसरी
ओर उनका प्रचलन-काल दिया गया है। ऐसे कई सिक्के अब तक मिल चुके हैं। उनमें एक ओर

---

(१) कृष्ण-कृष्ण सबही कहें, आक-ढाक अरु कैर। तुलसी या व्रजभूमि में, कहा राम सों बैर ॥

(२) कहा कहूँ छवि आज की, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष-बान लेउ हाथ ॥

(३) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ १०३-११०

(४) श्री अगरचंद नाहटा का लेख,—'मथुरा में रचित तीन हिंदी ग्रंथ (व्रज भारती, वर्ष १३ अंक ३)

राम-सीता की आकृति के ऊपर नागरी लिपि में 'रामसीय' अंकित है और दूसरी ओर फारसी लिपि में उनका प्रचलन काल '५० इलाही अमरदाद' लिखा है[१]। इससे ज्ञात होता है, वे मुद्राएँ सम्राट के देहावसान से पहिले के वर्ष इलाही सं. ५० अर्थात् विक्रम सं १६६१ में प्रचलित की गई थीं।

राम-भक्ति में रसिक भावना—स्वामी अग्रदास (उपस्थिति काल सं. १६३२) श्री कृष्णदास पयहारी के दूसरे शिष्य और कीलदास के छोटे गुरु भाई थे। उन्हें रामानंदी संप्रदाय में माधुर्य भक्ति और रसिक भावना का प्रवर्त्तक माना जाता रहा है। उनका उपनाम 'अग्रअली' है, और उनकी गद्दी जयपुर के निकटवर्ती रैवासा नामक स्थान में है। भक्तमाल के रचयिता नाभा जी उन्हीं के शिष्य थे। रामोपासना प्रायः मर्यादामार्गीय दास्य भक्ति पर आधारित है, जब कि कृष्णो-पासना अधिकतर रागमार्गीय माधुर्य भक्ति से संबंधित है। इससे यह समझा जा सकता है कि अग्रदास पर व्रज की कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पड़ा होगा। उनके उपरांत १८वीं शती से तो रामानदी रसिक भक्त व्रज के राधा-कृष्णोपासक भक्त जनों से प्रभावित और लाभान्वित होते ही रहे थे।

व्रज की रस भक्ति से प्रेरणा—'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई भक्तों का नामोल्लेख हुआ है, जिन्होंने व्रज की रस-भक्ति से प्रभावित होकर वहाँ के रसिक भक्तों के सत्संग का लाभ प्राप्त किया था, और वे स्थायी रूप से वृंदावन में ही रहने लगे थे। उक्त भक्तमाल मे वृंदावन के सुप्रसिद्ध रसिक महात्मा सर्वश्री सेवक जी, बिहारिनदास जी, भगवतरसिक जी आदि का आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। उस काल की रामानदी रसिक भावना की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने लिखा है,—"कहने की आवश्यकता नही कि राम-भक्ति की रसिक शाखा के विकास में कृष्ण-भक्ति का योग पहले से ही कुछ न कुछ चला आ रहा था। १८वीं शती में यह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई राम-भक्तों के वृत्त दिये गये हैं, जिन्होंने रसिकोपासना के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृंदावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों से सत्संग-लाभ किया था। मोहन रसिक एक ऐसे ही भक्त थे। उन्होंने वृंदावन के महात्मा भगवत रसिक जी से रास-ध्यान सीखा था। कुछ रसिक राम-भक्त स्थायी रूप से कृष्ण-तीर्थों में निवास भी करने लगे थे। मौनी जानकीदास के वृंदावन में रह कर शृंगारी साधना करने की चर्चा 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में आई है। इन उदाहरणों से यह व्यक्त होता है कि १८ वीं शती के अंत तक रसिक राम-भक्त रस-साधना की परिपूर्ण प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कृष्णोपासक आचार्यों के शरणागत होने में अपने इष्टपरत्व का अपमान नहीं समझते थे[२]।"

व्रज के रामोपासक रसिक भक्त और उनकी गद्दियाँ—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' में कतिपय रामोपासक रसिक भक्तों का उल्लेख हुआ है, जिनमें से एक मानदास भी थे। उनके विषय में बतलाया गया है कि वे उज्ज्वल रस के गायक और सुंदर कवि थे। उन्होंने रामायण और हनुमन्नाटक की उक्तियों के आधार पर अपनी रहस्यपूर्ण रचना की थी। वे भगवान् रामचंद्र की गुप्त शृंगारिक लीलाओं के प्राकट्यकर्त्ता थे[३]। उनका समय सं. १६८० है, और निवास-स्थान मथुरा था[४]।

---

(१) देखिये राय आनंदकृष्ण जी का लेख,—'रामसीय मुद्रा' (कलानिधि, वर्ष १ अंक ३)

(२) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ १३७-१३८

(३) भक्तमाल, छप्पय सं. १३०

(४) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ५३९

ब्रज के रामोपासक रसिकाचार्यों की गद्दियों की परंपरा में गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल की कदमखंडी में एक गद्दी का उल्लेख मिलता है। उसके संस्थापक रामकबीर जी बतलाये गये हैं। डा० भगवतीप्रसाद सिंह के मतानुसार वे सुप्रसिद्ध संत कबीर से भिन्न, स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा के कोई महात्मा थे[१]। विद्वद्वर परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'राम कबीर' कोई संत नहीं थे, बल्कि एक पंथ का नाम था[२]। रसिकाचार्यों की दूसरी गद्दी ब्रज के गोकुल नामक धार्मिक स्थल में 'परमहंस जी का स्थान' के नाम से बतलाई गई है। उसके संस्थापक परमहंस भगवानदास थे, जो रसिकाचार्य अग्रदास जी की ११ वी पीढ़ी में हुए थे[३]। उक्त दोनों गद्दियों का विशेष विवरण और उनके यथार्थ काल का उल्लेख नहीं मिलता है।

रसिक भावना का प्रसार—१९ वीं शताब्दी में जब राम-भक्ति में रसिक भावना का अधिक प्रसार हो गया, तब अयोध्या को उसका प्रमुख केन्द्र माना जाने लगा था। उस समय उसका महत्व रसिकोपासना के आरंभिक केन्द्र जयपुर राज्य के गलता और रैवासा से भी बढ़ गया था। उससे पहिले तक सभी रामोपासक रसिक भक्त उक्त गद्दियों के आचार्यों से भी अधिक मथुरा-वृंदावन के रसिक भक्तों से प्रेरणा प्राप्त करते थे। डा. भगवतीप्रसाद सिंह के मतानुसार १९ वीं शताब्दी से उस स्थिति में परिवर्तन हो गया था। उस समय कतिपय कृष्ण-भक्त वृंदावन छोड़ कर अयोध्या को अपना निवास-स्थान बनाने और कृष्ण की ब्रज-कुंजों की रास-लीला का ध्यान छोड़ कर राम की प्रमोदबन-लीला का ध्यान करने लगे थे। ऐसे भक्त जनों में रामदास वृंदावनी, मोहनदास वृंदावनी, संतदास वृंदावनी और बंगाली गोपालदास वृंदावनी मुख्य थे। रामदास हित हरिवंश जी के घराने के थे। वे रामसखे जी के शिष्य चित्रनिधि जी द्वारा राम-भक्ति की दीक्षा लेकर अली भाव को प्राप्त हुए थे[४]। इसका उल्लेख महात्मा जानकीरसिक शरण जी ने किया है[५]।

रामानंदी अखाड़ों का निर्माण—विवेच्य काल में अवैष्णव धर्म-संप्रदायों की उच्छृंखला के विरोध में जो वैष्णव अनी-अखाड़े बनाये गये थे, उनमें 'राम दल' के अखाड़ों में रामानंदी वैरागी साधुओं की संख्या सबसे अधिक थी। अनी-अखाड़ों की व्यवस्था के अनुसार 'निर्मोही अनी' के अंतर्गत तीन रामानंदी अखाड़ों का संगठन किया गया था, जिनके नाम १. रामानंदी निर्मोही, २. रामानंदी महानिर्वाणी और ३. रामानंदी संतोषी थे। 'निर्वाणी अनी' में दो अखाड़े,—१. रामानंदी निर्वाणी और २. रामानंदी खाक़ी थे; तथा दिगंबरी अनी' में एक रामजी दिगंबर अखाड़ा था। उनके अतिरिक्त इस संप्रदाय के ५ स्वतंत्र अखाड़े भी थे। इन अनी-अखाड़ों की बैठकें अनेक स्थानों में मिलती हैं। ब्रज में इनकी प्रायः सभी बैठकें वृंदावन में है।

जैसा पहिले लिखा गया है, इन अनी-अखाड़ों द्वारा जहाँ अपने-अपने संप्रदायों की सुरक्षा और उनके प्रचार-प्रसार का उपयोगी कार्य किया गया था; वहाँ उन्होने सभी वैष्णव संप्रदायों के पारस्परिक ऐक्य एवं धार्मिक समन्वय की महत्वपूर्ण भूमिका भी प्रस्तुत की थी। यदि उस काल में इन अनी-अखाड़ों का निर्माण न हुआ होता, तो वैष्णव संप्रदायों को अपना अस्तित्व क़ायम रखना भी कठिन हो जाता।

---

(१) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३२९
(२) उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृष्ठ २६२
(३) रामभक्ति में रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३५२
(४) वही ,, , पृष्ठ १७१-१७२
(५) रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृष्ठ ८१

ललित संप्रदाय

नाम और परंपरा—इस संप्रदाय में श्रीराधा जी की प्रधान सखी ललिता जी को परम गुरु माना गया है। उनके नाम पर ही यह 'ललित संप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वंशीअलि नामक एक रसिक भक्त थे। उनके नाम से इसे 'वंशीअलि संप्रदाय' भी कहते हैं। इसकी परंपरा प्राचीन धर्माचार्य श्री विष्णुस्वामी जी के 'रुद्र संप्रदाय' से विकसित हुई मानी गई है। जिस प्रकार वल्लभ संप्रदाय को, रुद्र संप्रदाय की परंपरा में विकसित होने पर भी उसकी कृष्ण-भक्ति की विशिष्टता के कारण, एक स्वतंत्र भक्ति-संप्रदाय माना गया है; उसी प्रकार ललित संप्रदाय भी राधा जी की अतिशय प्रधानता और सखी भाव की उपासना के कारण स्वतंत्र संप्रदाय की स्थिति रखता है। परंपरा की दृष्टि से तो इसका संबंध सर्वश्री विष्णु-स्वामी और वल्लभाचार्य जी के संप्रदायों से है; किंतु उपासना के क्षेत्र में यह हित हरिवंश जी और स्वामी हरिदास जी के संप्रदायों का सहयोगी है। इस प्रकार इसकी उपासना-भक्ति और रीति-नीति पर कई संप्रदायों का प्रभाव पड़ा है।

श्री वंशीअलि जी (सं. १७६४ – सं. १८२२)—

जीवन-वृत्तांत—नाभा जी ने नारायण मिश्र नामक एक विद्वान भक्त का उल्लेख किया है। उन्होंने बतलाया है, वे नवला कुल के ब्राह्मण थे, और परम विद्वान एवं भागवत के अद्वितीय वक्ता थे[1]। 'राधा सिद्धांत' नामक ग्रंथ के आधार पर डा० शरणविहारी गोस्वामी ने लिखा है, नारायण मिश्र जी का मूल निवास-स्थान लाहौर था, किंतु बाद में वे मथुरा में आकर बस गये थे। उनकी नवीं पीढ़ी में वंशीधर जी हुए थे, जो अपनी सखी भाव की उपासना के कारण वंशीअलि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका जन्म सं. १७६४ की आश्विन शु. १ को वृंदावन में हुआ था। पंद्रह वर्ष की आयु में उनका विवाह किया गया, और बीस वर्ष की अवस्था में उनके पुत्र पुंडरीकाक्ष का जन्म हुआ। उसके बाद वे घर-बार से विरक्त होकर सखी भाव की उपासना में रस-मग्न रहने लगे थे। उनका निकुंज-वास ५८ वर्ष की आयु में सं. १८२२ की आश्विन शु. १ वृंदावन के गोविंदघाट की 'ललित कुंज' में हुआ था[2]।

ग्रंथ और वाणी-रचना—श्री वंशीअलि जी संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रगाढ़ विद्वान एवं सुकवि थे। उन्होंने संस्कृत में 'राधा-तत्व-प्रकाश' तथा 'राधा-सिद्धांत' ग्रंथों की रचना की थी; और 'मोक्षवाद', 'शक्ति स्वातंत्र्य परामर्श' एवं 'राधा उपनिषद्' की टीका की थी। ब्रजभाषा में उन्होंने 'श्री राधिका महारास', 'हृदय सर्वस्व' 'श्री लाड़िली जू की बधाई' और 'श्री ललिता जू की बधाई' के साथ ही साथ सिद्धांत, लीला, वात्सल्य, माधुर्य एवं वर्षोत्सव के अनेक पदों की रचना की थी।। ये रचनाएँ सिद्धांतपरक हैं; अतः उपासना और भक्ति की दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है। इस संप्रदाय की यह सैद्धांतिक 'वाणी' है; किंतु इसका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। इसकी भाषा परिमार्जित और रचना-शैली सरस एवं भावपूर्ण है। इसके 'सिद्धांत'-कथन में स्पष्टता और 'लीला'-वर्णन में सरसता है।

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं. १३४

(२) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ६९१

भक्ति-सिद्धांत और उपासना-तत्त्व—वंशीअलि जी के संप्रदाय में श्रीराधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति की जाती है, और इसमें श्रीराधा जी का प्राधान्य माना गया है। इस संप्रदाय की उपासना सखी भाव की है। 'राधा जी का प्राधान्य' एवं 'सखी भाव' श्री हित हरिवंश जी तथा स्वामी हरिदास जी के संप्रदायों में भी मान्य है; जहाँ इसे दार्शनिक रूप न देकर 'प्रेम' और 'रस' के संवर्धन की भूमिका मात्र समझा गया है। किंतु वंशीअलि जी ने इसे दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। यह इस संप्रदाय की भक्ति और उपासना की विशिष्टता है।

डा० शरणविहारी गोस्वामी ने श्री वंशीअलि जी की ग्रंथ-रचना और वाणी द्वारा उनकी भक्ति तथा उपासना के सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बतलाया है,—'श्री वंशीअलि की दृष्टि में श्रीराधा का ही अपर नाम 'ब्रह्म' है। वे ही परा शक्ति के रूप में सर्वत्र सूत्र की भाँति व्याप्त हैं और समस्त जड़-चेतन उन्हीं स्वतंत्रा के आधीन हैं। श्रीराधा ही सच्चिदानंदरूपिणी हैं, शक्तिरूपिणी हैं, ब्रह्म की प्रकाश-रूपा हैं, ईश्वर एवं जीव की प्रकल्पिका हैं और सर्वोपरि हैं। वे सर्वोपरि होते हुए भी भक्त-पराधीन हैं। श्रीकृष्णचंद्र श्रीराधा के अनन्य भक्त हैं; अतः उनके साथ समान भाव से विहार करने के लिए ही श्रीराधा जी ने अवतार ग्रहण किया है। श्रीराधा सर्वेश्वरी हैं, अतः विहार में उनकी समानता और कृष्ण-पत्नीत्व भक्तों के आनंद के लिए हैं। उन्होंने भक्तों के लिए ही अपने विहार को प्रदर्शित किया है। वे सर्वदा स्वानंद रस में मग्न हैं। उनकी विहार-इच्छा कामेच्छा कदापि नहीं है। श्रीराधा जी विशुद्ध प्रेम-मूर्ति हैं तथा वे अपने अनन्य भक्त श्रीकृष्ण और अन्य सखियों के हृदय में नित्य विराजमान रहती हैं। श्रीराधा जी की उपासना के लिए दास्य, वात्सल्यादि अनेक भाव हो सकते हैं, परंतु उनकी सेवा का प्रमुख भाव सखी भाव ही है। श्री ललितादिक सखियाँ श्रीराधा को ही अपना पति मान कर अपने को सौभाग्यवती समझती हैं। श्रीराधा जी का भक्ति-रस नित्य सिद्ध निर्विकल्प रस है, जो रति-रस रूप से वृंदावन में श्रीकृष्ण और ललितादि सखियों के हृदय में नित्य स्थित है'[1]।'

भक्ति-सिद्धांत की विसंगति—श्री वंशीअलि जी के संप्रदाय की उपासना-भक्ति के सैद्धांतिक निष्कर्ष से यह भली भाँति समझा जा सकता है कि श्रीराधा जी के प्राधान्य संबंधी उनकी मान्यता अन्य सभी संप्रदायों के तत्संबंधी दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। उनकी यह विलक्षणता 'महारास' की भावना में विशेष रूप से स्पष्ट होती है। वंशीअलि जी ने अपनी 'श्रीराधा महारास' नामक रचना में श्रीकृष्ण को पूर्णतया अनुपस्थित कर रास को श्रीराधा जी और उनकी सखियों द्वारा ही सम्पन्न कराया है! वहाँ श्रीराधा ही वंशी-वादन द्वारा सखियों का आह्वान करती हैं। सखियाँ उन्हें अपना पति मान कर उनके साथ उसी प्रकार केलि-क्रीड़ा करती हैं, जिस प्रकार श्रीमद् भागवत के वर्णन में उन्हें श्रीकृष्ण के साथ करते हुए बतलाया गया है! रास में जो कभी-कभी लौकिक काम-वासना का आरोप किया जाता है, वह तो इस संप्रदाय की मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण के अभाव से समाप्त हो जाता है; किंतु रस-निष्पत्ति की दृष्टि से वह पूर्णतया प्रभावशून्य दिखलाई देता है। 'सिद्धांत' के रूप में चाहें यह मान्यता ठीक हो, किंतु 'रस' की दृष्टि से यह सर्वथा असंगत है। ब्रज के प्रायः सभी भक्ति-संप्रदायों में 'सिद्धांत' और 'रस' का जो समन्वय किया गया है, वह उक्त मान्यता के कारण इस संप्रदाय में नहीं हो पाया है।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ६६२-६६३

शिष्य-परंपरा—श्री वंशीअलि जी की शिष्य-परंपरा में अनेक रसिक भक्त, सांप्रदायिक विद्वान और व्रजभाषा के सरस वाणीकार हुए है। उनके शिष्यों में सर्वश्री किशोरीअलि और अलबेलीअलि अधिक प्रसिद्ध थे। किशोरीअलि जी का पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था, और उनका जन्म मथुरा में हुआ था। उनकी पत्नी का नाम किशोरी था, जिस पर उनकी बड़ी आसक्ति थी। दैव योग से किशोरी का असमय में ही देहांत हो गया था, जिससे वे बड़े दुखी रहा करते थे। वे उसके वियोग में किशोरी–किशोरी रटते हुए प्रेमाश्रु बहाते रहते थे। इस प्रकार प्रेम-पीड़ा से व्यथित होकर वे मथुरा से बरसाना चले गये थे। वहाँ के गहवर वन में उन्हें श्री वंशीअलि के सत्संग का सुयोग प्राप्त हुआ था। उनके उपदेश से वे लौकिक आसक्ति को छोड़ कर अलौकिक प्रेम-रस की उपासना करने लगे; और अपनी पत्नी किशोरी के स्थान पर वे दिव्य लीला-रस की अधिष्ठात्री किशोरी राधा जी के अनुरागी हो गये थे। उन्होंने वंशीअलि जी से ललित संप्रदाय की दीक्षा ली, जिन्होंने उनका नाम किशोरीअलि रखा था। वे साधक भक्त, प्रगाढ़ विद्वान और सरस कवि थे। उनकी 'वाणी' पर्याप्त परिमाण में मिलती है। वे प्रायः बरसाना, वृंदावन और जयपुर में रहा करते थे। उनके जन्म और देहावसान का निश्चित काल अज्ञात है, किंतु वे १९ वीं शती के मध्य काल तक विद्यमान थे[1]।

अलबेलीअलि जी श्री वंशीअलि जी के दूसरे प्रमुख शिष्य थे। उनका जीवन-वृत्त अज्ञात है। श्री वियोगीहरि जी ने स्वरचित छप्पय में उनका जो संक्षिप्त परिचय दिया है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि वे बड़े गुरु-भक्त थे, और भजन-कीर्तन में जीवन पर्यंत लगे रहने वाले सुशील रसिक महात्मा थे। उन्होंने बड़ी सरस वाणी-रचना की है, जो 'समय प्रबंध पदावली' नामक ग्रंथ में संकलित मिलती है[2]। खोज रिपोर्ट में उनके द्वारा रचित कई छोटी-छोटी रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है; किंतु वे पृथक् कृतियाँ न हो कर वस्तुतः उक्त 'समय प्रबंध पदावली' के ही अंश हैं। उक्त पदावली को श्री जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' ने सं. १९५८ में प्रकाशित कराया था। उनका एक संस्कृत काव्य ग्रंथ 'श्री स्तोत्र' भी उपलब्ध है।

रतनअलि जी श्री किशोरीअलि जी के शिष्य थे। उनकी भी सरस वाणी मिलती है। उनके उपरांत 'ललित संप्रदाय' की शिष्य-परंपरा में 'अलि' नामधारी कितने ही रसिक भक्त हुए हैं, जिन्होंने सखी भाव की उपासना को क़ायम रखा है।

केन्द्र और स्थिति—इस संप्रदाय के प्रवर्त्तक वंशीअलि जी का जन्म वृंदावन में हुआ था, और उन्होंने अपनी विशिष्ट उपासना-पद्धति को व्रज से ही प्रसारित किया था; अतः ललित संप्रदाय के आरंभिक केन्द्र भी वृंदावन, राधाकुंड आदि व्रज के लीला-स्थलों में ही थे। बाद में जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों में भी इसके केन्द्र बने थे। १९वीं शताब्दी में व्रज की धार्मिक और राजनैतिक स्थिति बड़ी अस्त-व्यस्त थी; तब से व्रज के केन्द्र शिथिल हो गये हैं, और जयपुर के केन्द्र ने प्रमुखता प्राप्त की है। जयपुर का श्री लाड़िली जी का मंदिर इस संप्रदाय का प्रधान केन्द्र माना जाता है।

व्रज के अन्य धर्म–संप्रदायों की तुलना में इस संप्रदाय का प्रचार कम हुआ है, और इसके अनुयायियों की संख्या भी अत्यंत सीमित है।

---

(१) कृष्ण–भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ६९७–६९९

(२) व्रज माधुरी सार, पृष्ठ २०७

उपलब्धि और अभाव

चरमोत्कर्ष का काल—ब्रज के दीर्घकालीन इतिहास में यहाँ के धर्म–संप्रदायों का जैसा उत्कर्ष इस काल में मुगल सम्राट अकबर के शासन में हुआ, वैसा पहिले के किसी काल में प्रायः दिखलाई नहीं देता है। इसका कारण जहाँ तत्कालीन धर्माचार्यों एवं उनके श्रद्धालु भक्तों की उच्च कोटि की उपासना–भक्ति, प्रगाढ़ विद्वत्ता, त्याग-वृत्ति और तपस्या है; वहाँ सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति भी है। सम्राट अकबर, उनकी हिंदू रानी तथा उनके सरदार–सामंत सभी धार्मिक अभिरुचि के व्यक्ति थे; और उनके द्वारा उस काल के धर्म–संप्रदायों को बड़ा प्रोत्साहन दिया गया था। उस मणि-कांचन संयोग का सर्वाधिक लाभ तो कृष्णोपासक भक्ति–संप्रदायों को प्राप्त हुआ था; किंतु जैन धर्म और रामोपासक संप्रदाय भी प्रचुरता से लाभान्वित हुए थे। अन्य धर्म-संप्रदायों को यदि उतना लाभ नहीं मिला, तो उसका कारण उनकी अपनी कमी और उस युग का प्रभाव ही समझना चाहिए। तत्कालीन शासन का दृष्टिकोण सभी धर्म–संप्रदायों के प्रति समान था, और उस काल के धर्माचार्य एवं भक्त गण भी प्रायः सहिष्णु एवं समदर्शी थे। इसलिए किसी धर्म–संप्रदाय की उन्नति में किसी ओर से भी कोई बाधा उपस्थित नहीं की गई थी।

सम्राट अकबर के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में भी बहुत कुछ वैसी ही स्थिति रही थी, जिसके कारण ब्रज के धर्म–संप्रदाय उत्तरोत्तर प्रगति करते रहे थे। प्रायः एक शताब्दी का वह काल निश्चय ही ब्रज की धार्मिक उन्नति के चरमोत्कर्ष का युग था। उस समय ब्रज की धार्मिक भावना ने इस देश के बहुत बड़े भाग को प्रभावित किया था। विभिन्न स्थानों के अगणित व्यक्ति उस समय ब्रज की ओर आकर्षित हुए थे। वे बड़ी श्रद्धापूर्वक यहाँ के धर्माचार्यों की शरण में आते थे, और उनका सत्संग प्राप्त कर अपने को सौभाग्यशाली समझते थे।

अपकर्ष का युग—ब्रज के दुर्भाग्य से वह स्वर्ण युग पूरी एक शताब्दी तक भी नहीं रहा था। उसके पश्चात् औरंगजेब के शासन काल में सभी बातें बदल गई थीं। उस धर्मान्ध शासक ने अपने पूर्वजों की उदार नीति के विरुद्ध मज़हबी कट्टरता की नीति अपनायी थी; जिसके कारण ब्रज में अपकर्ष का युग आरंभ हुआ था। उस समय यहाँ के अनेक धर्माचार्य एवं भक्त महानुभाव अपने उपास्य देव-स्वरूप तथा कुछ धार्मिक पोथियों को लेकर और उनके अतिरिक्त सब-कुछ छोड़ कर ब्रज से निष्क्रमण कर गये थे! उसके कारण यहाँ के विख्यात देव-स्थान सूने हो गये, और सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल उजड़ गये थे। औरगजेब के क्रूर सैनिकों ने उन सबको नष्ट–भ्रष्ट कर दिया था। एक व्यक्ति की मज़हबी तानाशाही से ब्रज की समुन्नत धार्मिक भावना का जैसा सर्वनाश हुआ, वैसा कोई दूसरा उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। उसका दुष्परिणाम मुगल साम्राज्य को भी सहन करना पड़ा था; और वह गर्त्त में गिरता हुआ कुछ काल पश्चात् ही समाप्त हो गया था।

मुगल शासन के अंतिम काल में पहिले सवाई राजा जयसिंह और फिर माधव जी सिंधिया जैसे धार्मिक रुचि सम्पन्न राज-पुरुषों का ब्रज में पर्याप्त प्रभाव रहा था। उनके अतिरिक्त उस काल के धर्माभिमानी जाट वीरों ने भी यहाँ के बड़े भू-भाग पर शासन किया था। उन सब ने अपने-अपने दृष्टिकोण से यहाँ की धार्मिक उन्नति करने का थोड़ा–बहुत प्रयत्न किया; किंतु उनकी अपनी–अपनी कमियों तथा अहमदशाह अब्दाली जैसे धर्मान्ध आक्रमणकारियों के क्रूर कारनामों के कारण ब्रज का उत्तरोत्तर धार्मिक अपकर्ष ही होता गया था। विवेच्य काल के अंत तक यहाँ के सभी धर्म–संप्रदायों की स्थिति शोचनीय हो गई थी। वे किसी प्रकार अपने अस्तित्व की रक्षा मात्र कर रहे थे!

चेष्टाओं का वर्णन मिलता है। सम्राट जरासंध का सहयोगी पुरुषोत्तम पौंड्र और करवीरपुर का शासक शृगाल ऐसे ही राजा थे। वे सब श्रीकृष्ण के देवत्व की तुलना में नहीं टिक सके थे। उस काल में श्रीकृष्ण को ही 'वासुदेव' माना गया और उनके प्रति भगवान् की भी श्रद्धा होने लगी। बाद में श्रीकृष्ण और भगवान् में बिलकुल ही अंतर नहीं रहा। भागवत् में श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् माना गया है—"कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"[1]। भगवान् में मुख्य रूप से ६ भग (गुण) माने गये हैं; जिनके नाम ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष हैं[2]। श्रीकृष्ण में भी वे समस्त गुण विद्यमान थे, अतः उन्हें भगवान् की संज्ञा दी गई थी।

महाभारत के शांतिपर्व में बतलाया गया है कि अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण ने अपने विविध नामों की व्याख्या की थी। उससे भी उनकी भगवान् से अभिन्नता स्पष्ट होती है। उक्त व्याख्या का कुछ अंश इस प्रकार है,—"नर (पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण जल को नार कहते हैं। वह नार (जल) पहिले मेरा अयन (निवास स्थान) था, इसलिए मैं 'नारायण' कहलाता हूँ। (जो आच्छादित करे, अथवा किसी का निवास हो, उसको वासु कहते हैं) मैं ही सूर्य का रूप धारण करके अपनी किरणों से संपूर्ण जगत् को आच्छादित करता हूँ तथा मुझमें ही समस्त प्राणी निवास करते हैं, इसलिए मेरा नाम 'वासुदेव' है। मैं सम्पूर्ण प्राणियों की गति और उत्पत्ति का स्थान हूँ। मैंने आकाश और पृथ्वी को व्याप्त कर रखा है। मेरी कांति सबसे बढ़कर है, समस्त प्राणी अंत में मुझे ही पाने की इच्छा करते है, तथा मैं सबको आक्रांत करता हूँ, इन्हीं सब कारणों से लोग मुझे 'विष्णु' कहते हैं। मैं पहिले कभी सत्व से च्युत नहीं हुआ हूँ। सत्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, सत्व के कारण मैं पाप से रहित हूँ तथा सात्वत ज्ञान (पांचरात्रादि वैष्णव तंत्र) से मेरे स्वरूप का बोध होता है, इन सब कारणों से मुझे 'सात्वत' कहते हैं[3]।"

देशव्यापी विस्तार—श्रीकृष्ण के आरंभिक जीवन में ही मगध सम्राट जरासंध ने शूरसेन राज्य पर कई बार आक्रमण किया था। उसके कारण यादववंशीय सात्वतों का एक बड़ा समुदाय कृष्ण–बलराम के नेतृत्व में मथुरा से द्वारका चला गया था। उनके साथ उनका धर्म भी मथुरा से द्वारका तक के विशाल भू–भाग में फैल गया। फिर महाभारत के उपरांत जब द्वारका में गृह–कलह की दुःखांत घटना हुई, तब अनेक सात्वत परिवार देश के उस पश्चिमी छोर से हट कर अन्यत्र चले गये थे। वे क्रमशः सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र, विदिशा, विदर्भ और कर्णाटक, यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण के तमिल प्रदेश में भी जाकर बसे थे। उनके कारण धुर दक्षिण तक इस धर्म का विस्तार हुआ था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में सात्वतों के दक्षिण निवास का उल्लेख मिलता है[4]। 'स्कंद पुराण' में विष्णु का कथन है, घोर कलियुग आने पर वे दक्षिण देश में वास करेंगे। उक्त उल्लेख से भी इस धर्म के दक्षिण में प्रचलित होने का संकेत मिलता है।

---

(१) श्रीमद् भागवत (१–३–२८)
(२) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतींगना ॥ (भागवत)
(३) संक्षिप्त महाभारत (गीता प्रेस), पृष्ठ १४३८
(४) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ १०४

सप्तम अध्याय

आधुनिक काल

[विक्रम सं. १८८३ से विक्रम सं. २०२४ तक]

उपक्रम—

अंगरेजी शासन काल की स्थिति—इस काल में व्रजमंडल पहिले इंगलेण्ड के अंगरेज व्यापारियों की 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के आधिपत्य में, और फिर वृटिश सरकार के अधिकार में रहा था। इस प्रकार सात समुद्र पार सुदूर देश में निवास करने वाले विदेशी अंगरेजों ने इस पुरातन प्रदेश पर सं. १८८३ से सं. २००४ तक शासन किया था। उस सवा शताब्दी के काल में यह भू-भाग पाश्चात्य विज्ञान के आलोक से जगमगा उठा था। उस काल में यहाँ पर अनेक युगांतरकारी परिवर्तन हुए; जिनका जन-जीवन पर भला-बुरा प्रभाव पड़ा था। रेल, तार, डाक, टेलीफोन आदि की व्यवस्था की गई; सड़कों का निर्माण किया गया; खेती की उन्नति के लिए नहर-बम्बे बनाये गये; अस्पताल, स्कूल-कालेज और मुद्रणालय खोले गये तथा समाचार पत्र प्रकाशित किये गये। सब से बड़ा काम यह हुआ कि एक सुदृढ़ तथा स्थायी शासन क़ायम किया गया; जिससे अनेक वर्षों के बाद यहाँ पर अशांति, भय और आतंक का वातावरण समाप्त हुआ। इन सब बातों से निश्चय ही यहाँ की जनता को बड़ा लाभ पहुँचा था; किंतु इस शासन से हानि भी कम नहीं हुई थी।

अंगरेजी शासन-काल में पहिली हानि तो आर्थिक हुई थी। अंगरेज़ व्यापारी और वृटिश शासक दोनों का प्रधान उद्देश्य इस प्रदेश का शोषण करना था। उसके लिए व्रज के प्राचीन व्यापार-वाणिज्य एवं उद्योग-धंधे समाप्त कर दिये गये; और यहाँ के निवासी दैनिक आवश्यकता की साधारण से साधारण वस्तुओं के लिए भी अंगरेज व्यापारियों अथवा उनकी दलाली करने वाले भारतीय दूकानदारों के मुहताज हो गये थे। दूसरी उससे भी बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई थी। यहाँ के नर-नारी अपने पुरातन आचार-विचार और रहन-सहन के तरीक़ों को भूल कर विदेशी सभ्यता के दास बन गये। जिन बातों को उन्होंने शताब्दियों के अशांत काल में अनेक संकट सहन करते हुए भी क़ायम रखा था, उन्हें इस शांतिपूर्ण युग में सहसा भुला दिया! अंगरेज शासकों ने इसके लिए विगत काल के मुसलमान शासकों की भाँति किसी तरह के बल का प्रयोग नहीं किया था; किंतु उनकी उपेक्षा, असहानुभूति और अप्रोत्साहन के कारण यहाँ के लोग स्वतः ही अपनी परंपरागत सांस्कृतिक विशेषताओं को छोड़ बैठे!

जहाँ तक यहाँ के धर्म-संप्रदायों का संबंध है, उनकी स्थिति इस काल में पहिले से भी अधिक बुरी हो गई थी। अंगरेज शासक मसीही धर्म के मानने वाले थे। उन्हें यहाँ के धर्म-संप्रदायों का न तो ज्ञान था, और न उनके प्रति उनकी कोई रुचि थी। उन्होंने किसी भी धर्माचार्य का न तो सन्मान किया, और न उन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन दिया था। इस काल के धर्माचार्य भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति न तो विद्वान थे; और न धर्म, उपासना एवं भक्ति के क्षेत्रों में उनकी कोई विशेष योग्यता थी। उनमें भजन-ध्यान, तप-त्याग और आत्म बल का प्रायः अभाव था। जहाँ व्रज के पूर्ववर्ती धर्माचार्यों के दर्शन और सत्संग के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा तरसते थे; वहाँ इस काल के अधिकांश आचार्य गण वृटिश शासन के मामूली अफसरों के भी घरों पर जा कर ढोक देने लगे और उनकी चाटुकारी एवं जी-हजूरी करने लगे थे! इससे उनका रहा-सहा सन्मान भी जाता रहा था। वे इन कमियों के कारण अपने धर्म-संप्रदायों का कोई हित-साधन नहीं कर सके थे।

धार्मिक रुचिसम्पन्न धनाढ्यों की देन—अंगरेजी शासन काल में ब्रज की उस धार्मिक दुर्दशा को दूर करने के प्रयत्न में कतिपय धार्मिक रुचिसम्पन्न धनाढ्य महानुभावों की बड़ी महत्वपूर्ण देन रही है। उन्होंने सुयोग्य धर्माचार्यों को सन्मानित कर यहाँ की बिगड़ी हुई धार्मिक स्थिति को सुधारने के लिए उन्हें प्रोत्साहन दिया था; और मंदिर-देवालयों का निर्माण कराया था। उनके कारण यहाँ के अनेक प्राचीन धार्मिक स्थलों का जीर्णोद्धार हुआ; और देव-स्थानों की स्थिति सुदृढ़ हुई थी। इससे उस काल में यहाँ के धार्मिक वातावरण को सुधारने में कुछ न कुछ सहायता मिली थी।

इस प्रकार के महानुभावों में मथुरा के सेठों का स्थान सर्वोपरि है। उनके द्वारा निर्मित मथुरा का श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर और वृंदावन का श्री रंगजी का मंदिर ऐसे देव-स्थान हैं, जो इस काल में ब्रज की धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। सेठों के पश्चात् वृंदावन के बंगाली धनाढ्य भक्त सर्वश्री कृष्णचंद्र सिंह (लाला बाबू), नंदकुमार वसु और वनमाली बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके अतिरिक्त मथुरा में राजा पटनीमल और सेठ गुरुसहायमल घनश्यामदास ने तथा वृंदावन में शाह कुंदनलाल ने मंदिर-देवालयों का निर्माण करा कर अपने नाम को चिर स्मरणीय कर दिया है। श्री कृष्णचंद्र सिंह ने वृंदावन में जिस देव-स्थान का निर्माण कराया था, वह 'लाला बाबू का मंदिर' कहलाता है। नंदकुमार वसु ने चैतन्य संप्रदाय के उपास्य श्री गोविंद-देव जी, श्री मदनमोहन जी तथा श्री गोपीनाथ जी के नये मंदिर सं. १८७७ में बनवाये थे; और उनमें उक्त देव-स्वरूपों के प्रतिभू विग्रह प्रतिष्ठित किये थे। वनमाली बाबू तराश वालों ने राधाकुंड तथा वृंदावन में अपने उपास्य ठाकुर राधाविनोद जी के मंदिर बनवाये थे; और धर्मशाला, कूएँ, घाट आदि के निर्माण तथा धार्मिक ग्रंथों के प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। मथुरा में राजा पटनीमल ने श्री दीर्घविष्णु जी और श्री वीरभद्रेश्वर जी के मंदिर बनवाये थे, और प्राचीन शैव स्थल पर शिवताल का निर्माण कराया था। सेठ गुरुसहायमल घनश्यामदास ने मथुरा में श्री गोविंददेव जी का मंदिर बनवाया था, और उनके वंशज सेठ लक्ष्मीनारायण ने बरसाना के निकट प्रेम सरोवर पर मंदिर का निर्माण कर उसमें संस्कृत विद्यालय और दातव्य अन्न क्षेत्र की व्यवस्था की थी। शाह कुंदनलाल उपनाम ललित किशोरी जी ने वृंदावन में एक कलापूर्ण मंदिर का निर्माण कराया, जो 'शाह जी का मंदिर' कहलाता है। इन सब देव-स्थानों द्वारा उस काल में ब्रज की परंपरागत धर्मोपासना की ज्योति थोड़ी-बहुत प्रज्वलित रही थी।

स्वाधीनता काल की स्थिति—महात्मा गांधी जी के प्रयत्न से समस्त भारतवर्ष सं. २००४ में बृटिश शासन की दासता से मुक्त हो गया था। उसके फलस्वरूप ब्रजमंडल ने भी स्वाधीनता के सुखद वातावरण में संतोष की स्वाँस ली थी। यहाँ के निवासियों को यह आशा होने लगी कि महात्मा जी के 'राम राज्य' का स्वप्न अब साकार हो सकेगा; जिससे ब्रज के धर्म-संप्रदाय भी नवयुग के अनुसार अपनी प्रगति कर सकेंगे। दुर्भाग्य से महात्मा जी का असमय में ही देहांत हो गया, और हमारे शासकों ने 'धर्म-निरपेक्षता' की आड़ में धार्मिक भावना के प्रति ही घोर उपेक्षा का व्यवहार किया! जिन धनाढ्य जिमींदारों और ताल्लुकेदारों के प्रोत्साहन से अंगरेजी शासन काल में ब्रज की धार्मिक ज्योति प्रज्वलित रही थी, वे भी इस काल में समाप्त कर दिये गये। इस प्रकार ब्रज के धर्म-संप्रदायों को प्रश्रय देने वाला कोई नहीं रहा। इधर यहाँ के धर्माचार्य भी युग के अनुसार अपने को बदलने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं। वे स्वयं कुछ न कर अपने पूर्वाचार्यों की कीर्ति का ही उपभोग करते रहना चाहते हैं! ऐसी स्थिति में यहाँ के धर्म-संप्रदायों की पुनरुन्नति होना बड़ा कठिन हो गया है। इस पृष्ठभूमि में हम ब्रज के प्रमुख धर्म-संप्रदायों की आधुनिक कालीन स्थिति का ऐतिहासिक विवेचन करेंगे।

वल्लभ संप्रदाय

वल्लभवंशीय गोस्वामियों के 'सप्त गृह' का ब्रज से संबंध—

संबंध की अनिवार्यता और उसका साधन—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, औरंगजेबी शासन के संकट काल में वल्लभवंशीय गोस्वामी गण अपने उपास्य स्वरूपों के साथ सामूहिक रूप में ब्रज से निष्क्रमण कर गये थे। वे कुछ काल तक विस्थापित अवस्था में इधर-उधर भटक कर अंत में राजस्थान और गुजरात के विभिन्न स्थानों में बस गये थे। वहीं पर उन्होंने देव-स्वरूपों के मंदिर बना लिये थे; और अपने-अपने घरों की बैठकें क़ायम कर ली थीं। इस प्रकार बहुत दूर पड़ जाने के कारण उन्हें ब्रज में स्थित श्री यमुना जी, श्री गिरिराज जी और गोवर्धन–गोकुल के प्राचीन देव-स्थानों से अपना संबंध रखना बड़ा कठिन हो गया था। किंतु वल्लभ संप्रदाय का समस्त वैभव ही ब्रज की भावना पर आधारित है, जिसके बिना उसका अस्तित्व क़ायम रहना भी कठिन है। इसलिए वल्लभवंशीय गोस्वामियों को ब्रज से संबंध बनाये रखना अनिवार्य था। उसके लिए उनमें से कई घरों के गोस्वामी गण अनुकूल परिस्थिति होने पर ब्रज में वापिस आ गये थे। उन्होंने गोकुल, कामवन और मथुरा में अपने देव स्वरूपों को प्रतिष्ठित कर अपनी गद्दियाँ क़ायम कर ली थीं। जो स्थायी रूप से नहीं आ सके थे, वे भी समय-समय पर 'ब्रज-यात्रा' करने के लिए यहाँ आते रहे हैं। वस्तुतः वार्षिक ब्रज-यात्रा एक ऐसा आयोजन है, जिसके द्वारा सभी घरों के गोस्वामी गण अपने-अपने शिष्य-सेवकों के साथ ब्रज से संबंध बनाये रखने में सफल हुए हैं। अब हम प्रत्येक गृह का ब्रज से जो आधुनिक कालीन स्थायी अथवा अस्थायी संबंध है, उस पर प्रकाश डालते हैं।

प्रथम गृह—वल्लभवंशीय गोस्वामियों के इस 'टीकैत' घराने के तिलकायत आचार्य इस संप्रदाय के प्रधान सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी एवं श्री नवनीतप्रिय जी के मुख्य सेवाधिकारी होते रहे हैं। ये दोनों स्वरूप इस समय नाथद्वारा (राजस्थान) में विराजमान हैं, अतः इस घर की प्रधान गद्दी तो वहीं पर है; किंतु इन दोनों स्वरूपों के आरंभिक देव-स्थान क्रमशः गोवर्धन और गोकुल में हैं। इन पर इस घर के गोस्वामियों का परंपरा से अधिकार रहा है। ब्रजमंडल में श्रीनाथ जी की कई 'चरण-चौकी' और 'बैठकें' हैं। प्रधान चरण-चौकी गोवर्धन में गिरिराज जी के ऊपर जतीपुरा के प्राचीन निज मंदिर में है; दूसरी मथुरा के 'सतंघरा' में, और तीसरी आगरा के फुलट्टी बाजार में हैं। श्रीनाथ जी की बैठकें गोवर्धन के श्यामढाक, गुलालकुंड और 'टोड़ का घना' नामक स्थानों में तथा रासोली गाँव में हैं। गोवर्धन के चंद्रसरोवर पर सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गो. विट्ठलनाथजी की बैठकें हैं। मुगल काल में शाही फ़रमानों द्वारा इस घर के गोस्वामियों को गोवर्धन, गोकुल आदि स्थानों की मिल्कियत के अधिकार प्रदान किये गये थे; जिनका उपभोग उनकी वंश-परंपरा में होता रहा है। तदनुसार गोवर्धन, गोकुल और मथुरा के कई देव-स्थान और उनसे संबंधित गाँव-जायदाद आदि पर भी उनका अधिकार रहा है। इन सबका प्रबंध नाथद्वारा के तिलकायित द्वारा नियुक्त स्थानीय कर्मचारी करते हैं।

इस घर के प्रधान पुरुष श्री गिरिधर जी को घरेलू बटवारा में श्री मथुरेश जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था। कालांतर में उक्त देव-स्वरूप की सेवा श्री गिरिधर जी के कनिष्ट पुत्र गोपीनाथ जी (दीक्षित जी) के वंशजों को मिली थी; जिससे प्रथम गृह के सप्तम उपगृह की परंपरा चली है। अब से कुछ समय पूर्व तक श्री मथुरेश जी कोटा के राजकीय मंदिर में विराजमान थे, और वहीं

पर इस उपगृह की गद्दी थी। वर्तमान गोस्वामी श्री रणछोड़लाल जी कोटा की स्थिति से असंतुष्ट होकर श्री मथुरेश जी के स्वरूप को ब्रज में ले आये हैं। इस समय यह स्वरूप जतीपुरा के मंदिर में विराजमान है। इस प्रकार प्रथम गृह के सप्तम उपगृह की गद्दी पुनः ब्रज में स्थापित हो गई है।

द्वितीय गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी नाथद्वारा (राजस्थान) में है। इस गृह के सर्वाधिक प्रसिद्ध महानुभाव गो. हरिराय जी हुए हैं, जिनकी एक बैठक गोकुल में है। इसके अतिरिक्त ब्रज में इस गृह का कोई खास देव-स्थान नहीं है। इस प्रकार इस घर का ब्रज से बहुत कम संबंध रह गया है।

तृतीय गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री द्वारकाधीश जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी कांकरोली (राजस्थान) में है। सं. १९३० से पहिले इस गृह का भी कोई खास देव-स्थान ब्रज में नहीं था। मथुरा के सेठों ने सं. १९३० में यहाँ के सुप्रसिद्ध श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर को कांकरोली के तत्कालीन गोस्वामी गिरिधरलाल जी को भेंट कर दिया था, जिससे इस गृह का ब्रज से घनिष्ट संबंध स्थापित हो गया। उसके उपरांत मथुरा के गो. कल्याणराय जी के कनिष्ठ पुत्र बालकृष्ण जी के इस घर में गोद जाने और उनके कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी को मथुरा की गद्दी के उत्तराधिकारी बनाये जाने से वह संबंध और भी दृढ़ हो गया है।

गो. गिरिधरलाल जी—उनका जन्म सं. १८९८ में हुआ था, और उनका प्रथम नाम यशोदानंदन जी (उपनाम चट्टू जी) था। उनके पिता श्री द्वारकेश्वर जी थे, जो जतीपुरा (गोवर्धन) में रहा करते थे। यशोदानंदन जी आरंभ से ही बड़े मेधावी और भगवत्-सेवापरायण थे। सं. १९०३ में कांकरोली के नवम तिलकायित गो. पुरुषोत्तम जी का देहावसान हो गया था। उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः उनकी विधवा पत्नी पद्मावती जी ने यशोदानंदन जी को सं. १९०८ में गोद ले लिया था। उस समय उनका नाम गिरिधर जी रखा गया, और वे कांकरोली की गद्दी के तिलकायत हो गये। उनका विवाह कोटा के रेही बालमुकुंद भट्ट की पुत्री कमलावती जी के साथ हुआ था। गो. गिरिधर जी बड़े योग्य महानुभाव थे। उन्होंने इस गद्दी की बड़ी उन्नति की थी। सं. १९३० में मथुरा के सेठ गोविंददास ने अपने पूर्व पुरुष श्री गोकुलदास पारिख की इच्छानुसार उनके द्वारा निर्मित श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर को गो. गिरिधर जी को भेंट कर दिया था। सं. १९३५ की श्रावण कृ. २ को गो. गिरिधर जी का देहांत हो गया था। उस समय उनकी आयु केवल ३७ वर्ष की थी। उनकी कोई संतान नहीं थी; अतः माजी पद्मावती जी ने मथुरा के गोस्वामी कल्याणराय जी के पुत्र बालकृष्ण जी को सं. १९३६ में गोद लेकर उनका उत्तराधिकारी बनाया[१]।

श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर और उसका भेंटनामा—मथुरा के इस भारत-प्रसिद्ध मंदिर का निर्माण सेठ घराने के पूर्वपुरुष श्री गोकुलनाथ पारिख ने कराया था[२]। उसका पाटोत्सव सं. १८७१ की आषाढ़ कृ. ८ को हुआ था। पारिख जी वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे, और वे इस मंदिर को वल्लभवंशीय गोस्वामियों को भेंट करना चाहते थे; किंतु वे अपने जीवन-काल में वैसा नहीं कर सके थे। उनका देहावसान सं. १८८३ में हुआ था। उनके उत्तराधिकारी सेठ लक्ष्मीचंद भी पारिख जी की इच्छा-पूर्ति नहीं कर सके थे। कालांतर में उनके कनिष्ठ भ्राता सेठ गोविंददास ने इस मंदिर का भेंटनामा गो. गिरिधर जी के नाम सं. १९३० की वैशाख शु. ७ को किया था।

---

(१) कांकरोली का इतिहास,, पृष्ठ १६—१९

(२) पारिख जी का वृत्तांत इस ग्रंथ के द्वितीय खंड 'ब्रज का इतिहास' पृष्ठ ५४४ में देखिये।

इस मंदिर की देवोत्तर संपत्ति के सुप्रबंध के लिए उक्त 'भेंटनामा' में जो शर्तें लिखी गई हैं, उनका सारांश इस प्रकार है,—

१. पारिख जी महाराज के समय से इस मंदिर का राज-भोग, सेवा-पूजा का क्रम जिस प्रकार चला आया है, उसी प्रकार सदा-सर्वदा चलता रहेगा।

२. श्री द्वारकाधीश के मंदिर की सब प्रकार की जायदाद मंदिर की संपत्ति होगी और वह इसके सिवाय अन्य किसी काम में खर्च न की जायगी।

३. इसका समस्त प्रबंध गोस्वामी जी महाराज के अधीन होगा। वे इसके इंतिज़ाम के लिए किसी योग्य व्यक्ति को नियत कर इसकी समय-समय पर जाँच करते रहेंगे।

४. मंदिर की समस्त जायदाद इसके मालिक के न तो बटवारे में आ सकेगी और न वह नीलाम या कुर्क की जा सकेगी। इसका रुपया किसी निजी खर्च में काम न लाया जा सकेगा।

५. मंदिर का हिसाब सदा साफ और सिलसिलेवार रहेगा। इसके संबंधी काग़ज़, दस्तावेज़ आदि लिखा-पढ़ी मंदिर में ही सुरक्षित रक्खी जायगी।

६. गोस्वामी जी महाराज अपनी इच्छानुसार अपने वंश में से किसी को सेवा-पूजा के लिए नियुक्त कर सकेंगे। उस व्यक्ति को इन सब स्वीकृत नियमों का परिपालन करना आवश्यक होगा।

७. श्री द्वारकाधीश जी की सेवार्थ जो पोशाक तैयार होती आई है, सदा ही होती रहेगी। वह पाँच साल तक तो मंदिर के तोशाखाने में जमा होती रहेगी और पाँच साल की पुरानी हो जाने के बाद उसे गोस्वामी जी अपनी इच्छानुसार उपयोग में लाने के अधिकारी होंगे।

८. हमारे वंशज यदि वैष्णव धर्म के मानने वाले होंगे, तो इस बात के सदा अधिकारी माने जावेंगे कि यदि मंदिर में स्वीकृत नियमों का यथावत् पालन न हो, अथवा इनके विरुद्ध कोई बात होती होगी, तो उसका योग्य प्रबंध करा सकें। पर वे इस पर अपना स्वामित्व न रख सकेंगे, और न इसे वापिस ले सकेंगे।

१०. मंदिर की जायदाद से जो रुपया आता रहेगा, उसमें से २५०००) रु० सदा ही मंदिर के भांडार में इसलिए जमा रक्खा जायगा कि कभी वसूली न हो सकने पर सरकारी माल-गुज़ारी के चुकाने के काम में आ सके। इस रक़म से यदि ज्यादा जमा हो, तो उससे श्री ठाकुर जी की स्थायी संपत्ति बढ़ाई जावे, उसका निजी काम में उपयोग न किया जा सकेगा।

१०. मंदिर की आमद में से तीन सौ रुपया माहवार कांकरोली के श्री द्वारकाधीश की सेवा में इसलिए पहुँचता रहेगा कि उससे दस रुपया रोज़ का भोग उनको लगता रहे।

११. मंदिर के सुरक्षित स्थान में श्री ठाकुर जी के कुल जेवरात और उत्सव आदि का क़ीमती सामान सुव्यवस्थित और सुरक्षित रक्खा रहेगा। आवश्यकता होने पर काम में लाया जायगा। गोस्वामी जी महाराज की अनुपस्थिति में हमारे वंशजों की उपस्थिति में, यदि वे वैष्णव धर्मानुयायी होंगे, वह निकाला और ठाकुर जी के उत्सव आदि में काम में लाकर यथावस्थित रख दिया जायगा। इसकी सूचना समय-समय पर गोस्वामी जी अथवा उनके उत्तराधिकारियों को दी जाया करेगी।

१२. इसका जो प्रबंध इस समय किया गया है, उसको तीन साल तक देखा जायगा। उसके बाद यदि २५०००) रु० के जमा न होने और किसी प्रकार की सेवा-पूजा में कमी आती नजर आवेगी, तो हम अथवा हमारे वंशज उसको पूरा कर उसे व्यवस्थित कर देंगे।

इस वास्ते यह चंद क़लमे बतरीक़ दस्तावेज़ इस्तक़रार इस्तैमाल जायदाद मनक़ूला व ग़ैरमनक़ूला मंदिर के लिख दिये कि सनद रहे और वक्त हाजत के काम आवे।

मीज़ान कुल क़ीमत तख़मीनी अशियाय मुफ़स्सिले ७६१५०१) रु०

४५०७५४) रु० जेवर मुरस्सः हीरा व पन्ना व चुन्नी वग़ैरह।

१५००००) रु० क़ीमती तफसील ज़मीदारी परगना मांट, नौहझील (ज़िला मथुरा)
१५००००) जमई १५२३०) रु० साढ़े तीन आने मौजे १८

१८०७४७) रु० तफसील देहात माफी वाक़ै अमलदारी झालरापालन, परगना छप्पा बड़ौदा।
क़ीमती १८०७४७) जमई १४७००) रु० मौजे ११

एक मंज़िल मंदिर पुख्ता व संगीन श्री ठाकुर श्री द्वारकाधीश जी महाराज मय दुकानात।

तहरीर मिस्ल तारीख़ तीसरी माह मई सन् १८७३ ई० मुताबिक़ वैशाख सुदी ७ सं. १६३० रोज़ शम्बह बक़लम शफरउद्दीन साकिन मथुरा।

द० सेठ गोविंददास

गवाहशुद—सेठ रघुनाथदास, सेठ लक्ष्मणदास,
मुनीम मंगीलाल, नारायणदास, सुखदेवदास, केशोराम, सीताराम[1]।

श्री गोवर्धननाथ जी का मंदिर—कांकरोली की गद्दी का ब्रजमंडल में दूसरा देव-स्थान श्री गोवर्धननाथ जी का मंदिर है, जो मथुरा के स्वामीघाट पर स्थित है। इसे बड़ौदा राज्य के कामदार सेठ कुशाल (उपनाम बाबू कामदार) ने सं. १८८७ में बनवाया था। इसकी इमारत बड़े विशाल आकार की संगीन बनी हुई है। गो. गिरिधर जी की विधवा पत्नी कमलावती बहू जी ने सं. १९३८ में इसे प्राप्त किया था। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. गिरिधर जी के देहावसान के उपरांत माजी पद्मावती जी ने मथुरा के गोस्वामी कल्याणराय जी के कनिष्ठ पुत्र बालकृष्ण जी को गोद लेकर उन्हें कांकरोली की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया था। कमलावती जी किसी दूसरे बालक को गोद लेना चाहती थीं, किंतु सास की विद्यमानता में उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी थी। फलतः वे रुष्ट होकर कांकरोली से मथुरा चली आई थीं। यहाँ वे अंतिम काल तक श्री गोवर्धनाथ जी के मंदिर में रही थीं। उनके हाथ-खर्च के लिए मथुरा स्थित श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर से ३००) रु० मासिक दिये जाते थे। उनका देहांत सं. १९६७ की फाल्गुन कृ. १४ को हुआ था[2]।

गो. बालकृष्णलाल जी—उनका जन्म सं. १९२४ की श्रावण कृ. १३ को मथुरा में हुआ था। उनके औरस पिता छठी गद्दी के गोस्वामी कल्याणराय जी थे, जो मथुरा स्थित श्री दाऊजी-मदनमोहन जी मंदिर के अधिपति थे। उनके बड़े भाई सर्वश्री गोपाललाल जी और जीवनलाल जी थे। वे तीनों भाई बड़े प्रतिभाशाली, भगवत्-सेवापरायण, साहित्य-संगीत-कला आदि के मर्मज्ञ थे। उनमें से गोपाललाल जी तो अपनी पैतृक गद्दी पर आसीन हुए थे, और जीवनलाल जी तथा बालकृष्णलाल जी क्रमशः काशी एवं कांकरोली की गद्दियों में गोद चले गये थे।

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ४०-४२
(२) वही ,, , पृष्ठ १६

श्री बालकृष्ण जी सं. १९३६ में कांकरोली के तृतीय गृह की गद्दी के तिलकायित हुए थे। उस समय उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी; किंतु पूर्व संस्कार और अध्यवसाय के कारण वे बड़े सुयोग्य धर्माचार्य हुए थे। उन्होंने कांकरोली गद्दी की बहुत उन्नति की थी। उनकी धार्मिक योग्यता और साहित्य-संगीतादि के प्रति अभिरुचि की बड़ी ख्याति थी। उनके दोनों बड़े भाई मथुरा और काशी की गद्दियों के अध्यक्ष थे, जिनसे मिलने के लिए वे प्रायः उक्त स्थानों में जाया करते थे। काशी में उन्होंने 'काशी कवि समाज' की स्थापना कराई थी, और उसके माध्यम से वहाँ के कवियों को बड़ा प्रोत्साहन एवं प्रश्रय दिया था। उक्त कवि-समाज द्वारा प्रकाशित 'साहित्य-सुधानिधि' नामक समस्या-पूर्ति के मासिक पत्र का समस्त व्यय उनकी ओर से दिया जाता था। काशी के भारत जीवन प्रेसाध्यक्ष बा. रामकृष्ण वर्मा उनके अत्यंत कृपा-पात्र थे। वर्मा जी ने उनकी प्रेरणा से उस काल में ब्रजभाषा के अनेक दुर्लभ काव्य ग्रंथों का प्रकाशन किया था। उनके अन्य कृपापात्रों में ब्रजभाषा-हिंदी के विख्यात साहित्यकार सर्वश्री जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर', किशोरीलाल जी गोस्वामी और अंबिकादत्त जी व्यास थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी से भी उनका अच्छा परिचय था।

गो. बालकृष्ण जी का ब्रजमंडल और मथुरा से बड़ा अनुराग था। उनका जन्म मथुरा में हुआ था, और वहीं पर उनके ज्येष्ठ भ्राता गो. गोपाललाल जी निवास करते थे। मथुरा स्थित श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर उनके संरक्षण में था। इन कारणों से वे प्रायः मथुरा आया करते थे, और यहाँ महीनों रहते थे। उन्होंने दो बार 'ब्रज-यात्रा' भी की थी। उनकी पहली यात्रा सं. १९५० में और दूसरी यात्रा सं. १९६१ में हुई थी। उन्होंने मथुरा की साहित्यिक एवं कलात्मक उन्नति में बड़ा योग दिया था, और यहाँ के कवियों तथा संगीतज्ञों को प्रचुरता से प्रोत्साहित किया था। उनके आश्रित कवियों एवं संगीतज्ञों में कविवर नवनीत जी, गायक चंदन जी और वादक गणपति जी, लालन जी प्रमुख थे। संगीताचार्य गणेशीलाल जी से भी उनका बड़ा स्नेह था। वे स्वयं 'कृष्ण' एवं 'कान्ह' के उपनाम से काव्य-रचना करते थे, और हारमोनियम बजाते थे।

उन्होंने 'भारत धर्म महा मंडल' की स्थापना में योग दिया था। उनके प्रोत्साहन से सं. १९७२ में 'अखिल भारतीय सनातन धर्म महासम्मेलन' का द्वितीय अधिवेशन मथुरा में हुआ था; और उसके पश्चात् 'अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन' का अधिवेशन भी यहाँ किया गया था। उस काल में वे अस्वस्थ थे, किंतु फिर भी उक्त समारोहों में सक्रिय भाग लेते रहे थे। उसके पश्चात् उनका स्वास्थ्य दिन पर दिन बिगड़ता गया, और किसी भी डाक्टर-वैद्य की चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हुआ। अंत में सं. १९७३ की आषाढ़ कृ. ९ को मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर में ही उनका देहावसान हुआ था।

गो. बालकृष्णलाल जी की द्वितीय पत्नी सौन्दर्यवती से ४ पुत्र हुए थे,—१. द्वारकेश जी, पुरुषोत्तम जी, ब्रजभूषण जी और विट्ठलनाथ जी। उनमें से द्वितीय पुत्र पुरुषोत्तम जी का बाल्यावस्था में ही देहांत हो गया था। गो. बालकृष्णलाल जी के दिवंगत होने के अनंतर उनके ज्येष्ठ पुत्र द्वारकेश जी (जन्म सं. १९४६) उत्तराधिकारी हुए थे; किंतु दैवयोग से एक वर्ष पश्चात् ११ वर्ष की आयु में उनका भी देहावसान हो गया था। तत्पश्चात् तृतीय पुत्र ब्रजभूषणलाल जी सं. १९७६ में तृतीय घर के तिलकायित हुए। उनके छोटे भाई विट्ठलनाथ जी कांकरोली स्थित छोटे मंदिर के अधिपति बनाये गये। बाद में मथुरा के गो. गोपाललाल जी की विधवा पत्नी ने उन्हें श्री मदन-मोहन जी-दाऊजी के मंदिर की गद्दी का भी उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

गो. ब्रजभूषणलाल जी—इनका जन्म सं. १९६८ की फाल्गुन कृ. २ को अहमदाबाद में हुआ। जिस समय इनकी आयु ५ वर्ष की थी, तभी इनके यशस्वी पिता गो. बालकृष्णलाल जी का गोलोक-वास हुआ था। उस समय इनके ज्येष्ठ भ्राता द्वारकेशलाल जी उत्तराधिकारी हुए, किंतु उनका देहांत भी एक वर्ष पश्चात् हो गया था। ऐसी स्थिति में ये अपनी ६ वर्ष की अबोधावस्था में ही तृतीय गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये थे। उस संकट काल में इनकी माता सौदर्यवती जी ने बड़े धैर्य के साथ इनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की थी। सं. १९७६ की वैशाख शु. ३ को इन्हें ८ वर्ष की आयु में ही तिलकायित घोषित कर तृतीय गृह की गद्दी पर आसीन कर दिया गया।

इन्हें आरंभ से ही अनेक सुयोग्य विद्वानों द्वारा शिक्षण प्राप्त हुआ है। सं. १९८१ में पुष्टि संप्रदाय के विख्यात विद्वान पं. कंठमणि शास्त्री इनके शिक्षक नियुक्त किये गये। तभी से वे स्थायी रूप से इनके साथ रह कर कांकरोली की सांप्रदायिक, शैक्षणिक, विद्या विषयक और साहित्य संबंधी उन्नति करने में इनके सहयोगी रहे हैं। श्री ब्रजभूषणलाल जी ने संस्कृत, हिंदी, अंगरेजी, गुजराती आदि भाषाओं की अच्छी योग्यता प्राप्त की है; और ये पुष्टि संप्रदाय के भक्ति-सिद्धांत, सेवा-भावना और साहित्य के गंभीर विद्वान हैं। ये एक प्रगतिशील गोस्वामी हैं, और इन्होंने नवयुग के अनुसार कांकरोली की गद्दी को समुन्नत करने के अनेक उपयोगी कार्य किये हैं। इनका सब से महत्वपूर्ण कार्य कांकरोली में 'विद्या विभाग' को व्यवस्थित करना है। इसके अंतर्गत सरस्वती भंडार, द्वारकेश ग्रंथमाला, द्वारकेश पुस्तकालय, चित्रशाला, संग्रहालय, विद्या भवन, कवि मंडल, व्यायामशाला आदि अनेक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। सरस्वती भंडार में बहुसंख्यक दुर्लभ पांडुलिपियों का संग्रह किया गया है, जो शोधार्थियों के आकर्षण का केन्द्र है। द्वारकेश ग्रंथमाला में अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है। ये सब कार्य श्री कंठमणि जी शास्त्री के संचालनत्व में किये जा रहे हैं। इन्होंने स्वयं अनेक ग्रंथों का प्रणयन, संशोधन, संपादन एवं संकलन किया है।

गो. ब्रजभूषणलाल जी ने मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर की उन्नति के भी अनेक कार्य किये हैं। इन्हें आरंभ में पंड्या लज्जाशंकर जी जैसे सुयोग्य अधिकारी का सहयोग प्राप्त हुआ था। उनके परामर्श से मंदिर के सेवा-क्रम और उत्सव-समारोहों को सुव्यवस्थित और आकर्षक बनाया गया है। इस मंदिर में श्रावण मास के उत्सवों की बड़ी धूम-धाम रहती है। उस समय लाखों यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते हैं। पहिले इस मंदिर में रेशम और चाँदी के हिंडोले थे, किंतु सं. १९८४ में सुवर्ण का एक बहुमूल्य हिंडोला भी रखा गया, जिसकी सुंदरता और कलात्मकता दर्शनीय है। मंदिर के जगमोहन की छत्त पर सं. १९९६ में नये सिरे से चित्रकारी की गई। इसे नाथद्वारा के प्रसिद्ध चित्रकारों ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। इसमें पुष्टि संप्रदाय के सेव्य स्वरूप, महाप्रभु वल्लभाचार्य जी, गोसाईं विट्ठलनाथ जी, उनके पुत्र सातों तिलकायित पुत्र, मंदिर के संस्थापक पारिख जी और उनकी परंपरा के सेठों की आकृतियों का चित्रण बड़ी कलात्मकता के साथ हुआ है। इससे पुष्टि संप्रदाय और इस मंदिर का चित्रमय इतिहास दर्शनार्थियों के समक्ष प्रत्यक्षतः उपस्थित हो गया है। सेवा के उपयोग में आने वाले विविध वस्त्रालंकारों और पात्रों को नये ढंग से बनवाया गया है, और बिजली की रोशनी की व्यवस्था की गई है। इन सब सुधारों से इस मंदिर की वैभव-वृद्धि के साथ ही साथ इसकी आकर्षकता भी बहुत बढ़ गई है।

गो. व्रजभूषणलाल जी की प्रथम व्रज-यात्रा सं. १९८९ में हुई थी। उस समय अधिकारी लज्जाशंकर जीवित थे। उन्होंने उस यात्रा का ऐसे विशाल आयोजन के साथ सुप्रबंध किया था कि वह सदा के लिए स्मरणीय हो गई है। इनकी अन्य व्रज-यात्रा श्री द्वारकाधीश जी के स्वरूप के साथ सं. २०२४ में हुई है। इस प्रकार इन्होंने कांकरोली की गद्दी के साथ ही साथ व्रज की धार्मिक प्रगति में पर्याप्त योग दिया है। इनके कई संतान हैं, जो अपनी कुल-परंपरा के अनुसार सुयोग्य हैं।

चतुर्थ गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलनाथ जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी व्रज के गोकुल नामक पुष्टि संप्रदायी केन्द्र में है। औरंगजेब के शासन काल में इस संप्रदाय के अन्य प्रमुख सेव्य स्वरूपों की भाँति श्री गोकुलनाथ जी को भी सुरक्षा की दृष्टि से व्रज से हटाया गया था। कालांतर में उन्हें जयपुर में विराजमान किया गया। उस समय पंचम और सप्तम गृहों के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी भी वहाँ विराजे थे। उन तीनों स्वरूपों की सेवा वहाँ के सांप्रदायिक मंदिरों में अत्यंत श्रद्धा तथा वैभव के साथ होती थी, और उन्हें राज्य का पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह ने लक्ष्मण गिरि नामक एक शैव संन्यासी के प्रभाव से वैष्णव संप्रदाय और उनके सेव्य स्वरूपों की अवज्ञा करना आरंभ कर दिया, जिसके कारण इस संप्रदाय के तत्कालीन गोस्वामी गण इन तीनों स्वरूपों के साथ जयपुर स्थित मंदिरों का समस्त वैभव छोड़ कर चले गये थे। इस प्रकार २० वीं शताब्दी के आरंभ में श्री गोकुलनाथ जी को पुनः व्रज में लाकर उनके गोकुल स्थित मंदिर में विराजमान किया गया था। व्रज से निष्क्रमण करने वाले वल्लभ संप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूपों में श्री गोकुलनाथ जी सबसे पहिले वापिस आये थे।

जैसा पहिले लिखा गया है, चतुर्थ गृह की जो मूल परंपरा गोस्वामी व्रजपति जी (जन्म सं. १६६३) पर समाप्त हो गई थी; उसे क़ायम रखने के लिए द्वितीय गृह से लक्ष्मण जी (जन्म सं. १८६६) को गोद लिया गया था। गो. लक्ष्मण जी के पुत्र नत्थू जी (जन्म सं. १८८४) थे, किंतु उनका भी असमय में देहांत हो गया था। इसके कारण गो. लक्ष्मण जी की विधवा गोस्वामिनी चंद्रावली जी ने छठे घर से कन्हैयालाल जी को गोद लेकर इस घर की परंपरा को क़ायम रखा था।

गो. कन्हैयालाल जी—वे छठे घर के गो. रमणलाल जी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं. १९२५ की श्रावण कृ. ८ को हुआ था। चतुर्थ गृह में गोद लिये जाने के कारण वे मथुरा से गोकुल चले गये थे, और गो. लक्ष्मण जी के उत्तराधिकारी के रूप में वहाँ की गद्दी के अध्यक्ष हुए थे। वे ठाकुर-सेवा के अतिरिक्त साहित्य और संगीत में विशेष रुचि रखते थे। संगीत के तो वे विशेषज्ञ विद्वान थे। उन्होंने 'रास लीला' की उन्नति में बड़ा योग दिया था। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने व्रजभाषा और गुजराती में काव्य-रचना की थी। वे 'श्री विट्ठल' के काव्योपनाम से रचना करते थे। व्रजभाषा में उनके रचे हुए दीनता-आश्रय के पद और गुजराती में हास्य प्रसंग के 'धोल' उपलब्ध हैं। उनका अधिकांश साहित्य अप्रकाशित है। उनके दो विवाह हुए थे। एक पत्नी से उन्हें पुत्री हुई थी; किंतु पुत्र किसी से भी नहीं हुआ था। उनका देहावसान सं. १९६८ की फाल्गुन कृ. १४ को हो गया। उस समय उनकी आयु पूरे ४३ वर्ष की भी नहीं थी।

गो. कन्हैयालाल जी बड़ी उदार प्रकृति के थे। उन्होंने साहित्य और संगीत की उन्नति के लिए मुक्त हस्त से प्रचुर व्यय किया था। उनके पहिले से ही गोकुल की मिल्कियत के संबंध में नाथद्वारा के गोस्वामियों से झगड़ा चला आ रहा था। उसका मुक़दमा लंदन की प्रिवी कौन्सिल

तक गया था। उसमें भी बड़ा व्यय करना पड़ा था। इन सब कारणों से उस समय गोकुल की गद्दी पर पर्याप्त ऋण हो गया था। फिर गो. कन्हैयालाल जी के देहावसान से इस गद्दी की परंपरा को क़ायम रखने की समस्या भी उत्पन्न हो गई थी। उन सब कारणों से वृद्धा माजी चंद्रावली जी बड़ी दुखी थीं। उन्होंने पंचम गृह के तत्कालीन गोस्वामी देवकीनंदन जी से उनके पुत्र वल्लभ जी को गोद देने का प्रस्ताव किया। वल्लभ जी गो. देवकीनंदन जी के एक मात्र पुत्र थे, जो पाँचवीं गद्दी के भी उत्तराधिकारी थे। उनके पिता उन्हें चौथे घर के झंझट में नहीं डालना चाहते थे; किंतु वे पूजनीया वृद्धा माजी के आग्रह को टाल नहीं सके थे। फलतः युवक वल्लभ जी गोकुल में गोद आकर चतुर्थ गृह की गद्दी पर आसीन हो गये।

गो. वल्लभलाल जो—उनका जन्म सं. १९४८ में हुआ था, और वे सं. १९६८ में दिवंगत गो. कन्हैयालाल जी के उत्तराधिकारी हुए थे। उसके उपरांत वे कामवन की अपेक्षा गोकुल में ही अधिक रहने लगे थे। उन्होने अपनी वृद्धा दादी और दोनों माताओं की सेवा एवं सुख-सुविधा की यथोचित व्यवस्था की थी। इसके अतिरिक्त अदालती झगड़े-झंझटों को समाप्त करने और पुराने ऋण को चुकाने का भी उन्होंने सफल प्रयास किया था। गोकुल की गद्दी पर आसीन होने के दो वर्ष पश्चात् सं. १९७० में उनके पिता गो. देवकीनंदन जी का देहावसान हो गया। तब से कामवन की गद्दी का भी भार उन पर आ पड़ा था। वे चतुर्थ-पंचम पीठाधीश्वर के रूप में दोनों गृहों की गद्दियों का बड़ी योग्यता पूर्वक संचालन करते रहे थे। उनका देहावसान सं. १९९७ में हुआ था। तत्पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोविंदराय जी दोनों गद्दियों के अधिपति हुए हैं।

पंचम गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी कामवन में है। औरंगजेब के शासन काल में पुष्टि संप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूपों की भाँति ही श्री गोकुलचंद्रमा जी को भी गोकुल से हटाया गया था। कुछ काल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् तत्कालीन गोस्वामियों ने उन्हें जयपुर के मंदिर में प्रतिष्ठित किया था। उस समय चतुर्थ निधि श्री गोकुलनाथ जी और सप्तम निधि श्री मदनमोहन जी भी वहीं पर विराजमान थे। जैसा पहिले लिखा गया है, जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह द्वितीय के शासन काल (सं. १८९२-१९३७) से पहिले तक पुष्टि संप्रदायी गोस्वामी गण राजकीय जागीर का उपभोग करते हुए उक्त तीनों स्वरूपों की सेवा-पूजा बड़े सरंजाम और वैभव के साथ करते रहे थे। महाराज रामसिंह के समय में जयपुर में एक शैव संन्यासी लक्ष्मण गिरि थे। वे वैष्णव धर्म के बड़े विरोधी थे, और उनका महाराजा पर भी बड़ा प्रभाव था। उन्होंने वैष्णव धर्म के विरोध में ८ प्रश्न लिख कर उन्हें देश भर में वितरित कराया था। उक्त प्रश्नों में सभी वैष्णव संप्रदायों की धार्मिक मान्यताओं को वेद-शास्त्रानुकूल होने में शंका की गई थी! महाराज रामसिंह ने लक्ष्मण गिरि के प्रभाव से अपने राज्य के सभी वैष्णव संप्रदायों का राज्याश्रय बंद कर दिया था, और उनके धार्मिक कार्यों में अनेक बाधाएँ उपस्थित कर दी थीं। उससे वैष्णव जगत् में बड़ी खलबली मच गई थी। उक्त प्रश्नों का उत्तर विविध वैष्णव संप्रदायों के विद्वानों द्वारा दिया गया था। पुष्टि संप्रदाय के सर्वश्री कन्हैयालाल भट्ट, गोपीकृष्ण भट्ट आदि विद्वानों ने जयपुर पहुँच कर लक्ष्मण गिरि को शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी थी। बंबई के गोस्वामी जीवन जी की प्रेरणा से भारतमार्तंड गट्टू लाला जी ने 'सत्सिद्धांत मार्तंड' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसमें उक्त प्रश्नों का अत्यंत विशद रूप में सप्रमाण उत्तर दिया गया था। यह सब होने पर भी महाराज रामसिंह के वैष्णव विरोधी दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं आया।

डा० कृष्णस्वामी आयंगर ने द्राविड़ राजाओं के इतिहास से यह प्रमाणित किया है कि वहाँ के अनेक नरेशों की परंपरा सात्वतवंशीय कृष्ण से सम्बद्ध है। महीसूर (माईसोर) के पूर्वोत्तर भाग में राज्य करने वाले 'इरुन गोवेड' नामक तमिल सरदार कृष्ण की ४६वीं पीढ़ी में हुआ था[1]। उन सबके कारण दक्षिण में सात्वत–पंचरात्र धर्म के प्रचार का समुचित वातावरण बन गया था, जो कालांतर में आलवारों के भक्ति आंदोलन के लिए बड़ा सहायक हुआ था। महाभारत युद्ध के उपरांत जब श्रीकृष्ण का तिरोधान और द्वारका का अंत हो गया, तब अर्जुन वहाँ के शेष यादवों को, जिनमें अधिकतर वृद्ध, स्त्री और बालक थे, अपने साथ ले गया था और उन्हें पहिले इंद्रप्रस्थ एवं हस्तिनापुर में तथा बाद में मथुरा में बसाया गया था। श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने मथुरा में फिर से यादव राज्य को व्यवस्थित रूप में संचालित किया था और वहाँ के बिखरे हुए यादवों को संगठित कर उनमें सात्वत धर्म की परंपरा प्रचलित रखी थी। उस कार्य में उसे नंदादि गोपों के कुल–पुरोहित महर्षि शांडिल्य से बड़ी सहायता प्राप्त हुई थी। शांडिल्य का नाम सात्वत–पंचरात्र धर्म के आरंभिक प्रचारकों की प्रथम पंक्ति में आता है। वेद की एकायन शाखा, भक्ति-सूत्र और संहिता आदि उनके द्वारा प्रवर्तित माने जाते हैं, जिनसे उनकी महत्ता का भली भाँति परिचय मिलता है।

वज्रनाभ के पश्चात् कृष्णवंशीय सात्वत यादवों ने शूरसेन जनपद में किस काल तक शासन किया, इसे निश्चय पूर्वक बतलाना संभव नहीं है; किंतु इतना निश्चय है कि सात्वत–पंचरात्र धर्म वहाँ किसी न किसी रूप में आगामी कई शताब्दियों तक बराबर प्रचलित रहा था।

४. अवैदिक देवोपासना

प्राचीनतम अवैदिक देवता—

प्राचीन मान्यता—भारत के धार्मिक क्षेत्र में अत्यंत प्राचीन काल से ही वैदिक देवताओं के साथ ही साथ अवैदिक लोक देवताओं की भी मान्यता रही है। जहाँ आर्यों की वैदिक संस्कृति में वेदोक्त देवताओं की उपासना और यज्ञपरक कर्मकांड का प्रचार था, वहाँ आदिवासियों (अनार्यों) की लोक संस्कृति में यक्ष, गंधर्व, नाग, भूत, पिशाच, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि लोक देवताओं की पूजा प्रचलित थी। 'पाणिनि के अनुसार यक्ष, गंधर्व, कुंभांड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे, जिनकी व्यापक मान्यता थी। उन चारों के अधिपति क्रमशः कुबेर, धृतराष्ट्र, विरुढक और विरूपाक्ष थे[2]।'

आरंभ में उन लोक देवताओं की उपासना–पूजा अनार्यों में प्रचलित थी; किंतु जब आर्यों की वैदिक और अनार्यों की लौकिक संस्कृतियों का समन्वय हुआ, तब वैदिक देवताओं में अवैदिक देवताओं को भी सम्मिलित कर लिया गया था। फिर भी अवैदिक देवताओं की उपासना–पूजा अधिकतर समाज के निम्न वर्ग में ही प्रचलित रही थी।

---

(१) परमहंस संहिता की प्रस्तावना, पृष्ठ १५–१७

(२) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३५५

इस प्रकार जयपुर के विरोधी वातावरण से क्षुब्ध होकर पुष्टि संप्रदाय के गोस्वामी गण सं. १९२३ में अपने-अपने सेव्य स्वरूपों के साथ वहाँ का समस्त राजकीय वैभव छोड़ कर चले गये थे ! पंचम गृह के तत्कालीन गोस्वामी गोविंद जी और सप्तम गृह के गोस्वामी व्रजपाल जी बीकानेर नरेश सरदारसिंह (शासन सं. १९०८-१९२९) की प्रार्थना पर श्री गोकुलचंद्रमा जी तथा श्री मदनमोहन जी के स्वरूपों को उनकी राजधानी में ले गये थे। जैसा पहिले लिखा गया है, श्री गोकुलनाथ जी उस काल में गोकुल में जा कर विराजमान हुए थे।

श्री गोकुलचंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी सं. १९२३ से सं. १९२८ तक बीकानेर में विराजे थे। सं. १९२८ की विजयदशमी के शुभ मुहूर्त्त में उन दोनों स्वरूपों को पुनः व्रज में ले जाने का निश्चय किया गया। उस काल में व्रजमंडल के अधिकांश भाग में अंगरेजी शासन कायम हो गया था; किंतु वहाँ की धार्मिक स्थिति अस्तव्यस्त थी। तब तक गोकुल-गोवर्धन का धार्मिक वातावरण समुचित नहीं बन सका था; किंतु कामवन भरतपुर राज्य में होने के कारण धार्मिक दृष्टि से अधिक सुविधाजनक समझा गया। फलतः श्री गोकुलचंद्रमा जी और मदनमोहन जी के स्वरूपों को कामवन में प्रतिष्ठित किया गया।

कामवन की धार्मिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परंपरा—राजनैतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से कामवन पहिले जयपुर राज्य में और फिर भरतपुर राज्य में था, तथा अब राजस्थान में है; किंतु धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से यह सदा से व्रजमंडल का एक भाग रहा है। ऐतिहासिक परंपरा भी इसे शताब्दियों से व्रजमंडल से ही संबद्ध किये हुए है। सांस्कृतिक अनुश्रुतियों में इसे व्रज का अत्यंत पुरातन लीला-स्थल और सुविस्तृत प्राचीन वृंदावन के अंतर्गत माना गया है। कुछ विद्वान इसे महाभारत काल के 'काम्यवन' से मिलाते हैं। पुराणों में उल्लिखित व्रज के द्वादश वनों में इसे पांचवाँ वन माना गया है। पुरातात्त्विक अवशेषों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में और उसके बाद भी यह एक समृद्धिशाली नगर था। इसमें अनेक कलात्मक भवन और मंदिर-देवालय थे। व्रज के प्राचीन यादववंशीय राजाओं के वंशजों ने यहाँ प्रचुर काल तक राज्य किया था। कामवन की पहाड़ी पर एक विख्यात विष्णु मंदिर था, जिसे यादव राजा पर्जन्यदामा ने सं. १२५० के लगभग बनवाया था। उस कलापूर्ण विशाल देवालय को गुलाम वंश के सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त किया था, और बाद में उसे फीरोज़ तुग़लक ने पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। उसके ध्वंसावशेषों से उसने एक मसजिद बनवाई थी। यहाँ का 'चौरासी खंभा का मंदिर' उसी प्राचीन देवस्थान का ध्वस्त भाग है। इस समय भी कामवन एक धार्मिक और सांस्कृतिक स्थल माना जाता है। आधुनिक काल में इसकी ख्याति वल्लभ संप्रदायी गोस्वामियों के निवास-स्थल और उनके सेव्य स्वरूपों के कारण है। पंचम गृह के निधि-स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी का मंदिर यहाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

गो. गोविंद जी—वे पंचम गृह के तिलकायित श्री वल्लभ जी के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १८९३ में हुआ था। जैसा पहिले लिखा गया हे, वे श्री गोकुलचंद्रमा जी के स्वरूप को जयपुर से बीकानेर ले गये थे, और फिर वहाँ से कामवन में ले आये थे। उन्होंने श्री गोकुलचंद्रमा जी को कामवन के मंदिर में सं. १९२९ की माघ शु. १३ को विराजमान किया था, और वहीं पर पंचम गृह की प्रधान गद्दी कायम की थी। वे कामवन स्थित सप्तम गृह की देख-भाल भी करते थे; क्यों कि उस घर के तिलकायित श्री व्रजपाल जी का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। उनका देहावसान सं. १९४० में हुआ था। उसके उपरांत उनके ज्येष्ठ पुत्र देवकीनंदन जी पंचम गृह की गद्दी पर आसीन हुए थे और छोटे पुत्र गोपाललाल जी सप्तम गृह में गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर बैठे थे।

गो. देवकीनंदन जी—उनका जन्म सं. १६१५ की चैत्र शु. ३ को जयपुर में हुआ था। वे अपने पिता जी के दिवंगत होने के उपरांत सं. १६४० में पंचम घर के तिलकायित हुए थे। वे बड़े विद्वान, यशस्वी और प्रतापी थे। उन्होंने बंबई और गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उनके समय में कामवन के मंदिर की बड़ी उन्नति हुई थी। उन्होंने कामवन के निकटवर्ती पहाड़ी स्थल आनंदाद्रि में सुंदर उद्यान का निर्माण कराया था। उनके तीन विवाह हुए थे। वल्लभलाल जी उनके एक मात्र पुत्र थे, जो चतुर्थ गृह में गोद चले गये थे। देवकीनंदन जी का देहावसान सं. १६७० की भाद्रपद कृ. २ को मथुरा में हुआ था। उनका दाह-संस्कार मथुरा के ध्रुवघाट पर किया गया, जहाँ उनकी स्मृति में संगमरमर का एक लेखबद्ध तुलसी-थामला बनाया गया है। उनके देहावसान के उपरांत उनके पुत्र वल्लभलाल जी चतुर्थ गृह के साथ ही साथ पंचम गृह के भी तिलकायित हुए थे।

गो. वल्लभलाल जी—उनका उल्लेख चतुर्थ गृह के प्रसंग में भी किया जा चुका है। जैसा लिखा गया है, उनका जन्म सं. १६४८ में हुआ था, और वे सं. १६६८ में चतुर्थ गृह में गोद जा कर गोकुल की गद्दी पर आसीन हुए थे। सं. १६७० में जब उनके औरस पिता गो. देवकीनंदन जी का देहावसान हो गया, तब वे कामवन की गद्दी के भी अधिपति हुए थे। इस प्रकार वे चतुर्थ और पंचम दोनों घरों के तिलकायित थे। वे बड़े विद्वान, अनेक भाषाओं के ज्ञाता और विविध विद्याओं एवं कलाओं में पारंगत थे। आयुर्वेद में उनकी अच्छी गति थी, और व्यायाम के वे चिर अभ्यासी थे। उनका शरीर पुष्ट और सुडौल था। वे विद्वानों और गुणियों के बड़े आश्रयदाता थे। उन्होंने अनेक पंडित, ज्योतिषी, वैद्य, मंत्रशास्त्री, कवि, कलाकार और व्याख्यानदाताओं को अपने आश्रय में कामवन में रखा था। मथुरा के याज्ञिकभूषण अमृतराम पंड्या, पौराणिकरत्न रामचंद्र चक्रवर्ती, वृंदावन के संत-संगीताचार्य ग्वारिया बाबा, महंत नारायणदास नागा आदि अनेक विशिष्ट व्यक्ति उनके कृपापात्र और स्नेही थे।

गो. वल्लभलाल जी ने पुष्टि संप्रदाय की उन्नति और उसके प्रचार के अनेक कार्य किये थे। उन्होंने 'वैष्णव धर्म पताका' नामक एक मासिक पत्रिका बंबई से प्रकाशित कराई थी, जो हिंदी और गुजराती भाषाओं में छपती थी। कामवन में उन्होंने 'देवकीनंदन पाठशाला' एवं 'देवकीनंदन पुस्तकालय' की स्थापना की थी, और वहाँ के 'विद्या विभाग' से उन्होंने सांप्रदायिक ग्रंथों का प्रकाशन कराया था। कामवन के निकटवर्ती आनंदाद्रि नामक स्थल में गो. देवकीनंदन जी ने जो उद्यान बनवाया था, उसे उन्होंने जनोपयोगी सांप्रदायिक केन्द्र बना दिया था। उन्होंने वहाँ पाठशाला खोली, सदाव्रत लगवाया, चिकित्सालय चालू किया और रोगियों के लिए निवास-गृह बनवाये थे। वे स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओं के प्रेमी और प्रचारक थे। उस काल में विदेश से आने वाली चीनी के उपयोग का उन्होंने बड़ा विरोध किया था। गोस्वामियों और भट्टों के जातीय संगठन को सुदृढ़ करने के लिए उन्होने 'श्री शुद्धाद्वैत वैष्णव वेल्लनाटीय महासभा' की स्थापना में योग दिया था, और उसके आजीवन मंत्री रहे थे।

उनके पहिले से ही नाथद्वारा के गोस्वामियों का चतुर्थ-पंचम गृहो से वैमनस्य और विवाद चला आ रहा था। उसे उन्होंने समाप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया था। नाथद्वारा के टीकैत गो. गोवर्धनलाल जी ने उस काल में जो ब्रज-यात्रा की थी, उसकी बड़ी धूम मची थी। उस समय इस बात की आशंका थी कि जब वह यात्रा कामवन पहुँचेगी, तब वहाँ पुराने वैमनस्य के कारण
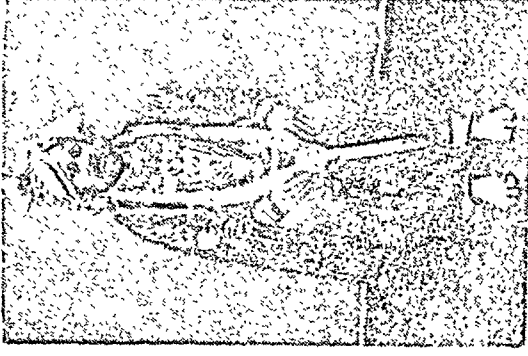
गो० बालकृष्णलाल जी, कांकरोली

गो० देवकीनंदन जी, कामवन

गो० गोपाललाल जी, मथुरा
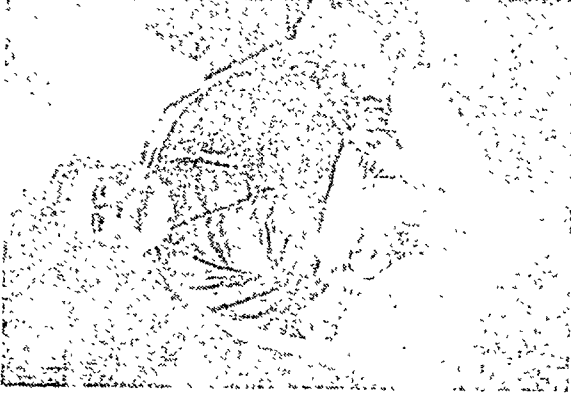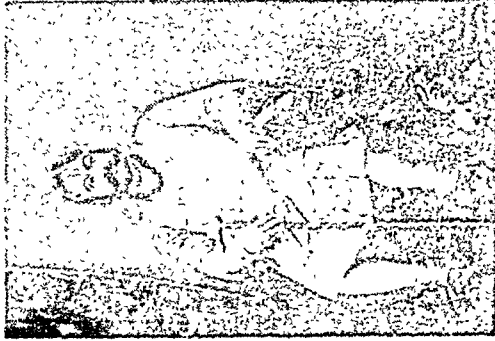
कुछ झगड़ा हो सकता है। गो. गोवर्धनलाल जी उस आशंका से बड़े चिंतित और सतर्क थे। किंतु उनके कामवन में प्रवेश करने से पहिले ही वल्लभलाल जी ने आगे बढ़ कर उनका बड़ा सौहार्द्रपूर्ण स्वागत किया था। उनकी उस सहृदयता एवं उदारता से गो. गोवर्धनलाल जी तथा समस्त यात्री गण बड़े प्रभावित हुए थे। वह यात्रा बड़े आनंद और उल्लास के साथ सम्पन्न हुई थी। मथुरा के लिए उस यात्रा का ऐतिहासिक महत्व है; क्यों कि उसकी स्मृति में ही गो. गोवर्धनलाल जी ने यहाँ पर जिला अस्पताल का विशाल संगीन भवन बनवाया था।

गो. वल्लभलाल जी का प्रथम विवाह दाक्षिणात्य कन्या लक्ष्मीअम्मा जी के साथ सं. १९६२ में हुआ था। जब १५ वर्ष तक उनसे कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, तब उन्होंने भट्ट बलभद्र शर्मा जी की पुत्री महालक्ष्मी जी के साथ सं. १९७६ में अपना दूसरा विवाह किया था। उनसे उन्हें तीन पुत्र हुए थे। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वे सं. १९९८ में चतुर्थ गृह में गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे। सं. १९७० में उनके औरस पिता गो. देवकीनंदन जी का देहांत हुआ था। उसके उपरांत वे चतुर्थ और पंचम दोनों गद्दियों के अधिपति हुए थे। उनका देहावसान सं. १९९७ की मार्गशीर्ष कृ. २ को हुआ था। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोविंदराय जी उनके उत्तराधिकारी हुए हैं।

गो. गोविंदराय जी—इनका जन्म सं. १९८७ में हुआ था। इनके दो छोटे भाई गोकुलनाथ जी और जयदेवलाल जी क्रमशः सं. १९९० और सं. १९९३ में उत्पन्न हुए थे। गो. गोविंदराय जी पंचम गृह के तिलकायित के रूप में इस घर की गद्दी के वर्तमान अधिपति हैं।

षष्ठ गृह—इस गृह के द्वितीय उपगृह की गद्दी मथुरा में है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी – दाऊ जी हैं। जैसा पहिले लिखा गया है, गो. व्रजपाल जी के दोनों पुत्र सर्वश्री विट्ठलनाथ जी (जन्म सं. १८७५) और पुरुषोत्तम जी (जन्म सं. १८७९) से मथुरा गद्दी के दो घरानों की परंपराएँ चली हैं, जिनमें से एक में बड़े मदनमोहन जी – दाऊ जी की सेवा होती है, और दूसरे में छोटे मदनमोहन जी की। दोनों घरानों के मंदिर और निवास–स्थान मथुरा में यमुना तट पर पास–पास बने हुए हैं।

गो. विट्ठलनाथ जी का घराना—गो. विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र कल्याणराय जी और कनिष्ठ पुत्र व्रजनाथ जी थे। उनका जन्म क्रमशः सं. १८९५ में और सं. १९०३ में हुआ था। दोनों भाई परम भक्त और सांप्रदायिक तत्त्व के ज्ञाता थे। गो. व्रजनाथ जी ने व्रजभाषा गद्य में 'श्री व्रज परिक्रमा' नामक पुस्तक की रचना की थी, जिसमें व्रज की वार्षिक यात्रा का क्रमानुसार वर्णन किया गया है। व्रजनाथ जी का देहावसान सं. १९६० में हुआ था। गो. कल्याणराय जी के तीन पुत्र थे,—सर्वश्री गोपाललाल जी, जीवनलाल जी और बालकृष्णलाल जी। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जीवनलाल जी छठे घर के काशी स्थित तीसरे उपगृह में गोद चले गये थे, और बालकृष्णलाल जी तृतीय गृह में गोद जा कर कांकरोली की गद्दी के तिलकायित हुए थे। गोपाललाल जी मथुरा की गद्दी पर आसीन हुए थे।

गो. गोपाललाल जी—वे गोस्वामी कल्याणराय जी के ज्येष्ठ पुत्र थे, और उनका जन्म सं. १९१७ में हुआ था। वे परम भक्त, सांप्रदायिक सेवा–भावना के बड़े ज्ञाता और उच्च कोटि के कलाकार थे। काव्य, संगीत और नृत्यादि कलाओं में उनकी कुशलता की बड़ी प्रसिद्धि थी। वे नित्य–नैमित्तिक उत्सवों में बड़ी कलात्मकता का प्रदर्शन करते थे, और ठाकुर जी को अत्यंत भावना के साथ लाड़ लड़ाते थे। नंदोत्सव के दिन वे यशोदा जी का रूप धारण कर मातृ भाव से ठाकुर जी

को पालना झुलाते थे, और होली के उत्सवों में स्वयं नृत्य करते थे। उनके द्वारा संचालित व्रज-
यात्रा, रास-लीला और सांप्रदायिक उत्सवों में व्रज संस्कृति के भव्य रूप की झांकी मिलती थी।
उनका रचा हुआ 'पतंग' का एक पद 'अग्निकुमार' (वर्ष ३, अंक १) में प्रकाशित हुआ है, जिससे
ज्ञात होता है कि वे कवि भी थे। इस प्रकार उन्हें व्रज संस्कृति का अंतिम प्रतिनिधि कहा जा
सकता है। उनका देहावसान सं. १९७४ में हुआ था।

गो. गोपाललाल जी के कोई पुत्र नहीं था। वे अपने छोटे भाई और तृतीय गृह के
तिलकायित गो. बालकृष्णलाल जी के कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी (जन्म सं. १९७०) को गोद
लेना चाहते थे; किंतु उनकी विद्यमानता में उसकी रस्म नहीं हो सकी थी। कारण यह था कि
सं. १९७३ में गो. बालकृष्णलाल जी का, और तदुपरांत गो. गोपाललाल जी का मथुरा में देहांत
हो गया था। उसके कुछ समय पश्चात् सं. १९७४ में कांकरोली के दूसरे घराने की महाराणी
बहू जी ने बालक विट्ठलनाथ जी को गोद ले लिया था। फिर भी गो. गोपाललाल जी की विधवा
गोस्वामिनी लावण्यवती जी ने अपने पति की इच्छानुसार सं. १९७५ की वैशाख शु. ३ को विट्ठल-
नाथ जी को ही उनका उत्तराधिकारी बनाया। इस समय वही मथुरा की गद्दी के अधिपति हैं।

गो. विट्ठलनाथ जी—ये गो. बालकृष्णलाल जी के कनिष्ठ पुत्र और कांकरोली की तृतीय
गद्दी के वर्तमान तिलकायित गो. व्रजभूषणलाल जी के छोटे भाई हैं। इनका जन्म सं. १९७० की
माघ कृ. ९ को हुआ था। जैसा पहिले लिखा गया है, ये अपने शैशव काल में ही कांकरोली के दूसरे
घराने में गोद चले गये थे, और मथुरा के दिवंगत गो. गोपाललाल जी के भी उत्तराधिकारी बनाये
गये थे। इस प्रकार ये कांकरोली स्थित श्री मथुरानाथ जी और मथुरा स्थित श्री मदनमोहन जी-
दाऊ जी दोनों मंदिरों के अधिपति हैं। अपनी बाल्यावस्था से ही ये अधिकतर अपने बड़े भाई
व्रजभूषणलाल जी के साथ कांकरोली में रहे हैं। दोनों ने साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है,
और साथ-साथ ही अपने सांप्रदायिक एवं गार्हस्थिक कार्यों का संपादन करते रहे हैं। ये भी अपने
बड़े भाई की तरह कर्मठ और विद्वान धर्माचार्य हैं। इनके समय में कांकरोली के श्री मथुरानाथ जी
तथा मथुरा के श्री मदनमोहन जी के नये मंदिर बनाये गये हैं। श्री विट्ठलनाथ जी के कई संतान हैं।
इनके ज्येष्ठ पुत्र यदुनाथ जी का जन्म सं. १९८८ की चैत्र शु. ९ को हुआ था। ये प्रायः मथुरा में
रह कर यहाँ के मंदिर की देख-भाल करते हैं।

गो. पुरुषोत्तम जी का घराना—गो. पुरुषोत्तम जी गो. व्रजपाल जी के छोटे पुत्र थे।
उनके वंशजों से मथुरा के छोटे मदनमोहन जी के मंदिर की परंपरा चली है। वे मथुरा के प्रसिद्ध
धर्माचार्य थे। उनके दो पुत्र हुए थे,—श्रीलाल जी और रमणलाल जी। श्रीलाल जी का असमय
में ही देहावसान हो गया था, अतः रमणलाल जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

गो. रमणलाल जी—उनका जन्म सं. १९०४ में हुआ था। उनके पिता गो. पुरुषोत्तम जी
ने उनकी शिक्षा-दीक्षा की विधिवत् व्यवस्था की थी। उन्हें दंडी स्वामी विरजानंद जी से संस्कृत
की शिक्षा दिलाई गई थी। इस प्रकार वे स्वामी दयानंद जी के सहपाठी थे। धार्मिक क्षेत्र में दोनों
के भिन्न-भिन्न मत होते हुए भी उनमें बड़ा सद्भाव था। जब स्वामी दयानंद जी अपनी शिक्षा समाप्त
करने के कई वर्ष पश्चात् दोबारा मथुरा आये थे, तब उनके मूर्ति-पूजा विरोधी विचारों के कारण
यहाँ उनका बड़ा विरोध किया गया था; किंतु गो. रमणलाल जी ने उन्हें अपने बंगालीघाट स्थित
'बहू जी के बाग' में आदरपूर्वक ठहराने की समुचित व्यवस्था की थी।

गो० रमणलाल जी, मथुरा
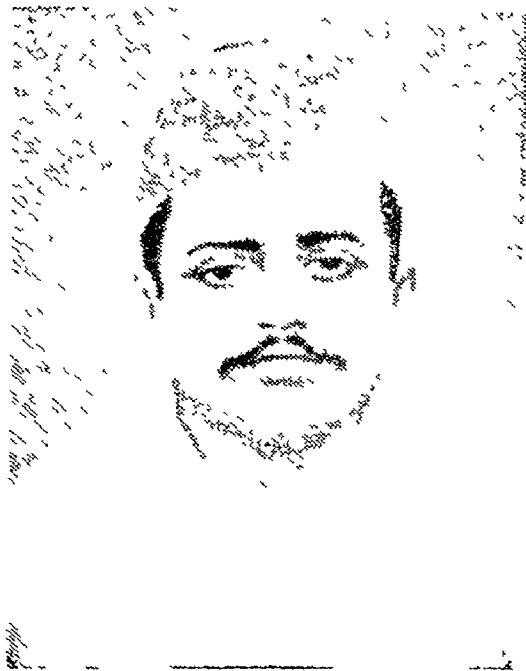
गो० दामोदरलाल जी, मथुरा

गो० घनश्यामलाल जी, मथुरा-पोरबंदर

गो० द्वारकेशलाल जी, मथुरा-पोरबंदर

गो. रमणलाल जी परम भक्त, उत्कृष्ट विद्वान और भगवत्-सेवापरायण धर्माचार्य थे। उन्होंने गो. विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी के विशिष्ट मत को अंगीकार कर भगवत्-सेवा की 'भरूची' पद्धति को अंगीकार किया था; जिसके अनुसार वे सेवा संबंधी 'मर्याद' का बड़ी कठोरता से पालन करते थे। उन्हें सेवा संबंधी 'शुद्धि' का इतना प्रबल आग्रह था कि ठाकुर जी के भंडार में जाने से पहिले प्रत्येक वस्तु को यमुना-जल से धुलवाते थे। यहाँ तक कि लकड़ी, खाड़, गुड़, घी, तैल, इत्र, केसर, कपूर आदि कोई भी वस्तु यमुना-जल से धोये बिना ठाकुर जी के उपयोग में नहीं ली जाती थी! उन्होंने कई बार बड़े-बड़े धार्मिक आयोजन किये थे। सं. १९७५ में उन्होंने श्री गिरिराज की तलहटी में छप्पन भोग, गो-सेवा यज्ञ और १०८ भागवत सप्ताह का का विशद समारोह किया था। उस काल में उसकी बड़ी धूम-धाम रही थी। उनके रचे हुए कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनमें रस रसिक संग्रह, श्री गोकुलेशाख्यान, सेव्य स्वरूपन की वार्ता, पुष्टिमार्गीय सार संग्रह उल्लेखनीय हैं। मथुरा में उनके घराने के देव-स्थान श्री मदनमोहन जी का छोटा मंदिर, श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर और रमण विलास हैं। उनका देहांत सं. १९८० में हुआ था।

रमणलाल जी की वंश-परंपरा—गो. रमणलाल जी के तीन पुत्र थे,—सर्वश्री व्रजपाललाल जी, कन्हैयालाल जी और घनश्यामलाल जी। श्री व्रजपाललाल जी का जन्म सं. १९२३ में हुआ था। वे अपने भाइयों में सबसे बड़े होने के कारण मथुरा की गद्दी के अधिपति हुए थे। उनके छोटे भाई सर्वश्री कन्हैयालाल जी चतुर्थ गृह में और घनश्यामलाल जी प्रथम गृह के दशम उपगृह में गोद चले गये थे। कन्हैयालाल जी के जीवन-वृत्तांत का उल्लेख चतुर्थ गृह के प्रसंग में पहिले ही किया जा चुका है। यहाँ पर घनश्यामलाल जी और उनके वंशजों का उल्लेख किया जाता है।

गो. घनश्यामलाल जी—उनका जन्म सं. १९३२ में हुआ था। वे प्रथम गृह के दशम उपगृह में गोद जा कर पोरबंदर की गद्दी के अधिपति हुए थे। सांप्रदायिक धर्म-तत्त्व और संगीत के वे विशेषज्ञ विद्वान थे। उनके हारमोनियम-वादन के कौशल की बड़ी प्रसिद्धि थी। अपने उत्तर जीवन में वे अधिकतर बंबई में रहा करते थे। वहीं पर सं. २००९ में उनका देहावसान हुआ था। गो. घनश्यामलाल जी के दो पुत्र थे,—दामोदरलाल जी और द्वारकेशलाल जी। मथुरा की गद्दी के अधिपति गो. व्रजपाललाल जी के कोई पुत्र नहीं था; अतः उन्होंने अपने भतीजे दामोदरलाल जी को गोद ले लिया था। इस प्रकार गो. घनश्यामलाल जी के बड़े पुत्र दामोदरलाल जी मथुरा की गद्दी पर आसीन हुए थे, और द्वारकेशलाल जी पोरबंदर की गद्दी के अधिपति हुए थे।

गो. दामोदरलाल जी—उनका जन्म सं. १९४९ में हुआ था। वे गो. व्रजपाललाल जी के उपरांत मथुरा स्थित श्री छोटे मदनमोहन जी के अधिपति हुए थे। वे भगवत-सेवा परायण धर्माचार्य होने के साथ ही साथ कुशल संगीतज्ञ भी थे। उन्हें पखावज बजाने का अच्छा अभ्यास था। उनका देहावसान प्रायः ५० वर्ष की आयु में हुआ था। उनके दो पुत्र हुए,—पुरुषोत्तमलाल जी और व्रजरमणलाल जी। पुरुषोत्तमलाल जी का जन्म सं. १९६८ में हुआ था। वे प्रथम गृह के ग्यारहवें उपगृह में गोद जा कर कोटा स्थित श्री बड़े महाप्रभु जी के मंदिर के अधिपति हुए। उनके छोटे भाई व्रजरमणलाल जी मथुरा के मंदिर के अधिपति हैं।

गो. द्वारकेशलाल जी—वे मथुरा के गो. दामोदरलाल जी के छोटे भाई थे; और अपने पिता गो. घनश्यामलाल जी के उपरांत पोरबंदर की गद्दी के अधिपति हुए थे। उनका जन्म सं. १९५६ की चैत्र कृ. १ को पोरबंदर में हुआ था; किंतु उनका आरंभिक जीवन अधिकतर उनके

पितामह और पिता के निरीक्षण में मथुरा में बीता था। घरेलू बटवारा में पोरबंदर के मंदिर के अतिरिक्त मथुरा का श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर भी उनके अधिकार में आया था। इस प्रकार पोरबंदर के साथ ही साथ मथुरा से भी उनका जीवन पर्यंत घनिष्ट संबंध बना रहा था। गोस्वामी रमणलाल जी, गोपाललाल जी और दामोदरलाल जी जैसे धर्माचार्यों के संरक्षण एवं निरीक्षण में उन्होंने सांप्रदायिक रीति–नीति तथा सेवा–भावना का ज्ञान प्राप्त किया था, और अपने पिता गो. घनश्यामलाल जी जैसे कुशल संगीतज्ञ एवं हारमोनियम वादक के शिक्षण से वे सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ और हारमोनियम के विख्यात वादक हुए थे। उन्हें अपने पिता की भाँति हारमोनियम पर भी तंतु वाद्यों की तरह कोमल एवं मधुर स्वर निकालने का अच्छा अभ्यास था। अपने पिता के साथ उन्होंने विविध प्रदेशों का पर्याप्त भ्रमण किया था, जिससे वे विभिन्न स्थानों के अनेक श्रद्धालु भक्तों और कलाकारों के संपर्क में आये थे। भारतवर्ष के प्रायः सभी विख्यात गायकों एवं वादकों से उनका व्यक्तिगत संबंध था। गायन–वादन के अतिरिक्त वे काव्य, चित्र और पाक कलाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने व्रजभाषा, गुजराती और उर्दू में अनेक गेय रचनाएँ लिखी थीं, जिन्हें वे बड़ी कुशलता से गाते थे। उन्हें विविध प्रकार के व्यंजन बनाने का भी बड़ा शौक था।

वे अत्यंत सरल, उदार एवं मिष्ठभाषी धर्माचार्य और निरभिमानी कलाकार थे। प्राचीन पद्धति के पोषक होते हुए भी वे प्रगतिशील विचारों के थे, और नवयुग के अनुसार कार्य–व्यवहार करते थे। उनका देहावसान सं. १९९३ की आश्विन कृ. ९ को पोरबंदर में हुआ था। उनके दो पुत्र हैं,—माधवराय जी और रसिकराय जी।

गो. व्रजरमणलाल जी—ये गो. दामोदरलाल जी के उपरांत मथुरा स्थित श्री छोटे मदन-मोहन जी के मंदिर के अधिपति हुए हैं। इनका जन्म सं. १९९१ में हुआ था। इन्होंने हिंदी और संस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त की है। अपने पूर्वजों की परंपरा के अनुसार इन्होंने धर्मोपासना के साथ ही साथ विविध कलाओं में भी कुशलता प्राप्त की है। ये अत्यंत कर्मठ और सुयोग्य धर्माचार्य हैं। सांप्रदायिक प्रचार के लिए ये 'श्रीमद्वल्लभ प्रकाश' नामक एक द्विमासिक पत्र का संपादन–प्रकाशन कई वर्ष से कर रहे हैं। इन्होंने पखावज और तबला बजाने का अच्छा अभ्यास किया है।

गो. माधवराय जी—ये गो. द्वारकेशलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र हैं, और उनके उपरांत पोरबंदर एवं मथुरा के मंदिरों के अधिपति हुए हैं। इनका जन्म सं. १९९७ में हुआ था। अपनी बाल्यावस्था से ही इन्होंने अद्भुत प्रतिभा और क्रियाशीलता का परिचय दिया है। ये अपने पिता जी के सदृश अत्यंत सरल, उदार और निरभिमानी धर्माचार्य एवं कुशल कलाकार हैं। कई वर्ष से ये 'अग्निकुमार' नामक एक त्रैमासिक पत्र का संपादन और प्रकाशन कर रहे हैं, जो हिंदी और गुजराती दोनों भाषाओं में छपता है। सांप्रदायिक प्रचार के लिए ये अहर्निश यत्नशील रहते हैं। इनका निवास पोरबंदर और मथुरा दोनों स्थानों में रहता है; किंतु व्रज के अनन्य प्रेमी होने के कारण इन्हें मथुरा–वास अधिक रुचिकर है। मथुरा के मंदिर का इन्होंने जीर्णोद्धार कर इसे नया रूप प्रदान किया है; और अपने यशस्वी पिता जी की स्मृति में 'श्री द्वारकेश स्मारक समिति' की स्थापना कर इसके द्वारा ये मथुरा की कलात्मक समृद्धि में योग दे रहे हैं।

गो. माधवराय जी के छोटे भाई श्री रसिकराय जी हैं। इनका जन्म सं. २००० में हुआ था। ये भी अपने अग्रज की भाँति बड़े उत्साही और कर्मठ युवक हैं। इन्होंने संगीत और विशेष कर सितार–वादन में अच्छी योग्यता प्राप्त की है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वैदिक और लौकिक संस्कृतियों की उभय धाराओं के संगम-काल को 'जनपदीय युग' की संज्ञा दी है और उसका समय ईसवीपूर्व सन् १००० से ईसवीपूर्व ५०० तक का निर्धारित किया है[1]। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल में ही अवैदिक देवताओं की उपासना आर्य और अनार्य सभी वर्गों और सभी धर्मों में प्रचलित हो गई थी। ऐसे अवैदिक देवताओं में यक्ष और नाग प्रमुख थे। यहाँ पर उनकी उपासना-पूजा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

यक्षोपासना और यक्ष-पूजा—

प्राचीन परंपरा—भारत के प्राचीनतम लोक देवता यक्षों की परंपरा का अनुसंधान करने से ज्ञात होता है कि उनका उल्लेख वैदिक वाङ्मय से ही मिलने लगता है। प्राचीन वैदिक संहिताओं में यक्षों के प्रति दुर्भावना व्यक्त की गई है, किंतु उत्तर वैदिक वाङ्मय में उनके प्रति सद्भावना दिखलाई देती है। 'ऋग्वेद के एक मंत्र (५, ७०, ४) में अग्नि देव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वे यक्ष के पास न जावें। दूसरे मंत्र (७, ५६, १६) में प्रार्थना की गई है, हे देवता! हमें यक्ष न मिलें। ब्राह्मण ग्रंथों में यक्षों के प्रति सद्भावना व्यक्त की गई है और आरण्यकों में उन्हें आर्यों के देवताओं में सम्मिलित कर लिया गया है। 'गोपथ ब्राह्मण' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में यह भावना प्रकट की गई है कि मनुष्य तप से यक्ष हो सकता है। 'वृहद् आरण्यक' (५, ४) में यक्षराज को ब्रह्मा के समकक्ष कहा गया है। बाद में यक्षों के राजा कुबेर उत्तर दिशा के दिग्पाल मान लिये जाते हैं और वाल्मीकि रामायण (२-११, ८, ४) में यक्षत्व की प्राप्ति अमरत्व की प्राप्ति मानी गई है[2]।' गृह्य सूत्रों में यक्षों की उपासना और उनकी स्तुतियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत (शांति पर्व, १७१-५२) और रामायण (लंकाकांड, ७१-६७) में यक्ष के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। महाभारत में यक्ष का नाम 'राजा' भी मिलता है। इस प्रकार वैदिक धर्म के सर्वमान्य ग्रंथों में यक्षों का उल्लेख विभिन्न रूपों में और विविध नामों से प्राप्त होता है।

जैन धर्म के ग्रंथों में यक्ष-पूजा को विशेष महत्व दिया गया है। इस धर्म के २४ तीर्थंकरों के साथ २४ यक्षों और २४ यक्षिणियों को भी मान्यता दी गई है, जिनकी आकृतियाँ तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ बनाई जाती हैं। 'जैनियों के ठाणांग सूत्र' में यक्षों की गणना 'वाणमंतर' देवों में की गई है और 'ज्ञाता धर्म कथा' में सेलग नामक एक उपकारी यक्ष का उल्लेख हुआ है। जैन ग्रंथों में पूर्णभद्र, समुद्रभद्र, सर्वतोभद्र, सुमनभद्र, मणिभद्र सहित १६ यक्षों के नाम मिलते हैं। जैन ग्रंथ 'संग्रहणी' में बतलाया गया है कि यक्ष गंभीर, प्रियदर्शी और बहुगुण सम्पन्न होते हैं। वे किरीटधारी तथा रत्न विभूषित होते हैं और वटवृक्ष उनका ध्वज चिह्न है[4]।' बौद्ध धर्म की जातक कथाओं में यक्षों का कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ७

(२) राय गोविंदचंद्र कृत 'प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा', पृष्ठ १३६

(३) डा० कुमारस्वामी कृत 'यक्षाज़' (खंड २), पृष्ठ ४

(४) श्री कमलेश्वर का 'अमर उजाला' में प्रकाशित लेख,—'यक्ष-रात्रि और यक्ष-पूजा।

सप्तम गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी पंचम गृह की भाँति कामवन में है। जैसा पहिले लिखा गया है, औरंगजेबी काल में श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को व्रज से हटाये जाने के उपरांत पहिले उन्हें जयपुर में और फिर बीकानेर में विराजमान किया गया था। उस समय गो. व्रजपाल जी सप्तम गृह की गद्दी पर और गो. गोविंद जी पंचम गृह की गद्दी पर आसीन थे। गो. व्रजपाल जी का कोई उत्तराधिकारी नहीं था; अतः उनकी गद्दी की देख-भाल भी गो. गोविंद जी ही करते थे। सं. १९२८ में गो. गोविंद जी ने श्री गोकुलचंद्रमा जी के स्वरूप को बीकानेर से हटा कर कामवन में प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया, तव श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को भी कामवन में ला कर विराजमान किया गया था। तव से पंचम गृह की भाँति सप्तम गृह की गद्दी भी कामवन में क़ायम हो गई। गो. गोविंद जी दोनों स्वरूपों के मंदिरों की व्यवस्था और दोनों गद्दियों की देख-भाल करते थे। सं. १९४० में जब गो. गोविंद जी का देहांत हो गया, तव उनके ज्येष्ठ पुत्र देवकीनंदन जी पंचम गृह की गद्दी पर बैठे थे, और छोटे पुत्र गोपाललाल जी सप्तम गृह में गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे।

सप्तम घर के गोस्वामी गण—कामवन वाले गो. गोपाललाल जी का जन्म सं. १९१७ में हुआ था। सप्तम घर के अधिपति होने के उपरांत उन्होंने अपने सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी की सेवा का समुचित प्रवंध किया था। उनके पुत्र श्रीरमण जी थे, जिनका जन्म सं. १९५० में हुआ था। वे अपने पिता के उपरांत इस घर की गद्दी पर आसीन हुए थे। गो. श्रीरमण जी के पुत्रों में घनश्यामलाल जी सबसे बड़े हैं, जो उनके उपरांत इस घर के अधिपति हुए हैं।

गो. घनश्यामलाल जी—इनका जन्म सं. १९७९ में हुआ था। ये उत्साही धर्माचार्य हैं, और अपने घर की गौरव–वृद्धि करने में यत्नशील हैं।

'लाल जी' का घर—श्री तुलसीदास जी उपनाम 'लाल जी' के पुष्टि संप्रदायी गृह की जो परंपरा भारत के पश्चिमोत्तर सीमावर्ती नगर डेराग़ाज़ीखाँ और डेराइस्मायलखाँ में प्रचलित हुई थी, उसका विकास सं. १६४१ से लेकर पंजाव–सिंध प्रदेशों पर अंगरेज़ों का अधिकार होने के काल सं. १९०६ तक होता रहा था। अंगरेजी शासन में इनमें शिथिलता आ गई थी। सं. २००४ में जब अंगरेज़ी शासन की समाप्ति होने पर इस देश का विभाजन हुआ था, तव इस घर के प्रमुख सांप्रदायिक केन्द्र डेराग़ाज़ीखाँ, डेराइस्मायलखाँ, बहावलपुर आदि पाकिस्तान में चले गये थे। उस संकट काल में इस घर के वंशज और उनके शिष्य–सेवक पाकिस्तानी नगरों को छोड़ कर भारतीय नगरों में आ कर बस गये। इस समय ये अधिकतर दिल्ली, हरिद्वार और वृंदावन में वसे हुए हैं। इस गद्दी के सेव्य स्वरूप श्री गोपीनाथ जी, जो पहिले डेराग़ाज़ीखाँ में प्रतिष्ठित थे, अब वृंदावन की सुखनमाता कुंज में विराजमान हैं। इस घर के वर्तमान अधिपति श्री बांकेलाल जी (जन्म सं. १९५३) और इनके पुत्र रतनलाल जी (जन्म सं. १९८२) हैं।

वल्लभ संप्रदाय के सेव्य स्वरूप, मंदिर और उत्सव—

सेव्य स्वरूप—इस संप्रदाय के सर्वमान्य सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी, यमुना जी और गिरिराज जी हैं। इनके संबंध में सांप्रदायिक मान्यता है कि गोवर्धन पहाड़ी पर से इन तीनों का एक साथ प्राकट्य हुआ है। इनमें मध्यवर्ती देवदमन हैं; उनके वाम पार्श्व में नागदमन और दक्षिण पार्श्व में इंद्रदमन हैं। 'भावप्रकाश' के अनुसार देवदमन श्रीनाथ जी हैं, नागदमन यमुना जी हैं, और इंद्रदमन गिरिराज जी हैं। इनके अतिरिक्त और भी स्वरूप हैं, जिनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी का मंदिर बनवा कर व्रजवासियों को उनकी सेवा करने का आदेश दिया था। बाद में उन्हें और भी स्वरूप प्राप्त हुए थे, किंतु यात्रा में रहने के कारण वे उस समय उनकी सेवा नहीं कर सके थे, अतः उन्हें शिष्य-सेवकों के लिए सेवार्थ सौंप दिया गया था। जब आचार्य जी यात्राओं से निवृत्त होकर स्थायी रूप से अड़ैल में रहने लगे, तब वे स्वरूप उन्हें पुनः प्राप्त हो गये थे। श्री वल्लभाचार्य जी के उपरांत वे स्वरूप उनके पुत्र गो. विट्ठलनाथ जी को प्राप्त हुए। गोसाईं जी ने जब स्थायी रूप से व्रज-वास करने का निश्चय किया, तब वे उक्त स्वरूपों को अड़ैल से व्रज में ले आये थे, और यहाँ उन्हें गोकुल में प्रतिष्ठित किया था। सं. १६३८ में गोसाईं जी ने अपने पुत्रों का बटवारा किया था। उस समय उन्होंने प्रमुख सेव्य स्वरूपों को भी उनमें वितरित कर दिया था।

बटवारा के अनुसार श्री मथुरेश जी की सेवा प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी को दी गई थी। उनके साथ ही श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा पर भी उनका विशेषाधिकार निश्चित किया गया। शेष पुत्रों को एक-एक स्वरूप की सेवा दी गई। इस प्रकार गोसाईं जी के सात पुत्रों की वंश-परंपरा में उक्त स्वरूपों की सेवा प्रचलित हुई। उनमें से श्रीनाथ जी जतीपुरा के मंदिर में और शेष स्वरूप गोकुल के मंदिरों में विराजमान थे। औरंगजेबी शासन के आरंभिक काल सं. १७२६ के लगभग इस संप्रदाय के सभी प्रमुख स्वरूप गोवर्धन और गोकुल के मंदिरों से हटा कर अन्य स्थानों में प्रतिष्ठित कर दिये गये थे। कालांतर में जब व्रज की स्थिति अनुकूल हो गई, तब कतिपय स्वरूपों को पुनः यहाँ ले आया गया; किंतु शेष स्वरूप अब भी व्रज से बाहर के स्थानों में विराजमान हैं। यहाँ पर उक्त प्रमुख स्वरूपों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. श्रीनाथ जी—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य गोवर्धन में गिरिराज पहाड़ी की एक कंदरा से हुआ था। श्री वल्लभाचार्य जी ने वहाँ पर उनका मंदिर बनवा कर उनकी सेवा प्रचलित की थी। सं. १७२६ में उन्हें गिरिराज के मंदिर से हटा कर मेवाड़ ले जाया गया था, जहाँ नाथद्वारा के मंदिर में वे अब भी विराजमान है। श्रीनाथ जी के श्रीअंग विविध चिह्नों से सुशोभित और अलंकारों से विभूषित हैं। इनके पीठक पर शुक, मेष, सूर्य, मोर और गायों की आकृतियाँ अंकित हैं। पुष्टि संप्रदायी साहित्य में श्रीनाथ जी के इन सभी चिह्नों का उल्लेख मिलता है, और इनका माहात्म्य बतलाया गया है[1]। श्रीनाथ जी विविध परिस्थितयों में जिन विभिन्न स्थानों में विराजे हैं, वहाँ उनकी चरण-चौकियाँ और बैठकें बनी हुई हैं। व्रज में २ चरण-चौकियाँ और ४ बैठकें हैं; शेष अन्य स्थानों में हैं। व्रज की प्रमुख चरण-चौकी जतीपुरा के पुराने मंदिर में है, जहाँ श्रीनाथ जी अपने प्राकट्य काल से लेकर सं. १७२६ तक विराजे थे। उसके उपरांत वे विविध स्थानों में होते हुए नाथद्वारा के मंदिर में प्रतिष्ठित हुए, जहाँ वे अब भी विराजमान हैं। दूसरी चरण-चौकी मथुरा के 'सतघरा' में है, जहाँ श्रीनाथ जी सं. १६२३ की माघ कृ. ७ को जतीपुरा के मंदिर से पधारे थे, और ४० दिन तक विराजमान रहे थे। श्रीनाथ जी की तीन बैठकें गोवर्धन के श्यामढाक, गुलालकुंड और 'टोड़ का घना' नामक स्थलों में हैं, और चौथी रासोली गाँव में है।

---

(१) १. **षटऋतु वार्ता में 'वल्लभ कुल को प्राकट्य'**, पृष्ठ ५८

२. **वल्लभीय सुधा (वर्ष ४, अंक २) गुजराती विभाग**, पृष्ठ २

२. श्री नवनीतप्रिय जी—'वार्ता' के अनुसार श्री नवनीतप्रिय जी का स्वरूप महावन की एक क्षत्राणी को ब्रह्मांड घाट पर यमुना जी में से प्राप्त हुआ था। उसने उन्हें श्री वल्लभाचार्य जी को प्रदान कर दिया था। आचार्य जी ने इन्हें आगरा निवासी गज्जन धवन को सेवार्थ सोंप दिया था। बाद में वे इन्हें अड़ैल ले गये थे[1]। आचार्य जी के उपरांत गोसाईं जी ने इन्हें गोकुल में प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने अपने घरेलू बटवारा में प्रथम पुत्र गिरिधर जी को इनकी सेवा करने का विशेषाधिकार दिया था। इस समय यह स्वरूप श्रीनाथ जी के साथ नाथद्वारा में विराजमान हैं।

३. श्री मथुरानाथ जी—इन्हें श्री मथुरेश जी अथवा श्री मथुराधीश जी भी कहा जाता है। इनका स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी को महावन – रमणस्थल के दूसरी ओर कर्णावल नामक स्थान के निकट यमुना जी से प्राप्त हुआ था। उन्होंने कन्नौज निवासी कथा-व्यास पद्मनाभदास जी को इन्हें सेवा के लिए सोंप दिया था[2]। बाद में इन्हें गो. विट्ठलनाथ जी ने प्राप्त किया था। घरेलू बटवारा में इनकी सेवा प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी को दी गई थी। कालांतर में यह स्वरूप गिरिधर जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी दीक्षित के घर में विराजमान हुए। अब से कुछ समय पहिले तक मथुरेश जी कोटा के मंदिर में प्रतिष्ठित थे। इस घर के वर्तमान गो. रणछोड़लाल जी इन्हें कोटा से गोवर्धन ले आये हैं। इस समय ये गोवर्धन के मंदिर में विराजमान हैं।

४. श्री विट्ठलनाथ जी—गो. विट्ठलनाथ जी ने इस स्वरूप को अपने द्वितीय पुत्र गोविंदलाल जी को दिया था। इस समय यह स्वरूप द्वितीय गृह की नाथद्वारा गद्दी के मंदिर में विराजमान हैं।

५. श्री द्वारकाधीश जी—इन्हें श्री द्वारकानाथ जी भी कहा जाता है। 'वार्ता' के अनुसार यह स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी को कन्नौज के नारायणदास दर्जी से प्राप्त हुआ था। आचार्य जी ने इन्हें दामोदरदास क्षत्रिय को सेवार्थ सोंप दिया था। दामोदरदास के देहावसान के उपरांत यह स्वरूप श्री आचार्य जी के निवास-स्थान अड़ैल में प्रतिष्ठित किया गया; और बाद में श्री विट्ठलनाथ जी ने इन्हें गोकुल में विराजमान किया था। गोसाईं जी के घरेलू बटवारा में श्री द्वारकाधीश जी तृतीय पुत्र श्री बालकृष्ण जी को प्राप्त हुए थे[3]। इस समय यह स्वरूप श्री बालकृष्ण जी के वंशजों की सेवा में मेवाड़ के कांकरोली नामक स्थान में विराजमान हैं।

६. श्री गोकुलनाथ जी—आरंभ में इस स्वरूप की सेवा श्री वल्लभाचार्य जी की ससुराल में होती थी। वहाँ से इन्हें आचार्य जी ने प्राप्त किया था। श्री गोसाईं जी ने इनकी सेवा अपने चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी को दी थी। इस समय यह स्वरूप चतुर्थ गृह की गद्दी के अंतर्गत गोकुल के मंदिर में विराजमान हैं।

७. श्री गोकुलचंद्रमा जी—'वार्ता' से ज्ञात होता है, महावन की एक क्षत्राणी ने इस स्वरूप को ब्रह्मांडघाट पर श्री यमुना जी में से प्राप्त किया था। उसने इन्हें श्री वल्लभाचार्य जी के अर्पित कर दिया था। आचार्य जी ने इन्हें अपने सेवक नारायणदास ब्रह्मचारी को सेवार्थ सोंप दिया था। ब्रह्मचारी जी का देहावसान होने के उपरांत श्री गोकुलचंद्रमा जी गो. विट्ठलनाथ जी को प्राप्त

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'एक क्षत्रानी की वार्ता' और 'गज्जन धवन की वार्ता'

(२) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'पद्मनाभदास की वार्ता'

(३) श्री द्वारकाधीश जी की प्राकट्य-वार्ता

हुए थे[1]। उन्होंने बटवारा के समय इन्हें अपने पंचम पुत्र रघुनाथ जी को प्रदान किया था। उनके वंशजों ने औरंगजेबी काल में इन्हें गोकुल से हटा कर पहिले जयपुर में और फिर बीकानेर में प्रतिष्ठित किया था। इस समय ये कामवन स्थित पंचम गद्दी के मंदिर में विराजमान है।

८. **श्री कल्याणराय जी**—गो. विट्ठलनाथ जी ने घरेलू बटवारा के समय अपने छठे पुत्र यदुनाथ जी को पहिले श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप प्रदान किया था। उक्त स्वरूप के बहुत छोटे होने के कारण यदुनाथ जी की उनसे संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने खिन्न मन से उक्त स्वरूप को श्री द्वारकाधीश जी की गोद में पधरा दिया था, जिससे उनकी सेवा भी तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी को प्राप्त हो गई थी। यदुनाथ जी को उदास देख कर गो. विट्ठलनाथ जी ने फिर उन्हें श्री कल्याणराय जी का स्वरूप प्रदान किया। औरंगजेबी काल में यदुनाथ जी के वंशजों ने उक्त स्वरूप को गोकुल से हटा दिया था। इस समय ये छठे घर की शेरगढ़ (बड़ौदा) स्थित प्रथम गद्दी के मंदिर में विराजमान हैं।

९. **श्री बालकृष्ण जी**—जैसा अभी लिखा गया है, इस स्वरूप की सेवा भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी को प्राप्त हुई थी। बालकृष्ण जी के वंशजों ने औरंगजेबी काल में श्री द्वारकानाथ जी के साथ श्री बालकृष्ण जी को भी गोकुल से हटा दिया था। इस समय यह स्वरूप तृतीय गृह की सूरत गद्दी के मंदिर में विराजमान हैं।

१०. **श्री मुकुंदराय जी**—यह स्वरूप आजकल छठे घर की काशी-गद्दी के मंदिर में हैं।

११. **श्री मदनमोहन जी**—गो. विट्ठलनाथ जी ने बटवारा के समय इस स्वरूप को अपने सातवें पुत्र घनश्याम जी को प्रदान किया था। श्री घनश्याम जी के वंशजों ने औरंगजेबी काल में श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को गोकुल से हटा दिया था। उस समय इन्हे पहिले जयपुर में और फिर बीकानेर में प्रतिष्ठित किया गया था। बाद में श्री गोकुलचंद्रमा जी के साथ श्री मदनमोहन जी भी बीकानेर से हटा कर कामवन में प्रतिष्ठित किये गये थे। इस समय यह स्वरूप सातवें घर की कामवन-गद्दी के मंदिर में ही विराजमान हैं।

उपर्युक्त ११ प्रमुख सेव्य स्वरूपों के अतिरिक्त और भी बहुसंख्यक स्वरूप है, जो वल्लभ संप्रदाय के सैकड़ों मंदिर-देवालयों में विराजमान है। इनमें से १४५ सेव्य स्वरूप वल्लभवंशीय गोस्वामियों के मंदिरों में प्रतिष्ठित हैं। इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। शेप स्वरूप इस संप्रदाय के अनुगामी भक्तों द्वारा निर्मित मंदिरों में विराजमान हैं।

सांप्रदायिक मंदिर और दर्शनीय स्थल—ब्रजमंडल में वल्लभ संप्रदाय के बहुसंख्यक मंदिर-देवालय और दर्शनीय स्थल हैं, जो यहाँ के विविध धार्मिक स्थानों में बिखरे हुए हैं। ब्रज-यात्रा के समय यात्री गण इन सब के दर्शन करते हैं। इनका दर्शन करते ही इस संप्रदाय के विगत चार सौ वर्ष का इतिहास उनके समक्ष साकार हो जाता है। इनकी सांप्रदायिक महत्ता के साथ ही साथ इनका ऐतिहासिक महत्व भी है। यहाँ पर इन सभी स्थलों का उल्लेख किया जाता है।

१. **गोवर्धन**—ब्रज के इस पुरातन धार्मिक क्षेत्र में इस संप्रदाय के सर्वाधिक और सर्व-प्राचीन दर्शनीय स्थल हैं। यहीं पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, और उनके मंदिर के रूप में इस संप्रदाय का प्रथम देवालय बनाया गया था। यहीं पर श्रीनाथ जी के अष्टसखाओं का निवास था। इस क्षेत्र के विविध स्थानों मे जो दर्शनीय स्थल हैं, उनका नामोल्लेख यहाँ किया गया है।

---

(१) चौरासी वार्ता में 'एक क्षत्राणी की वार्ता' और 'नारायणदास ब्रह्मचारी की वार्ता'

आन्योर में—श्री वल्लभाचार्य जी की गोवर्धन में आरंभिक बैठक और सद्दू पांडे का निवास-स्थान। गोविंदकुंड पर श्री आचार्य जी के संध्या-वंदन की बैठक। संकर्षण कुंड पर कुंभनदास जी का विश्राम-स्थल।

पूछरी पर—श्री गिरिराज जी का अंतिम छोर (पुच्छ), रामदास की गुफा, अप्सराकुंड पर छीतस्वामी का निवास-स्थल, निकटवर्ती वन में अधिकारी कृष्णदास जी के देहावसान का कूआ।

जतीपुरा में—श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल, उनका मुखारविंद, प्राचीन मंदिर और चरण-चौकी; सर्वश्री आचार्य जी, गोसाईं जी, गिरिधर जी, गोकुलनाथ जी और हरिराय जी की बैठकें; श्री मथुरेश जी का मंदिर; गोस्वामी बालकों के निवास-स्थान और समाधि-स्थल; श्यामढाक और गुलालकुंड पर श्रीनाथ जी की बैठकें; रुद्रकुंड पर चतुर्भुजदास जी के देहावसान का स्थल, गोविंद-स्वामी की कदमखंडी, बिलछूकुंड पर कृष्णदास जी का विश्राम-स्थल और सुरभीकुंड पर परमानंद दास जी के निवास और देहावसान का स्थल।

चंद्रसरोवर पर—परासोली गाँव के इस सरोवर पर सर्वश्री आचार्य जी, गोसाईं जी, गोकुलनाथ जी और दामोदरदास जी की बैठकें; सूरदास जी के निवास की कुटी और देहावसान का चबूतरा, सूरदास-स्मारक।

जमुनावतौ में—कुंभनदास जी और चतुर्भुजदास जी का निवास-स्थल।

मानसीगंगा पर—श्री आचार्य जी के संध्या-वंदन की बैठक; नंददास जी के निवास और देहावसान का स्थल।

राधाकुंड पर—श्री गिरिराज जी का दूसरा छोर (जिह्वा); सर्वश्री आचार्य जी, गोसाईं जी और गोकुलनाथ जी की बैठकें।

२. **गोकुल**—व्रजमंडल में श्री वल्लभाचार्य जी के प्रथम आगमन और 'ब्रह्म संबंध' की प्रथम दीक्षा का स्थल, श्री आचार्य जी की प्रथम बैठक; सर्वश्री गोसाईं जी, गोकुलनाथ जी, रघुनाथ जी, घनश्याम जी, दामोदरदास जी की बैठकें; पुष्टि संप्रदाय के सेव्य स्वरूपों के प्राचीन मंदिर; श्री गोकुलनाथ जी का मंदिर, चतुर्थ गृह की गद्दी और गोस्वामियों के निवास-स्थान।

३. **महावन**—दामोदरदास जी की बैठक और गोविंदस्वामी का टीला।

४. **मथुरा**—श्री यमुना जी की धारा; 'सतघरा' में श्रीनाथ जी की चरण-चौकी; विश्राम-घाट पर श्री आचार्य जी की बैठक; श्री मदनमोहन जी – श्री दाऊजी, श्री छोटे मदनमोहन जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री द्वारकाधीश जी आदि स्वरूपों के मंदिर, छठे घर की गद्दी और गोस्वामियों के निवास-स्थान।

५. **वृंदावन**—वंशीवट के समीप सर्वश्री आचार्य जी, गोसाईं जी, गोकुलनाथ जी और दामोदरदास जी की बैठकें; मानसरोवर पर श्री आचार्य जी की बैठक।

६. **कामवन**—श्री गोकुलचंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के मंदिर; श्री आचार्य जी, गोसाईं जी और गोकुलनाथ जी की बैठकें; पंचम और सप्तम घरों की गद्दियाँ तथा गोस्वामियों के निवास-स्थान।

७. **व्रज के विविध लीला-स्थल**—मधुवन, कुमुदवन, बहुलावन, नंदगाँव, संकेत, प्रेम-सरोवर, करहला, कोकिलावन, रीठौरा, कोटवन, भांडीरवन, बेलवन में सर्वश्री आचार्य जी तथा गोसाईं जी की बैठकें; कामर और नरी-सेंमरी में श्री गिरिधर जी की बैठकें।

सांप्रदायिक उत्सव—वल्लभ संप्रदाय में वर्ष के जिन उत्सवों का विशेष महत्त्व माना गया है, वे मास-क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं,—

चैत्र—शु. ६ को श्री यमुना जी का जन्मोत्सव तथा यदुनाथ जी का जन्म-दिवस, शु. ९ को श्रीराम-जन्मोत्सव।

वैशाख—कृ. ११ को श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म-दिवस, शु. ५ को सूरदास जी का जन्म-दिवस, शु. १४ को श्रीनृसिंह जन्मोत्सव।

ज्येष्ठ—शु. १५ को जल-यात्रा उत्सव।

आषाढ़—शु. ६ को कुसुंभी छठ, श्री लक्ष्मणभट्ट जी का जन्म-दिवस, शु. ११ को देवशयनी एकादशी, चातुर्मास्य आरंभ, शु. १५ को गुरु-पूर्णिमा।

श्रावण—शु. ११ को पवित्रा एकादशी, पुष्टिमार्ग की स्थापना और 'ब्रह्म संबंध' दीक्षा के शुभारंभ का दिवस।

भाद्रपद—कृ. ८ को श्री कृष्ण-जन्मोत्सव; शु. १२ को श्री वामन-जन्मोत्सव।

आश्विन—कृ. ५ को हरिराय जी का जन्म-दिन, कृ. ११ सांझी-उत्सव, शु. १५ शरदोत्सव।

कार्तिक—शु. ८ को गोचारणोत्सव, शु. १२ को श्री गिरिधर जी और श्री रघुनाथ जी का जन्म-दिवस।

मार्गशीर्ष—कृ. ८ को श्री गोविंदराय का जन्म-दिवस, कृ. १३ को श्री घनश्याम जी का जन्म-दिवस, शु. ७ को श्री गोकुलनाथ जी का जन्म-दिवस।

पौष—कृ. ९ को गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म-दिवस।

माघ—शु. ५ को वसंतोत्सव।

फाल्गुन—कृ. ७ को श्रीनाथ जी का पाटोत्सव, शु. १५ को होलिकोत्सव।

वर्तमान स्थिति—

सांप्रदायिक विकृति—विगत काल में वल्लभ संप्रदाय ने अभूतपूर्व उन्नति की थी, और इसका देशव्यापी विस्तार हुआ था। इसका प्रमुख कारण पूर्ववर्ती आचार्यों और उनके अनुगामी भक्तों का उच्च कोटि के धार्मिक भाव, त्याग-तप, पांडित्य आदि अनुपम गुणों से विभूषित होना था। कालांतर में उनमें उक्त गुणों की लगातार कमी होने लगी थी। इसके साथ ही इस संप्रदाय के सुविस्तृत सेवा-मंडान का रूप भी क्रमशः विकृत होने लगा था। जैसा पहिले लिखा गया है, वैदिक धर्म के व्ययसाध्य याज्ञिक विधान की प्रतिक्रिया में भक्ति संप्रदायों ने भाव-यज्ञ के रूप में मानसी सेवा का प्रचलन किया था। किंतु पुष्टिमार्गीय सेवा का आडंबर उन प्राचीन यज्ञ-यागादि के वृहत् विधान से भी बढ़ गया था! उसके कारण ठाकुर-सेवा भक्त जनों की साधना की वस्तु न होकर समृद्धिशाली धनाढ्य व्यक्तियों के मनोरंजन की चीज बन गई थी! फलतः इस संप्रदाय के अनुगामियों की मनोवृत्ति विषय-भोग के त्याग की अपेक्षा उनमें रमने की ओर अधिक होने लगी। इसका प्रभाव वल्लभवंशीय गोस्वामियों से लेकर उनके शिष्य-सेवकों तक पर समान रूप से हुआ था। इन सब कारणों से इस संप्रदाय की स्थिति दिन-प्रतिदिन विकृत होती रही है।

आधुनिक काल में उक्त स्थिति का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। इस समय इस संप्रदाय की न पहिले जैसी प्रतिष्ठा है, और न इसके आचार्यों का पूर्ववत् आदर-सन्मान है। प्राचीन धार्मिक स्थल सुरक्षा और देख-रेख के अभाव में नष्ट होते जा रहे हैं। मंदिर-देवालयों की स्थिति इतनी शोचनीय है कि इनमें ठाकुर-सेवा भी ठीक तरह से नहीं हो पाती है। इसके अनुयायियों की संख्या भी कम हो गई है। इस स्थिति में नवयुग के अनुसार सुधार होना अत्यावश्यक है।

चैतन्य संप्रदाय

पुनरुत्थान के प्रयासी गौड़ीय महानुभाव—

सांप्रदायिक गति-विधि—जैसा पहिले लिखा गया है, बलदेव विद्याभूषण के पश्चात् इस संप्रदाय में कोई ऐसा सर्वमान्य धर्माचार्य नहीं हुआ, जो सांप्रदायिक गौरव बनाये रखने में समर्थ होता, और बंगाल एवं उड़ीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तों पर ब्रज का धार्मिक अनुशासन क़ायम रखता। फिर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने ब्रज का ऐसा भीषण विनाश किया कि उससे राजनैतिक और आर्थिक गति-रोध के साथ ही साथ धार्मिक ह्रास भी प्रचुर परिमाण में हुआ था। यद्यपि उस काल में ब्रज की धार्मिक स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई थी, तथापि इसके पूर्व गौरव की व्यापक प्रसिद्धि के कारण अन्य स्थानों के चैतन्य-भक्त तब भी इसके प्रति श्रद्धावान बने रहे थे। उनमें से जिनको जब कभी सुविधा होती, वे अपने दूरस्थ प्रदेशों से यहाँ आकर बसते, और यहाँ की ह्रासोन्मुखी स्थिति के सुधारने में अपना महत्वपूर्ण योग देते थे। यहाँ आने वाले धर्मप्राण व्यक्तियों को ब्रज के तत्कालीन गौड़ीय धर्माचार्यो और विरक्त महात्माओं से बड़ी प्रेरणा मिलती थी। उन सब के सामूहिक सहयोग से आधुनिक काल में इस संप्रदाय के पुनरुत्थान के जो प्रयत्न किये गये, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

समृद्धिशाली भक्तों के प्रयास—चैतन्य संप्रदाय के पुनरुत्थान के लिए समृद्धिशाली भक्तों द्वारा किये गये प्रयास सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं। औरंगजेबी शासन में इस संप्रदाय के जो प्रसिद्ध मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे प्रचुर काल तक ध्वंसावस्था में पड़े रहे थे। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उनके देव-विग्रहों को वृंदावन से हटा कर जयपुर में प्रतिष्ठित कर दिया गया था। उसके कारण ब्रज में निवास करने वाले गौड़ीय भक्तों को अपने उपास्य देवों की सेवा-पूजा करने का समुचित साधन नहीं रहा था। उस असुविधा को दूर करने के लिए इस संप्रदाय के समृद्धिशाली भक्तों ने वृंदाबन में कितने ही मंदिर-देवालयों का निर्माण कराया था। ऐसे समृद्ध भक्तों में नंदकुमार वसु, कृष्णचंद्र सिंह (लाला बाबू), शाह कुंदनलाल-फुंदनलाल (ललित किशोरी-ललित माधुरी), भैया बलवंतराव सिंघे और बनमाली बाबू (तराश वाले) के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

नंदकुमार वसु—वह एक समृद्धिशाली बंगाली भक्त था। जब वह तीर्थ-यात्रा करते हुए वृंदावन आया, तब यहाँ के मंदिर-देवालयों की दुर्दशा देख कर वह बड़ा दुखी हुआ था। उसने वृंदावन के प्राचीन गौड़ीय देव-स्थानों के निकट नये मंदिरों का निर्माण करा कर उनमें मूल स्वरूपों के प्रतिभू विग्रह प्रतिष्ठित किये थे। इस प्रकार श्री गोविंददेव जी, श्री मदनमोहन जी और श्री गोपीनाथ जी के नये मंदिर सं. १८७७ में बनवाये गये। वही मंदिर इस समय भी वृंदावन के गौड़ीय देव-स्थानों में अग्रगण्य हैं। पुराने मंदिरों की देख-भाल भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के नियंत्रण में होती है।

कृष्णचंद्र सिंह (लाला बाबू)—वह बंगाल के धनी-मानी कायस्थ परिवार का एक श्रद्धालु भक्त था। अपनी युवावस्था में ही घर के राजसी वैभव से विरक्त होकर वह सं. १८७० के लगभग ब्रज-वास करने को आया था। उसने लाखों रुपया लगा कर यहाँ मंदिर, धर्मशाला, घाट, कुंड-सरोवर आदि का निर्माण कराया और अन्न-क्षेत्र की व्यवस्था की थी। उनके व्यय के लिए उसने बहुत बड़ी जिमीदारी खरीदी थी। वह 'लाला बाबू' के नाम से प्रसिद्ध था। उसने

वृंदावन में जो विशाल मंदिर बनवाया, वह 'लाला बाबू' का मंदिर कहलाता है। वह गोवर्धन के गौड़ीय महात्मा कृष्णदास (सिद्ध बाबा) का बड़ा भक्त था, और मथुरा के सेठ मनीराम-लक्ष्मीचंद से उसका मैत्री-भाव था। ऐसा कहा जाता है, किसी भूमि के स्वामित्व के संबंध में लाला बाबू और सेठों में कुछ मनोमालिन्य हो गया था, जिसके कारण दोनों में बोल-चाल भी बंद हो गई थी। जब वह बात सिद्ध बाबा को ज्ञात हुई, तो उन्होंने लाला बाबू से कहा,—'तुम ब्रज में भक्ति-साधना करने को आये हो, या ईर्ष्या-द्वेष करने !' उस पर लाला बाबू सेठों से क्षमा माँगने उनके निवास-स्थान पर गया। उसकी विनम्रता देख कर वे उसके पैरों पर गिर पड़े। इस प्रकार उन धर्मप्राण महापुरुषों का क्षणिक मनोमालिन्य पूर्ववत् स्नेह में परिवर्तित हो गया। लाला बाबू का देहावसान गोवर्धन में एक घोड़े की अकस्मात लात लग जाने की चोट से हुआ था। उसका अंतिम संस्कार वृंदावन में किया गया। देहावसान के समय उसकी आयु केवल ४० वर्ष की थी।

शाह कुंदनलाल–फुंदनलाल—वे दोनों भाई अग्रवाल कुलोत्पन्न लखनऊ के धनाढ्य जौहरी थे। उनका जन्म क्रमशः सं. १८८२ और सं. १८८५ में हुआ था। अपनी युवावस्था में ही वे भक्ति-मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने लखनऊ छोड़ कर वृंदावन में निवास किया और अपनी धार्मिक एवं साहित्यिक देन से ब्रज की सांस्कृतिक स्थिति को समृद्ध किया था। उन्होंने वृंदावन के राधारमणीय गोस्वामी राधागोविंद जी से चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा ली थी, और श्री राधारमण जी के मंदिर-निर्माण में योग दिया था। सं. १९२५ में उन्होंने वृंदावन में संगमरमर का एक विशाल कलात्मक मंदिर बनवाया, जो 'शाह जी का मंदिर' कहलाता है। वे परम भक्त होने के साथ ही साथ ब्रजभाषा के सुकवि भी थे। उनके काव्योपनाम क्रमशः 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' थे। उनका देहावसान क्रमशः सं. १९३० और सं. १९४२ में हुआ था। उनके वंशज शाह गौरशरण वृंदावन के प्रतिष्ठित नागरिक और उत्साही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं।

भैया बलवंतराव सिंधे—वे ग्वालियर-नरेश जयाजीराव सिंधे के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १९११ की आषाढ़ कृ. ११ को लश्कर में हुआ था। राजकीय पुरुष होते हुए भी उनकी वृत्ति आरंभ से ही भक्ति और वैराग्य की ओर थी। वे ब्रज के परमोपासक थे, और गोवर्धन-वृंदावन आदि लीला-स्थलों में आ कर भक्ति-साधना किया करते थे। उन्होंने महात्मा हरिचरणदास जी से चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे धर्मनिष्ठ, साधुसेवी और उदारमना महापुरुष थे। उन्होंने ब्रज में लाखों रुपया धर्मार्थ लगा कर अपनी दानशीलता का परिचय दिया था। उनके धर्मार्थ कार्यों में मथुरा का 'श्री राधा-माधव भंडार ट्रस्ट' और गोवर्धन का 'श्री कृष्ण चैतन्यालय ट्रस्ट' उल्लेखनीय हैं। मथुरा ट्रस्ट द्वारा १३५ भजनानंदी साधुओं को मासिक वृत्ति देने की व्यवस्था है, और गोवर्धन ट्रस्ट द्वारा कुसुम सरोवर के देवालय की सेवा का प्रबंध किया जाता है। उक्त देवालय 'ग्वालियर वाला मंदिर' कहलाता है। इन ट्रस्टों की व्यवस्था और मंदिर-निर्माण के अतिरिक्त उन्होंने ब्रजभाषा भक्ति-काव्य की रचनाएँ भी की थीं। उनका देहावसान सं. १९८१ की पौष कृ. ११ को ७० वर्ष की आयु में हुआ था।

बनमाली बाबू—वे तराश जिला पावना के धनाढ्य बंगाली भक्त थे। उनका जन्म सं. १९२१ में हुआ था। वे आरंभ से ही धार्मिक और उदार प्रवृत्ति के थे। सं. १९५२ में उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति अपने उपास्य ठाकुर श्री राधाविनोद जी के नाम कर दी थी। फिर वे अपने परिवार और ठाकुर जी को लेकर ब्रज में आ गये थे। उन्होंने पहिले ब्रज के राधाकुंड नामक

लीला-स्थल में निवास किया और बाद में वे वृंदावन में रहने लगे थे। उन्होंने दोनों स्थानों में मंदिर बनवाये थे। वे अपने उपास्य देव के प्रति दामाद की सी भावना रखते थे, और उन्हें 'जमाई ठाकुर' कहते थे! वृंदावन में निर्मित उनका देवालय 'जमाई ठाकुर का मंदिर' कहलाता है। मंदिर-निर्माण के अतिरिक्त उन्होंने विद्यालय, औपधालय, धर्मशाला, अन्नक्षेत्र आदि की भी व्यवस्था की थी। उनके अनेक जनोपयोगी कार्यों में धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने चैतन्य संप्रदाय के विविध ग्रंथों के साथ ही साथ अष्ट टीका युक्त श्रीमद् भागवत का प्रकाशन भी कराया था। उनका देहावसान सं. १९७२ में वृंदावन में हुआ था।

गौड़ीय धर्माचार्यों की देन—चैतन्य महाप्रभु के प्रेमधर्म को व्यवस्थित रूप से प्रसारित करने के लिए जिन गौड़ीय धर्माचार्यों ने व्रज-वृंदावन में निवास किया था; उनमें से सर्वश्री सनातन, रूप, जीव, गोपाल भट्ट, नारायण भट्ट, कृष्णदास कविराज की देन बड़ी महत्वपूर्ण रही है। उनके अतिरिक्त सर्वश्री रामराय-चंद्रगोपाल और गदाधर भट्ट का योग भी उल्लेखनीय है। जब औरंगजेब के भीषण दमन-चक्र से व्रज में घोर धार्मिक संकट उत्पन्न हो गया था; तब सर्वश्री सनातन, रूप, जीवादि के उपास्य देव व्रज से हटा कर राजस्थान में प्रतिष्ठित किये गये थे। उस समय उनके परिकर के भक्त गण भी यहाँ से चले गये थे; जिसके कारण उनका व्रज से बहुत कम संबंध रह गया था। किंतु सर्वश्री गोपाल भट्ट, नारायण भट्ट, रामराय-चंद्रगोपाल और गदाधर भट्ट की परंपरा के अनेक भक्त गण उस काल में भी व्रज में निवास करते रहे थे। उन्होंने इस संप्रदाय की स्थिति को सुधारने का भी यथासाध्य प्रयत्न किया था।

नारायण भट्ट जी के वंशजों और शिष्यों ने व्रज के ऊँचागाँव तथा वरसाना में निवास कर उस क्षेत्र को अपनी धार्मिक गति-विधि का केन्द्र बनाया। उनमें नारायणदास श्रोत्रिय और उनके वंशज वरसाने के गोस्वामी गण का योग उल्लेखनीय है। रामराय-चंद्रगोपाल जी की परंपरा के भक्त गण वृंदावन में निवास करते रहे। उनमें सर्वश्री राधिकानाथ, ब्रह्मगोपाल और नंदकिशोर अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। ब्रह्मगोपाल जी बड़े प्रतापी पुरुष हुए। अंगरेजी शासन क़ायम होने से पहिले जब व्रज में मरहठों का प्रभुत्व था, तब ब्रह्मगोपाल जी ने अपनी विद्वत्ता से सिंधिया सरदार को प्रभावित कर उनके आदेश से वृंदावन में 'ब्रह्मपुरी' बसायी थी। उनके पौत्र नंदकिशोर जी संस्कृत के बड़े विद्वान और भागवत के विख्यात वक्ता हुए। उन्होंने 'ब्रह्मपुरी' में श्रीराधा-माधव जी का मंदिर बनवाया और संस्कृत एवं व्रजभाषा में अनेक काव्य-रचनाएँ कीं। इस समय उनके वंश में श्री यमुनावल्लभ जी अच्छे विद्वान हैं। गदाधर भट्ट जी की परंपरा में रसिकोत्तंस जी और उनके भाई वल्लभरसिक जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। रसिकोत्तंस जी संस्कृत के और वल्लभरसिक जी व्रजभाषा के विख्यात भक्त-कवि थे। उनके उपरांत गोवर्धन भट्ट जी और मधुसूदन भट्ट जी भी प्रसिद्ध विद्वान हुए। इस समय उनके वंशज गोवर्धनलाल जी और उनके पुत्र कृष्णचैतन्य जी अपने घर की परंपरा को क़ायम रखे हुए हैं। इन सभी चैतन्य संप्रदायी घरानों की अपेक्षा श्री गोपालभट्ट जी के परिकर द्वारा आधुनिक काल में इस संप्रदाय का अधिक हित-साधन हुआ है।

गोपाल भट्ट जी के परिकर का योग—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री गोपाल भट्ट जी के शिष्यों में श्रीनिवासाचार्य जी और गोपीनाथ जी प्रमुख थे। श्रीनिवासाचार्य जी को बंगाल में चैतन्य संप्रदाय के प्रचार का कार्य सोंपा गया था, और गोपीनाथ जी को वृंदावन में रह कर श्री राधारमण जी की सेवा करने का आदेश दिया गया था। गोपीनाथ जी विरक्त होने के

कारण अविवाहित थे; अतः उनके छोटे भाई दामोदरदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे। दामोदरदास जी गृहस्थ थे। उनके वंशज सदा से श्री राधारमण जी के सेवा-अधिकारी रहे हैं। इन्हें 'राधारमण जी के गोस्वामी' कहा जाता है, और इनके अनेक परिवार वृंदावन के श्री राधारमण जी के घेरा में स्थित हैं। इन गोस्वामियों एवं इनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा चैतन्य संप्रदाय का बड़ा प्रचार हुआ है, और इन्होंने ब्रजभाषा साहित्य के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योग दिया है। औरंगजेबी शासन-काल के बाद मे तो राधारमणीय गोस्वामियों के परिकर ने ही ब्रज में चैतन्य संप्रदाय का प्रमुख रूप से प्रतिनिधित्व किया है।

मनोहरराय जी, प्रियादास जी और वैष्णवदास जी—१८ वीं शताब्दी में गोपालभट्ट जी की शिष्य-परंपरा में मनोहरराय जी विख्यात महात्मा हुए। उनकी एक रचना 'श्री राधारमण रस सागर' है, जिनकी पूर्ति सं. १७५७ की श्रावण कृ. ५ को वृंदावन में हुई थी। उनके शिष्य प्रियादास जी थे, जिन्होंने नाभा जी कृत भक्तमाल की सुप्रसिद्ध 'भक्ति रस बोधिनी' नामक टीका की पूर्ति सं. १७६९ की फाल्गुन कृ. ७ को की थी। उनकी अन्य रचनाएँ अनन्यमोदिनी, चाहवेली, भक्त सुमरिनी और रसिकमोहिनी हैं। इन्हें बाबा कृष्णदास ने 'प्रियादास ग्रंथावली' के रूप में प्रकाशित किया है। प्रियादास जी के पौत्र वैष्णवदास थे। उनका उपनाम 'रसजानि' था। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें 'भागवत भाषा' और 'गीतगोविंद भाषा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भागवत भाषा' संपूर्ण श्रीमद् भागवत का सरल ब्रजभाषा अनुवाद है, जिसमें प्रायः १५ हजार छंद हैं। इस विशाल ग्रंथ की रचना-पूर्ति सं. १८०७ की ज्येष्ठ कृ. ६ को हुई थी। 'गीतगोविंद भाषा' की पूर्ति की तिथि सं. १८१४ की मार्गशीर्ष कृ. ८ लिखी मिलती है।

आधुनिक काल में श्री गोपालभट्ट जी के परिकर में जो विशिष्ट महानुभाव हुए हैं, उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

गो. गल्लू जी—वे दामोदरदास जी के वंशज और श्री राधारमण जी के गोस्वामी एवं माध्व गौड़ेश्वराचार्य थे। उनका जन्म सं. १८८४ की ज्येष्ठ कृ. ८ को वृंदावन में हुआ था। वे भगवद्भक्त, चैतन्य संप्रदाय के भक्ति-तत्व के प्रसिद्ध व्याख्याता और ब्रजभाषा के सरस भक्त-कवि थे। उनका उपनाम 'गुणमंजरीदास' था। उन्होंने इस संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था और कई स्थानों में श्री राधारमण जी के मंदिर बनवाये थे। वृंदावन में उन्होंने श्री षड्भुज महाप्रभु जी के मंदिर की स्थापना की थी। उनका देहावसान ६३ वर्ष की आयु में सं. १९४७ की मार्गशीर्ष कृ. १ को वृंदावन में हुआ था। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध गो. राधाचरण जी थे।

गो. राधाचरण जी—उनका जन्म सं. १९१५ की फाल्गुन कृ. ५ को वृंदावन में हुआ था। उनकी गणना आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं में की जाती है। वे भारतेन्दु हरिश्चंद जी के परम भक्त और उनके परिकर के प्रमुख साहित्यकार थे। गोस्वामी कुल में उत्पन्न और वैष्णव धर्म के प्रचारक होते हुए भी वे समाज-सुधारक और प्रगतिशील धार्मिक विचारों के थे। उन्होंने विधवा-विवाह के समर्थन में पुस्तक-रचना कर उस काल के रूढ़िवादी समाज में बड़ी उथल-पुथल मचा दी थी। धर्म-प्रचार, समाज-सुधार और जन-कल्याण के कार्यों में सक्रिय होते हुए भी उनका मुख्य क्षेत्र साहित्य था। उन्होंने देशोपकार और समाज-सुधार से संबंधित काव्य, नाटक, उपन्यास, व्यंग, रूपक आदि की अनेक छोटी-बड़ी रचनाएँ की थीं, और 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र का संपादन-प्रकाशन किया था। उनका देहावसान ६७ वर्ष की आयु में सं. १९८२ में हुआ था। उनके पुत्र

कुबेर को यक्षों का अधिपति तथा मणिभद्र यज्ञ को कुबेर का सखा माना गया है और भद्रा या हारीति कुबेर की पत्नी मानी गई है। वैश्रमण कुबेर को धन एवं समृद्धि का देवता तथा हारीति को संतान की देवी कहा गया है। अन्य प्रमुख यक्ष शैवल और अर्यमा भी क्रमशः धन एवं संतान के देवता माने गये हैं। प्राचीन काल में यक्षों को सर्वशक्तिमान देवता माना जाता था। तत्कालीन लोक–विश्वास था कि उनके पूजन से ही पानी बरसता है; जिससे अन्न, फल वनस्पति आदि की प्राप्ति होती है[1]। बाद में उन्हें गाँवों और गायों के रक्षक, देव स्थानों के द्वारपाल तथा रोग और प्रेत–बाधा एवं बांझपन के नाशक भी मान लिया गया था[2]। यक्षों को अत्यंत विशालकाय, बलवान, निर्भय एवं विलासी माना गया है और यक्षिणियों को अत्यंत रूपवती एवं आमोदप्रिय। उन्हें समृद्धि, रक्षा, वासना और विलास के देव-देवी समझा जाता रहा है। "उनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है[3]।" कालिदास कृत 'मेघदूत' में विरही यक्ष की विलासिता का मार्मिक कथन हुआ है।

यक्षों को जहाँ एक ओर निर्भय, भयावह और पराक्रमी मान कर उनके प्रति भयमिश्रित श्रद्धा व्यक्त की गई है; वहाँ दूसरी ओर उन्हें विघ्ननाशक, रक्षक और फलदाता समझ कर उनके प्रति भक्ति–भावना भी प्रकट की गई है। विविध धर्म ग्रंथों में यक्ष–यक्षिणियों के दोनों रूपों में उनकी उपासना–पूजा का उल्लेख मिलता है।

पूजा-विधि और पूजा-स्थल—यक्षोपासना में विविध यक्ष-नेताओं के साथ ही साथ यक्ष-राज कुबेर, वरुण और कामदेव की भी पूजा की जाती थी। वे सब मांसभोजी और सुरापी देवता थे। वरुण का प्रिय पेय होने से ही सुरा को वारुणी कहा गया है। यक्ष–पूजा मद्य, मांस, पुष्प, दीप, नैवेद्य के साथ गायन–वादन पूर्वक करने का विधान था। यह पूजा मुख्य रूप से दीपावली की रात्रि को होती थी, जिसे पहिले यक्षों की जन्म-रात्रि माना जाता था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है—"दीप, नैवेद्य, पुष्प, संगीतादि यक्ष–पूजा के मुख्य उपकरणों को आर्यों ने पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयं की पूजा–विधि में अपना लिया था। दीवाली वार्षिक यक्ष–पूजा के रूप में मनाई जाती है। मूल में महावीर भी यक्ष ही थे और वीर के रूप में उनकी पिंडी का पूजन अभी तक होता है। दीपावली महावीर का भी जन्म–दिन है[4]।"

प्राचीन काल में देव–पूजा के स्थल को 'स्थान' कहते थे और बड़े देवता के पूजन–स्थल 'महास्थान' कहलाते थे। वे 'स्थान' अथवा 'महास्थान' मंदिर–देवालयों के आदिम रूप थे। उन्हें चौकोर चबूतरा के रूप में खुले आकाश के नीचे बनाया जाता था। देव–मूर्तियों के प्रचलन से पहिले उन चबूतरों पर देवता का कोई चिह्न अथवा प्रतीक बना दिया जाता था। यक्षों के पूजा–स्थल भी 'स्थान' कहलाते थे, जिन्हें बाद में लोक भाषाओं में 'थान' कहा जाता था। मथुरामंडल की ग्रामीण बस्तियों में अभी तक अनेक छोटे चबूतरे थानों के नाम से मिलते हैं, जो यक्ष-पूजा के प्राचीन 'स्थानों' की परंपरा को कायम रखे हुए हैं।

---

(१) ट्री एण्ड सरपेण्ट वरशिप, पृष्ठ २४४

(२) डा० कुमारस्वामी कृत 'यक्षाज'

(३) नाथ संप्रदाय, पृष्ठ ८३

(४) हिंदी साहित्य (प्रथम खंड), पृष्ठ १९

गौरचरण जी बड़े होनहार साहित्यकार थे, किंतु उनका युवावस्था में ही देहांत हो गया था। इस समय उनके पौत्र अद्वैतचरण जी विद्यमान हैं। उनके परिवार के गो. दामोदराचार्य जी हैं, जो इस संप्रदाय के एक वयोवृद्ध विद्वान हैं। गो. राधाचरण जी के समकालीन और सहयोगी गोस्वामी मधुसूदनलाल जी तथा शोभनलाल जी थे।

गो. मधुसूदनलाल जी और गो. शोभनलाल जी—वे दोनों राधारमणीय गोस्वामी और संप्रदायाचार्य थे। उनका जन्म क्रमशः सं. १९१३ और १९११ में हुआ था। उन्होंने ब्रजभाषा काव्य के प्रोत्साहन और वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए गो. राधाचरण जी के सहयोग से 'कवि कुल कौमुदी' तथा 'वैष्णव धर्म प्रचाचिणी' संस्थाओं की स्थापना और उनका संचालन किया था। वे दोनों बड़े विद्वान, धर्म-प्रचारक और भक्त-कवि थे। उनकी कई काव्य-रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनका गो. राधाचरण जी से बड़ा सौहार्द्र था, और वे उनके साहित्यिक कार्यों में सदैव सहयोग देते रहे थे। उन दोनों के पुत्र गो. कृष्णचैतन्य जी और गो. विजयकृष्ण जी भी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। इस समय गो. मधुसूदन जी के पौत्र गो. विश्वंभर जी अत्यंत उत्साही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं, और गो. शोभनलाल जी के पौत्र गो. अतुलकृष्ण जी विद्वान धर्म-प्रचारक एवं प्रसिद्ध कथा-वाचक हैं।

विरक्त महात्माओं की धार्मिक देन—आधुनिक काल में इस संप्रदाय के विरक्त महात्माओं ने भी सांप्रदायिक स्थिति के सुधारने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। ऐसे महात्माओं में वृंदावन-ब्रह्मकुंड पर निवास करने वाले बाबा वैष्णवचरणदास, कामवन निवासी बाबा जयकृष्णदास, राधाकुंड के बाबा जगदानंदास, गोवर्धन-रनवाड़ी-नंदगाँव आदि स्थलों में भजन करने वाले कई सिद्ध बाबा, मथुरा के सिद्ध नारायणदास, गोवर्धन-गोविंदकुंड के बाबा मनोहरदास, बाबा अवधदास, पंडित बाबा रामकृष्णदास, बाबा हरिदास, बाबा प्रियाशरणदास, पूंछरी के बाबा माधवदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनमें से कतिपय महात्माओं का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा जाता है।

गोवर्धन के सिद्ध बाबा—आधुनिक काल के कई गौड़ीय महात्मा अपनी उपासना-भक्ति और भजन-साधना की विशिष्टता के कारण सिद्ध बाबाओं के नाम से विख्यात हुए हैं। उनमें से गोवर्धन के सिद्ध बाबा का सर्वाधिक महत्त्व है। वे सं. १८६० के लगभग उड़ीसा प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, और उनका आरंभिक नाम बटकृष्ण था। उनका घराना नरोत्तमदास ठाकुर की शिष्य-परंपरा में दीक्षित था। वे किशोरावस्था से ही भक्ति-भावना और वैराग्य-वृत्ति की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया; और वे १६ वर्ष की आयु में अपने जन्म-स्थान को छोड़ कर ब्रज में आ गये थे। उन्होंने वृंदावन के ब्रह्मकुंड निवासी और 'पद कल्पतरु' ग्रंथ के संकलयिता बाबा वैष्णवचरणदास के सत्संग में रह कर उनसे जनोपदेश एवं गौड़ीय उपासना-तत्व का ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय उनका नाम 'कृष्णदास' रखा गया था। बाबा वैष्णवचरणदास का देहावसान होने पर वे जयपुर चले गये, और वहाँ श्री गोविंददेव जी की सेवा करने के लिए उनके मंदिर के द्वारपाल हो गये थे। वहाँ ८-१० वर्ष रहने के उपरांत वे पुनः ब्रज में आ गये थे। उस समय उन्होंने कुछ काल तक बाबा जयकृष्णदास के सत्संग में कामवन में निवास किया और फिर वे नंदगाँव में भजन करने लगे थे। अंत में उन्होंने गोवर्धन आ कर वहाँ चकलेश्वर के समीप गौड़ीय मठ में स्थायी रूप से निवास किया था। उस काल में गोवर्धन, राधाकुंड, गोविंदकुंड, पूछरी आदि स्थानों में अनेक गौड़ीय भक्त जन निवास करते थे। उनमें से राधाकुंड के बाबा जगदानंददास केसाथ उनका अधिक सत्संग होता था।

उन्होंने प्रचुर काल तक व्रज में निवास कर गौड़ीय संप्रदाय की रागानुगा भक्ति और भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्री चैतन्य महाप्रभु की अष्टकालीन लीलाओं का व्यापक प्रचार किया था। उनकी 'अष्टयाम भजन पद्धति' की उस काल में बड़ी ख्याति हुई थी। उनके प्रयत्न से चैतन्य संप्रदाय की तत्कालीन धार्मिक स्थिति को बड़ा बल मिला था, और यहाँ के धर्म-संप्रदायों में इसके महत्व की पुनः प्रतिष्ठा हो गई थी। उनके सत्संग के प्रभाव से बंगाल के धनाढ्य लाला बाबू भक्ति मार्ग के अनुगामी हुए; और कई भक्त महानुभाव भजन-साधना में विशिष्टता प्राप्त कर 'सिद्ध बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे ७० वर्ष से भी अधिक काल तक व्रज में रहे थे। उनका देहावसान ८८ वर्ष की आयु में सं. १९४६ की आश्विन शु. ४ को हुआ था। उनकी भजन कुटी गोवर्धन में चकलेश्वर के निकट विद्यमान है। उनके शिष्यों में बाबा नित्यानंददास, झाड़ूमंडल के बाबा बलरामदास और बाबा कृष्णदास (दूसरे सिद्ध बाबा) के नाम प्रसिद्ध हैं।

दूसरे सिद्ध बाबा—वे गोवर्धन के कृष्णदास सिद्ध बाबा के वरिष्ठ शिष्य थे, और उनका नाम भी कृष्णदास था। वे भी अपनी उपासना-भक्ति, भजन-साधना और विद्वत्ता में विशेष ख्याति प्राप्त कर 'सिद्ध बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इस प्रकार वे गोवर्धन के दूसरे सिद्ध बाबा थे। उन्होंने प्रार्थना तरंगिणी, भावना सार संग्रह, साधनामृत चंद्रिका आदि भक्ति-ग्रंथों की रचना की थी; और अपने गुरु द्वारा निर्मित 'अष्टयाम भजन पद्धति' का विशद प्रचार किया था।

रनबाड़ी और नंदगाँव के सिद्ध बाबा—व्रज की छाता तहसील के रनबाड़ी नामक स्थल में एक भजनानंदी महात्मा निवास करते थे। वे बंगाली थे, और उनका पूर्व नाम कृष्णप्रसाद चट्टोपाध्याय था। वे भी युवावस्था में विरक्त होकर व्रज में आ गये थे, और विविध स्थानों में उपासना-भक्ति और संत-महात्माओं का सत्संग करते रहे थे। अंत में उन्होंने रनबाड़ी के एकांत स्थल में प्रायः ५० वर्ष तक बड़ी निष्ठा के साथ भजन किया था। गोवर्धन के सिद्ध बाबा से उनका सख्य भाव था, और उनके गुरु भाई बाबा प्रेमदास थे। वे रनबाड़ी के सिद्ध बाबा कहलाते थे। इस प्रकार वे इस उपनाम से प्रसिद्ध तीसरे विशिष्ट भक्त थे। जब वे शताधिक वर्ष के हो गये, तब अपनी जीर्ण-शीर्ण काया को अंतर् की अग्नि से ही दग्ध कर वे परमधाम के वासी हुए थे। उनकी समाधि रनबाड़ी में बनी हुई है। व्रज के सुप्रसिद्ध लीला-स्थल नंदगाँव में उस समय एक विख्यात गौड़ीय महात्मा निवास करते थे। वे नंदगाँव के सिद्ध बाबा कहलाते थे; जो इस विशिष्ट उपनाम से प्रसिद्ध चौथे महानुभाव थे।

अन्य गौड़ीय साधु-महात्मा—आधुनिक काल के गौड़ीय महात्माओं में पूर्वोक्त सिद्ध बाबाओं के अतिरिक्त जिनके नामों की अधिक प्रसिद्धि है, उनमे से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। सिद्ध नारायणदास मथुरा के एक चमत्कारी महात्मा थे। उनका निवास स्थान यहाँ के बैरागपुरा मुहल्ला में था, जो अब 'नारायणदास का स्थल' कहलाता है। उनके अलौकिक चमत्कारों की अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। बाबा मनोहरदास गोवर्धन के गोविंदकुंड पर निवास करने वाले एक विख्यात भजनानंदी महात्मा थे। वे अत्यंत वृद्धावस्था तक अपने भजन-प्रताप से धर्मप्राण व्यक्तियों को लाभान्वित करते रहे थे। बाबा अवधदास बिहारी महात्मा थे। उनकी श्रीमद्भागवत के प्रति अपूर्व निष्ठा थी। वे प्रचुर काल तक वृंदावन में निवास कर शताधिक वर्ष की आयु में व्रज-रज में लीन हुए थे। बाबा रामकृष्णदास राजस्थानी महात्मा थे। उनका जन्म जयपुर जिला के एक गौड़ ब्राह्मण कुल में सं. १९१४ में हुआ था। उन्होंने गोवर्धन स्थित सिद्ध बाबा के शिष्य

नित्यानंददास वावा से चैतन्य संप्रदाय की दीक्षा ली थी । वे प्रकांड विद्वान, भक्ति-तत्व के महान्
ज्ञाता और परम भक्त थे। उस काल के वड़े-वड़े विद्वान और समृद्धिशाली भक्त जन उनके दर्शन एवं
सत्संग के इच्छुक रहते थे । वे 'पंडित वावा' के नाम से प्रसिद्ध थे । उनका देहावसान सं. १९९७
में हुआ था । बावा कृष्णप्रसाददास भी पूर्वोक्त वावा नित्यानंददास के शिष्य थे । उन्होंने पहिले
वृंदावन में निवास कर श्री राधारमण जी की उपासना की थी; फिर वे पूँछरी और कामवन में
अधिक रहने लगे थे । वे वड़ी भारी गूदड़ी धारण करते थे, जिसके कारण 'गूदड़ी बावा' कहलाते थे ।
वावा हरिदास वंगाली महात्मा थे । वे तीर्थ-स्थानों के अनेक साधु-संतों का सत्संग करने के उपरांत
व्रज में आकर वावा रामकृष्णदास के सान्निध्य में रहे थे । फिर उन्हीं के परामर्श से वे गोविंदकुंड के
वावा मनोहरदास के शिष्य हुए थे । वावा माधवदास व्रजवासी महात्मा थे, और पूँछरी पर निवास
करते थे । इनके अतिरिक्त बावा गौरांगदास जी, प्रियाशरणदास जी, कृष्णानंददास जी, हरिबाबा जी,
कृपासिंधुदास जी, किशोरीदास जी आदि विरक्त संतों तथा पुरुषोत्तम जी जैसे गृहस्थ गोस्वामियों के
कारण चैतन्य संप्रदाय को गौरव प्राप्त हुआ है ।

इस संप्रदाय के वर्तमान महात्माओं में वावा कृष्णदास का वड़ा महत्व है । इन्होंने गौड़ीय
साहित्य के दुर्लभ हस्तलिखित ग्रंथों का परिश्रमपूर्वक अनुसंधान कर उन्हें टीका सहित प्रकाशित
किया है । इनके द्वारा प्रकाशित छोटे-वड़े ग्रंथों की संख्या ७०-८० के लगभग है । जो कार्य
साधन-सम्पन्न वड़ी-वड़ी संस्थाओं और धनी-मानी व्यक्तियों से भी कठिनता से हो पाता, उसे इन
साधनहीन और मधुकरी वृत्ति के विरक्त महात्मा ने अकेले ही सम्पन्न किया है ! यह इनके अदम्य
उत्साह और उत्कट लगन का सुफल है । भूसी के महान् संत श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी भी अव
स्थायी रूप से वृंदावन में निवास करते हैं । इनके लोकोपकारी कार्यों से इस संप्रदाय को गौरव
प्राप्त हुआ है । रामदास शास्त्री इस संप्रदाय की नई पीढ़ी में ऐसे विद्वान हैं, जो सार्वजनिक कार्यों में
वड़े उत्साह पूर्वक भाग लेते हैं । इन्होंने वृंदावन से 'भक्त भारत' नामक मासिक पत्र का संपादन
एवं प्रकाशन कई वर्ष तक किया है । इनके गुरु कृष्णानंददास जी ने वृंदावन में 'चार संप्रदाय
आश्रम' की स्थापना की थी, जिसके ये महंत हैं । वंगाल की विख्यात महिला-भक्त आनंदमयी
माता जी का आश्रम भी अव वृंदावन में स्थापित हो गया है । स्वयं माता जी वर्ष में कई महीने
तक यहाँ निवास कर व्रज की भक्ति-साधना को समृद्ध करती रहती हैं । मथुरा में इस संप्रदाय का
एक पुराना केन्द्र कृष्ण गंगा का गौड़ीय संस्थान है । इसके मंदिर में अनेक विरक्त साधु सदा से
भजन-कीर्तन करते रहे हैं । यहाँ का नवीनतम आश्रम 'श्री केशव जी गौड़ीय मठ' है । इसमें अनेक
वंगाली साधु निवास करते हैं, और यहाँ नियम पूर्वक भजन-कीर्तन किया जाता है ।

चैतन्य संप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

मथुरा—श्री चैतन्य महाप्रभु जब व्रज-यात्रा के लिए आये थे, तब उन्होंने सर्वप्रथम
मथुरा में यमुना-स्नान किया और श्री केशव भगवान् के दर्शन किये । केशव-मंदिर में उन्होंने नृत्य-
कीर्तन किया था । उसके उपरांत वे मथुरा-वृंदावन के मध्यवर्ती अक्रूर स्थल पर विराजे थे । व्रज-
यात्रा के समय उनका स्थायी निवास अक्रूर स्थल पर ही रहा था ।

गोवर्धन—यतिराज माधवेन्द्र पुरी द्वारा श्रीनाथ-गोपाल के प्राकट्य और सेवा का स्थल ।
उन्हीं के नाम पर यह स्थल 'जतीपुरा' कहलाता है । मानसी गंगा के निकटवर्ती चकलेश्वर स्थल
पर श्री सनातन गोस्वामी, सिद्ध वावा और उनके शिष्य सिद्ध कृष्णदास बावा की भजन-कुटियाँ हैं ।

राधाकुंड—सर्वश्री माधवेन्द्रपुरी, चैतन्य महाप्रभु और जीव गोस्वामी के विश्राम-स्थल; रघुनाथदास गोस्वामी और कृष्णदास कविराज की भजन-कुटियाँ एवं समाधि-स्थल; जान्हवा घाट पर श्री नित्यानंद जी की पत्नी जान्हवा ठकुरानी जी का स्मृति स्थल; वहाँ के मंदिर में श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राचीन चित्र ।

वृंदावन—इमली तला पर श्री चैतन्य महाप्रभु के विश्राम और कीर्तन का स्थल; शृंगार वट पर नित्यानंद जी का स्मृति-स्थल; गौड़ीय गोस्वामियों के निवास-स्थल और उनके सेव्य स्वरूपों के प्राचीन एवं नवीन मंदिर-देवालय; द्वादशादित्य टीला पर श्री सनातन गोस्वामी की भजन-कुटी और उनके सेव्य ठाकुर मदनमोहन जी का प्राचीन मंदिर; उसके निकट मदनमोहन जी का नया मंदिर, सनातन गोस्वामी की फूल-समाधि और ग्रंथ-समाधि; सूरदास मदनमोहन का समाधि-स्थल; गोमा टीला पर श्री रूप गोस्वामी के सेव्य ठाकुर गोविंददेव जी का प्राचीन मंदिर और उसके समीप का नया मंदिर; उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम देव ने जगन्नाथ पुरी से श्री राधिका जी का विग्रह वृंदावन भेजा था, जिसे गोविंददेव जी के वाम पार्श्व में प्रतिष्ठित किया गया था; वंशीवट पर श्री मधु पंडित के सेव्य ठाकुर गोपीनाथ जी का प्राचीन मंदिर; जान्हवा ठकुरानी जी द्वारा समर्पित श्री राधिका जी का विग्रह श्री गोपीनाथ जी के वाम पार्श्व में प्रतिष्ठित किया गया था; पुराने शहर में श्री जीव गोस्वामी के सेव्य ठाकुर श्री राधादामोदर जी का देव-स्थान, उसके निकट सर्वश्री रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और कृष्णदास कविराज की भजन-कुटियाँ और फूल-समाधियाँ; राधारमण जी के घेरे में श्री गोपाल भट्ट जी के सेव्य ठाकुर श्री राधारमण जी का मंदिर, इसमें श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त आसन-पीठ, मंदिर के समीप श्री गोपाल भट्ट जी और उनकी परंपरा के राधारमणीय गोस्वामियों की समाधियाँ तथा निवास-स्थल; उसके निकटवर्ती श्री विनोदीलाल जी एवं गोकुलानंद जी के मंदिर, उनमें लोकनाथ जी और उनके शिष्य नरोत्तमदास ठाकुर की तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की फूल-समाधियाँ; रंगजी के मंदिर के समीपवर्ती 'चौसठ महंतों के समाधि-स्थल' में श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी तथा चैतन्य संप्रदायी विविध संत-महात्माओं की समाधियाँ; पुराने शहर की भट्ट गली में भक्तवर गदाधर भट्ट जी के सेव्य श्री मदनमोहन जी का मंदिर; ब्रह्मपुरी मुहल्ला मे रामराय जी—चंद्रगोपाल जी के सेव्य श्री राधा-माधव जी का मंदिर; इनके अतिरिक्त लाला बाबू, शाह जी और षट्भुज महाप्रभु जी के मंदिर तथा अन्य गौड़ीय देव-स्थान ।

अन्य लीला-स्थल—बरसाना में श्री लाड़िली जी का मंदिर, नारायणदास श्रोत्रिय की वंश-परंपरा के गोस्वामियों के निवास-स्थान । ऊँचागांव मे नारायणभट्ट जी की समाधि । रनवाड़ी में सिद्ध कृष्णदास बाबा की भजन-कुटी और समाधि ।

वर्तमान स्थिति—चैतन्य संप्रदाय के आरंभिक धर्माचार्यों और संत-महात्माओं में प्रकांड विद्वत्ता, अनुपम भक्ति-साधना, अपूर्व वैराग्य-वृत्ति एवं अतिशय विनम्रता के ऐसे दिव्य गुण थे कि जिनके कारण इसका व्यापक प्रचार हुआ था और इसकी बड़ी ख्याति हुई थी । किंतु जब से उक्त गुणों का अभाव होने लगा, तब से इसकी प्रगति और प्रसिद्धि में भी बहुत कमी आ गई है । ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों की भाँति इसकी भी वर्तमान स्थिति संतोषजनक नहीं है । बंगाल में इसकी स्थिति सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार ब्रज में भी होना चाहिए । ब्रज के वर्तमान गौड़ीय महात्मा इसके पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं ।

निंबार्क संप्रदाय

श्री स्वभूराम जी—नागा जी की परंपरा के संत-महंत और देव-स्थान—

श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री हरिव्यासदेव जी के १२ प्रधान शिष्यों में श्री स्वभूराम जी प्रथम थे। उनका प्रधान कार्य-क्षेत्र हरियाना रहा था; किंतु उनकी शिष्य-परंपरा के विरक्त संतों ने अन्य स्थानों में भी अपनी गद्दियाँ स्थापित की थीं, और देवालय बनवाये थे। ब्रज में वृंदावन और मथुरा में उनके कई देव-स्थान निर्मित हुए, जो उनकी शिष्य-परंपरा के विरक्त संतों के अधिकार में है। मथुरा में विश्राम बाजार के श्री राधाकांत मंदिर और असिकुंडा घाट के हनुमान मंदिर पर भी इसी परंपरा के महंतों का आधिपत्य है। श्री स्वभूराम जी की परंपरा के जो संत-महंत आधुनिक काल में ब्रज में हुए हैं, उनमें से कुछ का परिचय यहाँ दिया जाता है।

गोपालदास जी—उनका जन्म सं. १८७२ के लगभग गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। चार धाम की यात्रा करने के पश्चात् वे ब्रज में आकर कामवन में रहे थे। वहाँ के श्री गोपाल मंदिर के महंत रघुवरदास जी से उन्होंने भागवतादि ग्रंथों का अध्ययन किया था। फिर वे वृंदावन में निवास करने लगे थे। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के आचार्यों की जयंती मनाना आरंभ किया। वे बड़े समारोह पूर्वक आचार्योत्सव, रास और भागवत-कथा के आयोजन करते थे। उनके शिष्यों में बाबा हंसदास जी और ब्रह्मचारी राधेश्याम जी प्रमुख थे।

हंसदास जी—उनका जन्म सं. १९१६ में लखनऊ ज़िला के काकोरी कस्बा में हुआ था। वे युवावस्था में ही महात्मा गोपालदास जी के शिष्य हुए, और बरसाना एवं वृंदावन में भजन करते थे। वे भागवत के प्रसिद्ध वक्ता और भजनानंदी महात्मा थे। उनका देहावसान सं. १९९४ में हुआ था।

राधेश्याम ब्रह्मचारी—उनका जन्म सं. १९२० में अलीगढ़ ज़िला के गोरई गाँव में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे, और निंबार्कीय उत्सवकर्त्ता महात्मा गोपालदास जी के शिष्य हुए थे। सं. १९७१ में जब जयपुर नरेश माधवसिंह जी द्वारा निर्मित बरसाना का मंदिर पूरा हुआ, तब उन्हें वहाँ का महंत बनाया गया था[1]। उनकी भक्ति-भावना और त्याग-वृत्ति से उक्त देव-स्थान की बड़ी प्रसिद्धि हुई थी। प्रायः ३० वर्ष तक अत्यंत निष्ठा पूर्वक उसका संचालन करने के उपरांत उनका देहावसान हुआ था।

रामचंद्रदास जी—उनका जन्म बूंदी राज्य के एक गाँव में सं. १९२३ में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर श्री स्वभूराम जी की परंपरा के स्वामी रामदास जी के शिष्य हुए थे। बाद में वे वृंदावन आकर वहाँ की दतिया वाली कुंज में रहने लगे थे। उन्होंने मुखिया गोकुलदास के सहयोग से महावाणी का उत्सव करना आरंभ किया था, जो प्रति वर्ष फाल्गुन के कृष्ण पक्ष में होता है। उनके द्वारा सांप्रदायिक ग्रंथों का प्रकाशन और निःशुल्क वितरण किया गया था। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उनका देहांत ८० वर्ष की आयु में सं. २००३ की पौष शु. ७ को वृंदाबन में हुआ था।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ७७४–७७५

बालगोविंददास जी—वे विहारी भक्त जन और निंबार्कीय महात्मा हंसदास जी के विरक्त शिष्य थे। उन्होंने ब्रज में आ कर वृंदावन में निवास किया था और यहाँ की नाजमंडी में एक मंदिर बनवा कर इसमें निंबार्क संप्रदाय के आचार्य पंचायतन की प्रतिष्ठा की थी, तथा 'निंबार्क कोट' का निर्माण कराया था। उनके द्वारा इस संप्रदाय की उपासना-भक्ति और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रचार हुआ था। वे कथा-कीर्तन और उत्सव-समारोह भी नियमित रूप से किया करते थे।

नारायणदास जी—वे इस संप्रदाय की बिहार राज्य स्थित कोयलादेवा की गद्दी के विरक्त शिष्य थे। उन्होंने प्रायः एक शताब्दी पूर्व मथुरा के विश्राम बाजार में श्री राधाकांत जी का मंदिर बनवाया था, जिसके वे महंत हुए थे। उनके पश्चात् जयरामदास जी, नंदकिशोरशरण जी, रामानंदशरण जी और हरिप्रियाशरण जी यहाँ के महंत हुए थे। सं. १९८७ से हरिप्रियाशरण जी के शिष्य ब्रजमोहनशरण जी इस स्थान के महंत हैं[1]।

श्री चतुरचिंतामणि (नागा जी) की शिष्य-परंपरा—श्री नागा जी श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा में सर्वाधिक प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं। उन्होने अपनी भक्ति-भावना द्वारा ब्रज के ग्रामीण भाग में निंबार्क संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उनके उपास्य ठाकुर श्री विहारी जी भरतपुर क़िला के मंदिर में और श्री अटलविहारी जी वृंदावन के विहारघाट स्थित देव-स्थान में विराजमान हैं। नागा जी का प्राचीन चित्र और उनकी गूदड़ी एवं माला भरतपुर के मंदिर में हैं, और उनके चरण-चिह्न विहारघाट के देव-स्थान में हैं। जैसा पहिले लिखा गया है, नागा जी ब्रज की परिक्रमा के बड़े प्रेमी थे और अपनी अपूर्व ब्रज-निष्ठा के कारण 'ब्रज दूलह' कहलाते थे। उनकी भरतपुर गद्दी के महंतों की पदवी 'ब्रज दूलह' रही है; और ब्रज की गद्दी के परिक्रमा-प्रेमी महंत 'ब्रज विदेही' कहलाते हैं। वृंदावन में रामगुलेला, कैमार वन, काठिया बाबा के नये-पुराने निंबार्काश्रम, विहारी जी का बगीचा, जुगल भवन, निंबार्क सदन, तथा पैगाँव और पानीघाट आदि के धार्मिक स्थान नागा जी की शाखा के संत-महंतों के अधिकार में है[2]। इन संत-महंतों में रामगुलेला के महात्मा किशोरदास जी, काठिया रामदास जी, काठिया संतदास जी, तपस्वीराम जी, पं. दुलारे-प्रसाद जी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनका कुछ वृत्तांत लिखा जाता है।

महात्मा किशोरदास जी—वे रामगुलेला स्थान के महंत और 'ब्रज विदेही' पद पर अभिषिक्त थे। उन्होंने भक्तमाल की कथा का प्रवचन और कुंभ पर्वो पर साधु-संतों का सत्कार करने में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उनके परिकर में भीष्मदास जी (पुष्कर), श्यामदास जी, राघे बाबा जी आदि अनेक संत-महंत हुए हैं। इस स्थान के वर्तमान महंत नरहरिदास जी हैं।

काठिया बाबा रामदास जी—वे पंजाबी महात्मा थे, और अपने आरंभिक जीवन में ही भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होंने विरक्त भाव से चारों धामों की यात्रा कर ब्रज में स्थायी निवास किया था। वे परमहंस वृत्ति के सिद्ध महात्मा थे। उनकी उपासना-भक्ति, त्याग-वृत्ति और साधु-सेवा के कारण उन्हें 'ब्रज विदेही महंत' की पदवी प्रदान की गई थी। उन्होंने वृंदावन में निंबार्क संप्रदाय की प्रगति में बड़ा योग दिया था। वे काठ का लंगोट धारण करते थे, जिसके कारण 'काठिया बाबा' कहलाते थे। उनका देहांत सं. १९६७ में हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें बाबा संतदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १४८
(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदावनांक', पृष्ठ २३२

बाबा संतदास जी—उनका जन्म सं. १९१७ में आसाम राज्य के श्रीहट्ट (सिलहट) जिलांर्गत बामई गाँव में एक समृद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे अंगरेजी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। उसी समय वे ब्रह्म समाजी हो गये थे और उसका बड़े उत्साह से प्रचार-प्रसार किया करते थे। सं. १९६३ में जब वे कुंभ दर्शन के लिए प्रयाग गये थे, तब उन्हें रामदास जी 'काठिया बाबा' से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनके सत्संग और उपदेश से ऐसे प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर निंबार्क संप्रदायी वैष्णव हो गये थे। जब उनके गुरु का देहांत हो गया, तब उन्हें उनका उत्तराधिकारी एवं 'ब्रज विदेही महंत' बनाया गया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, कई देव-स्थानों की स्थापना की और संप्रदाय की उन्नति में बड़ा योग दिया। उनका देहांत सं. १९९२ में हुआ था। उनके शिष्य धनंजयदास जी-प्रेमदास जी हैं।

बाबा तपस्वीराम जी—वे श्रीमद् भागवत के विशेषज्ञ विद्वान और भजनानंदी विरक्त महात्मा थे। उनका निवास स्थान वृंदावन में शाहजी मंदिर के निकट भ्रमरघाट पर था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें पंडित दुलारेप्रसाद जी बड़े प्रगाढ़ विद्वान हुए हैं।

पं. दुलारेप्रसाद जी—वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, और उनका जन्म सं. १९२० में कानपुर जिला में हुआ था। उन्होंने काशी के विख्यात विद्वान शिवकुमार जी शास्त्री से संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रों का प्रौढ़ ज्ञान अर्जित किया था। वे धुरंधर विद्वान होने के साथ ही साथ परम भक्त भी थे। सं. १९५० से वे स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे थे। उनका मन व्रज की रस-माधुरी में रम गया और वे महात्मा तपस्वीराम जी के विरक्त शिष्य हो गये। उस समय उनका नाम 'हरिप्रियाशरण जी' रखा गया। उन्होंने दीक्षा तत्व प्रकाश, भगवन्नाम चंद्रिका, युगल कर-चरणाब्ज प्रकाशिका आदि कई ग्रंथों की रचना की थी। वे वृंदावन में व्याकरण और दर्शनादि शास्त्रों की उच्च शिक्षा दिया करते थे। उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य राजर्षि वनमाली बाबू द्वारा प्रकाशित अष्ट टीका युक्त श्रीमद्भागवत के संपादन में योग देना है[1]। वह महाग्रंथ सं. १९६० में वृंदावन से प्रकाशित हुआ था[2]। उनकी विद्वत्ता और भक्ति-भावना से आकृष्ट हो कर अनेक विद्यानुरागी भक्त और समृद्धिशाली महानुभाव उनके शिष्य हुए थे। उनके विद्वान भक्तों में भगवत-शरण जी एवं रामचंद्रदास (चक्रपाणिशरण) जी तथा समृद्धिशाली भक्तों में सेठ रामजीलाल जी, सेठ रतनलाल जी और छाजूराम जी के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं. १९८९ में वृंदावन में हुआ था।

पं. कल्याणदास जी—उनका जन्म सं. १९२४ के लगभग ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने अमृतसर में व्याकरण, न्याय, वेदांतादि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था, और कई बार विविध तीर्थों की यात्रा की थी। तीर्थाटन करने के उपरांत वे स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे थे। उन्होंने पहिले ज्ञानी जी की बगीची में और फिर पानीघाट पर निवास किया था। वृंदावन के अनेक विद्वानों से उनका घनिष्ट संपर्क था। रामबाग के महंत संकर्षणदास और वंशीवट के पं. किशोरदास उनके सुहृदों में से थे। वे निंबार्क दर्शन के अच्छे विद्वान थे, और मृत्यु पर्यंत इससे संबंधित ग्रंथों का ही अध्ययन-मनन करते रहे थे। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के कई सुप्रसिद्ध

---

(१) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ७५६

(२) शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय (प्रथम खंड), पृष्ठ १७७

सिद्धांत ग्रंथों को प्रचुर व्यय से प्रकाशित करा कर वितरित कराया था। वे प्राय: ४०–४५ वर्ष तक वृंदावन में निवास करते रहे थे। उनका देहांत सं. १९९४ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था।

पं. किशोरदास जी—उनका जन्म काठियावाड़ में सं. १९३० में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे। उन्होंने श्री नागा जी की परंपरा के अंतर्गत कावड़िया जी स्थान के गोपीदास जी से दीक्षा ली थी। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान और सांप्रदायिक सिद्धांत ग्रंथों के बड़े ज्ञाता थे। उन्होंने इस संप्रदाय के अनेक ग्रंथों का संपादन कर उन्हें विद्वत्तापूर्ण टीका-टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कराया था। वे वृंदावन में सांप्रदायिक साहित्य के प्रमुख प्रचारक थे। उन्होंने सं. १९७२ में श्री निंबार्क विद्यालय की स्थापना की थी। उनके अनेक शिष्य थे। अपने अंतिम काल में वे वंशीवट पर एकांत वास करते थे। उनका देहांत सं. २०२२ में वृंदावन में हुआ था।

श्री परशुरामदेव जी की परंपरा के आचार्य, शिष्य समुदाय और देव-स्थान—

आचार्य-परंपरा—श्री परशुरामदेव जी से लेकर श्री गोपेश्वरशरण जी तक की आचार्य-परंपरा का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। आधुनिक काल में श्री गोपेश्वरशरण जी के उपरांत श्री घनश्यामशरण जी सं. १९२८ में आचार्य हुए। वे बड़े त्यागी, तपस्वी और भजनानंदी थे। उनका देहावसान सं. १९६३ में हुआ था। उनके उत्तराधिकारी श्री बालकृष्णशरण जी हुए, जो सं. २००० तक आचार्य–गद्दी पर आसीन रहे थे। वे एक आदर्श आचार्य थे, और ब्रज-वृंदावन के प्रति उनकी बड़ी निष्ठा थी। उनके शिष्य श्री राधासर्वेश्वरशरण जी निंबार्क संप्रदाय की प्रधान गद्दी परशुरामपुरी के वर्तमान आचार्य हैं।

श्री राधासर्वेश्वरशरण जी—इनका जन्म सं. १९८६ में गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ है, और ये विद्वान एवं धर्मपरायण आचार्य हैं। इनके काल में परशुरामपीठ की बड़ी उन्नति हुई है, और इन्होंने निंबार्क संप्रदाय के प्रचार–प्रसार के अनेक उपयोगी कार्य किये हैं। इनकी संरक्षकता में वृंदावनस्थ 'श्री जी की बड़ी कुंज' के निंबार्कीय देव-स्थान से 'श्री सर्वेश्वर' मासिक पत्र और सांप्रदायिक ग्रंथों के संपादन–प्रकाशन तथा प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है।

शिष्य समुदाय—श्री परशुरामदेव जी की गद्दी के शिष्य गण अधिकतर राजस्थानी हैं; किंतु इनमें से अनेक सदा से ब्रज के अनुरागी और इसके पुनरुत्थान के प्रयासी रहे हैं। इस गद्दी के आचार्य गोविंददेव जी के शिष्य दूल्हैराम जी की शिष्य–परंपरा में भक्तवर धर्मदास जी हुए। उनकी प्रेरणा से देलवाड़ा की बाई जसकुँवरि ने सं. १८२८ में वृंदावन में श्री यशोदानंदन जी का मंदिर बनवाया था[1]। आचार्य निंबार्कशरण जी के शिष्यों में एक तपस्वी महात्मा बिहारीदास जी थे। उनकी प्रेरणा से पड़रौना के राजा ईश्वरीप्रतापराय ने वृंदावन के बजाजा बाजार में एक देव-स्थान का निर्माण कराया, जो 'पड़रौना वाली कुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान के महंत किशोरीदास जी थे, जो महात्मा बिहारीदास जी के गुरु–भ्राता थे। वे भगवत्–सेवापरायण और भागवत के अच्छे ज्ञाता थे। उनके शिष्यों में अनेक योग्य विद्वान हैं। उनका देहावसान सं. १९८७ में हुआ था[2]। इस गद्दी से संबंधित अनेक संत-महात्मा और विद्वान हुए हैं, जिन्होंने ब्रज में निवास कर यहाँ की भक्ति-साधना की प्रगति में बड़ा योग दिया है। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १५४

(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदाबनांक', पृष्ठ ३२३

बाबा श्यामदास जी—उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत् और बाल्यकाल के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। ऐसा ज्ञात होता है, वे अपने आरंभिक जीवन में आचार्य निंबार्क-शरण जी के शिष्य होकर परशुरामपुरी के देव-स्थान के प्रबंधक हुए थे। फिर वे विरक्त होकर वहाँ से चल दिये और ब्रज में आ कर रहे थे। उन्होंने यहाँ के दोमिलवन, श्यामढाक, गहवरवन और कुसुमसरोवर के एकांत स्थलों में भक्ति-साधना की थी। वे बड़े भजनानंदी और तपस्वी महात्मा थे। उन्होंने ब्रज में रास के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत प्रयास किया था। उन्हीं के प्रेरणा से करहला के रासधारी बिहारीलाल जी अपनी रास मंडली का संगठन कर ब्रज की लुप्तप्राय रास-लीला का पुन: प्रचलन करने में प्रयत्नशील हुए थे। बाबा श्यामदास जी का देहावसान कुसुमसरोवर के निकटवर्ती उनकी कुटी में सं. १९३१ में हुआ था। यह कुटी उनके नाम से 'श्यामकुटी' कहलाती है। यहाँ पर उनकी समाधि है, और चरण चिह्न हैं।

मुखिया गोकुलदास जी—उनका जन्म जयपुर राज्य के महुआ गाँव में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने अपनी किशोरावस्था में भरतपुर के निंबार्कीय महात्मा रेवतीरमणदास से दीक्षा ली थी। आरंभ से ही उनकी रुचि संगीत-नाट्यादि में अधिक थी। पहिले वे रामलीला में राम का स्वरूप बनते थे; बाद में उस मंडली के 'स्वामी' बन कर उसका संचालन करते रहे थे। सं. १९६७ में वे परशुरामपुरी गये थे। उनकी गायन कला से प्रसन्न होकर श्री जी महाराज ने उन्हें श्री सर्वेश्वर जी की संगीत-समाज का मुखिया नियुक्त किया था। बाद में उन्हें वृंदावन स्थित '*श्री जी महाराज की छोटी कुंज*' का सेवाधिकारी बना कर भेजा गया था। उन्होंने अपने अंतिम काल तक इसी कुंज में निवास किया था। वे कुशल गायक और सुकवि थे। उन्होंने निंबार्कीय आचार्यों की जन्म-बधाई के अनेक पदों की रचना की थी, और नित्य कीर्तन एवं वर्षोत्सव संबंधी बहुसंख्यक पदों का संकलन किया था। इन सब का उपयोग आचार्योत्सवों की 'समाज' में किया जाता है। उनका देहावसान सं. १९७५ में हुआ था। उनके शिष्यों में किशोरीदास जी और केशवदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

अधिकारी ब्रजवल्लभशरण जी—वेदांताचार्य-पंचतीर्थ पं. ब्रजवल्लभशरण जी ब्रज के आधुनिक निंबार्कीय विद्वानों में अग्रणी हैं। इस संप्रदाय की प्रधान गद्दी 'श्री परशुराम पीठ' के ये प्रबंधाधिकारियों में से हैं। इस समय ये वृंदावन की 'श्री जी की बड़ी कुंज' और इससे संबंधित सभी देवस्थानों के संचालक तथा यहाँ की समस्त सांप्रदायिक प्रवृत्तियों के सूत्रधार हैं। इनके कुशल नेतृत्त्व में यह स्थान ब्रज में निंबार्क संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन गया है। सांप्रदायिक उन्नति के कार्यो में ये सदैव तल्लीन रहते हैं। इनके निर्देशन में सांप्रदायिक शोध का भी महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है।

देव-स्थान—परशुरामपीठ से संबंधित ब्रज का प्रमुख देव-स्थान वृंदावन स्थित 'श्री जी की बड़ी कुंज' अर्थात् ठाकुर श्री आनंदमनोहर जी का मंदिर है। इसे 'श्री निकुंज' भी कहते हैं। इसी देव-स्थान में सर्वेश्वर संस्कृत पाठशाला, सर्वेश्वर प्रेस, सर्वेश्वर पुस्तकालय और सर्वेश्वर मासिक पत्र का कार्यालय आदि हैं। इस 'बड़ी कुंज' के समीप दूसरी कुंज है, जिसे 'चाँदी वाली कुंज' कहते हैं। इसमें श्री रूपमनोहर जी का मंदिर है। इनके अतिरिक्त वृंदावन स्थित कई कुंजें, मंदिर एवं वाटिका तथा मथुरा का परशुरामद्वारा और निंबग्राम (गोवर्धन) का मंदिर भी परशुराम पीठ से संबंधित हैं। इन सब का संचालन अधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरण जी करते हैं।

श्री (लापर) गोपाल जी की परंपरा के संत-महंत और देव-स्थान—

श्री गिरिधारीशरण ब्रह्मचारी—वे श्री हरिव्यास जी के ११ वें प्रधान शिष्य श्री (लापर) गोपाल जी की १३ वीं पीढ़ी में हुए थे। उनका जन्म—राजस्थान में सवाई माधोपुर के निकटवर्ती लसोड़ा गाँव में सं. १८५५ की माघ शुक्ला ५ को हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनका आरंभिक नाम गणेशराम था। वे कम पढ़े-लिखे थे, और अपने घर पर व्यापार—वाणिज्य का कार्य करते थे। उनका विवाह नहीं हुआ था। अपनी भ्रातृ-बधू के व्यंग वचनों से विचलित होकर वे घर से चल दिये और विरक्तावस्था में वृंदावन आ गये थे। यहाँ वंशीवट पर रहने वाले निंबार्कीय महात्मा बलदेवदास जी के वे शिष्य हो गये। तब उनका नाम गिरिधारीशरण रखा गया। वे सं. १८७२ में वृंदावन आये थे। उस समय उनकी आयु १७—१८ वर्ष की थी। उन्होंने वंशीवट पर निवास किया और अहर्निश गोपाल मंत्र का जाप तथा भजन-ध्यान में लीन रहने लगे। उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। वे ब्रज में 'ब्रह्मचारी जी' के नाम से प्रसिद्ध थे। अपने भजन-ध्यान, जप—तप और ब्रह्मचर्य के प्रताप से वे एक चमत्कारी सिद्ध महात्मा हुए थे। उनके आशीर्वाद से अनेक व्यक्तियों की मनोकामनाएँ पूर्ण हुई थीं।

ग्वालियर—नरेश जीवाजीराव सिंधिया को उनके आशीर्वाद से राज्य की पुनर्प्राप्ति हुई तथा उनके पुत्र माधवराव का जन्म हुआ था। उसके उपलक्ष में सिंधिया—नरेश ने वंशीवट पर एक 'कुंज' का निर्माण कराया था और १२ हजार वार्षिक आय की जागीर भेंट की थी। उसे ब्रह्मचारी जी ने साधु—सेवा और परमार्थ के कार्यों में लगा दिया था। सिंधिया नरेश ने ब्रह्मचारी जी के लिए कई लाख रुपया लगा कर एक विशाल मंदिर भी बनवाया था, जो 'ब्रह्मचारी जी का मंदिर' कहलाता है। उसकी प्रतिष्ठा सं. १९१७ में हुई थी। जयपुर के राजा माधवसिंह ने भी उनके आशीर्वाद से सं. १९३७ में राज्य प्राप्त किया था। उक्त नरेश ने ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा से वृंदावन में निंबार्क संप्रदाय का एक विशाल मंदिर सं. १९४४ में बनवाना आरंभ किया, जो कई वर्ष बाद पूरा हुआ था। यह मंदिर 'माधवविलास' कहलाता है, और वृंदावन के बड़े मंदिरों में माना जाता है। उन्होंने बरसाना की पहाड़ी पर भी एक भव्य मंदिर बनवाया था, जो 'जयपुर वाला मंदिर' कहलाता है। इसके महंत राधेश्याम ब्रह्मचारी नामक एक प्रसिद्ध महात्मा थे।

ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी अपने अंतिम काल में वृंदावन से हट कर छटीकरा के निकटवर्ती एकांत वन में रहने लगे थे। उसी स्थल पर उन्होंने 'गोपालगढ़' नामक देव-स्थान का निर्माण कराया था और सं. १९४६ में उसमें श्री गिरिधरगोपाल जी के देव—विग्रह को प्रतिष्ठित किया था। उनका देहावसान सं. १९४८ की फाल्गुन शु. १५ को गोपालगढ़—मंदिर में हुआ था। आधुनिक काल के निंबार्कीय महात्माओं में वे सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रतापी थे। उनके पश्चात् श्री गोविंदशरण जी और उनके उपरांत श्री बिहारीशरण जी उनकी गद्दी पर आसीन हुए।

श्री मुकुंद जी की गद्दी के संत-महंत और देव-स्थान—

गद्दी की परंपरा—श्री मुकुंद जी की गद्दी के ७वें महंत श्री रामदास जी और उनके द्वारा निर्मित वृंदावन—विहारघाट की 'टोपी वाली कुंज' का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। श्री रामदास जी के उपरांत ८वें महंत वृंदावनदास जी, ९वें रघुनाथदास जी और १०वें कल्याणदास जी थे। श्री कल्याणदास जी बड़े परमार्थी, साधु-सेवी और सिद्ध महात्मा हुए। उनका देहांत सं. १९६५ में हुआ था। उनके उत्तराधिकारी माधवदास जी भक्तमाली हुए थे।

बाद में जब देवालयों और देव-मूर्तियों का प्रचलन हो गया, तब यक्ष-यक्षिणियों की पूजा के लिए उनके मंदिर-चैत्यादि बनाये गये और उनकी मूर्तियों का निर्माण किया जाने लगा था। महाभारत (३, ८३, २३) में राजगृह स्थित यक्षिणी के एक मंदिर का वर्णन मिलता है[1]। बौद्ध ग्रंथ 'संयुक्त निकाय' में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख हुआ है और 'उपासक दशा सूत्र' में मणिभद्र के चैत्य की चर्चा हुई है[2]। यक्षों के पूजा-स्थलों को प्रायः 'यक्ष चैत्य' कहा जाता था।

नागोपासना और नाग-पूजा—

प्राचीन मान्यता—नागों को भी यक्षो की भाँति प्रायः सभी धर्मो में देवता माना गया है। उन्हें जल के देवता और धन-संपत्ति के स्वामी समझ कर उनकी उपासना-पूजा की भी अत्यंत प्राचीन मान्यता रही है। भगवान् विष्णु नाग-शैया पर आसीन माने जाते हैं और भगवान् शंकर की नाग-प्रियता प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण के बड़े भाई संकर्षण-बलराम को शेष नाग का अवतार माना गया है। जैन धर्म के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चिह्न नाग है, जिसे उनकी मूर्तियों में उत्कीर्ण किया जाता है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार नंद और उपनंद नागों ने भगवान् बुद्ध को उनके जन्म के समय स्नान कराया था और मुचुलिंद नाग ने उनके ऊपर छाया की थी। नागों द्वारा ही रामग्राम के बौद्ध स्तूप की रक्षा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस प्रकार आर्य, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में नाग देवताओं की मान्यता रही है। पुराणादि ग्रंथों में जिन नाग देवताओं का उल्लेख मिलता है; उनमें शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक और धनंजय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नाग और सर्प का उपासनागत भेद—साधारणतया नागों और सर्पो को समानार्थक समझा जाता है; किंतु वस्तुतः वे दोनों पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं। पद्म पुराण (सृष्टि खंड) के उल्लेखानुसार नागों की उत्पत्ति कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से और सर्पो की सुरसा से हुई थी। श्रीकृष्ण ने भगवत् गीता में भगवान् की विभूतियों का कथन करते कहा हुए है,—"मैं नागों में शेष और सर्पो में वासुकि हूँ[3]।" इन उल्लेखों से दोनों के भेद का स्पष्टीकरण होता है। नाग भारत की प्राचीन अनार्य जाति के मानव थे और सर्प विषैले जंतु।

जहाँ तक नाग देवताओं के पूजनीय रूप का संबंध है, यह स्पष्ट नहीं होता है कि वे मानवाकृति के थे अथवा सर्पाकृति के। यह उलझन उनकी मूर्तियों के कारण और भी बढ़ जाती है; क्यों कि नाग देवताओं की मूर्तियाँ मानव और सर्प दोनों आकृतियों की अथवा मिश्रित आकृतियों की मिलती हैं। ऐसा अनुमान होता है, नाग देवताओं का अभिप्राय भयंकर सर्पो से है। उनके प्राण-घातक विषैले दंश से भयभीत होकर भारत के आदिवासी अनार्यो में देवताओं के समान उनकी उपासना-पूजा प्रचलित हो गई थी, जिसे बाद में आर्यो ने भी अपना लिया था।

---

(१) प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृष्ठ १३६

(२) नाथ संप्रदाय, पृष्ठ ८२

(३) भगवत गीता (१०—२८, २९)

श्री माधवदास जी—उनका जन्म सं. १९१९ की पौष शु. १२ को ब्रज के डीग नामक स्थान के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे आरंभ से ही भजन–ध्यान में बड़ी रुचि रखते थे, और गृहस्थी से उदासीन होकर प्रायः वृंदावन में निवास किया करते थे। सं. १९४३ में वे विरक्त होकर स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे थे। उन्होंने 'टोपी वाली कुंज' के महंत कल्याणदास जी से दीक्षा ली, और वे बड़ी निष्ठा पूर्वक गुरु-सेवा तथा भगवद्भक्ति करने लगे। कल्याणदास जी का देहावसान होने पर वे उनके उत्तराधिकारी के रूप में 'टोपी वाली कुंज' की गद्दी पर आसीन हुए थे। वे साधु–सेवा और भक्तमाल की कथा–वार्ता करने वाले बड़े प्रसिद्ध महात्मा थे। उनकी रुचि साधु-समाज के वृहत् भंडारा (भोज) करने में अधिक थी। भक्तमाल की कथा कहने में तो वे अपना सानी नहीं रखते थे। बड़े-बड़े विद्वान पंडित और संत-महात्मा उनके मुख से उक्त कथा को सुनने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। उन्होंने 'निकुंज प्रेम-माधुरी' नामक एक वृहत् भक्ति-काव्य की भी रचना की थी, जिसकी पूर्ति सं. १९९१ में हुई थी। उनका देहावसान सं. २००१ में हुआ था।

शिष्य समुदाय—श्री माधवदास जी के अनेक शिष्य हुए, जिनमें सर्वश्री सनतकुमारदास जी उनकी प्रधान गद्दी पर आसीन हुए तथा माधुरीदास जी और कुंजविहारीदास जी इस गद्दी के अन्य स्थान 'वनविहार' और 'मुकुंदसदन' के महंत बनाये गये। ये तीनों महात्मा उक्त स्थानों की उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। माधुरीदास जी ने 'वन विहार' की प्रतिष्ठा-वृद्धि करने के साथ ही साथ वृंदावन के 'श्री निंबार्क महाविद्यालय' के संचालन में भी पर्याप्त योग दिया है।

देव-स्थान—श्री मुकुंद जी की गद्दी का प्रधान देव-स्थान वृंदावन-विहारघाट स्थित 'टोपी वाली कुंज' है। इसके अतिरिक्त 'मुकुंदसदन' और 'वनविहार' नामक दो देव-स्थान वृंदावन में और भी हैं। 'वन विहार' रमणरेती में है। इसे माधवदास जी ने सं. १९७२ में बनवाया था।

निंबार्कीय विद्वान और समृद्ध भक्त जन—

कतिपय विद्वान भक्त—इस संप्रदाय में सदा से विद्वान भक्त होते रहे हैं। उनमें से अनेक महानुभावों का उल्लेख विभिन्न गद्दियों के प्रसंग में किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने इस काल में प्रसिद्धि प्राप्त की है, उनमें से कुछ का संक्षिप्त वृत्तांत यहाँ दिया जाता है।

सुदर्शनदास जी—उनका जन्म बिहार राज्यांर्गत गया जिला के शाकलद्वीपी ब्राह्मण कुल में सं. १९०३ में हुआ था। वे युवावस्था में ही घर–बार छोड़ कर विरक्तावस्था में तीर्थाटन करने को निकल पड़े थे। जगन्नाथपुरी के मार्ग में उन्होंने वृंदावन के मालाधारी अखाड़ा के निंबार्कीय महात्मा मनोहरदास जी से दीक्षा ली थी। तीर्थाटन करने के अनंतर वे प्रायः १८ वर्ष तक अयोध्या में रहे थे। उसके उपरांत उन्होंने ब्रज में आकर यहाँ के अनेक लीला–स्थलों में निवास किया था। अपने अंतिम काल में वे वृंदावन के श्री रसिकविहारी जी के मंदिर में भक्ति–साधना और कथा–वार्ता करते रहे थे। वे बड़े विद्वान, भजनानंदी महात्मा और भक्त–कवि थे। उनकी छोटी–छोटी बहुसंख्यक रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें अष्टयामादि माधुर्य भक्तिरस के ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं. १९७९ में हुआ था। उनके अनेक विद्वान शिष्य थे।

पं. दुर्गादत्त जी—उनका जन्म सं. १९१३ की पौष शु. ३ को ब्रज के विद्वान सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता नंदकिशोर जी सुप्रसिद्ध पौराणिक पंडित थे और वे मथुरा जिला के राया क़स्बा में निवास करते थे। दुर्गादत्त जी ने राया के श्री राधागोपाल मठ के निंबार्कीय महंत हरिनामदास जी से दीक्षा और आरंभिक शिक्षा प्राप्त की थी। उसके उपरांत उन्होंने

अन्य विद्वानों से संस्कृत का प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त किया था। वे प्रकांड शास्त्रार्थी विद्वान, महामहोपदेशक, आशुकवि एवं सुलेखक थे। सं. १९४५ में वे वृंदावन में स्थायी रूप से रहने लगे थे। उन्होंने संस्कृत और हिंदी में गद्य-पद्य के अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनका देहांत सं. १९७५ में हुआ था।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी—वे आचार्य स्वभूराम जी के भ्रातृ-वंश के गोस्वामी थे। उनका जन्म सं. १९२२ की माघ कृष्णा अमावस को हुआ था। उनके पितामह केदारनाथ गोस्वामी तथा पिता वासुदेवशरण गोस्वामी वृंदावन के विख्यात धर्माचार्य थे, और उनके नाना कृष्ण-चैतन्य 'निज कवि' काशी के प्रतिष्ठित विद्वान एवं भक्त-कवि थे। उनका पैतृक कुल निंबार्क संप्रदाय से और मातृ कुल चैतन्य संप्रदाय से संबंधित था। इस प्रकार उन्हें उभय कुल-परंपरा से धार्मिक भावना और साहित्यिक अभिरुचि का समृद्ध दाय मिला था। वे बाल्यावस्था से काशी में रहने लगे थे। वहीं पर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी, और वहीं पर उनका अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ था। वे धार्मिक विद्वान, सुकवि और विख्यात लेखक थे। उन्होंने वैष्णव महासभा, भारत धर्म महामंडल तथा काशी वैष्णव समाज के कार्यों में पर्याप्त योग दिया था, और कई वर्षों तक 'वैष्णव सर्वस्व' नामक मासिक पत्र का संपादन-प्रकाशन किया था। उनके ग्रंथों में धर्मोपासना, अध्यात्म, तंत्र और योग की अनेक रचनाएँ हैं। वे धार्मिक क्षेत्र से कहीं अधिक साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध रहे हैं। वे खड़ी बोली हिंदी साहित्य के निर्माताओं में से थे। उन्होंने जीवन पर्यंत साहित्य-साधना की थी। उनके रचे हुए विविध विषयों के ग्रंथों की संख्या प्रायः २०० है, जिनमें उपन्यास अधिक हैं। वे हिंदी की सबसे प्राचीन मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के आरंभिक संपादकों में से थे और उन्होंने अन्य कई पत्र-पत्रिकाओं का भी संपादन किया था। सं. १९७० में उन्होंने वृंदावन में 'श्री सुदर्शन प्रेस' नामक मुद्रणालय की स्थापना कर उसके द्वारा अपने ग्रंथों एवं पत्रों का प्रकाशन किया था। उनके पुत्र छबीलेलाल जी भी अच्छे लेखक, प्रभावशाली वक्ता और वृंदावन के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थे।

पं. उमाशंकर जी—वे सुप्रसिद्ध पं. दुर्गादत्त जी के सुपुत्र थे। उनका जन्म सं. १९४६ को फाल्गुन शु. ७ को वृंदावन में हुआ था। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान और आयुर्वेद के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने कुशल चिकित्सक और आयुर्वेद के प्रौढ़ प्राध्यापक के रूप में बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। वृंदावन के धार्मिक क्षेत्र में भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। निंबार्क संप्रदाय के अनन्योपासक होते हुए भी उनका सभी धर्म-संप्रदायों के विद्वानों से स्नेह संबंध था; और सभी उनका सन्मान करते थे। उनका देहावसान सं. २००९ (१५ जनवरी १९५३) में हुआ था।

पं. दानबिहारीलाल जी—उनका जन्म सं. १९५५ की भाद्रपद कृ. ५ को वृंदावन में हुआ था। उन्होंने पं. किशोरदास जी से निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे बड़े उत्साही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे, और धार्मिक एवं साहित्यिक कार्यों के संपादन में बड़ी रुचि लेते थे। ब्रज के धार्मिक पत्रों में उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए थे; और उन्होंने 'प्रेम' एवं 'नाम माहात्म्य' का कई वर्षों तक संपादन किया था। उनका देहांत सं. २०२३ (१३ दिसंबर १९६६) में हुआ था।

पं. धनंजयदास जी—ये श्री संतदास काठिया बाबा के शिष्य और सुप्रसिद्ध सांप्रदायिक विद्वान हैं। इन्हे संतदास जी का उत्तराधिकारी और काठिया बाबा के आश्रम का महंत नियुक्त किया गया था। बाद में इन्होंने गुरुकुल मार्ग पर दूसरे आश्रम की स्थापना की, जो 'काठिया बाबा का नया आश्रम' कहलाता है। इस समय पुराने आश्रम के महंत प्रेमदास जी हैं, और नये आश्रम के जानकीदास जी हैं। श्री धनंजयदास जी धर्म-साधना और ग्रंथ-रचना के कार्य में दत्तचित्त रहते हैं।

कतिपय समृद्ध भक्त जन—इस संप्रदाय के समृद्धिशाली भक्तों में वेरी वाले सेठ जानकीदास जी, उनके अनुज सेठ रामजीलाल जी, पुत्र जयलाल जी-हरगूलाल जी तथा संबंधी रतनलाल जी के नाम उल्लेखनीय हैं। इन भक्त जनों की सहायता से ब्रज में निंबार्क संप्रदाय की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा हुई है। इनमे से सेठ रतनलाल जी और सेठ हरगूलाल जी वृंदावन में स्थायी रूप से निवास करते रहे हैं। सेठ रतनलाल जी विद्वान और धार्मिक सज्जन हैं। भक्तवर सेठ हरगूलाल जी श्री विहारी जी के उपासक और टट्टी संस्थान के शिष्य हैं। इनकी महत्वपूर्ण देन का उल्लेख हरिदास संप्रदाय के प्रसंग में आगे किया जावेगा।

निंबार्क संप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

मथुरा—यह नगर निंबार्क संप्रदाय का अत्यंत प्राचीन केन्द्र रहा है। इसके दक्षिण में ध्रुवक्षेत्र एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है, जहाँ ध्रुवटीला और नारदटीला नामक दो पुरातन स्थल हैं। पौराणिक काल के दो प्राचीनतम हरि-भक्त ध्रुव और नारद के नामों से संबंधित होने से इनकी महत्ता स्वयंसिद्ध है। ऐतिहासिक काल में इनके निकटवर्ती भू-भाग में बौद्ध विहार थे, जिनके पुरातात्विक अवशेष यहाँ से प्राप्त हो चुके हैं। ब्रज की राधा-कृष्णोपासना के आरंभिक काल से ही ये निंबार्क संप्रदाय के धार्मिक केन्द्र रहे हैं। श्री निंबार्काचार्य जी जब ब्रज में आये थे, तब उन्होंने यमुना में स्नान कर ध्रुव क्षेत्र में विश्राम किया था। उसके उपरांत वे गोवर्धन चले गये थे। मध्य काल में यहाँ श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी ने निवास किया था। श्री निंबार्काचार्य जी के सेव्य श्री सर्वेश्वर शालिग्राम जी पहिले इसी स्थल पर विराजमान थे।

श्री हरिव्यास जी के पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्य यहाँ से हट कर अन्य स्थानों में चले गये थे, जहाँ पर उन्होंने अपनी-अपनी गद्दियाँ स्थापित कर शाखा-संप्रदायों का विस्तार किया था। श्री सर्वेश्वर जी की सेवा भी सलीमावाद स्थित श्री परशुराम जी की गद्दी में चली गई, और उसी को निंबार्क संप्रदाय की प्रधान गद्दी माना गया। फलतः ध्रुवटीला और नारद टीला का महत्व कम हो गया। श्री हरिव्यास जी के उपरांत यहाँ किन-किन आचार्यों ने निवास किया, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है।

इन टीलों पर जो प्राचीन देव-मंदिर थे, वे कदाचित औरंगजेब के काल में नष्ट कर दिये गये थे। मथुरा नगर में मुसलमानी शासन का अधिक आतंक रहता था, अतः औरंगजेब के पश्चात् पर्याप्त काल तक यहाँ पर कोई मंदिर-देवालय नहीं बन सके थे। उस काल में ब्रज के निंबार्क संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र वृंदावन हो गया था। इस संप्रदाय के कतिपय आचार्य और उनके अनुयायी भक्त जनों ने वृंदावन में निवास कर वहीं पर अपने मंदिर, मठ, अखाड़े स्थापित किये थे। अंगरेजी शासन स्थापित होने पर जब मथुरा नगर की स्थिति सामान्य हो गई, तब ध्रुवटीला और नारद टीला पर निंबार्क संप्रदाय के मंदिर पुनः बनाये गये थे।

ध्रुव टीला—इस स्थल पर जो निंबार्क संप्रदाय का मंदिर है, इसका निर्माण सं. १८९४ में हुआ था, और इसे प्राचीन मंदिरों के ध्वंसावशेष पर बनाया गया था। इसमें श्रीराधा-कृष्ण की मूर्तियाँ हैं। मंदिर के गोस्वामी गौड़ ब्राह्मण कुल के हैं, और ये अपनी परंपरा श्रीभट्ट जी के किसी भाई से बतलाते हैं[1]। ये लोग गृहस्थ हैं। इस स्थान के वर्तमान अधिपति गो. विजयगोपाल जी हैं।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृ. सं.), पृष्ठ १४७

नारद टीला—देवर्षि नारद जी निंवार्क संप्रदाय के आरंभिक आचार्य माने जाते हैं। उनके नाम से प्रसिद्ध इस स्थान पर निंवार्क संप्रदाय की प्राचीनतम गद्दी रही है। यहाँ के एक चबूतरा पर निर्मित तीन समाधियाँ सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी की मानी जाती हैं। यहाँ पर श्री राधादामोदर जी का मंदिर है। पहिले इस स्थान के अधिकारी रामदास कावड़िया नामक एक निंवार्कीय साधु थे। उनकी शिष्य-परंपरा में क्रमश: किशोरदासजी, बलदेवदास जी, राधिकादास जी, ज्ञानदास जी, बजरंगदास जी और प्रियादास जी हुए। इस समय श्री राधाकांत के महंत इस स्थान के अधिकारी हैं[1]।

श्री राधाकांत जी का मंदिर—यह देव-स्थान मथुरा के विश्राम बाजार में है। श्री स्वभूराम जी की परंपरा में कोयलादेवा छपरा की गद्दी के महंत नारायणदास जी ने अब से प्राय: एक शताब्दी पूर्व इस स्थान का निर्माण कराया था। नारायणदास जी के पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा में क्रमश: जयरामदास जी, नंदकिशोरशरण जी, रामानंदशरण जी और हरिप्रियाशरण जी हुए। हरिप्रियाशरण जी के शिष्य ब्रजमोहनशरण जी इस मंदिर के वर्तमान महंत हैं। इनके अधिकार में यह देव-स्थान सं. १९८७ से है[2]।

हनुमान जी का मंदिर—यह मंदिर मथुरा के असिकुंडा घाट पर है। इसका निर्माण श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा के महात्मा मोहनदास ने कराया था। उनके उपरांत शीतलदास जी के शिष्य श्यामदास जी इस मंदिर के महंत हुए। वे बाद में गृहस्थ हो गये। उनके पुत्र राजकिशोरशरण इस मंदिर के वर्तमान अधिकारी हैं। इनके नियंत्रण में मथुरा के गजापायसा मुहल्ला का श्री विहारी जी का मंदिर भी है[3]।

मथुरा नगर के अन्य देव-स्थान—इस नगर के अन्य निंवार्कीय देव-स्थान मंडी रामदास का श्री गोपाल जी का मंदिर, होली वाली गली का श्री जानकीवल्लभ जी का मंदिर, वैरागपुरा का परशुरामद्वारा, ध्रुवक्षेत्र का सप्तर्षि टीला, डेम्पियर स्थित वनखंडी हैं। श्रीकृष्ण-जन्मभूमि स्थित श्री केशवदेव जी का मंदिर भी निंवार्कीय देव-स्थान कहा जाता है।

निकटवर्ती देव-स्थान—मथुरा नगर के सामने यमुना पार का दुर्वासा आश्रम भी निंवार्कीय स्थान बतलाया जाता है। मथुरा से ३ मील दूर गोवर्धन मार्ग पर सतोहा गाँव है। यहाँ का श्री शांतनुविहारी जी का मंदिर निंवार्कीय देव-स्थान है। इसे श्री नागा जी की शिष्य-परंपरा के महंत मोहनदेव जी ने बनवाया था। उनकी शिष्य-परंपरा में मथुरादास जी और भगवानदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इस मंदिर के वर्तमान महंत शीतलदास हैं[4]।

गोवर्धन—श्री निंवार्काचार्य और उनके आरंभिक शिष्यों का उपासना-स्थल होने के कारण यह निंवार्क संप्रदाय का प्राचीनतम केन्द्र है। श्री निंवार्काचार्य जी ने इस क्षेत्र के जिस स्थान पर भक्ति-साधना की थी, वह उनके नाम पर निंबग्राम अथवा नीमगाँव कहलाता है। श्री निंवार्काचार्य जी के प्रमुख शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी ने जहाँ उपासना की थी, वह राधाकुंड के नाम से प्रसिद्ध है। गोवर्धन क्षेत्र में इस संप्रदाय के और भी कई देव-स्थान और दर्शनीय स्थल हैं।

नीमगाँव—यह स्थान वर्तमान गोवर्धन कस्बा से प्राय: २ मील पश्चिम में है। श्री निंवार्काचार्य जी के निवास और उनकी भक्ति-साधना का केन्द्र होने से यह इस संप्रदाय का महत्वपूर्ण पुण्य

---

(१), (२), (३), (४) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १४७-१४८-१५६
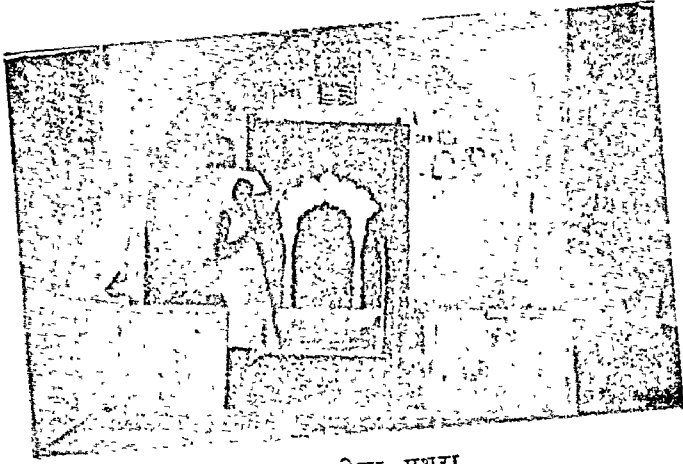
नारद टीला, मथुरा
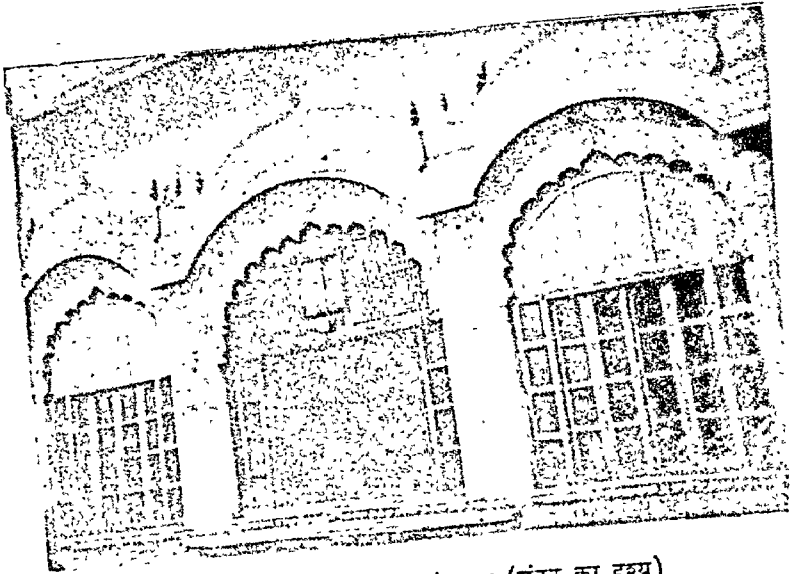
श्री जी की बड़ी कुंज, वृंदाबन (अंदर का दृश्य)
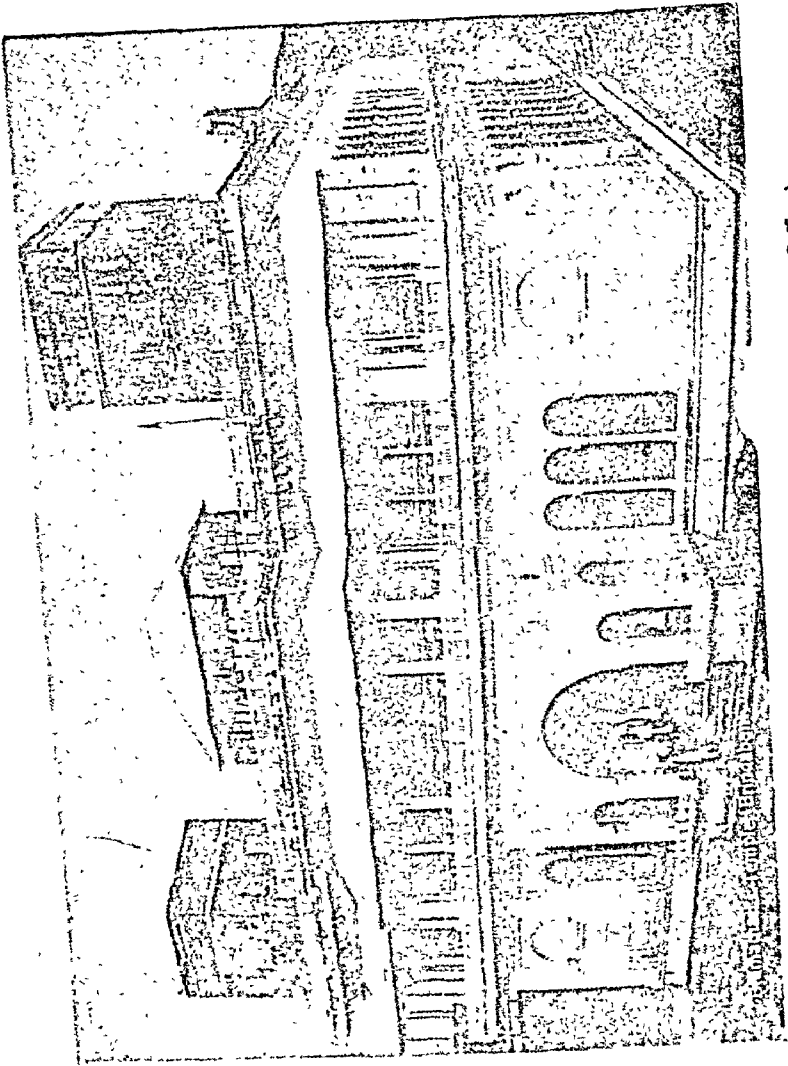
श्री ब्रह्मचारी जी का मंदिर, वृंदावन (ग्वालियर नरेश द्वारा निर्मित)

स्थल है। ब्रह्मसूत्र का निंबार्क भाष्य 'वेदांत पारिजात सौरभ' इसी स्थान पर रचा गया था। निंबार्काचार्य जी के उपासना-स्थल की स्मृति में यहाँ रास-चबूतरा बनाया गया है, और उनके द्वारा यति जी को निंब वृक्ष पर सूर्य-दर्शन कराने की स्मृति में नीम का पेड़ लगाया गया है। यहाँ पर श्री सुदर्शन जी का मंदिर है, और एक प्राचीन कुंड है। मंदिर का निर्माण श्री परशुराम पीठ के आचार्य गोपेश्वरशरण जी की प्रेरणा से प्रायः एक शताब्दी पूर्व हुआ था। कुंड के पास तीन समाधियाँ हैं, जो इस स्थान के पुजारी बालकृष्णदास, धर्मदास और गणेशदास की कही जाती हैं।

राधाकुंड—श्री निंबार्काचार्य जी के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी के निवास और उनकी उपासना का यह पुण्य स्थल है। यहाँ के ललिता कुंड पर उनकी 'बैठक' बनाई गई है। इसी स्थल पर श्रीनिवासाचार्य जी ने निंबार्क भाष्य की टीका 'वेदांत कौस्तुभ' की रचना की थी। प्राचीन बैठक मध्य काल में नष्टप्राय हो गई थी। उसका जीर्णोद्धार कामवन स्थित श्री परशुराम जी की परंपरा के महंत रघुवरदास ने सं. १६०३ में कराया था। उसी समय यहाँ श्री ललितविहारी जी का मंदिर और रासमंडल का निर्माण भी कराया गया तथा श्रीनिवासाचार्य जी के चरण-चिह्न स्थापित किये गये थे।

नारदकुंड—राधाकुंड से कुछ दूर गोवर्धन मार्ग पर नारदकुंड है, जहाँ के निंबार्कीय मंदिर में श्री नारद जी मूर्ति स्थापित है। भाद्रपद मास के प्रत्येक शनिवार को नारदकुंड में न्हान होता है।

गोवर्धन क्षेत्र के अन्य देव-स्थान—गोवर्धन के पास किलोलकुंड पर श्री किलोलविहारी जी का मंदिर है। यहाँ के महंत गर्वीलीशरण हैं। मानसीगंगा पर हाथी दरवाजा का निंबार्कीय देव-स्थान है। यहाँ के महंत श्री नागा जी की परंपरा के विहारीदास हैं। श्री गिरिराज जी की परिक्रमा मार्ग में आन्यौर गाँव के गोविंदकुंड भी पर निंबार्कीय देव-स्थान हैं; जहाँ परशुराम पीठ के आचार्य नारायण देव जी ने अपने गुरु श्री हरिवंश जी की पुण्य स्मृति में विशाल धार्मिक समारोह किया था। आन्यौर से आगे पूंछरी गांव में एक निंबार्कीय देव-स्थान श्री विहारी जी का मंदिर है। इसके निकटवर्ती अप्सरा कुंड पर श्री अप्सराविहारी जी का देव-स्थान है। राधाकुंड-गोवर्धन मार्ग स्थित कुसुमसरोवर के निकट 'श्यामकुटी' भी निंबार्कीय देव-स्थान है।

वृंदावन—इस समय व्रज में निंबार्क संप्रदाय का प्रधान केन्द्र वृंदावन है। यहाँ पर इस संप्रदाय से संबंधित अनेक मंदिर, कुंज, मठ, अखाड़े, विद्यालय, पुस्तकालय आदि हैं। इनके संत-महंतों द्वारा आधुनिक काल में इस संप्रदाय का प्रचार-प्रसार हो रहा है। इनमें से कतिपय देव-स्थानों का कुछ विशेष वृत्तांत श्री सर्वेश्वर के 'वृंदावनांक' तथा 'निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि' नामक ग्रंथ के आधार पर लिखा जाता है।

श्री जी की बड़ी कुंज—यह देव-स्थान वृंदावन के प्रताप बाजार में है। इसे जयपुर की भट्टी रानी आनंदकुंवरि जी ने अपने पुत्र के जन्मोपलक्ष में सं. १९८३ में बनवाया था। इसे 'श्री निकुंज' अथवा 'रानी वाली कुंज' भी कहते हैं। इसमें ठाकुर श्री आनंदमनोहर जी का मंदिर है। इसके अंतर्गत निंबार्क शोध मंडल, श्री सर्वेश्वर मासिक पत्र का कार्यालय एवं मुद्रणालय, सर्वेश्वर संस्कृत विद्यालय, सर्वेश्वर पुस्तकालय, सत्संग मंडल आदि संस्थाएँ हैं। इस देव-स्थान के वर्तमान प्रबंधाधिकारी श्री व्रजवल्लभशरण जी सुप्रसिद्ध निंबार्कीय विद्वान हैं।

संबंधित देव-स्थान—बड़ी कुंज के निकट दूसरी कुंज है, जिसे जयपुर की पूर्वोक्त भट्टी रानी की बाँदी रूपा बड़ारिन ने बनवाया था। इसे 'बाँदी वाली कुंज' भी कहते हैं। इसमें ठाकुर

श्री रूपमनोहर जी का मंदिर है। इनके अतिरिक्त श्री जी की छोटी कुंज, जीवाराम जी की कुंज, पन्ना वाली कुंज, नागर कुंज, श्री राधासर्वेश्वर वाटिका-मंदिर, श्री दानविहारी जी का मंदिर भी निंवार्कीय देव-स्थान हैं। इन सब का प्रबंध बड़ी कुंज के नियंत्रण में किया जाता है।

टोपी वाली कुंज—यह देव-स्थान वृंदावन के विहारघाट पर है। श्री हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यों में श्री मुकुंद जी की शाखा का यह प्रधान केन्द्र है। इसकी गद्दी के ७ वें महंत रामदास जी ने १६ वीं शती में इस स्थान का निर्माण कराया था। १०वें महंत कल्याणदास जी ने २० वीं शती में इसकी अधिक उन्नति की थी। इसके महंत टोपी धारण करते थे, अतः यह देवालय 'टोपी वाली कुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान के महंत सनतकुमारदास जी हैं। इस कुंज से संबंधित श्री मुकुंददेव जी की परंपरा के अन्य देव-स्थान 'वन विहार' और 'मुकुंद सदन' हैं। इनके महंत क्रमशः बाबा माधुरीदास और बाबा कुंजविहारीदास हैं।

यशोदानंदन जी का मंदिर—परशुराम पीठ के आचार्य गोविंददेव जी के शिष्य दूल्हैरामजी की शिष्य-परपरा में क्रमशः व्रजदास जी और धर्मदास जी हुए थे। धर्मदास जी की प्रेरणा से देलवाड़ा की बाई जसकुँवरि ने सं. १८२८ में इस स्थान का निर्माण कराया था। फिर कोटा की राजमाता महतावकुँवरि द्वारा इसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इस मंदिर के वर्तमान सेवाधिकारी पं. हरगोविंद हैं।

निंवार्क कोट—यह देव-स्थान वृंदावन की छीपी गली में है। इसका निर्माण आचार्य स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा के वालगोविंददास जी ने कराया था। उन्होंने सर्व प्रथम आचार्य पंचायतन की स्थापना वृंदावन में की थी। यहाँ निंवार्कोत्सव बड़े समारोह पूर्वक होता है।

ब्रह्मचारी जी का मंदिर—व्रज में निवास करने वाले २०वीं शती के निंबार्कीय महात्माओं में ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी बड़े चमत्कारी और प्रभावशाली धर्माचार्य हुए हैं। उनसे प्रभावित कई तत्कालीन नरेशों ने वृंदावन में मंदिर-देवालय बनवाये थे। ग्वालियर-नरेश जीवाजीराव सिंधिया ने पांच लाख रुपया की लागत से सं. १९१७ में एक विशाल मंदिर बनवा कर उसे ब्रह्मचारी जी की भेंट कर दिया था। यह 'ब्रह्मचारी जी का मंदिर' कहलाता है। इसमे निंवार्क संप्रदाय के आचार्य पंचायतन की स्थापना की गई है।

वंशीवट का देव-स्थान—यह वृंदावन का अत्यंत प्राचीन लीला-स्थल है, और यहाँ कई संप्रदायों के मंदिर-देवालय है। यहाँ के निंवार्कीय देव-स्थान का निर्माण ब्रह्मचारी गिरिधारी-शरण जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए सिंधिया नरेश ने कराया था। इसमें श्री वंशीविहारी जी और आचार्य पंचायतन की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। इसकी प्रवंध-व्यवस्था ब्रह्मचारी जी के मंदिर द्वारा की जाती है।

माधवविलास मंदिर—यह वृंदावन के निंवार्कीय मंदिरों मे सवसे बड़ा है। इसे जयपुर-नरेश माधवसिंह ने ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए बनवाया था। इसके निर्माण-कार्य का आरंभ सं. १९४४ मे हुआ था, और यह प्रचुर काल तक बनता रहा था। इसकी प्रतिष्ठा सं. १९८१ में हुई थी। इसमे ठाकुर श्री नृत्यगोपाल जी, श्री राधागोपाल जी और आचार्य पंचायतन के दर्शन हैं। इसके आचार्य-मंदिर में ब्रह्मचारी जी की मूर्ति भी स्थापित की गई है। महाराज माधवसिंह के नाम पर यह मंदिर 'माधव विलास' कहलाता है।

काठिया बाबा का आश्रम—इस देव-स्थान का निर्माण 'ब्रज विदेही' महंत संतदास ने कराया था। उनके उत्तराधिकारी श्री धनंजयदास हुए। इन्होंने इस स्थान से हट कर गुरुकुल मार्ग पर अन्य स्थान बनवाया है, जो 'काठिया बाबा का नया आश्रम' कहलाता है। पुराने आश्रम के महंत प्रेमदास हैं, और नये के रामजीदास हैं।

वृंदावन के अन्य देव-स्थान—इनके अतिरिक्त वृंदावन के अन्य निंबार्कीय देव-स्थान कालियमर्दन जी का मंदिर, सर्वेश्वरघाट स्थित श्री जी का मंदिर, विहारघाट स्थित श्री नागा जी की पुरानी कुंज और श्री उद्धवघमंडी जी का स्थान 'श्री ज्ञानी जी की बगीची' हैं। इनके साथ ही 'श्री हरिव्यासी निर्वाणी', 'श्री हरिव्यासी महानिर्माणी', 'झाड़िया निर्मोही' और 'पंच मालाधारी निर्मोही' अखाड़े भी हैं।

भरतपुर—अंगरेजी शासन काल में यह नगर जाट राज्य की राजधानी था। राजनैतिक दृष्टि से इसकी स्थिति राजस्थान में है; किंतु सांस्कृतिक रूप से यह ब्रज प्रदेश के अंतर्गत है। इसके दुर्ग में जो राजकीय मंदिर है, उसमें श्री नागा जी के उपास्य ठाकुर श्री बिहारी जी विराजमान हैं। यहाँ नागा जी की मूर्ति, उनकी गूदड़ी एवं माला भी हैं। नागा जी के पुण्य दिवस आश्विन कृ. ७ को यहाँ विशेषोत्सव होता है। उसी दिन गूदड़ी-माला का दर्शन भी कराया जाता है।

ब्रज के अन्य निंबार्कीय स्थान—उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त बरसाना, गहवरवन, गाजीपुर, कोकिला वन, पेंगांव, माधुरीकुंड, फारेन, शेरगढ़, मानसरोवर, पानीघाट आदि भी निंबार्क संप्रदाय के दर्शनीय स्थल माने जाते हैं। इस संप्रदाय के संत-महंत समय-समय पर इन लीला-स्थलों में निवास कर भक्ति-साधना करते रहे हैं।

ब्रज की यात्रा और परिक्रमा—वल्लभ संप्रदाय और चैतन्य संप्रदाय की भाँति निंबार्क संप्रदाय में भी ब्रज की यात्रा और परिक्रमा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। श्री चतुरचिंतामणि नागा जी प्रति दिन ब्रज की परिक्रमा किया करते थे। उनके पश्चात् ब्रज-यात्रा और ब्रज-परिक्रमा नियमित रूप से की जाती रही हैं। साधारणतया प्रत्येक मास की एकादशी एवं पूर्णिमा को तथा विशेष रूप से वन विहार पूर्णिमा, अक्षय नवमी, देवोत्थापन एकादशी और कार्तिक शुक्ला नवमी (श्री हंस भगवान् और सनकादि ऋषियों की प्राकट्य तिथि) को परिक्रमा की जाती है। वार्षिक ब्रज-यात्रा और ब्रज-परिक्रमा का आयोजन ब्रजविदेही काठिया बाबा द्वारा किया जाता है। इसमें सैकड़ों निंबार्कीय भक्त गण सम्मिलित होते हैं। ये लोग प्रायः पाँच सप्ताह में ब्रज के समस्त लीला-स्थलों की यात्रा कर वापिस लौटते हैं।

वर्तमान स्थिति—पूर्ववर्ती आचार्य सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, हरिव्यासदेव जी, स्वभूराम जी, परशुरामदेव जी और चतुरचिंतामणि नागा जी आदि के काल में जैसे संगठित रूप से इस संप्रदाय का प्रचार-प्रसार किया था, वैसी बात तो अब नहीं रही; किंतु फिर भी ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों की अपेक्षा इसकी वर्तमान स्थिति अच्छी है। इसका पहिला कारण तो यह है कि यह ब्रज में राधा-कृष्णोपासनाका प्राचीन भक्ति-संप्रदाय है, और इसकी बड़ी गौरवपूर्व सांप्रदायिक परंपरा रही है। दूसरा कारण यह है कि सवाई राजा जयसिंह के समय से 'टट्टी संस्थान' इस संप्रदाय के अंतर्गत आ जाने से स्वामी हरिदास जी की शिष्य-परंपरा के विरक्त संतों ने भी इसकी प्रगति में योग दिया है। वास्तविक बात तो यह है कि नये सांप्रदायिक उत्साह के कारण हरिदासियों की देन निंबार्कीयों से भी कुछ अधिक ही रही है। इस प्रकार इस काल में निंबार्क संप्रदाय को दुहैरा लाभ प्राप्त हुआ है। फलतः ब्रज में इस संप्रदाय के नये मंदिर-देवालय बनाये गये हैं, और आश्रम-अखाड़े स्थापित किये गये हैं। इनके साथ ही सांप्रदायिक ग्रंथों का भी प्रचुरता से प्रकाशन किया गया है।

हरिदास संप्रदाय

विरक्त शिष्य-परंपरा और गोस्वामी-परंपरा के आधुनिक महानुभाव—

सांप्रदायिक गति-विधि—हरिदास संप्रदाय की विरक्त शिष्य-परंपरा और गोस्वामी-परंपरा के पारस्परिक मनोमालिन्य और उसके कारण सांप्रदायिक गति-रोध होने की बात गत पृष्ठों में लिखी जा चुकी है। आधुनिक काल में भी वह स्थिति यथावत् रही है। इस काल में विरक्त शिष्य-परंपरा का प्रतिनिधित्व अधिकतर 'टट्टी संस्थान' द्वारा हुआ है; और इसके महंत एवं शिष्य गण भी हरिदास संप्रदाय से अधिक निंवार्क संप्रदाय की उन्नति में योग देते रहे हैं। इनकी मान्यता के अनुसार हरिदास संप्रदाय निंवार्क संप्रदाय की शाखा है, और मूल को सींचने से शाखा की उन्नति होना स्वाभाविक है। गोस्वामी-परंपरा की आधुनिक गति-विधि का केन्द्र अधिकतर श्री बिहारी जी का मंदिर रहा है। सौभाग्य से विवेच्य काल में इस मंदिर की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गई है कि यह वृंदावन का सर्वाधिक प्रसिद्ध देव-स्थान हो गया है। इसके कारण गोस्वामी समुदाय में भी गति-शीलता आई है। यहाँ पर इस संप्रदाय के इन दोनों वर्गों से संबंधित कतिपय प्रसिद्ध महानुभावों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

'टट्टी संस्थान' के आधुनिक महंत और उनके शिष्य गण—

श्री राधाप्रसाद जी—वे श्री सहचरिशरण जी के पश्चात् सं. १८६४ की ज्येष्ठ शु. ४ को 'टट्टी संस्थान' की गद्दी पर आसीन हुए थे; और सं. १६४४ तक यहाँ के महंत रहे थे। उनके शिष्यों भगवानदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री भगवानदास जी—उनका जन्म बुंदेलखंड के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था, और उन्होंने युवावस्था में ही विरक्त होकर श्री राधाप्रसाद जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। वे अपने गुरु जी के पश्चात् सं. १६४४ की आश्विन शु. १० को 'टट्टी संस्थान' के महंत हुए थे। वे त्यागी, तपस्वी और साधु-सेवी महात्मा थे। उन्होंने संस्थान की प्राचीन परंपरा का पालन करते हुए इसकी उन्नति में पर्याप्त योग दिया था। उनसे पहिले इस संप्रदाय के महात्माओं की वाणियों को अत्यंत गुप्त रखा जाता था, और अनधिकारी व्यक्तियों से बचाने के लिए उन्हें प्रकाशित नहीं किया जाता था। उन्होने आधुनिक युग की आवश्यकतानुसार संप्रदायिक प्रचार के लिए वाणियों का प्रकाशन कराया, और अधिकारी व्यक्तियों में उनका अमूल्य वितरण किया था। सर्वश्री भगवत्तरसिक जी एवं शीतलदास जी की वाणियों के अतिरिक्त उन्होंने श्री किशोरदास जी कृत 'निज मत सिद्धांत' और 'श्री सहचरिशरण जी कृत 'ललित प्रकाश' जैसे महत्वपूर्ण इतिवृत्तात्मक ग्रंथ सर्वप्रथम प्रकाशित कराये थे। उनके कारण इस संप्रदाय के संबंध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने में बड़ी सुविधा हुई है। उनका देहावसान सं. १६८७ की कातिक शु. ५ को हुआ था। उनके शिष्यों में रणछोड़दास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री रणछोड़दास जी—वे श्री भगवानदास जी के पश्चात् सं. १६८७ में संस्थान की गद्दी पर आसीन हुए थे, और सं. १६६० तक यहाँ के महंत रहे थे।

श्री राधारमणदास जी—वे श्री रणछोड़दास जी के पश्चात् सं. १६६० से सं. १६६३ तक संस्थान के महंत रहे थे।

प्राचीन ब्रज में यक्षों और नागों की उपासना-पूजा का प्रचार—

यक्ष-केन्द्र और यक्ष-नेता—यक्षों की आदिम बस्ती उत्तर दिशा स्थित अलकापुरी थी। कालिदास कृत मेघदूत में उनका बड़ा ही भव्य और रोचक वर्णन हुआ है। विद्वानों का अनुमान है, यक्षों की पूजा भी पहिले-पहल इस देश के उत्तरी भाग में ही प्रचलित हुई थी। जब यक्ष गण अपने मूल स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी जाकर बसने लगे, तब प्राचीन ब्रजमंडल उनका एक प्रमुख केन्द्र हो गया था। मथुरा के निकटवर्ती स्थानों में यक्ष-पूजकों की कई बस्तियाँ थीं, जिनमें वे बड़ी संख्या में निवास करते थे।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म के ग्रंथों में अनेक यक्ष-नेताओं के नाम मिलते हैं। प्राचीन ब्रज के प्रमुख यक्षों में मणिभद्र, भंडीर और गर्दभ तथा प्रसिद्ध यक्षिणियों में आलिका, वेंदा, मघा और तिमिसिका के नाम उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल में उनके द्वारा यक्ष-पूजकों का नेतृत्व किया जाता था और उन सबके बहुसंख्यक अनुयायी थे। गर्दभ यक्ष और तिमिसिका यक्षिणी के उपासकों की संख्या ५००-५०० होने का उल्लेख मिलता है[1]।

यक्षोपासना का प्रचलन-काल और उसका आतंक—ब्रज में यक्षों की उपासना-पूजा का प्रचलन किस काल में हुआ, इसे प्रामाणिकता के साथ बतलाना संभव नही है; किंतु इतना निश्चित है कि बुद्ध-महावीर के जन्म-काल विक्रमपूर्व छटी शती से भी पहिले ही वह यहाँ पर प्रचलित थी। जब बुद्ध मथुरा आये थे, तब उन्होंने इस भू-भाग में यक्षोपासना का व्यापक प्रचार देखा था। भारतीय मूर्ति कला में आदिम मूर्तियाँ यक्षों की मानी जाती है। ब्रज की प्राचीनतम मूर्तियाँ भी यक्षों की ही हैं, जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। उनसे भी यहाँ पर यक्षोपासना के प्रचलन-काल की प्राचीनता का परिचय मिलता है।

बुद्ध-महावीर के जन्म-काल से पहिले ही भारत के अनेक स्थानों में यक्षों का बड़ा आतंक था। बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है, बुद्ध ने अनेक उपद्रवी यक्षों का दमन किया था और उन्हें धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी थी। पालि ग्रंथ *'सगार्थ वग्ग'* के अंतर्गत *'यक्ख संयुक्त'* में बुद्ध द्वारा यक्षों की शंका का समाधान कर उन्हें अपना अनुयायी बनाने का उल्लेख हुआ है। उस समय एक यक्ष ने बुद्ध की खोपड़ी तोड़ कर उन्हें गंगा में फेंक देने की भी धमकी दी थी; किंतु उनकी तेजस्विता से वह यक्ष नत मस्तक हो गया[2]। एक यक्ष द्वारा महावीर के प्रति भी अशिष्ट व्यवहार किये जाने का उल्लेख जैन आगम में हुआ है।

जिस समय बुद्ध मथुरा आये थे, उस समय यहाँ भी यक्ष-पूजकों का बड़ा आतंक था। वे लोग अपनी भीषण साधना के लिए नगर निवासियों के बच्चों का अपहरण किया करते थे और उन्हें मार कर खा जाते थे। उनके उस भयानक कुकृत्य से मथुरा नगर में बड़ा आतंक फैला हुआ था। मथुरा के सद्गृहस्थों ने बुद्ध से निवेदन किया कि वे यक्ष-पूजकों के उत्पात से उनकी रक्षा करें। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रभाव से उनके नेता गर्दभ को विनीत बना कर सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था। उसने

---

(१) **प्राचीन मथुरा में यक्ष** (ब्रज भारती, वर्ष १३ अंक २)

(२) **पालि साहित्य का इतिहास**, पृष्ठ १६३

श्री राधाचरणदास जी—ये 'टट्टी संस्थान' के वर्तमान महंत हैं, और सं. १९९४ की आश्विन शु. १० से यहाँ की गद्दी पर आसीन हैं। इन्होंने संस्थान की प्राचीन परंपरा का संरक्षण करते हुए स्वामी जी की भक्ति-भावना एवं संगीत-पद्धति को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। ये वृंदावन के विरक्त भक्तों में अग्रणी हैं।

शिष्य गण—'टट्टी संस्थान' के आधुनिक शिष्यों में ऐसे अनेक विरक्त भक्त, विद्वत् जन और सद् गृहस्थ हुए हैं, जिन्होंने इस संप्रदाय की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया है। इनमें से कतिपय प्रसिद्ध महानुभावों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

पं. अमोलकराम जी—उनका जन्म हरियाना के गौड़ ब्राह्मण कुल में सं. १९२९ में हुआ था। उन्होंने काशी, नवद्वीप आदि स्थानों में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का गहन ज्ञानोपार्जन किया था। अपने अध्ययन-काल के अनंतर वे वृंदावन आ गये, और यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे थे। उन्होंने 'टट्टी संस्थान' से संबंधित महात्मा स्वामिनीशरण जी से हरिदास संप्रदाय की दीक्षा ली थी। उनके प्रगाढ़ पांडित्य की बड़ी ख्याति थी। उनकी विद्वत्ता के कारण उन्हें श्री रंग जी मंदिर के संस्कृत विद्यालय का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया था। उन्होंने कई उपनिषदों और निंबार्क संप्रदाय के विविध सिद्धांत ग्रंथों को पांडित्यपूर्ण भाष्य एवं टीका-टिप्पणियों सहित संपादित कर प्रकाशित कराया था। वे विविध शास्त्रों के अद्वितीय विद्वान होते हुए भी बड़े सरल स्वभाव और सादा रहन-सहन के निष्ठावान साधक थे। उनका देहावसान सं. २००२ में वृंदावन में हुआ था।

मुखिया नवेलीशरण जी—वे महात्मा स्वामिनीशरण जी के विरक्त शिष्य और 'टट्टी संस्थान' की संगीत-'समाज' के मुखिया थे। उनके शिष्यों में कुंजविहारी जी प्रमुख थे।

मुखिया कुंजविहारी जी—उनका जन्म पंजाब के ब्राह्मण कुल में सं. १९२९ में हुआ था। आरंभ से ही उनकी रुचि भक्ति-साधना और ठाकुर-सेवा की ओर थी। उन्होंने कुछ काल तक अमृतसर में भक्तिमती आनंदीबाई जी के सेव्य ठाकुर श्री राधा-आनंदवल्लभ जी की सेवा-पूजा की थी। बाद में वे वृंदावन आ गये, और सं. १९४८ से यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे थे। वे मुखिया नवेलीशरण जी के शिष्य हुए और उनसे उन्होंने समाज-गान की शिक्षा प्राप्त की थी। वे बरसाना और वृंदावन में निवास करते थे। मुखिया गोकुलदास जी से उनका सौहार्द्र था। उनके साथ वे आचार्योत्सव की 'समाज' में सोत्साह सम्मिलित होते थे। उनका देहांत सं. १९९३ में हुआ था।

सेठ हरगूलाल जी—ये भक्तवर सेठ जानकीदास जी के सुपुत्र हैं। 'टट्टी संस्थान' के वर्तमान गृहस्थ भक्तों में ये अग्रणी हैं, और व्रज की धार्मिक उन्नति के कार्यों में प्रमुख सहायक रहे हैं। इनके द्वारा सम्पन्न अनेक धार्मिक एवं लोकोपकारी कार्यो में से कुछ इस प्रकार हैं,—श्री विहारी जी की सेवा, भोग-राग और उत्सवों की व्यवस्था; विहारी जी के बगीचा का प्रबंध; निंबार्क दातव्य औषधालय और टी. बी. सैनीटोरियम जैसी लोकोपकारी संस्थाओं का प्रबंध; निधुवन का जीर्णोद्धार; बरसाना की नहर और सड़क का निर्माण; वहाँ के सुप्रसिद्ध श्री लाड़िली जी के भव्य मंदिर का निर्माण आदि। इस प्रकार के अनेक धर्मार्थ कार्यों में लाखों रुपया व्यय करने और व्रज की धार्मिक उन्नति में तन-मन-धन से निरंतर तल्लीन रहने पर भी ये नाम और यश से सदैव उदासीन रहते हैं। गृहस्थ होते हुए भी इनका रहन-सहन विरक्त संतों के सदृश है।

बाबा विश्वेश्वरशरण जी—इनका जन्म सं. १९७४ में बलिया जिला में हुआ था; किंतु सं. १९९६ से ये विरक्तावस्था में वृंदावन में निवास करते हैं। इन्होंने निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली है; किंतु ये स्वामी हरिदास जी के अनन्योपासक है, और 'टट्टी संस्थान' के निष्ठावान भक्त हैं। इनका निवास 'श्री जी की बड़ी कुंज' में है, और ये अधिकारी ब्रजवल्लभशरण जी के सांप्रदायिक एवं साहित्यिक कार्यों मे सहयोग देते हैं। श्री निंबार्क शोध मंडल द्वारा प्रकाशित 'सिद्धांत रत्नाकर' और 'स्वामी हरिदास रस सागर' जैसे महत्वपूर्ण वाणी ग्रंथों का इन्होंने संपादन किया है। इनके संचालन में वृंदावन का 'सत्संग मंडल' भक्ति-प्रचार का अच्छा कार्य कर रहा है।

राधामोहनदास जी—ये अपने घर की परंपरा के अनुसार 'टट्टी संस्थान' के निष्ठावान गृहस्थ भक्त हैं। इनकी रुचि सांप्रदायिक प्रचार और वाणी-प्रकाशन की ओर अधिक है। इन्होंने सर्वश्री किशोरदास जी, भगवतरसिक जी, रूपसखी जी और बिहारीवल्लभ जी जैसे महात्माओं की दुर्लभ वाणियों का संकलन-संपादन कर इन्हें प्रकाशित किया है। ये बड़े उत्साही युवक हैं।

गोस्वामी-परंपरा के विद्वत् जन—

वृंदावन निवासी आधुनिक गोस्वामी—वृंदावनस्थ श्री बिहारी जी के गोस्वामियों में से आधुनिक काल मे जो अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

गो. नंदकिशोर जी—वे संस्कृत के अच्छे विद्वान और ब्रजभाषा के सुकवि थे। उन्होंने कई काव्य-रचनाएँ की थीं, जिनमें 'हरिदास महिमामृत' उल्लेखनीय है। उनका रचना काल सं. १९२० के लगभग है।

गो. जगदीश जी—वे मथुरा के विद्वान अंगरेज जिलाधीश और 'मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर' जैसे सुप्रसिद्ध ग्रंथ के लेखक श्री एफ. एस. ग्राउस के समकालीन थे। उनसे ग्राउस महोदय को स्वामी हरिदास जी से संबंधित अनेक सूचनाएँ प्राप्त हुई थीं। वे संस्कृत एवं ब्रजभाषा के कवि थे।

गो. रामनाथ जी—उनका जन्म सं. १९५८ में हुआ था। वे संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और ब्रजभाषा के कवि थे। उन्होंने कई काव्य-रचनाएँ की थीं, जिनमें बिहारी भजनावली और कुंजबिहारी सर्वस्व उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान कम आयु में सं. १९९४ में हुआ था।

गो. छबीलेवल्लभ जी—उनका जन्म सं. १९७६ में हुआ था। वे ब्रजभाषा के कवि और इस संप्रदाय के उत्साही प्रचारक थे। उनका देहांत कम आयु में अब से कुछ ही वर्ष पहिले हुआ है।

गो. शरणबिहारी जी—इनका जन्म सं. १९८७ में वृंदावन में हुआ है, और ये पूर्वोक्त गो. रामनाथ जी के सुपुत्र हैं। इन्होंने संस्कृत और अंगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की है। ये ब्रज-भाषा और खड़ी बोली के सुकवि, एकांकीकार, उपन्यासकार, समीक्षक तथा ब्रजभाषा साहित्य एवं भक्ति-संप्रदायों के अच्छे विद्वान हैं। इन्होंने कई सुंदर ग्रंथों की रचना की है, जिनमें स्वामी हरिदास और पापाणी (काव्य), पूँछरी को लौठा (ब्रजभाषा का उपन्यास), ध्रुव स्वामिनी (समीक्षा) और कृष्ण-भक्ति काव्य में सखी भाव (शोध प्रबंध) उल्लेखनीय हैं। इनकी कई रचनाएँ सरकार से पुरस्कृत हुई हैं। ये इस समय दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी-प्राध्यापक और आकाशवाणी में ब्रजमाधुरी कार्यक्रम के संयोजक हैं।

अन्य गोस्वामी गण—वृंदावनस्थ अन्य गोस्वामियों में जो इस संप्रदाय की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं, उनमें से मूलबिहारी जी, प्रेमबिहारी जी, प्रियाशरण जी और कुंजबिहारी जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरिदास संप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

वृंदावन—ब्रज का यह पुरातन लीला-धाम हरिदास संप्रदाय का सर्वप्रधान सांप्रदायिक केन्द्र है। इस संप्रदाय की विरक्त परंपरा के आचार्यों और उनके अनुगामी भक्तों का तो यह एक मात्र उपासना-स्थल है। इस परंपरा के अनेक महानुभाव 'क्षेत्र संन्यासी' की भाँति जीवन पर्यंत यहाँ निवास करते हैं, और वे किसी भी दशा में अन्यत्र जाना अपने लिए निषिद्ध मानते हैं! गोस्वामी-परंपरा के गृहस्थों एवं विरक्तों अथवा इस संप्रदाय के सामान्य भक्तों के लिए ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है; फिर भी वे वृंदावन का सर्वोपरि महत्व मानते हैं, और यथा संभव यहाँ निवास करने के इच्छुक रहते हैं। इसी स्थान पर इस संप्रदाय के प्रायः सभी पुण्य स्थल और देवालय हैं। यहाँ पर इनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

निधुवन—इसे 'निधिवन' भी कहते हैं। यह प्राचीन वृंदावन का दर्शनीय अवशेष है। पहिले यह एक विशाल वनस्थल था; किंतु इसके ओर-पास बस्ती बस जाने से इसका आकार बहुत कम हो गया है। इस समय यह पक्की चारदीवारी से घिरा हुआ एक संरक्षित वनखंड है, जो वर्तमान वृंदावन के प्रायः मध्य में 'शाह जी के मंदिर' के समीप है। इसकी सघन लता-कुंजों में मोर, बंदर और पशु-पक्षियों का स्थायी आवास है। नागरिक कोलाहल के मध्य यह एक शांत तपोवन सा है। यद्यपि समुचित देख-भाल न होने से इसका प्राकृतिक सौन्दर्य पूर्ववत् नहीं रहा; तथापि इसमें प्रवेश करते ही ब्रज की प्राचीन वनश्री की यहाँ कुछ झाँकी मिलती है।

स्वामी हरिदास जी ने वृंदावन आने पर जीवन पर्यंत यहाँ निवास किया था; और इसी के एक विशिष्ट स्थल पर उन्होंने श्री बिहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था। मुगल सम्राट अकबर ने तानसेन के साथ इसी स्थान पर स्वामी जी के दर्शन किये थे, और उनका दिव्य संगीत सुना था। स्वामी जी के उपरांत उनकी विरक्त शिष्य-परंपरा के आचार्य ललितकिशोरी जी तक इसी स्थल पर भक्ति-साधना करते रहे थे। गो. जगन्नाथ जी तथा उनके वंशजों ने श्री बिहारी जी का नया मंदिर बनने से पहिले तक इसी स्थान पर उनकी सेवा-पूजा की थी। इस प्रकार यह हरिदास संप्रदाय का प्रधान पुण्य स्थल है। इसमें श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल, रंगमहल और स्वामी जी सहित अनेक महात्माओं की समाधियाँ हैं। यहाँ स्वामी जी की बैठक और उनके चित्रपट के दर्शन हैं। बिहार पंचमी—मार्गशीर्ष शु. ५ को यहाँ एक सांस्कृतिक समारोह होता है, जिसमें अनेक संगीतज्ञ, साहित्यकार और विद्वत् जन स्वामी जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। यह स्थान बिहारी जी के गोस्वामियों के अधिकार में है।

टट्टी संस्थान—यह स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य-परंपरा का प्रधान केन्द्र है। आचार्य ललित-किशोरी जी ने निधुवन से हटने के उपरांत इस स्थान पर भक्ति-साधना की थी। तब से अब तक उनकी शिष्य-परंपरा के महात्माओं का यह प्रमुख साधना-स्थल रहा है। यहाँ पर स्वामी जी के स्मृति-चिह्न स्वरूप उनके करुआ-गूदड़ी सुरक्षित हैं, जिनका दर्शन राधाष्टमी—भाद्रपद शु. ८ को कराया जाता है। उस दिन यहाँ एक भव्य धार्मिक समारोह किया जाता है, जिसके अंतर्गत 'समाज' होती है, और मेला लगता है। यहाँ ठाकुर श्री मोहिनीबिहारी जी का मंदिर है। इस स्थान के अंतर्गत श्री राधिकाबिहारी जी, श्री दाऊजी, श्री प्राणवल्लभ जी और श्री दंपति-किशोर जी के भी मंदिर-देवालय हैं। यहाँ की गद्दी के वर्तमान महंत श्री राधाचरणदास जी हैं।

श्री रसिकविहारी जी का मंदिर—यह स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य-परंपरा का दूसरा केन्द्र और छठे आचार्य रसिकदास जी के सेव्य स्वरूप का देव-स्थान है। उक्त आचार्य जी निधुवन से हट कर इसी स्थल पर विराजे थे। यहाँ इस संप्रदाय का प्राचीनतम मंदिर बनाया गया था, जिसे आक्रमणकारियों ने ध्वस्त कर दिया था। उस संकट काल में ठाकुर श्री रसिक विहारी जी का स्वरूप वृंदावन से हटा कर उदयपुर-डूँगरपुर पहुँचा दिया गया था। सं १८१२ में इस स्थान का पुनरुद्धार कर नया मंदिर बनाया गया; तब श्री रसिकविहारी जी के स्वरूप को यहाँ पुनः प्रतिष्ठित किया गया था। इस स्थान की गद्दी के वर्तमान महंत श्री राधाशरणदास जी हैं।

श्री गोरीलाल जी का मंदिर—यह देव-स्थान पूर्वोक्त ठाकुर रसिकविहारी जी के मंदिर के समीप है। इस संप्रदाय की विरक्त शिष्य-परंपरा का यह तीसरा केन्द्र है। इसकी स्थापना आचार्य रसिकदास जी के शिष्य गोविंददास जी ने की थी। यहाँ के मंदिर में इस संप्रदाय के पाँचवें आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य स्वरूप श्री गोरीलाल जी विराजमान हैं। इस स्थान की गद्दी के वर्तमान महंत श्री बालकदास जी हैं।

श्री विहारी का मंदिर—यह देवालय वृंदावन – पुराने शहर में है। नगर के जिस भाग में यह मंदिर बना हुआ है, वहाँ पहिले भरतपुर के राजा का बाग था। उस बाग के उजड़ जाने पर सं. १९२१ में इस मंदिर का निर्माण किया गया, और इसमें श्री विहारी जी के स्वरूप को पधराया गया। तब से यहाँ बस्ती बसने लगी, और यह स्थान 'विहारीपुरा' कहा जाने लगा। इस समय यह मंदिर वृंदावन का सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध देव-स्थान है। यहाँ हजारों नर-नारी प्रति दिन बड़े भक्ति-भाव से श्री विहारी जी के दर्शनों का आनंद प्राप्त करते हैं। ठाकुर-सेवा, भोग-राग, उत्सव-समारोह आदि की यहाँ सुंदर व्यवस्था है।

वर्तमान स्थिति—इस संप्रदाय की वर्तमान स्थिति ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों की अपेक्षा कुछ अच्छी होते हुए भी इसमें नवयुग का उन्मेष दिखलाई नहीं देता है। यदि इस संप्रदाय के संत-महंत, गोस्वामी और इनके अनुगामी जन नवयुग के अनुसार अपने को थोड़ा भी ढाल सकें, तो वे सांप्रदायिक उन्नति के साथ ही साथ ब्रज की धार्मिक प्रगति में भी बड़ा योग दे सकते हैं। इस संप्रदाय की यह विशेषता रही है कि स्वामी हरिदास जी सहित इनके अनेक आचार्यों ने 'वाणी' के रूप में प्रचुर भक्ति-काव्य का सृजन किया है। यह समस्त वाणी-काव्य ब्रजभाषा में है, और इस संप्रदाय का सर्वोपरि सैद्धांतिक साहित्य माना जाता है। इसका जितना सांप्रदायिक महत्व है, उतना ही साहित्यिक महत्व भी है। हिंदी के विद्वान साहित्यकारों की दृष्टि में भी इसका बहुत थोड़ा ही अंश अभी तक आ सका है। इसका कारण यह है कि यह शृंगार रसपूर्ण साहित्य है, और इस सप्रदाय के विद्वानो ने इसे 'सूम के धन' की भाँति सदा छिपा कर रखा है! उन्हें सदैव आशंका रही है कि इस संप्रदाय की उपासना-भक्ति के यथार्थ मर्म को न समझने वाले पाठक इसका दुरुपयोग कर सकते है। अब से प्रायः ३० वर्ष पहिले वृंदावन के एक विरक्त साधु विहारी-शरण जी ने 'निंबार्क माधुरी' नामक ग्रंथ में निंबार्क संप्रदाय के साथ हरिदास संप्रदाय का भी बहुत सा अज्ञात साहित्य प्रकाशित कराया था। उसके लिए पुरानी पीढ़ी के रुढ़िवादी सांप्रदायिक विद्वानों ने उनकी बड़ी भर्त्सना की थी! तब से अब तक वातावरण में बहुत अंतर आ गया है। अब इस साहित्य के प्रकाशन का उतना विरोध नहीं किया जाता है; फिर भी अपेक्षित उत्साह का अभाव है। साप्रदायिक विद्वानों को इसे समुचित रूप में प्रकाशित करना चाहिए।

राधावल्लभ संप्रदाय

'विंदु' और 'नाद' परिवारों के आधुनिक महानुभाव—

'विंदु' – परिवार के गोस्वामी गण—हित कुलोत्पन्न 'विंदु'–परिवार के रास वंश, उसकी दोनों शाखाएँ 'बड़ी सरकार' – 'छोटी सरकार, तथा विलास वंश में जहाँ विगत काल में अनेक यशस्वी धर्माचार्य हुए थे; वहाँ आधुनिक काल में उनकी संख्या उँगलियों पर ही गिनी जा सकती है ! इससे राधावल्लभ संप्रदाय की असंतोषजनक धार्मिक स्थिति का भली भाँति वोध होता है । यहाँ पर इस काल के कुछ उल्लेखनीय महानुभावों का संक्षिप्त वृत्तांत प्रस्तुत है ।

गो. चतुरशिरोमणिलाल जी—वे एक विद्वान धर्माचार्य और प्रौढ़ लेखक थे । उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ 'भावना सागर' का रचना–काल सं. १८६१ है । इस प्रकार वे विवेच्य काल से कुछ पहिले हुए थे; किंतु उनका उल्लेख यथा स्थान न किये जाने के कारण, यहाँ किया गया है । वे लेखक होने के साथ ही साथ संस्कृत और ब्रजभाषा के कवि भी थे । उनके काव्य ग्रंथ श्री हरिवंशाष्टक, राधिकाष्टक, पदावली आदि हैं । उनका प्रमुख ग्रंथ 'भावना सागर' है, जो राधावल्लभीय साहित्य में 'सबसे बड़ा स्वतंत्र गद्य–ग्रंथ है । इसमें श्याम–श्यामा के विवाह–विनोद का बड़ा विशद और रोचक वर्णन किया गया है । युगल के अद्भुत प्रेम और रूप एवं सखियों की अद्भुत तत्सुखमयी सेवा का मार्मिक परिचय इस ग्रंथ में मिलता है[1] ।' इसे एक प्रकार से इस संप्रदाय की गद्यात्मक सैद्धांतिक रचना कहा जा सकता है । श्री चतुरशिरोमणिलाल जी के शिष्यों में शंकरदत्त जी (शंकर कवि) संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथकार हुए हैं । उनकी रचनाओं में श्री हरिवंश वंश प्रशस्ति, श्री हरिवंश हंस नाटकम्, सहस्लोकी व्याख्या और अलंकार शंकर उल्लेखनीय हैं ।

गो. रंगीलाल जी—उनका जन्म सं. १८६० के लगभग वृंदावन में हुआ था । वे संस्कृत के अच्छे विद्वान, ब्रजभाषा और संस्कृत के सुकवि और उच्च कोटि के भक्त थे । अपने आरंभिक जीवन में वे वृंदावन में रहे, किंतु गार्हस्थिक विवाद के कारण वे बाद में बड़ौदा चले गये थे । वहाँ के राजा ने उनसे प्रभावित होकर एक विशाल मंदिर बनवाया था । उनका उत्तर जीवन उसी मंदिर में भक्ति–साधना और ग्रंथ–रचना करते हुए बीता था । उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की है । इनमें द्विदल निर्णय, ब्रजानंदामृतम्, भक्ति हंस, आनंदचंद्रोदय नाटक, राधा सुधानिधि की प्रेमतरंगिणी टीका, सेवा विचार की टीका, मन प्रबोध और माहेश्वर पंचरात्र सार उल्लेखनीय हैं । उनका देहावसान सं. १९०९ में बड़ौदा में हुआ था ।

गो. मनोहरवल्लभ जी—उनका जन्म सं. १८९८ के लगभग हुआ था । वे उच्च कोटि के विद्वान और सरल स्वभाव के परोपकारी धर्माचार्य थे । उन्होंने गुजरात प्रांत में राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था, और अनेक ग्रंथों की रचना की थी । उनके ग्रंथों में हित चतुरासी की संस्कृत टीका, राधा सुधानिधि की टीका, कीर दूत काव्य, गोपिका गीत, राधाप्रेमामृत तरंगिणी, छंद पयोनिधि, अलंकार मयूख और हित सूत्र भाष्य उल्लेखनीय हैं । उनका देहावसान सं. १९७७ के लगभग हुआ था ।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ५४६

गो. युगलवल्लभ जी—उनका जन्म सं. १९०१ की ज्येष्ठ शु. ११ को हुआ था। वे प्रौढ़ विद्वान, यशस्वी ग्रंथकार और विख्यात धर्माचार्य थे। उन्होंने संस्कृत और व्रजभाषा में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनके ग्रंथों में हित शत नाम, हित चंद्रिका, हितामृत, सिद्धांत सार स्मृति, हित सुधा शशि, हित हितोपदेश, वृंदावन विलास, प्रेम प्रकाश, आत्म विचार तथा राधासुधानिधि टीका, द्वादश यश टीका और द्विदल सिद्धांत टीका उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं. २००१ की आषाढ़ कृ. ११ को हुआ था।

गो. मोहनलाल जी—उनका जन्म रासवंशीय 'छोटी सरकार' के घराने में सं. १९११ में हुआ था। वे विद्वान धर्माचार्य, सुकवि और सुरुचिपूर्ण कलाकार थे। उन्होंने गुजरात के विभिन्न नगरों में राधावल्लभ संप्रदाय का अच्छा प्रचार किया था। वे श्रृंगार, सांझी, फूल बंगला आदि कलात्मक सेवा-कार्यों में दक्ष और कीर्तन-पद रचना में निपुण थे। उनके ग्रंथों में समय प्रबंध, अष्टयाम पदावली और कवित्तमाला उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं. १९६२ में हुआ था[1]।

गो. सोहनलाल जी—उनका जन्म रास वंशीय 'छोटी सरकार' के टीकायत घराने में सं. १९१२ में हुआ था। वे सरल स्वभाव के भजनानंदी धर्माचार्य और रससिद्ध गायक थे। पद-गान करते समय में वे रस-भावना में तन्मय हो जाते थे। उनका देहावसान वृंदावन में हुआ था।

गो. गोवर्धनलाल जी 'प्रेम कवि'—उनका जन्म सं. १९३३ में वृंदावन में हुआ था। वे सुप्रसिद्ध गो. गुलाबलाल जी के बड़े भाई गो. जतनलाल जी की ६वीं पीढ़ी में उत्पन्न मंगला-आरती वाले गो. कीर्तिलाल जी के सुपुत्र थे। गो. गुलाबलाल जी का उल्लेख सवाई राजा जयसिंह की धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष के प्रसंग में गो. रूपलाल जी के साथ गत पृष्ठों में किया जा चुका है। गो. गोवर्धनलाल जी सुप्रसिद्ध धार्मिक विद्वान, कई भाषाओं के ज्ञाता, सुलेखक, संपादक और आशु कवि थे। उन्होंने युवावस्था से ही धर्म-प्रचार और साहित्य-सृजन के विविध कार्यों में बड़े उत्साह पूर्वक योग दिया था। वे जीवन पर्यंत अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी इन्हें करते रहे थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें वृंदावन से कलकत्ता तक के अनेक स्थानों में भटकना पड़ा, और आर्थिक कष्ट एवं अन्य प्रकार के संकट सहन करने पड़े; किंतु वे अपने लक्ष से कभी विचलित नहीं हुए थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों और बहुसंख्यक कविताओं की रचना की थी। उस काल के प्रतिष्ठित पत्रों में उनके अनेक लेख निकले थे, और उन्होंने 'व्रजवासी' मासिक पत्र एवं 'प्रेम-पुष्प' साप्ताहिक पत्र का संपादन-प्रकाशन किया था। उनका काव्योपनाम 'प्रेम कवि' था, और वे 'कवि चूड़ामणि' की उपाधि से विभूषित थे।

उनका 'व्रजवासी' मासिक पत्र सं. १९५६ (जनवरी १९०१) में वृंदावन से प्रकाशित हुआ था। वे स्वयं उसके संपादक और प्रकाशक थे, और वह मथुरा के 'सुदर्शन यंत्रालय' में मुद्रित होता था। वह पत्र व्रज-वृंदावन की धार्मिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उन्नति करने के उद्देश्य से निकाला गया था। उसमें बड़े रोचक और महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे; किंतु आर्थिक कठिनाई के कारण उसे कुछ काल बाद ही बंद कर देना पड़ा था। उस पत्र के संबंध में 'व्रजवासी की बात' शीर्षक की जो कविता उन्होंने १ जनवरी १९०१ को लिखी थी, उसका कुछ अंश इस प्रकार है,—

व्रज के दुख-दारिद हरन, 'व्रजवासी' अखबार। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य हित, प्रगट्यौ व्रज रखवार ।।
व्रजवासिनु गौरव अहै, 'व्रजवासी' सौं आज। सब मिलि याहि निवाहियौं, व्रजवासिनु की लाज ।।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १३४

उस पत्र के श्रावण–भाद्रपद महीनों के युग्मांक में अंगरेज़ी और हिंदी भाषाओं में एक 'अपील' प्रकाशित की गई थी। उसके हिंदी भाग का कुछ अंश इस प्रकार है,—"इस पवित्र नगर श्री वृंदावन धाम की अधोगति का अवरोध कर इसकी क्रमिक उन्नति साधन के अभिप्राय सें हम लोगों ने एक 'व्रजवासी' नाम का मासिक पत्र प्रकाश करना प्रारंभ किया है। इस प्रकार के पत्र का यहाँ बड़ा भारी अभाव था। व्रजवासियों की प्रकृति मैं जिस 'प्रेम' की अधिकता है, उसी प्रेम के द्वारा ये नव प्रतिष्ठित पत्र चलाया जायगा। जहाँ तक संभव होगा, हम लोग राजनीति के संग्राम सें अलग रह कर भारतवर्ष के अन्यान्य स्थानों की प्राकृतिक नीति और ज्ञान विषय की उन्नति करने के लिए केवल अपने हृदय सें निकले हुए तेज को प्रकाश करने की चेष्टा करके ही संतुष्ट रहेंगे।"

उनका 'प्रेम पुष्प' साप्ताहिक पत्र बाद में कलकत्ता से निकाला गया था। उक्त पत्र के भी वे स्वयं ही संपादक एवं प्रकाशक थे। उसकी यह विशेषता थी कि वह आद्योपांत काव्यात्मक रूप में प्रकाशित किया जाता था। उसके समाचार, लेख, संपादकीय—यहाँ तक कि सूचनाएँ और विज्ञापन तक कवितावद्ध होते थे! प्रति सप्ताह पूरा पत्र काव्यात्मक रूप में प्रकाशित करने में उन्हें प्रचुर परिश्रम करना पडता था; जिससे वे रुग्ण हो गये थे। अंत में आर्थिक कठिनाई और शारीरिक अस्वस्थता के कारण उक्त अद्भुत पत्र को बंद कर देना पड़ा था।

गो. गोवर्धनलाल जी एक धर्माचार्य होते हुए भी फक्कड़ तबियत के मनमौजी व्यक्ति थे। अपनी विचित्र धुन के कारण उन्हें जीवन में आवश्यक सुख–चैन नहीं मिला था; किंतु वे कभी हतोत्साह नहीं हुए। उन्होंने व्रज–वृंदावन की समुन्नति के लिए घर फूँक कर और जीवन की आहुति देकर तमाशा देखा था! आधुनिक काल के राधावल्लभीय गोस्वामियों में उनके जैसे व्यक्तित्व का कोई धर्माचार्य नहीं हुआ।

गो. रूपलाल जी—वे विलास वंशीय सेवाधिकारी गो. किशोरीलाल जी के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १९५७ की आषाढ़ कृ. ५ को हुआ था। वे जीवन पर्यन्त राधावल्लभीय साहित्य के शोध–संकलन का महत्वपूर्ण कार्य करते रहे थे। उन्होंने बड़ी निष्ठा पूर्वक इस संप्रदाय के दुर्लभ ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ की थीं। उनका पुस्तकालय राधावल्लभीय साहित्य का भंडार है। उनका देहावसान सं. २०१९ की चैत्र शु. ६ को वृंदावन में हुआ था। उनके कई पुत्र हैं, जिनमें सुकुमारी लाल जी सबसे बड़े हैं।

गो. ललिताचरण जी—वृंदावन के वर्तमान राधावल्लभीय गोस्वामियों में इनका महत्व-पूर्ण स्थान है। रासवंशीय गो. चतुरशिरोमणिलाल जी की की ये छठी पीढ़ी में हैं, और इनका जन्म सं. १९६४ की भाद्रपद शु. ४ को हुआ था। ये आरंभ से ही धार्मिक एवं साहित्यिक कार्यों के संपादन में पर्याप्त रुचि लेते रहे हैं, और इन्होंने राधावल्लभीय सिद्धांत एवं साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। ये सुशिक्षित प्रौढ़ धार्मिक विद्वान होने के साथ ही साथ कवि, एकांकीकार, शोधक एवं समीक्षक हैं। इनकी आरंभिक कृतियों में 'यवनोद्धार नाटिका' उल्लेखनीय है। इधर इन्होंने दो महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है। एक है 'श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य' तथा दूसरा है 'श्री हित चौरासी' का सेवक वाणी सहित सुसंपादित एवं सटिप्पण संस्करण। प्रथम रचना राधावल्लभीय सिद्धांत और साहित्य का मर्मोद्घाटन करने वाली महत्वपूर्ण कृति है। दूसरी रचना श्री हित हरिवंश जी और सेवक जी की वाणी का अध्ययन करने में अत्यंत सहायक है। इन ग्रंथों का प्रकाशन क्रमशः सं. २०१४ और सं. २०२० में हुआ है।

अन्य गोस्वामी गण—वृंदावन के वर्तमान राधावल्लभीय गोस्वामियों में सर्वश्री व्रजभूषण-लाल जी, वृंदावनवल्लभ जी, व्रजजीवनलाल जी (कमरा वाले), व्रजजीवनलाल जी (छोटी सरकार), देवकीनंदनलाल जी, हितानंद जी (विलास वंशीय), मुकुटवल्लभ जी और प्रभातचंद्र जी के नाम इस संप्रदाय की हित–साधना का प्रयास करने वालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गोस्वामी गण भी सांप्रदायिक उन्नति के लिए सचेष्ट हैं।

'नाद' – परिवार के विरक्त भक्त और विद्वत् जन—श्री हित हरिवंश जी की शिष्य-परंपरा—'नाद'-परिवार के विरक्त भक्त और विद्वत् जन—भी इस काल में व्रज में अल्प संख्या में ही हुए हैं। इनमें से कतिपय महानुभावों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्रियादास जी (पटना वाले) – उनका जन्म पटना के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था, और उन्होंने काशी में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। यथेष्ट विद्योपार्जन करने पर भी उनके मन को तृप्ति और शांति प्राप्त नहीं हुई थी। उसके कारण वे भ्रमण करते हुए वृंदावन आये थे। यहाँ पर उन्होंने राधावल्लभीय विद्वान भक्तों के सत्संग में 'रस' और 'सिद्धांत' के ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। इससे उनकी मनोभिलाषा की पूर्ति हुई थी। 'राधावल्लभ भक्तमाल' (पृष्ठ ४५६) में उन्हें वेटी वंश के सुप्रसिद्ध गो. चंद्रलाल जी का शिष्य लिखा गया है; किंतु गो. ललिताचरण जी ने उन्हें गो. सनेहीलाल जी का शिष्य बतलाया है[1]। उनकी रचनाएँ सं. १८९५ से सं. १९२४ तक की मिलती हैं। इनसे उनकी विद्यमानता का आनुमानिक काल सं. १८६० से सं. १९३० का जान पड़ता है। वे इस संप्रदाय के संस्कृत विद्वानों में अन्यतम थे। उन्होंने ३०–३५ वर्ष तक जम कर संस्कृत में ग्रंथ–रचना की थी। 'अलि' जी ने उनके ३७ संस्कृत ग्रंथों का नामोल्लेख किया है[2]। इनमें से निज मत दर्पण, महोत्सव निर्णयम्, ईशावास्योपनिषद् भाष्य, सुश्लोक मणिमाला (रसिक अनन्यमाल का संस्कृत भाषांतर), हित कथामृत तरंगिणी, श्री व्याससनंदन भाष्य (ब्रह्मसूत्र का अपूर्ण भाष्य), हितमतार्थ चंद्रिका, अध्वविनिर्णय टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राधासर्वेश्वरदास जी (स्वामिनीशरण)—उनका जन्म काशी के निकटवर्ती रामगढ़ नामक ग्राम में हुआ था। वे युवावस्था में ही विरक्त होकर व्रज में आ गये थे। उन्होंने बरसाना एवं वृंदावन में निवास किया, और 'छोटी सरकार' के गो. मोहनलाल जी से राधावल्लभ संप्रदाय की दीक्षा ली थी। यहाँ उनका नाम स्वामिनीशरण रखा गया था[3]। वे भजनानंदी और सत्संग-परायण रसिक भक्त थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना भी की थी। उनके ग्रंथों में हितामृतसागर लहरी, हित कृपा कटाक्ष चालीसा और राधासुधानिधि की टीका उल्लेखनीय हैं।

बाबा लाड़िलीदास जी—उनका जन्म व्रज के मानसरोवर ग्राम के निकट एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल में सं. १९०९ में हुआ था। उन्होंने विरक्त होकर बाबा परशुरामदास जी दीक्षा ली, और वे राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़ा रासमंडल पर निवास करने लगे। उन्होंने जीवन पर्यंत भक्ति-साधना की थी, और वाणी साहित्य का पठन–पाठन किया था। वे मानसरोवरिया थोक के थे। उनकी काव्य–रचनाएँ हित ललित विलास, पदावली और पंचाध्यायी हैं[4]।

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ५९२

(२) साहित्य रत्नावली, पृष्ठ ७३–७५

(३), (४) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ४९९ और ५०७

प्रियादास जी शुक्ल—वे चौवेपुर ज़िला कानपुर के कान्यकुब्ज ब्राह्मण दुर्गाप्रसाद जी शुक्ल के पुत्र थे। उनका जन्म सं. १९१७ के लगभग हुआ था। उनके पिता निंबार्क संप्रदाय के अनुयायी थे; किंतु वे प्रेमोपासना और रस भक्ति की ओर आकृष्ट होने से श्री हित हरिवंश जी के तृतीय पुत्र गो. गोपीनाथ जी के वंशज गो. गिरिधरलाल जी के शिष्य होकर राधावल्लभ संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। वे गृहस्थ थे, और उनकी कई संतान थीं। पिता, माता एवं पत्नी का देहांत होने पर उन्होंने चौवेपुर को छोड़ दिया और वे वृंदावन तथा जयपुर में रहने लगे। वृंदावन में उन्होंने पर्याप्त काल तक निवास कर राधावल्लभीय गोस्वामियों और भक्त जनों के जीवन-वृत्तांत की प्रचुर सामग्री एकत्र की थी; जिसके आधार पर उन्होंने 'राधावल्लभ भक्तमाल' नामक ग्रंथ का निर्माण किया था। वे विद्वान और भावुक भक्त जन थे। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा-हिंदी में अनेक ग्रंथों की रचना की थी। उनके संस्कृत ग्रंथों में विवेक चूड़ामणि (सं. १९५१), शुद्धाद्वैत मार्तंड (१९५२), श्री वृंदावन तत्व रहस्य संग्रह (१९५४), शास्त्र सार सिद्धांतमणि (१९५४) और योग तत्वामृत (१९५६) उल्लेखनीय हैं। ब्रजभाषा ग्रंथों में प्रिया रसिक विनोद (१९३७) भक्ति-ज्ञानामृत वर्षिणी (१९४१), अनुराग शतक (१९४४), श्री लाड़िली जी विवाहोत्सव (१९७०) और होरी विनोद (१९७१) उल्लेखनीय हैं। काव्य की दृष्टि से ये सब साधारण रचनाएँ हैं।

उनका अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ 'राधावल्लभ भक्तमाल' है। यह हिंदी गद्य में है, और इसकी पूर्ति सं. १९६५ में हुई थी। इस बड़े ग्रंथ में श्री हित हरिवंश जी, उनके पुत्र-पौत्र, एवं हित कुलोत्पन्न 'बिंदु'-परिकर के गोस्वामियों का तथा 'नाद'-परिकर के प्रमुख भक्त जनों का वृत्तांत श्री हित जी के काल से लेकर आधुनिक काल तक का लिखा गया है। यह वृत्तांत भक्तमाल की शैली के अनुसार माहात्म्य सूचक है; अतः इसे ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी इसमें राधावल्लभीय गोस्वामियों और उनके अनुयायी भक्त जनों से संबंधित अनेक उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं। शोधक विद्वान नीर-क्षीर-विवेक न्याय से इसका उपयोग कर सकते हैं। इस ग्रंथ का संशोधन-संपादन राधावल्लभीय गो. युगलवल्लभ जी एवं गो. वृंदावनवल्लभ जी द्वारा किया गया; और इसका प्रकाशन लेखक के पुत्र मुखिया ब्रजवल्लभदास जी ने सं. १९८६ में किया। लेखक का देहावसान सं. १९७३ के कुछ समय पश्चात् जयपुर में हुआ था।

भोलानाथ जी (हित भोरी)—उनका जन्म मध्य प्रदेश के भेलसा नगर में सं. १९४७ की आषाढ़ कृ. ६ को हुआ था। वे सक्सेना कायस्थ थे, और उन्होंने अंगरेज़ी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे आरंभ से ही धार्मिक रुचि सम्पन्न थे। अपनी किशोरावस्था में उन्होंने कोलारस के श्री गोपाल जी मंदिर के सेवाधिकारी पं. गोपीलाल जी से राधावल्लभ संप्रदाय की दीक्षा ली थी। शिक्षा समाप्त करने के अनंतर वे छतरपुर-नरेश विश्वनाथ सिंह जी के निजी सचिव हुए थे, और कुछ काल तक गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे थे। किंतु भक्ति मार्ग की ओर अधिक रुचि होने के कारण उनका मन सांसारिक कार्यों में नहीं लगता था। वे युवावस्था में ही घर-बार छोड़ कर वृंदावन आ गये थे, और यहाँ पर बड़े अकिंचन भाव से निवास करते हुए श्री प्रिया जी के प्रेम-रस में निमग्न रहने लगे। वे जन्मजात भक्त-कवि थे। उन्होंने अनेक पदों की रचना की है, जिनमें भक्त-हृदय की आकुलता और प्रेम की नैसर्गिक पीड़ा व्यक्त हुई है। पद-रचना के अतिरिक्त उन्होंने 'सुधर्म बोधिनी' की टीका की थी, और 'ब्रह्मसूत्र' के कुछ अंश का भाष्य लिखा था। उनका देहांत सं. १९८९ की आषाढ़ शु. ६ को केवल ४२ वर्ष की आयु में हुआ था।

बावा हितदास जी—ये इस संप्रदाय के अत्यंत कर्मठ महंत हैं। पहिले ये गो. श्री हित हरिवंश जी के जन्म-स्थान बाद गाँव में निवास करते थे। इनके द्वारा इस ऐतिहासिक स्थल की पर्याप्त उन्नति हुई है। इधर कई वर्षों से ये वृंदावन में निवास करते हैं। यहाँ पर इन्होंने 'हिताश्रम' की स्थापना कर इसे एक समृद्ध देव-स्थान बना दिया है।

बावा वंशीदास जी—ये अत्यंत विरक्त भक्त जन हैं। इन्होंने राधावल्लभीय इतिहास से संबंधित प्रचुर सामग्री एकत्र की है, किंतु इसका समुचित उपयोग नहीं हुआ है।

बावा माखनचोरदास जी—ये इस संप्रदाय के बड़े उत्साही साधु हैं। पहिले ये अहमदाबाद में निवास करते थे। इस समय वृंदावन स्थित रासमंडल-अखाड़े के महंत हैं, और इस स्थान की उन्नति करने में सचेष्ट हैं।

बावा किशोरीशरण सूरदास जी—ये बड़े सिद्ध महात्मा हैं। इन्होंने दुसायत पर अत्यंत भव्य देव-स्थान का निर्माण कराया है।

बावा तुलसीदास जी—इन्होंने राधावल्लभीय साहित्य का विशाल संग्रह कर अनेक महात्माओं की वाणियों का प्रकाशन किया है। वाणियों के अतिरिक्त इन्होंने 'शृंगार रस सागर' नामक ग्रंथ के चार खंडों में राधावल्लभीय कीर्तन के पद भी विपुल संख्या में प्रकाशित किये हैं।

बावा किशोरीशरण 'अलि' जी—ये इस संप्रदाय के अत्यंत उत्साही विद्वान साधु हैं। इनका जन्म सं. १९७२ में वृंदावन में हुआ, और ये पर्याप्त समय से साहित्यिक-शोध द्वारा सांप्रदायिक उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। ये कवि और समीक्षक भी हैं। इनके ग्रंथों में 'साहित्य रत्नावली' और 'श्री हितामृत निधि' उल्लेखनीय हैं।

राधावल्लभ संप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

वृंदावन—ब्रज का यह सुप्रसिद्ध लीला-धाम राधावल्लभ संप्रदाय का भी प्रमुख दर्शनीय स्थल है, और इसका प्रधान सांप्रदायिक केन्द्र है। इसी स्थान पर इस संप्रदाय के इतिहास-प्रसिद्ध पुण्य स्थल और मंदिर-देवालय हैं। यहीं पर श्री हित हरिवंश जी के सेव्य स्वरूप श्री राधावल्लभ जी विराजमान हैं, और हित-कुल के अधिकांश गोस्वामियों के निवास-गृह हैं। पुण्य स्थलों में सर्वाधिक प्रसिद्धि सेवा-कुंज, रासमंडल और मानसरोवर की है। इनका उल्लेख गत पृष्ठों में विशद रूप से किया गया है। मंदिर-देवालयों में सर्वप्रधान श्री राधावल्लभ जी का मंदिर है। इसके संबंध में यहाँ पर कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

श्री राधावल्लभ जी का मंदिर—यह मंदिर वृंदावन-पुराने शहर के अठखंभा मुहल्ला में है। पुराना मंदिर वृंदावन के विद्यमान मंदिरों में प्रायः सबसे प्राचीन है। इसे खानखाना के दीवान सुंदरदास कायस्थ ने सं. १६४१ अथवा सं. १६८३ में बनवाया था। श्री राधावल्लभ जी इसमें सं. १७२६ तक विराजमान रहे थे। औरंगजेब के असहिष्णुतापूर्ण शासन-काल में जब ब्रज के मंदिर-देवालय नष्ट-भ्रष्ट किये जाने लगे और उनकी मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं, तब श्री राधावल्लभ जी को इस मंदिर से हटा कर गुप्त रीति से कामवन पहुँचा दिया गया था। उस समय आक्रमणकारियों ने इस मंदिर का कुछ भाग तोड़ दिया था। कालांतर में जब स्थिति अनुकूल हो गई, तब वृंदावन में नया मंदिर बनाया गया और श्री राधावल्लभ जी को कामवन से लाकर इसमें विराजमान किया गया था। यह नया मंदिर पुराने मंदिर के समीप है, और इसे गो. किशोरीलाल जी के गुजराती शिष्य सेठ लल्लूभाई ने सं. १८४२ में बनवाया था। यह वृंदावन का प्रसिद्ध मंदिर है, और इसमें ठाकुर-सेवा भोग-राग और उत्सवादि की सुंदर व्यवस्था है।

बुद्ध के समक्ष मथुरा निवासियों को आश्वासन दिया कि भविष्य मे वे लोग कोई अनुचित कार्य नहीं करेंगे। उस समय बुद्ध ने मथुरा के निकटवर्ती स्थानों में निवास करने वाले ३५०० यक्ष-पूजकों को सद्धर्म की शिक्षा दी थी[1]। भगवान् बुद्ध के कारण उस काल में यक्ष–पूजकों की भीषण साधना समाप्त हो गई, किंतु यक्ष–पूजा किसी न किसी रूप में उनके बाद भी कई शताब्दियों तक प्रचलित रही थी।

ब्रज में कई ऐसे गाँव है, जो यक्ष–पूजकों की प्राचीन वस्तियाँ ज्ञात होते है। मथुरा तहसील का एक गाँव 'जखनगाँव' कहलाता है, जो प्राचीन काल में यक्ष–पूजकों का निवास स्थान रहा होगा। ब्रज में यमुना के बायें तट का एक वन 'भांडीर वन' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका संबंध भंडीर यक्ष से सिद्ध होता है। यहाँ के एक पुराने वट वृक्ष को 'भांडीर वट' कहते हैं और उसकी परिक्रमा की जाती है। उस वट के अतिरिक्त वहाँ भांडीर कूप भी है। जैन ग्रंथ 'आवश्यक चूर्णि' से ज्ञात होता है कि मथुरा भंडीर यक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था[2]। जैन धर्म के अनुयायी मध्य काल तक भंडीर यक्ष की यात्रा के लिए यहाँ आते थे।

ब्रज साहित्य की रचनाओं में 'जाख' अथवा 'जखैया' के नाम से यक्षों का उल्लेख मिलता है। सूरदास के एक पद से ज्ञात होता है कि ब्रज के लोक जीवन में यज्ञ–पूजा की बड़ी मान्यता थी; किंतु कृष्णोपासना का प्रचार होने पर उसका महत्व कम हो गया था[3]।

नागों की उपासना-पूजा—ब्रज में नागों की उपासना–पूजा भी अत्यंत प्राचीन काल में ही प्रचलित हो गई थी, किंतु उसके प्रचलन का निश्चित काल बतलाना संभव नही है। ब्रजमंडल में उपलब्ध नाग–मूर्तियों में सबसे प्राचीन शुंग काल की है, किंतु नागोपासना की परंपरा उससे कही अधिक पुरानी है। फिर भी वह यक्षोपासना के बाद की मालूम होती है। शुंग काल के पश्चात् ब्रज के लोक–जीवन में नागों की उपासना–पूजा का व्यापक प्रचार हो गया था। यहाँ पर नाग देवताओ के अनेक पूजा–स्थल बनाये गये थे, जिनके अवशेष अभी तक विद्यमान है।

---

(१) प्राचीन मथुरा में यक्ष (ब्रज भारती, वर्ष १३ अंक २)

(२) ब्रज भारती (वर्ष ११, सख्या २)

(३) कोरी मटुकी दही जमायौ, 'जाख' न पूजन पायौ।
तेहि घर देव–पितर काहे कों, जेहि घर कान्हर जायौ॥ (सूरसागर)

वृंदावन के अन्य राधावल्लभीय देव-स्थान—श्री राधावल्लभ जी के मंदिर के समीप इस संप्रदाय के और भी कई देव-स्थान हैं, जिनमें 'कलकत्ता वाली कुंज' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त श्री वनचंद्र जी का 'डोल' रासमंडल पर है; श्री कृष्णचंद्र जी के सेव्य स्वरूप श्री राधामोहन जी का मंदिर जुगलघाट पर है, और श्री मोहनचद्र जी के सेव्य स्वरूप का मंदिर अठखंभा–भट्टगली में है।

गोवर्धन–राधाकुंड—व्रज के इन धार्मिक स्थलों में भी इस संप्रदाय के कुछ देव-स्थान हैं। गोवर्धन में एक मंदिर है, जिस पर इस संप्रदाय के विरक्त साधुओं का अधिकार है। राधाकुंड में कृष्णकुंड पर एक मंदिर है। इसके निकट श्री हित हरिवंश जी की बैठक है, और रासमंडल है।

कामबन—इस स्थान के मंदिर में श्री राधावल्लभ जी उस समय विराजे थे, जब उन्हें वृंदावन से ला कर यहाँ पधराया गया था। यह विशाल मंदिर इस समय भग्नावस्था में है।

बरसाना—यह स्थान श्री राधा जी का लीला-धाम है, अतः इस संप्रदाय का भी महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थल है। यहाँ के भानोखर कुंड पर गो. रूपलाल जी की बैठक है।

बाद—व्रज का यह छोटा सा गाँव मथुरा से कुछ दूर आगरा सड़क के किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ पर श्री हित हरिवंश जी का जन्म हुआ था। उसी स्मृति में यहाँ पर एक देवालय बनाया गया है। इस पर राधावल्लभीय साधुओं का अधिकार है।

वर्तमान स्थिति—राधावल्लभ संप्रदाय की स्थापना के काल से लेकर आधुनिक काल से पहिले तक इसकी बड़ी उन्नति हुई थी। इस संप्रदाय के परंपरागत दोनों वर्ग—'बिंदु'-परिवार और 'नाद'-परिवार के महानुभावों ने समान रूप से इसकी प्रगति में योग दिया था। किंतु आधुनिक काल में इसके दोनों वर्गों में कुछ ऐसी शिथिलता आ गई कि जिसके कारण सांप्रदायिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। अब नवयुग के प्रभाव से कुछ क्रियाशीलता दिखलाई देने लगी है। इस संप्रदाय के महात्माओं ने अत्यंत समृद्ध साहित्य का सृजन किया है, जिसका बहुत थोड़ा ही अंश अभी तक प्रकाशित हो सका है। अब इस बात की आवश्यकता है कि इसे समुचित रूप में टीका–टिप्पणियों सहित प्रकाशित किया जावे। तभी यह संप्रदाय अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकता है।

अन्य धर्म – संप्रदाय

प्राचीन धर्म-संप्रदाय—पूर्वोक्त पाँचों राधा-कृष्णोपासक भक्ति संप्रदायों के अतिरिक्त कतिपय प्राचीन धर्म-संप्रदाय भी इस काल में व्रज में प्रचलित रहे हैं। उनकी स्थिति उत्तर मध्य काल में भी अच्छी नहीं थी; जब कि यहाँ पर राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों का अधिक प्रचार हुआ था। आधुनिक काल में जब सुप्रचारित राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों की स्थिति ही बिगड़ी हुई है, तब उन प्राचीन धर्म-संप्रदायों की दशा तो और भी खराब है। प्राचीन भक्ति संप्रदायों में से 'रामानुज संप्रदाय' का व्रज में पहिले कोई खास स्थान नहीं था; इसीलिए विगत अध्याय में उसका उल्लेख नहीं किया गया था। किंतु आधुनिक काल में श्री रंगजी का मंदिर बन जाने से वृंदावन में इस संप्रदाय का कुछ प्रभाव हो गया है, अतः इस अध्याय में उसका उल्लेख कर दिया गया है।

नवीन धार्मिक मत–मतांतर—इस काल में व्रज में कुछ नवीन मत-मतांतरों का उदय हुआ है, और कतिपय प्राचीन मतों का प्रचार हुआ है। इन नवीन मतों में 'आर्य समाज' एवं 'राधास्वामी पंथ' हैं, तथा प्राचीन मतों में 'सिक्ख पंथ' है। इस अध्याय में इनका भी उल्लेख हुआ है।

आगामी पृष्ठों में इस काल के इन विविध धर्म-संप्रदायों और मत-मतांतरों का क्रमानुसार वर्णन किया गया है।

जैन धर्म

अंगरेज़ी शासन काल में जैन धर्म की स्थिति—औरंगजेबी शासन काल के बाद से अंगरेज़ी राज्य की स्थापना तक जैन धर्म की स्थिति कुछ बिगड़ी हुई रही थी। औरंगजेबी काल में अथवा उसके बाद आक्रमणकारियों द्वारा ब्रज के जो जैन मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे उस समय भग्न और उपेक्षित अवस्था में पड़े रहे थे। उस काल में किसी नये मंदिर के बनने का भी उल्लेख नहीं मिलता है। अंगरेजी राज्य क़ायम हो जाने पर जब यहाँ शांति पूर्वक शासन चलने लगा, तब पुराने मंदिरो के जीर्णोद्धार और नये मंदिरों के निर्माण की ओर जैनियों का कुछ ध्यान गया था। मथुरा में एक ऐसी तीर्थंकर-प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि वह यहाँ के किसी जैन मंदिर में सं. १८२७ में प्रतिष्ठित की गई थी। ऐसा जान पड़ता है, अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के बाद १९ वीं शताब्दी में यहाँ पर कोई नया जैन मंदिर बना होगा, अथवा किसी पुराने मंदिर का जीर्णोद्धार कर उसमें वह मूर्ति प्रतिष्ठित की गई होगी। उसी काल में मथुरा के कवि पं. प्रयागदास ने 'जम्बू स्वामी पूजा' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। उसमें चौरासी क्षेत्र स्थित जम्बू स्वामी[१] के मंदिर में कार्तिक कृष्ण पक्ष में होने वाली पूजा और रथ-यात्रा का वर्णन किया गया है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मथुरामंडल का एक मात्र प्राचीन जैन केन्द्र 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' भी औरंगजेबी शासन में महत्व शून्य होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गया था। उसकी वह स्थिति अंगरेज़ी शासन काल में कुछ सुधर गई होगी, जिससे वहाँ के मंदिर में पुनः विधिवत् पूजा तथा धार्मिक आयोजन किये जाने की कुछ व्यवस्था हुई थी।

मथुरा के सेठों का योग—अंगरेज़ी शासन काल में मथुरा के सेठों द्वारा जैन धर्म को बड़ा संरक्षण मिला था। इस घराने के प्रतिष्ठाता सेठ मनीराम दिगंबर जैन श्रावक थे। वे पहिले ग्वालियर राज्य के दानाधिकारी श्री गोकुलदास पारिख के एक साधारण मुनीम थे। जब पारिख जी अपने साथ करोड़ों की धर्मादा संपत्ति लेकर उससे ब्रज में मंदिरादि का निर्माण कराने सं. १८७० में मथुरा आये थे, तब मनीराम मुनीम भी उनके साथ थे। पारिख जी गुजराती वैश्य और बल्लभ संप्रदायी वैष्णव थे, जब कि मनीराम राजस्थानी खंडेलवाल वैश्य और जैन धर्मावलंबी थे। इस प्रकार जाति और धर्म की भिन्नता होते हुए भी पारिख जी मनीराम की ईमानदारी और कर्तव्य-परायणता पर बड़े प्रसन्न थे। वे अपनी मृत्यु से पहिले मनीराम जी के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचंद को अपना उत्तराधिकारी बना गये थे। सं. १८८३ में पारिख जी का देहांत हो गया। उसके बाद मनीराम-लक्ष्मीचंद पारिख जी की विपुल संपत्ति के स्वामी हुए थे। उन्होंने व्यापार द्वारा उस संपत्ति को खूब बढ़ाया और विविध धार्मिक कार्यों में उसका सदुपयोग किया था। उन्होंने मथुरा के 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' में जैन मंदिर का निर्माण कराया था।

---

(१) दिगंबर मान्यता के अनुसार जैन धर्म में तीन ज्ञानकेवली और पांच श्रुतकेवली हुए हैं। तीन ज्ञानकेवलियों के नाम १. गौतम, २. सुधर्मा और ३. जम्बूस्वामी हैं। पाँच श्रुतकेवली १. विष्णु, २. नंदिमित्र, ३. अपराजित, ४. गोवर्धन और ५. भद्रबाहु माने गये हैं। ज्ञानकेवलियों में जम्बूस्वामी अंतिम थे। उनका उपासना-स्थल मथुरा का 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' जैनियों के लिए सदा से श्रद्धास्पद रहा है।

सेठ घराने के सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति राजा लक्ष्मणदास थे। वे भारतवर्षीय दिगंबर जैन महासभा के संस्थापकों मे से थे। आरंभ में वे उसके अध्यक्ष भी रहे थे। उन्होंने महासभा के कार्यालय को मथुरा मे रख कर उसकी स्वयं व्यवस्था की थी, और 'जैन गजट' का प्रकाशन किया था। उनके द्वारा जैन धर्म और जैन समाज की बड़ी सेवा हुई थी।

मथुरा के सेठों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि उनमें धार्मिक कट्टरता बिलकुल नहीं थी। वे सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। सेठ लक्ष्मणदास के पिता सेठ राधाकृष्ण ने वृंदावन में रामानुज सप्रदाय का सुविशाल 'श्री रंग जी का मंदिर' बनवाया था। सेठ लक्ष्मणदास ने उक्त श्री रंग मंदिर और पारिख जी द्वारा बनवाये हुए मथुरा के वल्लभ संप्रदायी श्री द्वारकाधीश मंदिर की उन्नति में भी बड़ा योग दिया था।

चौरासी सिद्ध क्षेत्र का मंदिर—इस मंदिर का निर्माण सेठ मनीराम-लक्ष्मीचंद ने कराया था। इसमें उन्होंने अष्टम तीर्थंकर भगवान् चद्रप्रभ की मूर्ति प्रतिष्ठित कर दिगंबर विधि के अनुसार उनकी पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी। बाद में सेठ लक्ष्मीचंद के पुत्र रघुनाथदास ने वहाँ द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ की विशाल संगमरमर प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था। मथुरा मंडल के आधुनिक जैन देवालयों में यह मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ पर कार्तिक कृ. २ से कृ. ८ तक प्रति वर्ष एक बड़ा उत्सव होता है, जिसमें रथ-यात्रा का भी आयोजन किया जाता है। कहते हैं, इस उत्सव का आरंभ भरतपुर के श्रावक नैनसुख ने सं. १६२६ में किया था।

अन्य मंदिर-देवालय—चौरासी क्षेत्र के पूर्वोक्त मंदिर के अतिरिक्त मथुरा नगर में दो जैन मंदिर और हैं,—एक चौबच्चा मोहल्ला में और दूसरा घीयामंडी में। दोनों में तीर्थंकर भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमाएँ हैं। ब्रज के अन्य स्थान जैसे कोसीकलाँ और सहपऊ में भी कुछ जैन मंदिर हैं। कोसी में भगवान् पद्मप्रभ जी, नेमिनाथ जी और महावीर जी के मंदिर हैं। सहपऊ गाँव में श्री नेमिनाथ जी का मंदिर है, जहाँ भाद्रपद महीने में मेला लगता है।

ग्रंथ-रचना—१६ वीं शती के मध्य काल में मथुरा में पं. प्रयागदास जैन कवि हुए थे। उनकी रचना 'जम्बूस्वामी पूजा' का उल्लेख किया जा चुका है। उनके पश्चात् ब्रज में और भी कतिपय ग्रंथकार हुए, जिन्होंने आधुनिक काल में जैन साहित्य की समृद्धि में योग दिया है। यह काल हिंदी की खड़ी बोली और उसकी गद्य शैली की उन्नति का है। फलतः इस काल के जैन ग्रंथकारों ने भी ब्रजभाषा काव्य की अपेक्षा खड़ी बोली गद्य में ही अपनी रचनाएँ की है।

वर्तमान स्थिति—इस समय मथुरा में जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र चौरासी स्थित जम्बू-स्वामी का सिद्ध क्षेत्र ही है। यहाँ पर 'अखिल भारतीय दिगंबर जैन संघ' का केन्द्रीय कार्यालय है। साप्ताहिक पत्र 'जैन संदेश' इसी स्थान से प्रकाशित होता है। यहाँ के 'ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम' में जैन धर्म और संस्कृत भाषा के साथ ही साथ वर्तमान प्रणाली की शिक्षा दी जाती है। इस स्थान के 'सरस्वती भवन' में जैन धर्म के ग्रंथों का अच्छा संग्रह है।

ब्रजमंडल में जैन धर्म का सबसे बड़ा केन्द्र आगरा है। यहाँ पर मध्य काल से ही जैन धर्मावलंबियों की प्रचुर संख्या रही है। जैन ग्रंथकार तो अधिकतर आगरा के ही हुए हैं। इस समय वहाँ जैन धर्म की अनेक संस्थाएँ हैं, जो उपयोगी कार्य कर रही हैं। वहाँ का जैन कालेज और ग्रंथ भंडार भी प्रसिद्ध हैं।

शैव धर्म

आधुनिक परिवर्तन—ब्रज में वैष्णव धर्म और उसके अंतर्गत राधा-कृष्णोपासक संप्रदायों का व्यापक प्रचलन होने से उत्तर मध्य काल में शैव धर्म का जो समन्वयात्मक रूप बना था, उसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। आधुनिक काल में यह धर्म ब्रज में अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठा, और यहाँ के सामान्य लोक धर्म में समाविष्ट हो गया। इस काल में साधारण ब्रजवासी, चाहें वे किसी भी धर्म-संप्रदाय के मानने वाले हों, लौकिक मान्यताओं के अनुसार विभिन्न अवसरों पर भगवान् शिव की भी पूजा करते हैं, और व्रत रखते हैं। इस समय ब्रजमंडल के प्रायः सभी स्थानों में छोटे-बड़े शिवालय बने हुए हैं, जहाँ विभिन्न धर्म-संप्रदायों के सामान्य नर-नारी बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के दर्शन-पूजन किया करते हैं। कुछ धर्म-संप्रदायों के बड़े मंदिरों के साथ भी छोटे शिवालय बनाये गये हैं, जहाँ भक्त गण अपने उपास्य देव के साथ ही साथ शिव जी के भी दर्शन करते हैं।

लोक-पूजा और लोकोत्सव—आधुनिक काल में शिव जी की लोक-पूजा के लिए कुछ विशेष दिन और लोकोत्सव के लिए कुछ विशिष्ट अवसर निश्चित किये गये हैं। सप्ताह में प्रत्येक सोमवार, पक्ष में प्रत्येक त्रयोदशी और वर्ष में एक बार शिवरात्रि को शिव-पूजा का विशेष माहात्म्य माना गया है। प्रत्येक सोमवार को सामान्य भक्त जन उनकी पूजा करते हैं, प्रत्येक त्रयोदशी को प्रदोष का व्रत रखते हैं और शिवरात्रि को पूजा एवं व्रत के साथ ही साथ रात्रि-जागरण भी करते हैं। वैसे इन सभी दिनों का महत्व है; किंतु शिव-रात्रि के अवसर पर विशाल आयोजन और धूम-धाम के साथ शिवोपासना की जाती है।

शिवरात्रि का महोत्सव फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष में होता है। आधुनिक काल में ब्रज में इसे एक सामान्य लोकोत्सव अथवा लोक-त्योहार के रूप में मनाया जाता है, और यह तीन दिन तक चलता है। उस समय ब्रज में होली की चहल-पहल आरंभ हो जाती है, जिसके कारण यह उत्सव भी बड़े धूम-धाम से सम्पन्न होता है। पहिले दिन तेरस की रात्रि को शिव जी के मंदिरों में जागरण किया जाता है। उस अवसर पर महादेव-पार्वती के विवाह के लोक गीत गाये जाते हैं। जोगी लोग सारंगी और डमरू वाद्यों को बजाते हुए उनके विवाह की लोक-कथा का गायन करते है। दूसरे दिन चौदस को नर-नारी व्रत रखते हैं, और शिव जी का पूजन करते हैं। तीसरे दिन अमावस को 'बम्भोला'-पूजन के नाम से शिव जी के खप्पर की पूजा होती है, और जोगियों को भोजन कराया जाता है।

वर्तमान शैव स्थान—ब्रज के विभिन्न स्थानों में बने हुए सामान्य शिवालयों के अतिरिक्त यहाँ कुछ विशिष्ट शैव स्थान भी हैं। इनमें वृंदावन स्थित श्री गोपीश्वर जी का मंदिर अधिक प्रसिद्ध है। इसमें शिव जी की प्राचीन प्रतिमा है। वृंदावन के सैकड़ों नर-नारी यहाँ प्रति दिन दर्शन-पूजा करते हैं। विशेष अवसरों पर यहाँ भव्य समारोह किये जाते हैं। मथुरा नगर में इस काल में श्री रंगेश्वर महादेव जी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई है। सैकड़ों नर-नारी नियम पूर्वक प्रति दिन इनका दर्शन-पूजन करते हैं। प्रत्येक सोमवार को यहाँ मेला सा लग जाता है। गोवर्धन में चक्रेश्वर महादेव और कामवन में कामेश्वर महादेव की भी अच्छी मान्यता है। इन शैव स्थानों में समय-समय पर उत्सव-समारोह हुआ करते हैं, जिनमें अनेक ब्रजवासी सम्मिलित होते हैं।

शाक्त धर्म

'दक्षिणाचार' की साधना और लौकिक 'देवी-पूजा' का प्रचलन—

आधुनिक स्थिति—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वामाचारी शाक्तों की मद्य-मांस-व्यभिचारमयी कुत्सित साधना का वैष्णव भक्तों द्वारा प्रवल विरोध किये जाने से व्रज में शाक्त धर्म का प्रभाव बहुत कम हो गया था। इस धर्म के वामाचार की साधना तो एक दम समाप्त ही हो गई थी; किंतु दक्षिणाचार की सौम्य शक्ति-साधना और लोक की देवी-पूजा थोड़ी-बहुत चलती रही थी। आधुनिक काल में दक्षिणाचार की साधना में और भी कमी हो गई; फिर भी इस धर्म का यह रूप किसी प्रकार प्रचलित है। इस काल मे शाक्त धर्म का अवशिष्ट रूप वस्तुतः लोक-देवियों की पूजा में दिखलाई देता है। यहाँ पर इस धर्म के इन दोनों आधुनिक रूपों की स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'दक्षिणाचार' की उपास्या देवियाँ और इनके देव-स्थान—व्रज में दक्षिणाचारियों की उपास्या देवियाँ अंबिका, सरस्वती, महाविद्या, चामुंडा, कंकाली, चर्चिका, कात्यायनी आदि हैं। इनमें सरस्वती और अंबिका व्रज की अत्यंत प्राचीन देवियाँ हैं। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ये दोनों मूल रूप में जैन देवियाँ हैं; किंतु बाद मे अन्य धर्म–संप्रदायों के साथ ही साथ शाक्त धर्म में इन्हें विशेष महत्व प्राप्त हुआ। व्रज में पुरातन काल से ही इनकी मान्यता रही है। वर्तमान मथुरा नगर की उत्तर दिशा के एक पुराने वन को अब भी 'अंबिका वन' कहा जाता है; किंतु अंबिका देवी का इस काल में कोई उल्लेखनीय देव-स्थान नही है। अंबिका वन के निकट किसी काल में सरस्वती नामक एक छोटी नदी प्रवाहित होती थी, जो मथुरा के वर्तमान सरस्वती संगम घाट के निकट यमुना नदी में मिल जाती थी। इस समय यहाँ इस नाम का एक बरसाती नाला है, और इसके निकट ही सरस्वती देवी का छोटा सा मंदिर है। यह मंदिर मथुरा की परिक्रमा के मार्ग मे एक विश्राम स्थल है; अतः परिक्रमाओं के अवसर पर यहाँ मेला लगता है, और अच्छी चहल-पहल हो जाती है। वर्ष के शेष दिनों में यह स्थान प्रायः सूना पडा रहता है। महाविद्या, चामुंडा, कंकाली और चर्चिका के मंदिर भी मथुरा में हैं, तथा कात्यायनी का देव-स्थान वृंदावन में है।

महाविद्या, चामुंडा और कात्यायनी देवियों की मान्यता व्रज में तांत्रिक काल से लेकर आधुनिक तक रही है। महाविद्या के भव्य रूप का उल्लेख तंत्रों में मिलता है[1], और चामुंडा के विकराल रूप का कथन तंत्रों के अतिरिक्त पुराणों में भी हुआ है[2]। मथुरा में इन दोनों के शाक्त पीठ अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। यहाँ पर अनेक शाक्त साधक दक्षिणाचार की साधना करते रहे हैं। चामुंडा देवी की मान्यता मथुरा के लोक–जीवन में भी व्याप्त है। कंकाली देवी का

---

(१) चतुर्भुजां महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्। महाभीमां करालस्यां सिद्धविद्याधरैर्युताम्।
मुण्डमालावलीकीर्णां मुक्तकेशीं स्मिताननाम्। एवं ध्यायेन् महादेवीं सर्वकामार्थसिद्धये॥
—कालीतंत्र, ३–२

(२) चामुंडे ज्वलमानास्ये तीक्ष्णदंष्ट्रे महाबले। शतयान स्थिते देवि प्रेतासनगते शिवे।
कराले विकराले च महाकाले करालिनि। काली कराली निक्रान्ता कालरात्रि नमोऽस्तुते॥
—वाराह पुराण, ९६–५२, ५३, ५४

मंदिर मथुरा के इतिहास-प्रसिद्ध कंकाली टीला पर है, और चर्चिका देवी का विश्रामघाट पर है। इन देवियों की पहिले अच्छी मान्यता थी; किंतु अब चैत्र और आश्विन महीनों की देवी-पूजा के दिनों में ही इनके स्थानों पर कुछ चहल-पहल होती है। गोवर्धन में मनसा देवी, महावन में योग-माया और वृंदावन में वृंदा देवी एवं कात्यायनी की मान्यता है। वृंदा देवी का प्राचीन मंदिर वृंदावन में श्री गोविंददेव जी के पुराने मंदिर के निकट था। औरंगजेब के शासन काल में जब ब्रज के मंदिरों का ध्वंस किया गया, तब गोविंददेव जी के मंदिर के साथ वृंदा देवी का मंदिर भी क्षतिग्रस्त हो गया था। उस काल में इस देवी की प्राचीन प्रतिमा गुप्त रूप से वृंदावन से हटा कर कामवन पहुंचा दी गई थी। इस समय वह कामवन के एक मंदिर में प्रतिष्ठित है। कात्यायनी देवी का प्राचीन मंदिर चीरघाट नामक स्थान पर था, किंतु नवीन मंदिर वृंदावन के 'राधा बाग' में निर्मित हुआ है। वर्तमान काल में यह ब्रज का सर्वप्रधान शाक्तपीठ है, अतः यहाँ पर इसका कुछ विवरण लिखा जाता है।

कात्यायनी पीठ—इस देव-स्थान का निर्माण सुप्रसिद्ध शाक्त विद्वान स्वामी केशवानंद जी ने आधुनिक काल में कराया है। यह महत्वपूर्ण शाक्त पीठ वृंदावन में श्री रंग जी मंदिर के दक्षिणवर्ती 'राधा बाग' में है। यहाँ के मंदिर में अष्टधातु निर्मित श्री कात्यायनी देवी की सुंदर प्रतिमा है। ब्रज के इस शाक्त स्थान की दूर-दूर तक प्रसिद्धि है।

लोक देवियाँ और उनके उत्सव-पूजन—ब्रज की लोक देवियों में नरी-सेंमरी, सांचौली और करौली की कैला माता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चैत्र और आश्विन के महीनों में ब्रज के प्रायः सभी नगरों और गाँवों में देवियों के लोकोत्सव होते हैं। उन दिनों ब्रज में देवियों के पूजन और व्रतादि की बड़ी धूम होती है। देवियों के स्थानों पर बड़े-बड़े मेले लगते हैं, जिनमें सामान्य नर-नारी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं।

चैत्र की देवी-पूजा और 'जात'—चैत्र के दूसरे पखवाड़े में प्रतिपदा से अष्टमी तक ब्रज में देवी-पूजा के विविध आयोजन होते हैं। चैत्र शु. ८ देवी-पूजा का खास दिन है। उस दिन महिलाएँ देवी का व्रत रखती हैं, और 'देवी-लांगुरिया' के रूप में बालिका-बालकों को भोजन कराती हैं। इन्हीं दिनों ब्रज के हजारों सामान्य नर-नारी लोक गीत गाते हुए देवियों के विविध स्थानों की 'जात' (यात्रा) को जाते हैं। 'जात' से वापिस आने पर अनेक श्रद्धालु देवी-भक्तों द्वारा 'देवी का जागरण' किया जाता है। उस अवसर पर उनके घरों में जोगी लोग सारंगी और डमरू वाद्यों को बजाते हुए रात्रि भर देवी के गीतों का गायन करते हैं।

आश्विन की 'नव रात्रि' का देवी-पूजन—चैत्र के पश्चात् आश्विन के दूसरे पखवाड़े में भी देवी-पूजन किया जाता है। आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तक के नौ दिन 'नव रात्रि' कहलाते हैं। उन दिनों शाक्त धर्मावलंबी विशेष रूप से देवी की उपासना, पूजा और अनुष्ठानादि करते हैं। ब्रज के अनेक घरों की सामान्य महिलाएँ देवी का पूजन करती हैं, और व्रत रखती हैं। ब्रज के गाँवों में यह उत्सव ग्रामीण बालिकाओं के खेल के रूप में मनाया जाता है। ये बालिकाएँ घरों की दीवारों के सहारे मिट्टी के छोटे-छोटे मंदिर बनाती हैं, और उन्हें लोक-चित्रकारी से सजाती हैं। उनमें मिट्टी की बनी हुई गौरी पार्वती की प्रतिमाएँ रखती हैं, और सायंकाल को प्रति दिन उनकी पूजा-आरती करती हैं।

आधुनिक शाक्त साधक—इस काल में व्रजमंडल के कई घराने शाक्त धर्म की तांत्रिक साधना के प्रति आस्थावान रहे हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध मथुरा का ज्योतिषी बाबा घराना है; जो गुजराती औदीच्य ब्राह्मणों का है। इसके प्रतिष्ठाता श्री कृपाशंकर जी मरहठा सरदारों के राज ज्योतिषी और धर्मशास्त्री थे। उन्होंने अपने निवास के लिए मथुरा के स्वामीघाट पर एक विशाल हवेली बनवाई थी, जो 'ज्योतिषी बाबा की हवेली' कहलाती है। कृपाशंकर जी और उनके वंशज गोविंदलाल जी, अमरलाल जी, माधवलाल जी, शिवप्रकाशलाल जी आदि ने व्रज की सांस्कृतिक समृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है[1]। धर्मोपासना की दृष्टि से उनमें से अधिकांश महानुभाव शाक्त धर्म की तांत्रिक साधना में आस्था रखते थे। ज्यो. शिवप्रकाशलाल जी इस घराने के प्रसिद्ध शाक्त साधक और वरिष्ठ विद्वान थे।

मथुरा के चतुर्वेदियों के कई परिवार भी शाक्त तंत्रोपासक रहे हैं। इनके गुरु-घराने में शीलचंद्र जी एक सुप्रसिद्ध तांत्रिक थे। महाविद्या देवी और दशभुजी गणेश जैसे सिद्ध स्थानों की प्रतिष्ठा में उनका योग रहा था। उनके वंश में वासुदेव जी और उनके पुत्र केशवदेव जी भी अच्छे तांत्रिक एवं मंत्रशास्त्री थे। उनका साधना-स्थल गतश्रम टीला का श्री जी का मंदिर है। वासुदेव जी के समकालीन वनमाली जी, रंगदत्त जी और गंगादत्त जी भी विख्यात शाक्त तंत्रोपासक थे। उन सबने प्रज्ञाचक्षु दंडी विरजानंद जी के मथुरा स्थित विद्यालय में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। गंगादत्त जी के शिष्यों में सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ गणेशीलाल जी एवं व्रजभाषा के विख्यात कवि नवनीत जी भी तांत्रिक साधक थे। गणेशीलाल जी को तारा देवी का इष्ट था। उनके अतिरिक्त साम्राज्य दीक्षित जी और वृंदावन जी के नाम भी शाक्त साधकों में मिलते है। अब से कुछ समय पहिले गंगादत्त जी के वंशजों में विदुरदत्त जी अन्यतम शाक्त साधक हुए हैं।

वृंदावन में शाक्त साधना का अपेक्षाकृत कम प्रचार रहा है; किंतु वहाँ भी इस काल में कई प्रसिद्ध शाक्त साधक हुए हैं। उनमें कात्यायनी पीठ के प्रतिष्ठाता स्वामी केशवानंद प्रमुख थे, जिनका उल्लेख गत पृष्ठ में किया जा चुका है।

रामानुज संप्रदाय

गद्दी और आचार्य-परंपरा—वैष्णव धर्म के भक्ति संप्रदायों में 'श्री संप्रदाय' सबसे प्राचीन माना जाता है। इस संप्रदाय की आरंभिक गद्दियाँ दक्षिण में हैं; जिनमें से श्रीरंगम् स्थान की सुप्रसिद्ध गद्दी की स्थापना स्वामी वरदनारायणगुरु जी ने की थी। इस संप्रदाय के अंतर्गत 'रामानुज संप्रदाय' और 'रामानंदी संप्रदाय' हैं। इनमें से 'रामानंदी संप्रदाय' के संबंध में विस्तार से लिखा जा चुका है; अब 'रामानुज संप्रदाय' पर लिखना है।

इस ग्रंथ के विगत पृष्ठों में बतलाया गया है कि उत्तर भारत में 'श्री संप्रदाय' की प्राचीन गद्दी मथुरामंडल के गोवर्धन नामक धार्मिक केन्द्र मे स्थापित हुई थी[2]। वह गद्दी पूर्वोक्त श्रीरंगम् गद्दी की शाखा थी, और उसमें श्री लक्ष्मीनारायण जी की उपासना होती थी। उस गद्दी का स्थापना-काल और उसकी आचार्य–परंपरा का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा ज्ञात

(१) इस घराना का विस्तृत वर्णन इस ग्रंथ के 'ब्रज का इतिहास' खंड में देखिये।

(२) इस खंड में वर्णित 'श्री संप्रदाय', पृष्ठ १५० देखिये।

होता है कि १९वीं शताब्दी के आरंभ में उस गद्दी पर श्री शेषाचार्य जी के शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी नामक एक रामानुजी महात्मा विराजमान थे। उनके उत्तराधिकारी श्री रंगदेशिक स्वामी ने रामानुज संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। इस संप्रदाय के व्रजस्थ आचार्यों की परंपरा में श्री रंगदेशिक स्वामी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हीं की प्रेरणा से वृंदावन में श्री रंग जी का विख्यात मंदिर बनाया गया था। यहाँ पर उनके जीवन-वृत्तांत पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

श्री रंगदेशिक स्वामी जी—उनका जन्म दक्षिण भारतीय धार्मिक क्षेत्र कांची नगर के समीप सं. १८४१ में हुआ था। वे एक धर्मनिष्ठ विद्वान थे। जब वे नवयुवक थे, तब उन्होंने कांची के एक धार्मिक विद्वान श्री अनंताचार्य जी के साथ उत्तर भारत की यात्रा की थी। यात्रा करते हुए जब वे व्रज में पहुँचे, तब गोवर्धन की रामानुजी गद्दी के देव-स्थान में भी दर्शनार्थ गये थे। वे वहाँ के महंत श्रीनिवासाचार्य जी से बड़े प्रभावित हुए, और उनके शिष्य होकर वहीं रहने लगे। उन्होंने काशी में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रों और श्री संप्रदाय के ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था। श्रीनिवासाचार्य जी ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। इस प्रकार वे सं. १८९२ में अपने गुरुदेव के उपरांत गोवर्धन गद्दी के महंत हुए थे। वे विवाहित और गृहस्थ थे। उनके एक पुत्र भी था, जिसका नाम श्रीनिवासाचार्य था।

रंगदेशिक स्वामी की उच्च कोटि की धार्मिकता और प्रकांड विद्वत्ता की बड़ी ख्याति थी। उस काल के कई धार्मिक राजा और रईस उनसे बड़े प्रभावित थे, जिनमें जयपुर के महाराज पृथ्वीसिंह और मथुरा के सेठों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मथुरा के सेठों का घराना मूलतः जैन धर्मावलंबी रहा है। इस घराने के प्रतिष्ठाता मनीराम जी और उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचंद जी जैन धर्म के अनुयायी थे; किंतु लक्ष्मीचंद जी के छोटे भाई राधाकृष्ण जी और गोविंददास जी की आस्था जैन धर्म के प्रति नहीं थी। उन्होने श्री रंगदेशिक स्वामी से रामानुज संप्रदाय की दीक्षा ली थी। उक्त सेठ बंधुओं ने स्वामी जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए वृंदावन में श्रीरंग जी का विख्यात मंदिर बनवाया था।

ग्रंथ-रचना और शास्त्रार्थ—श्री रंगदेशिक स्वामी बड़े विद्वान थे। उन्होंने श्री संप्रदाय के कई ग्रंथों का मूल तमिल भाषा से संस्कृत में अनुवाद किया था। श्री ग्राउस ने लिखा है,—'उस काल में जयपुर राज्य के शैव पंडितों ने वैष्णव धर्म पर आक्षेप करते हुए ८ प्रश्नों की एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। जयपुर नरेश के आग्रह से श्री रंगदेशिक स्वामी ने उसके उत्तर में 'दुर्जन करि पंचानन' नामक एक पुस्तिका का प्रकाशन किया था। जब जयपुर नरेश का उससे संतोष नहीं हुआ, तब उन्होंने 'सज्जन मनोनुरंजन' नामक एक समाधानकारक पुस्तिका के साथ ही साथ दूसरी अधिक विद्वतापूर्ण पुस्तक 'व्यामोह विद्रावनम्' प्रकाशित की थी। इसमें अनेक शास्त्रोक्त प्रमाणों से वैष्णव सिद्धांतों का समर्थन और शैव पंडितों के मत का खंडन किया गया है[1]।' सं. १९३० में स्वामी दयानंद जी ने उनसे मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की थी। उस समय तक श्री रंगदेशिक स्वामी अत्यंत वृद्ध हो चुके थे; अतः वह शास्त्रार्थ नहीं हुआ था।

देहावसान और उत्तराधिकार—श्री रंगदेशिक स्वामी का देहांत चैत्र शु. १० सं. १९३१ (२६ मार्च सन् १८७४, गुरुवार) को वृंदावन में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र श्रीनिवास जी को वृंदावन की गद्दी से वंचित कर अपने पौत्र रंगाचार्य जी को अपना

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ. सं.), पृष्ठ २६०
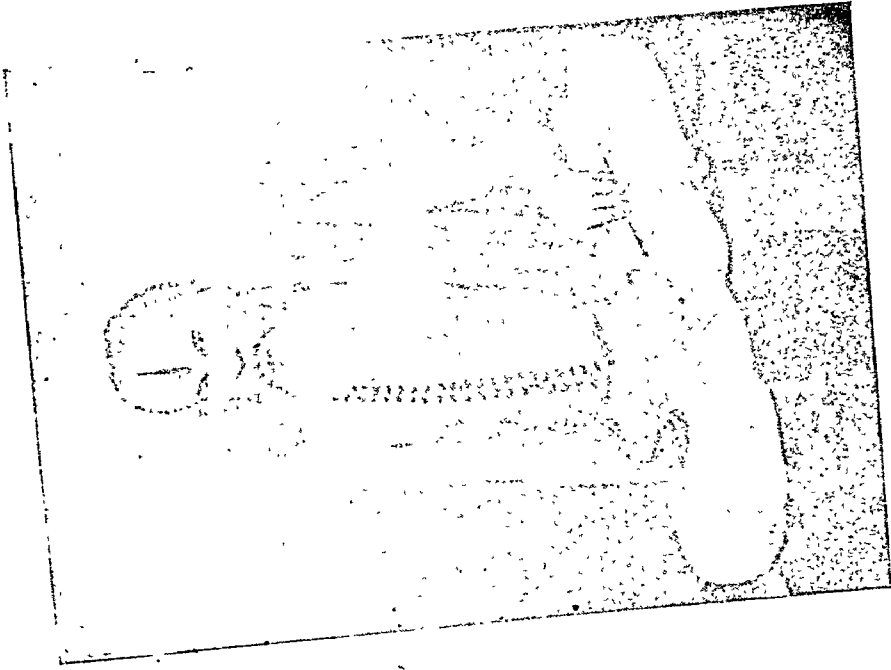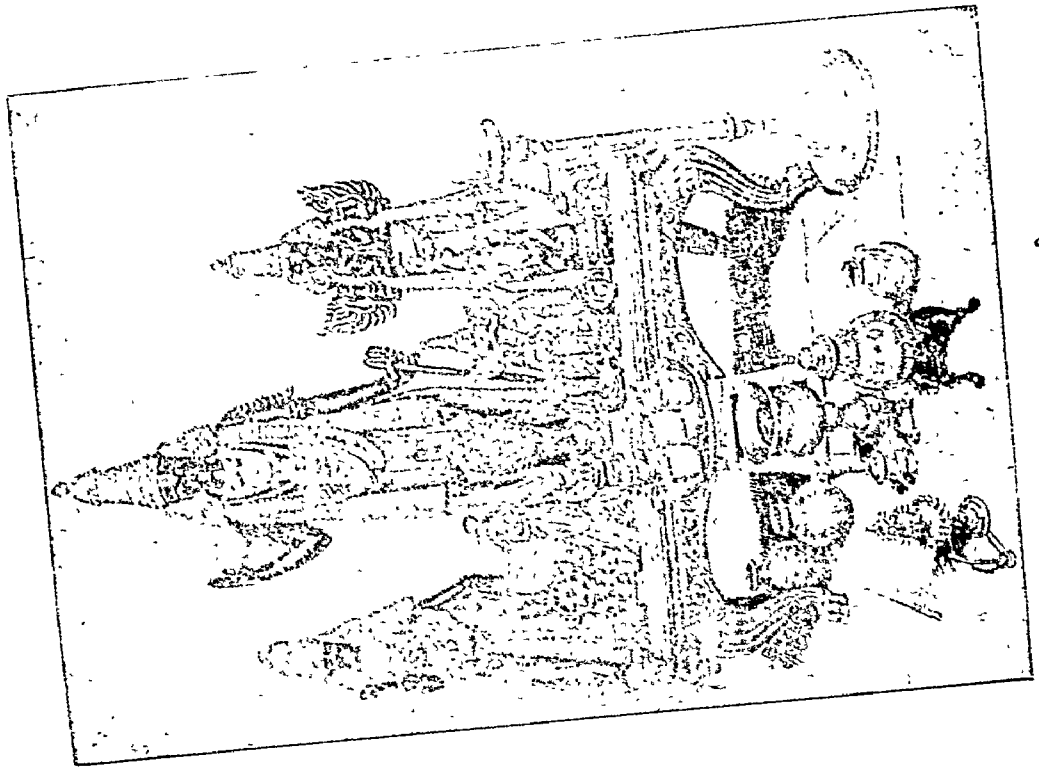
भगवान् श्री रंगनाथ जी

श्री रंगदेशिक स्वामी (रंगाचार्य) जी
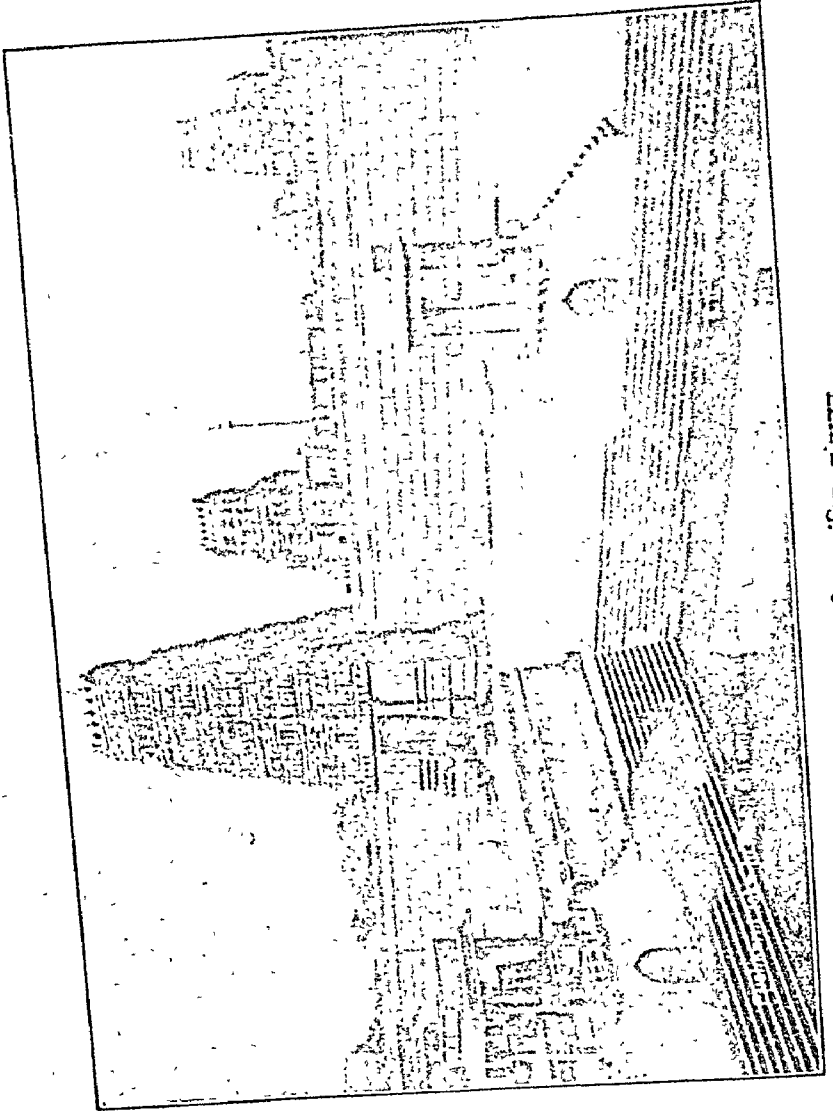
श्री रंग जी का मंदिर, वृंदावन

द्वितीय अध्याय

प्राचीन काल

[विक्रमपूर्व सं० ५६६ से विक्रमपूर्व सं० ४३ तक]

उपक्रम—

अवैदिक धर्मों के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि—इस द्वितीय अध्याय के द्वारा हम ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास के ऐतिहासिक युग में प्रवेश करते हैं; जब कि प्रथम अध्याय प्रागैतिहासिक काल से संबंधित था। ऐतिहासिक युग के आरंभिक काल में ही वैदिक धर्मों के विरोध का वह वातावरण दिखलाई देता है, जिसने अवैदिक धर्मों के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि का निर्माण किया था। उस पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने से पहिले पूर्ववर्ती स्थिति पर दृष्टि डालना उचित होगा।

वैदिक कर्मकांड की जटिलता और यज्ञपरक हिंसा की प्रतिक्रिया में पहिले नारायण ऋषि ने और फिर वासुदेव कृष्ण ने जो धार्मिक क्रांति की थी, उसके फलस्वरूप नारायणीय धर्म तथा सात्वत–पंचरात्र धर्मों का क्रमशः प्रचलन हुआ था। वे धर्म प्राचीन वैदिक धर्म के पूर्णतया विरोधी न होकर उसके संशोधित रूप में प्रचलित हुए थे। उनमें वैदिक धर्म की प्रायः सभी मूलभूत बातें विद्यमान थीं, केवल वेदोक्त यज्ञ–पद्धति और देव–तत्व के स्वरूप में कुछ परिवर्तन एवं संशोधन किया गया था। वैदिक धर्म की भाँति उक्त धर्मों में भी अक्षय आनंद को जीवन का अनंत स्रोत माना गया था और निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को प्रमुखता प्रदान करते हुए गृहस्थ धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त की गई थी।

सात्वत–पंचरात्र धर्मों का उदय प्राचीन ब्रजमंडल अर्थात् शूरसेन जनपद में हुआ था और वहाँ निवास करने वाले यादव क्षत्रियों की सत्वत शाखा ने उन्हें विशेष रूप से अपनाया था। जब जरासंध के आक्रमण से बचने के लिए अधिकांश यादव गण मथुरा से द्वारका चले गये, तब उनके द्वारा उस धर्म का प्रचार भारत के अन्य भागों में भी हो गया था। इस प्रकार कृष्ण काल से बुद्धपूर्व काल तक शूरसेन जनपद में श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित धर्म की धारा विद्यमान थी, जो कभी प्रबल और कभी शिथिल होती हुई निरंतर प्रवाहित होती रही थी। उसका प्रभाव शूरसेन सहित समस्त मध्य देश पर और भारत के पश्चिमी तथा दक्षिणी भाग पर तो होता रहा; किंतु इस देश का पूर्वी भाग उससे प्रायः अछूता रहा था। भारत के प्राचीन धर्म और संस्कृति का केन्द्र मध्य देश था; और भारत का पूर्वी भाग उसकी सीमा से बाहर माना जाता था। शायद इसीलिए मध्य देश की धार्मिक और सांस्कृतिक हलचलों का प्रभाव इस देश के पूर्वी भाग पर कम पड़ता था।

गौतम बुद्ध के जन्म से पहिले श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित सात्वत धर्म भारत के पश्चिमी और दक्षिण–पश्चिमी भागों में तो उन्नत अवस्था में था; किंतु शूरसेन सहित समस्त मध्य देश में वह कुछ शिथिल हो गया था। उसका कारण यादवों का उस भू–भाग से कम सम्पर्क हो जाना था। फलतः वहाँ पर प्राचीन वैदिक धर्म फिर से ज़ोर पकड़ने लगा और यज्ञों के व्ययसाध्य आडंबर तथा उनमें की जाने वाली जीव–हिंसा में फिर वृद्धि हो गई थी। उसकी प्रतिक्रिया पहिले से भी अधिक उग्र और बलवती हुई थी। उसका सूत्रपात्र भारत के पूर्वी भाग में हुआ, जहाँ गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने नवीन धार्मिक क्रांति का नेतृत्व किया था।

उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। श्री रंगदेशिक स्वामी के देहावसान के समय तक रंगाचार्य जी वयष्क नहीं हुए थे; अतः उनके कार्य का संचालन मंदिर की ट्रस्ट समिति करती थी। सं. १९५६ में वे वयष्क होकर मंदिर की महंत-गद्दी पर आसीन हुए थे। उनके अपरिमित व्यय और अनियमित व्यवहार से बड़ा असंतोष उत्पन्न हो गया था; यहाँ तक कि उनके विरुद्ध अदालती कार्यवाही भी की गई थी। उनके उपरांत भी इस गद्दी पर कोई ऐसा महंत नहीं हुआ, जो श्री रंगदेशिक स्वामी की गौरवपूर्ण परंपरा के अनुरूप होता !

रामानुजी देव-स्थान—ब्रज में सबसे प्राचीन रामानुजी देव-स्थान गोबर्धन स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर है। वहीं पर इस संप्रदाय की प्रमुख गद्दी थी, जो बाद में श्री रंगदेशिक स्वामी जी के वृंदावन में निवास करने के कारण वहाँ के श्री रंग जी मंदिर में स्थानांतरित हो गई थी। मथुरा में प्रयागघाट की गलताकुंज का श्री वेणीमाधव जी का मंदिर भी श्री संप्रदाय का प्राचीन देव-स्थान है। इस स्थान का संबंध रामानंदी संप्रदाय से भी रहा है; किंतु इसके महंत रामानुजी हैं। मथुरा में विश्रामघाट के समीप का श्री गतश्रमनारायण जी का मंदिर भी रामानुजी देव-स्थान है। इसका निर्माण श्री प्राणनाथ शास्त्री ने सं. १८५७ में कराया था। इनके अतिरिक्त मथुरा के चौबच्चा मुहल्ला का श्री शत्रुघ्न जी का मंदिर भी रामानुज संप्रदाय से संबंधित रहा है। यहाँ स्वामी रघुनाथदास और उनके शिष्य गोपाल ब्रह्मचारी अच्छे भक्त जन हुए हैं। आधुनिक कालीन देव-स्थानों में सर्वाधिक प्रसिद्ध वृंदावन का श्री रंग जी का मंदिर है। इसके संबंध में यहाँ विस्तार से लिखा जाता है।

श्री रंग जी का मंदिर—यह रंगदेशिक स्वामी जी का अनुपम स्मारक और मथुरा के सेठों की कीर्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। उत्तर भारत के आधुनिक मंदिरों में यह सबसे बड़ा और रामानुज संप्रदाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र है। उससे पहिले ब्रजमंडल में रामानुज संप्रदाय का एक मात्र देव-स्थान गोवर्धन गद्दी स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर था। मथुरा के सेठ बंधुओं ने वृंदावन में इस संप्रदाय का एक विशाल मंदिर बनवाने की योजना बनाई, और उसकी पूर्ति के लिए अपने गुरुदेव से प्रार्थना की। फलत: श्री रंगदेशिक स्वामी ने उसके लिए दक्षिण भारत की यात्रा की थी। वहाँ पर उन्होंने रामानुज संप्रदाय की परंपरा के अनुसार दाक्षिणात्य वास्तु शैली के एक विशाल मंदिर का मानचित्र बनवाया और उसमें प्रतिष्ठित करने के लिए श्रीमूर्तियों के निर्माण की आवश्यक व्यवस्था की। फिर वे वहाँ से कुछ वास्तु विशेषज्ञों को लेकर गोवर्धन आ गये।

इस मंदिर के निर्माण की व्यवस्था और देख-रेख के लिए श्री रंगदेशिक स्वामी का वृंदावन में रहना आवश्यक था। उसके निमित्त सेठ बंधुओं ने पहिले वहाँ एक छोटा देव-स्थान बनवाया, जो श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर कहलाता है। इस प्रकार श्री रंगदेशिक स्वामी का स्थायी निवास गोवर्धन की अपेक्षा वृंदावन हो गया। वे वहाँ रह कर प्रस्तावित मंदिर के निर्माण की व्यवस्था करने लगे।

इस मंदिर के निर्माण का इतिहास बड़ा विचित्र है। सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास ने इसमें होने वाले व्यय का समस्त धन देना स्वीकार किया था; किंतु वे उसे अपने बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचंद से छिपा कर देना चाहते थे। उन्हें आशंका थी कि जैन धर्म के प्रति आस्था होने के कारण सेठ लक्ष्मीचंद कदाचित इस वैष्णव मंदिर के निर्माण-कार्य को पसंद न करें। उस काल में दक्षिण हैदराबाद के धनी सेठ परमसुखदास पूरनमल से मथुरा के सेठों का हुंडियों द्वारा लेन-देन का हिसाब

चलता था। उसके लिए उक्त हैदराबादी सेठों का मथुरा में एक स्थानीय मुख्तयार-आम नियुक्त था, जो उस समय बलदेवप्रसाद मिश्र नामक एक व्यक्ति था। सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास ने उसके द्वारा यह व्यवस्था की थी कि वे हैदराबाद के सेठों के नाम से इस मंदिर का निर्माण करावेंगे; और इसमें लगने वाले धन को स्वयं देंगे। इस प्रकार सं. १६०१ में मंदिर के निर्माण का शुभारंभ हुआ। इसके निमित्त अनेक वास्तु कला विशेषज्ञ एवं मिस्त्री तथा सैकड़ों राज-मजदूर ७ वर्ष तक निरंतर कार्य करते रहे; किंतु फिर भी मंदिर पूरा बन कर तैयार नहीं हो सका। चूंकि उसका सब कार्य फर्जी व्यक्तियों के नाम से होता था, और उसका व्यय अत्यंत गुप्त रीति से किया जाता था; अतः उसमें अव्यवस्था और कुप्रबंध का होना स्वाभाविक था। इसके कारण उसमें धन का बड़ा दुरुपयोग हुआ था। सं. १६०८ तक सेठों का ३० लाख रुपया उसमें लग चुका था; और वह धन हैदराबाद के सेठों के नाम लिख कर दिया गया था। जब सेठ लक्ष्मीचंद ने उस विपुल धन-राशि के विषय में पूछ-ताछ की, तब उसका रहस्योद्घाटन हुआ। सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास ने अपने बड़े भाई से क्षमा-याचना करते हुए कहा कि यह मंदिर आपकी तरफ़ से बन रहा है; हैदराबाद के सेठों का इससे कोई संबंध नहीं है। सेठ लक्ष्मीचंद को वास्तविक बात ज्ञात होने पर उन्होंने हैदराबाद के सेठों के मुख्तयार-आम बलदेवप्रसाद मिश्र से क़ानूनी कार्यवाही पूरी करा कर मंदिर का बयनामा अपने भाई सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास के नाम कराया। फिर वे स्वयं वृंदाबन में निवास कर मंदिर के निर्माण को पूरा कराने में जुट गये। ऐसा कहा जाता है, वे प्रबंध-व्यवस्था पर कठोर नियंत्रण रखने के अतिरिक्त स्वयं भी मजदूरों के साथ काम करते थे! अंत में सेठ लक्ष्मीचंद और रंगदेशिक स्वामी के सम्मिलित प्रयत्न से सं. १६१२ में मंदिर पूरा बन कर तैयार हो गया। इसमें प्रधान देव-मूर्तियाँ श्री रंगमन्नार जी और श्री गोदाम्बा जी की प्रतिष्ठित की गईं। इनके अतिरिक्त इस मंदिर में और भी अनेक मूर्तियों की स्थापना की गई। ये समस्त मूर्तियाँ दाक्षिणात्य मूर्ति-निर्माताओं द्वारा दक्षिण में निर्मित की गई थीं, और इन्हें प्रचुर व्यय और बड़ी चेष्टा पूर्वक वहाँ से लाया गया था। इनकी नित्य-नैमित्तिक सेवा-पूजा और वर्ष भर के उत्सव-समारोहों की व्यवस्था रामानुज संप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार की गई थी। उस पर होने वाले व्यय के लिए स्थायी आमदनी की जायदाद लगा दी गई थी। इन सब पर उस काल में प्रायः ४५ लाख रुपयों की लागत आई थी। वह समस्त धन सेठों के खजाने से दिया गया था। सं. १६१४ (१८ मार्च, सन् १८५७) में सेठों ने इस वैभवशाली मंदिर का भेंटनामा श्री रंगदेशिक स्वामी के नाम कर दिया था।

श्री रंगदेशिक स्वामी प्रकांड विद्वान और परम भक्त धर्माचार्य होने के साथ ही साथ अत्यंत सात्विक वृत्ति के त्यागी महात्मा थे। अपार वैभव होते हुए भी वे उससे सर्वथा निर्लेप थे। उन्होंने श्री रंग जी के मंदिर और उससे संबंधित जायदाद पर अपना निजी अधिकार न रख कर उन्हें एक ट्रस्ट के सुपुर्द करने का निश्चय किया। उन्हें आशंका थी कि उनके पुत्र श्रीनिवास जी कदाचित उस व्यवस्था को पसंद न करें, और उनके उपरांत कोई झगड़ा करें। उसके निराकरण के लिए उन्होंने श्रीनिवास जी से उनके अधिकार-समाप्ति की पक्की लिखा-पढ़ी करा ली थी। उसके एवज में गोवर्धन स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर उन्हें दे दिया था। यह सब करने के पश्चात् उन्होंने वृंदावन के मंदिर और उससे संबंधित समस्त जायदाद ठाकुर श्री रंग जी महाराज के नाम सदैव के लिए वक्फ़ कर दी, और उसके प्रबंध के लिए सं. १६२५ में एक धर्मादा ट्रस्ट बना दिया। ट्रस्ट समिति के ७ सदस्य थे, जिनमें से एक वे और छै अन्य प्रतिष्ठित सज्जन थे। इस प्रकार उन्होंने

मंदिर के स्वामित्व से संबंधित अपने और अपने उत्तराधिकारियों के सभी अधिकार सदा के लिए छोड़ दिये थे। उन्होंने ट्रस्टियों को यहाँ तक अधिकार दिया कि यदि उनकी दृष्टि में उनका अथवा उनके उत्तराधिकारियों का व्यवहार रामानुज संप्रदाय की धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध ज्ञात हो, तो वे उन्हें समिति की सदस्यता के साथ ही साथ गद्दी से भी पृथक् कर सकते हैं! इस समय इस मंदिर का समस्त प्रबंध ट्रस्ट समिति के आदेशानुसार एक प्रबंधक द्वारा किया जाता है।

अन्य देव-स्थान—श्री रंगजी के मंदिर के अतिरिक्त वृंदावन में श्री लक्ष्मीनारायण जी मंदिर, बड़ा खटला और रामानुज कूट भी उल्लेखनीय देवालय हैं। इस संप्रदाय का नवीनतम देव-स्थान वृंदावन स्थित श्री हरिदेव जी का मंदिर है। इसे खेतड़ी के इलाकादार भक्तराम जी की पुत्री जमुनादेवी जी ने सं. १९७८ में बनवा कर स्वामी रामानुजाचार्य को भेंट कर दिया था। इसमें श्री हरिदेव जी के नाम से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति विराजमान है। बाद में स्वामी जी ने सं. १९८३ में श्री गोदाम्बा जी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित की थी। इस प्रकार यह समन्वित उपासना का ब्रज मे एक अनुपम देवालय है।

रामानुजी भक्त और विद्वान—ब्रजमंडल में अन्य भक्ति संप्रदायों की अपेक्षा रामानुज संप्रदाय का कम प्रचार होने के कारण इसके भक्तों और विद्वानों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम रही है। किंतु जब से वृंदावन में श्री रंग जी का मंदिर बना है, तब से इनकी संख्या में कुछ वृद्धि हुई है। इनमें से अधिकांश भक्त जन ब्रजमंडल से बाहर के हैं, जो अपनी धार्मिक भावना के कारण यहाँ आ कर बसे हैं। इस संप्रदाय के सर्वाधिक प्रसिद्ध महानुभाव श्री रंगदेशिक स्वामी थे, जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त श्री प्राणनाथ शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है; जिन्होंने श्री रंग जी का मंदिर बनने से भी पहिले सं. १८५७ में श्री गतश्रमनारायण जी का मंदिर मथुरा में बनवाया था। इस संप्रदाय के अन्य आधुनिक विद्वान भक्तों में से कुछ का उल्लेख यहाँ किया है।

हयग्रीव स्वामी जी—वे श्री रंगदेशिक स्वामी जी के पुत्र श्रीनिवासाचार्य जी के शिष्य थे। उनका जन्म सं. १८९५ में और देहावसान सं. १९६५ में हुआ था। वे एक विद्वान भक्त थे।

आनंदीबाई जी—वे एक आदर्श महिला भक्त थीं। उनका जन्म अमृतसर के एक काश्मीरी ब्राह्मण परिवार में सं. १९१२ में हुआ था। वे बाल विधवा थीं, और आरंभ से ही भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट हो गई थीं। उन्होंने पं. वंशीधर जी से श्री संप्रदाय की दीक्षा लेकर सं. १९४० में अपने उपास्य देव का मंदिर अमृतसर में बनवाया था। बाद में वे ब्रज में आ गई थीं, और यहाँ कामवन एवं वृंदावन में रही थीं। उन्होने वृंदावन में श्रीराधा–आनंदवल्लभ जी का मंदिर बनवाया था। इस मंदिर में आयोजित साधु–सेवा और उत्सव–समारोहों की बड़ी प्रसिद्धि रही है। उनका देहावसान सं. १९९३ में हुआ था।

सुदर्शनाचार्य जी—वे पंजाबी विद्वान पं. वंशीधर जी के सुपुत्र थे। उनका जन्म लुधियाना जिला में सं. १९२६ को हुआ था। उनके पिता पंजाब को छोड़ कर सं. १९४० में ब्रज में आ गये थे। मथुरा के सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मणदास ने उन्हें आदर पूर्वक अपने यहाँ रखा था। सुदर्शनाचार्य जी ने श्री रंगदेशिक स्वामी जी के पुत्र श्रीनिवासाचार्य जी से दीक्षा ली थी। वे विविध शास्त्रों के प्रकांड विद्वान और अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। उन्होने कुछ काल तक श्री रंग जी के मंदिर की सेवा–व्यवस्था में भी योग दिया था। वे धार्मिक विद्वान होने के साथ ही साथ विख्यात संगीत–शास्त्री भी थे। उनका रचा हुआ 'संगीत सुदर्शन' ग्रंथ प्रसिद्ध है।

धरणीधर जी—उनका जन्म बदायू जिला में हुआ था, किंतु वे युवावस्था में ही वृंदावन आ गये थे। ब्रज के रामानुजी विद्वानों में उनकी अच्छी ख्याति थी। उनका देहावसान सं. १९९७ में हुआ था।

रामानुजाचार्य जी—उनका जन्म बिहार के आरा जिला में सं. १९४५ में हुआ था। वे श्री हयग्रीव स्वामी के शिष्य और वृंदावन के रामानुजी देव-स्थान श्री हरिदेव जी मंदिर के महंत थे। वे विद्वान भक्त और प्रभावशाली धर्मोपदेशक थे। उन्होंने इस संप्रदाय के आधुनिक भक्तों में उच्च स्थान प्राप्त किया था।

परांकुशाचार्य जी—वे मथुरा स्थित गलता कुंज और वहाँ के श्री वेणीमाधव मंदिर के महंत थे। उन्होंने रामानुज संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। वे इस संप्रदाय के गण्यमान विद्वान और अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। उनका देहांत कुछ ही वर्ष पहिले हुआ है।

वर्तमान विद्वान भक्त जन—इस संप्रदाय के वर्तमान विद्वान भक्तों में भगवानदास जी, रघुनाथदास जी और चक्रपाणि जी के नाम उल्लेखनीय हैं। भगवानदास जी ने श्री वेदांतदेशिक जी के नाम पर वृंदावन में एक आश्रम की स्थापना की है। रघुनाथदास जी और चक्रपाणि जी इस संप्रदाय के अच्छे विद्वान एवं भक्त जन हैं।

रामानंदी संप्रदाय

सांप्रदायिक गति-विधि—गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है, ब्रजमंडल में इस संप्रदाय का आरंभिक केन्द्र मथुरा था। इसी नगर में इसकी प्रमुख गद्दियाँ थीं, और इसके संत–महात्माओं का निवास था। मथुरा का वह महत्त्व औरंगजेब के शासन काल में समाप्त प्राय हो गया था। उसके पश्चात् अन्य भक्ति संप्रदायों की भाँति इस संप्रदाय का केन्द्र भी वृंदावन हो गया। जाट–मरहठा काल से आधुनिक काल तक वृंदावन में ही रामानंदी देव-स्थानों एवं अखाड़ों का निर्माण हुआ है; और इसी धार्मिक स्थल पर इस संप्रदाय के संत–महंत निवास करते रहे हैं। इस समय भी ब्रज में वृंदावन ही इस संप्रदाय की गति-विधियों का एक मात्र केन्द्र है। इस संप्रदाय के आधुनिक देव–स्थानों और कतिपय संत–महंतों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

रामानंदी देव-स्थान—वृंदावन में इस संप्रदाय के जो प्रमुख देव–स्थान है, उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—

रामबाग—इस भव्य देव-स्थान की स्थापना महंत संकर्षणदास जी ने की थी। यहाँ श्री रामभद्र जी का दर्शनीय मंदिर है। इस स्थान के वर्तमान महंत रघुवंशभूषणाचार्य हैं। वृंदावन का 'राम दरबार' इसी की शाखा के रूप में स्थापित किया गया है।

खाकचौक—यह स्थान वंशीवट पर है। इसकी स्थापना स्वामी नरसिंहदास जी (पहाड़ी बाबा) ने की थी। यहाँ श्री रामचंद्र जी का मंदिर है। इस स्थान के वर्तमान महंत देवादास जी है।

छत्ताबाबा—यह स्थान ज्ञानगूदडी मुहल्ला में है। यहाँ श्री जगन्नाथ जी का मंदिर है। इस स्थान के वर्तमान महंत गंगादास जी हैं।

कालियदह और वाराहघाट के राम मंदिर—कालियदह का राममंदिर 'नरसिंह टेकरी' नामक स्थान में है। यहाँ के वर्तमान महंत पुरुषोत्तमदास जी हैं। वाराहघाट स्थित राम मदिर के वर्तमान महत सर्वेश्वरदास जी हैं।

रामानंदी अखाड़े—वृंदावन में इस संप्रदाय के कई अखाड़े हैं। इनमें से श्री राम दिगंबर अखाड़ा के वर्तमान महंत जगदेवदास जी हैं, रामानंदी निर्वाणी अखाड़ा के महंत रामशरणदास जी और रामानंदी निर्मोही अखाड़ा के महंत लक्ष्मणदास जी हैं।

रामानंदी संत-महंत—इस सप्रदाय के अधिकांश संत-महंत यहाँ के विविध देव-स्थानों से संबंधित रहे हैं। इनमे से कतिपय महानुभावों का उल्लेख अभी किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त जयरामदेव जी, रामबालकाचार्य जी और राघवदास जी के नाम उल्लेखनीय है।

जयरामदेव जी—इन्होंने अयोध्या के स्वामी रामवल्लभाशरण जी से दीक्षा ली है; किंतु ये कई वर्षों से वृंदावन मे निवास कर यहाँ के जगन्नाथघाट पर भजनोपासना करते हैं। ये भजनानंदी भक्त जन होने के साथ ही साथ सुकवि और लेखक भी हैं। इन्होंने कई ग्रंथों की रचना की है, जिनमें 'श्रीरामानंदायन' उल्लेखनीय है। इस काव्य ग्रंथ मे श्री स्वामी रामानंद जी का चरित्र दोहा-चौपाई छंदों में विस्तार से लिखा गया है।

रामबालकाचार्य जी—ये इस संप्रदाय के अच्छे विद्वान हैं, और ब्रज के रामानंदी भक्तों में प्रसिद्ध हैं।

राघवदास जी—ये इस संप्रदाय के भक्त जन और रामचरितमानस के प्रभावशाली वक्ता हैं। इन्होंने वृंदावन में 'मानस भवन' की स्थापना की है।

विष्णुस्वामी संप्रदाय

सांप्रदायिक गति-विधि और आधुनिक देव-स्थान—गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है, वैष्णव धर्म के अंतर्गत 'रुद्र संप्रदाय' के नामांतर से यह एक प्राचीन संप्रदाय है; किंतु ब्रजमंडल में इसकी गति-विधियों का प्रामाणिक विवरण प्राप्त नही है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि बल्लभ संप्रदाय को इसका वास्तविक प्रतिनिधि माना गया है, जिसका आरंभ से ही ब्रज में व्यापक प्रचार रहा है; अतः विष्णुस्वामी संप्रदाय के मूल स्वरूप को स्थिर रखने की ओर यहाँ समुचित ध्यान नही दिया गया। फिर भी इस संप्रदाय के मूल रूप के उपासक कतिपय भक्त जन और इसके कुछ निजी देव-स्थान सदैव ब्रज में रहे हैं। यहाँ पर इसके कुछ आधुनिक देव-स्थानों का उल्लेख किया जाता है।

श्री बिहारी जी का मंदिर—आधुनिक काल में विष्णुस्वामी संप्रदाय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण देव-स्थान वृंदावन का सुप्रसिद्ध श्री बिहारी का मंदिर है। यहाँ इस संप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार ठाकुर-सेवा और उत्सवादि की व्यवस्था की जाती है। मंदिर के समस्त पुजारी विष्णुस्वामी सप्रदाय के अनुयायी हैं।

श्री कलाधारी जी का मंदिर—यह इस संप्रदाय का दूसरा देव-स्थान है, जो वृंदावन में रमणरेती स्थित दावानल कुंड के समीप एक बाग मे है। यहाँ साधु-सेवा की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, और यहाँ की रामलीला भी प्रसिद्ध है।

श्री गोपाल जी का मंदिर—यह मथुरा में इस संप्रदाय का एक मात्र देव-स्थान है; जो यहाँ के चौबच्चा मुहल्ला में है। यहाँ माथुर चतुर्वेदियों की एक गुरु-गद्दी भी है। आधुनिक काल में यहाँ नंदन जी, रज्जु जी और उनके उपरांत विष्णुदत्त जी उल्लेखनीय भक्त जन हुए हैं।

निर्गुण परंपरा के मत और पंथ

ज्ञानमार्गीय अद्वैत मत—

ब्रह्मोपासना की उपेक्षा—श्री शंकराचार्य ने जिस ब्रह्मोपासक अद्वैत मत की स्थापना की थी, उसमें शुष्क ज्ञान और कठोर मर्यादा के पालन पर अत्यधिक बल दिया गया था; अतः वह कृष्णोपासना से रससिक्त ब्रजभूमि में कभी लोकप्रिय नहीं हो सका था। वैष्णव धर्माचार्यों ने तो आरंभ से ही उसका विरोध किया था। उसका यह परिणाम हुआ कि अद्वैत मत के मर्यादामार्गीय कुछ संन्यासी भी ब्रह्मोपासना की उपेक्षा कर कृष्णोपासक हो गये थे। ऐसे संन्यासियों में श्री मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। उनकी विद्यमानता १७वीं शताब्दी के अंत तक मानी जाती है। वे अद्वैत वेदांत के प्रकांड पंडित और महान् तत्त्वज्ञ थे; किंतु ब्रह्मोपासक शुष्क ज्ञानी न होकर कृष्णोपासक रसिक भक्त थे। उनके रचे हुए भक्ति रसायन, गीता टीका और भागवत व्याख्या आदि ग्रंथ उनकी सरस भक्ति के प्रमाण हैं। उनका एक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है, जिसमें माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण को परम तत्व वतलाते हुए उनके प्रति पूर्णास्था व्यक्त की गई है,—

> वंशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बरादरुण विम्वफलाधरोष्ठात्।
> पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्, कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

आधुनिक काल में तो ब्रज में ऐसे अनेक संन्यासी हुए, जो ज्ञान और योग के साथ ही साथ निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपेक्षा कर सगुण-साकार श्रीकृष्ण के उपासक हो गये थे। श्री नारायण स्वामी का नाम इस संवंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे २० वीं शताब्दी के ब्रजवासी संन्यासी थे। श्री कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति-भावना का एक छंद बड़ा प्रसिद्ध है,—

> चाहें तू जोग करि, भ्रकुटी मध्य ध्यान धरि, चाहें नाम-रूप मिथ्या जानिकैं निहारि लै॥
> निरगुन, निरभै, निराकार जोति व्याप रही, ऐसौ तत्वज्ञान निज मन में तू धारि लै॥
> 'नारायन' अपने कों आपुही बखान करि, मोतें वोह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि लै।
> जौलों तोहि नंद को कुमार नहिं दृष्टि पर्‌यौ, तौलों तू भलेई वैठि ब्रह्म कों विचारि लै॥

कृष्णोपासना के प्रभाव से निर्गुण ब्रह्मवादी हिंदू संन्यासियों ने जिस प्रकार की भावना व्यक्त की है, निर्गुण-निराकारवादी इस्लाम मजहब के अनुयायी भक्तवर रसखान वैसा ही मार्मिक कथन उससे पहिले ही कर गये हैं। उन्होंने कहा है,—

> ब्रह्म मैं ढूंढ्यौ पुरानन-गानन, वेद-रिचा सुनी चौगुने चाइन।
> देख्यौ सुन्यौ कवहूँ न कितू, वोह कैसे सरूप औ कैसे सुभाइन॥
> टेरत-हेरत हारि पर्‌यौ, 'रसखान' बतायौ न लोग-लुगाइन।
> देखौ, दुर्‌यौ वोह कुंज-कुटीर में, वैठ्यौ पलोटतु राधिका-पाइन॥

भक्तिमार्गीय संत मत—

कबीरादि संतों के पंथों की भक्ति-भावना—वौद्ध सिद्धों की परंपरा में कवीर, नानक, दादू, रैदास आदि निर्गुणिया संत हुए, जिनकी खंडनात्मक प्रवृत्ति के कारण उन्हें प्रायः ज्ञानमार्गीय माना जाता है; किंतु वास्तव में उनकी वाणी में भी मूल स्वर भक्ति का है। इस संवंध में वे गोरखपंथी नाथों से भिन्न थे। गोरखनाथ ने ज्ञान और योग का प्रचार करते हुए भक्ति का तिरस्कार किया था। गो. तुलसीदास का कथन है,—'गोरख जगायौ जोग, भगति भगायौ लोग!'

श्री नारायण स्वामी

किंतु कबीरादि संतों में भक्ति एवं भजन की भावना प्रमुख थी, और ज्ञान एवं योग का भाव गौण था। नाभा जी ने कबीरदास के संबंध में कहा है,—

भक्ति विमुख जो धर्म, सो अधरम करि गायौ। जोग–जज्ञ–व्रत–दान भजन विनु तुच्छ दिखायौ॥

संत रैदास ने हरि–भक्ति और सत्संग की महिमा बतलाते हुए कहा है,—

धन्य हरिभक्ति त्रयलोक जस पावनी। करौ सतसंग इहि बिमल जस गावनी॥
वेद तें पुरान, पुरान तें भागवत, भागवत तें भक्ति प्रगट कीन्हीं।
भक्ति तें प्रेम, प्रेम तें लच्छना, विना सतसंग नहिं जात चीन्हीं॥

संत पलटूदास ने भक्ति का तिरस्कार करने वाले चौरासी सिद्धों तथा नव नाथों को भ्रम में भूला हुआ माना है। उनका कथन है,—

सिध चौरासी, नाथ नौ, बीचै सबै भुलान।
बीचै सबै भुलान, भक्ति की मारग छूटी। हीरा दीहिन डारि, लिहिन है कौड़ी फूटी॥

निर्गुणिया संतों की उस भक्ति–भावना के कारण ही ब्रज में उनका इतना विरोध नहीं किया गया, जितना नाथपंथी कनफटा साधुओं का अथवा वाममार्गीय शाक्तों का किया गया था। संत परंपरा के कई पंथों की गद्दियाँ भी ब्रज के विविध स्थानों में क़ायम हुई थीं। इस संबंध में मथुरा और आगरा के नाम उल्लेखनीय हैं, जहाँ मध्य काल से लेकर आधुनिक काल तक कबीरादि कई संतों के पंथों की गद्दियाँ रही हैं।

सिख पंथ के गुरुओं की ब्रज-वाणी—निर्गुण परंपरा के संतों में कबीरदास के पश्चात् नानकदेव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। नानकदेव और उनके अनुगामी सिख गुरुओं की वाणी ब्रजभाषा में है। गुरुओं की वाणी के साथ कुछ अन्य संतों की वाणियों का संकलन जिस ग्रंथ में मिलता है, उसे 'आदि ग्रंथ' अथवा 'गुरु ग्रंथ साहब' कहते हैं। यह सिख पंथ का सर्वोपरि उपासना ग्रंथ है। इसे सर्वप्रथम पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सं. १६६१ में संकलित कराया था और उनके आदेश से भाई गुरुदास ने इसे लिखा था। बाद में अन्य गुरुओं की वाणियाँ भी इसमें संकलित होती गईं। गुरुओं की भक्ति–भावना और ब्रजभाषा में कथित उनकी वाणी के कारण सिख पथ के प्रति ब्रज में सदैव सौहार्द्र रहा है। गुरु गोविंदसिंह जी का तो ब्रज साहित्य के उन्नायकों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे सिख पंथ के दशम अथवा अंतिम गुरु, परम भक्त, महान् योद्धा और कुशल संगठनकर्त्ता होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के साहित्यकार एवं कवियों के आश्रयदाता थे। उनका जन्म सं. १७२३ की पौष शु. ७ को पटना में हुआ था। वे जीवन पर्यंत पीड़ित जनता के परित्राण के लिए अत्याचारी एव अन्यायी शासन से भीषण युद्ध करते रहे थे; और अंत में सं. १७६५ की कार्तिक शु. ५ को उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका बलिदान हुआ था। उन्होंने सिख समुदाय को संगठित कर 'खालसा' के रूप में एक ऐसे धार्मिक पंथ की स्थापना की थी, जो धर्मोपासना के साथ ही साथ वीरत्व के रंग में भी रँगा हुआ है।

गुरु गोविंदसिंह का 'दशम ग्रंथ'—गुरु जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका ब्रजभाषा का महान् साहित्यकार होना है। उनकी रचनाओं का विशाल संग्रह 'दशम ग्रंथ' कहलाता है। इसमें चंडी चरित्र, विचित्र नाटक, रामावतार और कृष्णावतार नामक रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुरु जी की प्रकृत्ति और उनके जीवन-लक्ष के अनुसार ये रचनाएँ भक्ति भाव से अधिक वीर रस से ओतप्रोत हैं। गुरु गोविंदसिंह निर्गुण–निराकार अकाल पुरुष के

उपासक थे, किंतु वे श्रीकृष्ण के भी परम भक्त थे। उनकी 'कृष्णावतार' नामक बृहत् रचना श्रीमद् भागवत के दशम स्कंध पर आधारित है; किंतु इसमें श्रीकृष्ण के परंपरागत मधुर रूप की अपेक्षा उनके वीर रूप का कथन अधिक तन्मयता से किया गया है। इस प्रकार ब्रजभाषा के अपार कृष्ण-काव्य में यह रचना अपना अनुपम महत्व रखती है।

ब्रज के सिख और गुरुद्वारे—ब्रजमंडल के विभिन्न स्थानों में सिख पर्याप्त संख्या में निवास करते रहे हैं। आधुनिक काल में पंजाब के विभाजन के उपरांत इनकी संख्या में और भी वृद्धि हुई है। मथुरा-आगरा आदि स्थानों में सिख पंथ के कई गुरुद्वारे हैं। इनमें से गुरु गोविंदसिंह जी के बलिदानी पिता गुरु तेगबहादुर जी की स्मृति में बनाया गया मथुरा का गुरुद्वारा अधिक महत्वपूर्ण है।

साहब पंथ

प्रेरणा और प्राकट्य—आधुनिक काल में ब्रज में स्थापित होने वाले कई निर्गुण मतों में 'साहब पंथ' प्रथम था। उसके संस्थापक तुलसी साहब नामक एक संत थे। वे किसी अन्य स्थान से आकर ब्रजमंडल के हाथरस नामक क़स्बा में रहे थे, और वहीं से उन्होंने अपने निर्गुण मत का प्रचार किया था। तुलसी साहब की किसी रचना से यह ज्ञात नहीं होता है कि उन्हें हाथरस आने की प्रेरणा किस प्रकार प्राप्त हुई थी। ब्रजमंडल के अनेक स्थान अपनी धार्मिक महत्ता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं; किंतु उनमें हाथरस को कभी सम्मिलित नहीं किया गया। इस प्रकार इस स्थान की कोई ऐसी धार्मिक परंपरा नहीं है, जो तुलसी साहब जैसे संत को वहाँ आने के लिए प्रेरित करती। ऐसी दशा में वे अन्य स्थानों को छोड़ कर हाथरस में ही आकर क्यों रहे थे ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना कठिन है। फिर भी इसका एक आनुमानिक उत्तर डा० विल्सन के ग्रंथ में मिलता है[1]। उसमें एक ऐसे शून्यवादी संप्रदाय की चर्चा की गई है, जिसके प्रचार में हाथरस के राजा ठाकुर दयाराम ने अधिक योग दिया था। उसके दरबारी बख्तावर ने 'व्योम सार' एवं 'शूनि सार' नामक दो ग्रंथों की रचना की थी[2]। ठाकुर दयाराम को हाथरस की रियासत सं. १८३२ में प्राप्त हुई थी; और सं. १८७४ में उसका अंगरेजों से युद्ध हुआ था। उसे युद्ध में पराजित होकर भागना पड़ा, और उसकी रियासत पर अंगरेजों ने अधिकार कर लिया था। उसका देहावसान सं. १८६८ में हुआ था[3]। यह संभव हो सकता है कि उस शून्यवादी संप्रदाय के सिद्धांतों को जानने के लिए तुलसी साहब हाथरस आये हों; और फिर वे वहाँ स्थायी रूप से रहते हुए अपने पंथ के प्रचार में लग गये हों। वैसे उस शून्यवादी संप्रदाय के सिद्धांतों का साहब पंथ के सिद्धांतों से कोई मेल नहीं है।

संत तुलसी साहब—इस पंथ के संस्थापक तुलसी साहब का प्रामाणिक जीवन-वृत्तांत नहीं मिलता है। ऐसा समझा जाता है, वे महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और पूना के शासक पेशवा के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म सं. १८२० के लगभग हुआ था। उन्हें युवावस्था में ही तीव्र वैराग्य हो गया था, जिसके कारण वे घर-बार और राज्याधिकार छोड़ कर अकेले ही घर से निकल भागे थे। उनके पिता ने उनकी बहुत खोज करायी; किंतु उनका कोई पता नहीं चला था। फलतः उसने अपने छोटे पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, जो बाजीराव द्वितीय के नाम से मरहठों का

---

(१) रिलीजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज, पृष्ठ ३६०

(२) उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृष्ठ ६४१

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, पृष्ठ २३०

श्रमण-संस्कृतिमूलक अवैदिक धर्मों का उदय—सर्वश्री गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा की गई धार्मिक क्रांति के प्रवल प्रकाश में 'बौद्ध धर्म' और 'जैन धर्म' नामक दो नवीन शक्तिशाली धर्मो का उदय हुआ था। वे दोनों वैदिक मान्यताओं के विरोधी धर्म थे। उनमें अहिंसा की भावना तो सात्वत–पंचरात्र धर्मों से भी अधिक थी; किंतु अन्य बातों में वे उनसे भी भिन्न थे। उनकी भिन्नता की प्रमुख वात यह थी कि वे वेदोक्त कर्ममार्ग और सात्वत–पंचरात्र धर्मों के प्रवृत्ति मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति मार्ग और श्रमण संस्कृति के प्रचारक थे। उनका लक्ष्य सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए 'निर्वाण' (मोक्ष) प्राप्त करना था। उन धर्मों का दृष्टिकोण प्रज्ञावादी अर्थात् बुद्धिवादी था और वे आचार को सर्वाधिक महत्व देते हुए सक्रिय सम्यक् ज्ञान को उद्देश्य-पूर्ति का प्रमुख साधन मानते थे। उनका सिद्धांत 'सत्य' और 'सुंदर' से 'शिव' की ओर जाना था; जिसके लिए वे इंद्रिय–निग्रह, अंतर्मुखी साधना और चित्त–वृत्ति के निरोध को आवश्यक मानते थे। उनके मूल मंत्र 'अहिंसा' और 'अपरिग्रह' थे।

वे दोनों धर्म वैदिक प्रामाण्य और परंपरा के पूरी तरह विरोधी थे; इसलिए उन्हें 'अवैदिक' कहा गया है। उनका विश्वास वेदों में उल्लिखित विश्व के मूलाधार सत् या चेतन के अस्तित्व में भी नहीं था, इसलिए उन्हें 'नास्तिक' माना गया है। वैदिक धर्म के अनुगामी रूढ़िवादी ब्राह्मणों ने उन धर्मों के अनुयायी श्रमणों को अपना कट्टर शत्रु समझा था, और उनकी वह शत्रुता पर्याप्त समय तक चलती रही थी। "पतंजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उलटा माना है, और दोनों में कभी न मिटने वाला वैर वतलाया है—'येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रवणब्राणह्मम्'—(भाष्य २–४–९)[१]।"

उस काल की एक विशेष वात यह थी कि ब्रह्म–चिंतन और ज्ञान के प्रचार का कार्य ब्राह्मणों से भी अधिक क्षत्रिय विद्वान करने लगे थे। उस समय के कई क्षत्रिय राजाओं ने अपने से उच्च वर्ण के ब्राह्मणों को भी ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी थी। 'बृहदारण्यक' आदि उपनिषदों में ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं; जिन्होंने उस समय के विद्वान ब्राह्मणों को ही नहीं, वरन् बड़े-बड़े ऋषि–मुनियों को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। उनमें राजा जनक, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वैसे वह परंपरा कृष्ण–काल से ही प्रचलित थी, क्यों कि श्रीकृष्ण स्वयं एक क्षत्रिय राजा थे; किंतु प्रस्तुत युग में इस प्रवृति को पहिले से अधिक वल मिला था। उस काल के नवोदित बौद्ध और जैन धर्मों के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी भी प्रतिष्ठित राजवंशों के ही थे।

बुद्ध–महावीर काल में प्राचीन वैदिक धर्म का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग अर्थात् कर्मकांडी याज्ञिक ब्राह्मण, ब्रह्मोपासक ऋषि-मुनि, व्ययसाध्य यज्ञ करने वाले राजा–महाराजा और समृद्धिशाली भद्र जन पर अधिक था, और उन सबका प्रभुत्व समाज के विशिष्ट वर्गों तक ही सीमित था। उस काल की जनता वैदिक धर्म से बहुत दूर हो गई थी। उस समय सर्व साधारण न तो वैदिक देवताओं की संतुष्टि के लिए व्ययसाध्य एवं हिंसापूर्ण यज्ञ करने में रुचि रखते थे, और न वे ब्रह्मोपासना एवं अध्यात्म–चिंतन करने के लिए ही अपने को समर्थ पाते थे। उनका विश्वास लोक-देवताओं में अधिक था।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३७७

पेशवा हुआ था। तुलसी साहब पूना छोड़ने के उपरांत कहाँ रहे थे, और किस प्रकार उन्होंने भक्ति-साधना की थी; इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। केवल इतना ज्ञात होता है कि वे हाथरस में आ कर रहे थे; और वहाँ के निकटवर्ती जोगिया नामक गाँव में उनका 'सत्संग' होता था।

तुलसी साहब उनका मूल नाम नहीं था; वे संत होने पर उस नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका कोई गुरु भी नहीं था, बल्कि वे अपने हृदय-कमल में स्थित परमात्मा के संकेतों से स्वतः ही संत-मत और साधना के रहस्यों से परिचित हो गये थे! इसका उल्लेख उन्होंने अपनी रचना 'घट रामायन' में इस प्रकार किया है,—'कंज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कछु नहिं पाई।' कबीरादि पूर्ववर्ती संतों ने जिन सांप्रदायिक आडंबरों का खंडन किया था, उनमें से बहुत से बाद में उनके पंथों में ही प्रचलित हो गये थे। तुलसी साहब उन बातों के कारण अपने समय में प्रचलित सभी पंथों से बड़े रुष्ट थे। वे कोई नवीन पंथ चलाने के भी उत्सुक नहीं थे। उन्होंने लिखा है,—

> झूठा पंथ जगत सब लूटा। कहा कबीर सो मारग छूटा॥
> तुलसी तासे पंथ न कीन्हा। भेष जगत भया पंथ अधीना[1]॥

पंथ का नाम, केन्द्र और प्रचार—तुलसी साहब ने अपने पंथ का कोई खास नाम नहीं रखा था। वे उसे सामान्यतः 'संत मत' कहा करते थे। बाद में उनके प्रचलित नाम पर ही इसे 'तुलसी पंथ' अथवा 'साहब पंथ' कहा जाने लगा था। इसका प्रधान केन्द्र हाथरस के समीप का जोगिया गाँव था; जहाँ तुलसी साहब का सत्संग, प्रवचनादि होता था, और वे अपनी वाणी-रचना करते थे। वे कंबल ओढ़ कर और डंडा लेकर इसी निमित्त हाथरस से बाहर दूर-दूर तक भी चले जाते थे। उससे उनके मत तथा उनकी वाणी का प्रचार अनेक स्थानों में हो गया था; और सहस्रों व्यक्ति उनके अनुगामी हो गये थे।

ग्रंथ-रचना—तुलसी साहब के तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं,—१. रत्नसागर, २. शब्दावली और ३. घट रामायन। इन तीनों को प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने प्रकाशित किया है। इनमें से 'रत्नसागर' में सृष्टि-रचना का रहस्य, कर्मवाद और सत्संगादि विषयों पर साहब जी के विचार हैं। 'शब्दावली' में साहब जी की बानियों का संकलन है, जो दो भागों में है। द्वितीय भाग के अंत में 'पद्मसागर' नामक एक छोटा ग्रंथ भी छपा हुआ है। 'घट रामायन' इस पंथ का प्रमुख ग्रंथ है। इससे साहब जी के विचारों का विशद परिचय मिलता है। 'इसमें पिंड एवं ब्रह्मांड के रहस्यों का विवरण देने के अनंतर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन किया गया है; और तत्पश्चात् उन विविध संवादों का उल्लेख है, जो तुलसी साहब तथा अन्य धर्म-संप्रदाय वालों के बीच हुए हैं। पुस्तक के अंत में तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृत्तांत और संत-मत का संक्षिप्त परिचय है[2]।' साहब जी के मतानुसार समस्त ब्रह्मांड पिंड में व्याप्त है, और उसका सारा रहस्य घट के अंदर है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधक को उसे जानना परमावश्यक है।

'घट रामायन' में वर्णित तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृत्तांत विविध विद्वानों के विवाद और उनकी आलोचना का विषय रहा है। उसमें साहब जी को पूर्व जन्म में गोस्वामी तुलसीदास

---

(१) **उत्तरी भारत की संत परंपरा**, पृष्ठ ६३६
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ६५०

बतलाया गया है ! उसमें लिखा है, उन्होंने तभी 'घट रामायन' की रचना की थी; किंतु उसमें व्यक्त विचारों के कारण काशी में खलबली मच जाने से उसे तब गुप्त कर दिया गया था। उसके बाद दूसरी 'रामायन' (रामचरित मानस) की रचना की गई थी। 'घट रामायन' में 'रामचरित मानस' की कथा आध्यात्मिक रूपक द्वारा भी व्यक्त की गई है। उक्त 'घट रामायन' को तुलसी साहब ने इस जन्म में पुन: प्रकट किया था। इस रचना का यह प्रसंग इतना कपोलकल्पित और हास्यास्पद है कि इसे तुलसी साहब जैसे उच्च कोटि के संत द्वारा रचा हुआ नहीं माना जा सकता। हमारे मतानुसार यह प्रक्षिप्त अंश है, जिसे उनके किसी प्रपंची शिष्य ने बाद में रच कर अपने गुरु का महत्व बढ़ाने के अभिप्राय से उसमें सम्मिलित कर दिया है।

शिष्य-परंपरा और देहावसान—'घट रामायन' में तुलसी साहब के अनेक शिष्यों का नामोल्लेख मिलता है, जिनमें से अधिकांश पहिले अन्य धर्म-संप्रदायों के अनुयायी रह चुके थे। उनके एक प्रसिद्ध शिष्य 'सूरस्वामी' थे, जो अष्टछापी सूरदास की भाँति नेत्रहीन थे; किंतु जनश्रुति के अनुसार उन्हें साहब जी ने नेत्र-ज्योति प्रदान की थी ! तुलसी साहब का देहावसान प्राय: ८० वर्ष की आयु में सं. १९०० की ज्येष्ठ शु. २ को हाथरस में हुआ था; जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। बाद में उनके एक शिष्य गिरिधारीदास ने 'सत्संग' का संचालन किया था; किंतु वह नियमित रूप में नहीं चल सका था। साहब जी का समाधि-स्थल इस पंथ के अनुयायियों का प्रधान तीर्थ-स्थान माना जाता है।

राधास्वामी पंथ

प्रेरणा और प्राकट्य—आधुनिक काल में ब्रज में स्थापित होने वाला यह दूसरा निर्गुण पंथ है। इसका प्राकट्य ब्रजमंडल के आगरा नगर में हुआ था। इसके संस्थापक आगरा निवासी श्री शिवदयालसिंह जी थे; जो इस पंथ में 'श्री स्वामी जी महाराज' कहलाते हैं। उनके पिता की 'साहब पंथ' के संस्थापक श्री तुलसी साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा थी; और स्वयं उन पर भी बचपन में साहब जी का प्रभाव पड़ा था। इससे यह कहा जा सकता है कि श्री स्वामी जी महाराज को अपने मत के प्राकट्य की प्रेरणा साहब पंथ से प्राप्त हुई होगी। इस पंथ का मूल मंत्र 'राधासोआमी' है, जिसे आदि नाद कहा गया है। इसी कारण यह 'राधास्वामी सत्संग' अथवा 'राधास्वामी पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसके अनुयायी साधक 'सत्संगी' कहलाते हैं।

श्री शिवदयालसिंह जी (स्वामी जी महाराज)—उनका जन्म सं. १८७५ की भाद्रपद कृ. ८ (कृष्ण-जन्माष्टमी) को आगरा नगर की पन्नी गली के एक सेठ खत्री कुल में हुआ था। उनके पिता दिलवालीसिंह जी पहिले नानक पंथी थे; किंतु तुलसी साहब के प्राय: आगरा आते रहने और वहाँ 'सत्संग' करने से उनका तथा उनके घर वालों का झुकाव 'साहब पंथ' की ओर हो गया था। बालक शिवदयाल पर उस वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ा था, और उनमें बचपन से ही आध्यात्मिक चेतना जागृत हो गई थी। उन्होंने हिंदी, उर्दू, फारसी की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी, और वे अरबी एवं संस्कृत भी जानते थे। वे विवाहित थे, और उनकी पत्नी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की एक उदारहृदया महिला थीं। इस पंथ के अनुयायी उन्हें 'राधा जी' कहते थे। उनके कोई संतान नहीं हुई थी। उनके घर में महाजनी का कारोबार होता था; किंतु सूद से जीविका चलाना उचित न समझ कर उन्होंने सब कर्जदारों के लेन-देन का हिसाब समाप्त कर दिया था। उसके उपरांत उनके छोटे भाई के सामान्य वेतन से समस्त परिवार का निर्वाह होता था।

आध्यात्मिक चिंतन, उपदेश और प्रचार—'स्वामी जी महाराज' आरंभ से ही आध्यात्मिक चिंतन में लीन रहा करते थे। वे अपने मकान की एकांत कोठरी में ध्यानावस्थित होकर कई-कई दिनों तक निश्चल बैठे रहते थे। आरंभ में उनकी साधना अंतर्मुखी थी; किंतु बाद में वे प्रकट रूप से उपदेश भी करने लगे थे। उनका प्रवचन और 'सत्संग' उनके घर पर ही होता था, जहाँ विविध धर्म-संप्रदायों के सैकड़ों अनुयायी एकत्र होकर उनसे लाभान्वित होते थे। इस प्रकार उनके मत का व्यापक प्रचार हुआ और सहस्रों व्यक्ति उनके अनुगामी हो गये। उनके अनुयायी सत्संगियों में श्री सालिगराम जी प्रमुख थे, जो बाद में उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

रचना और देहावसान—स्वामी जी महाराज की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। पहली रचना 'सार वचन नज्म' पद्यात्मक है, और दूसरी 'सार वचन नसर' गद्यात्मक। दोनों रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका प्रचार अधिकतर सत्संगियों में है; सर्वसाधारण में इन्हें नहीं बेचा जाता है। 'सार वचन नज्म' एक बृहद् ग्रंथ है। इसमें स्वामी जी महाराज के ४२ 'वचन' हैं, और उनके अंतर्गत ४६४ 'शब्द' हैं। इनमें प्रायः उन्हीं बातों का कथन है, जो अन्य संत-महात्माओं की रचनाओं में मिलता है; किंतु इनकी शैली और क्रम में अंतर है। 'सार वचन नसर' पहिली से कुछ छोटी रचना है। इसकी अधिकांश बातें सुझाव एवं उपदेश के रूप में कही गई हैं। ये दोनों इस पंथ की प्रामाणिक रचनाएँ हैं, और 'सत्संग' के सिद्धांतों की कुंजी मानी जाती हैं।

स्वामी जी महाराज का देहावसान सं. १९३५ की आषाढ़ कृ. १ को आगरा में हुआ था। उनकी समाधि नगर से ३ मील दूर एक बाग़ में है, जिसे 'स्वामी बाग' वहाँ कहते हैं। उनकी स्मृति में प्रति वर्ष बृहत् भंडारा होता है, जिसमें इस पंथ के सत्संगी बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं। स्वामी जी महाराज के स्मारक के रूप में संगमरमर का एक भव्य भवन बनाया जा रहा है। इसके निर्माण-कार्य का आरंभ सं. १९६१ में हुआ था। तब से अब तक यह कार्य बराबर चल रहा है, और इसमें लाखों रुपया लग चुका है। जब यह भवन योजना के अनुसार पूरा बन कर तैयार होगा, तब इसे भारत की सुंदरतम इमारतों में माना जावेगा।

श्री सालिगराम जी (हुजूर महाराज)—श्री स्वामी जी महाराज के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य (पूरे गुरुमुख) राय सालिगराम जी बहादुर ने 'सत्संग' के संचालन का कार्य सँभाला था। उन्हें इस पंथ में 'श्री हुजूर महाराज' कहा जाता है। उनका जन्म सं. १८८५ की फाल्गुन शु. ८ को आगरा की पीपलमंडी के एक माथुर कायस्थ कुल में हुआ था। उनके पिता रायबहादुरसिंह जी वकील थे और शिव-भक्त थे। श्री सालिगराम जी को आरंभ में फ़ारसी की शिक्षा दी गई थी; फिर वे अंगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर सं. १९०४ में सरकारी डाक विभाग में क्लर्क हो गये थे। अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता से वे बराबर उन्नति करते रहे, और सं. १९३८ में प्रदेश के पोस्ट मास्टर जनरल हो गये थे। अंगरेजी सरकार ने उन्हें 'रायबहादुर' की पदवी से सन्मानित किया था। उन्होंने ज्योतिष का गंभीर अध्ययन किया था, और फ़ारसी में उस पर ग्रंथ लिखा था।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति और 'सत्संग'—सं. १९१५ में वे श्री स्वामी जी महाराज की ओर आकृष्ट होकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हुए थे। उन्होंने उच्च सरकारी पद पर रहते हुए भी स्वामी जी से निरंतर संपर्क रखा था, और उनकी सेवा में अपने को पूर्णतया समर्पित कर दिया था। वे एक साधारण सेवक की भाँति उनका छोटे से छोटा कार्य करते थे; और अपने वेतन का अधिकांश भाग 'सत्संग' के कार्य में लगा देते थे। सं. १९३३ में उन्होंने स्वामी जी महाराज की आज्ञा से आगरा नगर के बाहर एक भूमि अपने धन से खरीदी थी। उसमें बाग लगवा कर उसे

स्वामी जी महाराज को भेंट कर दिया था। स्वामी जी के अंतिम काल में उस बाग में ही 'सत्संग' होने लगा; और उसी में स्वामी जी की समाधि बनाई गई थी। वह बाग़ 'स्वामी बाग़' कहलाता है।

सं. १९३५ में जब स्वामी जी महाराज का देहावसान हुआ था, तब 'हुजूर महाराज' सरकारी पदाधिकारी थे; किंतु उनका अधिक समय 'सत्संग' में लगता था। सं. १९४४ में उन्होंने राजकीय सेवा से अवकाश ग्रहण किया था। फिर वे अहर्निश सत्संग के कार्य में लग गये थे। स्वामी जी महाराज के समय से ही वे सत्संग और स्वामी बाग का कुल व्यय स्वयं करते थे। स्वामी जी के उपरांत और सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद भी उन्होंने उसमें कोई त्रुटि नहीं आने दी थी। उस काल में दैनिक सत्संग पन्नी गली स्थित स्वामी जी महाराज के मकान में और साप्ताहिक सत्संग स्वामी बाग में होता था। 'श्री हुजूर महाराज' ने प्रायः २० वर्षों तक सत्संग का संचालन किया था। उनके काल मे सत्संगियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा दैवी आकर्षण था कि उनके निकट आने वाला व्यक्ति स्वतः उनका परम भक्त बन जाता था!

पंथ का संगठन—'श्री स्वामी जी महाराज' ने इस पंथ का प्राकट्य अवश्य किया था; किंतु इसे संगठित एवं व्यापक रूप में प्रचारित करने का श्रेय 'श्री हुजूर महाराज' को है। उन्हीं ने 'राधास्वामी' नाम का भी प्रचलन किया था। यह प्रसिद्ध है कि श्री स्वामी जी महाराज ने केवल सत्तनाम और अनामी का भेद प्रकट किया था, और वे उसी का उपदेश दिया करते थे। 'श्री हजूर महाराज' ने अपने 'सुरत शब्द' के अभ्यास में सर्व प्रथम 'राधास्वामी' नाम की ध्वनि सुनी थी और उसके दर्शन का अनुभव किया था। तदुपरांत वे उस नाम से 'श्री स्वामी महाराज' को ही संबोधित करने लगे। तब से 'राधास्वामी' नाम तथा 'राधास्वामी' धाम का अभ्यास और उपदेश होने लगा था। इस बात को स्वयं स्वामी जी महाराज ने भी स्वीकार किया है, जो उनके 'वचन' सं. १४ से इस प्रकार प्रकट है,—'फिर लाला परतापसिंह की तरफ़ मुतवज्जह होकर फ़रमाया कि मेरा मत तो सत्तनाम और अनामी का था, और राधास्वामी मत शालिगराम का चलाया हुआ है। इसको भी चलने देना, और सतसंग जारी रहे और सतसंग आगे से बढ़ कर होगा[1]।"

ग्रंथ-रचना और देहावसान—'श्री हुजूर महाराज' जीवन पर्यंत सरकारी नौकरी और राधास्वामी सत्संग के कार्यों मे व्यस्त रहे थे। फिर भी उन्होने ग्रंथ-रचना करने के लिए अवकाश निकाल लिया था। उनके ग्रंथों में एक पद्यात्मक है, और शेष गद्यात्मक। पद्यात्मक ग्रंथ का नाम 'प्रेम बानी' है, जो ४ भागों में है। गद्यात्मक ग्रंथों में एक 'प्रेम पत्र' है, जिसके ६ भाग हैं। अन्य गद्य ग्रंथों के नाम सार उपदेश, निज उपदेश, प्रेम उपदेश, राधास्वामी मत संदेश, राधास्वामी मत उपदेश, प्रश्नोत्तर संत मत, वचन महात्माओं के और जुगत प्रकाश हैं। उनका एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'राधास्वामी मत प्रकाश' अंगरेज़ी भाषा में है। इससे अंगरेज़ी भाषा भाषी व्यक्ति इस मत की महत्वपूर्ण बातो से भली भाँति परिचित हो सकते हैं।

'श्री हुजूर महाराज' का देहावसान स. १९५५ (२७ दिसंबर, १८९८ ई०) में उनके आगरा स्थित 'प्रेम विलास' नामक मकान में हुआ था। उस समय उनकी आयु ७० वर्ष के लगभग थी। उनकी समाधि उक्त मकान में है; और उनकी स्मृति में आगरा मे एक बाग लगाया गया है, जिसे 'हुजूरी बाग' कहते हैं। उनके समाधि-स्थान पर प्रति वर्ष २७ दिसंबर को एक बृहद् भंडारा किया जाता है, जिसमें बहुसंख्यक सत्संगी दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते हैं।

(१) उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृष्ठ ६७८-६७९

श्री ब्रह्मशंकर जी मिश्र (महाराज साहब)—'श्री हुजूर महाराज' के पश्चात् श्री ब्रह्मशंकर जी मिश्र 'सत्संग' के संचालक हुए थे। उन्हें इस पंथ में 'श्री महाराज साहब' कहा जाता है। श्री ब्रह्मशंकर जी का जन्म सं. १९१७ में काशी के पियरी मुहल्ला निवासी प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके पिता रामयश मिश्र संस्कृत के नामी विद्वान थे। श्री ब्रह्मशंकर जी को अपनी युवावस्था में ही 'श्री स्वामी जी महाराज' के ग्रंथ 'सार वचन नसर' को पढ़ने का सुयोग मिला था। उसे पढ़ने से वे 'सत्संग' की ओर आकर्षित होकर स. १९३२ में 'श्री हुजूर महाराज' के शिष्य हो गये थे। उन्होंने अंगरेज़ी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और कई विभागों में बड़े पदों पर काम किया था। यह सब करते हुए और गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उनकी प्रवृत्ति मुख्यत: आध्यात्मिक साधना और 'सत्संग' में लगी रही थी। जब सं. १९५५ में 'श्री हुजूर महाराज' का देहांत हो गया, तब उन्हें उनका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। वे सं. १९५५ से सं. १९६४ तक इस पंथ के प्रयाग केन्द्र में 'सत्संग' कराते रहे थे। सं. १९५९ में उन्होंने राधास्वामी सत्संग की केन्द्रीय सभा के संगठन एवं संचालन के लिए एक विधान और नियमोपनियमों का निर्माण किया था। तभी इसे व्यवस्थित रूप से चलाने की परंपरा प्रचलित हुई। उन्होने अंगरेजी भाषा में इस पंथ के संबंध में एक पुस्तक भी लिखी है, किंतु वह पूरी नहीं हो सकी। उनका देहावसान सं. १९६४ की आश्विन शु. ५ को काशी में हुआ था। उनकी समाधि कबीरचौरा मुहल्ला में है।

'बुआ जी साहिबा' और 'सरकार साहब'—'राधास्वामी सत्संग' के तीसरे गुरु श्री ब्रह्मशंकर जी मिश्र (महाराज साहब) के पश्चात् उनकी बड़ी बहिन श्रीमती माहेश्वरी देवी प्रयाग और काशी की गद्दी पर उनकी उत्तराधिकारिणी हुई थीं। उन्हें इस पंथ में 'श्री बुआ जी साहिबा' कहा जाता है। महाराज साहब के एक शिष्य मुंशी कामताप्रसाद जी ने आगरा में 'सत्संग' का संचालन किया था। वे इस पंथ में 'श्री सरकार साहब' कहे जाते हैं। उन दोनों में से किसे सत्संग का चौथा गुरु माना जावे, इस संबंध में मतभेद है। कुछ सत्संगी बुआ जी साहिबा को और कुछ सरकार साहब को चौथा गुरु मानते हैं। बुआ जी साहिबा का पीहर और ससुराल काशी में था। वे सदैव गृहस्थाश्रम में रही थीं; किंतु परम विदुषी और उच्च कोटि की साधिका थीं। 'सुरत शब्द योग' और आध्यात्मिक साधना में उन्होंने बड़ी दक्षता प्राप्त की थी। बड़े-बड़े विद्वान उनके अनुयायी थे। उनका देहावसान सं. १९६९ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। मुंशी कामताप्रसाद (सरकार साहब) गाजीपुर के निवासी थे। वे भी उच्च कोटि के संत और सतगुरु थे। उनका देहावसान सं. १९७१ में हुआ था।

श्री आनंदस्वरूप जी (साहब जी)—उनका जन्म सं. १९३८ में अम्वाले के खत्री कुल में हुआ था। वे बचपन से ही आध्यात्मिक रुचि के थे। उन्होंने आगरा में राधास्वामी मत की दीक्षा ली थी; और वे मुंशी कामताप्रसाद जी (सरकार साहब) के उपरांत उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होंने राधास्वामी पंथ को एक नई दिशा की ओर अग्रसर किया था। वे आध्यात्मिक विकास के साथ ही साथ देश की औद्योगिक प्रगति के भी पक्षपाती थे। उन्होंने सत्संगियों को आध्यात्मिक साधना करते हुए औद्योगिक उन्नति करने की प्रेरणा प्रदान की थी। इस प्रकार उन्होंने राधा-स्वामियों को अध्यात्मवादी होने के साथ ही साथ कर्मयोगी बनने की भी शिक्षा दी थी। उनकी चेष्टा से 'स्वामी बाग' के निकट 'दयाल बाग' में अनेक उद्योग स्थापित किये गये, जिससे यह स्थान आगरा का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र बन गया। उनके समय में राधास्वामी पंथ की बड़ी उन्नति हुई

थी, और उसकी ख्याति समस्त देश में व्याप्त हो गई थी। अंगरेजी सरकार ने उन्हें 'सर' के खिताब से सम्मानित किया था। उनका देहावसान सं. १९९४ में मदरास में हुआ था। उनके उत्तराधिकारी रायसाहब गुरुचरनदास जी मेहता हुए; जो राधास्वामी सत्संग के वर्तमान गुरु हैं।

'सत्संग' का विकेन्द्रीकरण और इसके सिद्धांत—राधास्वामी सत्संग का प्रादुर्भाव आगरा में हुआ था; और 'श्री स्वामी जी महाराज' एवं 'श्री हुजूर महाराज' के समय में वही इसका एक मात्र केन्द्र था। 'श्री महाराज साहब' के समय में प्रयाग–काशी के केन्द्रों को भी महत्व प्राप्त हो गया था। उसी काल में उनके सहयोगी और शिष्यों ने विविध केन्द्रों में कई गद्दियों की स्थापना की थी। उन सबके कारण राधास्वामी सत्संग का विकेन्द्रीकरण होने लगा था।

श्री हुजूर महाराज के एक शिष्य महर्षि शिवव्रतलाल जी ने सं. १९७८ में इस पंथ की एक गद्दी गोपीगज में स्थापित की थी। वे अनुभवी साधक, परम विद्वान और प्रसिद्ध ग्रंथकार थे। उन्होने राधास्वामी मत के संबंध में सर्वाधिक ग्रंथों की रचना की है। उनका देहांत सं. १९९६ में हुआ था। श्री बुआ जी साहिबा का देहावसान होने पर श्री माधवप्रसादसिंह (बाबू जी साहब) उनके उत्तराधिकारी के रूप में प्रयाग की गद्दी पर बैठे थे। वे सं. १९९४ में आगरा चले गये थे।

बाबू जी साहब श्री स्वामी जी महाराज की बड़ी बहिन के पौत्र थे, और उनका जन्म काशी में हुआ था। आगरा आने पर वे 'स्वामी बाग' में श्री स्वामी जी महाराज की समाधि के निकट सत्संग कराने लगे थे। उनके अनुयायियों ने 'दयाल बाग' को मान्यता न देकर 'स्वामी बाग' को ही इस पंथ का प्रधान केन्द्र स्वीकार किया। वे 'दयाल बाग' की औद्योगिक प्रवृत्ति को भी 'सत्संग' की आध्यात्मिक साधना में बाधक मानते हैं। इस प्रकार आगरा में ही इस पंथ के दो केन्द्र हो गये। इनमें पारस्परिक प्रतिद्वंदिता और मतभेद में इतनी वृद्धि हो गई कि दोनों के बीच लंबी मुकदमाबाजी छिड़ गई, जिसका फैसला प्रिवी कौन्सिल में जा कर हुआ था! बाबूजी साहब प्रायः ९० वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। उनका देहावसान सं. २००६ में हुआ था। इस समय भी राधास्वामी पंथ के इन दोनों वर्गों में मतभेद बना हुआ है।

राधास्वामी सिद्धांत—सृष्टि-रचना का मूल स्रोत और विश्व का आदि कारण 'सोआमी' है, जो सबका परम पिता है। उससे प्रवाहित होने वाली चैतन्य शक्ति की धारा 'राधा' है, जो सबकी परम माता है। यह 'राधा' उस 'सोआमी' को उसी प्रकार व्यक्त करती है, जिस प्रकार किरणें अपने मूल स्रोत सूर्य का पता देती हैं। इन दोनों प्रतीकात्मक शब्दों से बना हुआ 'राधा-स्वामी' शब्द स्वयं परमात्मा का द्योतक है। यह उन 'संत गुरुओं' के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो राधास्वामी दयाल के प्रतीकों के रूप में समय–समय पर नर–देह धारण करके आया करते हैं। साथ ही साथ यह नाम उस पंथ का भी है, जिसे 'संतगुरु श्री स्वामी जी महाराज' ने प्रकट किया है।

इस पंथ के मुख्यतया चार अंग हैं,—१. पूरा गुरु, २. नाम, ३. सत्संग और ४. अनुराग। 'पूरा गुरु' से तात्पर्य संतगुरु से है। 'नाम' का अभिप्राय उस ध्वन्यात्मक रूप से है, जो सभी घटों में व्याप्त हो रहा है। 'सत्संग' का अभिप्राय संत सतगुरु की सेवा से है। 'अनुराग' का अभिप्राय परमात्मा के प्रति सच्चे प्रेम से है। इस पंथ के सिद्धांत शुद्ध वैज्ञानिक तथा अनुभवगम्य समझे जाते हैं। इन्हें स्वीकार करने वाला व्यक्ति किसी भी स्थिति में रहता हुआ अपने उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। इसमें सम्मिलित होने के लिए न तो अपने पूर्व धर्म का परित्याग करना आवश्यक है, और न अपनी जीविका की ओर से उदासीन होना ही अनिवार्य है।

आर्य समाज

प्रेरणा और प्राकट्य—नवयुग की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से इस देश में जो कई प्रगतिशील और सुधारवादी आधुनिक मत तथा पंथ स्थापित हुए, उनमें 'आर्य समाज' का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके संस्थापक स्वामी दयानंद जी थे। यह बड़े विचित्र संयोग की बात है कि इस क्रांतिकारी मत को स्थापित करने की प्रेरणा स्वामी दयानंद जी को पौराणिक परंपराओं के प्रमुख केन्द्र मथुरा में प्राप्त हुई थी ! स्वामी जी ने मथुरा स्थित दंडी विरजानंद जी के संस्कृत विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। उनके प्रायः सभी सहपाठी मथुरा के उन धर्म-गुरुओं और तीर्थ-पुरोहितों के पुत्र थे, जिनके घरों में सदा से पौराणिक परंपराओं और रूढ़िग्रस्त मान्यताओं का एकछत्र राज्य रहा है। ऐसे विषम वातावरण में स्वामी दयानंद जी ने अपनी शिक्षा को पूर्ण किया था। उसके उपरांत उन्होंने 'आर्य समाज' के नाम से एक ऐसे धार्मिक मत का प्राकट्य किया, जो भारत के प्राचीनतम वैदिक धर्म पर आधारित होते हुए भी नवीनतम सुधारों और आधुनिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति के समस्त साधनों से परिपूर्ण था। उसके कारण यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अभूतपूर्व क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित हो गई, जिसकी लपटों में धर्मान्धता और सांप्रदायिक संकीर्णता का कूड़ा-कचरा जल कर भस्म होने लगा। ब्रज के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि यहाँ की भूमि से ही स्वामी दयानंद जी ने प्रेरणा प्राप्त कर अपने युगांतरकारी मत का प्राकट्य किया था। स्वामी जी और 'आर्य समाज' पर लिखने से पहिले उनकी प्रेरणा के स्रोत दंडी विरजानंद जी और उनके विद्यालय का कुछ वृत्तांत लिखा जाता है।

दंडी विरजानंद जी—उनका जन्म पंजाब के कर्त्तारपुर नगर के निकटवर्ती गंगापुर ग्राम में सं. १८३५ के लगभग हुआ था। वे भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम नारायणदत्त था। उनका अपना मूल नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं होता है। इतना निश्चित है कि संन्यास की दीक्षा लेने के अनंतर उनका गुरु-प्रदत्त नाम विरजानंद हुआ, और वे इसी नाम से विख्यात हुए थे। जब वे ५ वर्ष के थे, तब शीतला रोग में उनके नेत्रों की ज्योति नष्ट हो गई थी, जिसके कारण वे बाल्यावस्था में ही नेत्रहीन हो गये। उनकी स्मरण शक्ति और मेधा असाधारण थी। उन जन्मजात दैवी गुणों के कारण उनकी नेत्रहीनता उनके उज्ज्वल भविष्य में बाधक नहीं हो सकी थी। फलतः वे कालांतर में अपने समय के प्रकांड विद्वान हुए थे।

उनके माता-पिता ने अपने नेत्रहीन पुत्र की आरंभिक शिक्षा का आयोजन किया था; किंतु दुर्भाग्य से उनकी शीघ्र मृत्यु हो गई थी, जिससे वे १२ वर्ष की आयु में ही अनाथ हो गये थे। उससे दुखी होकर वे अपने जन्म-स्थान को छोड़ कर हरिद्वार चले गये। वहाँ ऋषिकेश और कनखल में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन कर व्याकरणादि विद्याओं में दक्षता प्राप्त की थी। कनखल में ही उन्होंने पूर्णाश्रम नामक एक विद्वान संन्यासी से संन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी। तदुपरांत वे 'दंडी विरजानंद' और नेत्रहीन होने से 'प्रज्ञाचक्षु' कहे जाने लगे। कनखल से वे काशी गये, जहाँ उन्होंने अपने विद्याध्यन को पूर्ण किया था। काशी में वे अध्ययन के साथ ही साथ अध्यापन भी करते थे, जिससे उनकी विद्या का भली भाँति विकास हो गया था।

काशी से चल कर वे गया, सोरों आदि धार्मिक स्थानों में और अलवर, मुरसान, भरतपुर आदि रजवाड़ों में थोड़े-थोड़े समय तक निवास करते रहे थे; किंतु वे जम कर कहीं नहीं रहे। वे किसी उपयुक्त धार्मिक स्थान में स्थायी रूप से निवास कर अपनी विद्या से जनता को लाभान्वित

करना चाहते थे; किंतु उन्हें कोई स्थान सुविधाजनक ज्ञात नहीं हुआ था। सं. १९०४ में वे मथुरा आये। उस काल में यह स्थान धर्म और संस्कृति के साथ ही साथ संस्कृत भाषा का प्रमुख केन्द्र था। विरजानंद जी को यह स्थान उपयुक्त ज्ञात हुआ। यहाँ पर उन्होने एक विद्यालय की स्थापना की, और उसके द्वारा वे छात्रों को संस्कृत की निःशुल्क शिक्षा देने लगे।

दंडी जी का विद्यालय—दंडी विरजानंद जी के उस ऐतिहासिक विद्यालय का शुभारंभ मथुरा के श्री गतश्रमनारायण जी के मंदिर में हुआ था। दो माह पश्चात् उसके लिए कंसखार बाजार में एक दोमंजिला मकान किराये पर ले लिया गया। उसी मकान में उसका स्थायी रूप से संचालन हुआ था। मथुरा नगरपालिका में दाखिल सं. १९२७ के एक नक्शा से ज्ञात होता है कि पहले यह मकान सम्पतिराम सेनापति नामक एक मरहठा सज्जन की मिल्कियत था। कालांतर में मथुरा का एक सरीन खत्री परिवार इसका स्वत्वाधिकारी हुआ था। मथुरा नगर और आर्य समाज के इतिहास में इस विद्यालय का बड़ा महत्व है। इसमें शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों में मथुरा के अनेक धुरंधर विद्वान हुए हैं, जिन्होंने उस काल में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इसी में विद्याध्ययन करने से स्वामी दयानंद जी को वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

दंडी विरजानंद जी एक अनुभवी अध्यापक थे। उनके अध्यापन की शैली भी अपूर्व थी। वे छात्रों को बड़ी सुगमता पूर्वक विषय का बोध कराते थे। वे उनसे किसी प्रकार का शुल्क नही लेते थे, बल्कि निर्धन विद्यार्थियों को पुस्तकों की व्यवस्था भी करा देते थे। उनके जीवन-निर्वाह तथा विद्यालय-संचालन का समस्त व्यय अलवर, भरतपुर और जयपुर के राजाओं द्वारा दी हुई वृत्ति से चलता था।

यह प्रसिद्ध बात है, दंडी जी आर्ष ग्रंथों के प्रचार और अनार्ष ग्रंथों के बहिष्कार के प्रबल आग्रही थे। इसीलिए वे सिद्धांत कौमुदी, मनोरमा और शेखर जैसे अनार्ष व्याकरण ग्रंथों की अपेक्षा अष्टाध्यायी जैसे आर्ष व्याकरण ग्रंथ को पढ़ाने के पक्षपाती थे। ऐसा कहा जाता है, दंडी जी का यह आग्रह आरंभ से नही था। उनके समय में सिद्धांत कौमुदी का विशेष प्रचार था; और अष्टाध्यायी जैसे सूत्रबद्ध प्राचीन व्याकरण को बहुत कम लोग पढ़ते थे। दंडी जी भी आर्ष-अनार्ष ग्रंथों का भेद-भाव किये बिना छात्रों की इच्छानुसार उन्हें सब प्रकार के ग्रंथ पढ़ाया करते थे। बाद में वे आर्ष ग्रंथों के प्रबल आग्रही हो गये थे। तब उन्होंने अपने विद्यालय में अनार्ष ग्रंथों का सर्वथा बहिष्कार कर केवल ऋषि प्रणीत ग्रंथों के पठन-पाठन का ही नियम प्रचलित किया था। उसके फलस्वरूप व्याकरण शिक्षा के लिए सिद्धांत कौमुदी आदि का अध्ययन बंद कर दिया गया और केवल अष्टाध्यायी-महाभाष्य को मान्यता प्रदान की गई। उस विद्यालय के पाठ्य-क्रम में इतना बड़ा परिवर्तन बिना किसी कठिनाई के सहज-स्वाभाविक रूप में हो गया था। उसे दंडी विरजानंद जी की अनुपम विद्वत्ता का प्रभाव ही कहा जा सकता है।

दंडी जी का स्वभाव, अंतिम काल और शिष्य-समुदाय—दंडी विरजानंद जी बड़े ओजस्वी और उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कई राजा-महाराजाओं के सम्पर्क में आये और उन्होंने दंडीजी का भली प्रकार से स्वागत-सत्कार भी किया था; किंतु अपने स्वभाव की उग्रता के कारण वे किसी के आश्रित होकर नही रहे। मथुरा में विद्यालय खोल कर निवास करते हुए भी उनकी उग्रता में कोई कमी नहीं आई थी। वैसे अपने विद्यार्थियों को वे बड़े स्नेहपूर्वक पढ़ाते थे, किंतु उनकी मूर्खता पर उन्हें क्रोध भी आ जाता था। यहाँ तक कि कभी-कभी वे उन पर लाठी का प्रहार कर बैठते थे!

दंडी जी का उत्तर जीवन मथुरा में व्यतीत हुआ, और वे अपने अंतिम काल तक छात्रों को विद्याध्ययन कराते रहे थे। अत्यंत वृद्ध हो जाने पर भी उनमें विद्या-दान के लिए कभी शिथिलता नहीं आई थी। उनसे पढ़ने वाले छात्र तो थक जाते थे, किंतु वे पढ़ाते हुए नहीं थकते थे! यद्यपि वे नेत्रहीन थे, तथापि अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति और सर्वग्राहिणी प्रज्ञा के कारण उन्हें अनेक ग्रंथ कंठस्थ थे। शब्द-शास्त्र के तो वे अपूर्व विद्वान थे, जिसके कारण वे 'व्याकरण सूर्य' कहलाते थे। उन्हें अन्य विषय भी हस्तामलक थे, जिन्हें वे विद्यार्थियों को सरलतापूर्वक हृदयंगम करा देते थे।

वे आर्ष ग्रंथों के पठन-पाठन और उनके प्रचार की एक देशव्यापी योजना बनाना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने एक सार्वभौम सभा करने की बड़ी चेष्टा की थी। उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उच्च राजकीय पदाधिकारियों और राजा-महाराजाओं को कई बार प्रेरित किया था। सं. १६१६ में जब आगरा में लार्ड कैनिंग का दरबार हुआ था, तब उसमें अनेक राजा-महाराजा भी उपस्थित हुए थे। दंडी जी उस अवसर पर स्वयं आगरा गये, और उन्होंने जयपुर के महाराजा रामसिंह से उक्त सार्वभौम सभा का आयोजन करने के लिए विशेष रूप से कहा था। दुर्भाग्य से उनकी वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी; किंतु कालांतर में उनके उद्देश्य की पूर्ति स्वामी दयानंद जी द्वारा भली भाँति हो गई थी।

दंडी जी का देहावसान ८६ वर्ष की परिपक्व आयु में सं. १६२५ की आश्विन कृ. १३ को हुआ था। उनके कारण संस्कृत विद्या और भारत के प्राचीन गौरव की जो ज्योति जगमगायी थी, उसे उनके शिष्यों और विशेषकर स्वामी दयानंद जी ने और भी प्रखरता से प्रदीप्त कर दिया था।

दंडी जी के शिष्यों की संख्या अत्यधिक थी। उनमें स्वामी दयानंद जी के अतिरिक्त अधिकतर मथुरा के धर्म-गुरुओं और तीर्थ-पुरोहितों की संतान थे। ऐसे शिष्यों में वल्लभ संप्रदाय के गोस्वामी रमणलाल जी, उनके संबंधी तैलंग भट्ट गोपीनाथ जी और श्री दाऊजी-मदनमोहन जी के कार्यकर्त्ता दीनबंधु जी; माथुर चतुर्वेदियों के गुरु वासुदेव जी और नंदन जी; श्री शत्रुघ्न जी, श्री राधागोपाल जी तथा श्री देवकीनंदन जी के मंदिरों के अध्यक्ष क्रमशः गोपाल जी ब्रह्मचारी, उदयप्रकाश जी और युगलकिशोर जी; तंत्रोपासक विद्वान गंगादत्त जी और रंगदत्त जी तथा पौराणिक वनमाली जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन सबने दंडी जी से संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और विभिन्न क्षेत्रों में ख्याति अर्जित की थी। उनमें से उदयप्रकाश जी के वंशजों और शिष्यों की परंपरा में मथुरा के सर्वाधिक संस्कृतज्ञ विद्वान हुए है। दंडी जी के देहावसान के पश्चात् उनके विद्यालय की ख्याति कम हो गई थी, और कुछ काल बाद उसे बंद कर देना पड़ा था। उनके मथुरा निवासी विद्वान शिष्य अपने गुरुदेव के स्मारक रूप में भी उसे नहीं चला सके थे। केवल दयानंद जी ने अपने महत्वपूर्ण कार्यों से दंडी जी के नाम को उजागर किया।

स्वामी दयानंद जी—उनका जन्म सं. १८८१ में काठियावाड़ प्रदेशांर्गत मोरवी राज्य के टंकारा ग्राम में हुआ था। उनका आरंभिक नाम मूल जी और उनके पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवाड़ी था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके पिता जी मूर्ति-पूजक कट्टर शैव थे, किंतु मूल जी को बाल्यावस्था में ही एक विशेष घटना के कारण मूर्ति-पूजा से अश्रद्धा हो गई थी। वे अपने कई स्नेहीजनों को मृत्यु ग्रस्त देख कर यह जानने की चेष्टा करने लगे, क्या मृत्यु पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है! लोगों ने उन्हें बतलाया कि पूर्ण योगी ही मृत्यु को विजय कर अमर हो सकता है। इससे वे सांसारिक विषयों से उदासीन होकर योगी बनने की धुन में रहने लगे।

उनके माता–पिता ने उनका विचित्र रंग-ढंग देखकर उन्हें वैवाहिक वंधन में बाँधना चाहा, किंतु वे सं. १९०२ के ज्येष्ठ मास में एक दिन बिना किसी से कहे-सुने अकेले ही घर से निकल भागे। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी।

घर से निकलने के पश्चात् परिचित व्यक्तियों से अपने को छिपाने के लिए वे छद्म वेश और प्रक्षिप्त नाम से दो वर्ष तक इधर–उधर घूमते रहे थे। बाद में सं. १९०४ में उन्होंने नर्मदा तट पर निवास करने वाले पूर्णानंद सरस्वती नामक एक महाराष्ट्र विद्वान से संन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी। तब से वे दयानंद सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास और मथुरा–आगमन—संन्यासी होने के बाद स्वामी जी ने योगियों एवं ज्ञानियों से योग तथा ज्ञान प्राप्त करने की लालसा में कई वर्षों तक घोर जंगलों और बीहड़ पहाड़ों के चक्कर काटे। उस काल में उन्होंने यौगिक क्रियाओं और संस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किंतु उससे उनके मन को शांति नहीं मिली थी। अपनी लंबी और कष्टदायक यात्राओं में उन्होंने नाना प्रकार के बुरे–भले अनुभव प्राप्त किये थे। अब वे और अधिक न भटक कर किसी सच्चे साधु और धुरंधर विद्वान से विद्याध्ययन कर प्राचीन ऋषि–मुनियों के अमर ज्ञान से लाभ उठाना चाहते थे। अपनी यात्रा मे वे दंडी विरजानंद जी की ख्याति सुन चुके थे, अतः घर से निकलने के प्रायः १५ वर्ष पश्चात् वे विरजानंद जी से विद्याध्ययन करने के मथुरा आ गये।

स्वामी जी सं. १९१६ अथवा सं. १९१७ की कार्तिक शु. २ (यमद्वितीया) को मथुरा आये थे। उस दिन यहाँ यमुना–स्नान का बड़ा उत्सव हो रहा था, जिसके लिए हज़ारों स्नानार्थियों की भीड़ एकत्र थी। स्वामी जी संन्यासी के वेश में थे, और गेरुआ वस्त्र पहिने हुए थे। उनके पास दैनिक उपयोग की दो-एक वस्तुओं और कुछ पुस्तकों के अतिरिक्त और कोई सामान नहीं था। मथुरा आने पर वे नगर के बाहर रंगेश्वर महादेव के निकट की एक बगीची में ठहरे थे। फिर एक दिन सुयोग देख कर वे दंडी विरजानंद जी की सेवा में उपस्थित हो गये।

दंडी विरजानंद जी से विद्याध्ययन—उस काल में दंडी विरजानंद जी केवल आर्ष ग्रंथों का अध्ययन कराते थे। स्वामी दयानंद जी ने उनसे 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' पढ़ाने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। दंडी जी से स्वीकृति प्राप्त कर स्वामी जी अपने निवास और भोजन का प्रबंध करने लगे। उन्होंने विश्रामघाट पर श्री लक्ष्मीनारायण जी के मंदिर की एक कोठरी में रहने और दुर्गाप्रसाद खत्री नामक एक सज्जन से भोजन के लिए चना प्राप्त करने की व्यवस्था की थी। बाद में मथुरा के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी बाबा घराने के श्री अमरलाल जी द्विवेदी ने उनके भोजन और निवास का उचित प्रबंध कर दिया था। उसके लिए स्वामी जी जीवन पर्यंत उनका उपकार मानते रहे थे।

स्वामी जी विद्वान संन्यासी होते हुए भी एक साधारण छात्र की भाँति दंडी जी के विद्यालय में उपस्थित होते थे, और अत्यंत विनीत भाव से अध्ययन करते थे। उनका रहन-सहन आदर्श था, और उनकी गुरु–भक्ति अपूर्व थी। वे प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर और नित्य क्रिया से निवृत होकर गुरु जी के लिए यमुना नदी से जल लाते थे। फिर संध्योपासना कर अध्ययन के लिए बैठ जाते थे, और दोपहर तक पढ़ते रहते थे। उसके बाद वे दिन में एक बार भोजन कर फिर अध्ययन में लग जाते थे। इस प्रकार उन्होंने दंडी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य का गंभीर अध्ययन कर संस्कृत व्याकरण में पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी। ऐसा कहा जाता है, उन्होंने उस काल

उस काल के लोक-देवता असुर, नाग, यक्ष, मातृदेवी, पर्वतदेव और वृक्षदेव आदि थे। यक्ष-पूजा का उस काल में बड़ा प्रचार था। तत्कालीन बौद्ध और जैन साहित्य में अनेक शक्तिशाली यक्षों और यक्षिणियों के नाम मिलते हैं। प्रसिद्ध यक्षों के नाम उंबरदत्त, सुरंबर, मणिभद्र, भंडीर, शूलपाणि, सुरप्रिय, घंटिक, पूर्णभद्र थे तथा विख्यात यक्षिणियों के नाम कुंती, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, वेंदा, मघा, तिमिसिका थे[1]। यक्ष गण महा शक्तिशाली एवं धन के अधिष्ठाता माने जाते थे और यक्षिणियाँ परम सुंदरी तथा भय एवं कल्याण की दात्री समझी जाती थीं। यक्षराज कुबेर धन के देवता थे तथा उनकी पत्नी हारीती संतान की देवी थी। जन साधारण भय मिश्रित श्रद्धा के साथ उन सब की उपासना-पूजा किया करते थे।

अवैदिक धर्मो की विशेषता—उस युग में प्रचारित अवैदिक धर्मों की यह विशेषता थी कि उनके कारण धार्मिक जनता का नेतृत्व ऋषियों, याज्ञिकों और कर्मकांडी ब्राह्मणों के हाथों से निकल कर मुनियों, श्रमणों और भिक्षुओं के हाथों में चला गया था। उस कार्य में चारों वर्णों के वे प्रगतिशील व्यक्ति सम्मिलित थे, जो अपने जन्म से नहीं, वरन् गुण-कर्म-स्वभाव से समाज में उच्च स्थान के अधिकारी हुए थे। पहिले ब्राह्मण गृहस्थ में रहते हुए भी अपने जन्मजात वर्ण के कारण शेष तीनों वर्णों पर उच्चता प्राप्त करते थे; किंतु उन नये धर्मों के कारण समाज का नेतृत्व ऐसे विरक्त लोगों के हाथों में आ गया, जो अपनी घर-गृहस्थी छोड़ कर मानव समाज की सेवा में अपना जीवन अर्पित करना चाहते थे।

उन धर्मों के कारण वैदिक मान्यताओं में परिवर्तन होने लगा था। फलतः यज्ञों का महत्व कम हो गया; पशु-बलि की प्रथा में कमी आ गई; यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की मान्यता के प्रति अविश्वास होने लगा तथा सदाचार, त्याग, अहिंसा और तपस्या का महत्व बढ़ गया था[2]। सारांश यह कि अवैदिक धर्मों ने ऋषियों द्वारा उद्भूत वैदिक विचार-धारा के स्थान पर उस वैदिकेतर विचार-धारा को प्रवाहित करने में सहायता दी थी, जिसके प्रवर्त्तक मुनिगण थे। साधारणतया 'ऋषि' और 'मुनि' को समानार्थक समझा जाता है, किंतु प्राचीन काल में वे दोनों शब्द विभिन्न अर्थों के द्योतक थे। 'ऋषि का अर्थ है मंत्रद्रष्टा, जो वैदिक वाङ्मय में प्रचुरता से मिलता है। मुनि का अभिप्राय ज्ञानी, तपस्वी और विरक्त साधु से है। यह शब्द जैन ग्रंथों में बहुतायत से व्यवहृत हुआ है। पौराणिक काल में जब वैदिक और वैदिकेतर दोनों धाराओं का संगम हुआ; तब 'ऋषि' और 'मुनि' दोनों शब्द समानार्थी हो गये थे[3]।

अवैदिक धर्माचार्य और उनके धर्म-संप्रदाय—उस काल के अवैदिक धर्माचार्यों में अजित केशकम्बल, पूर्ण कस्सप, पवुध कच्चायन, संजय वेलट्ठिपुत्त, उद्दक रामपुत्त, अडार कालाम और मक्खलि गोसाल अधिक प्रसिद्ध थे। तत्कालीन धर्म-संप्रदायों की संख्या बौद्ध ग्रंथों में ६२ और जैन ग्रंथों में ३६३ बतलाई गई है[4]! इतने अधिक धर्म-संप्रदायों का होना संदेहास्पद मालूम होता है, फिर भी उनकी पर्याप्त संख्या जान पड़ती है। उनमें प्रमुख संप्रदाय निगंठ, आजीवक, परिव्राजक,

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १७

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ

(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ११

(४) दीघ निकाय, उत्तरायन सूत्र और सूत्र कृतांग देखिये।

में निरुक्तादि वेदांगों का भी ज्ञानोपार्जन किया था। वे प्रायः ३ वर्ष तक मथुरा में रहे थे। उन्होंने सं. १९२० में अपना अध्ययन समाप्त कर गुरु विरजानंद जी से विदा ली थी। उस समय उनकी आयु ४० वर्ष के लगभग थी।

वैदिक धर्म का पुनरुद्धार और 'आर्य समाज' की स्थापना—जिस समय स्वामी दयानंद जी मथुरा में अपने अध्ययन को पूर्ण करने में लगे हुए थे, उसी समय उन्होंने अपने जीवन का लक्ष निर्धारित कर लिया था। अध्ययन की समाप्ति पर दंडी जी से विदा लेकर वे उनके आदेशानुसार आर्ष ग्रंथों के प्रचार और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की महत्वपूर्ण योजना को कार्यान्वित करने में लग गये थे। उसके लिए पहिले अनार्ष ग्रंथों के बहिष्कार, विविध धर्म-संप्रदायों की वेद-विरुद्ध बातों के विरोध और जनता में व्याप्त पाखंड के खंडन करने की आवश्यकता थी। तदर्थ उन्होंने देश के विभिन्न स्थानों में भ्रमण किया, और विरोधियों से अनेक शास्त्रार्थ किये थे।

उनका प्रथम शास्त्रार्थ सं. १९२२ के आरंभ में धौलपुर में हुआ था। फिर वे जयपुर, कृष्णगढ़, आगरा आदि स्थानों में शास्त्रार्थ और प्रचार करते हुए सं. १९२३ के कार्तिक मास में मथुरा आये थे। उस समय उन्होंने दंडी जी की सेवा में उपस्थित होकर अपने कार्य से उन्हें अवगत कराया था। दंडी जी को उससे स्वभावतः ही संतोष और आनंद प्राप्त हुआ था। वह उनकी अपने गुरुदेव से अंतिम भेंट थी। मथुरा से वे मेरठ होते हुए हरिद्वार गये थे। वहाँ सं. १९२४ के कुंभोत्सव के अवसर पर उन्होंने 'पाखंड खंडिनी पताका' फहराते हुए वेद विरुद्ध मतों का बड़ी प्रबलता से खंडन किया था। कुंभ की समाप्ति पर वे कई स्थानों में शास्त्रार्थ और प्रचार करते हुए सं. १९२६ में पहिले कानपुर और फिर काशी गये थे। कानपुर में उन्होंने हलधर ओझा को पराजित किया था। काशी में उनका शास्त्रार्थ वहाँ के अनेक दिग्गज विद्वानों से हुआ; किंतु उन्होंने उन सब को निरुत्तर कर दिया था। उन सब स्थानों में सफलता प्राप्त कर वे सं. १९३० के फाल्गुन मास में पुनः मथुरा आये थे। उस समय तक दंडी जी का देहावसान हो चुका था। उस काल में ब्रज के विद्वानों में श्री रंगदेशिक स्वामी सर्वोपरि थे। वृंदावन में श्री रंग जी के मंदिर का निर्माण कराने से उनके यश की व्यापक प्रसिद्धि हो गई थी। स्वामी दयानंद ने उनसे मूर्ति-पूजा की वैदिकता पर शास्त्रार्थ करना चाहा था। उस समय श्री रंगदेशिक स्वामी अत्यंत वृद्ध और रुग्ण थे, अतः वह शास्त्रार्थ नहीं हो सका था। उन सब खंडनात्मक कार्यों में उनके १० वर्ष लग गये; किंतु वे अवैदिक मान्यताओं की अप्रमाणिकता और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की आवश्यकता सिद्ध करने में बहुत-कुछ सफल हुए थे।

उस खंडनात्मक कार्यक्रम के पश्चात् वे ग्रंथ-निर्माण और 'आर्य समाज' की स्थापना आदि सर्जनात्मक कार्यों में जुटे थे, जिनमें उनके जीवन के शेष १० वर्ष लग गये। उनके ग्रंथों में सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेद भाष्य भूमिका तथा ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के भाष्य विशेष महत्पूर्ण हैं। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना सं. १९३१ में हुई थी। इसमें उन्होंने विभिन्न धर्म-संप्रदायों की वेद विरुद्ध मान्यताओं कीव्र ती आलोचना करते हुए अपने धर्मसंबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। 'संस्कार विधि' उनके मत की धार्मिक संहिता है, जिसकी रचना सं. १९३२ के कार्तिक मास में हुई थी। 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका', 'ऋग्वेद भाष्य' और 'यजुर्वेद भाष्य' स्वामी जी के अपार वैदिक ज्ञान के परिचायक महान् ग्रंथ हैं। उनकी रचना सं. १९३४ से सं. १९३९ तक की कालावधि में हुई थी।

स्वामी दयानंद जी के सर्जनात्मक कार्यों में सर्वोपरि और उनके यशस्वी जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि 'आर्य समाज' है। इस धार्मिक संस्था की स्थापना सं. १९३२ की चैत्र शु. ५ को बंबई में हुई थी; किंतु इसका वास्तविक रूप सं. १९३४ में लाहौर में निर्मित हुआ था। तभी इसके मूल उद्देश्य के रूप में १० सार्वभौम नियमों का निर्धारण किया गया था। स्वामी दयानंद जी ने प्राचीन वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से इसे स्थापित किया था। 'आर्य' शब्द का अर्थ है 'श्रेष्ठ'। स्वामी जी इस सस्था द्वारा श्रेष्ठ मानव समुदाय का निर्माण करना चाहते थे। उसी निमित्त से उन्होंने देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन करने का अनुपम प्रयास किया गया था।

स्वामी जी के सिद्धांत—'वेद' अपौरुपेय होने के कारण परम पवित्र और एक मात्र प्रमाण ग्रंथ है। अन्य सभी धर्म-ग्रंथ मानव प्रणीत होने के कारण अप्रामाणिक है। वेदाध्ययन करने का अधिकार स्त्रियों और शूद्रों को भी है। वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार है, जन्मानुसार नहीं। वर्णों में ऊँच-नीच की भावना कल्पित है; सभी वर्ण समान रूप से समाज के उपयोगी अंग हैं। जाति-भेद अमान्य है। एक मात्र ईश्वर ही उपास्य है; अन्य सभी देवी-देवता उपासना योग्य नहीं हैं। मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, पशु-वलि, मृतक श्राद्ध, तंत्र-मंत्र, फलित ज्योतिष, मांसाहार त्याज्य हैं। स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान उन्नति कर सकती हैं; उनका पुनर्विवाह किया जा सकता है। वाल विवाह और वृद्ध विवाह हानिकारक हैं। वालक-वालिकाओं को वयष्क होने तक अनिवार्य रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गो-रक्षा और पशु-पालन आवश्यक हैं। आर्य भाषा (हिंदी) भारत की राष्ट्रभाषा है। स्वराज्य, सुराज्य और स्वदेशी के प्रति सबकी श्रद्धा होनी चाहिए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उपयोगी है। स्वामी जी के इन सब सिद्धांतों का प्रचार 'आर्य समाज' द्वारा किया जाता है।

स्वामी जी का अंतिम काल—स्वामी दयानंद जी के धार्मिक विचार अत्यंत उपयोगी होते भी अत्यंत क्रांतिकारी थे। उनके कारण निहित स्वार्थ वाले अनेक व्यक्ति उनके विरोधी हो गये थे। कुछ दुष्टों ने कई बार उनकी हत्या करने का प्रयास किया, किंतु उन्हें विफल होना पड़ा था। अंत में उनके एक सेवक ने दुष्टों के प्रलोभन में आ कर उन्हें पिसा हुआ कांच दूध में मिला कर पिला दिया, जिससे उनका प्राणांत हो गया था। उनका देहावसान सं. १९४० की कार्तिक अमावश (३० अक्टूबर, सन् १८८३) को अजमेर में हुआ था। उस समय दीपावली के कारण सभी स्थानों में असंख्य दीप जल रहे थे; किंतु भारत का सर्वाधिक प्रकाशमान दीपक सहसा बुझ गया था !

ब्रज में स्वामी दयानंद के सिद्धांतों का प्रचार—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स्वामी दयानंद जी अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरांत विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए अपने सिद्धांतों के प्रचार और विरोधियों से शास्त्रार्थ करने में वड़ी तत्परता से लग गये थे। उसी प्रसंग में वे सं. १९३० में आगरा और मथुरा भी आये थे। मथुरा आने पर वे पहिले वृंदावन गये, और वहाँ पर उन्होंने रामानुज संप्रदाय के आचार्य रंगदेशिक स्वामी को मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। रंगदेशिक स्वामी जी के रुग्ण होने के कारण शास्त्रार्थ तो नहीं हुआ; किंतु उस अवसर पर स्वामी दयानंद ने वृंदावन और मथुरा में कई व्याख्यान देकर अपने युगांतरकारी सिद्धांतों का प्रचार किया था। उनके व्याख्यानों से यहाँ पर बड़ी हलचल मच गई थी। उनके क्रांतिकारी विचारों के कारण, विशेष कर मूर्ति-पूजा संबंधी उनके दृष्टिकोण से यहाँ के सैकड़ों व्यक्ति उनसे रुष्ट हो गये थे। उनके अनेक सहपाठी भी इसी कारण उनका विरोध करने लगे। उस

समय कुछ लोगों ने स्वामी जी के विरुद्ध ऐसा विपाक्त वातावरण बना दिया था कि यहाँ उनका सुरक्षा पूर्वक रहना भी कठिन हो गया था ! किंतु उनके एक सहपाठी गो. रमणलाल जी ने मथुरा के बंगालीघाट स्थित 'बहूजी के बाग़' में उन्हें सुरक्षित रूप में ठहरा कर उनके आतिथ्य-सत्कार की समुचित व्यवस्था की थी। उनकी वह उदारता आश्चर्यजनक कही जा सकती है।

स्वामी जी के क्रांतिकारी विचारों से जहाँ अनेक रूढ़िवादी व्यक्ति उनसे रुष्ट हुए थे, वहाँ कुछ प्रगतिशील नवयुवक उनके अनुगामी भी बन गये थे। वृंदावन के सुधारप्रिय धर्माचार्य और सुविख्यात साहित्यकार गो. राधाचरण जी उस समय किशोरावस्था के बालक थे; किंतु उन पर स्वामी दयानंद जी के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। उसी से वे संभवत: विधवा–विवाह जैसे क्रांतिकारी मत के समर्थक हुए थे। मथुरा में जिन थोड़े से व्यक्तियों पर स्वामी जी के विचारों का अनुकूल प्रभाव पड़ा था, उनमें एक गुजराती सज्जन दयाशंकर दुवे का नाम उल्लेखनीय है। वे अपने कुछ साथियों के साथ यहाँ पर स्वामी के सिद्धांतों का प्रचार करने लगे थे। मथुरा-वृंदावन से अधिक आगरा के व्यक्ति स्वामी जी के विचारों से प्रभावित होकर उनके अनुगामी हुए थे। उन सबके कारण ब्रज के विविध स्थानों में 'आर्य समाज' की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण बन गया था।

ब्रज में 'आर्य समाज' की स्थापना और उसकी गति-विधि—स्वामी दयानंद जी के जीवन–काल में ही जिन कतिपय स्थानों में 'आर्य समाज' की स्थापना हुई थी, उनमें ब्रजमंडल के आगरा और मथुरा नगर भी हैं। आगरा में सं. १९३६ में और मथुरा में सं. १९३८ में विधि-पूर्वक आर्य समाज स्थापित हो गई थी। आगरा में इसकी गति–विधि मथुरा की अपेक्षा अधिक रही है, और वहाँ काम भी बहुत हुआ है; किंतु मथुरा निवासियों की परंपराप्रिय धार्मिक अभिरुचि के कारण यहाँ के कार्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

श्री दयाशंकर दुवे और उनके कतिपय साथियों के प्रयत्न से मथुरा में आर्य समाज की स्थापना सं. १९३८ की फाल्गुन कृ. ५ को हुई थी। इसके आरंभिक कार्यकर्ताओं में श्री दयाशंकर दुवे, रामनारायण भटनागर, केशवदेव चतुर्वेदी और नानकचंद जी के नाम मिलते हैं। आर्य समाज की साप्ताहिक बैठकें उस काल में उक्त कार्यकर्ताओं के निवास स्थानों पर होती थीं। इसका प्रथम वार्षिकोत्सव सं. १९४० की ज्येष्ठ शु. २ को मुहल्ला लाल दरवाजा में, द्वितीय वार्षिकोत्सव सं. १९४१ की चैत्र कृ. २ को कुशक गली में और तृतीय वार्षिकोत्सव सं. १९४३ की चैत्र शु. ७ को मुहल्ला सतघरा की जबलपुर वाली कुंज में हुआ था। इसके आरंभिक अर्थ–सहायकों में सर्वश्री राधेलाल शर्मा, कृष्णलाल नागर और क्षेत्रपाल शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। राधेलाल शर्मा की चेष्टा से आर्य समाज भवन के लिए भूमि प्राप्त हुई थी, और नागर जी ने आरंभिक कमरा बनवाया था। इस प्रकार सं. १९४५ की माघ शु. ८ को मथुरा में आर्य समाज का अपना निजी स्थान हो गया, जो इसकी गति-विधियों का प्रमुख केन्द्र रहा है। कृष्णलाल नागर के पुत्र मोहनलाल नागर ने भवन में गैलरी बनवाई थी, और अपनी छत्ता बाजार वाली जायदाद समाज को अर्पित की थी। श्री क्षेत्रपाल शर्मा ने सतघरा मुहल्ला का अपना एक मकान इसे प्रदान किया था।

मथुरा में 'स्त्री समाज' की स्थापना सं. १९७० में और 'आर्य कन्या पाठशाला' की स्थापना सं. १९७१ में हुई थी। पाठशाला की आरंभिक व्यवस्था श्री रमणलाल गुप्त ने बड़ी लगन के साथ की थी। उनके पश्चात् श्री लक्ष्मणप्रसाद गुप्त ने जीवन पर्यंत इसका संचालन किया था। उनके कार्य काल में इसकी बड़ी उन्नति हुई थी। इस समय यह कन्या शिक्षा का प्रमुख केन्द्र है।

आर्य समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों में आरंभ से अब तक जिन सज्जनों ने योग दिया है, उनमें पूर्वोक्त महानुभावों के अतिरिक्त सर्वश्री परमानंद, दामोदरदास दानत्यागी, नंदकुमार देव शर्मा, डा० मन्नालाल, सोमदेव शर्मा, नंदनसिंह, प्रभुदयाल ठेकेदार, ताराचंद शर्मा, देवीचरण ब्रह्मचारी, विद्यासागर वैदिक, रामनारायण टाल वाले, रामनाथ मुख्तयार, करणसिंह छोंकर, माताप्रसाद शर्मा, ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम', रमेशचंद्र एडवोकेट और ठाकुर शेरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम' ने चौक आर्य समाज और उसके अंतर्गत डी. ए. वी. स्कूल की स्थापना तथा 'तपोभूमि' पत्रिका एवं विविध ग्रंथों के प्रकाशन द्वारा समाज की बड़ी सेवा की है।

वृंदावन का गुरुकुल—स्वामी दयानंद जी की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए आर्य समाज ने कई स्थानों पर 'गुरुकुल' की स्थापना की है। स्वामी दर्शनानद जी की चेष्टा से एक गुरुकुल सं. १९५६ में सिकंदरावाद में स्थापित किया गया, जो सं. १९६२ मे फर्रुखावाद ले जाया गया था। वाद में उसका प्रवंध प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने सँभाल लिया था। श्री नारायण स्वामी और कुँवर हुक्मसिंह के प्रयत्न से उसे सं. १९६८ में वृंदावन मे स्थानातरित कर दिया गया। यहाँ उसके लिए भूमि प्राप्त करने में कुछ कठिनाई हुई थी; किंतु राजा महेन्द्रप्रताप ने एक वाटिका प्रदान कर उसे हल कर दिया था। इस प्रकार यह गुरुकुल सं. १९६८ से अव तक ब्रज में प्राचीन शिक्षा प्रणाली का आदर्श उपस्थित कर रहा है। इसके मुख्याधिष्ठता, आचार्य और स्नातकों में जो अनेक गण्यमान्य विद्वान हुए है; उनमें सर्वश्री नारायण स्वामी, गंगाप्रसाद जज, रामावतार शर्मा, आचार्य वृहस्पति, आचार्य विश्वेश्वर, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डा० विजयेन्द्र और जयकुमार मुद्गल के नाम उल्लेखनीय हैं।

दयानंद जन्म शताब्दी—मथुरा में आर्य समाज का एक विशाल समारोह स्वामी दयानंद की जन्म शताब्दी के अवसर पर सं. १९८१ में हुआ था। उसमें देश भर के प्रमुख आर्य समाजी नेता, संन्यासी, विद्वान और दर्शक गण वहुत वड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। मथुरा के लिए वह अपने ढंग का एक अभूतपूर्व धार्मिक आयोजन था। उसके अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानंद जी थे। महात्मा नारायण स्वामी कार्यवाहक अध्यक्ष और समस्त आयोजन के संचालक थे। विशिष्ट अतिथियों में ला. लाजपतिराय जी, भाई परमानंद जी और महात्मा हंसराज जी जैसे महानुभाव थे।

दयानंद दीक्षा शताब्दी—'जन्म–शताब्दी' के ३५ वर्ष पश्चात् संवत् १९१६ में 'दीक्षा–शताब्दी' का वृहत् समारोह भी मथुरा में हुआ था। स्वामी दयानंद जी की शिक्षा–दीक्षा और गुरु विरजानंद जी के विद्यालय का ऐतिहासिक स्थल होने के कारण मथुरा नगर उसके लिए सर्वथा उपयुक्त स्थान था। वह धार्मिक समारोह चार दिन (दिनांक २४ से २७ दिसंबर सन् १९५९) तक वड़े विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न हुआ था। उसमें गण्यमान्य संन्यासी, विद्वान नेता और दर्शक गण 'जन्म–शताब्दी' से भी अधिक संख्या में उपस्थित हुए थे। उस अवसर पर अनेक महत्वपूर्ण समारोह हुए थे। उनमें 'विरजानंद वैदिक अनुसंधान भवन का' शिलान्यास भी था; जो राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी द्वारा किया गया था। मथुरा के जिस स्थल पर दंडी विरजानंद जी का विद्यालय था, और जहाँ स्वामी दयानंद जी की शिक्षा–दीक्षा हुई थी, वहीं पर यह अनुसंधान भवन वनाया गया है। इन स्थान को प्राप्त करने में श्री कर्णसिंह छोंकर ने वड़ा प्रयत्न किया था। यह भवन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आर्थिक सहायता से निर्मित हुआ है। 'दीक्षा शताब्दी' के आयोजन और 'अनुसंधान भवन' के निर्माण में मथुरा के जिन उत्साही सज्जनों का योग रहा है, उनमें श्री रमेशचंद्र एडवोकेट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लोक देवोपासना

लोक देवताओं की मान्यता—व्रज के जन साधारण और ग्रामीण समाज में लोक देवताओं की मान्यता अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक रही है। जब से व्रज में राधा–कृष्णोपासना का प्रचलन हुआ है, तब से इन लोक देवताओं की मान्यता में पहिले की अपेक्षा कमी आ गई है; फिर भी किसी न किसी रूप में उनके प्रति आस्था बनी हुई है। व्रज के प्राचीन लोक–देवताओं में यक्षों और नागों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, व्रज के कई प्राचीन धर्मों से इनका घनिष्ट संबंध रहा है। आधुनिक काल में यक्षों की मान्यता तो 'जखैया' के नाम से व्रज के दो-एक स्थानों में ही दिखाई देती है; किंतु नागों की मान्यता सर्प-पूजा के रूप में प्रचुरता से प्रचलित है। इस समय व्रज में सर्प-पूजा का जो रूप विद्यमान है, उसका कुछ उल्लेख यहाँ किया जाता है।

'नाग पंचमी' का लोक-त्यौहार और सर्प–पूजा—व्रजमंडल की सामान्य महिलाएँ और ग्रामीण नारियाँ श्रावण शु. ५ को 'नाग पंचमी' का त्यौहार मनाती हैं। उस दिन वे अपने घरों की भीत पर कोयले के घोल से सर्पों के चिह्न बनाती हैं, और उनकी पूजा करती हैं। उस अवसर पर वे लोक कहानी भी कहती हैं, जिनमें नागों और सर्पो की अलौकिक शक्तियों का कथन किया जाता है। उस दिन व्रज के विभिन्न नाग-स्थानों पर नारियाँ नाग देवता की पूजा करती हैं, सर्पो को दूध पिलाती हैं और उनकी बाँवियों (बिलों) पर अक्षत-पुष्पादि चढ़ाती हैं। उस अवसर पर वे सामूहिक रूप से नाग देवता के लोक गीतों का गायन भी करती हैं। मथुरा के नाग-स्थानों में 'सप्त समुद्री कूप' और 'नाग टीला' प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहे हैं।

अन्य लोकप्रसिद्ध देव-देवियाँ—व्रज के लोकप्रसिद्ध देवों में नागों के अतिरिक्त 'कूआ वारो देवता', बूढ़ो बाबू, जाहरपीर, लांगुरिया आदि हैं। व्रज की लोक देवियों में मनसा देवी, शीतला माता, गणगौर और सांझी आदि हैं। इनमें से शीतला, गणगौर और सांझी से संबंधित कई लोकोत्सव और लोक-त्यौहार व्रज में होते हैं, अतः इनका संक्षिप्त वृत्तांत यहाँ लिखा जाता है।

शीतला माता का लोकोत्सव—व्रज की लोक देवियों में शीतला माता की अधिक मान्यता है। इसकी पूजा का प्रचार प्रायः अशिक्षित और ग्रामीण महिलाओं में है। शीतला अष्टमी—चैत्र कृ. ८ को इस लोक देवी का पूजन विशेष रूप से किया जाता है। आगरा में शीतला देवी का लोक मेला आषाढ़ महीने के चारों सोमवार को होता है। उन दिनों व्रज की बहुसंख्यक महिलाएँ आगरा जा कर शीतला माता और उसके पुत्र 'कूआ वारो देवता' का पूजन करती हैं। यह पूजन उस परंपरागत लोक विश्वास के कारण किया जाता है कि शीतला माता बच्चों को स्वस्थ रखेगी, और उन्हें 'माता' रोग (चेचक) से बचावेगी। जब से राजकीय स्वास्थ्य विभाग की सतर्कता से व्रज में चेचक रोग में कमी हुई है, तब से इससे संबंधित लोक विश्वास भी शिथिल हो गया है।

'गणगौर' का लोक-त्यौहार—चैत्र के प्रथम पखवाड़े में व्रज में 'गणगौर' का लोक-त्यौहार मनाया जाता है। यह कुमारी कन्याओं के खेल और नव वधुओं के पूजन का लोकोत्सव है। इसमें कुमारी कन्याएँ सुयोग्य वर की ओर नववधूएँ चिर सौभाग्य की कामना से गणगौर माता (गौरी पार्वती) का पूजन करती हैं।

'सांझी' का लोक-समारोह—आश्विन मास के प्रथम पखवाड़े में यह समारोह होता है। इसे ब्रज में धार्मिक उत्सव, लोक त्यौहार और कलात्मक प्रदर्शन आदि कई रूपों में सम्पन्न किया जाता है। 'सांझी' भी ब्रज की एक लोक देवी है। सांझ (संध्या) के समय पूजी जाने के कारण कदाचित इसका यह नाम पड़ा है। 'सांझी' संभवतः गौरी पार्वती का ही एक लोक प्रचलित रूप है। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त कवियों ने सांझी की लोक-पूजा को राधा-कृष्णोपासना से जोड़ दिया है। इसके कलात्मक रूप की झांकी ब्रज के मंदिर-देवालयों में मिलती है, और इसका भक्ति पूर्ण कथन ब्रजभाषा काव्य में हुआ है। ब्रज के मंदिरों और सांस्कृतिक स्थलों में सांझी का प्रदर्शन सूखे रंगों तथा कागज़ के 'सांचों' (खाकों) द्वारा अत्यंत कलात्मक ढंग से किया जाता है। 'सांझी' का लोकोत्सव ब्रज की बालिकाओं का खेल है। इससे उनका मनोरंजन होता है, और लोक कला के प्रति उनकी अभिरुचि होती है। पितृ पक्ष के आते ही ब्रज की बालिकाएँ घर की दीवारों पर गोबर, फूल, पन्नी आदि से सांझी का चित्रण करती हैं, जो पूरे १५ दिनों तक नित्य नये रूप में किया जाता है। बालिकाओं के अतिरिक्त बालक भी सूखे रंग और कागज़ के सांचों से सांझी बनाते हैं।

विशिष्ट धार्मिक संस्थाएँ

उदासीन कार्ष्णि आश्रम—

परंपरा, नाम और केन्द्र—यह आश्रम कृष्णोपासक उदासीन संन्यासियों का है; जिसकी संत-परंपरा में स्वामी बालानंद जी, पूर्णानंद जी, ज्ञानदास जी, गोपालदास जी, कृष्णानंद जी और हरिनामदास जी आदि अनेक महात्मा हुए हैं। कृष्णोपासक होने के कारण ये 'कार्ष्णि' कहलाते हैं; और उनमें से अधिकांश पंजाबी एवं पश्चिमोत्तर प्रदेशीय होते रहे हैं। इनका प्रधान केन्द्र महावन के निकटवर्ती रमणरेती का प्राचीन धार्मिक स्थल है। यहाँ के आश्रम में निवास करने वाले संत-महात्माओं ने श्री रमणविहारी जी की सेवा, कीर्तन-भजन, गो-रक्षा और साधु-सत्कार में अपने जीवन को अर्पित कर रखा है। इस आश्रम के संतों में स्वामी गोपालदास जी और स्वामी हरिनामदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

स्वामी गोपालदास जी—उनका जन्म पश्चिमोत्तर सीमांत के बगड़ा ग्राम निवासी एक सूरी खत्री परिवार में सं. १६१६ की फाल्गुन शु. ३ को हुआ था। उनका आरंभिक नाम भगवान-दास था, किंतु संन्यासी होने पर वे गोपालदास के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका विवाह हुआ था, किंतु वे कुछ काल तक गृहस्थ रहे थे; किंतु युवावस्था में ही विरक्त हो गये थे। अपने पिता जी का देहावसान होने के अनंतर वे सं. १६४१ के आरंभ में तीर्थ-यात्रा करने को घर से चल दिये थे; और फिर वापिस नहीं गये। वे हरिद्वार होते हुए मथुरा आये; और यहाँ श्री द्वारकाधीश जी के मंदिर में उनकी भेंट कार्ष्णि स्वामी ज्ञानदास जी से हुई थी। उन्होंने स्वामी से संन्यासाश्रम की दीक्षा लेना चाहा; किंतु उन्होंने इनकी युवावस्था के कारण निषेध कर दिया। फिर अधिक आग्रह करने पर उन्होंने वैशाख शु. ३ (अक्षय तृतीया) को इन्हें रमणरेती के आश्रम में संन्यास की दीक्षा दी थी।

धर्म-साधना और ग्रंथ-रचना—वे आरंभ से ही धार्मिक रुचि के थे; किंतु संन्यासी होने पर तो उन्होंने अपने जीवन को ही धर्म-साधना, त्याग-तपस्या, भगवत्-सेवा और ग्रंथ-रचना के हेतु अर्पित कर दिया था। उन्होंने रमणरेती के मंदिर में रमणविहारी जी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी, और आश्रम की उन्नति में योग दिया था। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में ग्रंथ-रचना भी की थी। उनके संस्कृत ग्रंथों में 'कार्ष्णि कंठाभरण' और ब्रजभाषा ग्रंथों में 'गोपाल विलास'

उल्लेखनीय हैं। उनका प्रमुख ग्रंथ 'गोपाल विलास' है, जिसकी रचना व्रजभाषा काव्य में, दोहा–चौपाई छंदों से हुई है। इसमें श्रीमद्भागवत के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का कथन किया गया है। इसकी भाषा–टीका स्वामी हरिनामदास और स्वामी कृष्णानंद ने की है। यह ग्रंथ मूल और सटीक दोनों रूपों में छपा हुआ मिलता है। कार्ष्णि भक्त जनों में इसके पठन–पाठन और कथा–प्रवचन का बड़ा प्रचार है।

शिष्य-समुदाय और देहावसान—स्वामी गोपालदास जी के अनेक शिष्य और भक्त थे, जिनमें स्वामी कृष्णानंद जी और स्वामी हरिनामदास जी प्रमुख थे। उनके कुछ श्रद्धालु भक्त कामवन के निकटवर्ती जयश्री नामक गाँव के निवासी थे। उनकी प्रार्थना पर स्वामी गोपालदास जी प्रायः प्रति वर्ष शीत काल में जयश्री में निवास करते थे। सं. १९७९ के शीत काल में जब वे जयश्री में थे, तब पौष शु. ६ को उनका देहावसान हो गया था। उनके मृतक शरीर को सजे हुए विमान में विराजमान कर मथुरा लाया गया था, और यहाँ के ध्रुवघाट पर उन्हें जल–समाधि दी गई थी। उनके शिष्य कृष्णानंद जी का देहावसान सं. २००६ की चैत्र शु. २ को हुआ था।

स्वामी हरिनामदास जी—वे उच्च कोटि के भक्त, श्रेष्ठ विद्वान और भजनानंदी महात्मा थे। उन्होंने कार्ष्णि आश्रम की बड़ी उन्नति की थी। वे स्वामी गोपालदास जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्होंने उनके ग्रंथ 'गोपाल विलास' की टीका स्वामी कृष्णानंद के सहयोग से की थी; और उसे प्रकाशित कर प्रचारित किया था। उनके अनेक शिष्य और बहुसंख्यक प्रशंसक थे, जो विविध प्रकार से उनकी सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। उनका पंजाब प्रांत में अच्छा प्रभाव था। उनके पंजाबी शिष्यों की सहायता से आश्रम में भजन-कीर्तन, साधु-सेवा और उत्सव-समारोहों की समुचित व्यवस्था हुई थी। उनके एक व्रजवासी शिष्य ला. मदनमोहन ने श्री रमण-विहारी जी के मंदिर का पुनर्निर्माण कराया था। स्वामी जी चमत्कारी महात्मा थे। उनके कारण यह आश्रम व्रज का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान हो गया है। उनका देहावसान गत वर्ष हुआ था।

भगवान् भजनाश्रम—

उद्देश्य और स्थापना—इस संस्था का उद्देश्य व्रज में भगवद्भजन का प्रचार और यहाँ की अनाथ एवं विधवा महिलाओं के भरण–पोषण में उनकी सहायता करना है। इसकी स्थापना सर्वश्री रामकरनदास बेरीवाल, दुर्गाप्रसाद बेरीवाल और गनपतिराय चिड़ीवाल आदि मारवाड़ी सज्जनों ने सं. १९७१ में की थी; किंतु बाद में नवलगढ़ निवासी श्री जानकीदास जी पाटोदिया ने इसे वास्तविक रूप प्रदान किया था। उन्होंने अपनी कई लाख रुपये की संपत्ति और अपना शेष जीवन इस संस्था को अर्पित कर दिया था।

कार्य-विधि और संचालन—इसका प्रधान केन्द्र वृंदावन में है; और इसकी ४ शाखाएँ वृंदावन में, २ गोवर्धन–राधाकुंड में तथा १ मथुरा में है। इनमें प्रायः १,५०० महिलाएँ प्रति दिन भगवद्भजन करती हैं। उन्हें ८–९ घंटे भजन करना होता है, जिसके लिए प्रत्येक महिला को ४० पैसे का अन्न अथवा नक़द प्रति दिन के हिसाब से सहायता रूप में दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें समय–समय पर कंबल, रजाई, धोती, चदरा आदि भी दिये जाते हैं। इस संस्था द्वारा 'ऋषि जीवन' नामक एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है, जिसका उद्देश्य जनता में धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना का प्रचार करना है। इसका वार्षिक व्यय ३ लाख के लगभग है; जिसकी पूर्ति स्थायी कोष के व्याज से और मारवाड़ी सेठों की सहायता से होती है। इसका संचालन ५१ सदस्यों की एक प्रबंधकारिणी समिति द्वारा किया जाता है।

रामाश्रम सत्संग—

प्राकट्य और सिद्धांत—यह एक नवीन धार्मिक पंथ है, जिसका प्राकट्य श्री रामचंद्र जी नामक एक संत ने फतहगढ़ में किया था। उन्हीं के नाम पर इसे 'रामाश्रम सत्संग' कहते हैं। इसकी साधना योगाश्रयी है; किंतु इसमें योग की कोई जटिलता और गूढ़ता नहीं है। इसका स्वरूप राधास्वामी पंथ से मिलता हुआ है; किंतु इसके सिद्धांत उससे भी अधिक सरल और सुगम हैं। इसकी साधना के संबंध में इसके प्रमुख प्रचारक का दावा है,—'इसमें न तो घर–वार छोड़ने की आवश्यकता है, न अपना कारोवार त्यागने की जरूरत है। निर्वल और सवल, वृद्ध और युवा, स्त्री और पुरुप सभी इसको वड़ी आसानी से कर सकते हैं। इसके अभ्यास के लिए केवल १५-२० मिनिट सुवह व शाम देने की आवश्यकता है। यह प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति का मार्ग है। इसमें न आसन है, न प्राणायाम है, न जप है, और न तप है। भक्त, योगी, ज्ञानी कोई भी इसे कर सकता है। इसमें किसी के धार्मिक विश्वास को छुड़ाया नहीं जाता, वल्कि उसी में उसे आगे वढ़ा दिया जाता है[1]।' इसमें गुरु–शिष्य का संवंध भी नहीं माना जाता है; वल्कि सवको वरावर का मित्र अथवा भाई समझा जाता है।

श्री रामचंद्र जी—इस पंथ के प्रवर्त्तक श्री रामचंद्र जी का जन्म सं. १९३० में कायस्थ कुल में हुआ था। उनके पूर्वज भवगांव जि. मैनपुरी के निवासी थे, किंतु उनके पिता फर्रुखावाद की नगरपालिका के सुपरिण्टेण्डेण्ट हुए थे। वालक रामचंद्र ने उसी स्थान पर शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने पहिले फारसी और फिर अंगरेजी पढ़ी थी। उनके पिता का देहावसान होने पर उन्होंने फतहगढ़ की कलक्टरी में नौकरी कर ली थी; और अंत में आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद से पेन्शन ली थी। उन्हें साधना की प्रेरणा एक ऐसे मुसलमान संत से मिली थी, जो हिंदू–मुसलमान का भेद नहीं मानते थे, और सवसे समान भाव से प्रेम करते थे। श्री रामचंद्र जी का भी वैसा ही व्यवहार था। वे सभी जिज्ञासुओं के प्रति समान रूप से स्नेह-भाव रखते थे। वे न तो किसी को शिष्यत्व की दीक्षा देते थे, और न कोई उपदेश देते थे; वल्कि वात-चीत और सत्संग में ही जिज्ञासुओं को ज्ञान की प्राप्ति करा देते थे! उनका देहावसान सं. १९८८ में फतहगढ़ में हुआ था, जहाँ उनकी समाधि है। उन्हें गुरु मानने वाले वहुसंख्यक व्यक्तियों मे डा० चतुर्भुजसहाय जी प्रमुख थे। उन्ही ने इस पंथ का अधिक प्रचार किया था।

श्री चतुर्भुजसहाय जी—उनका जन्म एटा जिला के एक कुलश्रेष्ठ कायस्थ परिवार में सं. १९४० की कार्तिक सु. ४ को हुआ था। उनके माता–पिता धर्मप्राण व्यक्ति थे; अतः उनमें भी आरंभ से ही धार्मिक भावना जागृत हो गई थी। उन्हें हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंगरेजी का सामान्य ज्ञान था। शिक्षा–प्राप्ति के अनंतर वे डाक्टर हो गये थे; जिससे उन्हें दुखी जनता की सेवा करने का अच्छा अवसर मिला था।

उनकी ससुराल फतेहगढ़ में थी; जहाँ दैव योग से एक वार प्लेग का प्रकोप हुआ था। डा. चतुर्भुजसहाय जी वहाँ चिकित्सा कार्य से गये हुए थे। उसी स्थान पर उनकी श्री रामचंद्र जी से भेंट हुई थी। वे उनकी आत्म–शक्ति और आध्यात्मिक ज्ञान से प्रभावित होकर उनके परम भक्त वन गये थे। उन दोनों की आकृति–प्रकृति, रहन–सहन और आचार–विचार में इतनी समानता थी कि वे सगे भाई से जान पड़ते थे। श्री रामचंद्र जी भी उन पर छोटे भाई

(१) डा. चतुर्भुजसहाय कृत 'हमारी योग साधना', पृष्ठ २८–२९

के समान स्नेह करते थे। उन्होंने इन्हें साधना का रहस्य बतला कर सुगमता पूर्वक आत्मज्ञानी बना दिया था। इन्हें सर्व प्रकार से योग्य समझ कर उन्होंने आदेश दिया कि वे उनकी शिक्षा को जनता में प्रचारित करें।

धर्म-प्रचार और ग्रंथ-रचना—गुरु श्री रामचंद्र जी की आज्ञा से डा. चतुर्भुजसहाय जी ने अपना समस्त जीवन धर्म-प्रचार और धार्मिक ग्रंथों की रचना में लगा दिया था। उन्होंने विभिन्न स्थानों में भ्रमण कर अध्यात्म विद्या के गूढ रहस्य को ऐसी सुगमता से प्रचारित किया कि साधारण व्यक्ति भी उससे परिचित होने लगे। इस प्रकार उनके मत का व्यापक प्रचार हो गया। जिज्ञासुओं की सुविधा के लिए प्रति वर्ष धार्मिक समारोह किये जाते थे, जिन्हें 'भंडारा' कहते हैं। इन भंडारों में विविध स्थानों के व्यक्ति पर्याप्त संख्या में एकत्र होकर 'सत्संग' करते है, और साधना का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। डा० चतुर्भुजसहाय जी की रची हुई अनेक पुस्तकें हैं। इनमें धर्म-साधना से संबंधित विविध विषयों का सरल भाषा में स्पष्टीकरण किया गया है। सं. १९९० में उन्होंने 'साधन' नामक एक मासिक पत्र निकाला, जो अभी तक बराबर प्रकाशित हो रहा है।

मथुरा-आगमन और देहावसान—डा.चतुर्भुजसहाय जी का अधिकाश जीवन एटा में व्यतीत हुआ था। उसी स्थान से वे प्रचार और सत्संगादि धार्मिक कार्यों का संचालन करते थे। उक्त स्थान पर यातायात और संचार के साधनों की सुविधा नहीं थी; अतः उन्हें और उनसे मिलने के लिए आने वालों को बड़ी असुविधा होती थी। इसलिए वे एटा छोड़ कर सं. २००८ में मथुरा आ गये थे। उसके बाद मथुरा ही उनकी समस्त धार्मिक प्रवृत्तियों का प्रधान केन्द्र हो गया था। इसी स्थान से उनके ग्रंथों का तथा 'साधन' पत्र का प्रकाशन होने लगा; और यहीं पर प्रति वर्ष शिवरात्रि के अवसर पर प्रधान भंडारा भी किया जाने लगा। उनका देहावसान सं. २०१४ की आश्विन शु. १ को मथुरा में हुआ था।

वर्तमान स्थिति—डा. चतुर्भुजसहाय जी का देहावसान होने से 'रामाश्रम सत्संग' की बड़ी क्षति हुई; किंतु इसका कार्य किसी प्रकार चल रहा है। डाक्टर साहब के तीन पुत्र और अनेक श्रद्धालु भक्त हैं। उनके ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ पुत्र प्रतिष्ठित पदों पर हैं; और मध्यम पुत्र श्री हेमेन्द्रकुमार प्रेस, ग्रंथ-प्रकाशन और 'साधन' पत्र की व्यवस्था करते हैं। श्रद्धालु भक्तों में पं. मिहीलाल जी प्रमुख हैं, जो उनके उत्तराधिकारी के रूप में धर्म-प्रचार तथा विविध धार्मिक प्रवृत्तियों का संचालन कर रहे हैं।

अखंड ज्योति संस्थान—

महत्व और गति-विधि—यह ब्रज की नवीनतम किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्था है। इसके द्वारा नवयुग के अनुसार सच्ची धर्म-साधना के रूप में चरित्र-गठन, सदाचार, नैतिक उत्थान, भावनात्मक एकता और राष्ट्र निर्माण की प्रवृत्तियों का प्रचार होता है। इसके संस्थापक आचार्य श्रीराम शर्मा ने पहिले 'अखंड ज्योति' मासिक पत्रिका निकाली, और फिर 'गायत्री तपोभूमि' एवं 'युग निर्माण विद्यालय' की स्थापना की। इनके साथ ही बहुसंख्यक ग्रंथों के निर्माण, विविध समारोहों के आयोजन और प्रशिक्षण शिविरों की व्यवस्था द्वारा आचार्य जी पूर्वोक्त उद्देश्यों की पूर्ति में लगे हुए हैं। इनकी अलौकिक प्रतिभा, अद्भुत सूझ-बूझ और प्रचंड कर्मण्यता के कारण देश के विभिन्न राज्यों के लाखों परिवार स्वयं अपनी नैतिक उन्नति करने के साथ ही साथ राष्ट्र-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्यों मे लग गये हैं। एक कर्मयोगी महापुरुष बिना किसी सहयोग-सहायता के अपने ही पुरुषार्थ से कितना अधिक काम कर सकता है, इसके लिए आचार्य श्रीराम शर्मा का जीवन एक ज्वलंत उदाहरण है।

आचार्य श्रीराम शर्मा—इनका जन्म सं. १९६८ की आश्विन कृ. १३ को जि. आगरा के आँवलखेड़ा नामक गाँव में हुआ था। शिक्षा–प्राप्ति के अनंतर इन्होंने कई वर्ष (सन् १९३० से सन् १९४२) तक आगरा में अंगरेजी शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम में योग दे कर कारागार की यंत्रणा सही थी। राजनैतिक कार्य करते हुए भी इनकी मुख्य प्रवृत्ति धार्मिक थी। इन्होंने दोनों में ताल-मेल बैठाने की चेष्टा की; किंतु उसकी संभावना न देख कर ये राजनीति से पृथक् हो गये। उसके उपरांत ये आगरा से मथुरा आकर अपनी धार्मिक योजना को कार्यान्वित करने में लग गये थे।

अखंड ज्योति—आचार्य जी का प्रथम कार्य 'अखंड ज्योति' मासिक पत्रिका का संपादन और प्रकाशन करना है। इसके कुछ आरंभिक अंक आगरा से निकले थे; किंतु मथुरा आने पर इन्होंने इसे यहीं से प्रकाशित किया था। यह अत्यंत उपयोगी और सस्ती धार्मिक पत्रिका है, जो विगत २८ वर्ष से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। ग्राहक संख्या की दृष्टि से इसका स्थान 'कल्याण' के बाद इसी कोटि के पत्रों में सबसे ऊँचा है।

गायत्री तपोभूमि—आचार्य जी का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य 'गायत्री तपोभूमि' की स्थापना करना है। इसे उन्होंने अपनी धार्मिक योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए अब से १६ वर्ष पूर्व स्थापित किया था। इसके द्वारा जनता की धार्मिक भावना को रचनात्मक दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया गया है। आचार्य जी के मतानुसार 'गायत्री' सद् भावनाओं की, और 'यज्ञ' सद् प्रवृत्तियों का प्रतीक है। इन दोनों की क्रियात्मक उपासना यहाँ की जाती है। इसके लिए वृंदावन सड़क के किनारे एक भव्य आश्रम का निर्माण किया गया है। इसके अंतर्गत गायत्री मंदिर, यज्ञशाला, पुस्तकालय, वाचनालय, चिकित्सालय, अतिथि निवास और विद्यालय आदि कई संस्थाएँ हैं। इसकी कई हजार शाखाएँ देश के विभिन्न स्थानों में सफलता पूर्वक कार्य कर रही हैं।

युग निर्माण योजना—आचार्य जी का तीसरा उपयोगी कार्य 'युग निर्माण योजना' का संचालन करना है। इसका उद्देश्य समाज के भावनात्मक नव निर्माण द्वारा जनता को स्वावलंबन और स्वाभिमान पूर्वक जीविकोपार्जन करने की शिक्षा देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'युग निर्माण' पत्र का प्रकाशन और 'युग निर्माण विद्यालय' का संचालन किया जाता है। पत्र में 'जीवन जीने की कला' संबंधी लेख होते हैं, और विद्यालय में इसकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है।

ग्रंथ-रचना—आचार्य जी का चौथा अद्भुत कार्य कई सौ छोटे–बड़े ग्रंथों की रचना कर इनका प्रकाशन और प्रचार करना है। ये ग्रंथ विविध विषयों के हैं; किंतु इन सब का संबंध धार्मिक भावना के प्रसारण, जन–जागरण और युग–निर्माण से है। इनसे पाठकों के नैतिक उत्थान और चरित्र–गठन में बड़ी सहायता मिली है। इधर वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ और पुराणादि भारतीय संस्कृति के आकर ग्रंथों का प्रकाशन भी किया गया है।

सम्मेलन, गोष्ठियाँ और शिविर—आचार्य जी ने अपने इस चतुर्मुखी कार्य–कलाप के अतिरिक्त अनेक सम्मेलन, गोष्ठियाँ और शिविरों का भी सफलता पूर्वक संचालन किया है। पहिला बड़ा सम्मेलन 'शत कुंड गायत्री महायज्ञ' के नाम से सं. २०१३ में हुआ था, जिसमें 'गायत्री परिवार' की देशव्यापी शाखाओं से संबंधित प्रायः ५० हजार व्यक्ति एकत्र हुए थे। दूसरा सम्मेलन सं. २०१५ में 'सहस्र कुंड गायत्री महायज्ञ' के नाम से किया गया। उसमें प्रायः एक लाख व्यक्ति एकत्र हुए थे। 'अखंड ज्योति' की 'रजत जयंती' के उपलक्ष में सं. २०२१ में एक विशाल 'साहित्य गोष्ठी' की गई। इन सबके अतिरिक्त अनेक 'प्रशिक्षण शिविर' भी प्रति वर्ष किये जाते हैं। इस प्रकार आचार्य जी द्वारा स्थापित यह संस्थान ब्रज की धार्मिक भावना को नूतन रूप में प्रसारित कर रहा है।

जटिलक, मुंड श्रावक, तेदंडिक आदि थे[1]। बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध के प्रतिद्वंदी महावीर को 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) और उनके धर्म को 'निगंठ' कहा गया है। उस काल के धर्म-संप्रदायों में बौद्ध और जैन धर्मों के अतिरिक्त 'आजीवक' संप्रदाय अधिक प्रसिद्ध था। 'लोकायत' संप्रदाय भी संभवतः उस काल में प्रचलित हो गया था। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

आजीवक संप्रदाय—यह एक प्राचीन धार्मिक पंथ था, जो गौतम बुद्ध और महावीर से भी पहिले विद्यमान था। बुद्ध काल में इस पंथ का उपदेष्टा मक्खलि गोसाल नामक एक धर्माचार्य था। उसका 'गोसाल' नाम इसलिए पड़ा था कि उसका जन्म किसी गोशाला में हुआ था। 'मक्खलि' शब्द संस्कृत 'मस्करी' का पालि रूप है। 'माकरण' का उपदेश करने के कारण गोसाल को मस्करी कहा गया है। 'काशिका' (६-१-१५४) में 'मा+कृ+इनि' से मस्करी शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है, जिसका अर्थ है,—'काम न करने वाला' (माकरणशीलः) अर्थात् कर्मण्यता-वादी, दैववादी[2]।

मक्खलि गोसाल मगध का निवासी था। जैन ग्रंथों में लिखा है, वह पहिले महावीर का परम भक्त था; किंतु उनसे धार्मिक मतभेद हो जाने के कारण वह आजीवक संप्रदाय में सम्मिलित हो गया था। उसने उस संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उसका प्रधान केन्द्र श्रावस्ती था, जहाँ के जैतवन में गौतम बुद्ध ने पर्याप्त काल तक अपना धर्मोपदेश किया था। उसकी मृत्यु महावीर और बुद्ध के परिनिर्वाण होने से पहिले ही हो गई थी।

आजीवक-दर्शन—उस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांत को 'कर्मापवाद' कहा गया है। उसके मानने वाले कर्म या पुरुषार्थ की निंदा करते थे और नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। "उनके मतानुसार पराक्रम-पुरुषार्थ व्यर्थ है, सब भाग्य का खेल है, दैव बड़ा प्रबल है। उनके दार्शनिक सिद्धांत में 'यदृच्छा' को कोई स्थान नहीं था। वे तो मानते थे कि क्रूर दैव ने सब कुछ पहिले से ही नियत कर दिया है[3]। उस संप्रदाय के साधक कठोर तप करते थे और हठयोग की कठिन साधना में अपने शरीर को सुखा डालते थे। वे पंचाग्नि तापते थे, शरीर पर भस्म लगाते थे, और सिर पर लंबी जटाएँ रखते थे। बौद्ध और जैन धर्म के ग्रंथों में इस संप्रदाय की बड़ी निंदा की गई है। बुद्ध अपने समकालीन धर्माचार्यों में मक्खलि गोसाल को सबसे बुरा समझते थे। निश्चय ही उसके सिद्धांत समाज के अभ्युदय में बाधक थे; फिर भी उसके अनुयायी पर्याप्त संख्या में थे।

आजीवक संप्रदाय बुद्ध और महावीर के पश्चात् भी कई शतियों तक विद्यमान रहा था। उसका विस्तार दक्षिण भारत तक था। प्रथम शती के तमिल महाकाव्यों में आजीवकों का वर्णन मिलता है। छटी शती के संस्कृत काव्य 'जानकी हरण' में कुमारदास ने आजीवकों का उल्लेख किया है। 'यशस्तिलक' में उनकी चर्चा होने से दशवीं शती तक भी उस संप्रदाय का अस्तित्व सिद्ध होता है[4]। बाद में जब वैष्णव संप्रदायों का व्यापक प्रचार हुआ, तब अन्य अवैतिक पंथों की भाँति 'आजीवक संप्रदाय' भी समाप्त हो गया था।

---

(१) **उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास**, पृष्ठ १८

(२) **बौद्ध दर्शन**, पृष्ठ ३५

(३) **पाणिनि कालीन भारत**, पृष्ठ ३७६

(४) **पतंजलि कालीन भारत**, पृष्ठ ५६४

विशिष्ट धार्मिक महापुरुष

आधुनिक काल में ब्रज में जो विख्यात धार्मिक महानुभाव हुए हैं, उनमें से अधिकांश का उल्लेख विभिन्न धर्म–संप्रदायों के प्रसंग में किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशिष्ट धार्मिक महापुरुष भी हुए हैं, जिन्होंने धर्म–साधना के विविध क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की है। ऐसे कतिपय महापुरुषों का यहाँ नामोल्लेख मात्र किया जाता है।

भजनानंदी महात्मा—इस काल में ब्रज में अनेक भजनानंदी महात्मा हुए हैं। उनमें से बहुतों का पहिले उल्लेख किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त गोकुल वाले परमहंस, वृंदावन निवासी हंडिया बाबा, भक्तवर मानसिंह जी, संगीताचार्य ग्वारिया बाबा, संन्यासी भक्त उड़िया बाबा, उनके उत्तराधिकारी हरिबाबा, बाबा कृपासिंधुदास और बाबा किशोरीदास के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी ने अपने भजन-बल से विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण देन दी है।

कथावाचक और महोपदेशक—ब्रज में कथा, प्रवचन और उपदेश धर्म–साधना के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। इनके द्वारा श्रद्धालु जनों को धार्मिक प्रवृत्तियों की ओर सदा से प्रेरित किया जाता रहा है। आधुनिक काल में ब्रज के अनेक मंदिर–देवालयों में कथा–प्रवचनादि की स्थायी व्यवस्था है, जहाँ अनेक विख्यात कथावाचक और महोपदेशक बहुसंख्यक जनता में धार्मिक भावना जागृत करते रहे हैं। ये महानुभाव प्रधानतया श्रीमद् भागवत और साधारणतया महाभारत, विविध पुराण, रामायण और अन्य धार्मिक ग्रंथों की कथा द्वारा धर्म–तत्व का उपदेश करते हैं। मथुरा के कथा–वाचकों में श्री पुरुषोत्तम भट्ट ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उनके अतिरिक्त सर्वश्री मुकुंददेव जी, नंदकिशोर जी, बनमाली जी, जंगीराम जी, भट्ट बलभद्र लाला जी और लक्ष्मणाचार्य जी विख्यात कथावाचक हुए हैं। वृंदावन तो कथा–वाचकों का घर है। वहाँ प्रत्येक धर्म–संप्रदाय के विद्वान सुप्रसिद्ध कथावाचक और उपदेशक भी होते रहे हैं। इस समय स्वामी अखंडानंद जी, गो. पुरुषोत्तम जी और गो. अतुलकृष्ण जी की इस क्षेत्र में बड़ी ख्याति है। गोस्वामी बिंदु जी रामचरित मानस के अद्वितीय विद्वान और विख्यात महोपदेशक थे। इस समय श्री इंदु जी अच्छे रामायणी विद्वान और प्रवक्ता हैं।

जिन महात्माओं ने भागवत के आधार पर रचनाएँ कर उनके द्वारा कथा–प्रवचन में यशोपार्जन किया है, उनमें स्वामी गोपालदास जी कृत 'गोपाल विलास' का उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। सिंधी महात्मा बसंतराम जी कृत 'कृष्णायन' भी इसी प्रकार की रचना है। श्री बसंतराम जी और उनके शिष्य श्री श्यामसनेही श्यामाशरण जी ने 'कृष्णायन' की कथा द्वारा अनेक सिंधियों में भक्ति–भावना जागृत की थी।

धर्म ग्रंथों के प्रकाशक—धर्म-साधना के प्रसार का एक शक्तिशाली साधन धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन है। इस संबंध में बाबा कृष्णदास और बाबा तुलसीदास का नामोल्लेख किया जा चुका है; जिन्होंने क्रमश: गौड़ीय और राधावल्लभीय प्रचुर साहित्य का प्रकाशन किया है। श्री द्वारकादास पारिख ने वल्लभ संप्रदाय के अनेक ग्रंथों को प्रकाशित किया था। हकीम श्यामलाल जी उपनाम श्यामदास ने गौड़ीय संप्रदाय के मूल ग्रंथों की भाषा टीका कर उन्हें समुचित रूप में प्रकाशित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इन सब विशिष्ट महानुभावों की देन से आधुनिक काल में ब्रज की धर्म–साधना को बड़ा बल प्राप्त हुआ है।

विदेशी मत

इस्लाम मत—ब्रजमंडल में मुसलमानी शासन १३ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक रहा था। इस ६–७ शतियों के दीर्घ काल में यहाँ अनेक धर्मांध शासक हुए, जिनके संरक्षण में क़ाज़ी–मुल्लाओं ने इस्लाम मत को वलपूर्वक प्रचलित करने की चेष्टा की थी। किंतु ब्रजवासियों की सुदृढ़ धार्मिक आस्था के कारण उन्हें वहुत थोड़ी ही सफलता मिल सकी थी। इस समय ब्रज में मुसलमानों की संख्या २० प्रति शत से अधिक नहीं है, किंतु ये लोग यहाँ के नगर-कस्वों के साथ ही साथ छोटे–छोटे गाँवों तक में वसे हुए हैं। इनकी मसजिदें भी अनेक स्थानों में हैं, जहाँ मुसलमान नमाज़ पढ़ते हैं, और अपने धार्मिक कृत्यों का संपादन करते हैं। इनकी दो वड़ी मसजिदें मथुरा में हैं, जो औरंगजेव के शासन काल में वनाई गई थीं। इनमें से एक श्रीकृष्ण–जन्म स्थान पर है, और दूसरी चौक बाज़ार में है। वर्तमान काल में यहाँ के मुसलमान अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ प्रायः मेल–मिलाप से रहते हैं। इस काल में यहाँ कुछ छोटी मसजिदें भी वनाई गई हैं।

ईसाई मत—इस मत के प्रचार का रूप इस्लाम मत से भिन्न रहा है। ईसाई पादरी अधिकतर स्कूल और अस्पताल जैसी लोकोपयोगी संस्थाओं की स्थापना कर उनके द्वारा अपने मत का प्रचार करते रहे हैं। ब्रजमंडल में ईसाई मत का सर्व प्रथम प्रवेश मुगल सम्राट अकवर के उदार शासन काल में हुआ था। सम्राट की आज्ञा से गोआ के पुर्तगाली पादरियों ने फतहपुर सीकरी में एक अस्पताल खोला था, और एक छोटा गिरजाघर वनवाया था। उसके वाद आगरा में 'अकवरी चर्च' वनवाया गया। सम्राट अकवर से लेकर शाहजहाँ के काल तक विदेशी ईसाई पादरी अपने मत के प्रचारार्थ ब्रज में आते रहे थे; किंतु उन्हें नाम मात्र को ही सफलता मिली थी। औरंगजेव ने उनका यहाँ आना भी वंद कर दिया था। इस प्रकार मुसलमानी शासन में ब्रज में ईसाई मत का प्रचार प्रायः नहीं के वरावर हुआ था।

इस मत का यहाँ जो कुछ प्रचार है, वह अंगरेजी शासन काल में हुआ है। वृटिश शासक इसी मत के अनुयायी थे। उन्होंने ईसाई पादरियों को अपने मत के प्रचारार्थ पर्याप्त सुविधाएँ दी थीं। अंगरेज़ी काल में ब्रज के विभिन्न स्थानों में ईसाईयों द्वारा स्कूल, कालेज और अस्पतालों के साथ ही साथ गिरजाघर भी प्रचुर संख्या में वनाये गये। पादरियों ने पठित समाज की अपेक्षा अपढ़ लोगों में अधिक प्रचार किया था, और उनकी सेवा करने के अतिरिक्त उन्हें वहका कर तथा प्रलोभन देकर ईसाई वनाया था। इस प्रकार अंगरेज़ी शासन काल में ब्रज में ईसाईयों की संख्या काफ़ी हो गई। ब्रजमंडल में आगरा नगर ईसाई मत का प्रधान केन्द्र है। यहाँ पर ईसाईयों के कई गिरजे हैं, और वे शिक्षा तथा चिकित्सा संवंधी वड़ी–वड़ी संस्थाएँ चला रहे हैं।

मथुरा और वृंदावन में ईसाईयों के कई स्कूल, अस्पताल और गिरजाघर हैं। मथुरा का मिसन स्कूल और वृंदावन का मिसन अस्पताल ब्रज की जनता में वहुत प्रसिद्ध हैं। अंगरेज़ी शासन काल में मथुरा महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्र था। यहाँ की छावनी में अंगरेज़ सैनिक वड़ी संख्या में रहते थे। उनके लिए यहाँ पर ईसाई मत की दोनों शाखाओं के दो गिरजाघर —'इंगलिश चर्च' और 'कैथोलिक चर्च' क्रमशः सं. १९१३ और सं. १९३१ में वनवाये गये थे। कैथोलिक चर्च की विशाल इमारत यहाँ के अंगरेज़ जिलाधीश श्री ग्राउस ने वनवायी थी। उसके निर्माण में ब्रज के हिंदुओं ने भी पर्याप्त धन दिया था। ऐसे दानियों में मथुरा के सेठों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सहायक साहित्य

वैदिक, नारायणीय-सात्वत-पंचरात्र, शैव, शाक्त और भागवत धर्म

[संस्कृत]

१. वैदिक संहिता
२. ब्राह्मण ग्रंथ
३. उपनिषद्
४. वाल्मीकि रामायण
५. महाभारत
६. भगवद्गीता
७. मनुस्मृति
८. षट् दर्शन
९. हरिवंश
१०. अष्टादश पुराण
११. शिव पुराण
१२. देवी भागवत

[अंगरेज़ी]

१३. लेसन्स आन दि वेद्स—मैक्समूलर
१४. वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स —मैकडानल एण्ड कीथ
१५. एनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—जेम्स हैस्टिंग्स
१६. ए स्कैच आफ दि रिलीजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज़—एच. एच. विलसन
१७. एन आउटलाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया—जे. एन. फर्कुहर
१८. लेक्चर्स आन कम्पैरेटिव रिलीजन्स —आर्चर एनथोनी
१९. दी पुराण टैक्स्ट्स आफ दि डाइनेस्टीज़ आफ कलि एज—एफ. डवल्यु. पार्जीटर
२०. कृष्ण प्रावलम—ताड़पत्रिकर
२१. वैष्णिवज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स—आर. जी. भंडारकर
२२. शक्ति एण्ड शाक्त—जान वुडरफ़

[हिंदी]

२३. चारों वेद भाषानुवाद—श्रीराम शर्मा
२४. हिंदी ऋग्वेद—रामगोविंद त्रिवेदी
२५. १०८ उपनिषद्—श्रीराम शर्मा
२६. उपनिषद् दिग्दर्शन—दीवानचंद
२७. वाल्मीकि रामायण—सटीक (साहित्य रत्नाकर प्रेस)
२८. संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण—(गीता प्रेस)
२९. संक्षिप्त महाभारत—(गीता प्रेस)
३०. महाभारत मीमांसा—वि. चि. वैद्य
३१. गीता भाषा—(गीता प्रेस)
३२. गीता रहस्य—बाल गंगाधर तिलक
३३. मनुस्मृति—(काशी संस्कृत सीरीज़)
३४. २० स्मृतियाँ—श्रीराम शर्मा
३५. षट् दर्शन-भाषा—श्रीराम शर्मा
३६. भारतीय दर्शन भाषा—राधाकृष्णन्
३७. दर्शन दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन
३८. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र
३९. भारतीय दर्शन परिचय—दत्त और चटर्जी
४०. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास —रामानंद तिवारी
४१. हरिवंश भाषा—ज्वालाप्रसाद मिश्र
४२. हरिवंश का सांस्कृतिक विवेचन —वीणापाणि पांडे
४३. भागवत पुराण—(गीता प्रेस)
४४. विष्णु पुराण—श्रीराम शर्मा
४५. अग्नि पुराण— ,,
४६. मत्स्य पुराण—रामप्रताप त्रिपाठी
४७. वायु पुराण— ,,
४८. मार्कण्डेय पुराण—(गीता प्रेस)
४९. मार्कण्डेय पुराण का अध्ययन —बदरीनाथ शुक्ल
५०. ब्रह्मवैवर्त पुराण—(गीता प्रेस)
५१. शिवपुराण—श्रीराम शर्मा

५२. देवी भागवत—(गीता प्रेस)
५३. भारतीय देव मंडल—संपूर्णानंद
५४. गणेश—संपूर्णानंद
५५. वैदिक संस्कृति का विकास–लक्ष्मण शास्त्री
५६. वैदिक वाङ्मय का इतिहास–भगवद्दत्त
५७. वैदिक साहित्य—रामगोविंद त्रिवेदी
५८. आचार्य सायण और माधव —बलदेव उपाध्याय
५९. आर्य संस्कृति के मूलाधार— ,,
६०. रामायण कालीन संस्कृति और समाज —शांतिलाल नानूराम व्यास
६१. पाणिनि कालीन भारत—वासुदेवशरण
६२. हिंदुत्व—रामदास गौड़
६३. हिंदू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी
६४. शैव मत—यदुवंशी
६५ भारतीय धर्म और साधना —गोपीनाथ कविराज
६६. प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति —राजवली पांडे
६७. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—देवराज
६८. संस्कृति के चार अध्याय —रामधारी सिंह 'दिनकर'
६९. प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा —राय गोविंदचंद्र
७०. आर्यो का आदि देश—संपूर्णानंद
७१. मुहनजोदड़ो—सतीशचंद्र काला
७२. सिंधु सभ्यता का केन्द्र हड़प्पा–केदारनाथ
७३. प्राचीन भारत—आर. सी. मजूमदार
७४. प्राचीन भारत का इतिहास —आर. एस. त्रिपाठी
७५. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन —वासुदेव उपाध्याय
७६. भारतीय इतिहास की मीमांसा —जयदेव विद्यालंकार
७७. सम्राट चंद्रगुप्त—सत्यनारायण कस्तूरिया
७८. कौटिलीय अर्थशास्त्र—देवदत्त शास्त्री
७९. कौटल्य का अर्थशास्त्र–वाचस्पति गैरोला
८०. मैगस्थनीज़ का भारत विवरण —योगेन्द्र मिश्र
८१. अशोक—आर. जी. भंडारकर
८२. मौर्य साम्राज्य का इतिहास —सत्यकेतु विद्यालंकार
८३. मौर्य कालीन भारत—कमलापति त्रिपाठी
८४. पतंजलि कालीन भारत —प्रभुदयाल अग्निहोत्री
८५. विक्रमादित्य—राजवली पांडे
८६. गुप्त साम्राज्य का इतिहास–वासुदेव उपा.
८७. श्रीकृष्ण जन्मभूमि—वासुदेवशरण अग्रवाल
८८. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास — परमेश्वरीलाल गुप्त
८९. मध्य देश—धीरेन्द्र वर्मा
९०. पूर्व मध्यकालीन भारत—वासुदेव उपा०
९१. अंधकारयुगीन भारत का इतिहास —काशीप्रसाद जायसवाल
९२. हर्षवर्द्धन—गौरीशंकर चटर्जी
९३. सम्राट हर्षवर्धन–सत्यनारायण कस्तूरिया
९४. हर्ष चरित् : एक सांस्कृतिक अध्ययन —वासुदेवशरण अग्रवाल
९५. हुएनसांग का भारत भ्रमण —ठाकुरप्रसाद शर्मा
९६. राजा भोज—विश्वेश्वरनाथ रेऊ

जैन धर्म

[प्राकृत]

९७. आचारांग सूत्र
९८. सूत्रकृतांग सूत्र
९९. भगवती सूत्र
१००. ज्ञाता धर्म सूत्र
१०१. निशीथ
१०२. महानिशीथ
१०३. कल्पसूत्र
१०४. समय सार— कुंदकुंदाचार्य
१०५. पउमचरिय—विमल सूरि

१०६. वसुदेव हिंडी—संघदास
१०७. महापुरिस चरिय—शीलांकाचार्य
१०८. विविध तीर्थ कल्प (मथुरापुरी कल्प) —जिनप्रभ सूरि
१०९. सुपासनाह चरिय—लक्ष्मण गणि

[संस्कृत]

११०. पद्मचरित्र—रविसेन
१११. अरिष्टनेमि पुराण (जैन हरिवंश)—जिनसेन
११२. महापुराण—जिनसेन (दूसरे)
११३. (१. आदिपुराण २. उत्तरपुराण) गुणभद्र
११४. प्रद्युम्न चरित्—सोमकीर्ति
११५. प्रद्युम्न चरित्र—शुभचंद्र आदि
११६. त्रिषष्टिशलाका पुरुष—हेमचंद्र
११७. जम्बूस्वामी चरित्र—राजमल्ल पांडे

[अपभ्रंश]

११८. पउम चरिउ—स्वंभू
११९. रिट्ठणेमि चरिउ—स्वंभू
१२०. रिट्ठणेमि चरित्र—धवल
१२१. सावयधम्म दोहा—देवसेन
१२२. तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार—पुष्पदंत
१२३. णायकुमार चरिउ — ,
१२४. जसहर चरिउ — ,,
१२५. तीर्थमाला—दयाकुशल
१२६. पाहुड़ दोहा—मुनि रामसिंह
१२७. धम्म परिक्खा—हरिषेण
१२८. नेमिनाह चरिउ—हरिभद्र

[गुजराती]

१२९. जैन साहित्य नो इतिहास —मोहनलाल दलीचंद देसाई
१३०. जैन गुर्जर कविओ — ,,

[अंगरेजी]

१३१. डाक्ट्राइन्स आफ जैन्स—डबल्यु शेर्रविंग
१३२. दि जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटिक्विटीज़ आफ मथुरा—वी. ए. स्मिथ
१३३. यक्षज़ (दो भाग)—आनंदकुमार स्वामी

[ब्रजभाषा-हिंदी]

१३४. प्रद्युम्न चरित—साधारु अग्रवाल
१३५. हरिवंश पुराण—जिनदास
१३६. बलभद्र रास—यशोधर
१३७. प्रद्युम्न चौपई—कमलेश्वर, जिनचंद्र सूरि
१३८. प्रद्युम्न रासो—ब्रह्म राममल्ल, ज्ञानसागर
१३९. हरिवंश पुराण—शालिवाहन
१४०. नेमिनाथ रासो—रूपचंद
१४१. जंबू चरित्र—जिनदास पांडे
१४२. समयसार नाटक—बनारसीदास
१४३. अर्ध कथानक — ,,
१४४. परमार्थ वचनिका— ,,
१४५. मंगल गीत प्रबंध—रूपचंद
१४६. पांडव पुराण—बुलाकीदास
१४७. धर्म विलास—द्यानतराय
१४८. नेमिनाथ के कवित्त—द्यानतराय
१४९. आदि पुराण वचनिका—पं. दौलतराम
१५०. पद्म पुराण ,, — ,,
१५१. हरिवंश पुराण ,, — ,,
१५२. गोमट्टसार वचनिका—पं. टोडरमल
१५३. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय वचनिका— ,,
१५४. मोक्षमार्ग प्रकाशक — .,

[हिंदी]

१५५. जिनसेन कृत आदि पुराण—पन्नालाल
१५६. गुणभद्र कृत उत्तर पुराण— ,,
१५७. स्वंभू कृत पद्म चरिउ—देवेन्द्रनाथ
१५८. आदि काल का हिंदी जैन साहित्य —हरिशंकर शर्मा
१५९. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी
१६०. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास— ,,
१६१. जैन साहित्य का इतिहास—कैलाशचंद्र
१६२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग —हीरालाल जैन
१६३. हिंदी जैन साहित्य परिशीलन—नेमिचंद
१६४. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास —कामताप्रसाद जैन

१६५. जैन कवियों का इतिहास—मूलचंद वत्सल
१६६. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि —प्रेमसागर जैन
१६७. कविवर बनारसीदास—रवीन्द्रकुमार जैन

बौद्ध धर्म

[पालि]

१६८. सुत्त पिटक
१६९. विनय पिटक
१७०. अभिधम्म पिटक
१७१. दीघ निकाय
१७२. मज्झिम निकाय
१७३. संयुत्त निकाय
१७४. अंगुत्तर निकाय
१७५. खुद्दक निकाय
१७६. धम्मपद
१७७. सुत्त निपात
१७८. विमान वत्थु
१७९. थेर गाथा
१८०. थेरी गाथा
१८१. जातक
१८२. निद्देस
१८३. बुद्धवंस
१८४. चरिया पिटक
१८५. महा वग्ग
१८६. चुल्ल वग्ग
१८७. अट्ठकथा
१८८. दीपवंस
१८९. महावंस

[अपभ्रंश]

१९०. चर्यापद—विविध सिद्ध
१९१. दोहाकोश—सरह

[बंगला]

१९२. बौद्ध गान ओ दोहा—हरप्रसाद शास्त्री
१९३. बौद्ध जातक कथा—ईशानचंद्र घोष

[अंगरेजी]

१९४. गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स—
१९५. दिव्यावदान—कावेल
१९६. बुद्धिष्ट रिकर्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड—एस. बील
१९७. ट्रेवेल्स आफ फाह्यान—एम. बील
१९८. फाह्यांस ट्रेवेल्स—जे. लेग
१९९. आन ह्वेन्त्सांग्स ट्रेवेल्स इन इंडिया —टामस वाटर्स
२००. गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ —जार्ज वेस्टन ब्रिग्स
२०१. गोरखनाथ एण्ड मिडिएवल मिस्टिसिज्म —मोहनसिंह
२०२. कौलज्ञान निर्णय—प्रबोधचंद्र बागची

[हिंदी]

२०३. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल —भरतसिंह उपाध्याय
२०४. भगवान् बुद्ध—धर्मानंद कोसाम्वी
२०५. बौद्ध धर्म : इतिहास और दर्शन —गोविंदचंद्र पांडे
२०६. बौद्ध धर्म दर्शन—नरेन्द्रदेव
२०७. बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन
२०८. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन —भरतसिंह उपाध्याय
२०९. बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय
२१०. बौद्ध संस्कृति—राहुल सांकृत्यायन
२११. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य —नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
२१२. चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास —चाऊ, सियांगसुयांग
२१३. जातक कथा—आनंद कौशल्यायन
२१४. जातक कालीन भारतीय संस्कृति —मोहनलाल महतो
२१५. पालि साहित्य का इतिहास —भरतसिंह उपाध्याय
२१६. पुरातत्व निबंधावली—राहुल सांकृत्यायन
२१७. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास —नलिनाक्ष दत्त और कृष्णदत्त वाजपेयी

२१८. हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव —सरला अवस्थी
२१९. सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती
२२०. नाथ संप्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी
२२१. नाथों और सिद्धों का तुलनात्मक अध्ययन —नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
२२२. गोरखबानी—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

वैष्णव संप्रदाय

[संस्कृत]

२२३. उपनिषद्
२२४. महाभारत
२२५. भगवद्गीता
२२६. ब्रह्मसूत्र
२२७. भागवत पुराण
२२८. विष्णु पुराण
२२९. पद्म पुराण
२३०. ब्रह्मवैवर्त पुराण
२३१. नारद पंचरात्र
२३२. पाद्म तंत्र
२३३. अहिर्बुध्न्य संहिता
२३४. कपिंजल संहिता
२३५. ब्रह्मसंहिता
२३६. गर्ग संहिता
२३७. गोपालतापनी
२३८. नारद भक्ति सूत्र
२३९. शांडिल्य भक्ति सूत्र
२४०. गीतगोविंद—जयदेव
२४१. कृष्ण कर्णामृत—विल्वमंगल
२४२. आगम प्रामाण्य—यामुनाचार्य
२४३. ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य—रामानुजाचार्य
२४४. वेदांत पारिजात सौरभ—निंबार्काचार्य
२४५. वेदांत कामधेनु— ,,
२४६. वेदांत कौस्तुभ—श्रीनिवासाचार्य
२४७. औदुंबर संहिता—औदुंबराचार्य
२४८. वेदांत रत्न मंजूषा—पुरुषोत्तमाचार्य
२४९. कौस्तुभ प्रभा—केशव काश्मीरी भट्टाचार्य
२५०. तत्व प्रकाशिका—केशव काश्मीरी भट्टाचार्य
२५१. ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य—वल्लभाचार्य
२५२. भागवत-सुबोधिनी टीका— ,,
२५३. तत्वदीप निबंध— ,,
२५४. षोड़श ग्रंथ— ,,
२५५. विद्वन्मंडन—विट्ठलनाथ गोस्वामी
२५६. विज्ञप्ति — ,,
२५७. शृंगार रस मंडन— ,,
२५८. अणु भाष्य प्रकाश— पुरुषोत्तम गोस्वामी
२५९. सुबोधिनी विवरण— ,,
२६०. षोड़श ग्रंथ टीका— ,,
२६१. वल्लभ दिग्विजय—यदुनाथ गोस्वामी
२६२. संप्रदाय प्रदीप—गदाधरदास
२६३. सत्सिद्धांत मार्तंड—गट्टू लाला जी
२६४. दुर्जन करि पंचानन—रंगदेशिक स्वामी
२६५. सज्जन मनोनुरंजन— ,,
२६६. व्यामोह विद्रावनम्— ,,
२६७. शिक्षाष्टक—चैतन्य देव
२६८. कड़चा—स्वरूपदामोदर
२६९. प्रेमामृत स्तोत्र—गदाधर पंडित
२७०. जगन्नाथ वल्लभ—राय रामानंद
२७१. कृष्ण चैतन्य चरितामृत—मुरारि गुप्त
२७२. हरिभक्ति विलास—सनातन गोस्वामी
२७३. वृहत् भागवतामृत— ,,
२७४. भक्ति रसामृत सिंधु—रूप गोस्वामी
२७५. उज्ज्वल नीलमणि — ,,
२७६. लघु भागवतामृत — ,,
२७७. विदग्ध माधव नाटक— ,,
२७८. ललित माधव नाटक— ,,
२७९. मथुरा माहात्म्य — ,,
२८०. षट् संदर्भ — जीव गोस्वामी
२८१. क्रम संदर्भ— ,,
२८२. गोपाल चम्पू— ,,
२८३. व्रज भक्ति विलास—नारायण भट्ट
२८४. भक्ति रस तरंगिणी— ,,
२८५. आनंद वृंदावन चम्पू—कर्णपूर

२८६. चैतन्य चरितामृत—कर्णपूर
२८७. गोविंद लीलामृत—कृष्णदास कविराज
२८८. वृंदावन महिमामृत शतक—प्रबोधानंद
२८९. चैतन्य चंद्रामृत— ,,
२९०. संगीत माधव— ,,
२९१. ब्रह्मसूत्र–गोविंद भाष्य–बलदेव विद्याभूषण
२९२. प्रमेय रत्नावली— ,,
२९३. पदांक दूत—कृष्णदेव सार्वभौम
२९४. प्रेम पत्तन—रसिकोत्तंस
२९५. मधु केलि वल्ली—गोवर्धन भट्ट
२९६. भावना सार संग्रह—सिद्ध कृष्णदास बाबा
२९७. नारायण भट्ट चरितामृत—जानकीप्रसाद
२९८. शुक दूत महाकाव्य—नंदकिशोर गोस्वामी
२९९. राधा सुधानिधि—हित हरिवंश
३००. उप सुधानिधि—कृष्णचंद्र गोस्वामी
३०१. कर्णानंद— ,,
३०२. अष्टविनिर्णय—वृंदावनदास गोस्वामी
३०३. राधा सुधानिधि–
रसकुल्ला टीका—हरिलाल व्यास
३०४. श्री हरिवंश वंश प्रशस्ति—शंकरदत्त
३०५. हित चतुरासी टीका—मनोहरवल्लभ गो.
३०६. कीर दूत काव्य— ,,
३०७. द्विदल निर्णय—रंगीलाल गोस्वामी
३०८. व्यासनंदन भाष्य—प्रियादास पटनावाले
३०९. राधातत्व प्रकाश—वंशी अलि
३१०. राधा सिद्धांत— ,,

[गुजराती]

३११. वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास
— दुर्गाशंकर केशवराम
३१२. पुष्टिमार्ग नो इतिहास–वसंतराम हरिकृष्ण
३१३. पुष्टिमार्ग नां ५०० वर्ष—
३१४. पुष्टि दर्पण—जेठालाल गोवर्धनदास
३१५. श्री विट्ठलेश चरितामृत–द्वारकादास पारीख
३१६. श्री हरिराय जी—जेठालाल गोवर्धनदास
३१७. श्री हरिराय जी नुं जीवन चरित्र
—द्वारकादास पारीख

[बंगला]

३१८. चैतन्य भागवत—वृंदावनदास ठाकुर
३१९. चैतन्य मंगल—लोचनदास ठाकुर
३२०. चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज
३२१. क्षणदा गीत चिंतामणि–विश्वनाथ चक्र.
३२२. प्रेम भक्ति चंद्रिका—नरोत्तमदास ठाकुर
३२३. प्रार्थना— ,,
३२४. अष्टकालीन लीला—गोविंददास
३२५. अनुरागवल्ली —मनोहरदास
३२६. अद्वैत प्रकाश – ईशान नागर
३२७. श्यामानंद चरित—रसिकानंद
३२८. भक्तमाल—लालदास
३२९. चैतन्य चरितेर उपादान – विमानविहारी
३३०. वंगला साहित्येर कथा—सुकुमार सेन
३३१. गोविंद लीलामृत रस—कृष्णदास बाबा
३३२. गौड़ीय वैष्णव इतिहास—हरिदास
३३३. गौड़ीय वैष्णव जीवनी — ,,
३३४. वैष्णव दिग्दर्शिनी — ,,

[अंगरेजी]

३३५. वैष्णिवज्म, शैविज्म एण्ड अदर मायनर
रिलीजस सिस्टम्स—आर. जी. भंडारकर
३३६. भक्ति कल्ट इन एनश्येंट इंडिया
—बी. के. गोस्वामी
३३७. दी अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट
—हेमचंद्र रायचौधरी
३३८. आरक्योलाजी एण्ड वैष्णव ट्रेडीशन
—रामप्रसाद चंदा
३३९. हिम्स आफ आलवार्स–जे. एस. एम. हूपर
३४०. अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ
एण्ड मूवमेंट इन बंगाल—एस. के. दे
३४१. अलवेरुनीज़ इंडिया—साचौ
३४२. हिस्ट्री आफ कन्नौज—आर. एस. त्रिपाठी
३४३. श्री वल्लभाचार्य—मणिलाल पारिख
३४४. सूरदास—जनार्दन मिश्र
३४५. चैतन्य— यदुनाथ सरकार
३४६. श्री चैतन्य महाप्रभु–भक्तिविनोद ठाकुर

३४७. डाक्ट्रिन आफ निंबार्क एण्ड हिज् फोलोअर्स—रमा बोस
३४८. वेदांत पारिजात सौरभ आफ निंबार्क—रमा बोस
३४९. मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर–एफ.एस. ग्राउस
३५०. ट्रैवेल्स इन इंडिया बाई टेवर्नियर—बाल
३५१. आईन अकबरी—ब्लोचमैन
३५२. हिस्ट्री आफ दि राइज आफ महम्मडन पावर इन इंडिया—जान ब्रिग्ज्
३५३. फाल आफ मुगल एम्पायर–यदु. सरकार

[व्रजभाषा–हिंदी]

३५४. भक्तमाल—नाभादास
३५५. भक्तिरस बोधिनी—प्रियादास
३५६. भक्त–नामावली—ध्रुवदास
३५७. भक्त-नामावली—वृंदावनदास
३५८. पद प्रसंग माला—नागरीदास
३५९. रसिक अनन्यमाल—भगवतमुदित
३६०. राम रसिकावली—रघुराजसिंह राजा
३६१. रसिक प्रकाश भक्तमाल—
३६२. उत्तरार्ध भक्तमाल—हरिश्चंद्र भारतेन्दु
३६३. नव भक्तमाल—राधाचरण गोस्वामी
३६४. रसिक भक्तमाल—यमुनावल्लभ गो.
३६५. सूरसागर—सूरदास
३६६. सारावली— ,,
३६७. कुंभनदास–व्रजभूषण गो., कंठमणि शास्त्री
३६८. परमानंद सागर— ,, ,,
३६९. परमानंद सागर पद संग्रह—गोवर्धननाथ
३७०. कृष्णदास–व्रजभूषण गो., कंठमणि शास्त्री
३७१. गोविंदस्वामी—,, ,,
३७२. छीतस्वामी — ,, ,,
३७३. चतुर्भुजदास — ,, ,,
३७४. नंददास—उमाशंकर शुक्ल
३७५. नंददास ग्रंथावली—व्रजरत्नदास
३७६. गो. हरिराय जी का पद साहित्य —प्रभुदयाल मीतल
३७७. कीर्तन संग्रह—लल्लूभाई छगनलाल देसाई
३७८. चौरासी वैष्णवन की वार्ता-गोकुलनाथ गो.
३७९. दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता– ,,
३८०. षट् ऋतुन की वार्ता—गोकुलनाथ गो.
३८१. चौरासी बैठक चरित्र— ,,
३८२. भावसिंधु— ,,
३८३. घरू वार्ता— ,,
३८४. महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता–हरिराय गो.
३८५. निज वार्ता— ,,
३८६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता का भाव —हरिराय गोस्वामी
३८७. दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता का भाव—हरिराय गोस्वामी
३८८. अष्टसखान की वार्ता— ,,
३८९. श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता—हरिराय गोस्वामी
३९०. गो. हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता —प्रभुदयाल मीतल
३९१. शिक्षा पत्र भाषा—गोपेश्वर गोस्वामी
३९२. संप्रदाय कल्पद्रुम—विट्ठलनाथ भट्ट
३९३. भाव भावना—द्वारकेश गोस्वामी
३९४. भाव संग्रह — ,,
३९५. वल्लभ पुष्टि प्रकाश—रघुनाथ जी शिवजी
३९६. आदिवाणी—रामराय
३९७. गीतगोविंद भाषा—रामराय
३९८. गदाधरदास की वाणी—कृष्णदास बाबा
३९९. सूरदास मदनमोहन—प्रभुदयाल मीतल
४००. माधुरी वाणी—माधुरीदास
४०१. राधारमण रस सागर—मनोहरराय
४०२. चैतन्य चरितामृत भाषा—सुबल श्याम
४०३. रसिक विलास—साधुचरण
४०४. भागवत भाषा—वैष्णवदास
४०५. गीतगोविंद भाषा— ,,
४०६. प्रेम भक्ति चंद्रिका भाषा—वृंदावनदास
४०७. ब्रह्मसंहिता भाषा—रामकृपा
४०८. वृंदावन धामानुरागावली—गोपालराय
४०९. अभिलाष माधुरी—ललितकिशोरी

४१०. रस-कलिका—ललितकिशोरी
४११. श्री राधारमण पद मंजरी—गल्लूजी गो.
४१२. दंपति विलास—ललित लड़ैती
४१३. युगल शतक—श्रीभट्ट देव
४१४. महावाणी—हरिव्यास देव
४१५. परशुराम सागर—परशुराम देव
४१६. वृहद् उत्सव मणिमाल—रूपरसिक
४१७. हरिव्यास यशामृत— ,,
४१८. लीला विंशति— ,,
४१९. गीतामृत गंगा—वृंदावनदेव
४२०. हित चौरासी—हित हरिवंश
४२१. स्फुट वाणी— ,,
४२२. व्यास वाणी—हरिराम व्यास
४२३. सेवक वाणी—दामोदरदास सेवक
४२४. द्वादश यश—चतुर्भुजदास स्वामी
४२५. व्यालीस लीला—ध्रुवदास
४२६. प्रश्नोत्तरी—प्राणनाथ
४२७. हस्तामलक— ,,
४२८. माधुर्य विलास—हित अनूप
४२९. रस कदंब चूड़ामणि—रसिकदास
४३०. स्वप्न विलास—अनन्यअली
४३१. अनन्यमाल—उत्तमदास
४३२. पदावली—रूपलाल गोस्वामी
४३३. व्रज प्रेमानंद सागर—चाचा वृंदावनदास
४३४. लाड़ सागर— ,,
४३५. रसिक अनन्य परिचावली— ,,
४३६. हित रूप चरित्र वेली— ,,
४३७. हित चौरासी टीका—प्रेमदास
४३८. सुधर्म बोधिनी—लाड़िलीदास
४३९. भावना सागर—चतुरशिरोमणिलाल गो.
४४०. शृंगार रस सागर—तुलसीदास बाबा
४४१. केलिमाल—हरिदास स्वामी
४४२. सिद्धांत के पद— ,,
४४३. अष्टाचार्यों की वाणी
—हरिदास संप्रदाय के आचार्य
४४४. निज मत सिद्धांत—किशोरदास
४४५. किशोरदास की वाणी—किशोरदास
४४६. भगवतरसिक की वाणी—भगवतरसिक
४४७. चमन—शीतलदास
४४८. ललित प्रकाश—सहचरिशरण
४४९. सरस मंजावली— ,,
४५०. गुरु प्रणालिका— ,,
४५१. रसखान के छंद—रसखान
४५२. मीरा पदावली—मीराबाई
४५३. नागर समुच्चय—नागरीदास
४५४. भगति भावती—सासदास
४५५. रामानंदायन—जयरामदेव
४५६. तुलसी ग्रंथावली—गो. तुलसीदास
४५७. श्री राधिका महारास—वंशीअलि
४५८. समय प्रबंध पदावली—अलबेली अलि
४५९. गोपाल विलास—गोपालदास स्वामी
४६०. कृष्णायन—वसंतराम स्वामी
४६१. कृष्णायन—द्वारकाप्रसाद मिश्र

[हिंदी]

४६२. भागवत पुराण भाषा—(गीता प्रेस)
४६३. मत्स्य पुराण—रामप्रताप त्रिपाठी
४६४. वायु पुराण— ,,
४६५. अग्नि पुराण—आचार्य श्रीराम शर्मा
४६६. विष्णु पुराण— ,,
४६७. मार्कण्डेय पुराण— ,,
४६८. मार्कण्डेय पुराण का अध्ययन—बदरीनाथ
४६९. ब्रह्मवैवर्त पुराण भाषा—(गीता प्रेस)
४७०. पुराण कथा कौमुदी—रघुनाथदत्त
४७१. नारद भक्ति सूत्र टीका—हनुमानप्रसाद पोद्दार
४७२. शांडिल्य भक्ति सूत्र व्याख्या
—गोपीनाथ कविराज
४७३. भक्ति का विकास—मुंशीराम शर्मा
४७४. राधा का क्रम विकास
—शशिभूषण दासगुप्त
४७५. भारतीय वाङ्मय में राधा—बलदेव उपा.
४७६. श्रीराधा-माधव चिंतन—हनुमानप्रसाद ,,
४७७. स्वामी शंकराचार्य—हरिमंगल मिश्र

लोकायत संप्रदाय—यह यथार्थवाद और बौद्धिकता का समर्थक घोर भौतिकवादी संप्रदाय था। इसके मूल प्रवर्त्तक वृहस्पति माने जाते हैं; किंतु उनके शिष्य चार्वाक द्वारा इसका प्रवल प्रचार हुआ था। उसी के नाम पर इसके सिद्धांत को 'चार्वाक दर्शन' कहते हैं। इसमें अर्थ और काम मूलक शारीरिक तथा लौकिक सुख को सर्वस्व मान कर धर्म और मोक्ष के साथ ही साथ आत्मा, परमात्मा, परलोकादि को व्यर्थ बतलाया गया है। वह एक प्रकार से 'खाओ, पियो और मौज उड़ायो' की मान्यता का समर्थक संप्रदाय था।

बुद्ध और महावीर के धर्मों की समान बातें—यद्यपि उस समय कई अवैदिक धर्म-संप्रदायों का प्रचलन था; फिर भी बुद्ध और महावीर के धर्म ही उस काल के प्रमुख धर्म थे। उनके धार्मिक सिद्धांत और उनके प्रवर्त्तकों के जीवन-वृत्त से संबंधित जहाँ अनेक बातों में समानता थी, वहाँ असमानता भी कम नहीं थी। यहाँ पर उनकी कुछ समान बातों पर प्रकाश डाला जाता है—

१. बुद्ध और महावीर दोनों ही इस देश के पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार में उत्पन्न हुए थे। दोनों ही ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय थे। दोनों ने ही प्रतिष्ठित राजवंशों में जन्म लिया था, और दोनों ही युवावस्था में राजकीय वैभव तथा परिजन-पुरजन को त्याग कर विरक्त हुए थे।

२. दोनों समकालीन थे और दोनों का कार्यक्षेत्र देश का पूर्वी भाग था। दोनों को ही आरंभ में शूरसेन प्रदेश में अधिक सफलता नहीं मिली थी; किंतु बाद में दोनों का वहाँ पर अच्छा प्रचार हुआ था।

३. दोनों ही ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। दोनों ने ही वेद के प्रति अनास्था व्यक्त कर अपने समय की वैदिक मान्यताओं का खंडन किया था।

४. दोनों ने ही हिंसापूर्ण वैदिक यज्ञों का विरोध कर अहिंसा को सर्वोपरि धर्म माना था।

५. दोनों के धर्म निवृत्ति-प्रधान हैं और दोनों ने ही त्याग एवं सदाचार का उपदेश दिया था। दोनों के धर्मों में ही सर्वस्व-त्यागी मुनियों, श्रमणों और भिक्षुओं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी माना गया।

६. दोनों ने ही पंडितों की संस्कृत भाषा की उपेक्षा कर अपने समय की लोक भाषा पाली और प्राकृत में उपदेश दिया था। दोनों की मूल रचनाएँ उस काल की लोक भाषाओं में ही मिलती हैं।

७. दोनों के धर्मों ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, कला-विषयक और साहित्यिक स्थिति में युगांतर कर यहाँ की सामूहिक संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया था।

इन आश्चर्यजनक समानताओं के होते हुए भी उनमें अनेक मौलिक भिन्नताएँ भी थीं; इसीलिए वे दोनों धर्म इस देश में पर्याप्त समय तक समानांतर रूप में फूलते-फलते रहे थे। उन सब बातों का उल्लेख उक्त धर्मों के प्रसंग में आगामी पृष्ठों में किया गया है। उस काल में इन अवैदिक धर्मों के अतिरिक्त वैदिक परंपरा के भी कई धर्म प्रचलित थे; किंतु उनका महत्व बौद्ध और जैन धर्मों की तुलना में कम था। इसीलिए इस अध्याय में पहिले बौद्ध और जैन धर्मों का और उनके पश्चात् अन्य धर्मों का विवरण लिखा गया है।

४७८. श्री शंकराचार्य का आचार दर्शन —रामानंद तिवारी
४७९. वैज्ञानिक अद्वैतवाद—रामदास गौड
४८०. चिद्विलास—संपूर्णानंद
४८१. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी
४८२. भागवत धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय
४८३. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय
४८४. श्री माधवेन्द्रपुरी और वल्लभाचार्य —राधेश्याम बागची
४८५. श्री वल्लभाचार्य और पुष्टिमार्ग —सीताराम चतुर्वेदी
४८६. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—गो. गिरिधारी जी
४८७. शुद्धाद्वैत दर्शन (भाग ३)—रमानाथ भट्ट
४८८. शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय —कंठमणि शास्त्री
४८९. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—दीनदयाल
४९०. अष्टचाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल
४९१. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—मायारानी टंडन
४९२. अष्टछाप के कवियों में ब्रज संस्कृति —श्यामेन्द्र प्रकाश शर्मा
४९३. काकरोली का इतिहास—कंठमणि शास्त्री
४९४. वार्ता साहित्य : एक अध्ययन —हरिहरनाथ टंडन
४९५. भ्रमरगीत—रामचंद्र शुक्ल
४९६. महाकवि सूरदास—नलिनीमोहन सान्याल
४९७. सूर साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी
४९८. सूरदास—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
४९९. सूर : एक अध्ययन—रामरतन भटनागर
५००. सूर साहित्य की भूमिका— ,,
५०१. सूर समीक्षा— ,,
५०२. सूरदास—व्रजेश्वर वर्मा
५०३. सूर-मीमांसा— ,,
५०४. सूर-सौरभ—मुंशीराम शर्मा
५०५. सूरदास और भगवद्भक्ति—मुंशीराम शर्मा
५०६. भारतीय साधना और सूर-साहित्य— ,,
५०७. सूरदास की वार्ता—प्रभुदयाल मीतल
५०८. सूर निर्णय —द्वारकादास पारीख, प्रभुदयाल मीतल
५०९. महाकवि सूरदास—नंददुलारे वाजपेयी,
५१०. सूर और उनका साहित्य—हरवंशलाल
५११. सूर की काव्य कला—मनमोहन गौतम
५१२. सूर का सांस्कृतिक अध्ययन—प्रेमनारायण
५१३. सूर : साहित्य और सिद्धांत—यज्ञदत्त शर्मा
५१४. सूर की झांकी—सत्येन्द्र
५१५. परमानंददास और उनका काव्य —गोवर्धननाथ शुक्ल
५१६. नंदास का जीवन और कृतियाँ —भवानीदत्त उप्रेती
५१७. श्री चैतन्यदेव—सुंदरानंद
५१८. चैतन्य चरितावली—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
५१९. श्री गौड़ेश्वर संप्रदाय का इतिहास —पूर्णसिंह वैस ठाकुर
५२०. श्री माध्व गौड़ीय तत्व दर्शन—बांकेपिया
५२१. श्री राधारमण जी का प्रादुर्भाव— ,,
५२२. सूरदास मदनमोहन—प्रभुदयाल मीतल
५२३. चैतन्य मत और व्रज साहित्य— ,,
५२४. हिंदी कृष्ण-भक्ति धारा और चैतन्य संप्रदाय—मीरा श्रीवास्तव
५२५. राधावल्लभ भक्तमाल—प्रियादास शुक्ल
५२६. राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक
५२७. श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गो.
५२८. भक्तकवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी
५२९. ध्रुवदास और उनका साहित्य—केदारनाथ
५३०. चंदसखी का जीवन और साहित्य —प्रभुदयाल मीतल
५३१. चाचा वृंदावनदास और उनका साहित्य—गोपाल व्यास
५३२. आचार्य परंपरा परिचय—किशोरदास
५३३. निंबार्क माधुरी—बिहारीशरण ब्रह्मचारी

५३४. निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिंदी कवि—नारायणदत्त शर्मा
५३५. स्वामी हरिदास अभिनंदन ग्रंथ —छबीलेवल्लभ गोस्वामी
५३६. स्वामी हरिदास जी—प्रभुदयाल मीतल
५३७. स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उनका वाणी साहित्य—गोपालदत्त शर्मा
५३८. कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव —शरणविहारी गोस्वामी
५३९. नागरीदास की कविता—फैयाजअली खाँ
५४०. रामानंद की हिंदी रचनाएं —हजारीप्रसाद द्विवेदी
५४१. रामानंद संप्रदाय का हिंदी साहित्य पर प्रभाव—बदरीनारायण श्रीवास्तव
५४२. सिद्ध योगी कीलदास—परांकुशाचार्य
५४३. राम कथा का विकास—फादर बुल्के
५४४. गोस्वामी तुलसीदास—श्यामसुंदरदास
५४५. तुलसीदास—माताप्रसाद गुप्त
५४६. तुलसीदास—चंद्रबली पांडे
५४७. गोस्वामी तुलसीदास : जीवनी, कला और साहित्य—रामदत्त भारद्वाज
५४८. तुलसी का घर-बार— ,,
५४९. तुलसीदास और उनका काव्य—रामनरेश
५५०. तुलसी की काव्य कला—भाग्यवती सिंह
५५१. तुलसी दर्शन—बलदेवप्रसाद मिश्र
५५२. तुलसी दर्शन मीमांसा—उदयभानु सिंह
५५३. तुलसीदास और उनका युग—राजपति दी.
५५४. हिंदी पद परंपरा और तुलसीदास—रामचंद्र मिश्र
५५५. मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—रामरतन भटनागर
५५६. तुलसीदास का कथा शिल्प—रांगेय राघव
५५७. रामचरित मानस सटीक—विविध विद्वान
५५८. विनय पत्रिका सटीक—वियोगी हरि
५५९. ,, —हनुमानप्रसाद पोद्दार
५६०. ,, —देवनारायण द्विवेदी
५६१. दोहावली सटीक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
५६२. कवितावली सटीक—इंद्रदेव नारायण
५६३. गीतावली सटीक—(नवलकिशोर प्रेस)
५६४. कृष्ण गीतावली सटीक—वामदेव शर्मा
५६५. सुजान रसखान—किशोरीलाल गोस्वामी
५६६. रसखानि—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
५६७. रसखान और उनका काव्य—चंद्रशेखर पांडे
५६८. रसखान-रत्नावली—भवानीशंकर याज्ञिक
५६९. मीराँ-माधुरी—ब्रजरत्नदास
५७०. मीरांबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी
५७१. मीरा की प्रेम-साधना —भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'
५७२. मीराँ : एक अध्ययन—पद्मावती 'शबनम'
५७३. मीराँ : जीवनी और काव्य —महावीरसिंह गहलोत
५७४. मीराँ सुधासिंधु—आनंदस्वरूप स्वामी
५७५. मीराँ सुधा लहरी— ,,
५७६. मीराँ अभिनंदन ग्रंथ—ललिताप्रसाद सुकुल
५७७. नागर समुच्चय—राधाकृष्णदास
५७८. नागरीदास की वाणी—ब्रजवल्लभशरण
५७९. नागरीदास ग्रंथावली—किशोरीलाल गुप्त
५८०. राम भक्ति में मधुर-उपासना —भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'
५८१. राम भक्ति में रसिक संप्रदाय —भगवतीप्रसाद सिंह
५८२. वंशीअलि के ललित संप्रदाय का अध्ययन—बाबूलाल गोस्वामी
५८३. भक्तमाल तिलक (भक्तिसुधा स्वाद) —रूपकला जी
५८४. भक्तमाल सटीक (वृंदाबन) —ब्रजवल्लभशरण
५८५. हिंदी भक्तमाल साहित्य—ललिताप्रसाद दुबे
५८६. भागवत का हिंदी कृष्ण भक्ति साहित्य पर प्रभाव—विश्वनाथ शुक्ल
५८७. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन—रामकृष्ण आचार्य

५८८. मध्यकालीन धर्म-साधना—हजारीप्रसाद द्वि.
५८९. मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी
५९०. मध्ययुगीन हिंदी साहित्य में कृष्ण विकास कथा—सरोजिनी कुलश्रेष्ठ
५९१. मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद —कपिलदेव पांडेय
५९२. सगुण भक्ति काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—रामनरेश वर्मा
५९३. कृष्ण काव्य में मधुर भाव—पूर्णमासी राय
५९४. ब्रजभाषा कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति—स्वरूपनारायण
५९५. संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव—विश्वंभरनाथ उपाध्याय
५९६. कृष्ण काव्य धारा में मुसलमान कवियों का योग दान—हरींसिंह
५९७. सूफी मत और हिंदी साहित्य —विमलकुमार जैन
५९८. हिंदी के कृष्ण भक्ति साहित्य में संगीत—उषा गुप्ता
५९९. मैथिल के कृष्ण भक्त कवि-ललितेश्वर झा
६००. विद्यापति—खगेन्द्रनाथ मित्र
६०१. विद्यापति ठाकुर—उमेश मिश्र
६०२. विद्यापति और उनकी पदावली —देशराजसिंह भाटी
६०३. हिंदी और बंगाली वैष्णव कवि—रत्नकुमारी
६०४. ब्रजबुलि साहित्य—रामपूजन तिवारी
६०५. ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य—कणिका विश्वास
६०६. हिंदी और उड़िया वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन—रामउजागर तिवारी
६०७. पंजाब का हिंदी साहित्य—सत्यपाल गुप्त
६०८. राजस्थान का पिंगल साहित्य —मोतीलाल मेनारिया
६०९. गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—जगदीश गुप्त
६१०. हिंदी और मराठी का निर्गुण संत काव्य—प्रभाकर माचवे
६११. हिंदी को मराठी संतों की देन —विनयमोहन शर्मा
६१२. हिंदी और कन्नड़ में भक्ति आंदोलन—हिरण्यमय
६१३. हिंदी और मलयालम में कृष्ण-भक्ति काव्य—भास्करन नायर
६१४. अलबेरुनी का भारत—संतराम
६१५. राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास —विनायक चिंतामणि वैद्य
६१६. राजस्थान—कर्नल टाड
६१७. भारत के प्राचीन राजवंश—विश्वेश्वरनाथ
६१८. इतिहास राजस्थान— देवीप्रसाद मुंशी
६१९. दिल्ली या इंद्रप्रस्थ—दत्तात्रेय बल. पारसनीस
६२०. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादीलाल
६२१. राणा सांगा—मनु शर्मा
६२२. बाबरनामा (इंडोलोजीकल बुक हाउस)
६२३. शेरशाह—अब्बास सरवानी
६२४. हुमायूनामा—ब्रजरत्नदास
६२५. अकबरनामा—निजामुद्दीन अहमद
६२६. तबकाते अकबरी— ,,
६२७. अकबर—राहुल सांकृत्यायन
६२८. अकबरी दरबार—रामचंद्र वर्मा
६२९. अकबरी दरबार के हिंदी कवि —सरयूप्रसाद अग्रवाल
६३०. जहाँगीरनामा—ब्रजरत्नदास
६३१. दाराशिकोह—के. आर. कानूनगो
६३२. औरंगजेब—खाफीखाँ
६३३. भारत में मुस्लिम शासन—एस.आर. शर्मा
६३४. मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल
६३५. मुगलकालीन भारत का इतिहास —सेठी और महाजन
६३६. मुगल साम्राज्य का पतन—यदु. सरकार
६३७. शिवाजी— ,,
६३८: मराठे और अंगरेज—गिरिधर शुक्ल

६३९. भारत में अंगरेज़ी राज्य के दोसौ वर्ष—केशवकुमार ठाकुर
६४०. पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ–वासुदेवशरण अग्र.
६४१. ब्रज का इतिहास (भाग १-२) —कृष्णदत्त वाजपेयी
६४२. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास —प्रभुदयाल मीतल
६४३. संस्कृत साहित्य का इतिहास —कन्हैयालाल पोद्दार
६४४. " —वाचस्पति गैरोला
६४५. " —हंसराज अग्रवाल
६४६. " —बलदेव उपाध्याय
६४७. पालि साहित्य का इतिहास —भरतसिंह उपाध्याय
६४८. प्राकृत साहित्य का इतिहास —जगदीशचंद्र जैन
६४९. अपभ्रंश साहित्य—हरिवंश कोछड़
६५०. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवरसिंह
६५१. हिंदी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन
६५२. हिंदी का आदि काल–हजारीप्रसाद द्विवेदी
६५३. हिंदी साहित्य की भूमिका— "
६५४. हिंदुई साहित्य का इतिहास (गार्सां द तासी,—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
६५५. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन)—किशोरीलाल गुप्त
६५६. शिवसिंह सरोज— "
६५७. मिश्रबंधु विनोद—मिश्रबंधु
६५८. हिंदी भाषा और साहित्य–श्यामसुंदरदास
६५९. हिंदी साहित्य का इतिहास–रामचंद्र शुक्ल
६६०. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा
६६१. हिंदी भाषा और साहित्य का विकास —अयोध्यासिंह उपाध्याय
६६२. हिंदी साहित्य का इतिहास —रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
६६३. हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास—चतुरसेन शास्त्री
६६६. हिंदी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी
६६५. हिंदी साहित्य–धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा
६६६. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास —(नागरी प्रचारिणी सभा)
६६७. ब्रजभाषा—धीरेन्द्र वर्मा
६६८. ब्रजभाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा—कपिलदेव सिंह
६६९. ब्रजभाषा साहित्य का इतिहास—सत्येन्द्र
६७०. राजस्थान का पिंगल साहित्य —मोतीलाल मनेरिया
६७१. हिंदी पर फारसी का प्रभाव —अंबिकाप्रसाद वाजपेयी
६७२. उर्दू साहित्य का इतिहास—एजाज़हुसैन
६७३. उर्दू साहित्य परिचय—हरिशंकर शर्मा

निर्गुण परंपरा के मत और पंथ

६७४. बीजक, साखी और पद—कबीर साहब
६७५. गुरु ग्रंथ साहब—सिख गुरुओं की वाणी
६७६. दशम ग्रंथ—गुरु गोविंदसिंह
६७७. रैदास की बानी—(बेलवेडियर प्रेस)
६७८. गरीबदास की बानी— "
६७९. जगजीवन साहब की बानी— "
६८०. भीखा साहब की बानी— "
६८१. पलटू साहब की बानी— "
६८२. चरनदास की बानी— "
६८३. दयाबाई की बानी— "
६८४. सहजोबाई की बानी— "
६८५. व्योमसार—बख्तावर
६८६. शूनिसार— "
६८७. घट रामायन—तुलसी साहब
६८८. रत्नसागर— "
६८९. शब्दावली— "
६९०. सार वचन नज्म—शिवदयालसिंह (स्वामी महाराज)
६९१. प्रेमबानी—सालिगराम (हुजूर महाराज)

६९२. कबीर वचनावली
—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
६९३. कबीर ग्रंथावली—श्यामसुंदरदास
६९४. कबीर बीजक—विचारदास
६९५. कबीर पदावली—रामकुमार वर्मा
६९६. कबीर दोहावली—महेन्द्रकुमार जैन
६९७. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी
६९८. कबीर—चंद्रवली पांडे
६९९. कबीर का रहस्यवाद—रामकुमार वर्मा
७००. कबीर की विचारधारा—गोविंद त्रिगुणायत
७०१. कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तम
७०२. संत रविदास और उनका काव्य
—रामानंद स्वामी
७०३. संत कवि दरिया—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
७०४. संत सुधा सार—वियोगी हरि
७०५. संत दर्शन—त्रिलोकीनारायण दीक्षित
७०६. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय
—पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
७०७. उत्तर भारत की संत परंपरा
—परशुराम चतुर्वेदी
७०८. मध्यकालीन संत साहित्य
—रामखेलावन पांडेय
७०९. संत साहित्य की सामाजिक
एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—सावित्री शुक्ल
७१०. निर्गुण काव्य की सांस्कृतिक
पृष्ठभूमि—मोतीसिंह
७११. गुरु ग्रंथ साहब के धार्मिक और
दार्शनिक सिद्धांत—जयराम मिश्र
७१२. परिचयी साहित्य—त्रिलोकीनारायण दीक्षित

आर्य समाज

७१३. ऋग्वेद भाष्य भूमिका—दयानंद स्वामी
७१४. ऋग्वेद भाष्य— ,,
७१५. यजुर्वेद भाष्य— ,,
७१६. सत्यार्थ प्रकाश— ,,
७१७. संस्कार विधि— ,,
७१८. हिंदी को आर्यसमाज की देन
—लक्ष्मीनारायण गुप्त

पत्र-पत्रिकाएँ

७१९. वेदवाणी (मासिक), अमृतसर
७२०. वैदिक धर्म (,,), सूरत
७२१. धर्मदूत (,,), सारनाथ वाराणसी
७२२. जैनहितैषी (बंद), बंबई
७२३. जैन भारती (साप्ताहिक), कलकत्ता
७२४. जैन संदेश (,,), मथुरा
७२५. अनुग्रह (गुजराती मासिक), अहमदाबाद
७२६. वैश्वानर (,,), पोरबंदर
७२७. वल्लभीय सुधा (त्रैमासिक-बंद), मथुरा
७२८. श्री वल्लभ विज्ञान (मासिक), इंदौर
७२९. गौड़ीय (मासिक), कलकत्ता
७३०. श्री गौरांग (त्रैमासिक-बंद), वाराणसी
७३१. श्री सुदर्शन (मासिक-बंद), वृंदावन
७३२. श्री सर्वेश्वर (मासिक), वृंदावन
७३३. नाम माहात्म्य-व्रजांक (मासिक-बंद),
वृंदावन
७३४. मानव धर्म-कृष्णांक (मासिक-बंद), दिल्ली
७३५. अखंड ज्योति (मासिक), मथुरा
७३६. साधन (मासिक), मथुरा
७३७. श्री कृष्ण संदेश (मासिक), मथुरा
७३८. कल्याण—कृष्ण, शिव, शक्ति, भक्ति
विशेषांक (मासिक), गोरखपुर
७३९. सरस्वती (मासिक), प्रयाग
७४०. ज्ञानोदय (मासिक), कलकत्ता
७४१. भारतीय (मासिक), बंबई
७४२. संगीत—हरिदास अंक (मासिक), हाथरस
७४३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक),
वाराणसी
७४४. सम्मेलन पत्रिका (त्रैमासिक), प्रयाग
७४५. हिन्दुस्तानी (,,), प्रयाग
७४६. हिंदी अनुशीलन (,,), प्रयाग
७४७. साहित्य संदेश (,,), आगरा
७४८ व्रजभारती (,,), मथुरा
७४९. हिंदुस्तान (दैनिक और साप्ताहिक) दिल्ली
७५०. धर्मयुग (साप्ताहिक), बंबई

अनुक्रमणिका

१. बौद्ध धर्म

संक्षिप्त परिचय—

बुद्ध का जीवन-वृत्तांत—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन कोशल जनपद के अंतर्गत शाक्य गण राज्य की राजधानी कपिलवस्तु से कुछ दूर लुंबिनी के शाल वन में विक्रमपूर्व सं० ५६६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था, जो शाक्य गण राज्य के प्रमुख थे और उनकी माता का नाम महामाया था। उनका आरंभिक नाम सिद्धार्थ था।

आरंभिक जीवन—सिद्धार्थ को आरंभ से ही बड़े ऐश-आराम में रखा गया था और उनकी सुख-सुविधा के सभी साधन सुलभ किये गये थे। एक राजकुमार के लिए जिन विद्याओं का जानना आवश्यक होता है, उन सब की उन्होंने पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। जब वे युवा हुए, तब उनका विवाह एक परम सुंदरी तथा गुणवती राजकुमारी के साथ कर दिया गया। उसका नाम गोपा अथवा यशोधरा था। उससे उन्हें एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

अशांति और गृह-त्याग—यद्यपि सिद्धार्थ को समस्त सांसारिक सुख प्राप्त थे, तथापि उनका मन उनमें नहीं रमता था और वे दिन-रात अशांति का अनुभव करते थे। वे सोचा करते, यह संसार जन्म-जरा-मरण के दुःखों से पूर्ण है और यह मानव तन भी विविध भाँति के रोगों एवं क्लेशों का घर है, जो अंत में जर्जर होकर नष्ट हो जाने वाला है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और अस्थायी है। क्या कोई ऐसा उपाय भी हो सकता है, जिससे इन सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाया जा सके? उन्होंने अनेक विज्ञ जनों से इसके विषय में पूछ-ताछ की, किंतु कोई भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका था। अंततः शांति की खोज में उन्होंने विरक्त होकर घर से भाग जाने का निश्चय किया। वे आषाढ़ी पूर्णिमा को मध्य रात्रि के समय अपने वृद्ध माता-पिता, युवती स्त्री और अबोध शिशु को सोते हुए छोड़ कर तथा राजकीय वैभव का परित्याग कर घर से चल दिये! उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की थी।

तपस्या—उन्होंने राजकुमार का वेश छोड़ कर फ़क़ीरी बाना धारण किया और वे सम्यक् ज्ञान, चिरंतन सुख तथा शाश्वत शांति की खोज में पर्याप्त समय तक कोशल एवं मगध के जंगलों में भटकते रहे। उन्हें बतलाया गया कि वे तप द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकते हैं। फलतः वे उरुवेला नामक एक निर्जन स्थान में तपस्या करने लगे। उन्होंने सब प्रकार के शारीरिक कष्टों को सहन कर ६ वर्षों तक घोर तप किया था। उससे स्वर्ण के समान कांति वाला उनका सुंदर-सुडौल शरीर सूख कर कांटा हो गया; किंतु फिर भी उन्हें शाश्वत शांति और सम्यक् ज्ञान का अनुभव नहीं हुआ। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि इस प्रकार उनका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता, तो उन्होंने तपस्या छोड़ दी।

बुद्धत्व-प्राप्ति—एक बार उरुवेला में निरंजना नदी के तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठे हुए वे गहन चिंतन में लीन थे। रात्रि के अंतिम प्रहर में अकस्मात उनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि अब उन्हें सम्यक् बोध हो गया है। इस प्रकार प्रबुद्ध हो जाने पर वे सिद्धार्थ के बजाय 'बुद्ध' (जागृत अथवा ज्ञान-प्राप्त) के नाम से प्रसिद्ध हुए। वह विक्रमपूर्व सं० ५३१ की वैशाखी पूर्णिमा का दिन था और उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष की थी।

जिस उरुवेला स्थान पर उन्हें संबोध हुआ था, उसे 'बुद्ध गया' और वहाँ के अश्वत्थ वृक्ष को 'बोधि वृक्ष' कहते हैं। वह ऐतिहासिक महत्व का वृक्ष तो अब नहीं रहा; किंतु उसका स्थानापन्न दूसरा अश्वत्थ वृक्ष प्रायः १०० फीट ऊँचाई के आकार का अब भी विद्यमान है।

धर्मचक्र-प्रवर्त्तन—बुद्धत्व-प्राप्ति के अनंतर वे अपने 'संबोध' द्वारा संसार के दुखी मानवों को लाभान्वित करने के विचार से विचरण करने लगे। सबसे पहिले वे गया से चल कर वाराणसी के निकटवर्ती ऋषिपतन मृगदाव (इसिपतन मिगदाय) नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने कौडिल्य आदि पाँच परिव्राजकों को, जो पहिले भी तपस्या-काल में उनके साथ रहे थे, अपना प्रथम धर्मोपदेश वि० पू० सं० ५३१ की आषाढ़ी पूर्णिमा को दिया था। वह उपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है और वे पाँच परिव्राजक 'पंचवर्गीय भिक्षु' कहलाते हैं। उपदेश का स्थान वाराणसी के निकट का सारनाथ है। पालि भाषा के 'धम्मचक्क पवत्तन सुत्त' में वह उपदेश संकलित किया गया है। उस महत्वपूर्ण घटना के कारण सारनाथ का वह ऋषिपतन मृगदाव नामक पवित्र स्थल बौद्ध धर्मावलंबियों का एक विख्यात तीर्थ हो गया[1]।

'चारिका' और 'वर्षा-वास'—'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' के पश्चात् भगवान् बुद्ध विचरण करते हुए सद्धर्म का प्रचार करने लगे। वे वर्ष में प्रायः ८-९ महीने 'चारिका' (विचरण) करते थे और वर्षा-ऋतु के ३-४ महीनों तक एक ही स्थान पर धर्मोपदेश करते हुए 'वर्षा-वास' में बिताते थे। अनुसंधान से ज्ञात हुआ है कि बुद्ध ने अपना प्रथम वर्षा-वास सारनाथ में किया था, जहाँ उनकी स्मृति में 'मूल गंधकुटी' की स्थापना की गई थी। संबोध-प्राप्ति के अनंतर बुद्ध ने अपने जीवन में ४५ 'वर्षा-वास' किये थे, जिनमें २५ केवल श्रावस्ती नामक स्थान पर हुए थे। श्रावस्ती का 'अनाथपिंडक जेतवनाराम' नामक धार्मिक स्थल उन्हें अत्यंत प्रिय था। वहाँ के प्रसिद्ध सेठ अनाथ-पिंडक ने जेत राजकुमार को मुँह माँगा मूल्य देकर भूमि ली थी और उस पर जो विशाल विहार बनवाया गया, वही उन दोनों के नामों से 'अनाथपिंडक जेतवनाराम' कहलाता था।

बुद्ध के जीवन का जितना संबंध श्रावस्ती से रहा था, उतना किसी दूसरे स्थान से नहीं रहा। उनके जीवन के पिछले २५ वर्ष प्रायः वहाँ के जेतवन विहार में ही बीते थे। उन्होंने वहाँ पर अपने अधिकांश वर्षा-वास तो किये ही थे, उनके अतिरिक्त अपने भ्रमण-काल में भी वे जब उधर से निकलते थे, तब वहाँ कुछ समय तक अवश्य निवास करते थे। उनके सर्वाधिक धर्मसूत्र भी श्रावस्ती में ही भाषित हुए थे।

---

(१) बौद्ध धर्म के लोप हो जाने पर वह गौरवपूर्ण प्राचीन स्थल अज्ञात हो गया था; किंतु पुरातत्वान्वेषियों के अनुसंधान से वर्तमान काल में उसका पुनरुद्धार किया गया है। विख्यात बौद्ध विद्वान अनागरिक धर्मपाल के प्रयत्न से वहाँ पर एक भव्य बौद्ध मंदिर बनाया गया है, जो 'मूल गंधकुटी विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्घाटन सं० १९७८ की कार्तिकी पूर्णिमा (११ नवम्बर सन् १९३१) को हुआ था, जिसमें संसार के अनेक देशों के बौद्धों ने योग दिया था। इस मंदिर में भगवान् बुद्ध के पवित्र धातुशेष (अस्थियाँ) सुरक्षित हैं, और वहाँ की कलापूर्ण सुंदर मूर्ति बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन की मुद्रा में बनाई गई है।

अंतिम काल और परिनिर्वाण—बुद्ध ने अपना अंतिम 'वर्षा-वास' वैशाली में किया था, जहाँ वे कुछ अस्वस्थ हो गये थे। जब उन्होंने समझा कि उनका अंत काल आ गया है, तो वे अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ वैशाली से चल कर मल्ल गणराज्य की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने चुंड लुहार के आम्रवन में विश्राम किया था। चुंड ने आग्रहपूर्वक उनका आतिथ्य किया। उसका दिया हुआ भोजन भगवान् बुद्ध को अनुकूल नहीं पड़ा, फलतः वे और अधिक अस्वस्थ हो गये। वही उनका अंतिम भोजन था। पावा से वे मल्लों के दूसरे निकटवर्ती स्थान कुशिनारा चले गये। वहाँ के उपवत्तन नामक वन में शाल के दो वृक्षों के बीच उनकी अंतिम शैया लगा दी गई। उस समय उन्होंने वहाँ के एक वयोवृद्ध ब्राह्मण परिव्राजक सुभद्र को अंतिम प्रवज्या दिलाई थी।

उन्होंने आनंद सहित उपस्थित भिक्षुओं को अपना अंतिम उपदेश देते हुए कहा,—"वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्मादेथाति"—अर्थात् संस्कार नश्वर हैं, अप्रमाद पूर्वक (जीवन के लक्ष को) संपादित करो। उस समय सभी उपस्थित भिक्षुगण अश्रुपूरित नेत्रों से जल-धारा बहा रहे थे। उनका देहावसान होने पर मल्ल गणराज्य के प्रमुख सामंतों ने उपस्थित होकर उनकी अर्थी बनाई, और उसे वे हिरण्यवती नदी के तटवर्ती अपने 'मुकुटबंधन' नामक चैत्य में ले गये। वहाँ पर बड़े समारोह के साथ उनका दाह संस्कार किया गया। उनके अस्थि अवशेषों को मल्लों ने आदरपूर्वक उठा कर अपनी सुरक्षा में रख लिया था। बुद्ध का परिनिर्वाण कुशिनारा में विक्रमपूर्व सं० ४८६ की वैशाखी पूर्णिमा को रात्रि के अंतिम प्रहर में हुआ था। उस समय उनकी आयु ८० वर्ष की थी।

अस्थि-विभाजन—भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण का दुःखदायी समाचार सुनकर कई राज्यों के प्रतिनिधि उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने को कुशिनारा पहुँचे। उन्होंने बुद्ध के अस्थि-अवशेषों में से थोड़े-थोड़े अंश की माँग की, ताकि वे उन्हें अपने राज्यों में ले जाकर उन पर समुचित स्मारकों का निर्माण करा सकें। मल्ल लोग उस अमूल्य निधि में से किसी को भी हिस्सा बँटाने की स्वीकृति नहीं दे रहे थे। इस पर वाद-विवाद हुआ और वह इतना बढ़ा कि परस्पर युद्ध करने तक की नौबत आ गई! उस समय द्रोण नामक एक वयोवृद्ध भिक्षु ने सब लोगों को शांत करते हुए कहा कि जिस महात्मा ने जीवन भर शांति और क्षमा का उपदेश किया था, उनके अवशेषों के लिए इस प्रकार अशांति उत्पन्न करना सर्वथा अनुचित है।

अंत में द्रोण के सुझाव के अनुसार बुद्ध के अस्थि-अवशेष आठ भागों में विभाजन किये गये, और उन्हें उपस्थित आठ राज्यों के प्रतिनिधियों में बाँट दिया गया। इस प्रकार पावा और कुशिनारा के मल्ल, वैशाली के लिच्छिवि, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, अल्लकप्प के बुलि राज्यों के अतिरिक्त मगध तथा वेठदीप के प्रतिनिधियों ने बुद्ध के अवशेषों का भाग प्राप्त किया था। पिप्पली वन के मौर्य बाद में पहुँचे थे, अतः उन्हें चिता की भस्म ही मिल सकी थी। बुद्ध के अस्थि-विभाजन का वह दृश्य सांची की कला में प्रदर्शित किया गया है। अस्थि-अवशेषों पर विभिन्न स्थानों में जो स्मारक बनाये गये थे, उनमें शालवन और मुकुटबंधन के चैत्य विशेष महत्वपूर्ण थे।

बुद्ध-जीवन से संबंधित स्मरणीय तिथियाँ—भगवान् बुद्ध के जीवन की तीन महान् घटनाएँ—जन्म, संबोध और निर्वाण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। यह बड़े संयोग की बात थी कि वे तीनों महत्वपूर्ण घटनाएँ वैशाखी पूर्णिमा को हुई थीं। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की तिथि आषाढ़ी पूर्णिमा है। ये तिथियाँ समस्त संसार के बौद्ध धर्मावलंबियों के लिए सदा से स्मरणीय रही हैं।

भगवान् बुद्ध

भगवान् बुद्ध की नासिक मूर्ति

बौद्ध पुण्य स्थल—भगवान् बुद्ध के जीवन से संबंधित विविध स्थानों में से पाँच अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनकी प्राचीन महत्ता और वर्तमान स्थिति का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. लुंबिनी— बुद्ध के जन्म का स्थान। यहाँ पर अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष वि० पू० सं० १६५ में एक स्तूप का निर्माण कराया था। यह स्थान उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर में नेपाल का एक सीमावर्ती गाँव है, जो इस समय 'रुम्मनदेई' कहलाता है।

२. उरुवेला— बुद्ध की संबोध-प्राप्ति का स्थल। यहाँ का बोधि-वृक्ष सदा से बड़ा पवित्र माना जाता रहा है। यह स्थल बिहार राज्य में गया के निकट है और 'बुद्ध गया' कहलाता है। यहाँ बुद्ध मंदिर बना हुआ है।

३ ऋषिपतन (मृगदाव)—बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश अर्थात् 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' का स्थल। यह उत्तर प्रदेश में वाराणसी के निकटवर्ती सारनाथ नामक स्थान में है। यहाँ पर एक आधुनिक बौद्ध विहार और बुद्ध मंदिर बनाया गया है।

४ श्रावस्ती (जेतबनाराम)— बुद्ध के अनुयायी सेठ अनाथपिंडक ने यहाँ पर एक विशाल विहार बनवाया था। भगवान् बुद्ध ने यहाँ पर प्रचुर काल तक निवास किया था और अपने अनेक महत्वपूर्ण धर्मोपदेश दिये थे। यह स्थान उत्तरप्रदेश में सहेत-महेत गाँवों के निकट था। इस समय सहेत गोंडा ज़िला में और महेत बहरायच ज़िला में दो छोटे गाँव हैं, जो एक-दूसरे के निकट बसे हुए हैं।

५. कुशिनारा—बुद्ध के परिनिर्वाण का पुण्य स्थल। यहाँ पर एक विहार बनाया गया था, जिसमें बुद्ध-परिनिर्वाण की विशाल मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी। इस स्थल की पहिचान उत्तर प्रदेश राज्यांर्गत गोरखपुर ज़िला के कसिया गाँव और विशेषतया उसके निकटवर्ती अनुरुधवा गाँव के टीले से की गई है। कसिया गोरखपुर से ३२ मील पूर्व में और देवरिया से २१ मील उत्तर में स्थित है।

प्रचार-क्षेत्र और शिष्य—बुद्ध के धर्म-प्रचार का प्रमुख क्षेत्र भारत का पूर्वी भाग था, जिसके अंतर्गत कोशल, मगध और वत्स के प्राचीन राज्य थे। उनके राजा प्रसेनजित्, बिंबसार और उदयन ने आरंभ में बुद्ध की शिक्षाओं की ओर ध्यान नहीं दिया था; किंतु बाद में वे अपने राज कर्मचारी और प्रजाजन सहित उनके अनुयायी हो गये थे।

बुद्ध ने अपने जीवन काल में ही हजारों-लाखों व्यक्तियों को सद्धर्म का उपदेश देकर अपना अनुयायी बनाया था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें प्रमुख व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सारिपुत्त, २. महामोग्गलान, ३. महाकस्सप, ४. महाकच्चान, ५. महाकोट्ठिल, ६. महाकप्फिन, ७. चुंड, ८. अनिरुद्ध, ९. रेवत, १०. उपालि, ११. आनंद, १२. राहुल और १३. महापजापति गोतमी।

उनमें से महाकच्चान और रेवत का प्राचीन ब्रज क्षेत्र से अधिक संबंध रहा था। महाकच्चान उज्जैन निवासी थे; किंतु उन्होंने मथुरा में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का व्यवस्थित रूप में प्रचार किया था। रेवत सोरों के निवासी थे। उन्होंने वैशाली में बुद्ध से प्रवज्या ली थी। महापजापति गोतमी बुद्ध की एक मात्र महिला शिष्या थी, जिसे अनेक प्रतिबंधों के साथ भिक्षुणी होने की आज्ञा दी गई थी।

भिक्षुणी संघ—भगवान् बुद्ध ने पहिले पुरुषों को ही अपना अनुयायी बनाया था और स्त्रियों का निषेध किया था। जब पुरुष साधकों के 'भिक्षुसंघ' की स्थापना हो गई, तब अनेक स्त्री साधिकाओं ने भी बुद्ध से प्रव्रज्या लेकर 'भिक्षुणी संघ' बनाने की प्रार्थना की थी। उनकी विनीत प्रार्थना की बुद्ध सदैव उपेक्षा करते रहे थे। उनका मत था, स्त्रियाँ साधारण उपासिका बन कर अपने घर में ही रहें। उन्हें भिक्षुणी बन कर गृह-त्याग नहीं करना चाहिए। बाद में कई परम साध्वी नारियों के त्यागपूर्ण जीवन से प्रभावित होकर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद ने उनसे प्रार्थना की, कि वे अधिकारिणी महिलाओं को भी प्रव्रज्या देने की कृपा करें। इस पर बुद्ध ने अनेक प्रतिबंधों के साथ महा पजापति गोतमी के संरक्षण में 'भिक्षुणी संघ' बनाने की बात मान ली थी।

उपदेश की भाषा—बुद्ध से पहिले उत्तर भारत की जो लोक-भाषा थी, उसे भाषा-शास्त्रियों ने 'पालि' नाम दिया है। उसका प्रचार पश्चिमोत्तर भारत के तक्षशिला नगर से लेकर पूर्वी भारत के चंपा तक था। उस काल की विद्वत् भाषा को पाणिनि प्रभृत्ति वैयाकरणों ने व्याकरण के कठोर नियमों से जकड़ कर 'संस्कृत' बना दिया था। वह वैदिक भाषा से कुछ भिन्न थी और उसका प्रचार विद्वानों तक ही सीमित था। भगवान् बुद्ध ने विद्वत् भाषा 'संस्कृत' की उपेक्षा कर लोक-भाषा 'पालि' को अपनाया था। उसी में उन्होंने अपना धर्मोपदेश दिया था, जिससे उनका संदेश जन साधारण तक बड़ी सुगमता पूर्वक पहुंच सका था। बुद्ध का समस्त मूल धर्मोपदेश पालि भाषा में ही मिलता है।

बौद्ध धर्म का मूल स्वरूप—भगवान् बुद्ध ने संबोध-प्राप्ति के अनंतर सारनाथ में अपना प्रथम धर्मोपदेश अपने शिष्य पाँच परिव्राजकों को देते हुए कहा था,—"हे भिक्षुओ! १. दुःख का सर्वव्यापी अस्तित्व, २. दुःख का सार्वजनिक कारण, ३. दुःख के संपूर्ण निरास की संभावना और ४. दुःख के निरास का मार्ग,—ये चार 'आर्य सत्य' हैं। इनके ज्ञान और दर्शन से मेरा चित्त मुक्त हो गया है। मुझे ज्ञात हुआ कि मैं सम्यक् संबोध प्राप्त कर चुका हूँ। भिक्षुओ! एक ओर सुखपूर्ण काम्य कर्म हैं और दूसरी ओर काया-क्लेश युक्त कठोर तपस्या। ये दोनों ही अंतिम कोटि के होने के कारण सदोष हैं। सांसारिक भोग में सुख मानकर विषय-वासना में लिप्त होना निंदनीय है; किंतु उससे भी अधिक निन्द्य है कठोर साधनों से शरीर को कष्ट देना। इन दोनों एकांतिक मार्गों की उपेक्षा कर 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करना उचित है। उसी से संबोध और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बुद्ध का वह 'मध्यम मार्ग' उनके द्वारा कथित चार आर्य सत्यों में से 'चौथा सत्य' है। वह 'अष्टांगिक' है, जिसके आठ अंग हैं,—१. सम्यक् दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प, ३. सम्यक् वाणी, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५. सम्यक् आजीव, ६. सम्यक् व्यायाम, ७. सम्यक् स्मृति और ८. सम्यक् समाधि। 'चार आर्य सत्य' और 'अष्टांगिक मध्यम मार्ग' का उपदेश ही बौद्ध धर्म का सुप्रसिद्ध 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' है, जिस पर इस धर्म के मूल सिद्धांत आधारित हैं। जैकोबी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध धर्म का आधार सांख्य दर्शन माना है, किंतु उनका मत पूर्णतया ठीक नहीं है। असल में इस धर्म के मूल सिद्धांत उपनिषद्, गीता और सांख्य दर्शन तीनों से लिये गये हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म के वृक्ष पर एक नई 'क़लम' की भाँति बौद्ध धर्म का विकास हुआ था। राजर्षि जनक ने भोग में योग के निर्वाह की जो परंपरा प्रचलित की थी और भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, बुद्ध का धर्म प्रायः उसी का प्रत्याख्यान था।

बौद्ध धर्म के तीन मुख्य तत्व है,—१. शील, २. समाधि तथा ३. प्रज्ञा; और इसके तीन आधार स्तंभ है,—१. बुद्ध, २. धर्म तथा ३. संघ। उन्हें 'त्रिरत्न' अथवा 'त्रिशरण' कहा गया है। इस धर्म में पांच सात्विक कर्मों की मान्यता है, जो 'पंच शील' कहलाते हैं। वे है,—१. अहिंसा (किसी को कष्ट न देना), २. अस्तेय (चोरी न करना), ३. सत्य (मिथ्या भाषण न करना), ४. ब्रह्मचर्य (व्यभिचार न करना), ५. मद्य निषेध (मदिरा-पान न करना)। ये पाँचों कर्म भिक्षु और गृहस्थ प्रत्येक बौद्ध के लिए है। उनके अतिरिक्त पाँच कर्म भिक्षुओं के लिए विशेष रूप से बतलाये गये है। वे हैं,—१. अपराह्न में भोजन न करना, २. माला धारण न करना, ३. संगीत में रुचि न लेना, ४. सुवर्ण-रजत को ग्रहण न करना और ५. शैया का परित्याग करना। पूर्वोक्त पाँच कर्मों के साथ इन पाँचों को मिलाने से बौद्ध धर्म में मान्य 'दश शील' होते है।

बुद्ध ने किसी व्यक्ति को उसके जन्म के कारण ऊँच-नीच नही माना था। वे कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। उनके मतानुसार ब्राह्मण के घर जन्म लेने से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण नही होता। इसके लिए उसे पवित्रता और सदाचार का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस संबंध में उनका उपदेश है,—"न तो जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न जन्म से कोई अब्राह्मण। कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण। तप, ब्रह्मचर्य और संयम से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है, और वही उत्तम ब्राह्मण है[१]।" बुद्ध के उक्त उपदेश के कारण उस काल के ब्राह्मणों ने उनका बड़ा विरोध किया था; किंतु बुद्ध अपने सिद्धांत पर अटल रहे और दृढ़ता पूर्वक अपने मत का प्रचार करते रहे थे।

बुद्ध-वचन का 'संगायन'—भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में विविध स्थानों में जो मौखिक उपदेश दिये थे, वे उनके सैकड़ों शिष्यों को कंठस्थ होने के कारण अव्यवस्थित रूप में बिखरे हुए थे। बुद्ध-परिनिर्वाण के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्यों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनके शास्ता के बतलाये हुए सद्धर्म के स्वरूप-निर्धारण के लिए उनके वचनों को व्यवस्थित किया जाय। इसके लिए प्रमुख भिक्षुओं ने एकत्र होकर बुद्ध-वचनों का 'संगायन' किया था। जिस परिषद् में 'संगायन' हुआ, उसे 'संगीति' कहा गया है। इस प्रकार की कई 'संगीति'—परिषदें विभिन्न कालों में हुई थीं, और उन्होने बौद्ध धर्म के स्वरूप-निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। बौद्ध धर्म के इतिहास में ये 'संगीति' अत्यंत प्रसिद्ध है। यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१. प्रथम संगीति (वि. पू. सं० ४८६)—बुद्ध-परिनिर्वाण के तीन महीने पश्चात् श्रावण मास में एक धर्म परिषद् का आयोजन राजगृह में किया गया, जिसकी अध्यक्षता बुद्ध के विद्वान शिष्य महाकाश्यप ने की थी। उस परिषद् में ५०० भिक्षु उपस्थित हुए थे, इसलिए उसे 'पंचशतिका' कहा जाता है। उसमें बुद्ध-वचनों का संगायन करते हुए 'धम्म' और 'विनय' का निर्धारण किया गया था।

---

(१) न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मण।
कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्मणा होति अब्राह्मणो॥
तपेन ब्रह्मचरियेन संयमेन च। एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणं उत्तमम्॥
(सुत्त निपात, पृष्ठ ११५)

२. द्वितीय संगीति (वि. पू. सं० ३८६)—बुद्ध-परिनिर्वाण को सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि बौद्ध धर्म के अनेक भिक्षुओं को 'विनय' के नियमों में कठोरता ज्ञात होने लगी और वे उसके विरोध में आवाज़ उठाने लगे। उस विरोध का सूत्रपात वैशाली के वज्जि भिक्षुओं द्वारा हुआ था। उन्होंने भिक्षुओं के लिए विहित 'शील' के १० नियमों में संशोधन कर ऐसे सिद्धांतों का प्रचार करना आरंभ किया, जिनमें भिक्षुओं को आवश्यकतानुसार सुवर्ण-रजतादि स्वीकार करने और रसादि ग्रहण करने की छूट थी। स्थविर यश नामक एक पश्चिम प्रदेशीय वृद्ध भिक्षु उस समय वैशाली में विद्यमान था। वह वज्जि भिक्षुओं के धर्म विरुद्ध आचरण को देख कर बड़ा दुखी हुआ और उसके संबंध में निर्णय करने के लिए उसने कुछ दूत भेज कर मथुरा और अवन्ति के बौद्ध विद्वानों को बुलवाया। उसके आमंत्रण पर वैशाली में एक धर्म परिषद् हुई, जिसे 'द्वितीय संगीति' कहा गया है।

उक्त परिषद् में ७०० भिक्षु उपस्थित हुए थे, अतः उसे 'सप्तशतिका' कहा जाता है। उसका सभापतित्व महा स्थविर रेवत ने किया था। वह परिषद् ८ माह तक चलती रही थी। उसमें 'विनय' के नियमों में किंचित् भी परिवर्तन न करने वाले शुद्धिवादियों तथा देश-काल के अनुसार परिवर्तन करने वालों में काफी विवाद हुआ; किंतु दोनों में कोई समझौता नहीं हो सका। शुद्धि-वादियों ने 'धम्म' और 'विनय' के पूर्व निर्धारित स्वरूप को ही उस परिषद् द्वारा संपुष्ट किया था। इस प्रकार उसमें महास्थविरों की जीत हुई थी। परिवर्तनवादियों ने वैशाली परिषद् के निर्णय से असंतुष्ट होकर कौशांबी में दूसरी महा परिषद् का आयोजन किया, जिसमें १० हजार भिक्षुओं ने भाग लिया था। उसके फलस्वरूप बौद्ध संघ के पश्चिमी और पूर्वी नामक दो विभाग हो गये। पश्चिमी विभाग शुद्धिवादियों का था, जिसमें मूल धर्म के कट्टर समर्थक स्थविरों का प्राधान्य रहा, अतः उन्हें 'स्थविरवादी' (थेरवादी) कहा जाने लगा। पूर्वी विभाग में परिवर्तनवादी थे। चूंकि उनकी संख्या बहुत अधिक थी, अतः वे 'महासांघिक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने स्थविरवादियों के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती से पृथक् अपना केन्द्र मगध में स्थापित किया था।

३. तृतीय संगीति (वि. पू. सं० १५०)—बौद्ध धर्म की तीसरी महा परिषद् मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल में बुद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में हुई थी। उसके सभापति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। वह परिषद् ६ महीने तक चलती रही और उसमें अंतिम रूप से बुद्ध वचनों का 'संगायन' किया गया। उक्त परिषद् के अनंतर भगवान् बुद्ध के 'सुत्त', 'विनय' और 'अभिधम्म' संबंधी समस्त उपदेशों को व्यवस्थित कर उन्हें 'त्रिपिटक' के रूप में संकलित किया गया। फिर उन्हें लिपिबद्ध भी कर लिया गया, यद्यपि भारत में लेखन कला का प्रचार उस काल से बहुत पहिले ही हो चुका था। उक्त परिषद् के पश्चात् बौद्ध धर्म का जो स्वरूप बना, उसमें फिर कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ था।

बौद्ध धर्म के विविध संप्रदाय—भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में अंध विश्वास को प्रोत्साहन न देकर तर्क और विचार-स्वातंत्र्य का समर्थन किया था। 'तत्व संग्रह' के अनुसार उन्होंने अपने अनुगामी भिक्षुओं से कहा था,—'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यम् मद्वचो न तु गौरवात्।—भिक्षुओं को स्वतः परीक्षा के उपरांत ही मेरे वचनों को ग्रहण करना चाहिए, केवल मेरे गौरव के कारण ही नहीं।' जिस धर्म में विचारों की इतनी स्वतंत्रता थी, उसमें विविध संप्रदायों का

विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक था[1]। उस विचार-स्वातंत्र्य के कारण ही बौद्ध धर्म के अनुगामी पहिले 'स्थविरवादी' और 'महासांघिक' नामक दो भागों में विभाजित हुए; फिर स्थविरवादियों के १२ और महासांघिकों के ६ उप विभाग हो गये। इस प्रकार बुद्ध के उपरांत २-३ शताब्दियों के काल में ही बौद्ध धर्म के अंतर्गत १८ प्रमुख संप्रदाय बन गये थे। कालांतर में उनकी संख्या और भी बढ़ गई थी।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, बुद्ध-परिनिर्वाण के पश्चात् एक शताब्दी के अंदर ही बौद्ध धर्म की दो परिषदें हुई थीं। उनमें बुद्ध-वचनों के संबंध में जो विचार-भेद हुआ, उसने संप्रदाय-भेद की भी जड़ जमा दी थी। बौद्धों का एक दल भगवान् बुद्ध के वरिष्ट शिष्यों की परंपरा के विद्वान भिक्षुओं का था। वे बुद्ध-वचनों पर आधारित मूल धर्म में किंचित् भी परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं थे। उनका नेतृत्व 'स्थविर' करते थे, जिससे उनके समुदाय को 'स्थविरवादी' (थेरवादी) कहा गया। उनकी संख्या अधिक न होने पर भी तत्कालीन भिक्षुओं पर उनका बड़ा प्रभाव था। बौद्धों का दूसरा दल युग की आवश्यकता के अनुसार मूल धर्म के नियमों में कुछ परिवर्तन करना चाहता था, ताकि वह अधिक व्यावहारिक एवं लोकपरक बन सके; और जिसे भिक्षु ही नहीं, वरन् जन साधारण भी सरलता पूर्वक ग्रहण कर लें। ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए उनके समुदाय को 'महासांघिक' कहा गया।

स्थविरवादियों ने महासांघिकों को जब 'अधर्मवादी' और 'पापभिक्षु' कहना आरंभ किया, तब उसके उत्तर में महासांघिक गण स्थविरवादियों को 'हीनयानी' कहने लगे। उनका कहना था, स्थविरवादियों की साधना 'हीन' कोटि की है, क्यों कि उसमें लोक-हित और करुणा का अभाव है। वह ऐसे अनुपयुक्त 'यान' की तरह है, जिसके सहारे बहुसंख्यक जनता अपनी दुःखपूर्ण सांसारिक यात्रा को तय नहीं कर सकती। कालांतर में महासांघिकों के मत को 'महायान' कहा जाने लगा, क्यों कि उसमें सबको पार करने की क्षमता थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के विविध संप्रदाय 'हीनयान' और 'महायान' के दो प्रसिद्ध नामों के अंतर्गत समाहित हो गये थे।

प्राचीन ब्रज में बौद्ध धर्म का प्रचार—

बुद्ध काल से पूर्वमौर्य काल (वि.पू. सं०-५६६ से वि.पू. सं० २६८) तक की स्थिति— बौद्ध ग्रंथ 'अंगुत्तर निकाय' का उल्लेख है, जब बुद्ध श्रावस्ती में थे, तब वेरंजा नामक स्थान के निवासियों ने उन्हें अपने यहाँ धर्म-प्रचार के लिए आमंत्रित किया था। भगवान् बुद्ध ने आमंत्रण को स्वीकार कर अपना १२वाँ वर्षा-वास वेरंजा में किया था और तभी वे मथुरा भी गये थे[2]। इस प्रकार वि० पू० सं० ५२० के लगभग बुद्ध द्वारा प्राचीन ब्रज में सर्वप्रथम धर्म-प्रचारार्थ जाने का उल्लेख मिलता है। वेरंजा की अभी तक ठीक-ठीक पहिचान नहीं की जा सकी है; किंतु हमने सिद्ध किया है कि वह अलीगढ़ जिला के बरहद अथवा एटा जिला के अतरंजी नामक स्थानों में से कोई एक हो सकता है[3]।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १००

(२) अंगुत्तर निकाय, (जिल्द २, पृष्ठ २७ और जिल्द ३, पृष्ठ २५७)

(३) इस ग्रंथ की प्रथम जिल्द के अंतर्गत, 'ब्रज का इतिहास' में बुद्ध काल का प्रसंग देखिये।

बुद्ध की प्रथम ब्रज-यात्रा—जब बुद्ध प्रथम बार ब्रज में आये, तब यहाँ यक्षों का बड़ा आतंक था। मथुरा नगर के बाहर उनकी कई बस्तियाँ थीं, जहाँ जाने का किसी को भी साहस नहीं होता था। उनका नेतृत्व गर्दभ और तिमिसिका नामक यक्ष-यक्षिणी करते थे। उन दोनों के बहुसंख्यक अनुयायी थे, जिनके कारण मथुरा निवासियों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता था। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रभाव से उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था[1]। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का अनुमान है, गर्दभ यक्ष का निवास स्थान उस काल में वर्तमान मथुरा के गोकर्ण टीला के आस-पास था[2]।

जब बुद्ध अपने धर्म-प्रचार के लिए मथुरा नगर में जाने लगे, तब एक नग्न स्त्री ने आकर उनका मार्ग रोक दिया था। बुद्ध ने उससे कहा—"हे मातृ देवते ! तुम्हारा इस प्रकार खड़ा होना शोभा नहीं देता है।" यह सुनकर वह स्त्री तो हट गई, किंतु बुद्ध उस समय नगर में न जाकर बाहर की यक्ष-बस्ती में चले गये थे। उस घटना से मथुरा नगर में बुद्ध से पहिले नग्न जैन श्रमणों की विद्यमानता का संकेत मिलता है।

बुद्ध के आगमन से मथुरा के तत्कालीन ब्राह्मणों में बड़ी खलबली मच गई थी। उन्हें यह आशंका होने लगी कि बुद्ध के धर्म-प्रचार से उन लोगों का प्रभाव और महत्व कम हो जावेगा। वे अपने नेता नीलभूति के पास गये और उससे बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने को कहा। बुद्ध द्वारा यक्षों को विनीत बनाये जाने से नीलभूति बड़ा प्रभावित हुआ था। वह बुद्ध से शास्त्रार्थ करने की बजाय उनके रहन-सहन और खान-पान की व्यवस्था करने लगा।

'अंगुत्तर निकाय' (मधुरिय सुत्त, ३-२५६) ज्ञात होता है, बुद्ध के मन पर मथुरा की उस यात्रा का अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा था। उन्होंने अपने शिष्यों को मथुरा के अवगुण (आदीनवा) बतलाते हुए कहा था,—"पंचिमे भिक्खवे आदीनवा मधुरायां। कतमे पंच ? विसमा, बहुरजा, चंड सुनखा, वाल यक्खा, दुल्लभ पिंडा[3]।" हे भिक्षुओ ! मथुरा में ५ दोष हैं;—१, वहाँ के मार्ग विषम हैं, २. वहाँ बहुत धूल है, ३. वहाँ के कुत्ते बड़े भयंकर हैं, ४. वहाँ अज्ञानी यक्ष रहते हैं, और ५. वहाँ भिक्षा मिलने में कठिनाई होती है।

उक्त उल्लेख से ऐसा अनुमान होता है, उस काल में मथुरा की धार्मिक स्थिति विकृत हो गई थी और वहाँ के राज्य प्रबंध में शिथिलता आ गई थी, जिससे वहाँ की शांति और शासन-व्यवस्था में गड़बड़ी फैल गई थी। फलतः वहाँ पर क्रूरकर्मा यक्षों का आतंक बढ़ गया था। उसके साथ ही वहाँ भीषण कुत्तों की प्रबलता एवं वहाँ की भूमि में कंकड़-पत्थर, झाड़-झंगाड़ तथा धूल-धक्कड़ की अधिकता हो गई थी। उन सबके कारण बुद्ध को उस यात्रा में पर्याप्त सफलता नहीं मिली थी। उस समय यहाँ के यक्ष-पूजकों में ही उनके विचारों का कुछ प्रचार हो सका था।

बुद्ध की दूसरी ब्रज-यात्रा—बुद्ध अपने परिनिर्वाण से कुछ समय पहिले एक बार पुनः मथुरा गये थे। वह उनकी दूसरी ब्रज-यात्रा थी। उस समय तक वहाँ का धार्मिक वातावरण बौद्ध धर्म के कुछ अनुकूल बन गया था। उस समय बुद्ध ने ब्रज के प्राचीन गौरव के संबंध में एक महत्वपूर्ण

---

(१) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स (जिल्द ३, भाग १)
(२) प्राचीन मथुरा में यक्ष (ब्रज भारती, वर्ष १३ अंक २)
(३) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स (जिल्द ३, भाग १)

बात कही थी और उसके उज्ज्वल भविष्य से संबंधित एक भविष्य-वाणी की थी। ब्रज के प्राचीन गौरव संबंधी बुद्ध का उक्त कथन सर्वास्तिवादी 'विनय पिटक' तथा 'अशोकावदान' के चीनी अनुवाद में मिलता है। तदनुसार बुद्ध ने कहा था, यह प्रदेश भारतवर्ष का आदि राज्य रहा है, क्यों कि यहाँ पर मानवों का सर्वप्रथम राजा (महा सम्मत) निर्वाचित हुआ था[१]। सृष्टि के आदि काल में मानव समाज ने व्यवस्था और संरक्षा के लिए सर्वसम्मति से अपना एक नेता चुना था, जो 'महा-सम्मत' कहलाया। उसने मथुरा के निकटवर्ती भू-भाग में अपना सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) स्थापित किया था[२]। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मथुरा को जंबूद्वीप की प्रथम राजधानी मानते हुए उसके प्राचीन गौरव को स्वीकार किया था।

बुद्ध की भविष्य वाणी का उल्लेख 'दिव्यावदान' में मिलता है। उससे ज्ञात होता है, जब भगवान् बुद्ध अपने शिष्य आनंद के साथ मथुरा के 'रुरुमुंड पर्वत' पर विचरण कर रहे थे, तब उन्होंने भविष्य वाणी की थी कि कालांतर में यहाँ पर उपगुप्त नामक एक महान् उपदेशक का जन्म होगा, जो उन्ही के समान सद्धर्म का प्रचार करेगा। उस काल में यहाँ पर 'नट–भट बिहार' का निर्माण भी किया जावेगा[३]। मथुरा का वह 'रुरुमुंड' अथवा 'उरुमुंड' पर्वत कहा था, उसके संबंध में विविध विद्वानों के विभिन्न विचार रहे हैं। श्री ग्राउस ने उसकी पहिचान 'कंकाली टीला' से की थी[४]। सर्वश्री कृष्णदत्त वाजपेयी और भरतसिंह उपाध्याय आदि विद्वानों का झुकाव उसे ब्रज का सुप्रसिद्ध गोबर्धन पर्वत मानने की ओर रहा है[५]। उसके विरुद्ध हमने सिद्ध किया है, बौद्ध काल का रुरुमुंड अथवा उरुमुंड पर्वत वर्तमान मथुरा स्थित गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलों में से कोई एक ऊँचा टीला था[६]।

भगवान् बुद्ध की पूर्वोक्त दो यात्राओं के कारण प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन जनपद से बौद्ध धर्म का बीजारोपण मात्र हुआ था। उसे अंकुरित और पल्लवित करने का श्रेय क्रमशः कात्यायन और उपगुप्त को है। बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में कात्यायन का स्थान महत्वपूर्ण है। उसने अंवति, कोशल और मगध के अतिरिक्त शूरसेन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। उसे इस धर्म की एक थेरवादी शाखा 'सम्मितीय' का संस्थापक माना जाता है। उसकी धार्मिक महत्ता के कारण उसे कात्यायन की अपेक्षा महाकात्यायन (पालि रूप 'महाकच्चान') कहा गया है। बौद्ध धर्म में उसका आदर बोधिसत्व के समान होता रहा है। उसके धार्मिक प्रचार का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

कात्यायन द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार—भगवान् बुद्ध के काल में अवंति राज्य का अधिपति चंड प्रद्योत नामक एक शक्तिशाली राजा था। बुद्ध परिनिर्वाण काल के लगभग मथुरा में जो राजा था, उसका नाम बौद्ध वाङ्मय में अवंतिपुत्र लिखा गया है, और उसे अवंति-नरेश चंड

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १६७
(२) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३
(३) दिव्यावदान (कावेल संस्करण) पृष्ठ ३४८—३४६
(४) मथुरा—ए—डिस्ट्रक्ट मोमाअर (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ११६
(५) १. ब्रज का इतिहास, (दूसरा भाग) पृष्ठ १०,
२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ ४४१—४४३
(६) इस ग्रंथ की प्रथम जिल्द के अंतर्गत 'ब्रज का इतिहास' में बुद्ध काल का विवरण देखिये

प्रद्योत का दौहित्र बतलाया गया है[1] । बुद्ध के धर्म–प्रचार की प्रसिद्धि सुन कर चंडप्रद्योत ने सात व्यक्तियों के साथ अपने पुरोहित–पुत्र कात्यायन को बुद्ध के पास भेजा था, ताकि वे उनसे अवंति में पधारने की प्रार्थना कर सकें[2] । जब कात्यायन भगवान बुद्ध की सेवा में उपस्थित हुआ, तब वे वाराणसी में थे । वे वेरंज में अपना बारहवां वर्षा-वास करने के अनंतर वहाँ पहुँच गये थे[3] । इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है कि कात्यायन मथुरा में ही बुद्ध से मिला था; किंतु अधिक प्रामाणिकता वाराणसी के संबंध में है । ऐसा मालूम होता है, शूरसेन प्रदेश में बुद्ध के आगमन का समाचार सुन कर ही अवंति–नरेश ने कात्यायन को भेजने का विचार किया होगा । वर्षा काल के समाप्त होने पर जब कात्यायन उधर पहुंचा, तब तक बुद्ध वेरंज से प्रस्थान कर चुके थे, अतः वह वाराणसी में ही उनसे मिल सका था ।

कात्यायन पर बुद्ध के उपदेशों का इतना प्रभाव पड़ा कि वह उनसे दीक्षा लेकर बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गया था । बुद्ध भी कात्यायन की योग्यता पर अत्यंत प्रसन्न हुए थे । जब बुद्ध से उज्जयिनी पधारने की प्रार्थना की गई, तो उन्होंने उत्तर दिया कि अब वहाँ उनके जाने की आवश्यकता नहीं है । वहाँ का कार्य स्वयं कात्यायन ही कर सकता है ।

बुद्ध के आदेशानुसार कात्यायन उज्जयिनी वापिस चला गया और वहाँ पर उसने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ एक केन्द्र की स्थापना की । उसने चंड प्रद्योत तथा उज्जयिनी के प्रजाजनों को बुद्ध की शिक्षाओं का मर्म समझाया, जिससे वहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचार होने लगा[4] । कात्यायन ने कोशल और मगध में भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया था; किंतु उसके प्रधान कार्यक्षेत्र अवंति और शूरसेन थे ।

एक बार उसने मथुरा जा कर वहाँ के गुंदवन में विहार किया था[5] । उस समय वहाँ का राजा अवंतिपुत्र मथुरा से सवारी में बैठ कर उसके पास पहुँचा था[6] । उस समय कात्यायन ने वर्ण व्यवस्था और ऊँच–नीच के भेद–भाव पर एक प्रभावशाली प्रवचन किया था । उसे सुन कर अवंतिपुत्र ने बुद्ध के दर्शन करने की अभिलाषा से कात्यायन से पूछा था कि इस समय बुद्ध भगवान् कहाँ हैं ? इस पर कात्यायन ने उत्तर दिया कि उनका तो परिनिर्वाण हो गया[7] । उसके बाद कात्यायन ने अवंतिपुत्र को बौद्ध धर्म को दीक्षा दी थी और मथुरा निवासियों में उस धर्म का प्रचार किया था ।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण–काल के कुछ समय पश्चात् कात्यायन ने मथुरा के गुंदावन में विहार किया था और अवंतिपुत्र को बौद्ध धर्मावलंबी बनाया था । तभी राजा और प्रजा दोनों ने बौद्ध धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित की थी । इस प्रकार वि. पू, सं० ४८० के लगभग प्राचीन व्रज में कात्यायन के प्रयत्न से बौद्ध धर्म का अंकुर जम गया था ।

---

(१) १. मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तंत' और उसकी 'अट्ठ कथा'
 २. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २७६

(२) उज्जियिनी दर्शन, पृष्ठ २४

(३) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ ७८

(४) थेरगाथा–अट्ठ कथा (१-४८५)

(५) मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तंत', पृष्ठ २६८

(६) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ४४१

(७) मज्झिम निकाय (हिंदी अनुवाद), पृष्ठ ३४३

मौर्य काल (वि. पू. सं० २६८ से वि. पू. सं० १२८) में बौद्ध धर्म की स्थिति—भगवान् बुद्ध की यात्राओं से प्राचीन व्रज में बौद्ध धर्म का बीजारोपण हुआ और कात्यायन के प्रयत्न से वह अंकुरित भी हुआ; किंतु उसे पल्लवित होने में पर्याप्त समय लग गया था। मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के दरबारी मेगस्थनीज ने शूरसेन का जो वर्णन लिखा है, उसमें वहाँ के निवासियों की कृष्ण के प्रति श्रद्धा बतलाई गई है। उससे ज्ञात होता है कि बुद्ध के प्राय: दो सौ वर्ष बाद तक शूरसेन जनपद में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार नहीं हो सका था; यद्यपि वह वहाँ पर धीरे-धीरे अपनी जड़ जमा रहा था।

अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म की उन्नति—शूरसेन प्रदेश में बौद्ध धर्म का उल्लेखनीय प्रचार मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल (वि. पू. सं० २१५—वि. पू. सं० १७५) में हुआ था। इसका श्रेय उक्त धर्म के उस संप्रदाय को है, जिसे 'सर्वास्तिवाद' कहा गया है। वह संप्रदाय बौद्ध धर्म के मूल रूप स्थविरवाद (थेरवाद) की एक शाखा था, किंतु फिर भी उससे कुछ सैद्धांतिक भिन्नता रखता था। उसका मूल मंत्र था,—"सर्वम् अस्ति"—अर्थात् सभी पदार्थ सत्तावान् हैं। इसी के कारण उसका नाम 'सर्वास्तिवाद' प्रसिद्ध हुआ था। उस संप्रदाय की परंपरा आनंद के शिष्य शाणकवासी और मध्यांतिक से चली थी और उसका उदय एवं विकास शूरसेन जनपद में हुआ था। मथुरा उसका प्रधान केन्द्र था और उस संप्रदाय के प्राय: सभी प्रमुख आचार्य मथुरा निवासी थे। सर्वास्तिवादी विद्वानों ने पालि के स्थान पर संस्कृत भाषा में अपनी रचनाएँ की थीं। इसका कारण भी शूरसेन जनपद से इस संप्रदाय का घनिष्ट संबंध होना ही कहा जा सकता है।

सर्वास्तिवादियों ने अपना केन्द्र मथुरा बना कर वहाँ से दूर–दूर तक अपने संप्रदाय का प्रचार किया था। उनके कारण गंधार, कश्मीर और मध्य एशिया तक में इस संप्रदाय का प्रचलन हुआ तथा अनेक विदेशी भी इसके अनुयायी हुए थे। चीनी तथा यूरोपियन विद्वानों ने सर्वास्तिवाद के सिद्धांत को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असंग और वसुबंधु जैसे प्रसिद्ध महायानी विद्वानों ने इस संप्रदाय की तीव्र आलोचना करते हुए इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) और 'आदर्शवाद' (विज्ञप्ति मात्रता) बतलाया था[1]।

सर्वास्तिवाद के प्रमुख आचार्य—सर्वास्तिवाद के आरंभिक आचार्य शाणकवासी और मध्यांतिक थे। वे दोनों ही आनंद के समकालीन और उनके शिष्य थे। जब आनंद का वैशाली में परिनिर्वाण हुआ, तब उन्होंने शाणकवासी को शूरसेन में तथा मध्यांतिक को कश्मीर में बौद्ध धर्म के प्रचार का आदेश दिया था।

शाणकवासी का मथुरा में निवास–स्थान वहाँ का 'नट–भट विहार' था, जहाँ उसने अपनी वृद्धावस्था में उपगुप्त को दीक्षा दी थी। मध्यांतिक पहले वाराणसी में और फिर मथुरा में रहा था। उसके बाद वह धर्म–प्रचार के लिए गंधार और कश्मीर चला गया था। मथुरा में उसका निवास स्थान 'उशीर गिरि' था। उसने मथुरा के उन यक्षों का उपद्रव शांत किया था, जो भगवान् बुद्ध के बाद फिर प्रबल हो गये थे। शाणकवासी और मध्यांतिक दोनों ही सर्वास्तिवाद के आरंभिक प्रचारक थे। उनके पश्चात् उपगुप्त, धीतिक, बुद्धिक, बुद्धदेव, बल, बुद्धमित्र आदि अनेक आचार्यों ने इस संप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था।

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १९५

उपगुप्त—सर्वास्तिवादी संप्रदाय का सबसे प्रसिद्ध आचार्य उपगुप्त था। उसके पिता की मथुरा में सुगंधित द्रव्यों की दूकान थी। आरंभ में उपगुप्त भी उसी दूकान पर बैठता था। मथुरा का बौद्ध विद्वान शाणकवासी उपगुप्त के पिता के यहाँ भिक्षा लेने जाया करता था। उसने बालक उपगुप्त की अद्भुत प्रतिभा को पहिचान लिया और उसे अपना श्रामरणेर (दीक्षार्थी) बनाना चाहा। उपगुप्त के पिता ने इसे स्वीकार कर लिया। उपगुप्त शाणकवासी के संपर्क में रह कर बौद्ध धर्म का मार्मिक विद्वान और उसका प्रसिद्ध व्याख्याता हो गया। शाणकवासी के पश्चात् वही सर्वास्तिवाद का महान् आचार्य और उसका सबसे बड़ा प्रचारक हुआ था।

जब उपगुप्त युवा था, तब मथुरा की एक समृद्धिशालिनी और रूपवती गणिका वासवदत्ता उस पर आसक्त हो गई थी। उपगुप्त ने अपने चरित्र की दृढ़ता और आध्यात्मिकता के प्रभाव से उक्त गणिका को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था, जिससे उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। बौद्ध धर्म के ग्रंथों में बैशाली की नगर-वधू आम्रपाली की भाँति मथुरा की जनपद-कल्याणी वासवदत्ता का आख्यान भी बहुत प्रसिद्ध है। आम्रपाली भगवान् बुद्ध द्वारा कृतार्थ हुई थी, तो वासवदत्ता उपगुप्त द्वारा उपकृत हुई थी। दोनों वारांगनाएँ अपने अपार वैभव, ऐश-आराम के प्रभूत साधन और सैकड़ों धनाढ्य व्यक्तियों के प्रेम को ठुकरा कर भिक्षुणी हुई थीं। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक महात्माओं के संपर्क से अपने निंदनीय जीवन को भी अभिनंदनीय बना लिया था।

वासवदत्ता का आख्यान—'दिव्यावदान' तथा सर्वास्तिवादी अन्य बौद्ध ग्रंथों में इस आख्यान को बड़ी प्रमुखता दी गई है। मथुरा की वह विख्यात वारांगना वासवदत्ता उसी नाम की अवंति-कुमारी और वत्सराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता से भिन्न थी। महारानी वासवदत्ता पूर्ववर्ती और जनपद-कल्याणी वासवदत्ता परवर्ती थी।

अपूर्व सुंदरी वासवदत्ता अपने अद्भुत रूप-यौवन के कारण अत्यंत प्रसिद्ध थी। उससे प्रणय-निवेदन करने के लिए मथुरा के अनेक संभ्रांत नागरिक सदैव लालायित रहते थे। वह प्रचुर धन प्राप्त होने पर भी किसी नागरिक को बड़ी कठिनता से उपलब्ध होती थी। वही दुर्लभ नायिका उपगुप्त के सुंदर रूप पर अनायास मोहित हो गई थी। उसने अपनी दासी को उपगुप्त के पास भेज कर उसे अपने निवास स्थान पर आने का निमंत्रण दिया; किंतु उसने स्वीकार नहीं किया। जब वासवदत्ता ने बार-बार निवेदन किया, तब उपगुप्त ने उसे कहला भेजा कि अभी उसका वासवदत्ता से मिलने का समय नहीं आया है। उपयुक्त समय आने पर वह स्वयं उससे मिलेगा।

कुछ काल पश्चात् मथुरा का तत्कालीन राजा वासवदत्ता से किसी कारण रुष्ट हो गया था। उसने उसे विरूप कर नगर से बाहर श्मशान पर रहने को विवश किया था। जब वह असहाय और विकृत अवस्था में श्मशान पर पड़ी हुई पीड़ा से कराह रही थी, तब उपगुप्त उसके पास पहुँचा। उसने कहा—"बोलो, मुझसे क्या चाहती हो? मैं तुम्हारे पास आ गया हूँ।"

उस दयनीय दशा में पड़ी हुई वारांगना ने जब उस तेजस्वी भिक्षु को अपने समक्ष देखा, तो वह कृतार्थ हो गई। उपगुप्त ने उसे मानव शरीर की क्षणभंगुरता का उपदेश देकर सांत्वना प्रदान की। कहते हैं, उपगुप्त का दर्शन करने से उस विकलांगी वेश्या को पुनः आरोग्य और रूप प्राप्त हो गया था। उसके बाद वह सांसारिक भोग-विलास से विरक्त होकर भिक्षुणी बन गई थी।

उपगुप्त की दीक्षा और उसका धर्म-प्रचार—वासवदत्ता कांड तक उपगुप्त अपने गुरु शाणकवासी का श्रामणेर (दीक्षार्थी) ही था। उक्त घटना के पश्चात् उसे दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी समझा गया। शाणकवासी ने मथुरा के 'नट-भट विहार' में उपगुप्त को विधिवत् दीक्षा दी और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। शाणकवासी तब तक अत्यंत वृद्ध हो चुका था, अतः सर्वास्तिवाद के प्रचार का समस्त भार उपगुप्त पर आ गया। उसने जीवन पर्यन्त बड़ी योग्यता और तत्परता से धर्म-प्रचार का कार्य करते हुए अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति पूरा किया था। उसने स्वयं तो अर्हत् पद प्राप्त किया ही; उससे उपदेश ग्रहण कर दूसरे अनेक भिक्षु भी अर्हत् हो गये थे। उसके प्रचार का क्षेत्र पश्चिम में सिंध प्रदेश तक तथा पूर्व में पाटलिपुत्र तक था। उसने अत्यंत दीर्घायु प्राप्त की थी और उसका निर्वाण मथुरा में हुआ था।

उस काल में मथुरा में एक विशाल संघाराम बनवाया गया था। उसके अंदर भगवान् बुद्ध की स्मृति में एक स्तूप भी बना था, जिसमें तथागत के नख का अवशेष रखा गया। संघाराम से उत्तर दिशा में एक गुफा थी, जिसमें उपगुप्त निवास करता था। उसने अपने जीवन में जिन भिक्षुओं को अर्हत् बनाया था, उनकी गणना करने के लिए वह चार-चार इंच लंबे लकड़ी के टुकड़े अपनी गुफा में रखता जाता था। जब उसका देहावसान हुआ, तब उन लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों से ही १८ हाथ लंबी और १२ हाथ चौड़ी वह गुफा भरी हुई थी। उसके शिष्यों ने उन टुकड़ों का उपयोग उसके शव-दाह के लिए किया था।

कालांतर में जब चीनी यात्री हुएनसांग मथुरा आया, तब उसने उक्त संघराम और उपगुप्त की गुफा को देखा था। उसने उन्हें मथुरा नगर से ५-६ ली (लगभग सवा मील) पूर्व दिशा में एक ऊँचे स्थान पर स्थित बतलाया है[1]। हमने उक्त स्थान की पहिचान मथुरा के गोकर्ण टीला से की है, जैसा कि इस ग्रंथ के इतिहास खंड में लिखा जा चुका है।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार—कलिंग विजय के पश्चात् सम्राट अशोक उस युद्ध के भीषण नर-संहार को देख कर बड़ा दुखी हुआ था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर देश-विजय के स्थान पर धर्म-विजय करना अपने जीवन का लक्ष बना लिया। राज्य-प्राप्ति के ८ वर्ष बाद उसने अपने भतीजे निग्रोध श्रामणेर से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। उसके बाद वह किसी ऐसे विद्वान की खोज करने लगा, जो बौद्ध धर्म के प्रचार में उसे समुचित मंत्रणा दे सके।

उस समय तक उपगुप्त की व्यापक ख्याति हो चुकी थी। अशोक ने उपगुप्त के पास संदेशा भेजा कि वह उससे मिलने के लिए मथुरा आना चाहता है। उपगुप्त ने उत्तर दिया, वह स्वयं पाटलिपुत्र पहुँच जावेगा। निदान वह अपने शिष्य-समुदाय के साथ नावों पर सवार होकर नदी के मार्ग द्वारा मथुरा से पाटलिपुत्र गया। उसके आगमन के समाचार से अशोक बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने स्वयं पैदल चल कर उसका स्वागत किया और राजकीय सन्मान के साथ उसे अपनी राजधानी में ले गया। वहाँ उसने कितने ही दिनों तक उपगुप्त का सत्संग किया था। वह उसके प्रवचनों को सुन कर कृतार्थ हो गया।

---

(१) आन हुएनसांग्स ट्रैवल्स इन इंडिया (जिल्द १), पृष्ठ ३०१-११

उसके पश्चात् अशोक ने उपगुप्त के साथ बुद्ध से संबंधित सभी प्रमुख स्थानों की यात्रा की और वहाँ पर बुद्ध की स्मृति में स्तूपादि बनवाने का निश्चय किया। उपगुप्त ने अशोक को परामर्श दिया कि किस–किस स्थान पर क्या-क्या निर्माण कराया जाय। उसके परामर्श के अनुसार ही अशोक ने बुद्ध से संबंधित स्थानों पर तथा दूसरे महत्वपूर्ण स्थलों पर अनेक स्तूप, विहार और संघाराम बनवाये थे। उसने अपने विशाल साम्राज्य में एक छोर से दूसरे छोर तक राजाज्ञा के रूप में अनेक शिलालेख निर्मित कराये, जिन पर बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांत उत्कीर्ण किये गये। उपगुप्त के परामर्श से ही अशोक ने भारतवर्ष से बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचार का आयोजन किया था। उसके लिए उसने अनेक विशिष्ट विद्वानों को धर्मदूत के रूप में विदेशों को भेजा था। लंका के लिए तो उसने अपने एक पुत्र और पुत्री को ही भेजना उचित समझा था। वे दोनों युवक–युवती भिक्षु और भिक्षुणी होकर लंका गये थे। उन्ही के कारण लंका में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था।

उपगुप्त के उपदेशों से बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा का अशोक के जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा था। उसके काल में मथुरा सर्वास्तिवादी संप्रदाय का सबसे प्रमुख केन्द्र हो गया था। जब चीनी यात्री हुएनसांग मथुरा आया था, तब उसने वहाँ पर अशोक के बनवाये हुए तीन विशाल स्तूप देखे थे। इससे सिद्ध होता है, शूरसेन प्रदेश में भी अशोक ने स्तूपादि का निर्माण कराया था। उस सब का श्रेय उपगुप्त को ही था।

अशोक के समय में बौद्ध धर्म का एक अन्य प्रतिभाशाली विद्वान महादेव था। उसे भी मथुरा निवासी कहा जाता है। उपगुप्त से पहिले अशोक पर उसका बड़ा प्रभाव था; किंतु बाद में उसके विचारों से असहमत होने के कारण मगध सम्राट उससे विरक्त हो गया था। उसके उपरांत महादेव मगध से आंध्र राज्य में चला गया था। 'वहाँ पर उसने बौद्ध धर्म के उस संप्रदाय की स्थापना की थी, जिसे 'चैत्यशिला' अथवा 'चैत्यवादी' कहा जाता है। वह संप्रदाय महासांघिकों की एक उपशाखा के रूप में प्रसिद्ध हुआ था[1]।'

शुंग काल (वि. पू. सं० १२८ से वि. पू. सं० ४३) में बौद्ध धर्म की स्थिति—अशोक के परवर्ती मौर्य सम्राट शक्तिशाली नहीं थे, अतः उनके शासन–काल में मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। उत्तर पश्चिमी भाग पर यवनों ने अधिकार कर लिया और विन्ध्याचल के दक्षिणी प्रदेश पर आंध्र के सातवाहन राजाओं का आधिपत्य हो गया था। अंतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ था, जिसे उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने अपदस्थ कर मार दिया था। फलतः मौर्य शासन का अंत हो गया था। वि. पू. सं० १२८ में पुष्यमित्र ने मगध साम्राज्य पर अधिकार कर शुंग राजवंश की नींव डाली थी। अशोक के समय में बौद्ध धर्म को जितना राज्याश्रय प्राप्त हुआ था, उतना शुंगों के काल में उसे नहीं मिल सका; क्यो कि शुंग नरेश वैदिक धर्मावलंबी थे। किंतु इसका अर्थ नही कि उनकी ओर से बौद्ध धर्म की प्रगति मे कोई बाधा डाली गई हो। चीनी अभिलेखों में शुंगवंशीय राजाओं द्वारा बौद्धों पर अत्याचार किये जाने का उल्लेख हुआ है, जो उस काल के पुरातत्व संबंधी प्रमाणों से असत्य सिद्ध होता है। शुंगों के शासन–काल में मथुरा के श्रीकृष्ण–जन्मस्थान के निकट बौद्ध स्तूपों के बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त है[1], जिससे शुंग राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता और बौद्धों के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है।

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ७४६

मिनेंडर की बौद्ध धर्म के प्रति अभिरुचि—परवर्ती मौर्य सम्राटों की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर भारत के उत्तर पश्चिमी भाग पर कतिपय यवन शासकों ने अधिकार कर लिया था। शुंग सम्राटों के अंतिम शासन काल में यूनानी शासक मिनेंडर ने अधिक ख्याति प्राप्त की थी। उसने सिंध और सौराष्ट्र प्रदेशों को पददलित कर मध्यमिका (वर्तमान चित्तौड़ के समीप का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल) पर अधिकार किया था। फिर मथुरा और साकेत को जीत कर पाटलिपुत्र के लिए भी उसने भय उत्पन्न कर दिया था।

मिनेंडर बौद्ध धर्म का प्रेमी और धर्मतत्व का ज्ञाता था। उसका नाम बौद्ध वाङ्मय में 'मिलिंद' मिलता है। उसे गर्व था कि धर्म संबंधी विवाद में कोई भी उसे नहीं जीत सकता है। उसने बौद्धाचार्य भदंत नागसेन से धर्म संबंधी प्रश्न किये थे। नागसेन ने उनका उत्तर ऐसी उत्तमता से दिया था कि मिनेंडर का समस्त ज्ञान-गर्व दूर हो गया और वह नतमस्तक होकर उनका अनुगत हो गया था। मिनेंडर और नागसेन के प्रश्नोत्तर 'मिलिंद पञ्ह' (मिलिंद प्रश्न) नामक पालि ग्रंथ में उपलब्ध हैं। उस ग्रंथ का रचना-काल ईसवीपूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है[1]। उपगुप्त के शिष्य धीतिक का भी मिनेंडर बहुत आदर करता था। धीतिक उज्जैन के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था। वह मथुरा आकर वहाँ के विख्यात बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त का शिष्य हुआ था। उसने मथुरा से कश्मीर तक बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी संप्रदाय का प्रचार किया था।

उक्त धार्मिक विद्वानों के प्रभाव से मिनेंडर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसने अपने पुत्र को राज्याधिकार देकर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा भारत के पश्चिमी सीमांत में बौद्ध धर्म का प्रसार किया था। मथुरा में उसके सिक्के पर्याप्त संख्या में मिले हैं। उन पर धर्मचक्र अंकित है, जिससे उसके बौद्ध धर्मावलंबी होने का प्रमाण मिलता है।

बौद्ध धर्म और मूर्ति-पूजा—बौद्ध धर्म के आरंभिक काल में बुद्ध की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने का प्रचलन नहीं था। अशोक के समय में जब इस धर्म का अधिक प्रचार हुआ, तब भी बुद्ध की पूजनीय मानव-मूर्ति नहीं बनी थी। उस समय बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए कुछ चिन्हों और प्रतीकों की कल्पना कर ली गई थी। वे चिह्न बुद्ध की जीवन-घटनाओं से संबंधित प्रतीक रूप में पशुओं और वस्तुओं की आकृतियों के थे। जैसे हाथी, बैल और सिंह बुद्ध के जन्म और उनकी श्रेष्ठता सूचक प्रतीक थे तथा घोड़ा, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, भिक्षा-पात्र, स्तूप आदि उनके वैराग्य और बुद्धत्व के चिह्न थे।

शुंग काल में भागवत धर्म के देवताओं तथा जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बन गई थीं। उनके अनुकरण पर बौद्ध धर्म के महासांघिक (महायान) संप्रदाय वालों ने बुद्ध की मानुषी प्रतिमा बना कर मूर्ति-पूजन की पद्धति प्रचलित करनी चाही थी, किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह था कि उस काल तक उत्तर भारत में थेरवादी (हीनयानी) बौद्ध संप्रदायों का ही अधिक प्रचार था। शूरसेन जनपद में जो थेरवादी सर्वास्तिवाद प्रचलित था, उसके अनुयायी मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते थे और प्रतीकों द्वारा ही अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करना उचित समझते थे। उस काल के जो पूजनीय बौद्ध अवशेष मिले है, वे धार्मिक प्रतीकों के ही रूप में हैं।

---

(१) पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३३

२. जैन धर्म

संक्षिप्त परिचय—

जैन तीर्थंकर—श्रमण-संस्कृतिमूलक धर्मों में बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी इस देश का अत्यंत प्राचीन धर्म है। साधारणतया इसके प्रवर्त्तक महावीर स्वामी माने जाते हैं, जो बुद्ध के समकालीन थे। किंतु जैन मान्यता के अनुसार इस धर्म की परंपरा बौद्ध धर्म से अधिक पुरानी है, और वह वैदिक धर्म के उत्थान काल तक जाती है। उक्त मान्यता के अनुसार इस धर्म के आरंभिक प्रचारक वे सिद्ध महापुरुष थे, जिन्हें तीर्थंकर कहा गया है।

'तीर्थंकर' शब्द का अर्थ है—मार्ग-सृष्टा। जैन धर्म की पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार २४ तीर्थंकर हुए हैं, जिन्होंने विभिन्न युगों में इस धर्म का प्रचार किया था। उन सब के नाम क्रमानुसार इस प्रकार हैं—१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनंदन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चंद्रप्रभ, ९. पुष्पदंत्त, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनंत, १५. धर्म, १६. शांति, १७. कुन्थु, १८. अरह, १९. मल्ल, २०. सुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्वनाथ और २४. महावीर।

उक्त नामावली से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी से पहिले जैन धर्म के २३ तीर्थंकर और हुए थे। उनमें से पार्श्वनाथ और महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों के अस्तित्व का ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता है। उनके लिए जैन धर्म की परंपरागत अनुश्रुतियाँ और पौराणिक ग्रंथ ही प्रमाण हैं; किंतु उनसे भी 'यह प्रमाणित नहीं होता कि इनमें चौबीस तीर्थंकरों का जो उल्लेख है, वह ईसा की पहली शताब्दी के पूर्ववर्ती काल का है[१]।' असल में जैन धर्म के समस्त प्राचीन ग्रंथों को उसी काल में लिपिबद्ध किया गया था। उससे पहिले की सारी जैन मान्यताएँ मौखिक रूप में ही प्रचलित थीं। उक्त तीर्थंकरों के संबंध में चाहें ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है, किंतु जैन धर्म में परंपरा से उनकी मान्यता रही है।

ऋषभनाथ—वे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। जैन अनुश्रुति के अनुसार १४ मनु हुए हैं, जिनमें अंतिम मनु का नाम 'नाभि' था। ऋषभदेव उन्हीं के पुत्र थे। उन्होंने अहिंसा और अनेकांतवाद का उपदेश दिया था। उनके पुत्र का नाम भरत था। जैन मान्यता के अनुसार उक्त भरत के नाम पर ही इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ है। वैष्णव मान्यता के अनुसार विष्णु के २४ अवतारों में ऋषभदेव १० वें अवतार थे। उनकी अवधूत-वृत्ति और योग-सिद्धि का महत्व वैष्णव धर्म में भी स्वीकृत है।

वैदिक धर्म का विरोधी होने से बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी अवैदिक धर्म माना जाता है, किंतु मूल रूप में वह भी बौद्ध धर्म की तरह वेदोक्त कर्मकांड की प्रतिक्रिया में उत्पन्न वैदिक परंपरा से फूटकर निकली हुई एक शाखा ही है। 'ऋषभदेव की सहायता से जैन धर्म तथा वैदिक धर्म के टूटे हुए संबंध को जोड़ा जा सकता है, उनका विच्छिन्न संबंध फिर एक रूप बनता है। वायु,

---

(१) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४७

भगवान् ऋषभनाथ

भगवान् महावीर

ब्रह्मांड, अग्नि, विष्णु, मार्कण्डेय, कूर्म, लिंग, वाराह, स्कंद तथा भागवत जैसे वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वाले पुराणों में ऋषभदेव का निर्देश एक परमहंस एवं अवधूत योगी तथा जटाधारी के रूप में आया है। अतएव यह मानना संभव नहीं कि जैन धर्म ऋषभदेव के काल में एक पृथक् संप्रदाय था[१]।'

ऋषभनाथ के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से बीसवें तीर्थंकर सुव्रतनाथ तक का उल्लेख जैन अनुश्रुतियों और जैन पुराणों के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता है। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ वैष्णव परंपरा के अनुसार मिथिला के एक राजा थे, जो जनक एवं राम के पूर्ववर्ती थे।

नेमिनाथ—वे जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। उनका आरंभिक नाम अरिष्टनेमि था। सिद्धि प्राप्त करने पर उन्हें नेमिनाथ कहा जाने लगा था। जैन मान्यता के अनुसार वे वासुदेव के ताऊ समुद्रविजय के पुत्र होने के कारण महाभारत-कालीन भगवान् श्रीकृष्ण के भाई थे। समुद्रविजय के पश्चात् अरिष्टनेमि ही यादव राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी थे; किंतु युवावस्था में ही विरक्त हो जाने के कारण उन्होंने राज्याधिकार का त्याग किया था। जैन आगमों के अनुसार वे अपने विवाह-समारोह में उपस्थित अतिथियों के भोजनार्थ मारे जाने वाले पशुओं की करुणा से द्रवित होकर तपस्या में प्रवृत्त हो गये थे। इस प्रकार उन्होंने जैन धर्म के मूल सिद्धांत 'अहिंसा' और 'तप' को चरितार्थ कर श्रमण परंपरा की पुष्टि की थी।

जैन अनुश्रुति के अनुसार अरिष्टनेमि उपनाम नेमिनाथ ने वासुदेव कृष्ण को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। इस प्रकार नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई होने के साथ ही साथ गुरु भी थे। महाभारत और वैष्णव पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण के भाई संकर्षण-बलराम थे, जिन्हें अरिष्टनेमि से अभिन्न मानना कदापि संभव नहीं है। 'छांदोग्य उपनिषद' में देवकीपुत्र कृष्ण के एक गुरु घोर आंगिरस का उल्लेख हुआ है। ऋषि घोर ने श्रीकृष्ण को उस अहिंसात्मक यज्ञ की शिक्षा दी थी, जिसकी दक्षिणा धन नहीं वरन् तप, दान, ऋजु भाव, सत्य और अहिंसा थी। यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है, क्या अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को घोर आंगिरस से मिलाया जा सकता है ?

इस संबंध में डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है—'घोर आंगिरस और नेमिनाथ एक ही व्यक्ति थे या नहीं, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नहीं किया जा सकता; किंतु यह मानना पड़ेगा कि छांदोग्य उपनिषद्, जिसमें आंगिरस के उपदेश हैं, की रचना के समय में भारतवासी अहिंसा धर्म की उच्चता को भली भाँति समझते थे। अहिंसा धर्म और अहिंसक यज्ञ की कल्पना भारत में बुद्ध-महावीर से पहिले ही फैल चुकी थी और उसके 'मूल प्रवर्तक घोर आंगिरस थे[२]।' आंगिरस की शिक्षा के अनुसार श्रीकृष्ण ने यज्ञ का नवीन अर्थ कर उसे उन्होंने अर्जुन को बतलाया था। उसी का विकास जैन तीर्थंकरों ने भी किया।

पार्श्वनाथ—वे जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। अनेक विद्वानों के मतानुसार वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, और उनका जन्म ईसापूर्व नवीं शती में काशी में हुआ था। उन्होंने ७० वर्ष तक अहिंसा धर्म का प्रचार कर वर्तमान गया जिला के समेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त

---

(१) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४९

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १०७

किया था[1]। जैन मान्यता के अनुसार उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। 'ऋषभनाथ के सर्वस्व त्याग और अपरिग्रह रूप अकिंचन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होंने चातुर्याम रूप सामायिक धर्म में व्यवस्थित किया था[2]।'

जैन तीर्थंकरों की परंपरा में पार्श्वनाथ को अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—मूलक उसी चातुर्याम धर्म का उपदेशक माना जाता है, जिसका व्यापक प्रचार बाद में महावीर ने 'जैन धर्म' के नाम से किया था। फिर भी उन दोनों के धार्मिक उपदेशों में कुछ अंतर था। जैनागम 'उत्तराध्ययन' की रचना महावीर के उपरांत कई सदियों बाद हुई होगी; किंतु उसके 'केशि—गौतम संवाद' में एक प्राचीन ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख मिलता है। वह संवाद महावीर की विद्यमानता में पार्श्वनाथ संप्रदाय के आचार्य केशी और महावीर के शिष्य गौतम के बीच हुआ माना जाता है। इसमें दोनों तीर्थंकरों द्वारा दिये गये धार्मिक उपदेशों के कुछ भेद का भी उल्लेख मिलता है।

'केशिकुमार कहते हैं, चातुर्याम धर्म के चार ही प्रकार हैं,—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह। महावीर ने चरित्र—धर्म के पाँच प्रकारों का प्रतिपादन क्यों किया है? उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, महावीर ने दिगंबर दीक्षा का प्रवर्तन क्यों किया? उपर्युक्त दो प्रश्नों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि पार्श्वनाथ के धर्म में ब्रह्मचर्य 'महाव्रत' अर्थात् संन्यास या नग्न व्रत प्रधान नहीं था[3]। उक्त संवाद की पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गौतम के उत्तर से केशिकुमार का समाधान हुआ था। उससे यह समझा जा सकता है कि पार्श्वनाथ के धर्म में संन्यास और नग्न व्रत का अभाव था, जिन्हें बाद में महावीर ने प्रचलित किया था।

महावीर—वे जैन धर्म के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं। सच्चे अर्थ में वही इस धर्म के वास्तविक प्रतिष्ठाता और प्रमुख प्रचारक थे। उन्हें 'जिन' अर्थात् विजेता कहा जाता है। यह नाम उन्हें कतिपय देशों के विजय करने से नहीं, बल्कि अपने अंतर् के राग—द्वेषादि शत्रुओं को विजय करने से प्राप्त हुआ था। उन्होंने अहिंसा के पालन तथा तप, त्याग और संयम से आत्मशुद्धि करते हुए अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त की थी। वे आत्मविजयी वीर थे। उनके 'जिन' नाम पर ही इस धर्म का 'जैन' नाम प्रसिद्ध हुआ है। इस धर्म के अनुयायी 'जैन' अथवा 'जैनी' कहलाते हैं।

महावीर का जन्म बिहार राज्य में वैशाली (वर्तमान बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर) की गंडक नदी के तटवर्ती कुंडपुर या कुंडलपुर में वि. पू. सं० ५४२ की चैत्र शु० १३ को हुआ था। इस प्रकार वे बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध से आयु में २४ वर्ष छोटे थे। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। उनके मामा का नाम चेटक था। उनके पिता और मामा क्रमशः कुंडपुर और वैशाली गण राज्यों के अधिपति थे। जैन आगम (आचारांग ३, भावमूलिका ३, सूत्र ४०१) के अनुसार वे पार्श्वनाथ संप्रदाय के अनुगामी थे। महावीर का आरंभिक नाम वर्धमान था। उनका पैतृक गोत्र 'ज्ञातृ' था, जिसका प्राकृत रूप 'नात' मिलता है। समस्त परिग्रहों से रहित होने से वे 'निर्ग्रन्थ' (प्राकृत रूप 'निगंठ') कहलाते थे। उक्त गोत्र और अपरिग्रह-वृत्ति के कारण ही बौद्ध साहित्य में महावीर को 'निगंठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र) लिखा गया है।

---

(१) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३६१
(२) भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योग—दान, पृष्ठ २१
(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४७

वैभवशाली राजघराने में उत्पन्न एक राजकुमार होने पर भी वे आरंभ से ही भौतिक सुखों के प्रति उदासीन और निर्लिप्त थे। उन्होंने ३० वर्ष की युवावस्था में ही विरक्त होकर अपने सर्वस्व का परित्याग कर दिया था। उसके बाद १२ वर्ष तक कठिन तपस्या करने पर उन्होंने कैवल्य ज्ञान और सिद्ध पद प्राप्त किया था। वे अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या, क्षमा, सत्य और समता का प्रचार करते हुए देश के पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार, उड़ीसा, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश में ३० वर्ष तक भ्रमण करते रहे थे। उनका निर्माण ७२ वर्ष की आयु में वि. पू. सं० ४७० के लगभग बिहार राज्य के पावापुर नामक स्थान में हुआ था।

जैन धर्म का स्वरूप और उसके सिद्धांत—जैन धर्म में अहिंसा और तप पर विशेष बल दिया गया है। इनके साथ ही इस धर्म में सहिष्णुता, समन्वय और सह अस्तित्व को भी अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। महावीर का कहना था, किसी भी व्यक्ति को यह नहीं समझना चाहिए कि जो कुछ वह कहता या समझता है, वही ठीक है। उसे अपने विरोधियों के विचारों को भी समझने की चेष्टा करनी चाहिए; स्यात् उन्हीं का कथन ठीक हो। इसीलिए जैन सिद्धांत को 'स्यादवाद' अथवा 'अनेकांतवाद' भी कहते हैं। इससे बुद्धि-जीवियों में समान स्थल पर समन्वय और सह अस्तित्व की भावना उत्पन्न होती है।

महावीर ने अहिंसा का विशेष रूप से प्रचार किया था। उनका कथन था, प्रत्येक जीव को अपना जीवन प्यारा है, और कष्ट किसी को अच्छा नहीं लगता; इसीलिए किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। उनका वचन है,—'जह मम न पियं दुक्खं जाणिहि, ऐमेव सव्व जीवाणां।' जिस प्रकार हमें दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सब जीवों के विषय में भी जानना चाहिए। उन्होंने उस समय की प्रचलित यज्ञ-हिंसा का ही विरोध नहीं किया, वरन् सभी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई थी।

अपने अहिंसा सिद्धांत के विस्तार के लिए उन्होने 'पंचव्रत' अथवा 'पंचशील' का प्रचार किया था। वे पाँच 'व्रत' या 'शील' हैं—१. आचार में अहिंसा, २. विचार में अनेकांत दर्शन, ३. सामाजिक जीवन में अचौर्य और अपरिग्रह, ४. जीवन-शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् इंद्रिय-निग्रह और ५. सत्य की निष्ठा। उन व्रतों का पालन करना गृहत्यागी और गृहस्थ सभी के लिए आवश्यक बतलाया गया। अंतर यह रखा गया कि मुनियों के लिए पूर्ण रूप से 'महाव्रत' के रूप में, और गृहस्थों के लिए स्थूल रूप से 'अणुव्रत' के रूप में उनका पालन करना चाहिए।

उस काल में वैदिक धर्मावलंबियों के मतानुसार वेद को एकमात्र प्रमाण माना जाता था। महावीर ने उस परंपरागत मान्यता का विरोध करते हुए कहा कि वेद ही एक मात्र प्रमाण नहीं है, सच्चरित्र और ज्ञानी महात्मा अपने बुद्धि-वैभव और ज्ञान-बल से स्वयं धर्म का साक्षात्कार कर सकते हैं। उन्होंने वर्ण व्यवस्था को जन्मना स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसको जीवन-यापन की एक सामाजिक व्यवस्था माना था। उन्होंने सृष्टि को अनादि और स्वयंभू माना है। उनके मतानुसार सृष्टि का कर्त्ता कोई 'ईश्वर' नहीं है, बल्कि 'कर्म' है। सृष्टा, विधाता, दैव और ईश्वर ये सब कर्म ही के विविध नाम हैं। मानव जीवन का परम लक्ष यम, नियम, संयम और तप द्वारा अहंता-ममता मूलक कर्मबंध का समूल नाश कर और जन्म-मृत्यु की शृंखला को तोड़ कर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना है। इस प्रकार वेद की एक मात्र प्रामाणिकता की अस्वीकृति और ईश्वर की सत्ता में अविश्वास करने से जैन धर्म को 'अवैदिक', 'अनीश्वरवादी' और 'नास्तिक' कहा गया है।

जैन धर्म का सर्वोपरि मौलिक सिद्धांत 'अहिंसावाद' माना जाता है, जिसे इस धर्म में बौद्ध
धर्म से भी अधिक महत्व दिया गया है। कतिपय विद्वानों का मत है, अहिंसावाद के बीज वेदों में
पहिले से ही हैं, अतः यह सिद्धांत जैन धर्म की मौलिक देन नहीं है—इस धर्म में इसका विकास
मात्र किया गया है। इस संबंध में डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है,—"जैन धर्म का
अहिंसावाद वेदों से निकला है। ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋृषभदेव और अरिष्टनेमि जैन
मार्ग के इन दो प्रवर्त्तकों का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। जैन धर्म के पहिले तीर्थंकर ऋृषभदेव हैं,
और उनकी कथा 'विष्णु पुराण' और 'भागवत पुराण' में भी आती है, जहाँ उन्हें महायोगी,
योगेश्वर और योग तथा तप मार्ग का प्रवर्त्तक कहा गया है। इन पुराणों ने उन्हें विष्णु का अवतार
माना है। वेदों के गार्हस्थ्य प्रधान युग में वैराग्य, अहिंसा और तपस्या द्वारा धर्म-पालन करने वाले
ऋृषियों में ऋृषभदेव का स्थान अन्यतम था। उनकी परंपरा में ही जैन धर्म के तीर्थंकर हुए हैं[1]।"

आरंभिक प्रचारक—जैन धर्म के आरंभिक प्रचारक महावीर स्वामी की शिष्य-परंपरा के
विद्वान मुनि थे। 'महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) थे गौतम इंद्रभूति, जिन्होंने उनके उपदेशों
को १२ 'अंग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप में निबंध किया। ये 'अंग' और 'पूर्व' उन ग्रंथों के नाम हैं,
जिनमें महावीर की मौखिक शिक्षा लिपि रूप में निबद्ध की गई थी। जो विद्वान् इन अंगों और पूर्वो
का पारगामी पंडित होता था, उसे 'श्रुतकेवली' कहते थे। जैन-परंपरा में जिस प्रकार प्रत्यक्ष
ज्ञानियों में 'केवलज्ञानी' का प्रतिष्ठित स्थान है, उसी प्रकार परोक्ष ज्ञानियों में 'श्रुतकेवली' का।
जैसे 'केवलज्ञानी' समस्त जगत् के पदार्थों को जानता है और देखता है, उसी प्रकार 'श्रुतकेवली'
शास्त्र में वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्टतया जानता है। महावीर के निर्वाण के अनंतर तीन केवल-
ज्ञानी और पाँच श्रुतकेवली हुए हैं[2]। केवलज्ञानियों में अंतिम जंबूस्वामी थे, और श्रुतकेवलियों में
अंतिम भद्रबाहु थे।

केवलज्ञानियों में सर्वप्रथम गौतम इंद्रभूति थे, जो महावीर के शिष्यों में सर्वप्रधान (गणधर)
थे। गणधर गौतम के शिष्य सुधर्मा स्वामी हुए, जिनका दूसरा नाम लोहार्य भी था। सुधर्मा स्वामी
के शिष्य जंबूस्वामी हुए थे, जो जैन मान्यता के अनुसार अंतिम केवली थे। उनके बाद कोई केवल-
ज्ञानी या मोक्षगामी नहीं हुआ। महावीर से जंबूस्वामी तक के काल की अवधि ५२ वर्ष की मानी
जाती है। इस शिष्य-परंपरा और काल-गणना का उल्लेख 'तिलोयपण्णत्ति' नामक प्राचीन ग्रंथ में
इस प्रकार हुआ है,—

"जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
जादे तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो॥ ६६॥
तंमि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा॥ ६७॥
वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं।
धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेण॥ ६८॥

(१) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ११२
(२) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३६३

अर्थ—जिस दिन श्री वीर भगवान् (महावीर स्वामी) का मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को परम ज्ञान या केवल–ज्ञान हुआ और उनके सिद्ध होने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। उनके कृत कर्मो के नाश कर चुकने पर जम्बू केवली हुए। उनके बाद कोई केवली नहीं हुआ। इन गौतम आदि केवलियों के धर्म–प्रवर्त्तन का एकत्रित समय ६२ वर्ष है[1]।"

श्रुतकेवलियों में अंतिम भद्रबाहु थे, जो मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के समकालीन और पाटलिपुत्र संघ के अध्यक्ष थे। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार भद्रबाहु को समस्त आगमों का यथार्थ ज्ञान था। कहते हैं, उस काल में मगध प्रदेश में बड़े भारी दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ, जिसके कारण आचार्य भद्रबाहु अपनी शिष्य मंडली के साथ दक्षिण भारत में चले गये थे। वहाँ उनका समुदाय 'मूल संघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भद्रबाहु के उपरांत स्थूलभद्र जैन संघ के प्रधान हुए थे। उस समय ऐसी स्थिति हो गई थी कि उत्तर भारत में जैन धर्म के मूल ग्रंथ 'पूर्व' और 'अंग' के ज्ञाता मिलने कठिन हो गये। "संघ–प्रधान स्थूलभद्र ने जैन आगम की रक्षा करने के निमित्त पाटलिपुत्र में यतियों की एक महती सभा की। इसी में ११ अंग (ग्रंथ) संकलित किये गये और १४ पूर्वो के अवशिष्ट भागों को एकत्र कर १२ वाँ अंग निर्मित किया गया, जिसका नाम रखा गया 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद)। पाटलिपुत्र में संकलित ये अंग भी कालक्रम से धीरे–धीरे जब अव्यवस्थित हो गये, तब आर्यस्कंदिल की अध्यक्षता में मथुरा में एक सभा हुई और अंग के अवशिष्ट भाग को सुव्यवस्थित रूप दिया गया। इसे 'माथुरी वाचना' कहते है। उसके बाद भगवान् महावीर के निर्वाण की दशवीं शताब्दी (सं० ५१० वि०) में वल्लभी में फिर सभा की गई, जिसमें ११ अंगों का संकलन हुआ। १२ वाँ अंग तो लिप्त हो ही चुका था। आगमों के लिपिबद्ध होने तथा अंतिम संशोधन का यही काल है। इस सभा के सभापति थे 'देवर्धिगणि क्षमाश्रमण'। यह आगम श्वेतांबर संप्रदाय की मान्यता के अनुकूल है[2]।"

जैन धर्म का विस्तार—महावीर के पश्चात् जैन धर्म का शीघ्रता पूर्वक विस्तार होने लगा। उसके अनुयायी भारत के पूर्वी भाग तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि मध्यदेश के साथ ही साथ पश्चिम और दक्षिण में भी उनकी अच्छी संख्या हो गई। इस धर्म को राज्याश्रय भी आरंभ से ही मिलने लगा था। ऐसा कहा जाता है, जब यूनानी विजेता सिकंदर ने भारत के पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश पर आक्रमण किया था, तब सिंधु नदी के तट पर बसे हुए कुछ जैन मुनियों से उसने भेंट की थी। मगध के नंदवंशी सम्राट और उनके बाद के मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को जैन धर्म का अनुयायी माना जाता है। अशोक के समय में बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ था, किंतु उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसके काल में जैन धर्म का भी पर्याप्त प्रचार था। अशोक का परवर्ती कलिंगराज ऐल खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। वह बड़ा शक्तिशाली सम्राट था। ऐसा कहा जाता है, उसने मगध के तत्कालीन सम्राट को पराजित किया और वहाँ से वह आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्ति को अपने राज्य में ले गया था।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १४

(२) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३६३–३६४

जैन धर्म का विस्तार बौद्ध धर्म के साथ ही साथ समस्त भारत में होता रहा; किंतु फिर भी इसके अनुयायी उतनी अधिक संख्या में कभी नहीं हुए, जितने बौद्ध धर्म के हुए थे। फिर बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म का विदेशों में प्रचार भी प्रायः नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि जैन धर्म में कायक्लेशात्मक तप और चरम सीमा की अहिंसा पर इतना अधिक बल दिया गया कि उनका निर्वाह करना जन साधारण के सामर्थ्य से बाहर था। जैन मुनियों की समस्त शक्ति का विनियोग कठिन तप और असीम अहिंसा के निर्वाह में ही होता रहा, अतः उनके द्वारा बौद्ध भिक्षुओं की तरह व्यापक रूप से 'धर्म-दिग्विजय' नहीं किया जा सका था। फिर भी इस धर्म का प्रायः समस्त भारतवर्ष में प्रचार रहा है, चाहें इसके अनुगामियों की संख्या बहुत अधिक नहीं रही थी।

आरंभ में जैन धर्म का उपदेश गृहत्यागी विरक्तों के लिए दिया गया था, किंतु बाद में गृहस्थों को भी उसका अधिकारी मान लिया गया। इस प्रकार इस धर्म के अनुगामी गृहत्यागी और गृहस्थ दोनों प्रकार के स्त्री-पुरुष थे, जिन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया था। गृहत्याग करने वाले तपस्वी पुरुषों को 'मुनि' एवं तापसी महिलाओं को 'आर्यिका' कहा गया और गृहस्थ पुरुषों को 'श्रावक' तथा गृहणियों को 'श्राविका' नाम दिया गया। यही जैन धर्म के समस्त अनुयायियों का 'चतुर्विध संघ' है, जो इस धर्म के विस्तार का सूचक है।

दिगंबर-श्वेतांबर भेद—जैन धर्म में 'दिगंबर' और 'श्वेतांबर' नामक दो संप्रदाय हैं, जिनके कारण यह धर्म दो प्रमुख समुदायों में विभाजित है। इस भेद का सूत्रपात जैन धर्म के मूल सिद्धांत 'त्याग' और' वैराग्य' की सीमा का निर्धारण करने से हुआ जान पड़ता है। इस धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर स्वामी ने सर्वस्व त्याग तथा परम वैराग्य का उपदेश दिया था और अपने आचरण से उसका आदर्श भी प्रस्तुत किया था। एक समृद्धिशाली राजकुमार होते हुए भी उन्होंने सब कुछ-त्याग कर फ़कीरी बाना धारण किया था। कहते हैं, उनके पास केवल एक ही वस्त्र था। जब एक गरीब भिक्षुक ने उसे भी माँग लिया, तब वे बिना वस्त्र के नग्न रहने लगे थे। उनके अनुकरण पर उनके शिष्यों ने भी नग्नता का व्रत धारण किया था। ऐसा ज्ञात होता है, उसी आधार पर जैन धर्म में नग्न यतियों की परंपरा प्रचलित हुई थी। आरंभ में उस नग्नता व्रत का पूर्णतया निर्वाह किया जाता था; किंतु कालांतर में जब उसमें कठिनता ज्ञात होने लगी, तब यतियों के लिए एक श्वेत वस्त्र (अंबर) धारण करने की व्यवस्था की गई थी। श्वेत अंबर धारण करने वाले यतियों का समुदाय 'श्वेतांबर' कहा जाने लगा, और जो पुरानी परंपरा के अनुसार नग्न रहते थे, वे 'दिगंबर' कहलाने लगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का प्रचार किया था, उसमें नग्नता के आदर्श को नहीं अपनाया गया था। इसलिए प्राचीनता की कसौटी पर भी श्वेतांबर संप्रदायी अपने समुदाय को दिगंबर संप्रदाय वालों से किसी तरह घटिया नहीं मानते हैं।

यतियों के वेश से भी अधिक मूर्तियों और तीर्थों के संबंध में इस संप्रदाय-भेद का उग्र रूप प्रकट हुआ था। पहिले इस धर्म में मूर्तियों के बजाय तीर्थंकरों के चरण-चिह्नों की पूजा होती थी। वे चिह्न दोनों संप्रदायों के जैनियों को समान रूप से पूज्य थे, अतः भेद-भाव की कोई बात नहीं थी। जब तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनने लगी, तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि उन्हें नग्न रखा जाय, अथवा किसी प्रकार का वस्त्रादि धारण कराया जाय।